

श्री विमलचन्द्र सूरी रचित

श्री अथर्व शंखा आषा

विश्वेश्वर
पञ्चारा पञ्चविजय

• नमो नाणस्स •

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानन्द प्रकाशचन्द्र सूरीश्वरो नमः

पूज्य आचार्य श्री जिन चन्द्र सूरीश्वर रचित

संवेगरंगशाला

(वैराग्य रंग की नाट्य भूमि अथवा नाटकशाला)



अनुवादकर्त्ता

भारत दिवाकर युगवीर जैनाचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी

म० के पट्टधर मरूधर देशोद्धारक आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय

ललित सूरीश्वर जी म० के पट्टधर महान् तपस्वी आचार्य

देव श्रीमद् विजय पूर्णानन्द सूरीश्वर जी के पट्टधर

अनेक तीर्थोद्धारक महान् तपस्वी, उत्तर प्रदेशों

द्धारक आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय

प्रकाशचन्द्र सूरीश्वर जी म० के

शिष्य रत्न

पन्यास श्री पद्म विजय म० गणिवर्य

प्रकाशक

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

दिल्ली और मेरठ

*ग्रन्थ का नाम
संवेगारंगशाला

*प्रकाशन तिथि
अक्षय्य तृतीय २०४२

*ग्रन्थकार
पू० आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि जी

*आवृत्ति
प्रथम २२०० प्रतियाँ

*अनुवादक
पंम्यास श्री पद्म विजय

*मूल्य
तीस रुपये

*प्रकाशक
श्री निर्णम्य साहित्य प्रकाशन संघ

*मुद्रक
आर्यन प्रेस, मेरठ-२

❀ प्राप्ति स्थान ❀

- १—श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम
हस्तिनापुर जि० मेरठ (उत्तर प्रदेश)
- २—सोमचन्द जी० शाह
जीवन निवास के सामने, पालीताणा (गुजरात)
- ३—सरस्वती पुस्तक भण्डार
हाथीखाना, रतन पोल, अहमदाबाद (गुजरात)
- ४—शाह अमीचन्द ताराचन्द
३९, खान बिल्डिंग नबाब टेक ब्रीज, मल्लगांव बम्बई-१०

प्रकाशकीय

सर्व गुणों में सर्व श्रेष्ठ गुण संवेग माना गया है। संवेग सहित सभी क्रिया सम्यग् क्रिया कहलाती हैं। संवेग के बिना सर्व साधना निष्फल है। संवेग के बिना कितनी भी त्याग, तप, अनुष्ठान, पूजा पाठ आदि किये जाएँ सब निष्फल हो जाते हैं, और सम्यक्त्व का स्वरूप संवेग है, मोक्ष के शुद्ध स्वभाव की रूचि संवेग है। मोक्ष की अभिलाषा वाला जीव ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः संवेग मोक्षमार्ग का बीज रूप है। उसको समझाने के लिए नाम सङ्ग गुणों से भरा हुआ यह 'संवेग रंगशाला' नामक महान् ग्रन्थ है।

इस महाग्रन्थ में संवेग की प्राप्ति रक्षण और विकाश का सुन्दर सरल और सचोटे उपाय बतलाया गया है। इसे भावपूर्वक एकाग्र चित्त से वाचन श्रवण करने वाला, पत्थर जैसा कठोर हृदय भी संवेग रंग में तल्लीन हो जायेगा। यह ग्रन्थ पद-पद पर वैराग्य भाव उत्पन्न करता है। अतः सर्पजन सुखकारी एवं हितकारी बनेगा ऐसा निर्विवादक है इसलिए यह महाग्रन्थ बार-बार विशेष मनन करने योग्य है।

इस महाग्रन्थ के रचयिता परम महाउपकारी आचार्य श्री जितचन्द सूरेश्वर जी महाराज हैं। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित था। सर्वप्रथम वि० स० २०२६ में मूल प्राकृत भाषा में पत्राकार रूप में प्रकाशित हुआ फिर वि० स० २०३२ में गुजराती अनुवाद में छपा। अब वि० स० २०४१ में परम पूज्य महा तपस्वी अनेक तीर्थों द्वारक आचार्य देव श्री मद् विजय प्रकाशचन्द सूरेश्वर जी म० शिष्य रत्न पन्यास प्रवर पद्म विजय जी गणी के हिन्दी अनुवादित प्रकाशित कर रहे हैं। प्रेस कापी संशोधन आदि कार्य परम सुश्रावक श्री ताराचन्द जी दिल्ली वालों ने किया है। प्रकाशन आदि सारा काम नगीन प्रकाशन वाले श्री नगीन चन्द जी जैन ने किया है, तथा पुस्तक का शीघ्र मुद्रक करने का आर्यन प्रेस का सहयोग सराहनीय है। एवं इस महाग्रन्थ के प्रकाशन में जिन भाग्यशालियों ने उदारपूर्वक अर्थ सहयोग दिया है, उसके प्रति हम कृतज्ञ हैं उसकी शुभनामावली आगे दी है।

इस ग्रन्थराज का वाचन, श्रवण, मनन कर प्रत्येक जीवात्मा संवेग रंग की वृद्धि करे, और परम पद मोक्षसुख के भोक्ता बने यही एक शुभाभिलाषा है।

आपका

श्री निधन्य साहित्य प्रकाशन संघ

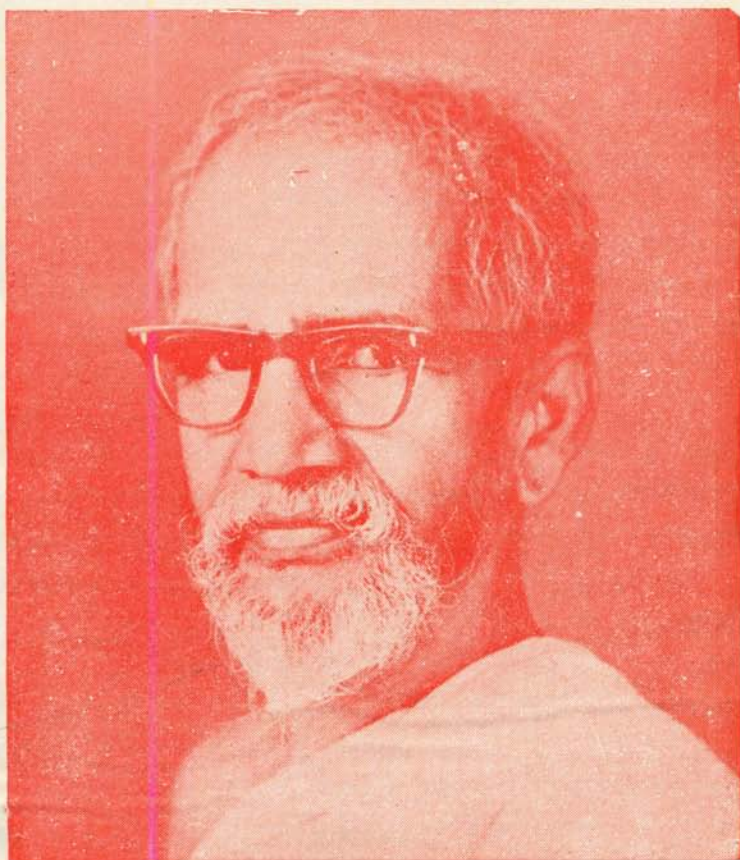
ज्ञान चन्द जैन (हलवाई)

सदर मेरठ।

जय किशन जैन

मेरठ।

समर्पण



जितना जीवन सूर्य समान तेजस्वी था, मन चन्द्र समान सौम्य था, आचार
मुवर्ण समान निर्मल था, विचार सागर गम्भीर था, वाणी अध्यात्मयुक्त
थी, दूसरों के लिए फूल से अधिक कोमल थे और अपने संयम
की साधना में अधिक कठोर थे। उन परम पूज्य गुरुदेव,
अनेक तीर्थोद्धारक महान तपस्वी, पंजाब के हर
व्यक्ति के धर्मदाता, उत्तर प्रदेश के प्राण
आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र
सूरीश्वर जी महाराज को हादिक
श्रद्धाभक्तिपूर्वक इस प्रकाश
को सादर समर्पित
करता हूँ।

चरणरेणु
पन्यास पद्म विजय

प्रवेशक

रंगशाला का अर्थ है नाट्य भूमि अथवा नाट्य मंच, जहाँ पर नाटक खेला जाता है। यह रंगशाला दो प्रकार की होती है। प्रथम संसार रंगशाला, जहाँ अनेक आत्मायें विविध प्रकार का अभिनय कर रही हैं और दूसरी संसार से मुक्त कराने वाली संवेग रंगशाला है। संसार रंगशाला के सूत्रधार मोह राजा हैं, तथा राम द्वेषादि उसके प्रतिनिधि हैं। जबकि संवेग रंगशाला के सूत्रधार धर्मराजा हैं, और तीर्थंकर गणधर आदि उसके प्रतिनिधि हैं।

संसार रंगशाला का स्वरूप अति विशाल और विलक्षण है। संसार का नाम ही संसरण परिभ्रमण का है, वह लाख करोड़ बार ही नहीं, परन्तु संख्यातीत अनंतानंत बार संसारी जीव इस संसार रूपी नाट्य मंच के पात्र बनकर विविध प्रकार के अभिनय, नृत्य गति कर रहा है। संसार रूपी नाटक का कोई ऐसा पात्र न होगा, जिसका इस संसारी जीवात्मा ने वेश धारण न किया हो, वह भी एक बार ही नहीं, अनन्तबार धारण किया। कभी राजा का वेश धारण किया, कभी रंक बना, कभी पशु, कभी पक्षी के वेश में, कभी नरक जीव बना तो कभी देव रूप धारण किया। इस प्रकार विविध वेश धारण करके संसारी आत्मा अनादि अनंतकाल से चार गति रूप चौराशी लाख योनिमय संसार रंगभूमि पर नृत्य कर रहा है। अनादि अनन्तकाल से इसी तरह परिभ्रमण कर रहा है, फिर भी वह थका नहीं है और न ही उसे अपना सच्चा आत्मज्ञान हुआ है। संसार रंगशाला के मुख्य सूत्रधार मोहराजा द्वारा महामोह मथ मदिरापान कर अपनी सम्पूर्ण चेतना खो बैठा है, उसे यह भी ज्ञान नहीं है कि 'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है? मेरा क्या स्वरूप है?' इस प्रकार वह मोहाधीन जीवात्मा अपना वास्तविक परिचय भूल गया है। वह जिस अवस्था में हो, चाहे पशु हो अथवा पक्षी हो, राजा हो या रंक हो, दुःख और दीनता का अनुभव करता हुआ भी वह अपने आप को सुखी मानता है और उसमें हर्षित होता है। उसी में तन्मयकत रहता हो परन्तु उसका वास्तविक जीवन करुणामय है, बीभत्स स्वरूप वाला है, रौद्र परिणाम वाला, एवं अद्भूत हास्यमय दीनहीन भिखारी के समान है, वह ऊपर से शृंगार सङ्ग सुन्दर दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अन्दर से वह रोग, शोक, जरा, मृत्यु आदि से लिप्त होने के कारण भयानक है एवं मोह ममता के कारण वात्सल्य वाला लगता है। इस प्रकार दुःखमय समस्त नौ रस इस संसार रंगशाला में समाये हुए हैं।

संवेग रंगशाला के प्रतिनिधि श्री तीर्थकर परमात्मा संसारी आत्माओं की भयंकर करुणा जन्य अवस्था को देखकर अपनी वास्तव्यता की अभिष्टति से जीवात्माओं को मोहराजा के बंधन से सदा के लिए मुक्त कराने का प्रयास करते हैं। वे जीवों को संसार का यथार्थ स्वरूप समझा-बुझाकर संसार रंगशाला की पात्रता से मुक्ति दिलाकर संवेग रंगशाला का पात्र बनाते हैं। उस जीव को पुद्गलानंदी से आत्मानंदी बनाते हैं, इतना ही नहीं वे स्वयं भक्त से भगवान्, नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बनने के मार्गदर्शक बनते हैं। यही तीर्थ स्थापना है, जिसे 'जिन शासन' कहा जाता है। यही वास्तविक संवेग रंगशाला है। इस रंगशाला में वैराग्यमय ज्ञान्त रस होता है।

'संवेग' शब्द सम् उपसर्ग विज् घातु में धज प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है विक्षोभ, उत्तेजना, प्रचंडगति, अथवा वेदना। अर्थात् मोक्षानंद की बात का विक्षोभ होना, मोक्ष प्राप्ति की उत्तेजना होना, मोक्ष प्राप्ति में उत्साह-पूर्वक शीघ्रगामी बनना, इस प्रकार मोक्ष अभिलाषा के लिये तड़पाने वाली पीड़ा-वेदना आदि में संवेग का प्रयोग होता है। योग शास्त्र के दूसरे प्रकाश श्लोक १५ वें की टीका में लिखा है "संवेगो मोक्षाभिलाषः।" अर्थात् मोक्ष साधना की उत्कट अभिलाषा संवेग है। सर्वार्थ सिद्धि में भी संवेग की व्याख्या मिलती है कि "संसार दुःखाभित्य भीरुता संवेग" अर्थात् संसार के दुःखों से हमेशा डरना, उससे सावधान रहना संवेग है। आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के सातवें अध्यायन सातवें सूत्र में कहा है :—“जगतकाय स्वभावो च संवेग वैराग्यम्।” अर्थात् जगत स्वभाव के चिन्तन से संसार के प्रति मोह दूर होता है वह संवेग है। इसी प्रकार काया के अस्थिर अशुचि और असारता स्वभाव के चिन्तन से अन्यसत्ति, भाव उत्पन्न होता है, वही वैराग्य है।

इस संवेग रंगशाला का अचिन्त्य महाप्रभाव है। इसका पात्र बनते ही जीव का स्वरूप बदल जाता है। वह मुमुक्षु कहलाने लगता है। मुमुक्षु बनने पर वह संसार के स्वरूप को वास्तविक नहीं मानता, मोहराजा का झूठा जाल समझता है, भौतिक सर्व पदार्थ उसे क्षणिक मधुरता व सुन्दरता रहित असार दिखाई देने लगते हैं। वह संसार को दुःखमय, अशुचिमय, पापयुक्त, अज्ञानमय, प्रमादमय और कषाय युक्त मानता है। अपने को ज्ञानमय, दर्शनमय, चारित्रमय एवं पूर्ण सहजानंदमय बनने की पवित्र भावना प्रत्येक आत्मप्रदेश में गूंज उठती है। संसार से मुक्त होने की और स्वात्मा के स्वरूप प्रगट करने की तीव्र अभिलाषा अथवा मोक्ष प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा रखने वाला उत्कट संवेग उत्पन्न होता है। संवेग की महिमा का गुण गान परम पूज्य श्री ग्रन्थकार ने स्वयं इसी ग्रन्थ में ५५ वीं श्लोक में किया है :—

एसो पुण संवेगो, संवेग परायणेहिपरि कहिओ ।

परमं भव भीरुत्तं, अहवा मोक्खा भिकं खिता ॥

अर्थात् :—संवेग रस के ज्ञाता श्री तीर्थंकर परमात्मा और गणधर भगवंत ने संसार के तीव्रभय अथवा मोक्ष की अभिलाषा को संवेग कहा है । ग्रन्थकार ने आगे और भी वर्णन किया है कि—संवेग के साथ निर्वेद आदि परमार्थ तत्त्वों का जिसमें विस्तार हो वह शास्त्र श्रेष्ठतम शास्त्र कहलाता है । संवेग गभित अति प्रशस्त शास्त्र का श्रवण श्रेष्ठ पुरुषों को ही मिलता है । चिरकाल तक तप किया हो, शुद्धचारित्र्य का पालन किया हो, बहुश्रुतज्ञान का भी अभ्यास किया हो, परन्तु संवेग रस प्रगट न हुआ हो तो वह सब निष्फल है । दीर्घकाल तक संयम पालन तप आदि पालन का सार ही संवेग है । पूरे दिन में यदि क्षण भर भी संवेग रस प्रगट नहीं हुआ तो इस बाह्य काया की कष्ट रूप क्रिया का क्या लाभ ? जिसको पक्ष में, महीने में, छह महीने में अथवा वर्ष के अंत में संवेग रस प्रगट नहीं हुआ उसे अभव्य अथवा दुर्भव्य जीव जानना । अतः संवेग के बिना दीर्घ आयुष्य, अथवा सुख संपत्ति, सारा ज्ञान ध्यान संसार वर्धक है । और भी कहा है कि 'कर्म व्याधि से पीडित भव्य जीवों के उस व्याधि को दूर करने का एकमात्र उपाय संवेग है । इसलिए श्री जिन वचन के अनुसार संवेग की वृद्धि के लिए आराधना रूपी महारसायन इस ग्रन्थ को कहूँगा, जिससे मैं स्वयं और सारे भव्यात्मा भाव आरोग्यता प्राप्त करके अनुक्रम से अजरामर मोक्षपद प्राप्त करूँगे ।

संवेगरंगशाला नामक इस आराधना शास्त्र में नाम के अनुसार ही सभी गुण विद्यमान हैं । इसके मुख्य चार विभाग हैं । (१) परिक्रम विधि द्वारा, (२) परगण संक्रमण द्वार (३) ममत्व विमोचन द्वार और (४) समाधि लाभ द्वार । इसमें भी भेद, प्रभेद, अन्तर भेद आदि अनेक भेद में विस्तृत पूर्वक वर्णन किया है । वह विषयानुक्रमणिका देखने से स्पष्ट हो जायेगा । इह महाग्रन्थ का विषय इतना महान विस्तृत है कि उसको समझाने के लिये कई और महान् ग्रन्थ बन सकते हैं । वह तो स्वयं ही पढ़ने से अनुभव हो सकता है ।

इस महाग्रन्थ के कर्त्ता परमपूज्य महा उपकारी आचार्य भगवंत श्री जिनचन्द्र सूरिश्वर जी महाराजा हैं । ये नवांगी टीकाकार परम गीतार्थ आचार्य देव श्री अभयदेव सूरिश्वर जी मः के बड़े गुरु भाई थे । उनके अति आग्रह से इस ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ के विषय में उल्लेख श्री देवाचार्य रचित 'कथा रत्न कोष' की प्रशस्ति में इस तरह मिलता है । आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरिश्वर जी वयरी वज्र शाखा में हुए हैं जो आचार्य श्री बुद्धि सागर सूरिश्वर के शिष्य थे, उन्होंने 'संवेग रंगशाला' ग्रन्थ की रचना विक्रम सम्बत् ११३६ में की थी । वि० स० ११५० में विनय तथा नीति से श्रेष्ठ सभी गुणों के भंडार श्री जिनदत्त

गणी नामक उनके शिष्य ने उसे सर्व प्रथम पुस्तक रूप में लिखी है। तथा आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि जी के शिष्य आचार्य श्री प्रसन्न सूरि जी की प्रार्थना से श्री गुणचन्द्र गणी ने इस ग्रन्थ को संस्कारित किया है। एवं आचार्य श्री जिनवल्लभ गणी ने इस ग्रन्थ का संशोधन किया है। विशेष परिचय इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में देख ले। खरतर गच्छ पटावली के अनुसार आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि जी के नाम से कई आचार्य हुये हैं। परन्तु ये आचार्य श्री जिनेश्वर सूरिश्वर के शिष्य आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि जी हुए हैं, ये प्रथम जिनचन्द्र सूरि जी कहलाते हैं। इन्होंने अपने जीवनकाल में सात महाग्रन्थों की रचना की है। इसमें मर्व श्रेष्ठ रचना यह संवेग रंगशाला नामक आराधना शास्त्र है।

पूज्य ग्रन्थकार ने स्वयं अनुभव गमन शास्त्रीय रहस्य केवल परोपकार भाव से लिखा है। स्याद्वाद दृष्टि से ज्ञाननय और क्रियानय, द्रव्यास्तित्वनय और पर्यायस्तित्वनय, निश्चय नय और व्यवहार नय आदि विविध अपेक्षाओं का सुन्दर समन्वय किया है। इस महाग्रन्थ का एकाग्र चित्त से श्रवण और अध्ययन करे एवं इसे कंठस्थ कर हृदयस्थ करे तो समाधिपूर्वक जीवन यात्रा सफल कर सकता है। इस महाग्रन्थ की प्रशंसा कई ग्रन्थों में मिलती है। श्री गुणचन्द्र गणि ने वि० स० ११३६ में रचित प्राकृत महावीर चरित्र में लिखा है कि

‘संवेग रंगशाला न केवलं कञ्च विरयणा जेण ।

भव्य जण विम्बह्यकरी विहिया संजम पवितो वि ।।’

अर्थात् आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि जी ने केवल संवेग रंगशाला काव्य रचना ही नहीं की अपितु भव्यजनों को विस्मय कराने वाली संयम वृत्ति का सम्पूर्ण विधान कहा है तथा श्री जिनदत्त सूरि जी ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध में रचित प्राकृत ‘गणधर सार्धशतक’ नामक ग्रन्थ में प्रशंसा लिखी है कि :—

संवेग रंगशाला विसालसालोबमा कया जेण ।

रागादिवेरिमयभीत-भव्व जणरकरवण निमित्तं ॥

अर्थात् श्री जिनचन्द्र सूरिश्वर जी ने रागादि वैरियों से भयभीत भव्यात्मों के रक्षण के लिए विशाल किल्ले के समान संवेग रंगशाला की रचना की है। तथा आ० जिनपति सूरि जी द्वारा विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में रचित पंचलिगी विवरण में प्रशंसा की है कि :—

नर्तयितुं सवेगं पुनर्नुणा लुप्तनृत्यमिव कलिना ।

संवेग रंगशाला येन विशाल व्यरुचि रूचिरा ॥

अर्थात् आचार्य श्री जिन चन्द्र सूरिश्वर जी ने कलिकाल से जिसका नृत्य लुप्त हो गया था, वैसे ही फिर मनुष्यों को संवेग का नृत्य कराने के लिए विशाल मनोहर संवेग रंगशाला नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसी प्रकार १२६५ में सुमति गणि ने गणधर सार्धशतक की संस्कृत बृहद् वृत्ति में उल्लेख मिलता है तथा

चन्द्र तिलक उपाध्याय वि० सं० १३१२ रचित अभय कुमार चरित्र संस्कृत काव्य में इसी ग्रन्थ के विषय में दो पद्य मिलते हैं। इसी प्रकार और भी इस ग्रन्थ के विषय में उल्लेख मिलते हैं।

वर्तमान काल में अन्तिम आराधना के लिए ५ उपाध्याय श्री विनय विजय जी महाराज रचित पुण्य प्रकाश का स्तवन सुनाया जाता है, वह इस संवेग रंग-शाला ग्रन्थ के ममत्व व्युच्छेद और समाधि लाभ विभाग का संक्षेप है। उसका अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है। पाटपा, जेसलमेर आदि जैन शास्त्र भण्डारों में आराधना विषयक छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थ मिलते हैं उन सबमें प्राचीन और विशाल आधार यह संवेग रंगशाला-आराधना शास्त्र विदित होता है। इसकी कुल दस हजार तिरपन १००५३ प्राकृत गाथाएँ हैं। जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना आराधना मुख्य मार्ग इसमें वर्णन किया है। इससे पढ़ने से वैराग्य की उमियाँ प्रवाहित होती हैं। वैराग्य बल जागृत होता है। त्यागी जीवन के अलौकिक आनन्द का पूर्णरूप में अनुभव होता है। परम हितकारक इस ग्रन्थ का पठन-पाठन, व्याख्यान देना श्रवण करना इत्यादि से प्रचार करना परम आवश्यक है। तथा चतुर्विध श्री संघ के लिये यह ग्रन्थ स्वपरोपकारक है।

परम पूज्य ग्रन्थकार महर्षि ने इस महान् ग्रन्थ में आगम रहस्य का अमृत-पान तैयार किया है, उसकी महिमा परिपूर्ण रूप में समझाने में अथवा वर्णन करने में सामर्थ्य भुज में नहीं है। परम पूज्य आचार्य देव श्री विजय भद्रंकर सूरेश्वर जी महाराज के गुजराती अनुवाद का ही अनुकरण कर मैंने एक श्रुत ज्ञान की उपासना की भावना से यह शुभ उद्यम किया है। फिर भी इसमें छपस्था के कारण कोई क्षति अथवा शास्त्र विरुद्ध लिखा गया हो, तदर्थ त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं देता हूँ। वाचक वर्ग उस भूल को सुधार कर पढ़ें।

अन्त में सभी पुण्यशाली आत्माएँ महा रसायन के अमृतपान समान इस महा ग्रन्थ का वाचन, चिन्तन मनन करके आराधना विकास साधकर कर परम शान्ति जनक संवेगमय समाधि प्राप्त कर अजराभर रूप बने यही एक हार्दिक शुभ मंगल कामना है।

वि० सं० २०४१

फाल्गुन चोमासा

६-३-८५

—फन्यास पथ विजय

छोटी बाबाबाड़ी, दिल्ली

पन्थास प्रवर श्री पद्म विजय जी द्वारा

अनुवादित

सरल सुबोध अपूर्व साहित्य

(१) योग शास्त्र	४०.००
(२) वंदितु सूत्र	२५.००
(३) उपदेश माला	१५.००
(४) अध्यात्मसार	१२.५०
(५) प्रशम रति	२.००
(६) पाण्डव चरित्र	१२.००
(७) जैन रामायण	१०.००
(८) पर्व कथा संग्रह	३.००
(९) ज्ञानसार अष्टक	१.५०
(१०) हस्तिनापुर का इतिहास	०.५०
(११) ललित भक्ति दर्पण	०.३५
(१२) देव वंदन माला	२.५०
(१३) युगादि देशना	५.००
(१४) पूजा कैसे करनी चाहिए ?	२.००
(१५) संवेगरंगशाला	३०.००
(१६) समग दित्य महाकथा	प्रेस में

प्रकाशन की प्रतीक्षा में

- (१) अध्यात्म उपनिषत्
- (२) पवित्र तीर्थ प्रयागराज
- (३) कौशाम्बी की कथा
- (४) नव स्मरण अर्थ सहित

संवेग की महा महीमा

संवेगेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन्त ! संवेग से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

संवेगेण अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्म सद्धाए संवेगं हव्वामागच्छइ । अणन्ताणु बन्धि कोह माण माया लोभे खवेइ । नवं च कम्म न बन्धइ । तापच्चइयं चणं मिच्छत्तं विसोहि काऊण दसंणाराहए भवइ । दसंण विसो हीएयणं वसुद्धाए अत्थे गइए तेणेव भवग्ग हणेणं सिज्झइ सोहीए यणं विसुद्धाए तत्थं पुणो भवग्गहणं नाइव कमइ ॥

अर्थात्—संवेग से जीव अनुत्तर—परम धर्म श्रद्धा को प्राप्त करता है। परम धर्म श्रद्धा से शीघ्र ही संवेग प्राप्त करता है। उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय करता है और नये कर्मों का बन्धन नहीं करता है। तीव्र कषाय के क्षीण होने से मिथ्यात्व विशुद्ध युक्त दर्शन आराधना नहीं है। अर्थात् मिथ्यात्व बंध नहीं होता है। दर्शन विशोध के द्वारा विशुद्ध होकर कई जीवात्मा उसी जन्म में सिद्ध हो जाते हैं। एवं कई जीव दर्शन विसोध से विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म में मुक्त हो जाते हैं। इससे आगे जन्म-मरण नहीं करते हैं।

(उत्तराध्ययन के उन्नीसवें अध्यायन में)

श्रुत ज्ञान में भक्ति करने वाले की शुभ नामावली

- १५०१) श्री अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ महासंघ दिल्ली
 १०००) परमपूज्य आचार्य श्री रूचक चन्द्र सूरेश्वर म० के उपदेश से बोटाड श्री संघ (गुज)
 १०००) श्री महावीर नगर कादीवली बम्बई श्री संघ
 १००१) श्री राजकुमार जी जैन वकील दिल्ली
 ५५१) श्री पूनमचन्द जी जीहरी दिल्ली
 ५०१) श्री पसन्नमल जी समददिया नागोर वाले
 ५०१) साध्वी श्री गुणोदया श्री जी (सागर जी समुदाय) की प्रेरणा से २३ साध्वी के वर्षातिप पारणा निमित्ते
 ५०१) श्री हाथरस श्री संघ की ओर से
 ५०१) तपगच्छ महिला संघ दिल्ली किनारी बाजार
 ५०१) श्री जम्मूदेवी मिलीमल जी बाफला मोकलेसर (राज)
 ५०१) रीता धर्मपत्नी सतीश ओसवाल दिल्ली
 ५०१) त्रिलोकचन्द जी कपूरचन्द जी टुठा
 ५०१) श्री नांदिया श्री संघ (राजस्थान)
 ५०१) श्री खरतरगच्छ महिला संघ दिल्ली
 ५०१) श्रीमती सेवती देवी धर्मपत्नी ला० चान्दमल संखवाल दिल्ली
 ३११) श्री समुद्र बिहार पालीताणा ह० कपूरचन्द टुठा
 २५१) श्रीमती उषा धर्मपत्नी अनील कुमार दिल्ली
 २५१) साध्वी श्री मनोहर श्री के उपदेश से एक श्राविका
 २५१) श्री हरिचन्द सुशील कुमार पालावत दिल्ली
 २५१) देवेन्द्र कुमार जी जैन वीर नगर दिल्ली
 २५१) श्री अनराज सुखराज जी कोचर दिल्ली
 २५१) छोगमल जी वीरभान जी चौरडिया दिल्ली
 २५१) लाला रामलाल जी दिल्ली रूपनगर
 २५१) श्री खरतरगच्छ जैन संघ दिल्ली
 २५१) छोटलाल राजेन्द्र कुमार जैन
 २५१) श्री शीतलदास राख्यान दिल्ली
 २५१) श्री तारा चन्द जी धनश्याम दास जी दिल्ली

- २०१) गुजराती तपगच्छ महिला संघ कानपुर
 २०१) सुनीता धर्मपत्नी सुरेन्द्र कुमार जैन दिल्ली
 २०१) लाला खैराती लाल जी रूप नगर दिल्ली
 १५१) श्री लाल चन्द फत्ते चन्द जी कानपुर
 १५१) श्री कन्हैया लाल जी बांठिया कानपुर
 १५१) श्री धनदेवी माता सुरेन्द्र कुमार जडियाला (पंजाब)
 १५१) श्री कपूर चन्द जी जैन कानपुर
 १५१) रतन बहन धर्म पत्नी गुलाबचन्द जी कानपुर
 १११) श्री दलेलसिंह विजयसिंह जी पालावत दिल्ली
 १०१) श्री पद्मा बहन दीवान चन्द जी पट्टी
 १०१) पद्मा अग्रवान कानपुर
 १०१) फुलचन्द जी कानपुर
 १०१) माणिक बहन ध० प० शिखरचन्द जी बेगानी बीकानेर
 १०१) गुप्तदान
 १०१) मन्साराम सुरेशचन्द जी दिल्ली
 १०१) लाला कस्तुरी लाल जी शाहदरा दिल्ली
 १०१) प्रबलनी साध्वी श्री दमयन्ती श्री जी के उपदेश से
 १०१) सुशीला धर्मपत्नी धन कुमार मेरठ
 १०१) उमा धर्मपत्नी ओमप्रकाश जैन दिल्ली
 १०१) स्वर्गीय कमला बहन ध० प० ज्ञानचन्द जी छजलाणी
 १०१) छोटा लाल जी सन्तोषचन्द जी दुंगड
 १०१) मुष्ठा लाल जी दिल्ली
 १०१) गुडिया पूजा योजना गिरिश दिल्ली
 १०१) मणीबहन धर्मपत्नी कान्ति लाल मण्डार (राज)
 १०१) हुकमी चन्द समरथमल जैन दिल्ली
 १०१) मुखराज ओमप्रकाश जैन खानकाडोंगारा, हाल दिल्ली
 १०१) लक्ष्मी बहन दादावाडी
 १०१) एस० के० जे० रबड़ कम्पनी नई दिल्ली
 १०१) छोट्टन लाल जैन माकड़ी
 १०१) पद्मा लाल जी विनोद कुमार जी नाहटा

२५११) सरल स्वभावी शासन प्रभावक तपूज्य साध्वी रतन श्री जश्वन्त श्री जी के सद्गुण प्राप्त हुए उसके नामवाली इस प्रकार :—

२५१) श्रीमती पद्मादेवी धर्मपत्नी स्वर्गीय दौलतराय जैन समानी वाले अम्बाला

- ५०१) श्री सरदारी लाल जमीतोशाह जी के सुपुत्र शान्ति लाल जी पालश वाले
अम्बाला शहर
- ५०१) श्रीमती शिमलारानी धर्मपत्नी सुरेन्द्र कुमार जी जैन अम्बाला शहर
- २०१) यशपाल अशोक कुमार सुपुत्र श्री शोभन लाल जैन अम्बाला शहर
- १०१) ओमप्रकाश अनील कुमार जैन अम्बाला शहर
- १०१) हिरख चन्द सिकन्दर लाल जी अम्बाला शहर
- १०१) शान्ति लाल जी अम्बाला शहर
- १०१) श्रीमती कमलावती धर्मपत्नी मोहनलाल बम्बई
- १०१) श्रीमती सुषमा धर्मपत्नी सुभाष कुमार जी अम्बाला
- १०१) श्रीमती सुशीलारानी ध० प० सुशील कुमार जी अम्बाला
- ४५१) गुप्तदान

परमपूज्य श्री जयानन्द मुनिश्वर के सदुपदेश इस महाग्रन्थ में सहायता मिली है ।

- १०००) श्री जैन श्वेताम्बर भूतिपूजक मन्दिर गांधी नगर बंगलोर
- ५००) श्री जामनगर बीसा ओसवाल खरतर गच्छ जैन संघ

विषयानुक्रमणिका

मंगला चरण	... १
संसार अटवी में धर्म की दुर्लभता	... ४
धर्म के अधिकारी	... ५
संवेग की महीमा	... ६
ग्रन्थ की महीमा	... ७
ग्रन्थ का हेतु	... ८
महासेन राजा की कथा	... ९
वीर प्रभु का उपदेश ३१ विष की परीक्षा ३४ रानी के उपदेश ३७ प्रभु की हित शिक्षा ३९ ज्ञान की सामान्य आराधना ४१ दर्शन की सामान्य आराधना ४२ चारित्र्य की सामान्य आराधना ४२ तप की साधारण आराधना ४३ सामान्य और विशेष आराधना का स्वरूप ४४ मधुराजा का प्रबन्ध ४५ सुकोशक मुनि की कथा ४६ विस्तृत आराधना का स्वरूप ४८ मरुदेवा माता की कथा ४९ क्षुलक मुनि की कथा ५१	
प्रथम मूल परिक्रम द्वार	... ५४
उसमें प्रथम अर्ह द्वार	... ५५
वंक चूल की कथा ५७ चिलाती पुत्र की कथा ७३	
दूसरा लिंग द्वार	... ७६
आराधक गृहस्थ का लिंग ७७ साधु के लिंग ७७ मुहपति आदि का प्रयोजन ७७ लोच से लाभ ७८ गृहस्थ साधु के सामान्य लिंग ७८ कुलबालक मुनि की कथा ७९	
तीसरा शिक्षा द्वार और उसके भेद	... ८४
श्रुतज्ञान का लाभ ८४ इन्द्रदत्त के अज्ञपुत्र और सुरेन्द्रदत्त की कथा ८६ आसेवन शिक्षा का वर्णन ९० ज्ञान क्रिया का परस्पर सापेक्ष उपादेयता ९१ मगु आचार्य की कथा ९२ अंगार मरंक आचार्य की कथा ९३ ग्रहण आसेवन शिक्षा के भेद ९४ साधु और गृहस्थ का सामान्य आचार धर्म ९५ गृहस्थ का विशिष्ट आचार्य धर्म ९६ साधु का विशिष्ट आचार धर्म ९९	

कोया दिनय द्वार	***	१००
श्रेणिक राजा की कथा	***	१०१
पौषवा समाधि द्वार	***	१०६
नमि राजर्षि की कथा	***	१०७
छटा मन का अनुशास्ति द्वार	***	११२
वसुदत्त की कथा	***	११३
सातवां अनियत विहार द्वार	***	१२७
दुर्गता नारी की कथा १३० अनियत विहार से गृहस्थ साधु के साधारण गुण १३२ सेलक सूरि की कथा १३४		
आठवां राजा के अनियत विहार की विधि द्वार	***	१३६
साधु को वसति देने का लाभ १३८ कुरुचन्द्र की कथा १४३		
नौवां परिणाम द्वार	***	१५४
इसभव और परभव का हित चिन्तन १५४ श्रावक की भावना १५४ दूसरा पुत्र को अनुशास्ति द्वार १५७ वज्र और केसरी की कथा १५९ तीसरा कालक्षेप द्वार १६४ पौषधशाला कैसी और कहाँ करानी ? १६४ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ १६५ दर्शन प्रतिमा का स्वरूप १६५ अंध की कथा १६८ व्रत प्रतिमा का स्वरूप १६९ सामायिक प्रतिमा १६९ पौषध प्रतिमा, प्रतिमा-प्रतिमा अब्रह्मवर्जन प्रतिमा तथा सचित्त त्याग प्रतिमा १७० आरम्भ वर्जन प्रतिमा, प्रेष्य वर्जन प्रतिमा, उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा और श्रमणभूत प्रतिमा १७१ साधारण द्रव्य खर्च के दस स्थान १७२ जैनमंदिर द्वार १७२ जैन बिम्ब द्वार १७४ पूजा द्वार १७४ आगम पुस्तक द्वार १७५ साधु द्वार १७६ साध्वी द्वार १७७ श्रावक द्वार १७८ श्राविका द्वार १७८ सार्धमिक के प्रति व्यवहार १७८ पौषधशाला द्वार १७९ दर्शन कार्य द्वार १८० पुत्र प्रतिबोध द्वार १८२ सुस्थित घटना द्वार १८५ आलोचना द्वार १८८ काल परिज्ञान द्वार १९० मृत्यु जानने के ग्यारह उपाय १९० देवता द्वार १९० राकुन द्वार १९१ उपश्रुति द्वार १९२ छाया द्वार १९३ नाडी द्वार १९४ निमित्त द्वार १९६ ज्योतिष द्वार १९७ स्वप्न द्वार १९८ रिष्ट द्वार २०० यन्त्र द्वार २०५ विद्याद्वार २०५ अणसण प्रतिपत्ति द्वार २०६		

वसवाँ त्याग द्वार	...	२१०
सहस्रमल्ल की कथा	...	२११
ग्यारहवा मरण विभक्ति द्वार	...	२१३
मरण के १७ भेद २१३ जयसुन्दर और सोमदत्त की कथा २१५ उदायी राजा को मारने वाले की कथा २१८ भक्त परीक्षा मरण द्वार २१९ इगिनी मरण २२० पादपोष गमन-मरण २२१		
बारहवाँ अधिगत मरण द्वार	...	२२२
सुन्दरीनन्द कथा २२५ पण्डित मरण की महीमा २२६		
तेरहवाँ श्रेणी द्वार	...	२३१
स्वयं भूदत्त की कथा	...	२३२
चौदहवाँ भावना द्वार	...	२३७
कौत्कुच्च भावना २३७ किल्बिष भावना २३७ आभियोगिक भावना २३८ आसुरिक भावना २३८ संमोह भावना २३९ प्रशस्त भावना २३९ मुनि की कथा २४० धैर्य बल भावना २४१ आर्य महागिरी का प्रबन्ध २४१ एलकाक्ष नगर का इतिहास २४३ गजाग्र पद पर्वत का इतिहास २४४		
पन्द्रहवाँ संलेखना द्वार	...	२४६
अनशन तप २४७ उत्तोरिका २४८ वृत्ति संक्षेप २४८ रस त्याग २४९ काया क्लेश २५० संलीनता २५० गंगदत्त कथा २५३		
द्वितीय परगण संक्रमण मूल द्वार		२५८
उसमें प्रथम दिशा द्वार		२५८
आचार्य की भोग्यता २५९ शिवभद्राचार्य का प्रबन्ध २६१		
तृसरा क्षामणा द्वार		२६३
आचार्य नयशील सूरि की कथा	...	२६५
तीसरा अनुशास्ति द्वार	...	२६७
साध्वी और स्त्री संग से दोष २७३ सुकुमारिका की कथा २७४ सिंह गुफावासी मुनि की कथा २७५ प्रवृत्तिनी की अनुशास्ति २७७ साध्वियों को अनुशास्ति २७९ वैयावच्य की महिमा २८० शिष्यों की गुरुपति कृतज्ञता २८४		
चौथा परागण संक्रमण बिधि द्वार		२८५
पांचवाँ सुस्थित गवेषणा द्वार	...	२८८
सुस्थित का स्वरूप २८८ आचारवान् २८८ आधारवान् २८९ व्यवहारवान् २९० अपञ्जीडक २९०, प्रकृवी २९१ निर्वापक २९१ अपायदर्शक २९२ अपरिश्रावी २९३		

छट्ठा उपसंपदा द्वार	...	२६४
सातवां परीक्षा द्वार	...	२६४
आठवां पहिलेहना द्वार	...	२६६
हरिदत्त मुनि की कथा २६७		
नौवा पृच्छा द्वार	...	३०१
दसवां प्रतीच्छा द्वार	...	३०२
तृतीय ममत्व विच्छेदन् मूल द्वार	...	३०३
उसमें प्रथम आलोचना विधान द्वार ३०३		
आलोचना कब देनी ३०४ आलोचना किसकी देनी ३०४		
आलोचना लेने वाला कैसा होता है ३०५ आलोचक के दस		
दोष ३०६ आलोचना नहीं देने से दोष ३०६ ब्राह्मण पुत्र		
की कथा ३१० आलोचना पर साक्षी में करे ३११ आलोचना		
के गुण ३१२ आलोचना किस तरह दे ३१४ उसकी सात		
मर्यादा ३१४ क्या-क्या आलोचना करे ३१६ गुरु आलोचना		
किस तरह दे ३१८ प्रायश्चित्त क्या देना ३१९ आलोचना		
का फल ३२० सुरतेज राजा का प्रबन्ध ३२१ अवस्ती नाथ		
और नर सुन्दर की कथा	...	३२२
दूसरा शय्या द्वार ३२८ दो तोतों की कथा	...	३२८
तीसरा संस्तारक द्वार	...	३३१
भाव संथारा ३३१ शुद्ध और अशुद्ध संथारा ३३२ अग्नि		
संथारे पर गजसु कुमार की कथा ३३३ जल संथारे पर		
अर्णिका पुत्र आचार्य की कथा	...	३३४
चौथा निर्यामिक द्वार	...	३३६
पांचवा दर्शन द्वार	...	३३९
छट्ठा हानि द्वार	...	३४०
सातवां पञ्चखान द्वार	...	३४२
आठवां क्षमापना द्वार	...	३४४
नौवा स्वयं क्षमणा द्वार	...	३४५
चन्द्ररुद्राचार्य की कथा	...	३४६
दौथा समाधि लाभ द्वार	...	३४९
उसमें प्रथम अनुशासित द्वार	...	३५०
अट्ठारह पाप स्थान के नाम ३५० प्राणी वध ३५१ सासु		
बहु और पुत्री की कथा ३५३ मृषावाद द्वार ३५६ वसुराजा		
और नारद की कथा ३५९ अदत्तादान द्वार ३६१ श्रावक		

पुत्र और टोली का दृष्टान्त ३६२ मेथुन द्वार ३६३ ब्रह्मचर्य
 के गुण ३६६ तीन सखी की कथा ३६६ परिग्रह द्वार ३६७
 लोभानन्दी और जिनदास का प्रबन्ध ३६९ क्रोध द्वार ३७०
 प्रसन्न चन्द्र राजर्षि की कथा ३७१ मान द्वार ३७२ बाहू-
 बली का दृष्टान्त ३७४ माया द्वार ३७५ साध्वी पंडरा
 आर्या की कथा ३७६ दो वर्णिक पुत्र की कथा ३७७ लोभ
 द्वार ३७७ कपिल ब्राह्मण की कथा ३७८ प्रेम पाप द्वार ३८०
 अहंभक्त की पत्नी और अहं मित्र की कथा ३८२ द्वेषद्वार
 ३८३ धर्मरूचि की कथा ३८३ कलह द्वार ३८५ हरिषेण
 की कथा ३८६ अभ्याख्यान द्वार ३९० रुद्र और अंगारि
 की कथा ३९१ भरति रति द्वार ३९२ क्षुल्लक कुमार मुनि
 की कथा ३९३ पैशुन्य द्वार ३९५ सुबन्धु मन्त्री और चाणक्य
 की कथा ३९६ परपरिवाद द्वार ३९८ सुभद्रा की कथा ४००
 मायाभूषावाद द्वार ४०२ कूट तपस्वी की कथा ४०३ मिथ्या
 दर्शन शल्य द्वार ४०४ जमाली की कथा ४०६ दूसरा द्वार
 ४०८ ब्राह्मण पुत्र दृष्टान्त ४०९ कुलमद द्वार ४१२ मरिचि
 की कथा ४१२ रूपमद द्वार तथा काकदी के दो भाईयों की
 कथा ४१५ बलमद द्वार ४१८ मल्लव देव राजा की कथा
 ४१९ श्रुतमद द्वार ४२१ आर्य स्थूल भद्र सूरि की कथा
 ४२२ रूपमद द्वार ४२५ दृढ़ प्रहारी की कथा ४२६ लाभ-
 मद द्वार और दृढ़ कुमार मुनि दृष्टान्त ४२८ ऐश्वर्या द्वार
 ४३० दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा के व्यापारियों की
 कथा ४३१ तीसरा क्रोधादि द्वार ४३५ चौथा प्रमाद द्वार
 ४३६ लौकिक ऋषि कथा ४३८ मांसाहार के दोष ४३९
 अभय कुमार कथा ४४३ दूसरा विषय प्रमाद ४४५ कंडरीक
 कथा ४४८ तीसरा कषाय प्रमाद ४५० चौथा निद्रा प्रमाद
 ४५२ अगडदत्त कथा ४५३ पांचवा विकथा का स्वरूप
 ४५६ उसके गुण दोष का वर्णन ४५६ जुआ प्रमाद ४६१
 प्रमाद के आठ भेद ४६२ पांचवा सर्व सर्ग वर्जन ४६५
 छट्ठा सम्यक्त्व द्वार ४६८ सातवां अरिहंतादि छह भक्ति
 द्वार ४६९ कनक रथ राजा कथा ४७० आठवा पन्च नमस्कार
 द्वार ४७३ श्रावक पुत्र का दृष्टान्त ४८० श्राविका कथा
 ४८१ हुन्डिका यक्ष का प्रबन्ध ४८२ नौवा सम्यग्ज्ञानोपयोग
 द्वार ४८३ यव साधु का प्रबन्ध ४८६ दसवा पंच महाव्रत

रक्षण द्वार ४८६ अहिंसा व्रत रक्षण ४८६ असत्य त्याग व्रत
 ४६१ अदत्ता दान त्याग व्रत ४६२ ब्रह्मचर्य व्रत ४६३
 गर्भावस्था का स्वरूप ४६८ चारुदत्त की कथा ५०० परिग्रह
 व्रत ५०५ पांच महाव्रत की भावना ५०६ धन सेठ की पुत्र
 वधुओं की कथा ५१० ग्यारहवाँ द्वारा उसमें अरिहान का
 शरण ५११ सिद्ध का स्वरूप और शरण स्वीकार ५१२
 साधु का स्वरूप और शरणा ५१३ जैन धर्म का स्वरूप और
 शरणा ५१४ बारहवाँ दुष्कृत मर्ही द्वार ५१६ तेरहवाँ मुकुत
 अनुमोदना द्वार ५२६ चौदहवाँ भावना द्वार ५२६ अनित्य
 भावना ५३० नगति राजा की कथा ५३१ अशरण भावना
 और सेठ पुत्र की कथा ५३२ ससार भावना और तापस सेठ
 की कथा ५३४ एकत्व भावना और श्री महावीर प्रभु का
 प्रबन्ध ५३६ अन्यत्व भावना ५३७ सुलस और शिवकुमार
 कथा ५३८ अशुचि भावना ५३९ शीववादों ब्राह्मण का
 प्रबन्ध ५४० आश्रव भावना ५४१ संवर और निर्जरा भावना
 ५४२ लोक भावना और शिव राजर्षि की कथा ५४३ बोधि
 दुर्लभ भावना ५४४ वणिक पुत्र कथा ५४६ धर्माचार्य दुर्लभ
 भावना ५४७ धर्मोपदेशक गुरु के गुण ५५१ पन्द्रहवाँ शील
 पालन द्वार ५५३ सोलहवाँ इन्द्रिय दमन द्वार ५५५
 श्रोत्रेन्द्रिय का दृष्टान्त ५५७ चक्षु इन्द्रिय का दृष्टान्त ५५९
 गन्ध-प्रिय का प्रबन्ध ५६१ सोदास की कथा ५६२ ब्राह्मण
 की कथा ५६३ ब्रह्मादत्त का प्रबन्ध ५६५ पीठ, महापीठ
 मुनियों की कथा ५७० नन्द मणियार की कथा ५७२ छह
 लक्ष्या का दृष्टान्त ५९७ दूसरा दृष्टान्त ५९८ ग्रन्थकार की
 प्रशस्ति ६१६ अनुवादक प्रशस्ति ६२४ ।

ॐ अहं नमः ॐ

॥ नमोऽस्तु श्री जिन प्रवचनाय ॥

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानन्द प्रकाशचन्द्र सूरि सूरिभ्योः नमः

श्री जिनचन्द्र सूरेश्वर प्रणीत

श्री संवेगरंगशाला

अर्थात्

(वैराग्यरंग की नाट्य भूमि या नाट्यशाला)

भावानुवाद

ग्रन्थकार का मंगलाचरण—

रेहइ जेसि पयनह परंपरा उगमन्तरविरुद्धरा ।

नमिरसुरभउड संघट्ट, खुडियवर रयण राइत्व ॥ १ ॥

अहव सिवपहपलोयणमणहत्यप्पई वपंतित्व ।

तिहुयण महिए ते उसभप्पमुह तित्थाहिबे नमह ॥ २ ॥

अर्थात् उदय हुए सूर्य की कान्ति समान, लालवर्णयुक्त, नमस्कार करते हुए देवताओं के मुकुट के संघट्ट (स्पर्श) से गिरे हुए रत्नों की सुशोभित श्रेणी सदृश निर्मल तथा मोक्ष मार्ग की खोज करने की इच्छा वाले भव्य जीवात्मा के हाथ में दीपक श्रेणी समान, तेजस्वी, शोभायमान, पैर के नखों की श्रेणी वाले, तीन जगत के पूजनीय, श्रीऋषभदेव परमात्मा को और अन्य तीर्थंकर भगवन्तों को हे भव्य प्राणियों ! नमस्कार करिये ।

अज्जविय कुतित्थिहत्थि सत्थमच्चयत्थमोत्थरइ जस्स ।

दुग्गनयवगगनहनिवहं भोसणो तित्थमयनाहो ॥ ३ ॥

तं नमह महाबोरं, अणंतरायं पि परिहरिय रायं ।

सुगयंपि सिबं सोम पि चत्तदोसोदयारम्भं ॥ ४ ॥

अर्थात् महामुश्किल से जिसे समझ सके ऐसे दुर्गम नयवाद रूपी नख के समूह से भयंकर जिसका तीर्थ—शासनरूपी सिंह आज भी अन्य मतावलम्बी रूपी हाथियों के समूह को अत्यन्त अक्रमण करता है ऐसे श्री भ्रमण भगवान

महावीर प्रभु को तुम नमस्कार करो, जोकि भगवन्त अनन्त राग वाले होने पर भी राग के त्यागी हैं, सुगत बुद्ध होते हुए भी शिव-कल्याण के करने वाले और सोम अर्थात् चन्द्र होते हुए भी रात्रि के उदयरूपी आरम्भ के त्यागी हैं। यहाँ पर ग्रन्थकार ने विरोधाभास अलंकार से स्तुति की है। इसे दूर करने के लिए अन्तराय अर्थात् अन्तराय बिना, परिहरियराय अर्थात् राग के त्यागी, सुगत अर्थात् सम्यग् ज्ञान वाले होने से शिव अर्थात् उपद्रव हरने वाले और सौम अर्थात् सौम्यता गुण वाले होने से प्रभु छत्तवोसोदयारंभ अर्थात् रागादि दोषों के उदय और आरंभ के त्यागी हैं। ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

जे नित्वाणगया बिहुनेहदसावज्जिया वि दिप्पति ।

ते अपुप्पपईवा जयन्ति सिद्धा जय पसिद्धा ॥ ५ ॥

अर्थात् निर्वाण हुए और स्नेहदशा से रहित अपूर्व दीपक के सदृश, जगत् प्रसिद्ध श्री सिद्ध परमात्मा विजयी हैं यहाँ दीपक के पक्ष में निर्वाण हुए अर्थात् बुझे हुए और स्नेह-तेल तथा दशा-बत्ती ऐसा अर्थ करना, परन्तु सिद्ध परमात्मा ऐसे नहीं हैं वे तो तेल और बत्ती के बिना ही प्रकाश के पुंज रूप हैं इसलिए वे अपूर्व दीपक समान हैं।

हजारों अतिशयरूपी सुन्दर सुगन्धी से खुशबू फैलाते श्री जिनेश्वर के मुखरूपी सरोवर से प्रकट हुआ श्रुतरूपी कमल का मूल, नाल आदि के समान जो पाँच प्रकार के आचार हमेशा पालन करने वाले और उसी का उपदेश देने वाले ऐसे गुण समूह के धारक श्री गौतम आदि जो गणधर (आचार्य) हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

सतत सूत्र के दान से आनंदित बने मुनिवर रूपी भ्रमरों से घिरे हुए और नित्य चरित्र गुण से श्रेष्ठ हाथी के समान श्री उपाध्याय भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ। इस श्लोक में श्री उपाध्याय भगवन्त को हाथी की तुलना की है, उनके पास हाथी समान ज्ञानरूपी महाकाया है, चरण गुणरूप चाल-गति है, ज्ञान दानरूपी मद झरता है, वहाँ मुनि रूपी भौरे का समूह मद-रूपी ज्ञान दान लेने के लिए स्वाध्याय का श्रेष्ठ संगीत गाते हैं।

जो करुणा रस से परिपूर्ण हृदय वाले, धर्म में उच्चमी जीव की सहायता करने वाले और दुर्जय कामदेव को जीतने वाले तथा तपोनिधान रूप तपस्वी मुनिवर्य हैं उसे मैं नमन करता हूँ।

गुणरूपी राजा की राजधानी के समान श्री सर्वज्ञ परमात्म की महा-वाणी को मैं नमस्कार करता हूँ कि जो वाणी संसाररूपी भयंकर कुए में गिरते हुए प्राणियों के उद्धार के लिए निष्पाप रस्सी के समान है।

वह उत्तम प्रवचन (वाणी) विजयी है कि उन्मार्ग में जाते हुए बैल तीक्ष्ण परोण को देखकर जैसे वह सन्मार्ग में चलता है वैसे प्राणी प्रेरक प्रवचन को प्राप्त कर संसार मार्ग को छोड़कर मोक्ष मार्ग स्वीकार करता है।

जो चिन्ता (ज्ञान) रूपी रहट को तैयार कर धर्म तथा शुक्ल दो शुभ-ध्यान रूपी बैलों की जोड़ी द्वारा आराधना रूपी घड़ों की माला से आराधक जीव रूपी पानी को जो संसार रूपी कुएँ में से खींचकर उच्चे स्थान (स्वर्ग या मोक्ष) में पहुँचाते हैं उन रहट तुल्य निर्यामिक गुरु भगवन्तों को तथा मुनिराज को सविशेष नमस्कार करता हूँ।

सद्गति की प्राप्ति के लिए मूल आधारभूत इस (ग्रंथ में जो परिकर्म विधि आदि कही जायेगी) चार प्रकार की स्कंध वाली आराधना को पार उतरने वाले मुनियों को मैं वंदन करता हूँ और ऐसे गृहस्थों को अभिनन्दन (प्रशंसा) करता हूँ।

वह आराधना भगवती जगत में हमेशा विजयी रहे कि जिसको दृढ़तापूर्वक लगे हुए भव्य प्राणि 'नाव में बैठकर समुद्र पार करता है वैसे भयंकर भव समुद्र को पार उतर सकते हैं।' अतः संसार से पार उतरने के लिए आराधना नाव समान है।

अब श्रुतदेवी की स्तुति करते हैं। हे श्रुतदेवी ! नित्य विजयी हो कि जिसके प्रभाव से मंद बुद्धि वाले भी कवि अपने इष्ट अर्थ को प्राप्त करने में समर्थ बन जाते हैं।

अब अपने पूज्य गुरुदेव की स्तुति करते हैं : जिनके चरण कमल के प्रभाव से मैं सब लोगों में प्रशंसनीय सूरिपदवी को प्राप्त की है, वे देवों से अथवा पंडितों द्वारा पूज्यनीय मेरे गुरु भगवन्त को मैं वन्दन करता हूँ।

इस तरह समस्त स्तुति समूह को इस स्तुति द्वारा जैसे सुभट हाथियों के समूह द्वारा शत्रुरूपी प्रतिपक्ष को चकनाचूर करता है वैसे विघ्नों रूपी प्रतिपक्ष को चकनाचूर करने वाला मैं स्वयं अल्पमति वाला होने पर महान् गुणों

के समूह से श्रेष्ठ सद्गुरु के चरणकमल अथवा चारित्र के प्रभाव से भव्यात्माओं को हितकारक कुछ अल्पमात्रा में कहता हूँ।

संसार अटवी में धर्म की दुर्लभता :—अंकुश बिना यमराज रूपी सिंह हिरन तुल्य संसारी जीवों के समूह को जहाँ पर हमेशा मारता है, विलासी दुर्दान्त इन्द्रिय रूपी शिकारी जीवों से वह अति भयंकर है, पराक्रमी कषायों का विलास जहाँ पर फैला हुआ है, कामरूपी दावानल से जो भयानक है, फैली हुई दुर्वासना रूपी पर्वत की नदियों के पुर के समान दुर्गन्ध है और तीव्र दुःख रूप वृक्ष सर्वत्र फैले हुए हैं, ऐसी विकट अटवी रूप गहन इस संसार में लम्बे मार्ग की मुसाफिरी करते मुसाफर के समान मुसाफिरी करते जीवों को गहरे समुद्र में मोती की प्राप्ति करने के समान, मनुष्य जीवन गाड़ी के जुआ और समीला के दृष्टान्त सदृश अति दुर्लभ है, उसे अति मुश्किल से प्राप्त करने पर भी उर्वरा भूमि में उत्तम अनाज प्राप्ति, अथवा मरुभूमि में कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान, मनुष्य जीवन में भी अच्छा कुल, उत्तम जाति, पंचेन्द्रिय की सम्पूर्णता, पदुता, लम्बी आयुष्य आदि धर्म सामग्री, उत्तरोत्तर विशेष रूप प्राप्त करना दुर्लभ है, उसे भी प्राप्त कर ले फिर भी सर्वज्ञ परमात्मा कथित कलंक रहित धर्म अति दुर्लभ है क्योंकि वहाँ पर भी भावि में कल्याण करने वाला हो संसार अल्प शेष रहा हो, अति दुर्जय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म निर्बल बने हो, तब जीवात्मा को सद्गुरु के उपदेश से अथवा अपने आप नैसर्गिक राग-द्वेष रूपी कर्म की ग्रन्थी-गाँठ का भेदन होने से धर्म की प्राप्ति होती है। वह धर्म कैसा है उसे कहते हैं :—

बड़े पर्वत की अति तेज रफ्तार वाली महानदी के बहाव में डूबते जीव को नदी के किनारे का उत्कृष्ट आधार मिल जाए, भिखारी को निधान मिल जाए, विविध रोगों से दुःखी रोगी को उत्तम वैद्य मिल जाए, और कुएँ में गिरे हुए को बाहर निकालने के लिए किसी के हाथ का मजबूत सहारा मिल जाए वैसे अत्यन्त पुण्य के उत्कृष्टता द्वारा प्राप्त हो सके ऐसे चिन्तामणी और कल्प-वृक्ष को भी जीतने वाला महान् उपकारी सर्वज्ञ कथित निष्कलंक धर्म को जीव प्राप्त करता है, इसलिए ऐसे परमधर्म को प्राप्त कर आत्मा को अपने हित के लिए ही खोज करनी चाहिए। वह हित ऐसा होना चाहिए कि जो नियम कोई भी अहित से, कहीं पर भी कभी भी बाधित न हो।

ऊपर कहे अनुसार अनुपम-सर्व श्रेष्ठ, कभी भी नाश नहीं होने वाला और दुःख रहित, शुद्ध श्रेष्ठहित सुख मोक्ष में मिलता है। वह मोक्ष कर्मों के

सम्पूर्ण क्षय से होता है, और यह कर्मक्षय भी विशुद्ध आराधना करने से होता है, इसलिए हितार्थी भव्य जीवों को हमेशा उस धर्म की आराधना में उद्यम करना चाहिए क्योंकि उपाय बिना उपेय की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार की आराधना करने की इच्छा वाला भी यदि उस आराधना का स्वरूप कथन करने वाले समर्थ शास्त्रों को छोड़कर, वैसा कितना भी उद्यम करे फिर भी सम्यग् आराधना को नहीं जान सकता है। इसलिए मैं तुच्छ बुद्धि वाला होते हुए भी, गुरु भगवन्त की परम कृपा से और शास्त्रों का आलम्बन के द्वारा गृहस्थ और साधु उभय सम्बन्धी अति प्रशस्त महाअर्थ मोक्ष और उसका हेतु से युक्त आराधना शास्त्र कहूँगा। अब आराधक के उद्देश्य को कहते हैं :—

धर्म के अधिकारी :—आराधना की इच्छा करने वाले को प्रथम से ही तीन योगों को रोकना चाहिए। क्योंकि बेकाबू मन, वचन, काया ये तीनों योग सर्व अशुभ-असुख का सर्जक हैं। इसी निरंकुश तीनों योग के द्वारा आत्मा मलीन होती है। वह इस प्रकार से :—

असमंजस अर्थात् अन्याय रूपी निरंकुशता, विविध विषय रूपी अरण्य में परिभ्रमण करते अरति, रति और कुमति आदि हाथियों तथा कषायरूपी अपने बच्चों आदि महासमूह के साथ तथा अनेक गुणरूप वृक्षों को नाश करने वाला प्रमाद रूपी मद से मदोन्मत्त बना हुआ यह मन रूपी हाथी स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार की कर्मरूपी रज द्वारा आत्मा को मलिन करता है।

असती वाणी के उपमा का वर्णन—निरर्थक बोलती प्रतिक्षण अलग-अलग शब्दों को धारण करती और विलास-सुनने वालों का मनोरंजन करती वाणी—(वचन) भी असती के समान स्वार्थ निरपेक्ष प्रवृत्ति वाली क्षण-क्षण में शब्द रूपी रंग को बदलने वाली अनर्थ को करने वाली है।

अब काया के विषय में कहते हैं—आत्मा का अन्याय-अहित करने वाली, पापकारी प्रवृत्ति-व्यापार वाली, सर्वविषय में सभी प्रकार से अंकुश बिना रहने वाली, और तपे हुए लोहे के गोले के समान जहाँ स्पर्श करेगी वहीं जलाने वाला, ऐसे सर्वत्र हिंसादि करने वाली यह काया भी कल्याणकारी नहीं है। इन तीनों में निरंकुश एक भी योग इस लोक और परलोक के दुःख का बीज रूप है, तो वे तीनों जब साथ में मिल जाएँ तब क्या नहीं करते ? अर्थात् महाअनर्थ करते हैं। इसलिए उन योगों के निरोध का प्रयत्न करना चाहिए। वह योग निरोध किस तरह होता है ? उसे कहते हैं :—

उस योग का निरोध प्रशस्त ग्रन्थों के अर्थ का चिन्तन करने से, उसकी रचना करने से, सम्यग् कार्य का आरम्भ करने से होता है, अन्यथा नहीं होता है। क्योंकि उन ग्रन्थों का अर्थ चिन्तन करने से मन का निरोध है, उस ग्रन्थ को बोलने से वचन निरोध है और उस ग्रन्थ को लिखना आदि क्रिया करने से काया का निरोध है। इन कार्यों में सम्यग् प्रकार से जोड़ना वह असद् व्यापार से रोका जा सकता है। इस तरह कर्म बंधन में एक प्रबल कारण योगों के प्रचार को रोकने वाले महात्मा ही हैं अथवा मेरी आत्मा को है। योग निरोध से लाभ कहते हैं:-

योग निरोध का फल:—इस तरह योग निरोध होने से प्रथम उपकार प्रस्तुत ग्रन्थ का सर्जन होता है और दूसरा उपकार संवेग का वर्णन करते हुए स्थान-स्थान पर प्रशम सुख का लाभ होता है।

संवेग की महिमा:—स्वप्न में भी दुर्लभ संवेग के साथ निर्वेद आदि परमार्थ तत्वों का जिसमें विस्तार हो वही शास्त्र श्रेष्ठ कहलाता है। जिस शास्त्र में अनादि पूर्व जन्म के अभ्यास से स्वयं सिद्ध और बाल-बच्चे, स्त्री आदि सब कोई सरलता से जान सकें ऐसे काम और अर्थ की प्राप्ति तथा राजनीति के उपाय अनेक प्रकार से कथन करने वाले शास्त्र को मैं निरर्थक समझता हूँ। इस कारण से संवेगादि आत्महितार्थ के प्ररूपक इस शास्त्र के श्रवण और चिन्तन आदि करने में बुद्धिजीवों को हमेशा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि संवेग गंभीर अति प्रशस्त शास्त्र का श्रवण धन्य पुरुष को ही मिलता है, और श्रवण करने के बाद भी वह समरस (समता) की प्राप्ति तो अति धन्य पुरुष को ही होती है। और भी कहा है कि पानी से भरा हुआ मिट्टी का कच्चा घड़ा जैसे गीला होकर भेदन होता है जैसे-जैसे संवेग रस का वर्णन किया जाए, वैसे-वैसे भव्यात्माओं का भेदन होता है। और लम्बे काल तक संयम पालन करने का सार भी संवेग रस की प्राप्ति है क्योंकि बाण उसे कहते हैं जो लक्ष्य को भेदन करे, वैसे आराधना उसे कहते हैं कि जिससे संवेग प्रगट हो। दीर्घकाल तक तप किया हो, चरित्र का पालन किया हो और बहुत श्रुतज्ञान का भी अभ्यास किया हो फिर भी यदि संवेगरस न प्रगट हुआ हो तो वह सर्व छिलकों को कूटने के समान निष्फल जानना। जिसके हृदय के अन्दर समग्र दिन में एक क्षण भी संवेगरस प्रकट न हो तो उस निष्फल बाह्य क्रिया के कण्ट का क्या फल मिलने वाला है? पाक्षिक में, महीने में, छह महीने में, या वर्ष के अन्त में भी जिसको संवेगरस नहीं प्रकट हुआ उस आत्मा को दुर्भग्य अथवा अभग्य जानना। जैसे शरीर के सौन्दर्य में चक्षु है, पति-पत्नी, माता-पुत्र,

गुरु-शिष्य आदि युगल रूप जोड़े में परस्पर हित बुद्धि है, और भोजन में नमक सारभूत है वैसे परलोक के विधान (हित) में संवेगरस का स्पर्श करना सार-भूत है। संवेग के अनुभवी ज्ञाताओं ने भव (संसार) का अत्यन्त भय लगे अथवा मोक्ष की ओर अभिलाषा को संवेग कहा है।

ग्रन्थ रचना का हेतु और उसकी महिमा—इसलिए केवल संवेग की वृद्धि के लिए ही नहीं परन्तु कर्मरूपी रोग से दुःखी होते भव्य जीवों को और मेरी आत्मा को भी नीरोगी बनाने के लिए, लम्बे समय से सुने हुए गुरुदेव रूपी वैद्य के उपदेश में से वचनरूपी द्रव्यों को एकत्रित करके भाव आरोग्यता के हेतुभूत यह अजरामर करने वाला आराधना रूपी, रसायण शास्त्र बनाने का मैंने आरम्भ किया है। यह आराधना-संवेगरंगशाला रूपी चन्द्र के किरणों के नीचे रहे हुए दिव्य ज्ञान कान्ति वाले आराधक जीवरूपी चन्द्रकान्त मणि में से पापरूपी पानी प्रतिक्षण झरता है अर्थात् इस संवेगरंगशाला में कही गई आराधना करने से पापों का प्रतिक्षण नाश होता है। जैसे कतक फल का चूर्ण जल को निर्मल करता है वैसे जिसका रहस्य संवेग है उस संवेगरंगशाला को पढ़ने वाले, श्रवण करने वाले और उसके अनुसार आराधना करने के कलुषित मन को निर्मल और शान्त करता है।

अब इस ग्रन्थ को वेश्या की और उसके साधु को विलासी की उपमा दी है। इस कारण से इसके पदों में अलंकार का लालित्य है, वेश्या के चरण में अलंकार होते हैं, सरल, कोमल और सुन्दर हाथ से सुशोभित अखण्ड शरीर के लक्षणों से श्रेष्ठ होती है, उत्तम सुवर्ण और रत्नों के अलंकारों से उज्ज्वल शरीर वाली, कान को प्रिय लगे ऐसी भाषा बोलने वाली, विविध आभूषणों से भूषित शरीर वाली, अप्रशान्त रस—उन्माद वाली, अन्य लोगों को विषय सुख देने वाली है, बहुत मान हाव-भाव द्वारा परपुरुष को काम का आनन्द दिलाने वाली, मिथ्या आग्रह बिना की, कभी भी उसने धन को बहुत नहीं मानने वाली—असंतोषी, बहुत व्यक्ति के पास से अर्थ को प्राप्त करने वाली, जन्म से लेकर कामना के विविध आसन अथवा नृत्य सम्बन्धीकरण के अभ्यास वाली होती है। ऐसी महावेश्या के समान आराधना विधि रूप संवेगरंगशाला है। यह संवेगरंगशाला पदों से अलंकृत है जो सरल, कोमल और शुभ अर्थ से शोभित है, अखण्ड काव्य के लक्षणों से श्रेष्ठ है, जिसके अन्दर सुन्दर शब्दों रूपी से उज्ज्वल देदीप्यमान स्वरूप होने से उज्ज्वल आकृति वाला, श्रोता के कान को सुख देने वाला, कल्याणकारी शब्दों से

युक्त, काव्यों के विविध अलंकारों द्वारा शोभित समग्र शरीर वाला है तथा उछलते प्रशान्त रस में उन्माद वाला है, विशेषतया परलोक विषय के सुख को देने वाला है और बहुत मानपूर्वक प्रगट कर वाचक श्रोतादि को श्रेष्ठ आनंद उत्पन्न कराने वाला है। तथा इसकी रचना असद् गाथाओं से रहित है, इसमें किसी स्थान पर भी अनर्थरूपी कालिमा नहीं है और अनेक ग्रन्थों में से एकत्रित किये हुये अर्थ रूप तत्त्वों वाला है तथा प्रारम्भ काल से कारक की विभक्तियों के विधान के लिए परिश्रम वाला महावेश्या के संवेगरंगशाला है। यह संवेगरंगशाला रूपी वेश्या हमेशा अपनी समता की रमणता में तत्पर है, मोह का विनाश करने वाली, ज्ञान के विस्तार करने में तत्पर, अखण्डित व्रतों से युक्त और साधुता के विलास करने में चतुर है। अप्रशम राग-द्वेष विषयादि में प्रीति करने वाले नित्य काम की आशा करने वाले, विविध भोगों में युवावस्था वाले और अपने मनपसन्द विलासों में चतुर के नेत्रों को आनन्द देने वाला और चिन्तन मदन के योग्य वचन वाली यह आराधना है संवेगरंगशाला है। वेश्या नेत्रों को आनन्द देने वाली और दर्शनीय मुख वाली होती है अर्थात् वेश्या जैसे विलासी के चित्त को हरण करती है वैसे यह संवेगरंगशाला सभी साधुओं के मन का हरण करेगी और इसी तरह परिवार और परिग्रह के संग की इच्छा छोड़ने वाले वैरागी सद् गृहस्थों को भी यह संवेगरंगशाला विवृत्ति शान्ति का अथवा सर्व विरति का निमित्त रूप अवश्य बनेगा।

जैसे अति निपुण बढ़ई पुरानी लकड़ी, ईंट या पत्थर आदि वस्तुओं को तोड़ फोड़ कर संधिस्थान मिलाकर, मोटा-पतला या लम्बा-छोटा बनाकर दूसरा आकार देकर सुन्दर मन्दिर, मकान रूप में बनाता है वैसे ही करने के लिए मैं भी तत्पर बना हूँ। श्रुत के अन्दर देखने में आये हुए, और प्राचीन इस प्रारब्ध ग्रन्थ में उपयोगी कोई गाथा, श्लोक, आधी गाथा, अथवा दो-तीन आदि अनेक श्लोक के समूह रूप कुलक आदि को भी कुछ ग्रहण करके तथा कुछ छोड़कर, किसी स्थान पर बढ़ा चढ़ा कर, किसी स्थान पर कमकर मैं उस व्याख्या के द्वारों में उपकारी बनूँ इस तरह पराया भी इस ग्रन्थ में किसी भी स्थान पर जोड़ूँगा। नये ग्रंथ की रचना करने के लिए अपना ज्ञान और अभिलाषा होने पर भी अपने काव्य की रचना का अभिमान छोड़ने के लिए अन्य कवियों की रचना भी अपनी रचना में शामिल करता हूँ, इससे कवि की जिम्मेदारी के भार से हल्का होता हूँ अर्थात् स्वयं को उन विषयों का ज्ञान

होने पर भी अन्य ग्रन्थकार के पाठ या साक्षी देकर अपनी रचना विश्वसनीय उत्तर देने वाली बनती है और अपनी जबाबदारी का भार कम होता है और दूसरों का केवल उपकार करने के लिए मेरा यह प्रारम्भ है, इससे वह भी स्व-पर उभय के वचनों द्वारा युक्ति-युक्त बनेगा। ऐसा देखने में भी आता है कि जब अधिक ग्राहक आते हैं तब सामान्य व्यापारी अपनी और अन्य व्यापारी के दुकान में रही हुई वस्तुओं को एकत्रित कर बड़ा व्यापारी बन जाता है।

ग्रन्थ के नाम में हेतु और सम्बन्ध—इस ग्रन्थ में कहा जायेगा वह प्रस्तुत आराधना को गुण निष्पन्न नाम से जिसका अर्थ निश्चित है, ऐसे यथार्थ संवेगरंगशाला नाम से कहेंगे। अर्थात् इस आराधना का नाम संवेगरंगशाला रखते हैं। इस संवेगरंगशाला में साधु और गृहस्थ विषयक आराधना जिस तरह नवदीक्षित महासेन ने पूछा था और श्री गौतम गणधर ने जिस प्रकार उसे कहा था तथा जिस प्रकार उसने सम्यग् की आराधना कर वह राजा मोक्ष प्राप्त करेगा, इस तरह से मेरे द्वारा कही गयी इस आराधना को एकाग्र चित्त से सुनो और हृदय में धारण करो। अब कथा रूप आराधना का वर्णन करते महासेन राजा का दृष्टांत कहते हैं।

महासेन राजा की कथा

धन-धान्य से परिपूर्ण बहुत नगरों और गाँवों के समूह से रमणीय, रमणीयरूप और लावण्य वाली युवतियों से सर्व दिशाओं को शोभायमान तथा सर्व दिशाओं में से आये हुए व्यापारी जहाँ विविध प्रकार के बड़े-बड़े व्यापार करते हैं और व्यापार से धनाढ्य बने हैं, बहुत धनाढ्यों ने जहाँ श्रेष्ठ देव मन्दिर बनाये हैं, उन देव मन्दिरों के ऊँचे शिखरों के अन्तिम विभाग में उड़ती हुई श्वेत ध्वजाओं के समूह से आकाश भी जहाँ ढक गया है तथा आकाश में रहे विद्याधरों ने जिनकी सुन्दर गुण समूह से प्रशंसा की है तथा रमणीय गुण के समूह से प्रसन्न हुए मुसाफिरों ने जिस देश में आकर निवास करने की इच्छा की, ऐसे इस जम्बू द्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में कच्छ नाम का देश है। भारत में तो गोविंद अर्थात् वासुदेव एक ही है, हली अर्थात् बलदेव भी एक है और अर्जुन भी एक ही है, जब कि यह देश सैंकड़ों गोविंद अर्थात् गाय समूह से युक्त है, हली अर्थात् किसान भी सैंकड़ों हैं और अर्जुन नामक वृक्ष की कोई संख्या नहीं है, इसी तरह यह देश भारत की महत्ता में भी उपेक्षा करता है। वहाँ युवा स्त्री जैसे वस्त्र से अंगोंपांग लपेटकर रखती है वैसे यह नगरी किल्ले

से युक्त थी, सूर्य का बिम्ब जैसे अत्यन्त प्रभा से युक्त होता है, वैसे नगरी बहुत मार्गों से युक्त थी और विभक्ति वर्ण, नाम आदि से युक्त प्रत्यक्ष मानों शब्द विद्या व्याकरण हो वैसे सुन्दर अलग-अलग वर्ण के नाम वाले भिन्न-भिन्न मौहल्ले-गली आदि थे, और वह नगर बड़ी खाई के पानी से व्याप्त और गोलाकार किल्ले से घिरा हुआ होने से मानो लवण समुद्र की जगती से घिरा हुआ जम्बू द्वीप की समानता की स्पर्धा को करता था तथा हमेशा चलते विस्तृत नाटक और मधुर गीतों से प्रजाजन को सदा आनन्द की वृद्धि कराता था, और परचक्र के भय से रहित होने से कृत युग अर्थात् सुषमा काल के प्रभाव को भी जो विडम्बना करता था, महान विशाल वृद्धि के विस्तार से युक्त बड़े घनाढ्य मनुष्य वहाँ हमेशा दान देते थे, इससे मैं मानता हूँ कि वैश्रमण-कुबेर भी उनके सामने साधु के समान धन रहित दिखता था अर्थात् कुबेर सद्यः धनिक दातार वहाँ निवास करते थे और हिमालय समान उज्ज्वल और विशाल मकानों से सभी दिशाएँ ढक गई थीं, इस तरह देवनगरी के समान उस देश में श्रीमाल नामक नगरी थी ।

उस नगर के अन्दर के भाग में पद्म समान मुख वाली सुन्दर स्तन वाली विकसित कमल के समान नेत्र वाली स्त्रियाँ थीं वैसे बाहर विभाग में ऐसी ही बावडियाँ थीं उसमें भी पद्म रूप मुख सद्यः मधुर जल से भरा हुआ था और नेत्ररूपी विकासी कमल वाली थी । उस नगर के अन्दर के भाग में बहुत सामन्तों वाले और प्रसिद्ध कवियों के समूह से शोभित उद्यान की श्रेणियाँ हैं और बाहर के विभाग में बहुत वृक्षों वाला और बन्दर से समूह से शोभित प्रसिद्ध वन पंक्तियाँ हैं । इस तरह गुण श्रेणी से शोभित होने पर भी उस नगर में एक महान् दोष है कि जहाँ धार्मिकजन-याचक को अपने सन्मुख आकर्षण करती है । इस नगर में रहने वाले लोगों को धन का लोभ नहीं था परन्तु निर्मल यश प्राप्ति करने में था मित्रता साधुओं की थी, राग श्रुत ज्ञान में था चिन्ता नित्यमेव धर्म क्रिया में थी, वात्सल्य साधर्मिकों के प्रति था, रक्षा दुःख से पीड़ित प्राणियों की करते थे और तृष्णा सद्गुण प्राप्ति में थी ।

उस नगर का पालन करने वाला महासेन नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा की महिमा ऐसी थी कि नमस्कार करते राजाओं के मणि जड़ित मुकुट से उस राजा की पादपीठ (पैर रखने का स्थान) घिस कर, मुलायम हो गई थी । शरदऋतु के सूर्य से भी अधिक प्रचण्ड प्रताप वाला शत्रुओं के मदोन्मत्त हाथियों के कुम्भ स्थल को तीक्ष्ण तलवार से निर्दयता से

खतम करने वाला, और नगर के दरवाजे की परिधी के समान मजबूत भुजदण्ड से प्रचण्ड शत्रुओं को भी नाश करने में शूरवीर था तथा अपने रूप से कामदेव को भी पराभव करने वाला, चन्द्र समान मुख वाला, कमल के समान नेत्र वाला और अत्यन्त प्रचूर सेना वाला महासेन नाम का राजा था। वह एक होने पर भी अनेक रूप वाला हो इस तरह सौभाग्य गुण से स्त्रियों के हृदय में, दानगुण से याचकों के हृदय में और विद्वता से पंडित के हृदय रूपी घर में निवास करता था। अर्थात् विविध गुणों से प्रजाजन को आनन्द होता था। उसकी विजय युद्ध यात्रा में समुद्र के फेन के समूह के समान उज्ज्वल छत्र के विस्तार से ढक गया दिशाचक्र मानो आनन्द से हँसता था ऐसा शोभता था। शत्रुओं को तो उसने सुसाधु के समान राज्य की मूर्च्छा छुड़वा दी थी, उनके विषय सुख का त्याग करवा कर और भिक्षावृत्ति से जीवन व्यतीत करने वाला होने से मानो वह उनका धर्मगुरु बना हुआ था। वह राजा जब युद्ध के अन्दर हाथ में पकड़ी हुई तलवार चलाता था, तब उसमें से उछलते नीलकान्ति की छटा से उसका हाथ मानो धूमकेतू-तारा उगा हो ऐसा दिखता था। बुद्धि का प्रकर्ष तो महात्मा जैसी थी कि ऐसा कुछ नहीं कि जिसको नहीं जाने, समझे, परन्तु निर्दक्षिण्यता (चतुराई रहित) और खलता को वह जानता भी नहीं था अर्थात् उसकी बुद्धि सम्यग् होने से दोष उसमें नहीं था। वह बहुत श्रेष्ठ हाथी घोड़ों से युक्त और बहुत विशाल पैदल सेना वाला था परन्तु वह राजा सुखी था वह बड़ा आश्चर्य था।

उस राजा में एक ही दोष था कि स्वयं सद्गुणों का भण्डार होने पर भी उसने सर्वशिष्ट पुरुषों को हाथ बिना, वस्त्र बिना और नाक बिना के कर दिया था। यहाँ विरोधाभास अलंकार है उसे रोकने के लिए कर-चुंगी बिना, वसण-व्यसन बिना और अन्य के प्रति आशा या शिक्षा नहीं करने वाला था अर्थात् राजा दान इतना देता था कि शिष्ट पुरुष को हाथ बिना दिया, ऐसे श्रेष्ठ कपड़े पहनता था कि दूसरे वस्त्र बिना दिखते थे, तथा राजा ने ऐसी इज्जत प्राप्त की थी, उसके सामने किसी की भी इज्जत आबरू नहीं रही थी। शरद-ऋतु को भी जीतने वाली मुखचन्द्र के कान्तिवाली अभयादित अनेक रूप से युक्त और सुशोभित सुन्दर शणगार से लक्ष्मी देवी समान, उत्तम कुल में जन्म लेने वाली उत्तम शील से अलंकृत पति के स्नेह की विशेषतया प्रिय, पतिभक्ता, सद्गुणों में आसक्त कनकवती नामक रानी थी। उसे सारी कलाओं की कुशलता से युक्त, रूपवान, गुण का भण्डार, सौम्य आदि गुणवाला, मानो राजा का दूसरा रूप हो, इस तरह जयसेन नाम का पुत्र था। उस राजा के सुविशुद्ध बुद्धि के

प्रकर्ष से संशयों को दूर कर सर्व पदार्थों का निश्चय करने वाला तथा नयगमित महाअर्थ को जानने वाला, प्रशस्त्र शास्त्रों का चिन्तन में उद्यमशील, संधि, विग्रह, यान, आसन आदि छह गुण में स्थिर चित्त वाले और अपने स्वामी के कार्य सिद्ध करने में जीवन को सफल मानने वाले, वफादार स्वामी भक्त एवम् गाढ़ प्रेम होने के कारण परस्पर अलग नहीं होने वाले, श्रेष्ठ कवियों के समान अपूर्व अर्थ का चिन्तन करने में अटूट इच्छा वाले और सर्वत्र प्रसिद्ध यश वाले, धनंजय, जय, सुबन्धु आदि मन्त्री थे, उसके ऊपर राज्य की जिम्मेदारी रखकर राजा अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करता था। वह किसी समय उछलते श्रेष्ठ झांझर की कोमल झंकार वाला तथा नाच करते, उछलते, बड़े देदीप्यमान हार से सुशोभित नृत्यकी का गला, निर्मल हार और लम्बा कंदोरे के टूटते डोरी वाला विविध प्रकार का नृत्य का नाटक देखता था, किसी समय हाथ की उंगलियों से अंकुश पकड़कर अत्यन्त रोषयुक्त दुष्ट मदनोन्मत्त हाथी के स्कन्ध ऊपर बैठकर लम्बे पथ वाले वन में लीलापूर्वक क्रीड़ा करके मनुष्यों के आग्रह को ना करने में कायर वह राजा अपने महल में वापिस आता था। किसी दिन मद का पान करते बहुत भ्रमरों से भूषित, अर्थात् मद झरते हाथियों के समूह को, तो किसी दिन अति वेग वाले घोड़े को दौड़ाते नचाते देखते थे, किसी समय श्रेष्ठ कोमल काष्ठ से बने हुये सुन्दर रथ के समूह को तो किसी दिन उत्कृष्ट राजा के भाव को जानने वाले महासुमनों को देखते थे। इस तरह राज्य धर्म का देखभाल करते हुये भी वह राजा हमेशा आत्मधर्म के निमित्त पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष आदि तत्त्वों को समझाने वाली युक्ति वाला, अनेक विभागों को बताने वाला, संसार के स्वरूपों को सूचित करने वाला और सभी दोषों का नाश करने वाला आगम शास्त्र के अर्थ में दत्तचित्त होकर नये-नये भावों को आश्चर्यपूर्वक सुनता था। इस तरह पूर्व जन्मोपजित महान पुण्य के समूह से सर्व इच्छाओं से पूर्ण हुआ उस राजा के दिन विविध क्रीड़ा से व्यतीत होते थे।

वह राजा किसी दिन सभा में बैठा था उसके दाहिने और बायें दोनों ओर नवयुवतियों द्वारा उज्ज्वल चामर ढोले जा रहे थे, दूर देश से राजाओं का समूह आकर चरण कमल में नमस्कार कर रहे थे, और स्वयं अन्यान्य सेवकों के ऊपर मधुर दृष्टि को फेंक रहा था, उस समय पर कांपते शरीर वाला, सिर पर सफेद बाल वाला और इससे मानो वृद्धावस्था का गुप्तचर हो ऐसा कंचुकी शीघ्र राजा के पास आकर बोला कि :—आदरपूर्वक आई हुई स्त्रियों के मुखरूप कमलों को विकसित (प्रसन्न) करने में चन्द्र तुल्य मुखरूपी लताओं के मूल स्वरूप क्रीड़ा

से शोभती भुजाओं से अति समर्थ और सर्व सम्पत्ति युक्त हे देव ! कमल के पत्र समान लम्बे नेत्र वाली लक्ष्मी से आपकी जय हो ! जय हो ! इस तरह स्तुति-पूर्वक आशीर्वाद देकर कहा कि—लाखों शत्रुओं का पराभव करने वाले हे स्वामिन् ! हमारी विनती है कि अन्य पुरुषों से रखवाली करते जाग्रत और सर्व दिशाओं में देखते हुए हम अन्तपुरः में होने पर भी जंगली हाथी के समान, रोकने में असमर्थ एक भयंकर पुरुष किसी स्थान से अचानक आया । वह मानो तीक्ष्ण शस्त्र से युक्त साक्षात् विष्णु के समान, पर्वत सदृश महान् शरीर वाला, वीर बलघ्न धारण करने वाला बड़ी भुजाओं वाला और अक्षुब्ध मन वाला, निर्भय वह पहरागिरि का भी अवगणना करके कनकवती रानी निवास में जैसे पति अपने घर में प्रवेश करता है वैसे गया है । हे राजन् ! तीक्ष्ण धार वाली तलवार के प्रहार भी उसके वज्र स्तम्भ समान शरीर पर लगता नहीं है, और गर्व से उद्भट सुभट भी उसके फूँक के हवा मात्र से गिर गये हैं । मैं मानता हूँ कि उसने कष्टना से ही हमारे ऊपर प्रहार नहीं किया है । अन्यथा यम सदृश उसे कौन रोक सकता है ? हे स्वामिन् ! इससे पूर्व कभी नहीं सुना और न ही देखा ऐसे प्रसंग हमें आ गया है, इसमें कुछ भी समझ में नहीं आता है, अतः अब आपकी जो आज्ञा हो वह हम करने को तैयार हैं ।

इस प्रकार सुनकर क्रोध के आवेग से उद्भ्रान्त भृकुटी द्वारा भयंकर, ऊँचे चढ़े भाल प्रदेश वाला, बारम्बार होंठ को फड़फड़ाते और वक्र भृकुटी वाले राजा ने ताजे कमल के पत्र समान लम्बी अपनी आँखों से सिद्ध पुरुषाकार वाले, पराक्रमी, सामन्त, सुभट और सेनापतियों के ऊपर देखा, यम की माता के समान राजा की भयंकर दृष्टि को देखकर अति क्षोभित बने सभी सामन्त आदि मानो चित्र में चित्रित किये हों इस तरह भय से स्तब्ध हो गये । इस व्यक्ति को सुनकर अभिमान रहित बने सेनापतियों ने तथा सुभटों ने भी उत्तम साधुओं के समान तुरन्त संलीनता में मन लगाने के समान शून्य मन वाले हो गये । हाथ में तलवार को धारण करते राजा भी सभा को शून्य शान्त देखकर बेकार पराक्रम का अभिमान करने वाले 'हे अधर्म सेवको ! तुम्हें धिक्कार है ! मेरी नजर के सामने से जल्दी दूर हट जाओ' ऐसा बोलते कटिबंधन से बद्ध होकर उसी समय राजभवन से बाहर निकल गया । उसके बाद चण्ड, चपल, मंगल, विश्वभर आदि अंग रक्षकों मस्तक पर अंजलि जोड़कर भक्तिपूर्वक राजा को विनती की कि—हे राजन् ! आप हमें क्षमा करो । हमें आज्ञा दीजिए और इस उद्यम से आप रुक जाओ । हमारी प्रथम प्रार्थना भंग करने योग्य नहीं है, यदि आप स्वयं नहीं रुकते तो भी एक क्षण आप प्रेक्षक रूप बनकर देखा ।

क्योंकि स्वामी की मधुर दृष्टिपात भी किए हुए कार्यों में विघ्नों का नाशक होता है। इस प्रकार विनय युक्त शब्द सुनकर क्रोध से कुछ उपशान्त होकर राजा ने कुछ आँखों के इशारों से उनको अनुमति दी, इससे बाण, भाले, तलवार, भल्लि, बरछी आदि शस्त्रों सहित अखण्ड मजबूत बख्तर से सुशोभित शरीर वाले वे चण्ड आदि अंग रक्षक चले। चलते हुए वे क्रमशः अन्तःपुर में पहुँचकर और वहाँ उन्होंने उस पुरुष को रानी के साथ शय्या में बैठा हुआ देखा, इससे उससे कहा कि—अरे ! म्लेच्छ समान अधम आचरण करने वाला, हे पुरुषाधम ! राजा की मुख्य पट्टरानी को भोगने की इच्छा वाला आज तू यमराज के मुख में प्रवेश करेगा। जो कि अपने पाप से ही मारा गया है, तुझे मारना योग्य नहीं है, फिर भी हमारी इच्छानुसार निश्चय तू मारा जायेगा। ऐसा होने पर भी यदि तुझे जीने की इच्छा हो तो विनयपूर्वक नमस्कार कर राजा से क्षमा याचना कर अथवा युद्ध के लिए सामने आ जाओ। अब भी समय है कि जब तक यम की दृष्टि समान हमारी बाण की श्रेणि तेरे ऊपर नहीं गिरती तब तक महल का स्थान छोड़कर बाहर निकल और एक क्षण अपना पराक्रम बतलाओ।

ऐसा कहकर अत्यन्त मत्सर और अति उत्साहपूर्वक आवेश वाले प्रहार करते हैं, उसके पहले ही उसने कहा—अरे मूढ़ समान ! तुम नहीं जानते, तीक्ष्ण नखों से हाथियों के कुम्भ स्थलों को भेदन करने वाला केसरी सिंह कोपायमान भी हिरनों का टोला (समूह) क्या कर सकता है ? अथवा विकराल और द्वेदीप्यमान मणि से तेजस्वी चढ़ी हुई फण के समूह वाला और रोष से भरे हुए सर्पों का समूह भी गरुड़ का क्या कर सकते हैं ? अतः क्रोध से भरा हुआ प्रहार करने का यह निष्फल फटाटोप (फुँकार) रख दो, क्योंकि शक्ति के अतिरिक्त प्रयत्न करने से मृत्यु होती है, और तुम्हारे राजा की रानी को चाहते हुए मुझे तुम अयोग्य कहते हो वह भी तुम्हारी विमूढ़ता का परिणाम है। क्योंकि मैंने अपने सामर्थ्य से उसकी पत्नी को ग्रहण किया है, इससे तुम्हारे राजा का स्वामीत्व कभी से खत्म हो गया, अब रानी का पति वह नहीं है मैं स्वयं हूँ, और इस तरह तुम्हारे जैसे के समक्ष, इस प्रकार यहाँ रहते मुझे किसी प्रकार का कलंक भी नहीं है, क्योंकि जार पुरुष तो चोर वृत्ति वाला होता है, मैं तो तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष बैठा हूँ, फिर भी यदि तुमको मेरे प्रति रोष हो तो तुम्हें कौन रोक सकता है ? मेरे ऊपर प्रहार करो, किन्तु समझना कि यह वह पुरुष नहीं है कि जिसके उपर शस्त्र का आक्रमण कर सको। ऐसा कह कर वह रुक जाता है, इतने में क्रोधानुर वह शस्त्रों को उठाकर प्रहार

करते हैं कि उसके पहले ही उस पुरुष के उन सबको स्तम्भित कर दिया उसके बाद वह वज्रलेप से बनाये हो अथवा पत्थर में गड़े हों ऐसे स्थिर शरीर वाले बना दिया, और वह पुरुष एक क्षण क्रीड़ा करके अल्प भी मन में क्षोभ बिना कनकावती को अपने हाथ से उठाकर प्रस्थान कर गया। यह सारा वृत्तान्त राजा ने जाना, तब उसने विचार किया कि—ऐसी शक्ति वाला क्या यह कोई देव विद्याधर अथवा विद्या सिद्ध होगा ? यदि वह देव हो तो उसे यह मानुषी स्त्री का क्या काम ? और यदि विद्याधर हो वह भी भूमिचर स्त्री की इच्छा नहीं करता, और यदि विद्या सिद्ध हो तो निश्चय ही वह भी विशिष्ट रूप वाली पाताल कन्या आदि दिव्य स्त्रियाँ होने पर भी इस स्त्री को क्यों ग्रहण करे ? अथवा मृत्यु नजदीक आने के कारण घातु क्षोभ हुए किसके हृदय में अकार्य करने की इच्छा नहीं है ? अर्थात् जब मृत्यु नजदीक आती है तब ऐसे कार्य करता है। अथवा ऐसे विचार करने से क्या लाभ ? वह भले कोई भी हो, वर्तमान में उसकी उपेक्षा करना योग्य नहीं है। यदि मैं स्त्री की भी रक्षा नहीं कर सकता, तो पृथ्वी मण्डल के राज्य की रक्षा किस तरह करूँगा ? तथा मेरा यह कलंक लम्बे काल तक अन्य देशों में भी जाहीर होगा। इस कारण से रामचन्द्र जी भी सीता को लेने के लिए लंका गये थे। इसलिए वह दुराचारी जब तक दूर देश में नहीं पहुँचता उसके पहले ही मैं स्वयमेव वहाँ जाकर उस अनार्य को शिक्षा करूँ। और इस तरह बहुत लम्बे काल पूर्व सिखी हुई मेरी स्तम्भ आदि विद्याओं के बल की परीक्षा करूँ, ऐसा सोचकर कुछ सुभटों के साथ राजा चला। राजा को जाते देखकर उसके पीछे बड़ा सैन्य भी चला।

सैन्य चलते ऊँचे हाथियों से अति भयंकर था, मगरमच्छ आदि चिन्हों वाली ध्वजाओं के समूह से शोभित रथ थे, श्रेष्ठ सेवकों से सब दिशायें भर गई थीं, सर्व दिशाओं में फैले हुए घोड़ों का समूह था, गणनायक और दण्ड-नायकों से युक्त, युवतियों को और कायर को डराने वाला युद्ध सामग्री उठाये हुए ऊँटों का समूह वाला था, वेग वाले वाहनों के चलने से उड़ी हुई भूमि की रजवाला उसमें सुभट हाथियों, घोड़े आदि रत्नों के अलंकार से सुशोभित थे। तलवार आदि महाशस्त्रों से भयजनक भय से काँपते बालकों को मार्ग से भगाते, प्रसन्न हुए भाट चारण उसमें विरूदावाली बोल रहे थे, ऐसे घोड़ों के हेयारव से भयभीत बने ऊँटों के समूह वाला, छत ऊपर चढ़े मनुष्यों द्वारा देखा जाता, हर्ष से विकसित नेत्र वाले महासुभटों युक्त बलवान शत्रुओं को क्षय करने में समर्थ तेजस्वी यश बाला महान चतुरंग सैन्य नगर में से तुरन्त

ही महासेन राजा के पीछे चला। उस समग्र सेना से घिरा हुआ श्रेष्ठ घोड़े के ऊपर बैठे हुए और उसके ऊपर ऊँचा-श्वेत छत्र युक्त वह राजा जब थोड़ी दूर गया तब गाल कुछ विकसित हों, इस तरह धीरे से हँसकर उस पुरुष ने एक राजा के सिवाय अन्य समग्र सेना को स्तम्भित कर दिया। राजा भी उस समग्र सेना को चित्र समान स्तम्भित देखकर अत्यन्त विस्मय होकर विचार करने लगा कि—अहो ! महापापी होने पर भी ऐसी सुन्दर शक्ति वाला कैसे ? ऐसा शक्तिशाली अकार्य करने वाला जानी पुरुषों ने निषेध किया है, किन्तु यह ऐसा अकार्य क्यों करता है ? मैं मानता हूँ कि यह स्तम्भादि करने वाले मन्त्र भी ऐसे ही अधम होंगे, इससे परस्पर सदृश प्रकृति वाला उनका सम्बन्ध हुआ है अतः ऐसा सोचने से क्या प्रयोजन है ? मैं भी इसे स्तम्भित करने के लिए सदगुरु के पास से लम्बे काल से अभ्यास किये स्तम्भन विद्या का स्मरण करूँ। उसके बाद सर्व अंगों में रक्षा मन्त्र के अक्षरों का स्थापन करके, वायु रूप श्वासोच्छ्वास का निरोध (कुम्भक) करके नासिका के अन्तिम भाग में नमाये हुए स्थिर नेत्र कमल वाले राजा कमल के मकरन्द रस के समूह समान सुन्दर सुवास तथा श्रेष्ठ फैलने वाला प्रकाश किरणों वाला स्तम्भन कारक “परब्रह्म” का स्मरण करने लगे उसके पश्चात् क्षणमात्र समय जाते जब राजा ने उस पुरुष की ओर देखा, तब कुछ हंसते हुए उस पुरुष ने कहा—हे राजन ! चिरंचोव, पहले मेरी गति मन्द हो गई थी, वह तेरी स्तम्भन विद्या से अब मेरी पवन वेग गति हो गई है। इससे यदि तुझे स्त्री का प्रयोजन हो तो शीघ्रगति से पीछे आओ, ऐसा बोलते वह शीघ्रता से चलने लगा। उस समय राजा ने विचार किया कि—अहो ! मेरी चिरकाल से अध्ययन की हुई विद्या भी आज निष्फल क्यों गई ? अथवा एक पराक्रम सिवाय अन्य सभी निष्फल हो, परन्तु अब मैं अपने पराक्रम से ही कार्य सिद्ध करूँगा, ऐसा सोचकर दृढ़ चित्त वाला और बढ़ते उत्साह वाले राजा ने तुरन्त केवल एक तलवार को साथ लेकर उसके पीछे चलने लगा। ‘यह राजा जा रहा है, यह देवी जा रही है, और यह वह पुरुष जा रहा है।’ ऐसा लोग बोल रहे थे इतने में तो वह बहुत दूर पहुँच गया। प्रति समय चाबूक के मारने से घोड़े को दौड़ाते तीव्रगति से मार्ग का उल्लंघन करके राजा जब थोड़े अन्तर पर रहे फिर भी उस पुरुष को नहीं पकड़ सका, इतने में तो बादल बिना की बिजली अदृश्य होती है वैसे रानी अदृश्य हो गई और वह पुरुष भी किल के समान निश्चल बनकर राजा के सन्मुख खड़ा रहा।

राजा ने उसे अकेला देखकर विचार किया कि क्या स्वप्न है अथवा कपट है, या मेरी दृष्टि बंधन की है ? ऐसे विकल्प क्यों करूँ ? इसे ही जान लूँ

क्योंकि अज्ञात पुरुष पर प्रहार करना भी योग्य नहीं है। उसके बाद विस्मय-पूर्वक राजा ने कहा—भो अनन्त शक्तिशाली ! तूने मेरी पत्नी का ही हरण नहीं किया, परन्तु पराक्रम से मेरे मन का भी हरण किया है। इसलिए कहो कि आप कौन हो ? ऐसे प्रभाव से शोभित आप कुल को ऐसे अकार्य करके मलिन क्यों करते हो ? उसने भी कुछ हँसकर कहा—हे राजन् ! मैंने शोभा और कलंक दो कार्य किये हैं वह सत्य किया है, परन्तु नगर के सर्व लोगों के समक्ष हरण करते अपनी पत्नी की भी रक्षा नहीं कर सकता है और अपयश की भी बेकदरी करके तूने तो एकमात्र कुल को कलंकित ही किया है। इस तरह हे मुग्ध ! तू अपने महान् कुल कलंक को नहीं देखता और उल्टे मेरे पुरुषार्थ को भी दोष रूप मानता है। अथवा दूसरे दोष देखने में मनुष्य हजार नेत्रवाला बनता है और पर्वत समान महान् भी अपने दोष को जाति अंध (जन्म से अंध) के समान वह देखता नहीं है, इस तरह से तूने सारे कुल को मलीन किया है, कि जिससे सुकृत्यरूपी बादल का समूह बरसात करे तो भी वह निर्मल नहीं हो सकता है। हे भद्र ! असाधारण पराक्रम बिना तेरे सद्गुण राजत्व केवल बोलने के लिए ही कहलाता है। तू नाममात्र से ही राजा है। अथवा तो इसमें तेरा क्या दोष है ? तेरे पूर्व पुरुष ही इस विषय में अपराधी हैं कि जिन्होंने असमर्थ होने पर भी तुझे राजा रूप में स्थापन किया है, अथवा हे राजन् ! उनका भी क्या दोष है ? विषयासक्त मनवाले तेरे जैसे कुमति वालों की ऐसी ही दशा होती है। यह सुनकर लज्जा से नेत्र कमल बन्द वाला प्रदोषकात के समान तेजहीन राजा विचार करने लगा कि—मेरे जीवन के पुरुषार्थ को तथा बल और बुद्धि के प्रकर्ष को धिक्कार है, कि मैंने पूर्व पुरुषों को भी कलंकित किया है। अधन्य मैंने केवल अपनी लघुता नहीं की, लेकिन महान् उपकारी विद्या गुरुजनों की भी लघुता करवाई है। उसके जन्म से भी क्या प्रयोजन ? और जन्म लेने के बाद जीने रहने से भी क्या लाभ ? कि जो अपने पूर्वजों की लेशमात्र भी लघुता (हल्कापन) हो ऐसा कार्य में प्रवृत्ति करें ? इस पुरुष ने जो विषयों में मूढमति वाला आदि कहा है वह सत्य कहा है, अन्यथा मुझे ऐसी विडम्बना क्यों होती ? इस पुरुष को शस्त्र नहीं लग सकते हैं तथा मंत्र-तंत्र में भी इसके सामने मेरी कुशलता नहीं चलेगी, मैं उद्योगी होने पर इसे जीत लूँ ऐसा श्रेष्ठ बल कहाँ मिलने वाला है ? इससे अच्छा यह है कि अब तापस दीक्षा लेना योग्य है क्योंकि वापिस जाकर नगर के लोगों को अपना मुँह किस तरह बतलाऊँगा ? इस तरह अति विषाद रूपी पिशाच से व्याकुल हुए चित्त वाला राजा जैसे ही तलवार छोड़ने के लिए तैयारी करता

है, उसके पहले उस पुरुष ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और कहा कि—हे महाशय वाले ! शोक छोड़ दो, ये विविध क्रीड़ाओं से क्या हुआ यह मायावी इन्द्रजाल है, सत्य नहीं है, मैं पुरुष नहीं हूँ तथा मुझे तेरी स्त्री का कोई प्रयोजन भी नहीं है। हे राजन् ! तेरा तापस मार्ग में जाने का पराक्रम सामान्य नहीं है, किन्तु इस प्रस्ताव द्वारा मुझे कहना कि—मैं देव हूँ और पूर्व स्नेह के कारण प्रथम देवलोक से मैं तुझे प्रतिबोध करने के लिए आया हूँ। हे मित्र ! तू क्यों भूल गया है कि जिस पूर्वभव में यमुना नदी के प्रदेश में अनेक लक्षण युक्त शरीर वाला तू हाथी था, वहाँ महान् राजा के समान सात अंग से श्रेय, विषय में आसक्त, झरते मद के विस्तार वाला, रोषपूर्वक शत्रु हाथियों का नाश करने वाला, बहुत हाथियों के समूह से घिरा हुआ तू उस स्थान में स्वेच्छानुसार घूमता फिरता था।

एक दिन तुझे हाथी के मांस को खाने की इच्छा वाले युवा भिल्लों ने देखा, इससे उन्होंने सांकल के बंधन बांधने आदि उपायों से और बाण के प्रहार से तेरे परिवार युक्त सारे हाथियों के समूह का नाश किया, तूने तो अप्रमत्ता से और भागने का कुशलता से, उनके उपाय रूपी पीड़ाओं को दूर से त्याग करके उनसे बचकर चिरकाल तक अपना रक्षण किया, परन्तु उसके बाद अन्य किसी दिन उन्होंने तुझे पकड़ने के लिए सरोवर में उतरने के मार्ग पर खड्गा खोदकर ऊपर घास आदि डालकर खड्गा ढक दिया और उसके ऊपर इस तरह धूल बिछा दी कि जिससे वह खड्गा जमीन जैसा हो गया, उसके बाद वृक्षों को घटा में छुपकर वे तुझे देखते रहे तू भी उनको नहीं देखने से निःशंक मन वाला पूर्व की तरह पानी पीने आते विवश अंग वाला अचानक उस गड्ढे में गिरा, अरे तू अतिपिड़ित है, चिर जीवित है अब कहाँ जायेगा ? ऐसा कोलाहल करते युवा भिल्ल वहाँ आए और उन्होंने निर्दयता से तेरे कुंभस्थल को चीरकर उसमें से मोती और जीते ही तेरे दाँत को भी निकाल लिए उस समय भयानक वेदनारूप प्रबल अग्नि की ज्वालाओं के समूह से तपा हुआ तू एक क्षण जोकर उसी समय मर गया। वहाँ से गंगा नदी के प्रदेश में हरिन रूप उत्पन्न हुआ, वहाँ भी बाल अवस्था में तुझे तेरे यूथ के नायक हरिन ने मार दिया। वहाँ से मरकर मगध देश में शालि नामक गांव में सोमदत्त नाम के ब्राह्मण का तू बन्धुदत्त नामक पुत्र हुआ और वहाँ ब्राह्मण के योग्य विद्याओं का तूने अभ्यास किया, इससे यज्ञ की विधि में परम चतुरता से तू 'यज्ञ चतुर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे लोग जहाँ किसी स्थान पर स्वर्ग के लिए अथवा रोग शान्ति के लिए यज्ञ करते थे उसमें तुझे सर्वप्रथम ले जाते थे। वहाँ तू भी यज्ञ की विधि

को समझाता, विविध पाप स्थानों में प्रवृत्ति करता और परलोक के भय का अपमान करके अग्ने हाथ से बकरों को अग्नि में होम करता था। ऐसा करते हुए बहुत समय व्यतीत हुआ एक दिन राजा ने बड़ा अश्वमेध नामक महायज्ञ प्रारम्भ किया। उसमें राजा ने तुझे बुलाया, और परमभक्ति पूर्वक सत्कार किया, यज्ञ के लिए लक्षण वाले घोड़ों को एकत्रित किए उन घोड़ों को तूने वेद शास्त्र की प्रसिद्ध विधि से मंत्रित किया, इतने में ऐसी यज्ञ विधि देखते, एक घोड़े के बच्चे को किसी स्थान पर ऐसा देखा है ऐसा इहा अपोह (चिन्तन) करते-करते जाति स्मरण ज्ञान हुआ, और उस ज्ञान से उसे जानकारी हुई कि—पूर्व जन्म में यज्ञ विधि में विचलन बने मैंने भय से कांपते बहुत पशु आदि को यज्ञ में होम किया है। इस प्रकार पूर्व जन्म का पाप जानकर भय से दुःखी उसने चिन्तन किया कि—अहो ! मनुष्य धर्म के वास्ते भी पाप को किस तरह इकट्ठा करता है ? भोले व्यक्तियों का वे कहते हैं कि—‘यज्ञ में मरे हुए जीव स्वर्ग में जाते हैं और अग्नि में होम से देव तृप्त होते हैं।’ वे पापी यह नहीं समझते कि यदि यज्ञ से मरे हुए स्वर्ग जाते हैं तो स्वर्ग के अभिलाषी स्वजन सम्बन्धियों को उसमें होम करना योग्य गिना जाएगा। अथवा प्रचंड पाखंड के झूठे मार्ग में पड़े हुए भद्रिक परिणामी लोगों का इसमें क्या दोष है ? इस विषय में वेद पाठक अपराधी है। इससे यदि मैं पापिष्ठ अति दुष्ट प्रवृत्ति वाले इस पाठक को मार दूं तो यज्ञ निमित्त में लाए हुए ये घोड़े जीते रहेंगे। ऐसा विचार कर उसने कटोर खूर से उसके छाती पर इस तरह प्रहार किया कि जिससे तू उसी समय प्राण मुक्त हुआ। और अति हिंसा की अभिलाषा के आधीन बने अति पाप से पहल नरक के अन्दर घटालय (घड़े के समान स्थान में) नामक नरकावास में तू नरक रूप जीव हुआ, जब मुहूर्त मात्र में छह प्रकार की पर्याप्ति से वहाँ तू पूर्ण शरीर वाला बना, तब किलकिलाट शब्द को करते अत्यन्त निर्दय, महाक्रूर विभत्स रूप वाल और भयानक परमाधामी देव शीघ्रतापूर्वक वहाँ आए, और अरे ! दुःख भोगते तू वज्र के घड़े में किसलिए रहा है, बाहर निकल ! ऐसा कहकर वज्रमय संडासी द्वारा तेरे शरीर को खींचकर निकाला, उसके बाद करुण स्वर से चीख मारते तेरे शरीर को उन्होंने तीक्ष्ण शस्त्र से सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकड़े करके काटा, अति सूक्ष्म टुकड़े करने के बाद फिर पारे के समान शरीर मिल गया, भय से कांपते और भागते तुझे उन्होंने सहसा पकड़ा उसके बाद इच्छा न होने पर तुझे पकाने के लिए नीचे जलती हुई तेज अग्नि वाले वज्र की कुंभि में जबरदस्ती डाला। और वहाँ जलते शरीर वाला प्यास से अत्यन्त दुःखी होता, तू उनके सामने विरस शब्दों में कहने

लगा कि—तुम्ही माता पिता हो, भाई, स्वजन, बन्धु और स्वामी तुम्ही हो, तुम्ही मेरा शरण रूप हो, और रक्षण हो तथा आप ही मेरे देव हो। अतः एक क्षण मुझे छोड़ दो, अब मेहरबानी करके शीतल पानी पीलाओ। इस प्रकार तूने कहा, तब मधुरवाणी से उन्होंने कहा कि—अरे ! वज्रकुम्भि के मध्य में से निकाल कर इस विचारे को शीतल पानी पीलाओ तब अन्य परमाधामियों ने तहत्ति रूप स्वीकार करके तपे हुये अति गरम कलई ताँबा और सीसा के रसपात्र भर कर (यह ठंडा जल है) ऐसा बोलते उन महापापियों ने तुझे पीलाया, तब अग्नि समान उससे जलते और इससे गले को हिलाते इच्छा न होते हुए भी तेरा मुख को संडासी से खोलकर उस रस को गले तक पीलाया, फिर उस रस से जलते सम्पूर्ण शरीर वाला और मूर्च्छा आने से आँखें बंद हो गई, इससे तू जमीन पर गिर पड़ा, पुनः क्षण में चैतन्य आया 'असिवन में ठंडी है अतः वहाँ जाऊँ' ऐसा संकल्प कर तू वहाँ गया, परन्तु वहाँ के वृक्ष के पत्ते तलवार समान होने से, उसके नीचे बैठने से पत्तों द्वारा तेरा शरीर छेदन होने लगा। और वहाँ से भी तुझे उन्होंने उछलते तरंगों से व्याप्त, आवतवाला और प्रज्वलित अग्नि समान वैतरणी नदी के पानी में फँका, वहाँ भी बिजली के समान उद्भट भयंकर बड़े-बड़े तरंगों की प्रेरणा के वश होकर डुबना पड़ा, ऊपर आना, आगे चलना, रुक जाना आदि से व्याकुल बना, सर्व अंगों से युक्त तू सूखे वृक्ष के लकड़े जैसे किनारे पर आ जाता है वैसे महा मुसीबत से दुःख पूर्वक उस नदी के सामने किनारे पर पहुँच कर वहाँ बैठा, तब हर्षित बने उन परमाधामियों ने बैठे हुए ही तुझे पकड़कर बैल के समान अतीव्र भार वाले रथ में जोड़ा और भाले समान तीक्ष्ण धार युक्त परोण (तलवार) से बार-बार तुझे छेदन करते थे उसके बाद वहाँ तू थक गया और जब किसी भी स्थान पर नहीं जा सका तब भारी हथोड़े द्वारा हे महाभाग्य तुझे चकनाचूर कर दिया, इसके अतिरिक्त भी विकट शिलाओं के ऊपर तुझे जोर से पछाड़ा, भालाओं से भेदन किया, कखतों से छेदन किया, विचित्र यन्त्रों से पीसा, और अग्नि में पकाये हुए तेरे शरीर के मांस के टुकड़े कर तुझे खाने लगे, तथा विचित्र दण्डों के प्रहारों से बारम्बार ताड़न किया, परमाधामियों ने बड़े शरीर वाला पक्षियों का रूप बनाकर तुझे दो हाथ से ऊँचा करके, करुण स्वर से रोते हुए भी अति तीक्ष्ण नखों से तथा चोंच से बारम्बार मारा।

इस प्रकार हे नरेन्द्र ! नरक में उत्पन्न हुआ जो दुःख तूने अनुभव किया वह सर्व कहने के लिए तीन जगत के नाथ परमात्मा ही समर्थ हो सकते हैं। इस तरह एक सागरोपम तक भयंकर तरक में रह कर वहाँ असंख्य दुःखों को

सहन करके, वहाँ से आयुष्यपूर्ण कर तू इस भरत क्षेत्र के अन्दर राजगृह नगर में भिखारी के कुल में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ है, वहाँ भी अनेक रोग से व्याप्त शरीर वाला था, समयोचित भोजन, औषध और स्वजनों से भी रहित अत्यन्त दीनमन वाला, भिक्षा वृत्ति से जीने वाला तूने यौवन अवस्था प्राप्त की, तब भी अत्यन्त दुःखी था, तू बार-बार चिन्तन करने लगा कि—मेरे जीवन को धिक्कार हो क्योंकि मनुष्यपने में समान होने पर भी और इन्द्रियाँ भी तुल्य होने पर भी मैं भिक्षा से जीता हूँ और ये धन्य पुरुष अति विलास करते हैं। कई तो ऐसा शोक करते हैं कि—अरे ! आज हमने कुछ भी दान नहीं दिया, तब मैं तो कलेश करता हूँ कि आज कुछ भी नहीं मिला। कई धर्म के लिए अपनी विपुल लक्ष्मी का त्याग करते हैं जबकि मेरे द्वारा कई स्थान पर खण्डित हुआ भी खप्पर नहीं छोड़ता हूँ, कई विवाहित श्रेष्ठ युवतियाँ होने पर भी उसके सामने नजर भी नहीं करते, तब मैं तो केवल संकल्प रूप में ही प्राप्त हुई स्त्रियों में सन्तोष-हर्ष धारण करता हूँ अर्थात् स्त्री के मुख को स्वप्न में सेवन करता हूँ। कई उत्तम सुवर्ण जैसी कान्ति वाली भी काया को अणुचिमय मानते हैं, जबकि मैं रोग से पराभूत अपनी काया की प्रशंसा करता हूँ। कई भाट लोग 'जय हो, चिरम् जीवों, कल्याण हो' ऐसी विविध स्तुति करते हैं, तब भिक्षा के लिए गया हुआ मैं तो कारण बिना भी आक्रोश-तिरस्कार को प्राप्त करता हूँ। कई मनुष्य कठोर शब्द बोलते हैं, फिर भी सुनने वाले मनुष्य उससे संतोष मानते हैं और मैं आर्शीवाद देने पर भी लोग मेरा गला हाथ से पकड़ कर निकाल देते हैं, इससे कठोर पाप का भंडार, तुच्छ प्रवृत्ति वाला और रोग से पराभूत मुझे संयम लेना ही अच्छा है, क्योंकि उसमें भी कार्य यही करने का है। जैसे कि—साधु जीवन में मलीन शरीर वाला रहना, भिक्षा वृत्ति करना, भूमिशयन, पराये मकान में रहना, हमेशा सदी, धूप, सहन करना और अपरिश्रमी जीवन, क्षमा, परपीड़ा का त्याग, दुर्बल शरीर होता है। यह सारा जन्म से लेकर ही मेरा स्वभाव सिद्ध है, और ऐसा जीवन तो साधु को परम शोभाकारक होता है, गृहस्थ को नहीं होता है। यह सत्य है कि योग्य स्थान पर प्राप्त हुए दोष भी गुण रूप बनता है। ऐसा विचार करके परम वैराग्य को धारण करते तूने तापस दीक्षा ली और दुष्कर तपस्या करने लगा। फिर अन्त-काल में मरकर तू जम्बू द्वीप के अन्दर भरतक्षेत्र में वैताद्व्य पर्वत के ऊपर स्थनुपुर चक्रवाल नामक नगर में चंडगति नाम से उत्तम विद्याधर की विद्युन्मती नाम की पत्नी के गर्भ में पुत्ररूप उत्पन्न हुआ। तेरा उचित समय में जन्म हुआ और तेरा वज्रवेग नाम रखा, फिर अत्यन्त सुन्दर रूप युक्त शरीर वाला तू

कुमार बना, तब अल्पकाल में सारी कलाओं के समूह में कुशलता प्राप्त की और आकाश गामिनी आदि अनेक विद्याओं का भी तूने अभ्यास किया। उसके पश्चात्त मनुष्यों के नेत्रों को आनन्ददायी मनस्विनी स्त्रियों में मन रूपी कमल को विकसित करने में सूर्य समान सन्मान का पात्र रूप तरुण अवस्था प्राप्त होने पर तू कामदेव के समान शोभने लगा। फिर हाथी के जैसे समान वयवाले मित्रों से घिरा हुआ तू नगर में तीन-चार रास्ते वाले चौराहे में निःशंकता से घूमने लगा और प्रचुर वनों में और सरोवर में भी रमण करने लगा।

एक दिन तूने झरोखे में बैठे हेमप्रभ विद्याधर की सुर सुन्दरी नामक पुत्री को देखा। हे भाग्यशाली ! उसका यौवन, लावण्य रूप, वैभव और सौभाग्य ने तेरे हृदय को अति आकर्षण कर दिया। और तेरे दर्शन से विकसित नेत्र कमल वाली उसके चित्त में कुसुम युद्ध कामदेव पुष्प रूप शस्त्र वाता होने पर भी वज्र के प्रहार के समान पीड़ित होने लगी, केवल पास में रही सखियों की लज्जा से विकार को मन में दबाकर उसने सूंघने के बहाने उसे नील कमल बनलाया। इस तरह उसने तुझे अंधकारी रात्री का संकेत किया, इससे हर्ष के आवेश से पूर्ण अंग वाला तू अपने घर गया। उसके बाद मित्रों को अपने-अपने घर भेजकर तू करने योग्य दिनकृत्यों को करके मध्य रात्री में केवल एक तलवार की सहायता वाला एक ही अपने घर से निकला। कोई भी नहीं देखे इस तरह तू चोर के समान धीरे से खिड़की द्वारा प्रवेश करके पलंग पर उसके पाम बैठा 'दिन में देखा था वह प्रवर युवान है' ऐसा उसने जानकर हर्षित हुई उसने पति के समान नेरी सेवा की। उसके बाद परस्पर विलासी बागों की गोष्ठी में एक क्षण पूर्ण करके उसने कहा कि—हे मुतनु ! तेरा यह स्वरूप विसदृश परस्पर विरुद्ध क्यों दिखता है ? शरीर को शोभा चन्द्र की ज्योत्सना की भी हंसी करे ऐसा सुन्दर क्यों है ? और तेरा यह वेणो बन्धन से बांधा हुआ केश कलाय सर्प समान काला भयंकर क्यों दिख रहा है ? और तू लक्षणों से विद्यमान पति वाली दिखती है और तेरा शरीर पति संगम का सुख नहीं मिला हो ऐसा शुष्क क्यों दिखता है ? इसलिए हे मुननु ! इसका परमार्थ कहो ! क्या तूने पति को छोड़ दिया है ? अथवा अन्य में आसक्त होने से उसने ही तुझे छोड़ दिया है ? तब कुछ नेत्र कमल बंधकर उनको कहा कि :—

हे सुभग ! इस विसदृशता (परस्पर विरुद्धता) में रहस्य क्या है वह तू मुन ! यौवनारूढ़ हुई मेरा यहीं पर रहने वाले कनक प्रभ नामक विद्याधर पुत्र के साथ गाढ़ प्रेमपूर्वक विवाह हुआ। विवाह के बाद तुरन्त मेरे भाग्य के दोष

से अथवा उसके वेदनीय कर्म के वश वह महात्मा अग्नि तुल्य दाहज्वर में पकड़ा गया। इससे अग्नि से तपी हुई लोहे की कढ़ाई में जैसे डाला हो वैसे वह लगातार उछलने लगा, कांपने लगा, दोर्घ निसासा लेने लगा और विरस चिल्लाने लगा। इससे उसके पिता सर्व कार्य छोड़कर रोग की शान्ति के लिए विविध औषध के अनेक प्रयोग करने लगे। वह औषध नहीं वह मणि नहीं, वह विद्या नहीं और वह वैद्य नहीं कि उसके पिता ने उसकी शान्ति के लिए जिसका उपयोग नहीं किया हो। खाना, पीना, स्नान विलेपन आदि को छोड़कर शोक के भार से भारी आवाज वाले पास बैठे स्वजन रोने लगे। उसकी माता भी शोक के वश होकर अखंड झरते नेत्र के आंसु वाली, जिससे मानों दोनों आँखों से गंगा सिन्धु नदी का प्रवाह बहता हो इस तरह रोने लगी। निष्कपट ऐसे प्रेम को धन्य है। भयानक वन के दावानल से जले हुए वृक्ष का ठूठ के समान उनके स्नेहीजन भी निस्तेज बने खेद करने लगे। इस तरह उसके दुःख से नगर के लोग भी दुःखी हुए और विविध प्रकार के सैंकड़ों देव, देवियों की मान्यता मानने लगे, फिर भी प्रतिक्षण दाहज्वर अधिकतर बढ़ता रहा और जीने की आशा रहित बनकर वैद्य समूह भी वापिस चला गया। तब उसने ऐसा चिन्तन किया कि—अहो ! थोड़े समय भी आपत्ति में पड़े जीव को इस संसार के अन्दर किसी तरह कोई भी सहायता नहीं कर सकता है। माना पिता सहित अतिवत्सल और स्नेही बन्धु वर्ग भी आपत्ति रूप कुएं में गिरे हुए अपने सम्बन्धि को देखने पर भी किनारे के पाम खड़े-खड़े शोक ही करते हैं, इस जीव का किसी से थोड़ा भी रक्षण नहीं हो सकता है। परन्तु वे लोग तो प्रसन्नता से रहते हैं, यह आश्चर्यभूत मोह की महान् महीमा है। इसलिए यदि किसी तरह भी मेरा यह दाहज्वर थोड़ा भी उपशम हो जाए तो स्वजन और धन का त्याग करके मैं जिन शिक्षा को स्वीकार करूँगा। उसके पश्चान् भाग्योदय से दिव्य औषधादि बिना भी जब, शुभ परिणामस्वरूप औषध से वह निरोगी हुआ तब स्वजनों को अनेक प्रकार से समझाकर श्री गुण सागर-सूरि जी के पास दीक्षित हुए, छड़, अट्ठम आदि दुष्कर तपश्चर्या में तत्पर होकर वे विहार कर गये। इस तरह हे महाशय ! तुमने मेरी विसदृशता का जो कारण पूछा था, वह सारा जैसा बना था वह तुम्हें कह दिया।

इस तरह बात सुनकर हे महसेन राजा ! तब तूने विचार किया कि—अनार्य कार्य में आसक्त मेरे पुरुष जीवन को धिक्कार हो, बुद्धि को भी धिक्कार हो, मेरे गुणरूपी पर्वत में वज्र गिरे, और मेरा शास्त्रार्थ में मारंगामीत्व भी पाताल में चले जाएं उत्तम कुल में जन्म मिलने से उत्पन्न हुआ अभिमान गुफा

में जाये और विचारी नीति भी दूसरे उत्तम पुरुष का आश्रय करे। क्योंकि कुत्ते के समान निर्लज्ज मैं श्रेष्ठ पुरुष के मस्तक मणि के समान उस पुरुष ने जिसका वमन किया हो, उस स्त्री को भोगना चाहता हूँ। वह धन्य ! कृतपुण्य है ! उसका ही मनुष्य जीवन सफल है, और उसने ही शरद के चन्द्र समान उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त की है। वह एक कनक प्रभ ही निज कुल रूप आकाश का प्रकाशक चन्द्र है कि जिसने महामोहरूपी घोर शत्रु को लीलामात्र से चकनाचूर कर देते हैं। हे पापी हृदय ! इस प्रकार के पुरुषों के सच्चरित्र को सुनकर भी उत्तम मुनियों ने निषेध किए पर स्त्री के भोग में तुम्हें क्या आसक्ति है ? हे मन ! कदापि भी श्रेष्ठ लावण्य से पूर्ण सर्व अंगवाली, प्रकृति से सौभाग्य की भण्डार सर्व अंगों से मनोहर चेष्टा वाली, प्रकृति से ही शब्दादि पांचों इन्द्रियों के सुन्दर विषयों की पराकाष्ठा को प्राप्त करने वाली, मनोहर सर्व अंगों पर शृंगार से प्रगट हुआ गौरव धारण करने वाली, कामदेव के निधान समान फिर भी पवन से हिलते पीपल के पत्ते समान चंचल चित्त वाली इन परस्त्रियों में और अपनी पत्नी में भी तू राग नहीं कर। और तू यहाँ का सुख तुच्छ मानता है, परन्तु परिणाम से मेरु पर्वत के समान महान् दुःख है वह भी जानता है ? यह स्नेह अस्थिर है वह जानता है ? और लक्ष्मी तुच्छ है, वह भी जानता है ? जीवन चंचल है वह जानता है और यह समस्त संयोग क्षण भंगुर है वह भी जानता है तो भी हे जीवात्मा ! अब भी तू गृहवास का क्यों नहीं त्याग करता ? इस तरह बहुत अधिक वैराग्य मार्ग में मन मुड़ने से तूने दोनों हाथ जोड़कर उस स्त्री को कहा कि—हे सुतनु ! तुम मेरी माता हो, और तेरा पति वह मेरा पिता है कि जिसने चारित्र्य रूपी रस्सी से मुझे पाप रूपी आकार्य कुये में से बाहर निकाला है आज से सांसारिक कार्यों में मुझे वैराग्य हुआ है, हे महानुभाव ! तू भी अपने मार्ग के अनुसार दीक्षा स्वीकार कर। क्योंकि—महाप्रचंड वायु से वृक्ष के पत्ते समान आयुष्य चंचल है, लक्ष्मी अस्थिर है, जीवन बिजली समान चपल है, विषय विष समान दुःख जनक है। प्रियजन का संयोग वियोग से युक्त है, शरीर रोग से नाशवान् है और अति भयंकर जरा-वृद्धावस्था वैरिणी के समान प्रतिक्षण में आक्रमण कर रहा है। इस तरह उसे हित शिक्षा देकर उसके घर से निकल कर जिस मार्ग से आया तू शीघ्र निकल कर तेरे घर पहुँच गया। फिर वहाँ रहते हुए तू संसार के असारता को देखते विचार करता था, उस समय काल निवेदक ने यह एक गाथा (श्लोक) सुनाई :—

जह किंपि कारणं पा. बिऊन जायर खणं बिरामगई ।

तह जर अपटिठया सा, हवेज्ज ता कि न पज्जत्तं ॥ ३२६ ॥

अर्थात् :—‘यदि किसी भी निमित्त को प्राप्त कर एक क्षण भी वैराग्य बुद्धि प्रकट हो वह स्थिर रहे तो क्या प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् एकक्षण वैराग्य की प्राप्ति से बहुत लाभदायक है ।’ यह गाथा सुनकर सविशेष उछलते शुभ वाले तूने प्रभात का समय होते ही घर में प्रेम नहीं होने से कुछ मनुष्यों के साथ वन उद्यान की शोभा देखने के लिए निकला । वहाँ उद्यान में एक स्थान पर चारण श्रमण मुनि को देखा ।

उस मुनि के प्रशस्त गुण रत्नों रूप शणगार था, उन्होंने मोहमल्ल के दृढ़ दर्प को नष्ट कर दिया था, देह की कान्ति से सब दिशाओं को विभूषित की थी, पापी लोगों की संगति से वे पराङ्मुख थे, योग मार्ग में उन्होंने मन स्थिर किया था । वे कर्म शत्रु को जीतने में उत्कृष्ट साहसिक थे । पृथ्वी पर उतरे हुए पुनम के चन्द्र के समान सौम्यता से वे मनुष्य के चित्त को रंजन करते हैं, अति विशिष्ट शुभलेश्या वाले, भव्य लोक को मोक्षमार्ग प्रकाश करने वाले, क्रोध, मान, भय, लोभ से रहित वादियों के समूह से विजयी होने वाले, एक पैर के ऊपर शरीर का भार स्थापन कर, एक पैर से खड़े होकर सूर्य सन्मुख दृष्टि करने वाले, मेरुपर्वत के शिखर समान निश्चल, और प्राणियों के प्रति वात्सल्य वाले वे काउस्सग ध्यान में स्थिर रहते हैं । इस प्रकार के गुण वाले उस मुनि को देखकर हर्षित नेत्र वाला तू उनके चरणों में गिरा और कहने लगा कि—हे भगवंत ! अब आप मोक्षमार्ग के उपदेश द्वारा मुझ पर कृपा करो, आपके दो चरणरूप चिन्तामणी का दर्शन सफल हो । ऐसा कहने से उनकी महाकरुणा से काउस्सग ध्यान पूर्ण कर योग्य जानकर उससे कहा—हे भव्य ! तुम मुनो :—

यह लाखों दुःखों से भरा हुआ अनादि अनन्त संसार में जीव महा मुसीबत से भाग्य योग द्वारा मनुष्य जीवन प्राप्त करता है । उसमें भी आर्य देश, आर्य देश में भी उत्तम कुल आदि श्रेष्ठ सामग्री मिलना कठिन है, और उसमें भी सौभाग्य ऊपर मंजरी समान जैन धर्म की प्राप्ति उत्तरोत्तर महा मुश्किल से होती है । क्योंकि मनुष्य अथवा देव की लक्ष्मी मिल जाए, भाग्ययोग से मनुष्य जन्म मिल जाये परन्तु अचिन्त्य चिन्तामणी के समान अति दुर्लभ जिन धर्म नहीं मिलता है । इस तरह रत्न निधान की प्राप्ति समान धर्म को अतीव कठिन्ता से प्राप्त करके भी अति तुच्छ विषयों की आसक्ति से महामूढ़ बन उसे निष्फल बना देता है । इसके कारण वह विचारा हमेशा जन्म-जरा-मरण रूपी पानी से परिपूर्ण और बहुत रोगरूपी मगरमच्छों से भयंकर संसार समुद्र का अनन्तबार सेवन करता है । अतः ऐसा कौन बुद्धिमान होगा कि जो बहुत

चिरकाल तक दुःखों को सहन कर महा मुश्किल से प्राप्त हुए करोड़ सुवर्ण मोहर को एक कोडी के लिए गवाँ दे ?

इस संसार में जीव को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ साधन करने योग्य हैं, उसमें भी अन्तिम तीन पुरुषार्थ की सिद्धि में हेतु रूप एक धर्म ही श्रेष्ठ माना जाता है। फिर भी अधिक मात्रा में मदिरा के रस का पान करने वाला पागल मनुष्य के समान मिथ्यात्व रूपी अंधकार के समूह में उन्मत्त के कारण जीव उम धर्म को यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है। इसलिए हे महायशस्वी ! मिथ्यात्व के सर्व कार्यों का त्याग करके तू केवल एक श्री जिनेश्वर को ही देव रूप और मुनिवर्य को गुरु रूप में स्वीकार कर, प्राणीवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह पापों को छोड़ दो ! इन पापों को छोड़ने से जीव भव भय से मुक्त होता है इससे श्रेष्ठतम अन्य धर्म तीन जगत में भी नहीं है और इस धर्म से रहित जीव किसी तरह मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः सार रहित और अवश्य विनाशी शरीर का केवल आत्म गुण रूपी धर्म उपार्जन सिवाय अन्य कोई फल नहीं है। और महा वायु से पश्चिमी पक्ष के अन्तिम भाग में लगा हुआ जल बिन्दु के समान अस्थिर इस जीवन का भी धर्मोपार्जन बिना दूसरा कोई फल नहीं है। उसमें भी सर्वविरति से विमुख जीव इस धर्म के प्रति पूर्ण प्राप्ति करने के लिए शक्तिमान नहीं होता है और इसकी प्राप्ति बिना जीव मोक्ष को प्राप्ति नहीं कर सकता है, और उस मोक्ष के अभाव में सभी कलेश के बिना का एकान्तिक अत्यधिक अनन्त सुख अन्यत्र नहीं मिल सकता है। इस तरह के सुख वाला मोक्ष की प्राप्ति के लिए यदि तेरी इच्छा हो तो जिन दीक्षा रूपी नौका को ग्रहण करके संसार समुद्र को पार हो जाओ। इस तरह वारण मुनि के कहने से हर्ष के आवेश में उछलते रोमांचित वाला और भक्ति से विनम्र बने तूने उस मुनिवर्य के पास दीक्षा ली।

उसके पश्चात् सकल शास्त्र को गुरुमुख से सुनकर अभ्यास किया, बुद्धि से सर्व परमार्थ तत्त्व को प्राप्त किया, छह जीव निकाय की रक्षा में तत्पर बना, गुरुकुलवास में रहते हुए विविध तपस्या करते तू गुरु महाराज, ग्लान बाल आदि मुनियों की वैयावच्च करते अपने पूर्व पापमय चरित्र की निन्दा करते नये-नये गुणों की प्राप्ति के लिए परिश्रम करता था और विशेषतया प्रशमरूपी अमृत से कषायरूपी अग्नि को शान्त करते इन्द्रियों के समूह को वश करने वाला तू चिरकाल तक संयम की साधना कर और अन्त में अनशन स्वीकार कर शुभ ध्यान से मरकर सौ धर्म कल्प में देव उत्पन्न हुआ। और वह

सुर सुन्दरी भी उस दिन से लेकर दीक्षा का पालन करके पूर्व के स्नेह के कारण वहाँ तेरी देवी रूप में उत्पन्न हुई। और वहाँ देवलोक में मेरे साथ तेरा कोई अपूर्व राग हुआ, इससे एक क्षण भी वियोग के दुःख को सहन नहीं करते अपना बहुत काल पूर्ण हुआ, फिर च्यवनकाल में तू मुझे केवल ज्ञानी के पास ले गया और वहाँ केवली भगवंत को अपना पूर्वभव तथा भावी जन्म के विषय में पूछा। तब उन्होंने भी अति तीव्र असंख्य दुःखों से भरा हुआ हाथी आदि के पूर्व जन्मों का वर्णन किया और भावी राजा का वर्तमान जन्म भी कहा। उस समय दोनों हाथ जोड़कर तूने स्नेहपूर्वक कहा “हे सुभग ! यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है इसे तुम निष्फल नहीं करना” ऐसा कहकर मुझसे कहा कि—जब मैं महा विषय के राग से विमूढ़ राजा बनूँ, तब तू इस हाथी आदि भवों का वर्णन सुनाकर मुझे प्रतिबोध करना कि जिसमें मैं पुनः पाप स्थान में आसक्त न बनूँ और जैन धर्म का सागभूत चाग्रि से रहित होकर दुःखों का कारण रूप दुर्गनियों में न गिर जाऊँ। तेरी प्रार्थना मैंने स्वीकार की तू च्यवन कर यहाँ राजा हुआ, और वह देवी कनकवती नामक तेरी रानी हुई। प्रायः कर सुखी जीव धर्म की बात सुनते हैं फिर भी धर्म की इच्छा नहीं करते हैं। इस कारण से प्रथम तुझे अति दुःख से पीड़ित बनाकर मैंने यह वृत्तान्त कहा है। इससे मैं तेरा वह मित्र हूँ, तू वह देव है, और जो कहा है वह तेरे भव हैं, अतः महाभाग ! अब जो अति हितकर हो उसे स्वीकार करो।

देव ने जब ऐसा कहा तब महसेन राजा अपने सारे पूर्व जन्मों का स्मरण करके मूर्च्छा से आँखें बंद कर और क्षणवार सोने के समान चेष्टा रहित हो गया। उसके बाद शीतल पवन से चेतना आने से राजा महासेन ने दोनों हाथ जोड़कर, आदरपूर्वक नमस्कार करके कहा—आप वचन के पालन हेतु यहाँ पधारो हो, वह तूने केवल स्वर्ग को ही नहीं परन्तु पृथ्वी को भी शोभित किया है। यद्यपि तेरी प्रेम भरी वात्सल्यना के बदले में तीन जगत की संपत्तियाँ दान में दे दूँ तो भी कम है, इसलिए आप कहो कि मैं किस तरह तुम्हारा प्रत्युपकार हो सके ? देव ने कहा कि जब तू श्री जिनेश्वर भगवान के चरण कमल में दीक्षा स्वीकार करेगा तब हे राजन् ! निःसंशय तुम ऋण मुक्त होंगे। राजा ने ‘उसे स्वीकार किया’ फिर शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले राजा को उसके स्थान पर पहुँचाकर देव जैसे आया था वैसे वापिस स्वर्ग में चला गया। राजा भी अपने-अपने स्थान पर सुभद्र हाथी, घोड़े, महल और रानी को देखकर मन में आश्चर्यपूर्वक विचार करने लगा कि—अहो ! देव की शक्ति ! उन्होंने उपद्रव दिखाकर पुनः उसी तरह उपशम कर दिया कि उसे दृष्टि से देखने

वाला मनुष्य भी समझ नहीं सकता है। ऐसे अति सामर्थ्यपूर्वक देवभव का स्मरण करके भी हे जीवात्मा ! तेरी बुद्धि मनुष्य के तुच्छ कार्यों में क्यों राग करती है ? अथवा हे निर्लज्ज ! वमन पीत्त आदि अशुचिवाले और दुर्गन्धमय मल से सड़ने वाला भोगों में तुझे प्रेम क्यों उत्पन्न होता है ? अथवा क्षण भंगुर राज्य और विषयों की चिन्ता छोड़कर तू एक परम हेतुभूत मोक्ष की इच्छा क्यों नहीं करता ? कि वह उत्तम दिन कब आयेगा कि जिस दिन सर्व राग को त्याग कर उत्तम मुनियों के चरण की सेवा में आसक्त होकर मैं मृगचर्या=मृग के समान विहार करूँगा ? वह उत्तम रात्री कब आयेगी कि जब काउस्सग ध्यान में रहे मेरे शरीर को खम्भे की भ्रांति से बँल अपनी खुजली के लिए कंधा या गर्दन धिसेंगे ? मेरे लिए कब वह मंगलमय शुभ घड़ी आयेगी जब मैं स्खलित आदि वाणी के दोषों से रहित श्री आचारांग आदि सूत्रों का अभ्यास करूँगा ? अथवा वह शुभ समय कब होगा कि जब मैं अपने शरीर को नाश करने के लिए तत्पर बने जीव के प्रति भी करुणा की वित्त नजर देखूँगा ? या कब गुरु महाराज अल्पभूल को भी कठोर वचनों से जाग्रत करते हुए मैं हर्ष के वेग से परिपूर्ण रोमांचित होकर गुरु की शिक्षा को स्वीकार करूँगा ? और वह कब होगा कि जब लोक-परलोक में निरपेक्ष होकर मैं आराधना करके प्राण त्याग करूँगा ?

इस प्रकार संवेग रंग प्राप्त करते राजा जब विचार करता था उस समय संसार की अनित्यता की विशेषता बताने के लिए मानों न हो, इस तरह सूर्य का अस्त हो गया। उसके पश्चात् सूर्य की लाल किरण के समूह से व्याप्त हुआ जीवलोक मानो जगत का भक्षण करने की इच्छा वाला यम क्रूर आँखों की प्रभा के विस्तार से घिरा हो ऐसा लाल दिखा, अथवा विकास होती संध्या पक्षियों के कलकलाट से मानों ऐसा कहीं हो कि यम के समान यह अंधकार फैल रहा है, इसलिए हे मनुष्यों ! आत्महित करना चाहिए। फिर मुनि के समान रात्री के आवेग को निष्फल करने वाला और अंधकार को हटाने वाला तेज से निर्मल तारा समूह प्रकाशित हुआ। फिर समय होने पर जैसे सीप में से मोती का समूह प्रगट होता है वैसे-वैसे चन्द्र पूर्व दिशा रूप शुक्ति (सीप) संपुट में उदय हुआ। इस प्रकार रात्री का समय हुआ तब रात्री के प्रथम प्रहर के कार्य करके सुखशय्या में बैठकर राजा विचार करने लगा कि :—वह पुर, नगर, खेटक, कर्बट, मंडल, गाँव आश्रव आदि धन्य हैं कि जहाँ पर तीन जगत के गुरु श्री महावीर परमात्मा विचरते हैं। यदि तीन जगत के एक बन्धुरूप भगवान इस नगर में पधारे तो मैं दीक्षा लेकर दुःखों को तिलांजली दे दूँ।

इस तरह विचार करते राजा के चिन्तन प्रवाह को प्रतिपक्ष (विरति) प्रति कोपायमान अविरति रोकता है वैसे प्रतिपक्ष चिन्तन दशा के प्रति कोपायमान निद्रा ने रोक दिया, अर्थात् शुभचिन्तन करते राजा सो गये और विचार प्रवाह रुक गया। रात्री के अन्तिम समय राजा को स्वप्न आया कि अपने आपको उत्तम बल वाले पुरुष द्वारा बड़े पर्वत के शिखर पर आरूढ़ होता हुआ देखा। प्रातः मांगलिक और जय सूचक बाजों की आवाज से जागृत होकर राजा विचार करने लगा कि—निश्चय ही आज मेरा कोई परम अभ्युदय होगा। किन्तु जो महाभाग मुझे पर्वत आरोहण करने में सहायक हुआ है वह पुरुष उपकार द्वारा मेरा परम अभ्युदय में एक हेतुभूत होगा ऐसा दिखता है।

राजा इस प्रकार विकल्प कर रहा था, इतने में द्वारपाल ने शीघ्रता से आकर दोनों हाथ मस्तक ऊपर जोड़कर कहा कि—हे देव ! हाथ में पुष्प की माला लेकर उद्यानपालक आपके दर्शन के लिए दरवाजे पर खड़े हैं तो इस विषय में मुझे क्या करना चाहिये ? राजा ने कहा—उन्हें जल्दी ले जाओ। इससे उसने आज्ञा को स्वीकार कर उसी समय उद्यानपालकों को लेकर राजा के पास ले आया। उद्यानपालकों ने राजा को नमन कर पुष्पमाला अर्पण की और हाथ जोड़कर कहा—हे देव ! आप विजयी हों ! आपको बधाई है कि—तीन लोक को प्रकाश करने में सूर्य के समान, तीन भवनरूपी सरोवर में खिले हुए कमलों की भ्रान्ति करते उज्ज्वल यश के विस्तार वाले, तीन छत्रों ने जाहिर किया स्वर्ग, मृत्यु और पाताल के श्रेष्ठ स्वामीत्व वाले, तीन गढ़ से घिरे हुए, मणिमय सिंहासन ऊपर बैठे हुए हर्ष की मस्ती वाले देवों ने बँधाने के लिए फँके हुए प्रचुर पुष्पों की अंजलि द्वारा पूजे गये, संशयों को नाश करने में समर्थ, शास्त्र की धर्म कथा को करने वाले, इन्द्र के हाथ से सहर्ष कुमुद और बर्फ समान उज्ज्वल चामरों के समूह को ढोलने वाले, विकसित श्रेष्ठ पत्तों वाले अशोक वृक्ष द्वारा आकाश मंडल को शोभायमान करने वाले, सूर्य से भी प्रचण्ड तेजस्वी भ्रामण्डल से अन्धकार को नाश करने वाले, देवों ने बजाई हुई दुंदुभि के अवाज से प्रगटित अप्रतिम शब्दों के विजय वाले, गणनातीत मनोहर सुरेन्द्र और असुरेन्द्र के समूह पूजित चरण कमल वाले और शरणागत वत्सल भगवान श्री महावीर देव स्वयमेव पधारे हुए हैं।

ऐसी बधाई को सुनने से अत्यन्त श्रेष्ठ हर्ष द्वारा शरीर में प्रगट हुआ निबिड रोमांचित वाला तीन लोक की भी लक्ष्मी हस्त कमल में आई हो इस

तरह मानता हुआ और 'वे यह भगवान पधारें हैं कि जिन्होंने स्वप्न में मुझे पर्वत के शिखर ऊपर आरूढ़ किया है, अतः उनके द्वारा मैं संसार का पारगामी बनूंगा।' ऐसा चिन्तन करते राजा उन उद्यानपालकों को साढ़े बारह लाख सोने की मोहर प्रेमपूर्वक दान देकर जल्दी ही सारा अंतपुर और नगर लोगों से घिरे हुए तथा याचकों से स्तुति करवाता, हाथी ऊपर बैठकर जगद् गुरु को वंदन करने के लिए नगर में से चला, फिर दूर से भगवान के छत्र ऊपर छत्र देखकर प्रसन्न मनवाला वह छत्र चामरादि राज चिन्ह को छोड़कर पांच प्रकार के अभिगम सहित उत्तर दिशा के द्वार से समव सरण में प्रवेश किया, हर्ष के आवेश से विकसित नेत्रों वाला वह राजा प्रभु की तीन प्रदक्षिणा देकर पृथ्वी पीठ को स्पर्श करते मस्तक द्वारा बारम्बार नमस्कार करके और हस्तपल्लव ललाट पर लगाकर स्तुति करने लगा कि :—

“निर्मल केवल ज्ञान के प्रकाश द्वारा मिथ्यात्व रूपी भयंकर अंधकार के विस्तार को नाश करने वाले हे भगवन्त ! आपकी जय हो ! फँले हुए प्रबल कलिकाल रूपी बादलों को बखेरने में महावायु के समान आपकी जय हो ! उग्र पवन के समान महावेग वाले इन्द्रियों रूपी घोड़ों समूह को वश करने से आप तीन भवन में प्रसिद्ध हे भगवन्त ! आपकी जय हो ! तीनों जगत में प्रसिद्ध सिद्धार्थ राजा के कुलरूपी कमल को खिलने के लिए सूर्य समान आपकी जय हो ? जिनके सूर्य समान उग्र महान् प्रताप से कुतूहियों की महीमा नष्ट हुई ऐसे आप श्री की जय हो ? युद्ध, रोग, अशिव आदि के उपशम भाव में समर्थ और केवल आपका ही नामोच्चार करने योग्य हे देव ! आपकी जय हो ! हे देवन्द्रों के समूह से वंदनीय, बढ़ राग द्वेष रूपी काष्ठ को चीरने में आरा तुल्य और मोक्ष सुख आपके हाथ हैं ऐसे हे महावीर परमात्मा आप विजयी हो ! और हे अरिहन्त देव ! उपसंग समूह के सामने भी आपकी अक्षुब्धता-स्थिरता गजब की थी तो आपके चरण अंगुली दबाने मात्र से भी चलित शिखर वाले मेरु पर्वत की उपमा आपको कैसे दे ? हे नाथ ! आपका तेज और सौम्यता अद्वितीय है उसकी उपमा सूर्य और चन्द्र से कैसे दे सकते हैं ? क्योंकि दिन और रात के अन्तिम समय में सूर्य और चन्द्र मन्द अल्प तेज हो जाता है परन्तु आपका तेज और सौम्यता अखण्ड है। हे जिनेश्वर भगवान ! आपकी गम्भीरता भी महान् है, जिससे दुष्ट जीवों के क्षाभ को नहीं छुपा सकते हैं, तो वह गम्भीरता समुद्र के साथ उपमा कैसे दे सकते हैं, समुद्र को गम्भीरता सामान्य है जबकि गम्भीरता सर्वश्रेष्ठ है। इस तरह सारी उपमाएँ अति

असमान होने पर भी हे भुवन नाथ ! यदि आपकी उपमा दे तो आपकी ही उपमा आपको दे सकते हैं, और इस विश्व में आपके समान कोई नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ । इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान की स्तुति कर गौतम स्वामी आदि गणधरों को नमस्कार करके प्रसन्न चित्त वाले राजा पृथ्वी के ऊपर बैठा । उसके बाद श्री जगद् गुरु वीर परमात्मा ने नर, निर्यच और देव सबको समझ सके ऐसे सर्व साधारण वाणी द्वारा अमृत की वृष्टि समान धर्म उपदेश देना प्रारम्भ किया ।

वीरप्रभु का उपदेश :—हे देवानुप्रिय ! यद्यपि तुम्हें भाग्ययोग द्वारा अति मुश्किल से समुद्र में पड़े रत्न के समान अति दुर्लभ मनुष्यत्व मिला है और चिन्तामणों के समान मनवांछित सकल प्रयोजन का साधन में एक समर्थ लक्ष्मी को भी भुजबल से तुमने प्राप्त की है । तुम्हारे पुण्य प्रकर्ष से इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदि किसी प्रकार का दुःख अल्प भी तुमने देखा न है, खिले हुए नील कमल की माला समान दीर्घ नेत्रों वाली तरुण स्त्रियों में तुम्हें अत्यन्त गाढ़ राग हुआ परन्तु कम नहीं हुआ, तो भी तुम एक क्षण मन को राग द्वेष रहित बनाकर, मनुष्य जन्मादि जो तुम्हें मिला है उसका स्वरूप निपुण बुद्धि से इस तरह बारम्बार चिन्तन करो कि :—इस जन्म में मुश्किल से मिला हुआ भी मनुष्य जीवन में यदि धर्म आराधना नहीं करने से वह बेकार ही खत्म कर देता है तो पुनः भाग्ययोग द्वारा महा मुश्किल से प्राप्त करता है । क्योंकि—पृथ्वीकाल आदि में जीव असंख्यकाल तक रहता है और वह जीव वनस्पति में गया हुआ वहाँ अनन्त गुणाकाल तक रहता है । इसी प्रकार अन्य विविधहीन यानियों में अनेक बार परिभ्रमण करते जीव को पुनः यह मनुष्य भव की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है ? समस्त अन्य मनोवांछित कार्यों को प्राप्त कर सकता है फिर भी शिव सुख की साधन में समर्थ यह उत्तम मनुष्य जीवन निश्चय ही दुर्लभ है । अति महा कलेशों से मिलने वाली, दुःख से रक्षण कर सके ऐसी लक्ष्मी है वह भी स्वजन, राजा, चोर, याचक आदि सर्व की साधारण है । परन्तु आपत्ति का कारणभूत, मूढ़ता करने वाली, एक ही जन्म के सम्बन्ध वाली, और शरद के बादल के समान अस्थिर उस लक्ष्मी में आनन्द मानना-राग करना वह हानिकारक है । और जिस किसी भी प्रकार से वर्तमान में इष्ट वियोगादि दुःख नहीं आया, तो इससे क्या हुआ ? इससे सदाकाल उसका अभाव हुआ है ? ऐसा निश्चय नहीं है क्योंकि सिद्धों को छोड़कर तीनों लोक में ऐसा अन्य जीव नहीं है कि जिसे शारीरिक-मानसिक दुःख प्रगट न हो ।

इस कारण से ही भव भीरूँ मनवाले महामुनियों को सर्व संग को त्यागकर मोक्ष मुख के लिए सतत् उद्यम करना चाहिये। यदि इस संसार में इष्ट वियोग आदि थोड़ा भी दुःख न हो तो कोई भी मोक्ष के लिए दुष्कर तपस्या नहीं करे। इसे दृढतापूर्वक विचार करो। और स्त्रियों में जो राग है वह भी किपाक के फल समान प्रारम्भ में मधुर और अन्त कड़वा है। असंख्य भवों को बढ़ाने वाली मन के शुभाशय को नाश करने वाली और उत्तम मुनिजनों के त्याग करने योग्य स्त्री को मन से भी याद करना चाहिये। इस जगत में जो कोई भी संकट है जो कोई दुःख है और जो कोई निन्दापात्र है उन सबका मूल एक यह स्त्री को ही कहा है। भव समुद्र का पार भी उन्होंने ही किया है, और उन्होंने ही सच्चारित्र से पृथ्वी को पवित्र किया है जिन्होंने ऐसी स्त्री को दूर से त्यागा है। इसलिए हे महानुभावों ! अति निपुण बुद्धि से विचार कर, सदा धर्म-धन को प्राप्त करे, और उस व्यापार का उत्कंठा से आचरण करे।

प्रभु ने जब ऐसा कहा, तब सविशेष बढ़ते शुभ भाव वाले राजा नमस्कार करके और दोनों हस्त कमल को मस्तक पर लगाकर कहने लगा कि—हे नाथ ! प्रथम निजपुत्र को राज्याभिषेक करूँगा, उसके बाद आपके चरण कमल में संयम स्वीकार करूँगा। त्रिभुवन गुरु ने कहा—हे राजन् ! तुम्हें ऐसा करना योग्य है, क्योंकि स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी संसार में अल्प भी राग नहीं करते हैं। फिर जिनेश्वर भगवान के चरणों में नमन करके राजा ने अपने महल में जाकर सामंत, मंत्रियों आदि मुख्य मनुष्यों को बुलाकर गद्-गद् शब्दों में कहा कि—अहो ! मुझे अब दीक्षा लेने की बुद्धि जागृत हुई है, इसलिए मैंने सत्ता के मद से अथवा अज्ञानता से जो कोई तुम्हारा अपकार रूप आचरण कुछ भी किया हो वह सर्व को खमाता हूँ मुझे क्षमा करना, और इस राज्य की वृद्धि करना। इस तरह उनको शिक्षा देकर जब शुभ मुहूर्त आया, उस पवित्र दिन महा महोत्सवपूर्वक जयसेन पुत्र को राज्य के ऊपर स्थापन किया। फिर सामंत, मन्त्रीमण्डल आदि मुख्य परिजन सहित स्वयं स्नेह से उस नये राजा को दोनों हाथ की अंजलि से नमन करके हित शिक्षा दी कि :—

स्वभाव से ही सदाचार द्वारा शोभते हे वत्स ! यद्यपि तुझे कुछ भी सिखाने की जरूरत नहीं है, फिर भी मैं कुछ थोड़ा कहता हूँ कि—हे पुत्र ! स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, बाहन, भण्डार, सेना और मित्र ये सातों के परस्पर उपकार से यह राज्य श्रेष्ठ बनता है। अतः सत्त्व आचरण कर और बुद्धि से

जैसे औचित्य का रक्षण हो सके इस तरह विचार करके इन सातों अंगों की प्राप्ति के लिए तुम प्रयत्न करना। उसमें सर्वप्रथम तो तू अपनी आत्मा को विनय में जोड़ना; उसके बाद अमात्यों को फिर नौकर और पुत्रों को और उसके बाद प्रजा को विनय में जोड़ना। हे वत्स ! उत्तम कुल में जन्म, स्त्रियों के मन का हरण करने में चोर समान रूप, शास्त्र परिकर्षित बुद्धि और भुज बल, और वर्तमान में विवेकरूपी सूर्य को आच्छादित करने में प्रचण्ड शक्ति वाला, मोहरूपी महा बादलों का अति घन समूह समान यह खिलता हुआ यौवन रूपी अन्धकार, पण्डितों के प्रशंसनीय प्रकृति और प्रजा द्वारा शिरोमान्य होती आज्ञा, इसमें से एक-एक भी निश्चय ही दुर्जय है, इसके गर्व से बचन दुष्कर हैं तो फिर सभी का समूह तो अति दुर्जय बनता है। और हे पुत्र ! जगत में भयंकर माना गया लक्ष्मी का मद भी पुरुष को अतिविकल बना कर शीघ्र कमोन्ता बना देता है, तथा लक्ष्मी मनुष्यों को श्रुति-बहरा, वचन रहित और दृष्टि रहित कर देता है। उसमें विसंवाद क्या है ? अर्थात् वह उसका ऐसा ही कार्य है। और वह आश्चर्य है कि समुद्र में से उत्पन्न हुई वह जहर रूपी बहल होने पर भी मनुष्य को नहीं मारती है ? विष रूपी लक्ष्मी से कईयों की मृत्यु आदि होती है। और पूर्व के पुण्यकर्म के परिपाक से वैभव, श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ रूप, और श्रेष्ठ राज्य भी मिलता है, लेकिन सर्व गुणों का कारणभूत विनय नहीं मिलता है। अतः अभिमान को त्याग कर विनय को सीखना परन्तु मद का अभिनय नहीं करना क्योंकि—हे पुत्र ! विनय से नम्र आत्माओं में महामूल्य वाले गुण प्रकट होते हैं। पृथ्वीतल में विद्वानों द्वारा मुख रूपी वीणा बजाने का दण्ड उसके द्वारा बजाने से विनय का यश गाथा सर्वत्र फैलता है। धर्म, काम, मोक्ष कलायें और विद्यायें ये सभी विनय से मिलती हैं। लक्ष्मी भी विनय से मिलती है। जब दुर्विनीत को वह वस्तु मिली हुई भी नाश करता है। इसलिए सर्व गुणों का आधारभूत जीव लोक में विनय ही है। अधिक क्या कहें ? जगत में ऐसा कुछ नहीं कि जो विनय से प्राप्त न हो ! इस कारण से हे पुत्र ! कल्याण का कुल भवन समान विनय को तुम जरूर स्वीकार करना।

और सत्त्व की गोत्र की और धर्म की रक्षा में बाधा न पहुँचे इस तरह धन का उपार्जन करना, उसको बढ़ाना और रक्षण करना तथा सुपात्र में सम्यग् रूप में दान देना, राज्य संपत्ति के ये चार भेद हैं। इसलिए हे पुत्र ! तुम इन चारों के विषय में भी परम प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना। साम, भेद, दान और दण्ड ये चार प्रकार की राजनीति हैं, उसे भी हे प्रिय पुत्र ! तू शीघ्र जान

लेना, परन्तु उसमें यदि पूर्व-पूर्व की नीति से कार्य असाध्य बने तो यथाक्रम दूसरी, तीसरी आदि नीतियों का यथा योग्य जहाँ-जहाँ जिसका प्रयोग हो, वहाँ-वहाँ उस तरह से सोच-विचार कर प्रयोग करना । क्योंकि यदि साम नीति से कार्य होता हो तो भेद नीति का उपयोग नहीं करना, और भेद नीति में साम या दाम उपयोग नहीं करना । इसी प्रकार दाम आदि अन्य नीति का उपयोग नहीं करना । और नीति को सदैव प्राणप्रिय पतिन के समान रक्षा करना, और अन्याय रूप दुष्ट शत्रु के समान हमेशा रोकना, वस्त्र, आहार पानी आभूषण, शय्या, वाहन आदि का भोग करते पूर्व उसमें विष का विकार है या नहीं ? वह अप्रमत्त भाव से मृगराज आदि पक्षियों से जान लेना ।

विष की परीक्षा :—तमरू, तोता और मैना ये पक्षी प्रकृति से ही नजदीक में रहे सर्प का जहर देखकर उद्विग्न होकर करुण स्वर से रोते हैं । विष को देखकर चकोर के आँखों में तुरन्त विरागी बनती है (बन्द हो जाती है) कौंच पक्षी स्पष्ट रूप में नाचता है, और मत्त कोकिल मर जाता है । भोजन करने के इच्छुक अन्न की परीक्षा के लिए थोड़ा आहार अग्नि में डालकर उसके चिन्ह भी सम्यग् रूप से जान लेना । यदि उसमें विष हो उसकी ज्वाला धुँयेँ जैसी हो जाती है, अग्नि श्याम हो जाये और शब्द फट कर जैसे निकले, और ऐसे भोजन को स्पर्श करने से मक्खी आदि निश्चय रूप मर जाती है । तथा विष मिश्रित अन्न में से जल्दी पानी नहीं छुटता है जल्दी गीला नहीं होता, रंग जल्दी बिगड़ जाता है और जल्दी शीतल होता है । विष मिश्रित जल में कोयले का रंग आ जाता है, दही में श्याम और दूध में ताम्बा जैसे सामान्य लाल रेखायें हो जाती हैं । विष मिश्रित सर्व गीले पदार्थ सूखने लगते हैं । सूखे पदार्थों का रंग बदल जाए और कठोर हो वह कोमल तथा कोमल हो वह कठोर हो जाते हैं । आवरण या ढेर वाली आदि वस्तु में दाग हो जाते हैं और लोह, मणि आदि विष से मेल समान कलुषित हो जाता है । इस तरह हे पुत्र ! सामान्यतया शास्त्र युक्ति से विष मिश्रित पदार्थों को जानकर उसे दूर से त्याग करना । और चार से छह कान में बात न जाए इस तरह गुप्त मंत्रणा करना, देश और काल के तारतम्य को जानने में कुशल बनना । उत्तम पदार्थों का कोई भी दान ऐसे वैसे को नहीं करना, और दान करे तो भी पत्निता देखना । सर्व कार्यों को अच्छी तरह परीक्षापूर्वक करना, उसमें भी सन्धि-विग्रह की परीक्षा विशेषतया करना, सर्वज्ञ औचित्य को जानना, कृतज्ञ, प्रियभाषी और सर्व विषय में उचित अनुचित, पात्रापात्र कार्याकार्य, वाच्यावाच्य आदि का हाता बनना, श्रेष्ठ साधु के समान हे पुत्र ! सदा निद्रा, भूख और तृषा का विजय सहन करना, सर्व

परीषद् सहन करने में समर्थ होना, अनाग्रही और गुणीजनों के प्रति वात्सल्य वाला बनना। मदिरा, शिकार और जुये को तो हे पुत्र ! देखना भी नहीं। क्योंकि उससे इस लोक और परलोक में होने वाले दुःख नजर के सामने दिखते हैं और शास्त्रों में भी सुना जाता है। केवल विषय की वासना को रोकने के बिना स्त्रियों का अति परिचय तथा विश्वास को मत करना, क्योंकि—उन स्त्रियों से भी बहुत प्रकार के दोष उत्पन्न हैं। तथा क्रोध, लोभ, मद, द्रोह अहंकार, और चपलता का त्यागी बनना, तू मत्सर, पैशून्य, परोपताप और मृषावाद का भी त्याग करना, और सर्व आश्रमों (धर्मों) की तथा वर्णों की उसके वर्ण अनुसार मर्यादा का स्थापन या रक्षक बनना, तथा दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करना।

और तू अति ज्यादा कर यदि रखेगा तो सूर्य के समान तू प्रजा का उद्वेग कारक बनेगा और अति हल्का कर (टैक्स) से चन्द्र के समान परभाव का पात्र बनेगा। अतः अति कठोर या अति हल्का कर लेने से भाव को बुद्धिपूर्वक अलग रख कर सर्वत्र द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का अनुरूप व्यवहार करना। दीन, अनाथ, दूसरे से अति पीड़ित तथा भयभीत आदि सबके दुःखों को पिता के समान, सर्व प्रयत्नों से जल्दी प्रतिकार करना और जो विविध रोगों का घर है और आज-कल अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के लिए भी अधर्म के कार्य में रुचि नहीं करना। हे पुत्र ! ऐसा कुलिन कौन होगा कि तुच्छ सुख के लिए मूढ़ मति वाला बनकर असार शरीर के सुखों के लिए जीवों को पीड़ा दे। और देव, गुरु तथा अतिथि की पूजा सेवा विनय में तत्पर बनना। द्रव्य और भाव में शौचवाता होना, धर्म में प्रीति और दृढ़ता वाला, तथा धार्मिक जनता के वात्सल्य को करने वाला होना। सर्व जीवों की सारी प्रवृत्ति या सुख के लिए होती है और वह सुख धर्म के बिना नहीं मिलता है इसलिए हे पुत्र ! धर्मपरायण बनना। तथा हे पुत्र ! तू 'मेरे रात्री, दिन कौन से गुण में व्यतीत होते हैं' ऐसा विचार करते सदा स्थिर बुद्धि वाला यदि बनेगा तो इस लोक और परलोक में दुःखी नहीं होगा। हे पुत्र ! हमेशा सदाचार से जो महान् हो उनके साथ परिचय करना, चतुर पुरुष के पास कथा श्रवण करना, और निर्लोभ बुद्धि वाले के साथ प्रीति करना। हे पुत्र ! सत्पुरुषों के द्वारा निर्देश की हुई उच्चम आत्म प्रशंसा जो कि विष मूर्च्छा के समान पुरुष को विवेक रहित करता है उसका त्याग करना। जो मनुष्य आत्म प्रशंसा करता है निश्चय उसे निर्गुणत्व की निशानी है, क्योंकि यदि उसमें गुण होता तो निश्चय अन्य जन अपने आप उसकी प्रशंसा करते। स्वजन या परजन की भी निन्दा तो विशेषकर त्याग

करने योग्य है। आत्महित की अभिलाषा वाले तू सदा परगुण को देखने वाला, गुणानुरागी बनना। हे पुत्र ! परगुण प्रति मात्सर्य, स्वगुण की प्रशंसा, अन्य को प्रार्थना करना, और अविनीत तत्त्व ये दोष महान् व्यक्ति को भी हल्का बना देता है। पर निन्दा का त्याग, स्वप्रशंसा सुनकर भी लज्जालु होना, संकट में भी प्रार्थना नहीं करना और सुविनीतमय जीवन वाला व्यक्ति छोटा भी हो वह महान् बन जाता है परगुण ग्रहण करना, पर की इच्छानुसार चलना, हितकर और मधुर वचन बोलना, तथा अति प्रसन्न स्वभाव यह बिना मूल और मन्त्र का वंशीकरण है। और हे पुत्र ! तुम्हें वैसा करना कि जिससे वृद्ध अवस्था में प्रथम मन को और फिर शरीर का स्पर्श करना, अर्थात् वृद्ध होने के पूर्व भोगादि में सन्तोष धारण करना तथा हे वत्स ! जिसने अति उन्माद जीवन को अपवाद बिना निर्दोष व्यतीत किया, उसने दोष भण्डार में भी इस जन्म में कौन-सा फल प्राप्त नहीं किया ? अर्थात् उसने पूर्णरूप में सब कुछ प्राप्त किया है। यह श्रेष्ठ स्वभाव वाला है, यह शास्त्र के परमार्थ को अच्छी तरह जानता है, यह क्षमावंत है और यह गुणी है इत्यादि किसी धन्य पुरुष की ही ऐसी घोषणा सर्वत्र फैलती है। तथा हे वत्स ! गुणों के समूह को अपने जीवन में इस तरह स्थिर करना कि जिससे मुश्किल से दूर हो सके ऐसे दोषों का रहने का अवकाश ही न रहे। पथ्य और प्रमाणोपेत भोजन का तू ऐसा भोगी बनना कि वैद्य तेरी चिकित्सा न करे। केवल राज्य नीति के कारण उन्हें तू अपने पास रखना। अधिक क्या कहूँ ? हे पुत्र ! तू बहुत धर्म महोत्सव या आराधना करना, सुपात्र की परम्परा को हमेशा अपने पास रखना। अच्छे बाँस के समान और सरल प्रकृति को चिरकाल तक वर्तन करना। सौम्यता से प्रजा की आँखों को आनन्ददायी, कला का स्थान और प्रतिदिन गुणों से बढ़ते चन्द्र जैसे समुद्र की वृद्धि करता है वैसे तू प्रजाजन की वृद्धि करने वाला होना। प्रकृति से महान्, प्रकृति से बढ़ धीरता वाला, प्रकृति से ही स्थिर स्वभाव वाला, प्रकृति से ही सुवर्ण रत्नमय निर्मल कान्ति वाला उत्तम वंश वाला, और पण्डितों का अनुकरण करने वाला हे पुत्र ! तू जगत में मेरु पर्वत के समान चिरकाल स्थिर प्रभुत्व को धारण करना। तथा गम्भीरता रूपी पानी से अलंकृत, गुणरूपी मणि का निधि, और अनेक नमस्कार के समूह को स्वीकार करते तू समुद्र के समान मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना। इसी तरह महासेन राजा विविध युक्तियों से पुत्र को शिक्षा देकर सामन्त, मन्त्री आदि को तथा नगर के लोगों को प्रेमपूर्वक कहता है कि—इसके बाद अब यह तुम्हारा स्वामी है, चक्षुरूप है और आधार है, इसलिए मेरे समान इसकी आज्ञा में सदा प्रवृत्ति करना। और राज्य को

प्राप्त कर मैंने हास्य से क्रोध से या लोभ से यदि तुमको दुःखी किया हो वह अब मुझे क्षमा करने योग्य है। आप मुझे क्षमा करना।

फिर रानी कनकवती को उपदेश दिया कि—हे देवी ! तू भी अब मोह प्रमाद को छोड़कर सर्व विरति का आचरण कर और संसारवास से मुक्ति हो। जहाँ निश्चय हमेशा विनाश करने वाला यमाराज पास में ही रहता है, उस संसार में स्वजन, धन और यौवन में राग करने का स्थान कौन-सा है ? संयम के लिये तैयार हुए राजा की वाणी रूप वज्र से दुःखी हुई रानी आँसू के प्रवाह से व्याकुल हुई इस प्रकार बोली—साधु जीवन तो वृद्धत्व में योग्य है, अब वर्तमान में संयम लेना कौन-सा प्रसंग है ? राजा ने कहा—बिजली के चमकार के समान चंचल जीवन में वृद्धत्व आयेगा या नहीं आयेगा उसको कौन जानता है ? देवी ने कहा—तुम्हारी सुन्दर शरीर की कान्ति दुःस्सह परीषहों को कैसे सहन करेगा ? राजा—हड्डी और चमड़ी से गूथी हुई इस काया में क्या सुन्दरता है ? देवी—थोड़े दिन अपने घर में ही रहो, किसलिये इतने उत्सुक हो रहे हो ? राजा—श्रेय कार्य बहुत विधनों वाले होते हैं, इसलिए एक क्षण भी रोकना योग्य नहीं है। देवी—फिर भी अपने पुत्र की राजलक्ष्मी का श्रेष्ठ उत्सव तो देखो। राजा—संसार में अनन्त बार परिभ्रमण करते क्या नहीं देखा गया है ? देवी—विशाल राजलक्ष्मी होने पर भी दुष्कर इस चरित्र से क्या लाभ है ? राजा—शरद-ऋतु के बादल समान नाशवंत इस लक्ष्मी में तुझे क्यों विश्वास होता है ? देवी—पाँच इन्द्रियों के विषयभूत पाँच प्रकार का श्रेष्ठ विषयों को अकाल क्यों छोड़ते हो ? राजा—आखिर में दुःखी करने वाला उस विषयों का स्वरूप जानकर कौन उसका स्मरण करे ? देवी—तुम जब दीक्षा स्वीकार करोगे, तब स्वजन वर्ग चिरकाल विलाप करेगा तो, राजा—धर्म निरपेक्षये स्वजन वर्ग अपने-अपने स्वार्थ के लिये ही विलाप करते हैं। इस तरह दीक्षा विरुद्ध बोलती रानी को देखकर राजा बोला—हे महानुभाव ! इसमें तुझे राग क्यों होता है ? आज से तीसरे भव में मेरे वचन सुन कर सर्व संग का त्याग कर तुमने दीक्षा ली थी, वह क्यों भूल गई है ? तुम सौधर्म देवलोक में मेरी देवी रूप में उत्पन्न हुई थी और वर्तमानकाल में हृदय प्रेम बढ़ने से रागी बनी तू पुनः यहाँ भी मेरी पत्नी बनी है। ऐसा राजा ने जब कहा तब रानी पूर्व जन्म के वृत्तान्त को स्मरण करके दोनों हाथ जोड़कर बोली कि हे राजन् ! वृद्ध गाय समान विषयरूपी कीचड़ में फँसी हुई मुझे उपदेश रूपी रस्सी द्वारा खींचकर तुमने उद्धार कर बाहर निकाला है। अब मेरा विवेक रत्न प्रकट हुआ है मेरी घर निवास की इच्छा भी खतम हो गई

है, और मेरा मोह नष्ट हो गया है। -इससे पूर्व के सद्य वर्तमान में भी भ्रमण दीक्षा को स्वीकार करूँगी। आज से स्वप्न तुल्य गृहवास से कोई प्रयोजन नहीं है।

इस तरह रानी के कहने से राजा का उत्साह विशेष बढ़ गया और स्नान विधि करके स्फटिक समान उज्ज्वल वस्त्रों को धार करण कंद में बंद और बाँधे हुए अपराधी मनुष्यों को छोड़कर नगर में सर्वत्र अमारिपटह की उद्धोषणा कर श्री जैन मन्दिर में पूजा, सत्कार और नाटक महोत्सव करवा कर, कर माफ करके, धार्मिक मनुष्यों को सन्तोष देकर, सेवक वर्ग का सम्मान करके, याचकों मुँह माँगे दान देकर, उचित विनयादिपूर्वक प्रजावर्ग को समझा-कर अनुमति प्राप्त कर हर्षपूर्वक उछलते शरीर के रोमांचित वाला हुआ राजा रानी के साथ में हजारों पुरुषों द्वारा उठाई हुई शिविका में बैठकर श्री जिनेश्वर भगवान के चरण कमल के पास में जाने के लिये चला, उस समय मकानों के शिखर पर चढ़कर नगर जन अत्यन्त अनिमेष नजर से उनका दर्शन कर रहे थे, और हृदय को सन्तोष देने में चतुर तथा सद्भूत यथार्थ महाअर्थ वाले श्रेष्ठ वाणी द्वारा अनेक मंगलमय पाठक उनकी स्तुति कर रहे थे। उसके बाद गंभीर दुंदुभि के अव्यक्त आवाज से सम्मिश्रित असंख्य शंखों के बजाने से प्रगट हुई आवाज द्वारा आकाश भी गूँज उठा, और प्रलयकाल के पवन से उछलते रवीर समुद्र के आवाज का ख्याल दिलाने वाला चार प्रकार के बाजों को सेवक बजाने लगे, तथा परम हर्ष के आवेश में निकलते आँसू के जल से भीगे हुए आँखों वाली, संक्षोभवश खिसक गये, कंदोरा आदि आभूषण के समूह वाली और मानव समूह को आनन्द देने में समर्थ वीरांगनाओं ने सर्व आदरपूर्वक अनेक प्रकार के अंगों को मरोड़कर व्याप्त श्रेष्ठ नृत्य किया।

इस तरह परम वैभव के साथ समवसरण के स्थान पर आए राजा पालकी में से उतरकर प्रभु की तीन प्रदक्षिणा देकर स्तुति करने लगा कि—जन्म-मरण के भय को निवारण करने वाले, शिव सुखदाता, दुर्जय कामदेव को जीतने वाले, इन्द्रों द्वारा वंदनीय, और स्तुति कराने वाले, लोग समूह के पापों को नाश करने वाले हे श्रीवीर भगवान् ! आप विजयी रहें। इस तरह स्तुति कर ईशान कोने में जाकर रत्नों के अलंकार और पुष्पों के समूह को शरीर के ऊपर से उतारे और फिर प्रभु को इस प्रकार विनती की कि—“हे जगत् गुरु ! हे कृष्ण निधि ! प्रवज्या रूपी नौका का दान करके हे नाथ मुझको अब इस भव समुद्र से पार उतारो।” राजा ने जब ऐसा कहा तब तीन भवन में एक

सूर्य सदृश प्रभु ने अपने हाथ से उसको असंख्य दुःख से मुक्त करने में समर्थ दीक्षा दी, फिर भगवान ने शिक्षा दी :—

प्रभु की हित शिक्षा—अहो ! यह दीक्षा तुमने महान् पुण्योदय से प्राप्त की है। इस कारण से अब से प्रयत्नपूर्वक प्राणीवध, असत्य, अदत्तादान, मैथुन तथा परिग्रह के आरम्भ को मन, वचन, काया के योग द्वारा और करना करवाना और अनुमोदन तीन करण द्वारा यावज्जीव तक अवश्य छोड़ देना चाहिये, और कर्म के नाश में मूल कारण बारह प्रकार तप में विशेष रूप में हमेशा प्रमाद को छोड़कर शक्ति अनुसार प्रयत्न करना चाहिये। धन धान्यादि द्रव्यों में, गाँव, नगर, खेत, कर्बूर आदि क्षेत्र में, शरद् आदि काल में तथा औदयिक आदि भावों में अल्प भी राग अथवा द्वेष मन से भी करने योग्य नहीं है, क्योंकि—फँसे हुए संसाररूपी महावृक्ष का मूल ये राग-द्वेष है। ऐसा चिर-काल तक शिक्षा देकर प्रभु ने कनकवती साध्वी को चन्दनवाला को सौंपा और महसेन मुनि को स्थविर साधुओं को सौंपा। उसके बाद वह महात्मा महसेन स्थविर मुनियों के पास सूत्र अर्थ का अध्ययन करते गाँव, नगरों से विभूषित वसुन्धरा के ऊपर विचरने लगे।

इधर कुछ दिनों में केवली पर्याय का पालन कर श्री महावीर प्रभु ने यावापुरी में अचल और अनुत्तर शिव सुख (निवारणपद) को प्राप्त किया। उस समय महसेन मुनि ने इस तरह विचार किया—अहो ! कृतान्त को कोई असाध्य नहीं है, ऐसे प्रभु ने भी नश्वर भाव को प्राप्त किया है। जिसकी पाद-पीठ नमन करते इन्द्रों के समूह के मणिमय मुकुट से घिस जाती है, जिनके चरण के अग्रभाग से दबने पर पर्वत सहित धरती तल कम्पायमान होता है पृथ्वी तल को छत्र और मेरूपर्वत को दण्ड करने की जिसमें श्रेष्ठ सामर्थ्य है और कल्पवृक्ष आदि श्रेष्ठ प्रातिहार्य की शोभा जिनका ऐश्वर्य प्रकट हुआ है उनको भी यदि अत्यन्त दुर्निवार अनित्यतावश करता है तो असार शरीर वाले मुझ जैसे की क्या गणना है ? अथवा तीन जगत् के एक पूज्य जगत् गुरु का शोक करना योग्य नहीं है क्योंकि उन्होंने कर्म की गाँठ को तोड़कर शाश्वत-स्थान प्राप्त किया है। मैं ही शोक करने योग्य हूँ, क्योंकि आज भी कठोर कर्म के बन्धन से अत्यन्त जकड़ा हुआ कैदखाने में रहता हूँ, वैसे संसार में रहता हूँ अथवा जरा से जर्जरीत मुझे इस शरीर से क्या विशेष लाभ होने वाला है कि जिससे मैं नित्य तपस्या करने में उद्यम नहीं कर सकता हूँ ? इसलिए इसके बाद मुझे विशेष आराधना करनी चाहिये, परन्तु निश्चित और सुविस्तृत अर्थ वाली उक्त आराधना को किस तरह जानता अथवा इस चिन्तन से क्या लाभ ?

अभी केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले गणधरों के इन्द्र श्री गौतम स्वामी के पास जाऊँ, और एकाग्र चित्तवाला गृहस्थ और साधु सम्बन्धी भेद-प्रभेद वाली उक्त आराधना की विधि को पूँछू। उपर्युक्त मैं वहाँ जाकर उस विधि को विस्तार-पूर्वक जानकर स्वयं आचरण करूँ और अन्य भी योग्य जोवों को कहूँ। प्रथम सम्यग् प्रकार से जानना, फिर उसका आचरण करना और उसके बाद दूसरों को उपदेश देना, क्योंकि—जिसने अर्थ को यथार्थ रूप नहीं जाना वह उपदेशक अपना और दूसरों का नाश करता है। ऐसा सोचकर कलिकाल का विजय करने में बद्धलक्ष्य वाला प्रत्यक्ष धर्मराजा के समान वह महात्मा महसेन मुनि श्री गौतम स्वामी के पास चला। तप से शरीर दुबला हो जाने से प्रलयकाल में सूखी हुई गंगा नदी के पवन से तरंग प्रवाह जैसे मन्द चलता है, वैसे धीरे-धीरे भूमि के ऊपर कदम रखते शरीर पर लगी हुई पापराज को लगातार साफ करते हो इस तरह वृद्धावस्था के कारण, हाथ, पैर, मस्तक, पेट आदि सर्व अंगों से काँपता, युग प्रमाण इष्टि से आगे देखते हुए उसके पास जाकर विनयपूर्वक शरीर को नमस्कार उस महसेन मुनि ने तीन प्रदक्षिणापूर्वक श्री गौतम गणाधीश को वन्दन किया और हर्षविश से विकसित नेत्र वाले उसने खिले हुए कलियों समान हस्त कमल को ललाट पर लगाकर सद्भूत वचनों से स्तुति करने लगा :—

हे त्रिलोक के सूर्य ! हे जगद् गुरु ! हे वीर जैन के प्रथम शिष्य ! हे भयंकर भवाग्नि से संतृप्त शरीर वाले जीवों की शान्ति के लिए भेघ समान ! आपकी विजय हो। नयोरूपी महा उछलते तरंगों वाली बारह निर्मल अंग वाली (द्वादशांगी रूप) गंगा नदी के आप उत्पादक होने से हे हिमवन्त महा-पर्वत तुल्य गुरुदेव ! आप विजयी बनो। अक्षीण महानसी लब्धि द्वारा पन्द्रह सौ तापसों को परम तृप्ति देने वाले, तथा अत्यन्त प्रसिद्ध अनेक लब्धियों रूप उत्तम समृद्धि से सम्पन्न, हे प्रभु ! आपकी जय हो। हे धर्मधुरा को धारण करने वाले एक वीर ! आप विजयी बनो ! हे सकल शत्रुओं को जीतने वाले गुरु देव ! आपकी जीत हो ! और सर्व आदरपूर्वक देव यक्ष और राक्षसों द्वारा वन्दन किये जाते चरण कमल वाले, हे प्रभु ! आप विजय बनें। जगत् चुड़ा-मणि श्री वीर प्रभु ने तीर्थ रूप में बतलाये हुए निर्मल छत्तीस गुणों की पंक्ति के आधारभूत, हे भगवन्त ! मेरे ऊपर कृपा करो, और हे नाथ ! मुझे गृहस्थ और साधु की आराधना की विधि विस्तारपूर्वक भेद-प्रभेद इष्टान्त और युक्ति सहित समझाओ ऐसा कहकर वह मुनि रुक गए। तब स्फुरायमान मणि समान

मनोहर दाँत की कान्ति से आकाश तल को उज्ज्वल करते हो इस तरह श्री गौतमस्वामी ने इस प्रकार कहा :—

हे देवानु प्रिय ! हे श्रेष्ठ गुण रत्नों की श्रेष्ठ खान ! हे अति विशुद्ध बुद्धि के भण्डार ! तुमने यह सुन्दर पूछा है क्योंकि—कल्याण की परम्परा से पराङ्मुख पुरुषों की सुदृष्ट परमार्थ को जानने की मनोरथ वाली बुद्धि भी कभी भी नहीं होती है। इसलिए हे निरूपम धर्म के आधारभूत दुर्धर और प्रकृष्ट ताप के भार को उठाने वाले महामुनि महसेन ! यह मैं कहता हूँ, उसे तुम सुनो। इस तरह दीक्षित महसेन मुनि ने साधु और गृहस्थ की आराधना को जिस तरह पूछा था और श्री गौतम प्रभु ने जिस तरह महसेन मुनि वरिष्ठ को कहा था उसी तरह मैं अर्थात् जैनचन्द्र सूरि सूत्रानुसार कहता हूँ।

इस जैन शासन में राग-द्वेष को नाश करने वाला और अनुपकारी भी अन्य जीवों को अनुग्रह करने में तत्पर श्री जिनेश्वर देव ने इस आराधना को शिवपंथ का परमपंथ रूप कहा है। अति गहरे जल वाले समुद्र में गिरे हुए रत्न के समान व्यवहार जय के मत अनुसार कोई जीव भाग्यदेन से यदि किसी तरह उस आराधना को प्राप्त करता है, तो उसकी नित्य उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा प्रति समय में आत्मा को विशिष्ट कार्यों में स्थिर करना चाहिए। इस तरह करने से श्री जैन शासन में प्रसिद्ध आराधना के क्रम में कुशल आत्मा को जैसे विशाल निगोद भरे तालाब में कभी कछुआ चन्द्र दर्शन प्राप्त करता है, वैसे मोक्ष प्राप्त होता है। और उसका मनुष्य जीवन सफल होता है। इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? अब जिसमें ज्ञान दर्शन-चारित्र्य और तप का निरतिचार आराधना करने की है, वह चार स्कन्ध वाली आराधना यहाँ कहते हैं। यह आराधना सामान्य और विशेष रूप से दो प्रकार की है, उसमें प्रथम सामान्य से कहते हैं :—

ज्ञान की सामान्य आराधना :—सूत्र में पढ़ने का जो समय कहा है, उस सूत्र को उस काल में ही, सदा विनय से, अतिमानपूर्वक, उपधान पुरस्सर तथा जो जिसके पास अध्ययन करना हो उसका उस विषय में निश्चय रूप अनिन्द्वणपूर्वक, सूत्र अर्थ और तदुभय को विपरीत रूप नहीं परन्तु शुद्ध रूप इस तरह ज्ञान के आठ आचार के पालनपूर्वक जो श्रेष्ठ वाचना, पृच्छना, परावर्तना, परूपणा धर्म कथा और उसी की ही परम एकाग्रता से जो अनुप्रेक्षा करना। ये पांच प्रकार का स्वाध्याय। तथा दिन में या रात्री में करना उसमें भी अकेले अथवा पर्वदा में रहकर करना उसमें भी सुखपूर्वक सोये हुए या जागृत दशा से करना, उसमें भी खड़े रहकर, बैठकर या थक जाने से कभी स्थिर-

चलित अथवा स्खलित-पतित बने हुए, स्वस्थ रहे अथवा दुस्थित, स्वतन्त्र, परतन्त्र तथा छींक, उबासी, या खांसी प्रसंग पर अथवा बहुत कहने से क्या ? जिस किसी अवस्था में रहने पर भी जिसके चित्त का उत्साह कम न होता हो उस उत्साह से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । ज्ञान का ग्रहण करना उसे धारण करना चाहिए । तत्त्व से परतन्त्रता वाला है, ऐसा समझकर सम्यग् ज्ञान गुण से युक्त ज्ञानी पुरुष रत्नों की हमेशा भक्ति सेवा अतिमान करना चाहिये । इस तरह के आठ आचार पालन, पांच प्रकार के स्वाध्याय और विनय भक्ति से उस सम्यग् ज्ञान की आराधना है ।

दर्शन की सामान्य आराधना :—जो स्वरूप से गम्भीर अर्थ वाला होने से मुश्किल से समझ आए ऐसा जीव, अजीव आदि सर्व सद्भूत पदार्थ हैं उसे अनुपकारी प्रति भी अनुग्रह करने में तत्पर परम ऐश्वर्य वाले श्री जिनेश्वर भगवान का कथन होने से वह कथंचित् अल्प बुद्धि होने के कारण समझ में नहीं आए तो भी 'वह ऐसा ही है' ऐसा भाव से हमेशा उसमें शंका बिना तथा रूप स्वीकारता है वह (१) निःशक्ति आचार जानना, तथा यह अन्य दर्शन मिथ्या है, तो भी अमुक गुणों से वह दर्शन सम्यक् है ऐसा समझ कर उसकी आकांक्षा नहीं करना वह (२) निष्कांक्षित आचार है । शास्त्रविहित क्रियानुष्ठान का फल मिलेगा या नहीं मिलेगा ? ऐसी शंका करना, तथा सूखे पसीने से मलीन वस्त्र या शरीर वाले मुनियों में दुर्गच्छा नहीं करना वह (३) निर्विचि-कित्सा आचार है । कुतीर्थियों के कुछ पूजा प्रभावना आदि अतिशय को देखकर मन में विस्मय नहीं करना, मोहमूढ़ न बनना वह (४) अमूढ़ दृष्टि आचार है । ये चार प्रकार निश्चयनय का है । धर्मात्माजनों के गुणों की प्रशंसा करके उत्साह बढ़ाना वह (५) उपवृहणा आचार है । जो गुणों से चंचल हो उसे उन गुणों में स्थिर करना वह (६) स्थिरीकरण आचार है । तथा विघ्न साधर्मिकों का यथा शक्ति जो वात्सल्य करना वह (७) वात्सल्य आचार है । और श्री अरिहंत भगवन्त कथित प्रवचन (शासन) की विविध प्रकार से प्रभावना करना उसका यश की महीमा बढ़ाना वह (८) प्रभावना आचार है । ये चार प्रकार व्यवहार नय का है । और इस निर्ग्रन्थ प्रवचन का यही अर्थ है, यही निश्चय परमार्थ है और इसके बिना सर्व अनर्थ है । इस तरह भाव से चिन्तन करना तथा निर्मल सम्यक्त्व गुणों से महान् पुरुषों का नित्यमेव जो भक्ति अति मान देना वह सर्व दर्शन आराधना जानना ।

चारित्र्य की सामान्य आराधना :—सर्व सावध (पापकारी) योग का त्यागपूर्वक सत् प्रवृत्ति करना वह चारित्र्य है और जो पांच महाव्रतों का पालन,

दस प्रकार के क्षमादि यति धर्म, पडिलेहण, प्रमार्जना आदि, तथा दस प्रकार का चक्रवाल रूप पृच्छा-प्रति पृच्छादि साधु समाचारी का पालन करना । उस चारित्र की आराधना अथवा दसविध वैयावच्च में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति में, वयालीस दोष रहित पिण्ड विशुद्धि में, तीन गुप्ति में, पांच समिति में अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रित् यथाशक्ति अभिग्रह स्वीकार करने में, इन्द्रियों के दमन करने में, और क्रोधादि कषायों के निग्रह करने में, प्रति पत्ति अर्थात् प्रतिज्ञा तथा अनित्यादि बारह भावना, और पांच महाव्रत सम्बन्धी पच्चीस भावना का हमेशा चिन्तन करना और विशेष अभिग्रह स्वीकार करने रूप बारह प्रकार की भिक्षु प्रतिमा का जो सम्यग् पालन करना तथा सामायिक, छदोष स्थापनिका, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय, तथा यथा ख्यात् ये पांच चारित्र यथा शक्ति सेवन करना तथा उत्तम चारित्र रत्न से परिपूर्ण पुरुषसिंह साधु महात्माओं के प्रति जो हमेशा भक्ति, विनय आदि करना वह सर्व चारित्र की आराधना कही है ।

ताप की सामान्य आराधना :—जिस तरह मन को खेद न हो, तथा प्रकार की शरीर की बाधा न हो, इन्द्रियों में भी इसी तरह विकलता को प्राप्त न करे, रुधिर मांस आदि शरीर की धातुओं की जिस तरह पुष्टि और क्षीणता भी न हो, तथा अचानक वात, पित्त आदि धातु दूषित भी न बने, आरम्भ किये संयम गुणों की हानि न हो, परन्तु उत्तरोत्तर उन गुणों को वृद्धि हो उस तरह से उपवास आदि छह प्रकार का बाह्य तपस्या में तथा प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार का अन्तर तप में भी प्रवृत्ति करना और 'इस लोक परलोक' के सर्व सुख की इच्छा को सर्वथा त्याग और बल, वीर्य पुरुषार्थ को हमेशा छुपाये बिना विधिपूर्वक इस तप को श्री जिनेश्वर भगवान ने आचरण किया है श्री जिनेश्वर देव ने उपदेश दिया है इसलिए तीर्थंकर पद प्राप्त कराने वाला है अतः संसार का नाशक है, नर्जरा रूप फल देने वाला है, शिव सुख का निमित्त रूप है, मन चिन्तन के अर्थ को प्राप्त कराने वाला है, दुष्कर रूप चमत्कार आश्चर्य करने वाला है, सर्व दोषों का निग्रह करने वाला है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, देवों को भी वश करने वाला है, सर्व विघ्नों का हरने वाला है, आरोग्य कारक है, और उत्तम मंगल के लिए वह तप योग्य है । ऐसा समझकर इन हेतु से बहुत प्रकार से करने योग्य होने से और परम पूज्य होने से, उसे करने का जो उद्यम करना, परम संवेग-उत्साह-आदर प्राप्त करना और विविध तप गुण रूपी मणि के रोहण गिरि समान पुरुषसिंह महातपस्वी महात्माओं के प्रति विनय सन्मान आदि करना वह सब तपाचार की आराधना कहा है ।

संक्षिप्त और विशेष आराधना का स्वरूप :—इस तरह सामान्यतया कही हुई इस आराधना की विशेष स्वरूप में भी दो भेद कहे हैं, संक्षेप और विस्तार से। उसमें विशेष आराधना भी संक्षेप में इस तरह होती है। साधु अथवा श्रावक यदि वह अत्यन्त अस्वस्थ, महा रोगी आदि होने से विस्तार सहित आराधना के लिए उसे अनुचित जानकर गुरु महाराज अत्यन्त तीव्र रोग के आघीन होने पर भी चित्त में सन्ताप को प्राप्त न किया हो और आराधना की इच्छा वाले हो ऐसे गृहस्थ और साधु की आलोचना करवाकर पाप रूप शल्य का उद्धार कराती है। और ऐसे गुरु महाराज का योग नहीं मिले तो स्वयमेव साहस का आलंबन लेकर श्रावक या साधु अपनी भूमिका के अनुसार चैत्यवन्दन आदि यथायोग्य करके, ललाट पर दोनों हाथ से अंजलि जोड़कर हृदयरूपी उत्संग में श्री अरिहंत भगवन्त को तथा श्री सिद्धों को विराजमान कर इस प्रकार बोले :—भावशत्रु को नाश करने वाले श्री अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो तथा परम अतिशयों से समृद्धशाली सर्व श्री सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ। मैं यहाँ रहकर आपको वन्दन करता हूँ, वहाँ पर रहे अप्रतिहता केवल ज्ञान के प्रकाश से वे मुझे वन्दन करते देखे। फिर विनति करे कि—मैंने पूर्व में भी निश्चय रूप में सत् क्रिया से प्रसिद्ध संविग्न और सुकृत योगी श्री सद् गुरुदेव के आगे मेरे सर्व मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किया था, तथा उनके समक्ष ही मैंने संसार रूपी पर्वत को भेदन करने में बड़ बज्र समान जीवा-जीव आदि पदार्थों की रुचि स्वरूप सम्यक्त्व को स्वीकार किया था। अभी भी उनके समक्ष भव भ्रमण का कारण रूप सम्पूर्ण मिथ्यात्व को विशेष स्वरूप से त्रिविध-त्रिविध द्वारा त्याग किया है और पुनः उनके समक्ष सम्यक्त्व को भी स्वीकार करता हूँ और उसके पूर्व में भी मुझे भाव शत्रुओं के समूह को नाश करने से सद्भूतार्थ श्रेष्ठ अरिहंत नाम के श्री भगवन्त मेरे देव हैं और साधु महाराज मेरे गुरु हैं ऐसी मेरी प्रतिज्ञा थी और अभी भी वही प्रतिज्ञा मुझे सविशेषतया बड़ बने, इस व्रतों को भी पुनः विशेष रूप स्वीकार करता हूँ तथा पूर्व में मुझे समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव था और वर्तमान में भी आपके समक्ष मेरी वह मैत्रीभाव विशेष रूप में हो। ऐसा करके फिर सर्व जीवों को मैं खमाता हूँ वे मुझे क्षमा करें, मेरी मैत्री ही है, उनके ऊपर मन से भी द्वेष नहीं है इस तरह क्षमापना करे, तथा द्रव्य क्षेत्र काल, भाव आदि के प्रति राग वह भी मैंने सर्वथा त्याग किया है, शरीर का राग भी त्याग किया है। इस तरह राग का त्याग करके भव से उद्धिग्न बना वह त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार का सकार या अनाकार पचचक्खान से त्याग करे; फिर अत्यन्त भक्तिपूर्वक

वह पंचपरमेष्ठि मन्त्र का जाप करते सद्ध्यान को करते काल करे । इस संक्षिप्त आराधना में मधुराजा और दूसरा निश्चल प्रतिज्ञा वाला सुकौशल मुनि का दृष्टान्त रूप में कहा है वह इस प्रकार से :—

मधुराजा का प्रबन्ध

जीवाजीवादि तत्त्वों को विस्तारपूर्वक जानने वाला और परम समकित दृष्टि युक्त, इतना ही नहीं, किन्तु शास्त्र में श्रावक के जितने गुण कहते हैं उन सभी गुणों से युक्त मधुरा नगरी का मधु नाम का राजा था, वह धन्य राजा एक समय क्रीड़ा के लिए परिमित सेना के साथ उद्यान में गया । वहाँ क्रीड़ा करते उसे समदेव के भाई द्वारा गुप्त रूप में जानकर शत्रुंजय नामक प्रतिशत्रु ने महान् सेना से घेर लिया, और आक्षेपपूर्वक कहा कि—यदि जीने की इच्छा हो तो भुजबल का मद छोड़कर मेरी आज्ञा को मस्तक पर चढ़ाओ । उस समय मधुराजा बोला—अरे पापी ! ऐसा बोलकर तू अभी क्यों जीता है ? ऐसा तिरस्कार करते भ्रुकुटी चढ़ाकर भयंकर बनकर बख्तर रहित शरीर वाला दर्प रूपी उद्धत श्रेष्ठ हाथी ऊपर चढ़कर वह जीवन से निरपेक्ष होकर उसके साथ युद्ध करने लगे । उस युद्ध में हाथियों के गले कटने लगे, उसमें महावत हाथियों के ऊपर से नीचे गिरने लगे, अग्रसर हाथी भी उसमें से पीछे हटने लगे, उसमें हाथी रथ आदि के बन्धन टूट रहे थे, योद्धाओं के जहाँ दाँत से होंठ कुचलते थे, जहाँ श्रेष्ठ योद्धा मर रहे थे, श्रेष्ठ तलवार उसमें टूट-फूट रही थी । डरपोक लोग वहाँ से भाग रहे थे, अंगरक्षक का उसमें छेदन हो रहा था, भाले की नोंक से जहाँ परस्पर काँख (बगल) भेदन हो रहे थे, वहाँ बहुत रथ टूट रहे थे, वहाँ परस्पर भयंकर प्रहार हो रहे थे, वह धरती सर्वत्र रुधिर से लाल बन गई थी, और कटे हुए मस्तकों से भयंकर दिखने लगी । इस तरह युद्ध द्वारा मधुराजा शत्रुपक्ष को दुःखी बना दिया, शत्रुओं के लगातार शस्त्रों का समूह फेंकने से घायल अंग बना हुआ, हाथी की पीठ के ऊपर बैठा युद्ध भूमि में से निकलकर अत्यन्त सत्वशाली मन से वैरागी बनकर मान और शोक से युक्त युक्त विचार करने लगा कि—

बाह्य दृष्टि से राज्य भोगते हुये भी निश्चय से श्री जैन वचन रूपी अमृत द्वारा वासित मेरे मन में यह मनोरथ था कि सैंकड़ों जन्मों की परम्परा का कारणभूत राज्य को आज त्याग करूँ, कुल छोड़कर और मोक्ष में हेतुभूत सर्वज्ञ कथित दीक्षा को ग्रहण करूँ, फिर उसे निरतिचार युक्त पालन करूँ, अन्तकाल में विधि अनुसार निष्पाप होने के लिए चार शरण स्वीकार, दुष्कृत

निन्दा और सुकृत अनुमोदना आदि आराधना विधिपूर्वक आराधना करूँगा, परन्तु अभी यहाँ पर प्रासुक-शुद्ध भूमि नहीं है, संथारे की सामग्री नहीं है, वैसी ही निर्यामक भी नहीं है, अहा हा ! अकाल में आकस्मिक मेरी यह कैसी अवस्था हो गई है ? अथवा ऐसी अवस्था में मुझे अब लम्बा विचार करने से क्या लाभ है ? हाथी की पीठ पर ही मेरा संथारा हो, मेरी ही आत्मा मेरा निर्यामक बने । ऐसा चिन्तन कर उसी समय उस मधुराजा ने द्रव्य, भाव शस्त्रों का त्याग किया और उसी क्षण में आत्मा को परम संवेग में स्थिर कर दिया, मुक्ति का एक लक्ष्य बना दिया, हाथी, घोड़े, रथ और मनुष्यों के समूह को, स्त्रियों को, विविध भण्डार, पर्वत नगर और गाँवों सहित सारी पृथ्वी को त्रिविध-त्रिविध रूप में त्याग किया, अट्ठारह पाप स्थानकों के सर्व समूह और सर्व द्रव्य क्षेत्र आदि के राग को भी त्याग किया । उसके बाद धर्म ध्यान में तन्मय और रौद्र-आर्त्त ध्यान का त्यागी बनकर वह बुद्धिमान राजा चिरकाल के दुष्ट आचरणों की निन्दा करके सर्व इन्द्रियों के विकारों को रोक कर अनशन विधि को स्वीकार कर सभी प्राणि-मात्र से क्षमा-याचना करते हुये, सुख दुःख आदि द्वन्द प्रति मध्यस्थ भाव रखने वाला वह राजा भक्तिपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर कहने लगा कि—भाव शत्रुओं का विनाश करने वाले सर्वज्ञ श्री अरिहंत देवों को मेरा नमस्कार हो, कर्म के समूह से मुक्त सर्व सिद्धों को मेरा नमस्कार हो, नमस्कार हो ! धर्म के पाँच आचारों में रक्त आचार्य महाराज को मैं नमस्कार करता हूँ, सूत्र के प्रवर्तक श्री उपाध्यायों को नमन करता हूँ और क्षमादि गुणों से युक्त सर्व साधुओं को भावपूर्वक नमस्कार करता हूँ । इस तरह पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करते वह मर गया और शुभप्राणिधान के प्रभाव से वहाँ से सात सागरोपम के आयुष्य वाला तीसरे सनत्कुमार देवलोक में देदीप्यमान शरीर वाला देव हुआ । इस मधुराजा का वर्णन संक्षेप से कहा, अब सुकौशल महामुनि का वर्णन कहते हैं ।

सुकौशल मुनि की कथा

साकेत नामक महान् नगर में कीर्तिधर नाम से राजा राज्य करता था उसे सहदेवी नाम की रानी और उसका सुकौशल नामक पुत्र था । अन्य किसी दिन वैराग्य प्राप्त कर राजा ने सुकौशल का राज्याभिषेक करके सद्गुरु के पास में संयम लिया, ज्ञान क्रिया रूप ग्रहण और आसेपन दोनों प्रकार की शिक्षा को सम्यग् उपयोग पूर्वक आराधना करते वह गाँव, नगर आदि में ममता रहित विचरने लगे । एक समय उन्होंने साकेतपुर में भिक्षार्थ प्रवेश

किया और उसकी रानी सहदेवी ने उसे देखकर 'मेरे पुत्र को गलत समझाकर यह साधु न बना दे'। ऐसा चिन्तन कर उसने कीर्तिधर महामुनि को सेवक द्वारा नगर से निकाल दिया, इससे 'अरे रे ! यह पापिनी अपने स्वामी का भी अपमान क्यों कर रही है ?' इस तरह अत्यन्त शोक से उसकी धायमाता गद्-गद् स्वर से रोने लगी, उस समय सुकौशल ने पूछा—माता जी ! आप क्यों रो रही हैं ? मुझे बतलाइये । उसने कहा—हे पुत्र ! यदि तुझे सुनने की इच्छा हो तो कहती हूँ—जिसकी कृपा से यह चतुरंग बल से शोभित राजलक्ष्मी को तूने प्राप्त की है वे प्रवर राजर्षि कीर्तिधर राजा चिरकाल के पश्चात् यहाँ आए हैं, उसे हे पुत्र ! तुरन्त वैरी के समान यह तेरी माता ने अभी ही नगर से बाहर निकाल दिया है । इस प्रकार का व्यवहार किसी हल्के कुल में भी नहीं दिखता है, जब तीन भवन में प्रशंसा पात्र तेरे कुल में यह एक आश्चर्य हुआ है । हे पुत्र ! अपने मालिक को इस प्रकार का पराभव देखकर भी अन्य कुछ भी करने में असमर्थ होने से मैं रोकर दुःख को दूर कर रही हूँ । उसे सुन कर आश्चर्यचकित होते हुए सुकौशल राजा पिता को वन्दन करने के लिए उसी समय नगर के बाहर निकल गया, अन्यान्य जंगलों में स्थिर दृष्टि से देखते उसने एक वृक्ष के नीचे काउस्सग ध्यान में कीर्तिधर मुनि को देखा, तब परम हर्ष आवेश से विकस्वर रोमांचित वाले वह सुकौशल अत्यन्त भक्ति-पूर्वक पिता मुनि के चरणों में गिरा और कहने लगा कि—हे भगवन्त ! आपके प्रिय पुत्र को अग्नि से जलते घर में रखकर पिता को चले जाना क्या योग्य है ? कि जिससे हे पिताजी ! आप मुझे हमेशा जरा, मरण रूप अग्नि की भयंकर ज्वालाओं के समूह से जलते हुए इस संसार को छोड़कर दीक्षित हुए ? अभी भी हे तात् ! भयंकर संसार रूप कुँ के विवर में गिरे हुए मुझे दीक्षा रूपी हाथ का सहारा देकर बचाओ, इस तरह उसका अत्यन्त निश्चल और संसार प्रति परम वैराग्य भाव देखकर कीर्तिधर मुनिराज ने उसे दीक्षा दी ।

सुकौशल को दीक्षित बने जानकर अति दुःखार्त बनी सहदेवी महल में से गिरकर मर गई और मोगिल नामक पर्वत में शेरनी रूप उत्पन्न हुई, इधर वे मुनिवर्य तप में निरतिचार संयम में उद्यम करते और दुःसह महापरोषहों रूपी शत्रुओं के साथ युद्ध में विजय द्वारा जय पताका को प्राप्त करते अप्रति-बद्ध विहार से विचरते उसी ही श्रेष्ठ पर्वत में पहुँचे, वहाँ उन्होंने वर्षाकाल प्रारम्भ किया, इससे पर्वत की गुफा के मध्य में स्वाध्याय ध्यान में दुर्बल शरीर वाले उन्होंने चातुर्मास रहकर शरदकाल में निकले, उन्हें जाते हुए देखकर

पूर्व के वर से अति तीव्र क्रोध वाली बनी वह शेरनी सहसा उनके सामने दौड़ी, उसे आते देखकर महोत्सव वाले, अक्षुब्ध मन वाले मुनियों ने भी आनन्द से 'श्वपाद का यह तीव्र उपसर्ग उपस्थित हुआ है' ऐसा मानकर सागर पच्यक्खान करके अदीन और धीर मन वाले, उन्होंने दोनों हाथ लम्बे कर नाक के अग्रभाग में दृष्टि जोड़कर मेरू के समान अचल जब काउत्सगग करके खड़े रहे, तब शेरनी ने आकर सुकौशल मुनि को शीघ्र पृथ्वी पर गिरा दिया और उसका भक्षण करना आरम्भ किया तब उस उपसर्ग को सम्यग् रूप से सहन करते उस महात्मा ने इस प्रकार चिन्तन किया कि—शारीरिक और मानसिक दुःखों से भरे हुए संसार में जीवों को उन दुःखों के साथ योग होना सुलभ है, अन्यथा इस संसार में पाँच सौ साधु सहित खंघकाचार्य घानी में पिलाकर अत्यन्त पीड़ा से क्यों मर गये ? अथवा काउत्सगग में रहे और तीन दण्ड के त्यागी दण्ड साधु का शीर्ष अति रुष्ट बने यवन राजा बिना कारण से क्यों छेदन करे ? इसलिए इस भव समुद्र में आपदाएँ अति सुलभ ही हैं, परन्तु सैंकड़ों जन्मों के दुःखों को नाश करने वाला जैन धर्म ही दुर्लभ है। चिन्तामणी के समान, कामधेनु के समान और कल्पवृक्ष के समान वह वह दुर्लभ प्राप्ति वाला धर्म भी पुण्य के संयोग से महा मुश्किल से मुझे मिला है। इस प्रकार धर्म प्राप्ति होने से अनादि संसार में अतिचार रूप दोषों से रहित और सदाचरण रूप गुणों से श्रेष्ठ मेरा यह जन्म ही सफल है। केवल एक ही इस चिन्ता को दुःख रूप है कि जो मैं इस शेरनी के कर्म बन्धन में कारण रूप बना हूँ। अतः जिन-जिन मुनियों ने अनुत्तर मोक्ष को प्राप्त किया है उनको मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि वे अन्य जीवों के कर्म बन्धन के कारण नहीं बने हैं। मैं अपनी आत्मा का शोक नहीं करता हूँ परन्तु कर्म से परतन्त्र श्री जिन वचन से रहित मिथ्यामति वाली दुःख समुद्र में पड़ी हुई यह शेरनी का शोक करता हूँ। ऐसा चिन्तन मनन करते उनका शरीर कर्ममल और उस जन्म का आयुष्य परस्पर स्पर्द्धा करते हों इस तरह तीनों एक साथ में ही सहसा क्षीण हो गये। इससे उत्तरोत्तर बढ़ते ध्यानरूपी अग्नि से सकल कर्मबन जल जाने से अंतकृत केवली होकर महा सत्त्वान् सुकौशल राजर्षि ने एक समय में सिद्धि गति प्राप्त की, अथवा उत्तम प्राणिधान में एक बद्ध लक्ष्य वालों को क्या दुःसाध्य है ? भयानक बीमारी या महा संकट के समय साधु और गृहस्थ संबंधी कर्म का नाश करने वाली यह संक्षेप वाली विशेष आराधना को कहा है।

विस्तृत आराधना का स्वरूप :—और अति सुबद्ध सुन्दर नगर के समान विस्तृत आराधना के यह मूल चार द्वार हैं (१) परिकर्म विधि, (२) परगण में

संक्रमण, (३) ममत्व का उच्छेद और (४) सभाधि लाभ । वे चारों द्वार क्रमशः यथार्थ रूप कहेंगे । इसलिए प्रस्तुत अर्थ आराधना के विस्तार की प्रस्ताव करने में ये चार मुख्य होने से वे मूल द्वार हैं और इन चार द्वारों में योग्यता लिंग शिक्षा आदि नाम वाले प्रति द्वार हैं और उसके अनुक्रम से पन्द्रह, दस, नौ और नौ प्रति द्वार हैं । उसका वर्णन फिर उस द्वार में विस्तृत विवरण प्रसंग पर करेंगे, केवल ये द्वार की अर्थ-व्यवस्था (वर्णन पद्धति) इस तरह कही है परिकर्म विधि द्वार में 'अहं द्वार आदि त्याग द्वार' तक जो वर्णन करेंगे, उसमें कहीं-कहीं पर गृहस्थ साधु दोनों सम्बन्धी, और कहीं पर दोनों का विभाग कर अलग-अलग रूप कहेंगे, उसके बाद मरण विभक्ति द्वार से प्रायः साधु के योग्य ही कहेंगे, क्योंकि श्रावक भी उसको विरति की भावना जागृत होने से उत्कृष्ट श्रद्धा वाले अन्त में निरवध प्रव्रज्या ग्रहण करके काल कर सकता है, इसलिए उसे अब आप सुनो । इस विषय में अब अधिक कहने से क्या प्रयोजन ?

अतिचार रूपी दोष से रहित निर्दोष आराधना को अंतकाल में अल्प पुण्य वाला नहीं प्राप्त कर सकता है । क्योंकि जैसे ज्ञान, दर्शन का सार शास्त्र में कहा हुआ उत्तम चारित्र्य है, और जैसे चाग्रि का सार अनुत्तर मोक्ष कहा है जैसे मोक्ष का सार अव्याबाध सुख कहा है वैसे ही समग्र प्रवचन का भी सार आराधना कहा है, चिरकाल भी निरतिचार रूप में विचरण कर मृत्यु के समय में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की विराधना करने वाले अनन्त संसारी होते हुए देखे हैं । क्योंकि बहुत आशातनाकारी और ज्ञान चारित्र्य के विराधक का पुनः धर्म प्राप्ति में उत्कृष्ट अन्तर अर्धे पुद्गल परावर्तन असंख्यकाल चक्र तक कहा है, और मरने के अन्त में माया रहित आराधना करने वाली मरुदेवा आदि मिथ्या दृष्टि भी महात्मा सिद्ध हुए भी दिखते हैं । वह इस प्रकार :—

श्री मरुदेवा माता का दृष्टांत

नाभि राजा के मरुदेवा नामक पत्नी थी, वह ऋषभदेव प्रभु ने दीक्षा लेने के शोक से संताप करती हुई हमेशा आंसु झरने के प्रवाह से मुख कमल को धोती हुई रो रही थी और कहती कि—मेरा पुत्र ऋषभ अकेला घूम रहा है, श्मशान, शून्यधर, अरण्य आदि भयंकर स्थानों में रहता है और अत्यन्त निर्धन के समात घर-घर पर भीख मांग रहा है और यह उसका पुत्र भरत घोड़े, हाथी, रथ वगैरह उत्कृष्ट सम्पत्ति वाला तथा भय से नम्रता युक्त सामन्तों के समूह वाला राज्य भोग रहा है । हा ! हा ! हताश ! हत विधाता ! मेरे पुत्र को ऐसा दुःख देने से हे निर्घृण ! तुझे कौन-सी कीर्ति या कौन से फल की प्राप्ति

होने वाले हैं ? इस तरह हमेशा विलाप करती और शोक से व्याकुल बनकर रोती उसकी आँखों में मोतिया आ गया ।

जब त्रिभवन के एक प्रभु श्री ऋषभदेव को विमल केवल ज्ञान का प्रकाश प्रगट होने से देवों ने मणिमय सिंहासन से युक्त समष सरण की रचना की, तब केवल ज्ञान की उत्पत्ति को सुनकर मरुदेवी के साथ हाथी के ऊपर बैठकर प्रभु को वन्दनार्थ के लिए आते भरत महाराजा जगद् गुरु का छत्रातिछत्र आदि ऐश्वर्य देखकर विस्मयपूर्वक कहने लगा कि—हे माताजी ! सुर, असुरादि तीनों जगत से पूजित चरण कमल वाले आपके पुत्र को और जगत के आश्चर्यकारक उनका परम ऐश्वर्य को देखो ! आप आज तक जो मेरी ऋद्धि की आदर से प्रशंसा करते हैं, वह तुम्हारे पुत्र की ऋद्धि से एक करोड़वाँ भाग के भी गिनती में नहीं है । हे माता जी ! देखो यह ऋद्धि, तीन छत्ररूपी चिह्नों से शोभता बड़ा शाखाओं वाला मनोहर अशोक वृक्ष है, और तीन भवन की शाभा विस्तारपूर्वक बताने वाला रम्य यह प्रभु का आसन है । हे माता जी ! देखो । पंचवर्ण के रत्नों से राचित द्वार वाला, चाँदी, साना और मणि के तीन गढ़ से सुन्दर तथा घुटने तक पुष्पों का समूह से भूषित समवसरण की यह भूमि है । और हे माता जी ! एक क्षण के लिए ऊपर देखो ! आते-जाते देवों के समूह से शोभता और विमान को पंक्तियों से आकाश मण्डल ढक गया है, और यह आकाश दुंदुभि की आवाज से व्याप्त होकर गूँज उठा है । हे माता जी ! देखो, इस तरफ इन्द्रों का समूह मस्तक को नमस्कार प्रभु की स्तुति करते हैं, देखो । इस तरफ अप्सराएँ नाच रही हैं, और ये किन्नर हर्षपूर्वक गाने गा रहे हैं ।

भरत महाराजा की बातें सुनकर और जैनवाणी का श्रवण करने से हर्ष प्रगट हुआ, हर्ष समूह से नेत्रपटल आनन्दाश्रुजल से धुल कर साफ हो गए, निर्मल नेत्रों वाली मरुदेवी ने छत्रातिछत्र आदि ऋषभदेव की ऋद्धि देखकर मोह समाप्त हो गया, और शुभध्यान को प्राप्त करने से उसके सब कर्म खत्म हो गये । उसी समय उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया । इस अवसर्पिणी-काल में मरुदेवी माता ने सर्वप्रथम शिव सुख की सम्पत्ति प्राप्त की । इस तरह अन्तिम आराधना मोक्ष के सुख का कारणभूत है ।

यह सुनकर संशय से व्याकुल चित्तवाला बना हुआ शिष्य गुरु को विनयपूर्वक नमस्कार करके पूछा कि—यदि प्रवचन का सार मुनिवरों को मृत्यु के समय में वह आराधना करनी है तो अभी शेषकाल में तप, ज्ञान, चारित्र्य में क्यों प्रयत्न-कष्ट सहन करते हैं । गुरु महाराज ने कहा—उसका कारण यह है

कि—यावज्जीव प्रतिज्ञा का पालन करना उसे आराधना कहा है, प्रथम उसका भंग करे तो मृत्यु के समय उसे वह आराधना कहाँ से प्राप्त होगी ? अतः मुनियों को शेषकाल में भी यथार्शक्ति दृढ़तापूर्वक अप्रमत्त भाव से मृत्यु तक आराधना करते रहना चाहिए जैसे हमेशा जपा हुई विद्या मुख्य साधना बिना सिद्ध नहीं होती है वैसे हा जीवन पर्यन्त आराधना भी प्रवज्या रूप विद्या मरणकाल में आराधना बिना सिद्ध नहीं होती है । जैसे पूर्व में क्रमशः अभ्यास न किया हो ऐसा सुमट यद्यपि युद्ध में वह समर्थ हो, फिर भी शत्रु सुमटों की लड़ाई में वह युद्ध क आगे जय पताका को प्राप्त नहीं कर सकता है, वैसे पूर्व में शुभयोग का अभ्यास न किया हो वह मुनि भी उग्रपरीषद के संकट युक्त मृत्युकाल में आराधना की निर्मल विधि को नहीं प्राप्त कर सकता है, क्योंकि निपुण अभ्यासा भी अत्यन्त प्रमादी होने के कारण स्वकाये को सिद्ध नहीं कर सकता, तो मृत्यु के समय कैसे सिद्ध कर सकेगा ? इस विषय में विरति की बुद्धि से भृष्ट हुए क्षुल्लक मुनि का दृष्टान्त देते हैं वह इस प्रकार है :—

आराधना विराधना के विषय में क्षुल्लक मुनि की कथा

महिमण्डल नामक नगर था । उसक बाहर उद्यान में ज्ञानादि गुण रूप रत्नों क भण्डार रूप श्री धर्म धाष सूरारध्वर जो महाराज पधारै । उनका निर्मल गुण वाल पाँच सा मुनया का पारवार था, देवा घिरे हुए इन्द्र शोभता है वैसे शिष्यो से घिरे हुए वे शाश्वते थे, फिर भी समुद्र में बड़वा तल समान, देवपुरी में राहु के सदृश, चन्द्र समान उज्ज्वल परन्तु उस गच्छ में संताप कारक, भयंकर, अति कलुषित बुद्धि वाला, निधर्मो, सदाचार और उपशम गुण बिना का, केवल साधुओं को असमाधि करने वाला रुद्र नाम का एक शिष्य था । मुनिजन के निन्दापात्र कार्यों को बारम्बार करता था । उसे साधु करुणा-पूर्वक मधुर वचनों से समझाते थे कि—हे वत्स ! तूने श्रेष्ठ कुल में जन्म लिया है, तथा उत्तम गुरु ने दीक्षा दी है, इसलिए तुझे निन्दनीय कार्य करना वह अयुक्त है । ऐसे मीठे शब्दों से रोकने पर भी जब वह दुराचार से नहीं रुका, तब फिर साधुओं ने कठोर शब्दों में कहा कि—हे दुःशिक्षित ! हे दुष्टाशय ! यदि अब दुष्ट प्रवृत्ति करेगा तो धर्म-व्यवस्था के भंजक (नाश करने वाले) तुझे गच्छ में से बाहर निकाल दिया जायेगा । इस तरह उलाहना से रोष भरे उसने साधुओं को मारने के लिये सभी मुनियों के पीने योग्य पानी के पात्र में उग्र जहर डाल दिया । उसके बाद प्रसंग पड़ने पर जब साधु पीने के लिए उस पानी को लेने लगे तब उनके चारित्र्य गुण से प्रसन्न बनी देवी ने कहा कि ओ

मुनियों ! इस जल में रुद्र नामक तुम्हारे दुष्ट शिष्य ने जहर डाला है, इस कारण से इसे कोई पीना नहीं । यह सुनकर भ्रमणों ने उसी समय दुष्ट शिष्य और उस पानी को त्रिविध-त्रिविध त्याग किया ।

उसके बाद मुनिजन को मारने के अद्यवसाय से अत्यन्त पाप उपार्जन करने से महाभारी कर्मी वह उसी जन्म में ही अति तोत्र रागीकुल शरीर वाला बना, भगवती दोक्षा छोड़कर इधर-उधर घर में रहता हुआ, बहुत पाप कर्म की बुद्धि वाला बिना, भिक्षा वृत्ति से जीता मनुष्यों के मुख से 'यह दीक्षा भ्रष्ट है, अदर्शनीय है, अत्यन्त दुष्ट चेष्टा वाला है' ऐसे शब्दों से प्रत्यक्ष अपमानित होता, आहट्ट दोहट्ट को प्राप्त करता, स्थान-स्थान पर रोद्र ध्यान को करते, व्याधियों रूपी अग्नि से व्याकुल शरीर वाला, अति क्रूर मति वाला, मरकर सर्व नारकियों के प्रायाग्य पाप बन्ध में एक हेतु भूत अत्यन्त तुच्छ और निदनीय तिर्यच का विविध यानियों में, वहाँ से पुनः प्रत्येक भव में एकान्तरित तिर्यच की अन्तर गतिपूर्वक अर्थात् बोच-बाच में अति ताक्ष्ण लाखों दुःखों का स्थान स्वरूप धम्मा, वंशा, शैला आदि सातों नरक पृथ्वीओं में उस नरक के उत्कृष्ट आयुष्य का बन्धन करते अनुक्रम से उत्पन्न हुआ । उसके बाद जलचर, स्थलचर खेचर की योनियों में अनेक बार उत्पन्न हुआ, फिर द्वौद्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति में भी विविध प्रकार को बहुत योनियों के अन्दर अनेक बार उत्पन्न हुआ, वहाँ से जल, अग्नि, वायु और पृथ्वाकाय में असंख्य काल तक उत्पन्न हुआ, इस तरह वनस्पतिकाय में भी उत्पन्न हुआ वहाँ अनन्तकाल तक उत्पन्न हुआ । उसके बाद मनुष्य होने पर भी बर्बर अनाय, नोच, चंडाल, भिल्ल, चमार, घोबो आदि योनियों में उत्पन्न हुआ प्रत्येक जन्म में भी मनुष्यों का द्वेष पात्र बना था और अति दुःखी हालत में जीवन व्यतीत करता था । तथा कई शस्त्र से चोरा जाता, कई पत्थर से चूर होता, तो कहीं पर रोग से दुःखी होता, कहीं पर बिजली से जलता, कभी मछोमार मारता, कहीं पर ज्वर से मरता, कहीं अग्नि से जलता कभी गांठ बन्धन या फांसी से मरता, कभी गर्भपात से मरता, कभी शत्रु से मरता, कभी यन्त्र में पिलाया जाता, कभी शूली को चढ़ाते, कभी पानी में डुबता, कहीं गड्ढे में फँका जाता, इत्यादि महा दुःखों को सहन करते बार-बार मृत्यु के मुख में गया ।

इस तरह अनेक जन्मों की परम्परा तक दुःखों को सहन करने से पाप कर्म हल्के और कषाय कम होने से चूर्णपुर नामक श्रेष्ठ नगर में वैश्रमण सेठ की गृहिणी वसुभद्रा नामक पत्नी की कुक्षी से पुत्र रूप जन्म लिया और नियत

समय पर उसका गुणाकर नाम रखा। वह शरीर और बुद्धि के साथ बढ़ने लगा। उसके पश्चात् किसी एक दिन वहाँ श्री तीर्थंकर परमात्मा पधारे, वहाँ मनुष्य और गुणाकर भी उसी समय उनको वन्दन के लिए गया, और जगत्नाथ को वन्दन कर वह पृथ्वी पीठ पर बैठा। फिर प्रभु ने हजारों संशय को नाश करने वाली, शिव सुख को प्रगट करने वाली, कुदृष्टि मिथ्यात्व और अज्ञान को दूर करने वाली, कल्याण रूपी रत्नों को प्रगट करने के लिए पृथ्वी तुल्य उपदेश दिया। इससे अनेक मनुष्यों को प्रति बोध हुआ। कईयों ने विगति धर्म स्वीकार किया, और कईयों ने मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व को स्वीकार किया। फिर अति हर्ष के समूह से रोमांचित देहवाला वह गुणाकर उचित प्रसंग प्राप्त कर जगद् गुरु को नमस्कार करके इस प्रकार कहा कि— हे भगवन् ! पूर्व जन्म में मैं कौन था ? इस विषय में मुझे जानने की बहुत तीव्र इच्छा है, अतः आप कहिए। जगत्प्रभु ने उसे हितकर जानकर रुद्र नामक क्षुल्लक साधु के भव से लेकर उसके सारे पूर्व भवों का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कहा। उसे सुनकर भय से व्याकुल मन वाला हुआ और गाढ़ पश्चाताप जागृत होने से वह बोला— हे नाथ ! इस महागप का क्या प्रायश्चित्त होगा ? जगत् गुरु ने कहा— हे भद्र ! साधु के प्रति बहुमान आदि करने के बिना अन्य किसी तरह मे शुद्धि नहीं है। इस भयंकर संसार से भयभीत बने उसने पाँच सौ साधुओं को वंदन आदि विनय कर्म करने का अभिग्रह किया और यथोक्त विधि से वह उसे पालन करने लगा, और जिस दिन पूरे पाँच सौ साधु का संयोग नहीं मिले उस दिन वह भोजन का त्याग करता था। इस तरह छह महीने अभिग्रह को पाल कर अन्तिम में देह की संलेखनापूर्वक मरकर पाँचवें ब्रह्मदेव लोक में देव रूप उत्पन्न हुए।

वहाँ भी अवधि ज्ञान के बल से भूतकाल का वृत्तान्त जानकर तीर्थंकर और साधुओं को वंदन आदि प्रवृत्ति करते उसने देवभव पूर्ण करके, वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर चम्पापुरी में राजा चन्द्र राजा का पुत्र रूप में जन्म लिया, वह बुद्धिमान वहाँ भी पूर्वभव में साधुओं के प्रतिद्वंद्व पक्षपाती होने से पूज्य भाव से मुनिगों को देखकर जाति स्मरण ज्ञान को प्राप्त किया और सन्तोष का अनुभव करने लगा। इससे ही माना पिता ने उसका नाम प्रिय साधु रखा, फिर युवावस्था में उसने संयम स्वीकार किया, वहाँ भी समस्त तपस्वी साधु की सेवा आदि करने में तत्पर बना, विविध अभिग्रह स्वीकार करने में एक लक्ष्य वाला और अप्रमादी वह जीवन पर्यन्त तक संलेखना करके अनुक्रम से

शुक्र (सहस्रार) आदि देवलोक के दैवी सुखों का अनुभव करके यावत् सर्वार्थ सिद्ध में सर्वोत्कृष्ट सुख भोगकर, यहाँ मनुष्य जन्म को प्राप्त कर दीक्षा अंगी-कार की, और निखध आराधना की विधि यथार्थ रूप पालन करने लगा, और मोहरूपी योद्धाओं का पराभव करके संसार का निमित्त भूत कर्मों के समूह को खत्म कर दिया, इससे सुर-असुरों से महिमा गाने वाले हिम समान उज्ज्वल शिवपुर को प्राप्त किया है। इस तरह क्षुल्लक मुनि के समान दीक्षा लेने वाले और दक्ष भी प्रमादी साधु आराधना विधि पालन नहीं कर सकते हैं। और इस क्षुल्लक से समान पालन करना तथा जो प्रत्येक जन्म में श्रेष्ठ साधु जीवन पालन करता है वह लीला मात्र से आराधना द्वारा विजयलक्ष्मी को प्राप्त करता है। इस प्रकार मरुदेवी आदि दृष्टान्त से प्रमाद नहीं करना चाहिए, परन्तु निष्कलंक दीक्षा का पालन यह मृत्यु समय की आराधना का कारण होने से उसका पालन नित्यमेव करना चाहिए।

यह सुनकर शिष्य ने कहा कि—‘पूर्व में साधु जीवन की साधना नहीं करने पर भी निश्चय से मरुदेवी माता सिद्ध हुए हैं’ ऐसा कहा है उसमें क्या परमार्थ है? गुरु महाराज ने कहा—पूर्व में उसका चित्त धर्म वासित न हो, ऐसा कोई जीव यद्यपि मरणांत आराधना करे, तो भी स्नात विधि के दृष्टान्त से वह सर्व के लिए प्रमाणभूत नहीं है। वह दृष्टान्त इस प्रकार :—जैसे किसी पुरुष ने कील गाड़ने के लिए जमीन में खड्डा खोदा कथमपि दैव योग से रत्न का खजाना मिल गया, तो क्या उसके बिना अन्य किसी भी कारण से किसी स्थान पर जमीन पर खड्डा खोदने से खजाना मिल जायेगा? अर्थात् नहीं मिल सकता है। अतः सर्व विषय में एकान्त नहीं है। यद्यपि वह मरुदेवी पूर्व जन्म में कुशल धर्म के अभ्यासी नहीं थे फिर भी कथंचित् सिद्ध हो गये हैं, तो क्या इसी तरह सर्वजन सिद्ध हो जायेंगे? ऐसा नहीं होगा। इसलिए मरुदेवी आदि के दृष्टान्त से प्रमाद नहीं करना। जो मूल प्रतिज्ञा-नियमों का पालन करते और क्रमशः बढ़ते शुभ भावना वाला हो वह अन्तिम आराधना कर सकता है। ऐसा समझना चाहिये।

विधिपूर्वक परिपूर्ण आराधना करने की इच्छा वाले मुनि अथवा श्रावक को रोगी के समान सर्वप्रथम आत्मा को परिकर्मित अर्थात् दृढ़ अभ्यासी बनना चाहिए, इस कारण से विशेष क्रियाथियों के लिए पहले कहा हुआ परिकर्म विधान नाम का मुख्य द्वार बतलाया है। उसमें, उस द्वार के साथ में सम्बन्ध रखने वाला, उसके समान गुण वाला जो पन्द्रह अन्तर्गत द्वार हैं, उसे क्रमशः

कहता हूँ—(१) अर्हद्वार, (२) लिंग द्वार, (३) शिक्षा द्वार, (४) विनय द्वार, (५) समाधि द्वार, (६) मनोनुशास्ति द्वार, (७) अनियत विहार द्वार, (८) राज द्वार, (९) परिणाम द्वार, (१०) त्याग द्वार, (११) मरणविभक्ति द्वार, (१२) अधिगत (पंडित) मरण द्वार, (१३) श्रेणि द्वार, (१४) भावना द्वार और (१५) संलेखना द्वार हैं उनका वर्णन क्रमशः कहते हैं—

अर्हद्वार—अर्ह अर्थात् योग्य माने यहाँ आराधना करने में योग्य समझना। इसमें सामंत, मन्त्री, सार्थवाह, श्रेष्ठ या कौटुम्बिक आदि अथवा राजा, स्वामी, सेनापति, कुमार आदि किसी में से अथवा उस राजादि का अविरुद्धकागि अन्यतर कोई कार्य तथा उनके विरोधियों के संसर्ग का वह त्यागी होता है और जो आराधक साधुओं को चिन्तामणी तुल्य समझकर उनका सन्मान करता है, ऐसे इह अनुरागी उन साधुओं की सेवा करने के लिये अत्यर्थ प्रार्थना करता है और आराधना के योग्य अन्य आत्माओं के प्रति भी वह हमेशा वात्सल्य करता है और प्रमादी जीवों को धर्म आराधना की दुर्लभता है ऐसा मानता है। और मृत्यु इष्ट भाव में विघ्नरूप है, ऐसा नित्य विचार करे और उसे रोकने का साधन आराधना ही है ऐसा चिन्तन करे। हमेशा उद्यमशील उत्साहपूर्वक श्री अग्रिहंत भगवान की पूजा सत्कार करे और गुणरूपी मणि के टोकरी स्वरूप उनके गुणों से गुरुत्व का विचार करे। प्रवचन की प्रशंसा में रक्त रहे, धर्म निन्दा से रुक जाए, और गुण से सहानु गुरु की भक्ति में हमेशा शक्ति अनुसार तैयार रहे। सुन्दर मन वाले मुनियों को अति तरह से वन्दन करे, अपने दुश्चरित्र की अच्छी तरह निन्दा करे, गुण से सुस्थिर गुणी आत्माओं में राग करे, सदा शील और सत्य के पालन करने में तैयार रहे। कुसंग का त्याग करे, सदाचारियों के साथ में संसर्ग करे, हमेशा परगुणों को ग्रहण करे, फिर भी उसमें दोषों को नहीं देखे। प्रमादरूपी दुष्ट पिशाच को नाश करे, इन्द्रियों रूपी सिंहों को वश में करे, और अत्यन्त दुष्ट प्रवृत्ति वाला, दुराचारी मनरूपी बंदर का ताड़न करे, ज्ञान को सुने, ज्ञान को स्वीकार करे, ज्ञानपूर्वक कार्य करे, अधिक ज्ञानी प्रतिराग करे, ज्ञानदान में बारम्बार तैयार रहे। नियम अकुशल के क्षयोपशम वाला और कुशल के अनुबन्धन वाला हो, गुणों की सत्तावाला गुणी आत्मा ही आराधना को योग्य जानता है।

कुमति के पन्थ में सहायक अपने कषायों को किसी भी तरह से जीतकर प्रशान्त मन वाला, जो दूसरों के कषायों को भी प्रशान्त करता है, वह आराधना के योग्य जानना। क्योंकि उपशम भाव को नहीं प्राप्त करने वाला, कषाय वाला भी अन्य के कषायों के उपशान्त करने के शुभभाव से सम्यग्

उपाय करने वाला आराधना की योग्यता को प्राप्त कर ही सकता है। आराधना करने वाले को भी कषाय रूपी शल्य का उद्धार करना चाहिए। वह आराधना करके पूर्व में प्रथम से ही उसे शल्य रहित तो वह भी आराधना के योग्य जानना। ऋण देने के कारण जो अन्य लेनदार को मान्य न हो वह और लेनदार मान्य हो वह भी, यदि किसी भी रूप में व्यापारी गण की अनुमति हो तो वह आराधना के लिए योग्य है। अन्यथा आराधना में रहे हुए और संघ उसे मान्य करता हो उसके प्रति लेनदार को प्रद्वेष होने से प्रवचन की मजिबता होती है। और जिसको सन्मान और उपदेश देकर अपने-अपने परिवार को आजीविकादि में स्थिर किया हो, ऐसे परिवार को छोड़ने वाला निश्चय ही आराधना करने योग्य है। अन्यथा लोक में निन्दा होती है और सर्वथा आजीविका के प्रबन्ध में सामर्थ्य के अभाव में भी विशिष्ट धार्मिक लोगों की यदि अनुमति हो अर्थात् हम अपना किसी तरह गुजर-बसर करेंगे इस प्रकार छोड़ने वाला आराधक समझना, तो परिवार को जैसे-तैसे छोड़ने वाला भी आराधना के योग्य जानना। तथा प्रकृति से जो विनीत हो, प्रकृति से ही एक साहसिक हो, प्रकृति से अत्यन्त कृतज्ञ और संसारवास निर्गुण हो, उस कारण से संसारवास से वैरागी बना हो, स्वभाव से ही अल्प हास्य वाला हो, स्वभाव से ही अदीन और प्रकृति से ही स्वीकार किए कार्य को पूर्ण करने में शूरवीर हो, तथा जिसने पाप का त्याग किया हो, आराधना में रहने वाला, अन्य आराधना को सुनकर या देखकर जो उनकी भक्ति में प्रेमी बन वाला होता है। मैं भी श्री सर्वज्ञ कथित विधिपूर्वक क्रमशः आचरण करते पूर्ण साधुता को प्राप्त कर पुण्य से ऐसा सुमाधु कब, किस तरह होऊँगा ? इस तरह अपने आत्मा में चिन्तन करने वाला, भावना से श्रेष्ठ बुद्धिमान स्थिर शान्त प्रकृति वाला, और जो शिष्टजन के सन्मान पात्र हो, उसे आराधना के योग्य जानना चाहिए। अथवा पूर्व में अत्यन्त उग्र मन, वचन, कथा की प्रवृत्ति वाला, क्रूरकर्मों, हमेशा मदिरा पान करने वाला, गन्ना आदि मादक वस्तु का आसेवन करने वाला, पान और मांस का भोजन करने में लालची मन वाला, स्त्री, बाल, वृद्ध की हत्या करने वाला, चोरी और परस्त्री सेवन में तत्पर, असत्य बोलने में प्रेम रखने वाला, तथा धर्म की हँसी करने वाला भी पीछे से कोई भी वैराग्य का निमित्त प्राप्त कर पछतावा करने वाला परम उपशम भाव को प्राप्त करने वाला, वह शुभाशय वाला, धीर पुष्प भी राजपुत्र वंकबल तथा चित्रातिपुत्र आदि के समान निश्चय ही आराधना के योग्य है। वह इस प्रकार है —

वंकचूल की कथा

यथास्थान पर रचना किये हुए तीन रास्ते, चार मार्ग, बाजार, मन्दिर और भवनों से स्मरणीय श्रीपुर नाम का नगर था। उसमें विमलसेन नाम का राजा राज्य करता था। युद्ध में शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थल भेदन करने से लगे हुए रुधिर के बिन्दुओं से उदभट कान्ति वाला उसकी तलवार मानो अत्यन्त कुपित हुई यम की कटाक्ष हो ऐसी दिखती थी जबकि दूसरी ओर मणिमय मुकुट की किरणों से अलंकृत उसका मस्तक भक्तिवश जिन मुनियों के चरण कमलों में भ्रमर जैसा बन जाता था। उस राजा के निरूपम रूप आदि गुणों से देवियों को भी लज्जित करने वाली सकल अन्तःपुर में श्रेष्ठ सुमंगला नाम की रानी थी। साथ में जन्म लेने से परस्पर अति स्नेह वाले उसके पुत्र पुष्पचूल नामक पुत्र और पुष्पचूला नामक पुत्री दो सन्तानें थीं। परन्तु नगर में सर्वत्र अनर्थों को उत्पन्न करने से पुष्पचूल को निश्चय रूप में वंकचूली कहते थे। इस तरह नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त करते वंकचूल का एक दिन उलाहना राजा को सुनना पड़ा, इससे रोषित होकर राजा ने उसे देश निकाला दिया। तब अपने परिवार से युक्त उस बहन को साथ लेकर नगर से चल दिया। क्रमशः—आगे बढ़ते वह अपने देश का उल्लंघन कर एक अटवी (जंगल) में पहुँचा जहाँ बहुत पर्वत सनाथ सहित थे, सिंह के नखों से भेदन किये हुये हाथियों की चीख से भयंकर था, जहाँ घटादार महावृक्षों ने सूर्य की किरणों को रोक दिया था, घूमते हुए अष्टापद प्राणियों के हेषाच्च आवाज सुनकर सिंह वहाँ से दौड़-भाग रहे थे, सिंहों को देखने से व्याकुल बने मृग का झुंड वहाँ गुफाओं में प्रवेश कर रहा था। कामी पुरुषों से वेश्या जैसी विरी हुई होती है वैसे सर्पों से सारा वन व्याप्त था, वहाँ पर कोई भी मार्ग नहीं दिखता था, ऐसे भयानक अटवी में आ पहुँचे। वहाँ भूख-प्यास से पीड़ित वह वंकचूल बोला—हे पुरुषों! ऊँचे वृक्ष के ऊपर चढ़कर चारों तरफ देखो! कि यहाँ कहीं पर जलाशय अथवा गाँव आदि बस्ति है? उसके कहने पर पुरुषों ने ऊँचे श्रेष्ठ वृक्ष के ऊपर चढ़कर चारों दिशा में अवलोकन करने लगे तब उन्होंने थोड़ी दूर काले श्याम और जंगली भंसे के समान काले शरीर वाले, अग्नि को जलाते हुए, भिजों को देखा और उन्होंने राजपुत्र से कहा। उसने भी कहा कि हे भद्रों! उनके पास जाओ और गाँव का रास्ता पूछो। यत्र सुनकर पुरुष उन भिल्लों के पास गये, और मार्ग का रास्ता पूछने लगे, तब भिल्लों ने कहा कि—तुम यहाँ कहाँ से आये हो? तुम कौन हो? किस देश में जाने की इच्छा

रखते हो ? वह सारा वृत्तान्त कहो ! पुरुषों ने कहा कि—श्रीपुर नगर से विमलयश राजा का पुत्र वंकचूल नाम का है, वह पिता के अपमान से निकल-कर परदेश जाने के लिये यहाँ आया है और हम उसके सेवक तुम्हारे पास मार्ग पूछने आये हैं। भिल्लों ने कहा कि—अरे ! हमारे राजा के पुत्र को हमें दिखाओ, पुरुषों ने स्वीकार किया, और वापिस आकर राजकुमार को दिखाया।

फिर दूर से ही धनुष-बाण आदि शस्त्रों को छोड़कर भिल्लों ने कुमार को नमस्कार करके विचार करने लगे कि—इस प्रकार के सुन्दर राजा के लक्षणों से अलंकृत यदि यह किसी तरह से अपना स्वामी हो जाए, तो सर्व सम्पत्ति हो जाए। ऐसा विचार कर उन्होंने दोनों हाथ से भालतल अपर अंजली करके विनय और स्नेहपूर्वक कहा—हे कुमार ! आप हमारी विनती को सुनो ! चिर-काल के संचित पुण्योदय से निश्चय आप जैसे प्रवर पुरुषों के दर्शन हुये हैं, इससे कृपा करके हमारी पल्ली में पधारो। पल्ली को निज चरण कमल से पवित्र करो और उसका राज्य करो। स्वामी बिना थे, हमारे आज से आप ही स्वामी हैं। देश निकाला होने से अपने कुटुम्ब की व्यवस्था की चाहना वाला तथा प्रार्थना होने से कुमार ने उनकी बात स्वीकार की, विषय का रागी क्या नहीं करता ? उसके बाद प्रसन्न-चित्त वाले उन भिल्लों ने मार्ग दिखलाया और परिवार के साथ वह पल्ली की ओर चला और अति गाढ़ वृक्षों से विषम मार्ग से धीरे-धीरे चलते वह सिंह गुफा नामक पल्ली के पास आया, देखने मात्र से अति भयंकर विषम पर्वतों रूपी किल्लों के बीच में रहती यम की माता के सदृश भयंकर उस पल्ली को देखी, वह पल्ली एक ओर मरे हुए हाथियों के बड़े दाँत द्वारा की हुई वाड़वाली और अन्यत्र से मांस बेचने आये हुए मनुष्यों के कोलाहल वाली थी। एक ओर कंदी रूप में पकड़े हुए मुसाफिर के करुण रूदन के शब्दों वाली थी और अयन्त्र मरे हुए प्राणियों के खून से भरी हुई पृथ्वी में खड़े थे, एक ओर भयानक स्वर से धुत्कार करते सुअर या कुत्तों के समूह से दुःप्रेक्ष्य था और दूसरी ओर लटकते मांस के भक्षण के लिये आये हुए पक्षियों वाली थी, एक तरफ परस्पर वैरभाव से लड़ते भयंकर लड़ने वाले भिल्लों वाली थी और दूसरी ओर लक्ष्य को बीधने के लिए एकाग्र बने धुनधारी युक्त थे, और जहाँ निर्दय मूढ़ पुरुष दुःख से पीड़ित होते मनुष्यों को मारने में धर्म कहते थे, और परस्त्री सेवन को अकृत्रिम परम शोभा कहते थे। वहाँ विश्वासु विशिष्ट मनुष्यों को ठगने वाले की बुद्धि वैभव की प्रशंसा होती है और हित वचन कहने के सामने दृढ़ वैर तथा इससे विपरीत अहित कहने

वाले के साथ मैत्री भाव की जाती थी। जैसे तैसे बोलने वाले को भी वचन कौशल्य रूप में प्रशंसनीय गिना जाता था, और न्याय के अनुसार चलने वाले को वहाँ सत्त्व के बिना कहा जाता था। जैसे अत्यन्त पापवश हुआ नरक कूटि में जाता है वैसे ऐसे पापी लोगों से युक्त पल्ली में उस कुमार ने प्रवेश किया। और भिल्लों ने उसे वहाँ अति सत्कारपूर्वक पुराने पल्लिपति के स्थान पर स्थापन किया, फिर अपने पराक्रम के बल से वह थोड़े काल में पल्लिपति बना। कुलाचार का अपमान कर निता के धर्म व्यवहार को भी विचार किये बिना, लज्जा के भार को एक तरफ फेंक कर, साधुओं की धर्मवाणी को भूलकर बनवासी हाथी के समान रोक टोक बिना वह सदा भिल्ल लोगों से घिरा हुआ हमेशा हिंसा आदि करता, नजदीक के गाँव, पुर, नगर, आकर आदि को नाश करने में उद्यमी, स्त्री, बाल, वृद्ध विश्वासु का घात करने का ध्यान वाला, हमेशा जुआ खेलने वाला, और नित्यमेव मांस, मदिरा से जीने वाला उस पल्ली में ही अथवा उन पापों में ही आनन्द मानने वाला लीलापूर्वक काल व्यतीत करने लगा।

अन्य किसी दिन विहार करते हुए किसी कारण से साथियों से अलग होकर कुछ शिष्यों के साथ एक आचार्य महाराज वहाँ पधारे। उसी समय ही मूसलाधार वर्षा होती और मोर के समूह को नाचती हुई प्राथमिक वर्षा ऋतु का आरम्भ हुआ। उस वर्षा ऋतु में पत्तों से अलंकृत वृक्ष शोभते थे, हरी वनस्पति के स्तर से ढकी हुई पृथ्वी मण्डल शोभ रहा था, जबकि महान् चपल तरंगों की आवाज के बहाने से मानो ग्रीष्म ऋतु को हाँक कर निकाल रहे हों इस तरह महान् नदियाँ पर्वतों के शिखर के ऊपर से गिर रही थीं। उस वर्षा में बहुत जल गिरने से पृथ्वी मण्डल में सर्वत्र मार्ग विषम हो गये थे, अतः हताश हुये मुसाफिर भानो अपनी पत्नी का स्मरण हो जाने से वापिस लौटते हों, इस तरह दूर या बीच से वापिस आ रहे थे। इससे ऐसा स्वरूप वाला वर्षाकाल देखकर आचार्य श्री ने सद्गुणी में श्रेष्ठ साधुओं को कहा कि— भो महानुभावों! यह पृथ्वी उगे हुए तृण के अंकुर वाली तथा केंयुवा, चींटी आदि बहुत से जोवों वाली हो गई है। इसलिए यहाँ से आगे जाना योग्य नहीं है, क्योंकि श्री जितेश्वर भगवान ने कहा है कि—इस दीक्षा में जीव दया धर्म का सार है उसके अभाव में दुष्ट राजा की सेवा के समान दीक्षा निरर्थक बनती है। इस कारण से ही वर्षा ऋतु में महामुनि कछुआ के समान अंगो पांग के व्यापार को अत्यन्त संकोच कर एक स्थान पर रहते हैं। अतः इस पल्ली में जाये क्योंकि निश्चय ही यहाँ पर वंकचूल नामक विमलयश राजा का पुत्र

भित्तों का अधिपति बना है, ऐसा सुना है। उसके पास में बस्ती की याचना कर यहाँ वर्षा काल व्यतीत करें और इस तरह चारित्र्य का निष्कलंक पालन करें। साधुओं ने वह मान्य किया फिर वे बंकचूल के घर गये और गर्व से ऊँची गर्दन वाले उसने कुछ अल्पमात्र नमस्कार किया। उसके बाद धर्म लाभ रूपी आशिष देकर आचार्य श्री जी ने कहा—अहो भाग्यशाली ! साधियों से अलग पड़े और वर्षा काल में आगे बढ़ने में असमर्थ होने से हम 'श्री जैन शासन रूपी सरोवर में राजहंस समान विमलयश राजा का पुत्र तुम यहाँ हो' यह सुनकर यहाँ आए हैं इसलिए हे महाभाग ! कोई बस्ती रहने के लिए दो, जिससे चतुर्मास यहाँ रहे, क्योंकि अब साधुओं का एक कदम भी चलना वह योग्य नहीं है।

पाप से घिरा हुआ अति पापी बंकचूल ने कहा—हे भगवन्त ! अनायों के संगति से दोष प्रगट होता है इसलिए आपको यहाँ रहना योग्य नहीं है क्योंकि यहाँ मांसाहारी, हिंसा करने में तल्लीन मनवाले, क्रूर अनाय, क्षुद्र लोग रहते हैं, साधु को उसका परिचय करना भी योग्य नहीं है। तब सूरि जी ने कहा—अहो महाभाव ! इस विषय में लोग कैसे भी हों वह नहीं देखना है हमें तो सर्व प्रयत्नों से जीवों का रक्षण करना ही चाहिए। केंचुएँ, चींटी के समूह से व्याप्त और नयी वनस्पति तथा जल से भरी हुई भूमि पर चलने से साधु धर्म से भ्रष्ट होते हैं। इसलिए निवास स्थान दो और हमारे धर्म में सहायक बनो ! उत्तम कुल में जन्म हुए को प्रार्थना भंग करना वह दूषण है। यह सुनकर दोनों हाथ जोड़कर राजपुत्र ने कहा कि—हे भगवन्त ! बस्ती दूंगा, परन्तु निश्चय रूप यहाँ रहकर आप मेरे आदमी को अल्प भी धर्म सम्बन्धी बात नहीं कह सकते हो, केवल अपने ही कार्य में प्रयत्न करना। क्योंकि तुम्हारे धर्म में सर्व जीवों की सर्व प्रकार से रक्षण करना, असत्य वचन का त्याग, पर धन और पर स्त्री का त्याग है, मद्य, सुरा और मांस भक्षण का त्याग है तथा हमेशा इन्द्रियों का जप करने को कहते हैं। इस प्रकार कहने से तो निश्चय ही हमारा परिवार भूखे मर जायेगा। उसे सुनकर आह हा ! आश्चर्यपूर्वक कि—यह बंकचूल दुःसंगति में फँसा हुआ अब भी अपने कुल क्रम के सम्बन्धी जैन धर्म रूपी सर्वस्व को किसी तरह भूला नहीं है। ऐसा चिन्तन करते आचार्य श्री ने उसकी बात स्वीकार की, क्योंकि मनुष्य धर्म से जब अति विमुख हो तब उसकी उपेक्षा करना ही योग्य है। उसके बाद बंकचूल ने उनको नमस्कार करके रहने के लिए स्थान दिया और स्वाध्याय, ध्यान में अतिरत वे साधु भगवन्त वहीं रहे। सद्गुरु के पास रहकर वे महानुभाव मुनिवर विविध

दुष्कर श्रेष्ठ तपस्या करते रहे, नय—सप्तभंगी से गहन आगम का अभ्यास करते थे उसका अर्थ का परावर्तन करते थे, बारह भावनाओं का चिन्तन करते और व्रतों का निरतिचार पालन करते थे ।

परिचय होने के कारण वंकचूल को कुछ भक्ति जागृत हुई उसने अपने मुख्य मनुष्यों को बुलाकर सम्यक् रूप में कहा कि—हे देवानु प्रियो ! मुझे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए समझकर ब्राह्मण, वणिक आदि अच्छे लोग भी यहाँ पर आयेंगे, इसलिए अब से जीव हिंसा, मांसाहार और सुरापान की क्रीड़ा घर में नहीं करना, परन्तु पल्ली के बाहर करना । ऐसा करने से ये साधु भी सर्वथा दुर्गच्छा को छोड़कर तुम्हारे घरों में यथा समय आहार पानी लेंगे । 'जैसी स्वामी की आज्ञा हो वैसा ही करेंगे ।' ऐसा कहकर उन्होंने स्वीकार किया और अपनी आराधना में उद्यमशील मुनि भी दिन व्यतीत करने लगे । उसके पश्चात् ममत्व रहित सूरि जी महाराज ने बिहार का समय जानकर वंकचूल शय्यातर होने से विधिपूर्वक उसे इस तरह कहा—हे राजपुत्र ! तुम्हारे बस्ती दान की एक सहायता से हम इतने दिन यहाँ समाधि पूर्वक रहे, परन्तु अब चौमासे की अवधि पूर्ण हो गई है और यह प्रत्यक्ष चिह्नों से बिहार का समय सम्पन्न रूप दिखता है देखो ! बाड़ें ऊँची हो गई हैं, जाते-आते गन्ने की गाड़ियों से जंगल के सभी मार्ग भी चालू हैं, पर्वत की नदियों में पानी कम हो गया है, बैल भी दृढ़ बल वाले हो गये हैं, मार्गों में पानी सूख गया है और गाँव में कीचड़ भी सूख गयी है । इसलिए हे महायश ! तू परम उपकारी होने से मैं ऐसा कहता हूँ कि अब हमें दूसरे गाँव में जाने की अनुमति दो, गोकुल, शरदऋतु के बादल, भ्रमर का समूह, पक्षी और उत्तम मुनि आदि का निवास स्थान स्वाभाविक ही अनियत होता है । ऐसा कहकर आचार्य श्री जी मुनियों के साथ चलने लगे तब पल्लीपति उनको विदा करने के लिए चला । आचार्य श्री के साथ वह वहाँ तक गया जहाँ तक अपनी पल्ली की हद थी, फिर आचार्य जी को नमस्कार करके कहने लगा कि—हे भगवन्त ! यहाँ से आगे यह सीमा परदेश की है, इसलिए मैं आगे नहीं आता हूँ आप निर्भय होकर पधारो, मैं भी अपने घर जाता हूँ । आचार्य श्री ने कहा—हे राजपुत्र ! धर्म कथा नहीं करने का तेरे साथ जो स्वीकार किया था वह अब पूर्ण हुई है, इसलिए यदि तेरी अनुमति हो तो कुछ अल्प धर्मोपदेश देने की इच्छा है, तो हे वत्स ! हम धर्म कहेंगे अथवा पूर्व के समान यहाँ भी तेरा निषेध है । 'चलते हुये आचार्य कितना कहने वाले हैं ? भले दो शब्द कहते हैं तो कहने दो' ऐसा विचार कर उसने कहा कि 'जो कष्ट बिना हो वैसा कहो ।'

इस समय आचार्य श्री जिस नियमों से बुद्धि धर्माभिमुख हो, जिस नियमों से प्रत्यक्षमेव आपत्तियों का नाश हो और निश्चय से यह जाने कि 'नियमों का यह फल है' ऐसा नियमों का श्रुतज्ञान के उपयोग से सविशेषपूर्वक जानकर बोले कि—हे भद्रक ! (१) किसी पर आक्रमण करने से पहले सात-आठ कदम पीछे हटना, (२) तुम भूख से यदि अत्यन्त पीड़ित हो फिर भी जिसका नाम नहीं जानते हो ऐसे अनजाने फल नहीं खाना, (३) बड़े राजा की पट्टरानी के साथ सम्भोग नहीं करना, और (४) कौए का मांस नहीं खाना। ये चारों नियम तू जीवन तक सर्व प्रयत्न से पालन करना, क्योंकि पुरुषों का यही पुरुष-व्रत रूप पुरुषार्थ है। माणिक्य, सोना, मोती, आदि स्त्रियों के आभूषण है और स्वीकार की प्रतिज्ञा का पालन वह सत्पुरुषों का अलंकार है। क्योंकि सत्पुरुषों का प्रतिज्ञा पालन में "भले मस्तक कट जाये, संपत्तियों और स्वजन बंधु भी अलग हो जाएँ परन्तु प्रतिज्ञा का पालन करना, जो होने वाला हो वह हो" ऐसा निश्चय होता है। मनुष्यों को सज्जन दुर्जन इस विशेषता से ही दी जाती है, अन्यथा पचेन्द्रियत्व से सर्व समान है उसमें भेद किस तरह से होते ? आचार्य श्री के कहने पर और चारों नियम सुगम होने से वंकचूल ने स्वीकार कर लिया, और महाराज श्री को नमस्कार वह भिल्लपति अपने घर वापिस आया। तथा शिष्या से युक्त आचार्य श्री जी इया समिति का पालन करते यथेच्छ देश में जाने को धीरे-धीरे चले। फिर पाप कार्यों में हमेशा चपल इन्द्रियों वाला, विविध सेंकड़ों व्यसनों से युक्त वह भिल्लपति दिन पूर्ण करने लगा।

अन्य किसी दिन सभा मण्डप में बैठे वंकचूल ने भिल्लों को कहा कि—बहुत समय से यहाँ व्यापार बिना के मेरे दिन जा रहे हैं तो हे पुरुषों ! पुर, नगर या गाँव आदि जो लूटने योग्य हों उसे सर्वत्र खोजकर आओ ! जिससे सर्व कार्य छोड़कर उसे लूटने के लिए जायेंगे, उद्यम के बिना का पति विष्णु हो फिर भी लक्ष्मी उसे छोड़ देती है। यह सुनकर 'तहति' कहकर आज्ञा को स्वीकार कर यथोक्त स्थानों की गुप्त रूप में खोज कर आए और उन पुरुषों ने निवेदन किया—हे नाथ ! सुनो ! बहुत श्रेष्ठ वस्तुओं से परिपूर्ण बड़ा सार्थवाह दो दिन के पश्चात् अमुक मार्ग पर पहुँचेगा, इसलिए उस मार्ग को रोक कर उसके आने के पहले आप वहाँ रहो तो अल्पकाल में यथेच्छ लक्ष्मी का समूह प्राप्त हो सकेगा। ऐसा सुनकर कुछ दिन खाना लेकर अपने साथी चोरों के साथ पल्लीपति उस स्थान पर गया। परन्तु इधर उस सार्थवाह को अपशुकन के दोष से मूल मार्ग छोड़कर दूसरे मार्ग से चलकर इष्ट स्थान पर पहुँच गये।

भिल्लपति वंकचूल अनिमेष नेत्रों से उस मार्ग को देखता रहा, ऐसा करते लाया हुआ भोजन (पाथेय) खत्म हो गया। तब निस्तेज मुख वाला, भूख से पीड़ित, वापिस घूमकर पल्ली की ओर चला। परन्तु वहाँ से आगे बढ़ने में असमर्थ हो गया और श्रम से पीड़ित वृक्ष की शीतल छाया में नये कोमल पत्तों की शय्या में विश्राम करने लेने के लिए बह सो गया। और परिवार के पुरुष चारों तरफ कंदमूलफल लेने के लिए गये, जंगल को अवलोकन करते अति प्रसन्न बने उन्होंने एक प्रदेश में सुन्दर फलों के भार से नमा हुआ सैकड़ों डालियों से युक्त, किपाक फल नामक एक बड़ा वृक्ष देखा, उसके ऊपर से पके हुए पीले फलों की इच्छानुसार ग्रहण किया, और विनयपूर्वक नम कर उन्होंने वे फल श्री वंकचूल को दिया, उसने कहा—हे भाइयों! पूर्व में कभी भी यह फल नहीं देखा है, देखने में फल सुन्दर हैं परन्तु इसका नाम क्या है? उन्होंने कहा—स्वामिन्! इसका नाम हम नहीं जानते हैं, केवल पका हुआ होने से श्रेष्ठ रस का अनुमान कर रहे हैं। पल्लीपति ने कहा—यदि अमृत समान हो तो भी उसका नाम जाने बिना इन फलों को मैं नहीं खाऊँगा। उस समय आसक्त उस एक को छोड़कर भूख से पीड़ित शेष सभी पुरुष उस फल को खाने लगे। फिर विषयों के समान प्रारम्भ में मधुर और परिणाम में विरस उन फलों को खाकर सोये हुए उनकी चेतना जहर के कारण नष्ट हो गई, फिर दोनों आँखें बन्द हो गई और अन्दर दम घुटने लगा और वे जैसे सुब शय्या में सोये हों इस तरह सोने लगे। उसके बाद उनका जीवन लकर जसे चोर भागता है वैसे सूर्य अस्त हो गया, और पक्षियों ने भी व्याकुल शब्द उन जीवों के मरण का जाहिर किया।

उस समय सर्वत्र पृथ्वी मण्डल को मानो कुंकुम के रस से रंग करते और चक्रवाकों को विरह से व्याकुल करते संध्या का रंग सर्वत्र फैल गया। कुलटा स्त्री के समान काली श्याम कान्ति वाले वस्त्र से शरीर ढका हो, वैसे तमाल वृक्ष के गुच्छे समान काली अंधकार की श्रेणी फैल गई। नित्य राहु के निकलते चन्द्र में से मानो चन्द्र के टुकड़े का समूह अलग होते हैं वैसे ताराओं का समूह शीघ्र ही सर्वत्र फैल गया। उसके पश्चात् तीनों जगत को जीतने के लिए कामरूपी मुनि के शयन के लिए स्फटिक की (पटड़ा) चौकी समान निर्मल देवों के भवन प्रांगण के बीच स्थापन किये हुए सफेद सोने के पूर्ण कलश जैसा गोलाकार आकाश रूपी सरोवर में खिला हुआ सहस्रपत्र कमल जैसा लाल मानो राली रूपी स्त्री का गोरोचन का बड़ा जत्था न हो ऐसे चन्द्र का भी उदय हुआ। तब जाने का समय अनुकूल जानकर पल्लीपति ने ये पुरुष सोये हुए हैं ऐसा मानकर बड़ी आवाज से बुलाया, बारम्बार आवाज देने पर भी

उन्होंने जब कुछ भी जवाब नहीं दिया, तब पास में आकर सबको अच्छी तरह देखा। सबको मरे हुए देखकर उसने विचार किया—अहो ! अनजान नाम वाले फलों को खाने से यह फल आया है। यदि निष्कारण वत्सल आचार्य श्री जी का दिया हुआ नियम मुझे नहीं होता तो मैं यह फल खाकर यह अवस्था प्राप्त करता, गुण निधि और अज्ञान रूपी वृक्ष को जलाने में अग्नि तुल्य ऐसे श्री गुरुदेवों यावज्जीव विजयी रहे ! कि जिन्होंने नियम देने के बाहने से मुझे जीवन दान दिया है। इस तरह लम्बे समय तक गुरु की प्रशंसा करके शोक से अति व्याकुल शरीर वाला वह उनके शस्त्र आदि उपकरणों को एक स्थान पर रखकर, पूर्व में सुभटों के समूह साथ पल्ली में घूमता फिरता था परन्तु आज तो एकाकी उसमें भी मरे हुये सर्व परिवार वाला मैं प्रकट रूप प्रवेश करते लोगों को मुख किस तरह बताऊँगा ? ऐसा विचार कर मध्य रात्री होने पर चला। केवल एक तलवार की सहायता वाला शीघ्रमेव अपने घर पहुँचा और कोई नहीं देखे इस तरह शयन घर में प्रवेश किया, वहाँ उसने जलते दीपक की फैलती प्रभा समूह से अपनी पत्नी को पुरुष के साथ सुखपूर्वक शय्या में सोती हुई देखा।

उस समय ललाट में उछलती और इधर-उधर नाचती फिरती त्रिवली से विकराल, दाँत के अग्र भाग से निष्ठुरता से होंठ को कुचलते वह अत्यन्त क्रोध से फटे अति लाल आँखों के प्रचंड तेज समूह से लाख के रंग से रंगी लाल तलवार को खींचकर विचार करने लगा कि—यम के मुख में प्रवेश करने की इच्छा वाला यह विचारा कौन है ? कि मेरे जीते हुए भी यह पापी मेरी पत्नी का सेवन करता है। अथवा लज्जा मर्यादा से रहित यह पापिनी मेरी पत्नी भी क्यों किसी अद्यम पुरुष के साथ ऐसे सो रही है। यहाँ पर ही इन दोनों का तलवार से टुकड़े करूँ ! अथवा यह तलवार जो कि पराक्रमी उग्र शत्रु सेना को और हाथियों के समूह को नाश करने में प्रचण्ड और अनेक युद्धों में यश प्राप्त किया है, उसे लोक विरुद्ध स्त्रीवध में क्यों उपयोग करूँ ? इसलिए इसमें एक को ही मार दूँ इस तरह प्रहार करता है इतने में उस गुरुदेव के द्वारा पूर्व ली हुई प्रतिज्ञा अचानक ही स्मरण करता है, इससे सात आठ कदम पीछे हटकर जैसे ही प्रहार करता है, इतने में तो ऊपर की छत के साथ तलवार टकराने से आवाज हुई और भाभी के शरीर के भार से और आवाज सुनकर सहसा भय युक्त बहन बोली कि—वाह मेरा वंकचूल भाई चिरंजीवो ! वंकचूल ने यह सुनकर विचार किया—अरे रे ! अत्यन्त गाढ़ स्नेह वश मेरा अनुकरण करने

वाली जिसने पूर्व में मेरे स्नेह से सहेलियों को स्वजन, माता-पिता को भी त्याग किया है वह यह मेरी बहन पुष्पचूला यहाँ कैसे ? अभी मेरे प्राण से अत्याधिक इसे मारकर अति महान पाप को करने वाला, स्वयं निर्लज्ज मैं किस तरह जी सकता था ? अथवा बहन को खत्म करने से पाप की शुद्धि कौन-से प्रशस्त तीर्थ में जाकर, अथवा विशिष्ट तप से हो सकती ? ऐसा चिन्तन करते शोक के भार से व्याकुल हुए, अपने पाप कर्म से संतप्त वह बहन के गले लगकर रोने लगा । आश्चर्य से व्याप्त चित्त के विचार वेग वाली पुष्पचूला ने बंकचूल को मुश्किल से शय्या में बैठाकर इस प्रकार कहा—हे भाई ! तू मेरे पर्वत के समान दृढ़ सत्त्व वाला, उदार प्रकृति वाला है फिर भी अचानक हूँ मेरे गले लगकर क्या रोता है ? और तेरे आगमन के समय तो रसपल्ली में प्रत्येक घर के दरवाजे उज्ज्वल ध्वजाओं से सजाये जाते थे, मनुष्य हृष आवश में भाग भा छाटा पड़ता था, और अत्यन्त अनिष्ट उत्पन्न होते अथवा गाढ़ आपात्ति आने पर भी रोने की बात तो दूर रही तेरा मुख कमल भी नहीं बदलता था, उसके बदल तू निस्तेज दीन मुख वाला उसमें भी परिवार बिना एकाकी वह भी गुप्त इस तरह घर में क्यों प्रवेश किया ? तब उसने परिवार के विनाश की सारी घटना कही और परपुरुष समक्षकर उठाई हुई तलवार को टकराने की बात भी बहन को कही, और कहा कि—हे बहन ! मैं परिवार के विनाश का शोक नहीं करता, परन्तु शोक यह करता हूँ कि अभी सहसा तुझे मैंने इस तरह मार दिया होता, इससे ही अभी भी यह प्रसंग का स्मरण करते मैं नेत्रों में आसु के एकमात्र प्रवाह को भी नहीं रोक सकता हूँ । हे बहन ! तू किस कारण से इस तरह पुरुष का वेश धारण करके भाभी के साथ सोई थी ? वह मुझ कह ।

उसने कहा—भाई ! आप विजय यात्रा के लिए गये थे उस समय यहाँ नट आए, उन्होंने मुझसे पूछा—यहाँ पल्लिपति हैं या नहीं ? तब मैंने सोचा कि यदि ना कह दूँगी तो वह सुनकर किसी शत्रु का आदमी आपके साथ गाढ़ वैर रखने वाले सीमा के राजाओं को कह दे तो और वे अवसर जनाकर पल्ली में उपद्रव करें, ऐसा नहीं बने इस कारण से मैंने कहा, पल्ली के मुकुट की मणि वह स्वयं बंकचूल यहाँ रहे, केवल वे अन्य कार्य में रुके हुए हैं । फिर उन्होंने मुझसे पूछा नाटक कब दिखायें ? मैंने कहा—रात्रि को, कि जिससे वे शान्ति-पूर्वक देख सकें । उन्होंने उसी तरह ही रात्रि को नाटक प्रारम्भ किया, इससे मैं पुरुष का सुन्दर वेश धारण करके तुम्हारे समान बनकर भाभी के साथ वहाँ

बैठी। फिर मध्य रात्री के समय नटों के बने योग्य दान देकर निन्द्रा से घिरी हुई आँखों वाली मैं इसके साथ सो गई, इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं जानती, केवल आवाज सुनकर “भाई चिरकाल जीओ” ऐसा बोलती मैं जागृत हुई। ऐसा सुनकर कुछ प्रशान्त शोक वाला बार-बार ‘इन नियमों का यह फल है’ ऐसा चिन्तन करते वह समय व्यतीत करने लगा।

परिवार बिना का वह गांव, नगर आदि लूटने में असमर्थ हो जाने से, तथा धन बिना परिजन को भूख से पीड़ित देखकर संताप वाला बना अब ‘संध खोदे बिना मुझे दूसरे जीने के उपाय नहीं हैं’ ऐसा निश्चय करके वह अकेला ही उज्जैन नगर में गया, वहाँ धनिक लोगों के मकान में आने-जाने की खिड़की के दरवाजे को देखकर उसने चोरी करने के लिए एक बड़ घर में प्रवेश किया, वह मकान केवल बाहर की आकृति से सुन्दर दिखता था परन्तु उस घर में केवल स्त्रियों में परस्पर झगड़ा करते दखा। इससे उसने विचार किया कि यह झगड़ा कर रही हैं, अतः निश्चय ही इस घर में बहुत धन नहीं है क्योंकि लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि ‘अधजल गमरा छतकत जाए’। धन अल्प होने पर चोरी करने से मुझ क्या सम्पत्ति मिलगी? बहुत बड़ बिन्दु से कोई समुद्र भर जाता है? ऐसा विचार कर उसी समय उस घर का छाड़कर, महान आशय वाला वह सारे नगर में प्रसिद्ध देवदत्ता वेश्या के घर पहुँचा और संध गिराने में श्रेष्ठ अभ्यासी वह संध खादकर वहाँ रत्नों से रमणाय। दवालवाला और हमेशा जगमगाहट दीपक वाले वासगृह में प्रवेश किया, वहाँ उसने उस गणिका को अत्यन्त कोढ़ रोग से निर्बल और भयंकर शरीर वाले एक पुरुष के साथ में शय्या के अन्दर सुखपूर्वक सोई हुई देखा। अरे रे! देखो ऐसी महान धन वाली भी यह अनार्य वेश्या धन के लिए इस तरह कोढ़ी का भी आदर कर रही है। अथवा तो मैं अनार्य हूँ जो कि इसके पास से भी धन लने की इच्छा रखता हूँ। अतः यह धन योग्य नहीं है, बड़े धनाढ्य के घर जाऊँ! ऐसा विचार कर समग्र व्यापारियों में मुख्य सेठ के घर संध खोदकर धोरे से मकान में गया, वहाँ दो हाथ से कलम और बही पकड़ कर पुत्र के साथ क्षण क्षण का भी हिसाब की पृच्छते सेठ को देखा। और वहाँ हिसाब में एक पैसा कम था वह किसी तरह नहीं मिलने से रोष से भरे हुये सेठ ने पुत्र से कहा—अरे कुल का क्षय करने वाले काल! मेरी दृष्टि से दूर हट जा, एक क्षण भी घर में नहीं रहना। इतना बड़ा धन का नाश मैं अपने बाप का भी सहन नहीं करूँगा। ऐसा बोलते और प्रचण्ड क्रोध से लाल आँखों के क्षोभ वाले उसे देख-

कर आश्चर्यपूर्वक पल्लीपति ने विचार किया कि—यदि एक पैसे का नाश देखकर पुत्र को भी निकाल देना चाहता है वह यदि घर में चोरी हुई जानकर तो निश्चय धन का नाश होने से हृदय आघात द्वारा मर जायेगा, इसलिए इस तरह कृष्ण के बाप को मारना योग्य नहीं है। अतः राजमहल में जाकर वहाँ से इच्छानुसार ग्रहण करूँ, हाथी की प्यास अति अल्प ज्ञान के पानी से शान्त नहीं होती है। उसे ऐसा सोचते हुए रात्री पूर्ण हो गई और पूर्व दिशा सन्मुख केसर के तिलक समान अरुणोदय हुआ।

उसके बाद धीरे-धीरे वहाँ से निकलकर वापिस वह अरण्य में गया और पुष्ट शरीर वाली गोह को लेकर पुनः वह नगर में आया, राजभवन में चढ़ने के लिए गोह के पूछड़े रस्सी मजबूत बाँधकर और साथ में अपने को बाँधकर उसने गोह को जोर से ऊँचे फेंका और मजबूत पैर टेककर महल की दिवाल को उलाँधकर महल के ऊपर चढ़ा, फिर प्रसन्न मन वाला वह पल्ली-पति गोह को छोड़कर धीरे से महल में जाने लगा, वहाँ उसी समय राजा के प्रति क्रोधित हुई, अपने मणिमय अलंकारों की कान्ति के समूह से अन्धकार को दूर करती शय्या में सोई हुई राजा की पट्टरानी वंकचूल को देखकर इस प्रकार से बोलने लगी—हे भद्र ! तू कौन है ? उसने कहा—जगत में प्रसिद्ध मैं वंक-चूल नामक चोर हूँ और मणि-सुवर्ण आदि चोरी करने के लिये मैं आया हूँ। ऐसा कहने से रानी बोली—तू सुवर्ण आदि का चोर नहीं है, क्योंकि—हे निर्दय ! तू वर्तमान में मेरे हृदय की चोरी करना चाहता है। उसने कहा—हे सुतनु ! आप ऐसा नहीं बोलीं, क्योंकि चिरजीवन की इच्छा वाले कौन शेष-नाग की मणि को लेने की अभिलाषा करे ? उसके बाद उसकी कामदेव समान शरीर की सुन्दरता से मोहित चित्त वाली स्त्री स्वभाव में ही अत्यन्त तुच्छ बुद्धि वाली कुल के कलंक को देखने में पराङ्मुख और काम से पीड़ित रानी ने कहा—हे भद्रक ! 'यह राजमहल है' ऐसे स्थान के भय को दूर फेंकर अभी ही मेरा स्वीकार कर। ऐसा करने से ही शेष सभी तुम्हारे इच्छित धन प्राप्ति जल्दी हो जायेगी। अत्यन्त निर्मल उछलती रत्न की कान्तिवाले अलंकारों की श्रेणी को तू क्या नहीं देखता है ? हे सुभग ! इसका तू स्वामी होगा। ऐसा उसका वचन सुनकर वंकचूल ने पूछा—हे सुतनु ! तू कौन है ? क्यों यहाँ रहती है ? अथवा तेरा प्राणनाथ कौन है ? उसने कहा—हे भद्रक ! महाराजा की मैं पट्टरानी हूँ, राजा के प्रति क्रोध करके यहाँ पर इस तरह रहती हूँ। पूर्व के अभिग्रह को स्मरण करके उसने कहा—यदि आप राजा की रानी हो, तो मेरी माता के तुल्य हैं, इसलिए हे महानुभाव ! पुनः ऐसा नहीं बोलना, 'जिससे

कुल मलिन हो, वह कुल वाले को नहीं करना चाहिए।' क्रोध वाली उसने तिरस्कारपूर्वक बंकचूल से कहा—अरे ! महामूढ़ ! कायर के समान तू ऐसा अनुचित क्यों बोल रहा है ? जिसको तूने स्वप्न में भी नहीं देखी वह अभी राजपत्नी मिली है। उसे हे मूढ़ ! तू क्यों नहीं भोग करता ? उसने उत्तर दिया—हे माता ! अब आग्रह को छोड़ दो, मन से यह चिन्तन करना भी योग्य नहीं है, उग्र जहर खाना अच्छा है परन्तु ऐसा अकार्य करना अच्छा नहीं है।

प्रति कुल जवाब के कारण रानी का क्रोध विशेष बढ़ गया, उसने प्रकट रूप में उससे कह दिया कि—हे हताश ! नग्न साधु के बेआबरू या पट भव में स्वर्ग समान तू मेरे वश होकर स्वर्ग का सुख भोगेगा या निश्चय समग्र नगर में विडम्बना प्राप्त कर भरण-शरण होगा। तब उसने रानी से कहा—पूर्व में 'माता-माता' कहकर अब तुझे ही पत्नी कह कर किस तरह सेवन करूँ ? उस समय चिर समय से रानी का समझाने को आया हुआ दिवाल के पीछे रहकर उसके सारे शब्द सुनकर विचार करने लगा कि—अहो ! आश्चर्य की बात है कि सन्मान और दान देकर प्रसन्न करने पर भी स्त्री एक पुरुष में स्थिरता नहीं रखती है कि जिससे अच्छे कुल में जन्म होने पर अनुरागी मन वाले मुझे छोड़कर इस तरह इस अनजान मनुष्य को भोगने की इच्छा होती है। सुख के नाश रूपी ऐसी स्त्रियाँ पर राग करना ही सर्वथा धिक्कार रूप है। अरे रे ! ऐसी स्त्रियाँ अच्छे कुलान पुरुषों का भी किस तरह संकट में डालती हैं ? यद्यपि पाप करने पर भा यह चोर कोई सत्पुरुष रूप है, कि जो सामभेद आदि युक्तियों द्वारा यह स्त्री प्रार्थना करती है, तो भी मर्यादा नहीं छोड़ी। पृथ्वी आज भी रत्नों का आधार है, अभी भी कालिकाल नहीं आया, जिससे ऐसे श्रेष्ठ पुरुष रत्न दिखते हैं। जो निश्चय ही एक प्रहार से हाथी के कुम्भस्थल के टुकड़े करते, वे भी स्त्री के नेत्र रूपी बाण के प्रहार से (कटाक्ष से) घायल हुआ दुःखी होता है, परन्तु यह सत्त्ववान् पुरुष है, इस रानी के प्रार्थना करने पर भी अपनी मर्यादा का लेशमात्र भी नहीं छोड़ता है, इस कारण से यह पुरुष दर्शन करने योग्य है। इस प्रकार राजा जब विचार करता है तब अन्तिम निर्णय के लिए रानी पुनः बोली—अरे तूने क्या निश्चय किया ? क्या तू मेरा वचन नहीं मानेगा ? उसने भी हर्षपूर्वक कहा—मैं आपकी बात स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। फिर अत्यन्त क्रोधित बनी रानी जोर-जोर से चिल्लाने लगी कि—अरे पुरुषों ! राजा का सारा धन लूटा जा रहा है, आप उसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? दौड़ो ! दौड़ो ! चोर यहीं पर है। शोर सुनकर चारों तरफ से रक्षक पुरुष आ गये, हाथ में तलवार, चक्र और बाण वाले जैसे उसके ऊपर

प्रहार करते हैं इतने में राजा ने कहा—अरे ! इस चोर की मेरे समान रक्षण करना । उनसे घिरा हुआ भी महान गजेन्द्र के समान अक्षुभित चित्तवाला और हाथ में शोभित तलवार वाले उस वंकचूल ने रात्री पूर्ण की ।

इधर रानी के प्रति क्रोधित वह राजा शयन घर में गया और सोये हुए भी वह पिछली रात में मुसीबत से उठा, उसके बाद प्रभात हुआ, प्राभातिक बाजे बजे, तब काल निवेदक चारणपुत्र ने इस प्रकार कहा—हे देव ! अखण्ड प्रताप वाले, सभी तेजस्वियों के तेज को नाश करने वाले, अखण्ड पृथ्वी मण्डल को धारण करने वाले, दुष्टों के प्रयास को प्रतिघात करने वाले, विकसित लक्ष्मी के खान समान, स्थिर पुण्योदय वाले, और सन्मार्ग को प्रकाश करने में तत्पर, सूर्य समान विजयी बनी । राजा ने सुनकर प्रभात के समग्र कार्य करके रात्री के वृत्तान्त को स्मरण करते हुए राज्यसभा में बैठा । उस समय प्रणाम करते पहरेदार पुरुषों ने कहा—हे देव ! 'यह वह चोर है' ऐसा बोलकर वंकचूल को वहाँ उपस्थित किया, और उसका रूप देखकर मन में आश्चर्यपूर्वक राजा ने विचार किया—ऐसी आकृति वाला यह चोर कैसे हो सकता है ? यह वास्तविक में चोर ही होता तो रानी के वचन स्वीकार क्यों नहीं करता ? क्योंकि भिन्न चित्तवाला वह सावध होने से प्रायः कर कहीं पर स्खलना नहीं प्राप्त करता है ? अथवा यह विकल्प करने से क्या लाभ ? इसी को ही पूछ लूँ, ऐसा सोचकर स्नेहयुक्त नेत्रों से राजा ने उसको देखा, और उसने राजा को नमस्कार किया, फिर उसे उचित आसन दिया । उसके ऊपर वंकचूल बैठा तब राजा ने स्वयं पूछा—अरे देवानु प्रिय ! तुम कौन हो ? और अत्यन्त निन्दनीय कुलीन के अयोग्य नीच चोरी का कार्य तुमने क्यों आचरण किया है ? वंकचूल ने कहा—केवल कायरता से यह कार्य नहीं किया, परन्तु जैसे भूखे परिवार द्वारा प्रार्थना करने से और क्षीण वैभव वाले महापुरुषों की भी बुद्धि वैभव चलित हो जाती है वैसे दरिद्रता के कारण मेरी बुद्धि मलिन हो गई है, और जो आप पूछते हैं कि—तू कौन है ? वह भी मेरी ऐसी प्रवृत्ति से मेरा स्वरूप प्रगट होता है इससे कुछ भी कहने योग्य नहीं है । राजा ने कहा—ऐसा मत बोल, तू सामान्य नहीं है, अब यह बात रहने दे, रात्री का वृत्तान्त कहो । इससे 'रानी के सर्व बातें राजा ने जानी हैं', ऐसा निश्चय करके उसने कहा—हे देव ! सुनिए, आपके घर की चोरी की इच्छा वाला मैं यहाँ आया था और रानी ने भी किसी तरह मुझे आते देख लिया, हे राजन् । इसके बिना अन्य वृत्तान्त नहीं है । बार-बार पूछने पर भी महात्मा के समान रानी की बात न कहकर केवल अपनी ही भूल कही, तब उसकी सज्जनता से प्रसन्न हुए राजा ने कहा—हे

भद्र ! वरदान माँगो ! मैं तेरी शुद्ध प्रवृत्ति से प्रसन्न हुआ हूँ । इससे दो हाथ जोड़कर वंकचूल ने विनती की कि—हे देव ! मुझे यही वरदान दो कि 'देवी के प्रति कुछ भी क्रोध नहीं करना' क्योंकि मैंने उसे माता कहा है । राजा ने उसे स्वीकार किया और अति गाढ़ स्नेह से उसके प्रति पुत्र समान अत्यन्त पक्षपाती बनकर राजा ने उस वंकचूल को महान सामन्त पद पर स्थापन किया तथा हाथी, घोड़े, रत्न आदि वैभव और सेवक वर्ग उसे सौंप दिया ।

वैभवशाली वंकचूल विचार करने लगा कि—समग्र गुणों के भण्डार वे आचार्य श्री जी कैसे कल्याणकारी बने हैं अन्यथा मैं इस तरह कैसे जीता रहता ? अथवा मेरी बहन कैसे जीती रहती ? अथवा अभी ऐसी लक्ष्मी का भोक्ता मैं कैसे बनता ? हा ! मंद बुद्धि वाले और पराङ्मुख मुझ पर उपकार करने में एक रक्त वे महानुभाव गुरुदेव ने कैसा उपकार किया है ? वे ही निश्चय से चिन्तामणी हैं, कल्पवृक्ष और कामधेनु भी वही हैं, मात्र निष्पुण्यक मैंने लेशमात्र भी उन्हें नहीं जान सका । इस तरह उन आचार्य जी को कृतज्ञता से मित्र के समान, स्वजन के समान, माता-पिता के समान और देव के समाग हमेशा स्मरण करते वह दिन पूर्ण करने लगा । किसी दिन उसने दमघोष नामक आचार्य को देखा, और अत्यन्त प्रसन्नता के साथ भक्तिपूर्वक हृदय से उनको वंदन किया । आचार्य श्री ने उसे योग्य जानकर श्री अरिहंत धर्म के परमार्थ को समझाया और अनुभव सिद्ध होने से अति हर्ष से उसने उस धर्म को स्वीकार किया । और समीप के गाँव में रहने वाला धर्म में परम कुशल जैनदास श्रावक के साथ उसकी मित्रता हो गई, इससे उसके साथ हमेशा विविधनयों से और अनेक विभागों से गम्भीर आगम को सुनता था, स्वजन के सदृश धर्मियों का वात्सल्य करता था, श्री जैन मन्दिर में सर्व क्रिया पूजा प्रक्षाल अंग रचना आदि आदरपूर्वक करता था पूर्व में ग्रहण किये अभिग्रह रूपी वैभव को सदैव चिन्तन करते और प्रमाद रहित आगमानुसार जैन धर्म का परिपालन करते वह सज्जनों के प्रशंसा पात्र बना हुआ नीति से सामन्तपने की लक्ष्मी को भोगने वाला बना । किसी दिन राजा की आज्ञा से वह बहुत सेना के साथ 'कामरूप' राजा की सेना के साथ युद्ध करने चला । काल क्रम से शत्रु के देश की सीमा में पहुँचा, उसी समय शत्रु भी वहाँ आ पहुँचा ।

वहाँ सुन्दर चामर ढुलते रहे थे, छत्रों का आडम्बर चमक रहा था, रथों का समूह चलने से उनकी आवाज गूँज रही थी, घोड़ाओं उल्लासपूर्वक उछल रहे थे, मदोन्मत्त हाथी परस्पर सामने नजदीक में आ रहे थे, इस कारण से

युद्ध प्रेमी सुभटों का प्रसन्नता का कारण बना था, घोड़ों का समूह हर्षारव कर रहा था, कई भाट बिरुदावली बोल रहे थे, युद्ध के सुन्दर बाजे बज रहे थे, शूरवीरों की प्रेरणा से युद्ध में उत्तेजन किया जाता था, युद्ध की नोबत बज रही थी, परस्पर जोर से चिल्ला रहे थे, विचित्र ध्वजा आदि में चिन्हों की मोहर लग रही थी, परस्पर प्रहार करने की शर्तें लग रही थीं, सुभट बख्तर से बगल बाँध रहे थे, जोर-जोर से बड़े शंख बज रहे थे, तीक्ष्ण तलवार का प्रकाश उछल रहा था जो प्रचंड कोप का कारण था, इस तरह परस्पर दोनों सेना का वह महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इसमें कायर आदमी भागने लगे। घोड़े, हाथी, योद्धा आदि मारे गये, और प्रहार के समूह से जर्जरित बने देह रूप पिंजर धरती ऊपर गिरने लगे, इस प्रकार निश्चय जो महायुद्ध हुआ उसमें शत्रु का जो सेना युद्ध में आयी थी वह सागरी एक क्षण में ही भाग गयी। युद्ध करने में प्रबल महाभट जो कामरूप नामक राजा था उसे भी क्षण भर में जीत कर तुरन्त प्राण मुक्त कर दिया। शत्रुओं के कठोर प्रहार से घायल हुए शरीर वाला बंकचूल भी शत्रु को जीत कर युद्ध भूमि में से जल्दी निकला और प्रहारों से पीड़ित उज्जैन नगर में पहुँचा, उसके आगमन से राजा भी बहुत प्रसन्न हुआ। वैध का समूह एकत्रित होकर उसके प्रहारों का उपचार किया परन्तु लेशमात्र भी आरोग्यता प्राप्त न हुई, जखम पुनः खुले होने लगे, उस कारण से बंकचूल ने अपने जीने की आशा छोड़ दी, इससे पुनः शोक से गद्-गद् स्वर से राजा ने वैद्यों को कहा—अहो ! मेरे सेनापति यदि किसी भी दिव्य औषध से जल्दी निरोगी हो उस औषध को तुम बार-बार दो, उसके बाद वैद्यों में निपुण बुद्धि से शास्त्रों का विचार कर परस्पर निर्णय करके कौए के मांस की औषध उसके घाव के लिए लाभदायक बतलाया, फिर भी जैन धर्म के प्रति निरूपम् अनुराग से 'भले प्राण जाए परन्तु नियम नहीं जाए' इस निश्चय को याद करते उसने कौए के मांस का निषेध किया। 'उसका अत्यन्त स्नेहो जिनदास के कहने से इस औषध को करेगा' ऐसा मानकर राजा ने अपने पुरुष को भेजकर अन्य गाँव से जिनदास को बुलाने भेजा। जिनदास ने आते हुए रास्ते में दो देवियों को रोते हुए देखकर पूछा—तुम क्यों रो रही हो ? उन्होंने कहा कि—मांस नहीं खाने से मरकर बंकचूल हमारे सौधर्मकल्प की देवियों का नाथ होगा, परन्तु यदि तुम्हारे वचन मे किसी तरह भी मांस को खायेगा तो निश्चय नियम के भंग से वह अन्धव दूर्गति में पड़ेगा। इस कारण से हम रो रही हैं, अतः हे महाभाग ! यह सुनकर अब आपको जैसा योग्य हो वैसा करना।

यह सुनकर विस्मित मन वाला वह जिनदास उज्जैनी में गया, और वंकचूल को देखा, राजा के अति आग्रह से कहा—हे सुभग ! तू कौण के मांस का भक्षण क्यों नहीं करता ? निरोगी शरीर होने के बाद तू प्रायश्चित्त कर देना । वंकचूल ने कहा—हे धर्म मित्र ! तू भी ऐसा उपदेश क्यों दे रहा है ? जानबूझ कर नियम का खण्डन कर फिर क्या प्रायश्चित्त हितकर है ? यदि नियम का भंग कर फिर उसका प्रायश्चित्त करना तो उससे प्रथम ही नियम भंग नहीं करना वही योग्य है । इससे जिनदास ने राजा को कहा—हे देव ! यह प्राण का त्याग करेगा परन्तु चिरकाल से ग्रहण किये नियम को नहीं छोड़ेगा । इसलिए हे देव ! अब वंकचूल का परलोक हित करो ! निश्चित मृत्यु होने वाली है तो यह आकार्य करने से क्या लाभ ? ऐसा कहने से राजा ने श्रुतनिधि गीतार्थ साधुओं बुलाकर अन्तिम काल की विधि सहित धर्म का तत्त्व समझाया । उसके बाद वंकचूल ने साधु के पास में पूर्व के सारे दुराचारों की आलोचना करके समग्र जीवों से क्षमा याचना कर, पुनः अनेक व्रतों को सविशेषतया स्वीकार करके, आहार का त्याग करके, पंच परमेष्ठी मंत्र का जाप करते मरकर बारहवें अच्युत देवलोक में महद्विक देव हुआ । जिनदास भी अपने गाँव की ओर पुनः वापिस चला, रास्ते में उन दो देवियों को उसी तरह रोते देखकर बोला—वंकचूल ने मांस नहीं खाया है फिर तुम क्यों रो रही हो ? तब देवियों ने कहा—उसने विशेष धर्म की आराधना करने से वह हमारा पति नहीं बना, परन्तु वह तो बारहवें कल्प में उत्पन्न हुआ है । इस कारण से पुण्य रहित हम तो आज भी पति बिना इसी प्रकार रहीं इसलिए शोक कर रही हैं । उसके बाद जिनदास 'वंकचूल ने जैन धर्म के प्रभाव से सुन्दर देव ऋद्धि प्राप्त की' ऐसा जानकर इस तरह चिन्तन करने लगा—परम प्रीति से व्याकुल, नमे हुए इन्द्रों के समूह सोने के सुकुट से घिसते चरण कमल वाले सारे श्री जिनेश्वर भगवन्त विजयी हैं कि जिन्होंने मोक्ष अथवा देवलोक की लक्ष्मी का कर मिलाप करवाने में एक दक्ष रूप धर्म का उपदेश दिया है, उस धर्म के प्रभाव से अन्तिम समय में एक क्षण भी उसने अति शुद्धता पालन कर सारे गहरे पाप मैल को धोकर के वंकचूल के समान जीव श्रेष्ठगति को प्राप्त करते हैं उस श्री वीतराग परमात्मा का जगत्पूज्य धर्म विजयी रहे । इस तरह वंकचूल का चरित्र कहा, अब पूर्व में कथनानुसार चिलाती पुत्र का वृत्तान्त कहते हैं ।

चिलाती पुत्र की कथा

पृथ्वी प्रतिष्ठित नगर में श्री जैन शासन की निन्दा करने में आसक्त, अभिमानी पण्डित यज्ञदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। बाद में जो जिससे हारे वह उसका शिष्य हो जाए ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक करता था। एक दिन प्रवर बुद्धिमान साधु ने उसे बाद में जीत लिया, और उसे दीक्षा दी, परन्तु वह बाद में दीक्षा छोड़ने की इच्छा की तो उसे देवी ने निषेध किया, इससे वह साधु धर्म में निश्चल बना। तो भी जाति भेद के कारण मन में, शरीर, वस्त्र पर मैल जम जाने से उस पर घृणा करता था। उसके बाद अपने समग्र स्वजन वर्ग को प्रतिबोध दिया मगर जिसके साथ उसका विवाह हुआ था उस पर गाढ़ प्रेम होने से वह दीक्षा त्याग करना चाहता था, फिर भी निश्चल चित वाला सद् धर्म में तत्पर वह दिन व्यतीत करता था, अतः किसी दिन उसकी स्त्री ने अपने वश करने के विचार से उस साधु के आहार में वशीकरण चूर्ण दिया, उसके दोष से वह मुनि मरकर देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ, और पति की मृत्यु से विरक्त होकर उसने भी दीक्षा ली, वह भी आलोचना किये बिना मर कर देवलोक में उत्पन्न हुई। इधर यज्ञदेव का जीव देवलोक से आयुष्यपूर्ण कर राजगृह नगर में धन सार्थवाह के घर में साधुत्व पर घृणा करने के दोष से चिलानी नाम की दासी के पुत्र रूप में जन्म लिया। चिलाती दासी का पुत्र होने से लोगों में वह चिलती पुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, यज्ञदेव की स्त्री स्वर्ग से च्यवकर उसी धन सार्थवाह की पत्नी भद्रा की कुक्षि से पाँच पुत्रों के बाद सुषमा नाम की पुत्री रूप में पैदा हुई। उसी पुत्री की देखभाल रखने के लिए सेठ ने चिलाती पुत्र को नियुक्त कर दिया वह सायना होते ही बड़ा झगड़ा करने वाला और उदण्ड हो जाने से सार्थवाह ने उसे घर से निकाल दिया। वह घूमता फिरता एक पल्ली में गया वहाँ उसने गाढ़ विनय से पल्लीपति को अति प्रसन्न किया, फिर पल्लीपति मर गया तब चोर समूह इकट्ठा होकर 'यह योग्य है' ऐसा समझकर उसे पल्लीपति पद पर स्थापन किया और महा बल वाला अत्यन्त क्रूर वह गाँव, पुर, नगर आदि को मारने लूटने लगा।

एक समय उसने चोरों को कहा कि—राजगृह नगर में धन नामक सार्थवाह रहता है, उसकी सुषमा नाम की पुत्री है, वह मेरी और धन लूटो वह सब तुम्हारा। अतः चलो वहाँ जाकर उसे लूटकर आयें। चोर सहमत हुये, फिर रात को वे राजगृह में गये और अब स्वापिनी निद्रा देकर उस समय धन सार्थपति के घर में प्रवेश किया, चोरों ने घर लूटा और चिलाती पुत्र ने भी

उस सुषमा को ग्रहण की, पुत्रों सहित सार्थवाह भय से जल्दी अन्य स्थान पर चला गया। और इच्छित वस्तु लेकर पत्नीपति अपने स्थान की ओर चला। उसके बाद सूर्य उदय होते राजा के अनेक सुभटों से घिरे हुये पाँच पुत्रों सहित सार्थवाह शरीर ऊपर मजबूत बख्तर धारण कर पुत्री के स्नेह से जल्दी उसके पीछे-पीछे चले। धन सार्थपति ने सुभटों को कहा—मेरी पुत्री वापिस लाओ तो धन तुमको दे दूँगा, ऐसा कहने से सुभट उसके पीछे दौड़े, उनको आते देखकर चोर धन छोड़कर भागे और उम धन को लेकर सुभट जैसे आए थे वैसे वापस चले गये। पुत्र सहित सार्थवाह अकेले भी चोरों के पीछे पड़े और शीघ्रमेव चिलाती पुत्र के पास पहुँच गये। इससे चिलाती 'यह सुषमा किसी की भी न हो' ऐसा सोचकर उसका सिर काट डाला और उसे लेकर जल्दी भाग गया, तथा निराश होकर सार्थपति वहाँ से वापिस आया। चिलातीपुत्र ने जंगल में घूमते हुये काउस्सग ध्यान में स्थित एक महासत्त्व वाले मुनि को देखकर कहा—“अहो ! महामुनि ! मुझे संक्षेप से धर्म समझाओ, अन्यथा तेरे भी मस्तक को तलवार से फल समान काट दूँगा।” निभंय मुनि ने इस तरह भी उपकार होने वाला है ऐसा जानकर कहा—उपशम, विवेक और संवर इन तीन पदों में धर्म का सर्वस्व तत्त्व है। इन पदों को धारण करके वह एकान्त में सम्यग् रूप में चिन्तन करने लगा, उपशम शब्द अर्थ यह होता है कि क्रोधादिकषाओं का उपशम (सर्व का त्याग) करना है, वह क्रोधादि मेरे में से कम किस प्रकार हो सकते हैं ? वह क्रोधादि क्षमा नम्रता आदि गुणों को सेवन करने से शान्त हो सकते हैं। विवेक भी निश्चय से धन, स्वजन आदि त्याग करने के लिए होता है तो अब मुझे तलवार से क्या प्रयोजन है अथवा इस मस्तक से क्या लाभ ? और मैं इन्द्रियों और मन के विषयों से निर्वृत्ति रूप त्याग संवर अंगीकार करता है इस प्रकार चिन्तन मनन करते तलवार और मस्तक त्याग कर नासिका के अग्र भाग में दृष्टि स्थापन कर मन, वचन, काया के व्यापार को त्याग कर बार-बार उन तीन पदों के चिन्तन की गहराई में डूब गया और मेरु पर्वत के समान अति निश्चल वह काउस्सग ध्यान में खड़ा रहा, इधर चिलाती पुत्र के शरीर पर लिपटे हुये खून की दुर्गन्ध से वहाँ लुब्ध वज्र समान तीक्ष्ण चोंच युक्त मजबूत मुख वाली हज़ारों चींटियाँ आ गईं और शरीर के चारों ओर से भक्षण करने लगीं, चींटियों ने पैर से मस्तक तक भक्षण करके चिलाती पुत्र के सारे शरीर को छलनी समान बना दिया फिर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ। उम मुनि के शरीर को प्रचण्ड मुख वाली चींटियों ने भक्षण करने से शरीर में पड़े हुए छिद्र समस्त पाप को निकालने के

लिए बड़े द्वार जैसे दिखने लगे। इस तरह वह बुद्धिमान ढाई दिन तक घोर कष्ट को समभावपूर्वक सहन कर उत्तम चारित्र्य धन वाले महात्मा सहस्रार नामक आठवें देवलोक का सुख प्राप्त किया। इस तरह अत्यन्त उग्र मन, वचन, काया द्वारा पाप करने वाला नरक अधिकारी भी स्वर्ग सुख का अधिकारी बना है वह सर्व साधारण कहा है, अब यहाँ से प्रकृत—आराधना के योग्यता कहते हैं वह सुनो :—

सम्यग् रूप से निश्चयता द्वारा परमार्थ का ज्ञाता, अनार्य लोग के कार्य को छोड़ने में उद्यमशील, और जो गुण कहेंगे ऐसे गुण वाला गृहस्थ आराधन। के योग्य बनता है। लेकिन सम्यग् दर्शन जिसका मूल है वे पाँच अणुव्रत से संयोग, तीन गुणव्रतों से युक्त और चार शिक्षाव्रतों से सनाथ, जो श्रमणोपासक का धर्म उसे निरतिचार पालन कर और दर्शन आदि ग्यारह पडिमाओं को पालकर अपने बल-वीर्य की हानि जानकर शुद्ध परिणाम वाला श्रावक जैनाज्ञा के अनुसार अन्तिम काल की आराधना करे। गुरुदेवों का योग प्राप्त कर सवेगी गीतार्थ साधु के समान पाँच समिति से सीमित, तीन गुप्ति से गुप्त, सत्त्व बल वीर्य को नहीं रोकते। प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ते अत्यन्त श्रेष्ठ संवेग वाला, सूत्र अर्थ से मनोहर श्री जैन प्रवचन को सम्यग् रूप में जानकर उसकी आज्ञा में रहकर प्रयत्नपूर्वक अनुकूलता छोड़कर प्रतिकूलता को सहन करते दृढ़ लक्ष्य वाला और प्रमाद का त्याग में लगा हुआ आत्मा, चरण करण के पालन में समर्थ निष्पाप बल वीर्य पुरुषार्थ पराक्रम होने पर दीर्घकाल चारित्र्य पालन करता है और जब बल वीर्य आदि कम होने लगता तब आखिरी उम्र में शीघ्र-मेव आराधना करे। अन्यथा बल वीर्य आदि होने पर भी जो मूढ़ अन्तिम आराधना की इच्छा करे उसे मैं साधुना से हारा हुआ मानता हूँ, परन्तु जो धर्म स्वीकार करने के बाद शीघ्र ही विघ्न करने वाली व्याधि हो, अथवा मनुष्य तिर्यंच अथवा देव के अनुकूल उपसर्ग हो, या शत्रु चारित्र्य धन का अपहरण—चारित्र्य भ्रष्ट करे, दुष्काल अथवा अटवी में अत्यन्त गलत मार्ग में चला जाए, जंघा बल खत्म हो जाए या इन्द्रियों में मन्दता आ जाए, नए-नए विशेष धर्म गुणों के प्राप्ति की शक्ति कम हो जाए, अथवा अन्य कोई ऐसा भयानक कारण बन जाए तो शीघ्रमेव अन्तिम आराधना करनी चाहिए, तो वह दोष रूप नहीं है।

परन्तु जो स्वयं कुशील है, कुशील की संगति में ही प्रसन्न है, हमेशा पापी मन, वचन, काया रूप प्रचण्ड दण्ड वाला है वह आराधना के योग्य ही नहीं है। तथा प्रकृति से क्रूर चित्तवाला कषाय से क्लुषित, महान भयंकर द्वेषी,

अशान्त चित्तवाला, मोह से मूढ़, निदान करने वाला और जो जैन-सिद्ध, आचार्य आदि की आशात्मा में अति आसक्त, पर के संकट को देखकर मन में प्रसन्न होने वाला शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में महान गुद्धि वाला, सद्धर्म से पराङ्मुख, प्रमाद में तत्पर और सर्वत्र पश्चात्ताप बिना का हो वह भी आराधक नहीं होता है। तथा जो केवल स्वयं ही अधर्म वाला इतना ही नहीं, परन्तु स्वभाव से दूसरों को भी धर्मीजनों को विघ्न करने वाला चैत्यद्रव्य, साधारण द्रव्य के द्रोह से दुष्ट, ऋषि हत्या कर वाले में आदर वाला और जो श्री जिनेश्वर के आगम की उतमूत्र (विरोध में) उपदेश करने में तत्पर, और श्री जैन शासन के शरदचन्द्र की कीर्ति समान निर्मल यश को विनाश करने वाला और जो साठवीं जी के व्रत भंग करने वाला महापापी, परलोक की इच्छा बिना का, इस लोक के सुख में ही अति रागी, हमेशा अट्ठारह पाप स्थानक में आसक्त मन वाला, और शिष्ट पुरुषों को एवं धर्म-शास्त्रों के जो विरुद्ध कार्यों में भी गाढ़ राग वाला हो, उनकी आराधना योग्य नहीं है। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—जिस शस्त्र, अग्नि, विष, विशूचिका रोग, शिकारी पशु या पानी आदि का संकट प्राप्त हुआ हो, वह शीघ्र मरने वाला कैसे आराधक हो सकता है? क्योंकि ये प्रत्येक संकट शीघ्र प्राण लेने वाले हैं। गुरु महाराजा ने उत्तर दिया—वह भी निश्चय ही मधुराजा अथवा सुकौशल महाराजपि ने जिस तरह आराधना की थी उसी तरह संक्षेप से आराधना करनी चाहिए। क्योंकि निश्चय बुद्धिबल से युक्त, शीघ्र उपसर्ग उपस्थित होने पर अथवा आ जाने पर भी उपसर्ग जन्य भय को वह नहीं गिनता निर्भय होता है यद्यपि जब तक बल वाला है, तब तक भी आत्महित में सम्यग् मन को लगाने वाला, अमूढ़ लक्ष्य वाला, जीवन मृत्यु में राग द्वेष से रहित मृत्यु नजदीक आने पर भी सग्राम में सुभट के समान मुख की प्रसन्नता कम नहीं होती, वैसे ही महासत्त्व वाला होता है वह संक्षेप से भी आराधना कर सकता है। इस तरह शास्त्रों में कही हुई युक्तियों से युक्त और परिकर्म विधि आदि चार बड़े मूल द्वार वाली यह संवेग रंगशाला में आराधना का प्रथम परिकर्म द्वार के पन्द्रह अन्तर द्वार में प्रथम यह अर्ह अर्थात् योग्यता सम्बन्धी द्वार विस्तार से कहा है।

दूसरा लिंग द्वार—आराधना में योग्य कौन है, वह कहा, अब उस योग्य को जिस चित्तों से जान सकते हैं उस लिंगों को या चित्तों को कहते हैं। परलोक को साधने वाला नित्य कर्त्तव्य रूप जिन कथित जो योग पूर्व में कहा था उसमें ही अब संवेग रस की वृद्धि से विशेषतापूर्वक सम्यग् दृढ़ उद्यम करना, उस आराधना के योग्य जीव का आराधना रूपी लिंग है।

आराधक गृहस्थ का लिंग—उत्सर्ग से उस श्रावक को शस्त्र, मूसल आदि अधिकरणों का त्याग, पुष्पादि माला, वर्णक तथा चन्दनादिक विलेपन और उद्बर्तनादि का त्याग, शरीर का प्रतिकर्म औषध आदि करने का त्याग, एकान्त प्रदेश में रहना, लज्जा को केवल ढांकने के लिए ही वस्त्र धारण करना, समभाव से वासित रहना, जब-जब समय मिले तब-तब प्रतिक्षण में भी सामायिक पौषध आदि में रक्त रहना, राग का त्याग करना, तथा संसार की निर्गुणता के लिए चिन्तन करना, सद्धर्म कर्म में उद्यत मनुष्यों से रहित गाँव या स्थान का त्याग करना, काम-विकार के उत्पादक द्रव्यों की अभिलाषा त्याग करना, हमेशा गुरुजनों के वचनों को अनुराग से सात धातुओं में व्याप्त करना, प्रतिदिन परिमित प्रासुक अन्न, जल का सेवन करना, इत्यादि गुणों का अभ्यास करना, वह निश्चय से आराधक गृहस्थ के लिंग हैं। साधु के भी सर्व साधारण लिंग इसी प्रकार जानना।

साधु के लिंग—(१) मुहपत्ति, (२) रजोहरण (ओघा), (३) शरीर की देखभाल नहीं करना, (४) वस्त्र रहितत्व, और (५) केश का लोचक। ये पाँच उत्सर्ग से साधुता के चिह्न हैं, इन चिह्नों से (१) संयम यात्रा की साधना होती है, (२) चारित्र्य की निशानी होती है, (३) ये वस्तुयें पास होने से मनुष्य को साधुत्व रूप विश्वास-पूज्य भाव होता है, (४) इससे संयम में स्थिरता का कारण होता है, और (५) साधु वेश धारण करने से गृहस्थ का कार्य नहीं कर सकता है इससे गृहस्थ का त्याग आदि गुणों की प्राप्ति होती है। उस वेश को साधु ने किसी प्रकार विशेष संस्कार किए बिना ही जैसे मिला हो वैसा ही संयम को बाधा रूप न हो इस तरह शरीर के साथ धारण कर रखना और सूत्र में स्थविर कल्पीयों की उपधि के चौदह प्रकार कहे हैं।

मुहपत्ति आदि लिंगों का प्रयोजन और उसका लाभ—मुनि को मुखवस्त्र का मस्तक और नाभ के ऊपर शरीर के प्रमाज्जन करने के लिए हैं और मुख के श्वासोच्छ्वास वायु की रक्षा के लिए और धूल से रक्षा के लिए रखने को कहा है। यह मुहपत्ति द्वार कहा। जो रज और पसीने के मैल से रहित हो, मृदुता, कोमलता और हलका हो ऐसे पाँच गुणों से युक्त रजोहरण की ज्ञानियों ने प्रशंसा की है। जाने आने में, खड़े होने में, कोई वस्तु रखने में, अलग करने में, तथा बैठने में, सोने में, करवट बदलने में इत्यादि कार्य में प्रमाज्जन के लिए रजोहरण है। यह रजोहरण द्वार कहा। शरीर मसलना, स्नान, उद्बर्तन तथा बाल दाढ़ी मूँछ को स्वस्थ सुशोभित रखना, दाँत, मुख, नासिका तथा नेत्र भ्रुकुटी को स्वच्छ रखना आदि

शुश्रूषा को नहीं करने वाला तथा ऋक्ष और पसीने के मेल से युक्त शरीर वाला लोच करने से शोभा रहित मस्तक वाला, बड़े नख-रोम वाला जो साधु हो वह ब्रह्मचर्य का रक्षण करने वाला है यह शरीर शुश्रूषा त्याग द्वार कहा। पुराने, मलीन, प्रमाणोपेत—प्रमाणानुसार, अल्प मूल्य वाले वस्त्र जीव रक्षा के लिए रखने से भी वस्त्र रहित तत्त्व जानना इससे परिग्रह का त्याग होता है, अल्प उपधि होती है, अल्प पडिलेहन होती है निर्भयता, विश्वासपात्रता, शरीर सुखों का अनादर, जिनकी सादृश्यता, वीर्यचार का पालन, रागादि दोषों का त्याग, इत्यादि अनेक गुणों आचेलकय से होता है। यह आचेलय द्वार है।

लोच से लाभ :—(१) महासात्त्विकता प्रगट होता है, (२) श्री जिनाज्ञा पालन रूप जिनेश्वर भगवान का बहुमान होता है, (३) दुःख सहनता, (४) नरकारि की भावना से निर्वेद, (५) अपनी परीक्षा और (६) अपनी धर्म श्रद्धा, (७) सुखशीलता का त्याग और (८) क्षुर कर्म से होने वाला पूर्व-पश्चात् कर्म के दोषों का त्याग होता है, (९) शरीर में भी निर्ममत्व, (१०) शोभा का त्याग, (११) निर्विकारता और (१२) आत्मा का दमन होता है। इस प्रकार लोच में विविध गुणों की प्राप्ति होती है, और दूसरे लोच करने से जूँ आदि होने से पीड़ा होती है, मन में संकलेश होता है, और हर समय खुजाने से परिताप आदि दोष होते हैं। यह लोच द्वार कहा है। इस तरह साधु सम्बन्धी पाँच प्रकार का सामान्य लिंग कहा है। अब गृहस्थ और साधु दोनों के उन लिंगों के कुछ विशेष कहूँगा।

गृहस्थ साधु के सामान्य लिंग :—ज्ञानादि गुण, गुणों की खान श्री गुरुदेव के चरण कमल की सेवा करने में तत्परता, थोड़े भी अपराध होने पर बार-बार अपनी निन्दा, सविशेष आराधना करने में रक्त मुनियों की श्रेष्ठ कथाएँ सुनने की इच्छा, अतिचार रूपी कीचड़ से मुक्त, निरतिचार जीवन व्यतीत करने वाला, मूल गुणों की आराधना में प्रीति, पिंड विशुद्धि आदि मुख्य क्रियाओं में बद्ध लक्ष्य, पूर्व में स्वीकार किये संयम में लिखध स्थिरता, इत्यादि गुणों के समूह वह साधुओं का विशेष लिंग जानना, हित की अभिकांक्षा वाले गृहस्थों को भी यह लिंग यथायोग्य जानना। केवल ऐसे गुण वाले भी जो किसी कारण क्रोध से फंसकर संयम में प्रेरणा करने द्वारा सद्गति के प्रस्थान में सार्थपति समान सद्गुरु प्रतिप्रद्वेष करता है, वह कुलबालक मुनि के समान शीघ्र आराधना रूपी धर्म के महान् निधान की प्राप्ति से भ्रष्ट होता है। उसकी कथा इस प्रकार है :—

कुलबालक मुनि की कथा

चरण करण आदि गुणमणि के प्रादुर्भाव के लिए रोहण चल समान, उत्तम संघयण वाले, मोहमल्ल को जीतने वाले, महान् महिमा से किसी द्वारा पराभव नहीं होने वाले और अनेक शिष्य परिवार युक्त संगमसिंह नामक आचार्य थे। उनका प्रकृति से उद्भूत स्वभाव वाला एक शिष्य था। वह अपनी बुद्धि अनुसार दुष्कर तपस्या आदि करता था, परन्तु कदाग्रह के कारण आज्ञानुसार चारित्र्य को पालन नहीं करता था। उसे आचार्य जो प्रेरणा करते थे कि—कठिनाई से समझ सके ऐसे हे दुष्ट! इस तरह शास्त्र विरुद्ध कष्ट सहन करने से आत्मा को निष्फल सन्ताप क्यों कर रहा है? आज्ञा पालन में ही चारित्र्य है, उस आज्ञा का खंडन होने के बाद समझ कि क्या शेष रहता है? अर्थात् आज्ञा बिना की प्रत्येक प्रवृत्ति विराधना रूप है और आज्ञा का उल्लंघन करके तू शेष अनुष्ठान करता है वह किसकी आज्ञा से करता है? ऐसा उपदेश देने से गुरु के प्रति वह उग्र बैरभाव रखने लगा। किसी दिन उसे अकेले को साथ लेकर गुरु महाराज सिद्ध शिला के ऊपर वंदन करने को एक पर्वत ऊपर चढ़े, और वहाँ चिरकाल नमस्कार करके धीरे-धीरे उतरने लगे। तब उस दुर्विनोत ने विचार किया कि वास्तविक यह अच्छा मौका मिला है, कि जिससे दुर्वचनों का भण्डार रूप इन आचार्य को मैं यहीं मार दूँ। यदि इस समय मैं असहायक होने पर भी इसकी उपेक्षा करूँगा तो जिन्दगी तक दुष्ट वचनों द्वारा मेरा तिरस्कार होगा। ऐसा सोचकर आचार्य श्री जी को मारने के लिए पीछे चलते उसने बड़ी पत्थर की शिला को धक्का देकर गिराई, और किसी तरह से गुरु जी ने उस देख लिया और उससे शीघ्र हट कर आचार्य श्री ने कहा—हे महादुराचारी! गुरु का शत्रु! यह अत्यन्त महापाप में तू क्यों उद्यम करता है? लोक व्यवहार को भी क्या तू नहीं जानता कि जिसके उपकार के बदले में समग्र तीन लोक का दान भी अल्प है, ऐसे उपकार को तू मारने की बुद्धि करता है? कई शिष्य केवल तृण दूर करने में भी उपकार मानते हैं और दूसरे तेरे समान दीर्घ समय से अच्छी तरह से पालन करने पर भी मारने की तैयारी करता है। अथवा कुपात्र का संग्रह करने से निश्चय ऐसा ही परिणाम आता है, महाजहरी सर्प के साथ मित्रता कभी नहीं हो सकती। हे पापी! इस प्रकार के महान् पापकर्मों से मुकृत पुण्य को मूल में से खत्म कर देता है और इससे सर्वज्ञ धर्म पालन करने में अत्यन्त अयोग्य है तेरे इस पाप से निश्चय ही स्त्री के सम्बन्ध से चारित्र्य का त्याग होगा, ऐसा श्राप देकर आचार्य श्री उस तरह गये उसी तरह वे वापिस आए।

(अब ऐसा कहूँ कि जिससे आचार्य श्री के वचन को असत्य बना दूँ) ऐसा सोचकर वह कुशिष्ठ अरण्य भूमि में गया। वहाँ मनुष्य के संचार बिना एक तापस के आश्रम में रहा और नदी के किनारे पर उग्रतप करने लगा। उसके बाद वर्षाकाल आया, तब उसके तप के प्रभाव से प्रसन्न होकर देवी ने 'इस साधु को पानी द्वारा नदी खींचकर नहीं ले जाए' ऐसा विचार कर नदी का प्रवाह सामने किनारे पर घुमा दिया। इस तरह नदी का प्रवाह दूसरे किनारे पर बहते हुए देखकर उस प्रदेश के निवासी लोगों ने उसके गुण अनुसार उसका नाम कूल बालक रखा। उस मार्ग से प्रस्थान करते साथवाहों में से भिक्षा लेकर जीवन व्यतीत करता था।

इधर चम्पानगरी में श्रेणिक राजा का पुत्र पराक्रम से शत्रु समूह को हराने वाला अशोक चन्द्र नामक राजा था। उसके हल्ल और विहल्ल नाम से छोटे भाई थे उनको श्रेणिक ने श्रेष्ठ हाथी और हार भेंट रूप में दिया था। इसके अतिरिक्त दीक्षा लेते समय अभय कुमार ने भी अपनी माता को रेशमी वस्त्र और दो कुण्डल भेंट दिये थे। उन वस्त्र, हार और कुण्डलों से शोभित हाथी ऊपर बैठे हुए उनको चम्पानगरी त्रिमार्ग, चार मार्ग आदि में घूमते दो गुंदक देव के समान क्रोडा करते देखकर ईर्ष्या से रानी ने अशोक चन्द्र को कहा कि—हे देव ! वस्तुतः राजलक्ष्मी तो तुम्हारे भाइयों को मिली है कि जिससे इस तरह अलंकृत होकर हाथी के कन्ध पर बैठकर वे आनन्द का अनुभव करते हैं, और तुम्हें तो केवल एक कष्ट के बिना राज्य का दूसरा कोई फल नहीं है इसलिए आप यह हाथी आदि रत्न उनके पास से माँगो। राजा ने कहा—हे मृगाक्षी ! पिताजा ने स्वयं छोटे भाइयों को यह रत्न दिये हैं उनसे माँगने में मुझे लज्जा नहीं आयेगी ? उसने कहा—हे नाथ ! दूसरा अच्छा राज्य उनको देकर हाथी आदि रत्नों को लेने में आपको लज्जा कैसे आयेगी ? इस तरह बार-बार उससे तिरस्कारपूर्वक कहने से राजा ने एक समय हल्ल, विहल्ल को प्रेमपूर्वक बुलाकर इस प्रकार कहा—हे भाइयों ! मैं तुम्हें अन्य बहुत हाथी, घोड़े, रत्न, देश आदि देता हूँ और तुम मुझे बदले में यह श्रेष्ठ हस्तिरत्न दे दो। 'इस पर विचार करेंग।' ऐसा कहकर वे अपने स्थान पर गये और बल-जबरी कहीं ग्रहण कर ले इस भय से रात्री के समय में हाथी पर बैठकर कोई मनुष्य नहीं जाने इस तरह निकलकर उसने वैशाली नगर में चेतक राजा का आश्रय लिया, उनके जाने के बाद अशोक चन्द्र को जानकारी मिली तब विनय से हल्ल, विहल्ल को शीघ्र भेजने के लिए दूत द्वारा चेतक राजा को निवेदन किया। चेतक ने कहा कि मैं उन्हें बलात्कार से उनको किस तरह निकाल दूँ ?

स्वयमेव तुझे समझाकर ले जाना उचित है क्योंकि—ये दो और तीसरा तू भानजें हैं, मुझे किसी के प्रति भेदभाव नहीं है केवल मेरे घर आया है उसे जबरदस्ती मैं नहीं भेज सकता हूँ। यह उत्तर सुनकर रोष वाले उसने फिर चेटक को कहलवाया कि कुमार को भेजो अथवा जल्दी युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने युद्ध स्वीकार किया, इससे समग्र सामग्री लेकर अशोक चंद्र शीघ्र वैशाली नगर पहुँचा और युद्ध करने लगा। केवल चेटक महाराजा ने उस अशोक चन्द्र के काल आदि दस सौतेले भाइयों को सफल अमोघ एक-एक बाण मारकर दस दिन में दस को मार दिया, क्योंकि निश्चय से उसने एक दिन में एक ही बाण मारने का नियम लिया था। अतः ग्यारहवें दिन भयभीत बने अशोक चन्द्र ने विचार किया—आज युद्ध करूँगा तो अब मैं खत्म हो जाऊँगा, इसलिए लड़ना योग्य नहीं है। इस तरह युद्ध भूमि में से जल्दी खिसककर दैव सहायता की इच्छा से उसने अट्ठम तप किया, उस अट्ठम तप के प्रभाव से सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र भी पूर्व संगति को याद करके उसके पास आए और कहने लगे कि—भो देवानु प्रिय ! कहो, तुम्हें क्या इष्ट दें ? राजा ने कहा—मेरे वैरी चेटक को मार दो ! शकेन्द्र ने कहा—परम समंकित दृष्टि श्रावक है इसे हम नहीं मार सकते हैं, यदि तुम कहो तो उसकी और तुम्हारी भी सहायता करूँगा। अच्छा ऐसा भी करना। ऐसा कहकर अशोक चन्द्र ने चेटक राजा के साथ युद्ध आरम्भ किया, इन्द्र की अबाधित सहायता के प्रभाव से दुर्दर्शनीय तेजस्वी बनकर वह शत्रु के पक्ष मारता हुआ जब चेटक के पास पहुँचा, तब यम के दूत समान चेटक राजा ने कान तक खींचकर अमोघ बाण उसके ऊपर फेंका, और वह बाण चमरेन्द्र ने बनाई हुई स्फटिक की शिला के साथ टकराया, उसे देखकर चेतक राजा सहसा आश्चर्यचकित हुआ, फिर अमोघ शस्त्र स्खलित हुआ इससे अब मुझे युद्ध करना योग्य नहीं है। ऐसा विचार कर वह शीघ्र नगर में गया। लेकिन चमरेन्द्र और शकेन्द्र ने निर्माण किया रथयुद्ध, मुशलयुद्ध, शिलायुद्ध और कंटकयुद्ध करने से उसकी चतुरंग सेना बहुत खत्म हुई। फिर नगर का घेराव डालकर अशोक चन्द्र बहुत समय पड़ा रहा, परन्तु ऊँचे किले से शोभता वह नगर किसी तरह से खण्डित नहीं हुआ। जब नगरी तोड़ने में असमर्थ बने राजा शोकातुर हुआ तब देवी ने कहा कि—जब कुल बाहक साधु मागधिका वेश्या का सेवन करेगा तब राजा अशोक चन्द्र वैशाली नगरी को काबू करेगा, कामरूपी संपुट से अमृत के समान उन शब्दों का पान करके हर्ष से प्रसन्न मुख

हुआ राजा ने लोगों को उस साधु के विषय में पूछा, तब किसी तरह लोगों द्वारा उसे नदी किनारे रहा हुआ जानकर वेश्याओं में अप्रसर मागधिका वेश्या को बुलाकर कहा कि—हे भद्रे ! तू कुल बालक साधु को यहाँ ले आ । विनय से विनम्र बनकर 'ऐसा कलूंगी' ऐसा उसने स्वीकार किया ।

मागधिका वेश्या कपटी श्राविका बनकर कई व्यक्तियों को साथ लेकर उस स्थान पर गई, वहाँ उसने साधु को वन्दन कर विनयपूर्वक इस प्रकार कहा—घर का नाथ पतिदेव स्वर्गवास होने से जिन मन्दिरों वन्दन करती यात्रार्थ घूमती फिरती मैं आपका नाम सुनकर यहाँ वन्दन के लिए आई हूँ । इससे हे मुनिश्वर ! भिक्षा लेकर मुझे प्रसन्न करो क्योंकि तुम्हारे जैसे सुपात्र में अल्पदान देने से भी शीघ्र स्वर्ग और मोक्ष के सुखों का कारण रूप होता है । इस तरह बहुत कहने से वह कुल बालक भिक्षार्थ आया, और उसने दुष्ट द्रव्य से संयुक्त लड्डु दिये, वह खाते ही उस समय उसे बदहजमी होने से बहुत अतिसार रोग हो गया, इससे अति निर्बल होने से करवट बदलने आदि में भी अशक्त हुआ । वेश्या ने उससे कहा—भगवन्त ! उत्सर्ग अपवाद मार्ग जानती हूँ, गुरु-स्वामी और बन्धु तुल्य मानकर आपके रोगों को प्रासुक द्रव्यों से कुछ प्रतिकार कलूंगी, इसमें भी यदि कुछ असंयम हो जाए तो शरीर स्वस्थ होने के बाद इस विषय में प्रायश्चित्त कर देना । अतः हे भगवन्त ! आप मुझे आज्ञा दीजिए, जिससे आप श्री की वैयावच्य (सेवा) कलूँ, प्रयत्नपूर्वक आत्मा—जीवन की रक्षा करनी चाहिए कारण शास्त्र में इस प्रकार कहा है (औष निर्युक्ति गाथा ४४) कि "सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिये और किसी विशेष कारण से संयम का गौण करके भी जीवन की रक्षा करते साधु अति क्रम से—प्राणातिपात से बचे फिर प्रायश्चित्त करे परन्तु अविरति का आचरण नहीं करे ।" इस प्रकार सिद्धान्त के अभिप्रायः का साररूप उसके वचन सुनकर उसने मागधिका को आज्ञा दी, इससे प्रसन्न होकर उसके पास रहकर सेवा करती, हमेशा शरीर को मसलना, धोना, बैठाना आदि सब क्रियाएँ करने लगी । कई दिन इस तरह पालन करके उसने औषध के प्रयोग से उस तपस्वी का शरीर लीला मात्र से स्वस्थ कर दिया । उसके बाद अति उद्भट शृंगार वाले उत्तम वेश धारण कर सुन्दर अंग वाली उसने एक दिन विकारपूर्वक मुनि को कहा—हे प्राणनाथ ! मेरी बात सुनो ! गाढ़ राग वाली होने से प्रिय और सुख समूह की निधिरूप मुझे आप सेवन करें, अब यह दुष्कर तपस्या को छोड़ दो, प्रतिदिन शरीर का शोषण करने वाला वैरी रूप यह तप को करने से भी क्या लाभ है ? मोगरे

की कली समान दाँत वाली मुझे प्राप्त किया है वह ! हे पतिदेव ! आपने तप का ही फल प्राप्त किया है। अथवा दुष्ट श्वापद आदि समूह में दुःख पूर्वक रहने योग्य इस अरण्य का तुमने क्यों आश्रय लिया है ? चलो रति के समान स्त्रियों से भरे हुये सुन्दर मनोहर नगर में चलें। अरे भोले ! तू धोखेबाज से ठगा गया है कि जिससे मस्तक मूँडाकर यहाँ रहता है, तू हमेशा मेरे भवन में मेरे साथ क्यों विलास नहीं करता। हे नाथ ! तेरे थोड़े विरह में भी निश्चित ही मेरे प्राण निकल जाते हैं, अतः चलो साथ ही चलें और दूर-दूर देश में रहे तीर्थों को बन्दन नमस्कार करेंगे। इससे तेरे भी और मेरे भी समस्त पाप क्षय हो जायेंगे। इसलिए हे नाथ ! जब तक इस जन्म में थोड़ा कुछ भी जीयें तब तक पाँच प्रकार के विषयों का सेवन करें। इस प्रकार उसने विचारपूर्वक कोमल वाणी द्वारा कहने से संक्षोभ हुए उसने धैर्य छोड़कर दीक्षा का त्याग किया।

इससे अत्यन्त प्रसन्न मन वाली वह उसे साथ ले अशोक चन्द्र राजा के पास पहुँची और चरणों में गिरकर उसने विनती की कि—हे देव ! वह यही कुल बालक मुनि मेरा प्राणनाथ है, इसलिए अब इसके द्वारा जो करवाना हो उसकी आज्ञा दीजिए। राजा ने कहा—हे भद्र ! तू ऐसा कार्य कर कि जिससे यह नगर नष्ट हो जाए, तब उसने आज्ञा को स्वीकार कर त्रिदण्डी का रूप धारण करके वह नगर में गया, वहाँ फिरते उसने श्री मुनि सुव्रत स्वामी का स्तूप देखकर विचार किया कि—निश्चय ही इस स्तूप के प्रभाव से ही नगरी नष्ट नहीं होती है। इसलिए मैं ऐसा करूँ कि जिससे नगरवासी मनुष्य स्वयं ही इस स्तूप का नाश करें, ऐसा सोचकर उसने कहा—अरे लोगों ! यदि इस स्तूप को दूर करो तो शीघ्र ही शत्रु सैन्य स्वदेश में चला जायेगा, नहीं तो जिन्दगी तक नगरी का घेराव नहीं उठेगा। इस तरफ राजा को भी संकेत किया जब लोग स्तूप को तोड़ें तब तुम्हें भी समग्र अपनी सेना को लेकर दूर चले जाना। फिर लोगों ने पूछा—हे भगवन् ! इस विषय पर विश्वास कैसे होगा ? उसने कहा—स्तूप को थोड़ा तोड़कर देखो, शत्रु सैन्य दूर जाती है या नहीं जाती, इस बात का विश्वास हो जायेगा। ऐसा कहने से लोगों ने स्तूप के शिखर के अग्रभाग को तोड़ने लगे इससे शत्रु सैन्य जाते हुये देखकर विश्वास हो जाने से सम्पूर्ण स्तूप को भी उन्होंने तोड़ दिया और सैन्य वापिस घुमाकर राजा ने नगर पर हमला कर नगर को काबू कर लिया, लोगों को विडम्बना की, और चेटक राजा जैन प्रतिमा को लेकर कुएं में गया। इस प्रकार सद्गुरु के प्रत्य निकलने के दोष से कुल बालक मुनि ऐसे पर्वत के समान महापाप

राशी का पात्र बना । इस तरह अति दुष्कर तपस्या में रक्त और अरण्यवासी भी वह प्रतिज्ञा भंजक बना, वह सब गुरु के प्रति द्वेष करने का फल जानना । इस कारण से आराधना के योग्य जीवों को गुरुदेव को प्रसन्न करना चाहिये । उसी को आराधना का विशिष्ट लिंग कहा है । अधिक इस विषय पर क्या कहें । इस प्रकार मोक्ष मार्ग के रथ समान परिकर्म विधि आदि चार बड़े मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला में पन्द्रह प्रति द्वार वाला आराधना के प्रथम परिकर्म द्वार का यह दूसरा लिंग अन्तर द्वार कहा है । पूर्व कहे लिंगों वाला भी शिक्षा बिना सम्यग् आराधना को नहीं प्राप्त करता है, इस कारण से अब शिक्षा द्वार कहते हैं :—

तीसरा शिक्षा द्वार और उसके भेद—वह शिक्षा (१) ग्रहण, (२) आसे-पन, और (३) तदुभय । इस तरह तीन प्रकार की है, उसमें ज्ञानाभ्यास रूप शिक्षा को ग्रहण-शिक्षा कहलाती है, और वह साधु तथा श्रावक को भी जघन्य से सूत्रार्थ के आश्रित अल्प बुद्धि वाले को भी आठ प्रवचन माता तक तो ज्ञान होता ही है । उत्कृष्ट से तो साधु को सूत्र से और अर्थ से ग्रहण शिक्षा अष्ट प्रवचन माता आदि से लेकर बिन्दुसार नामक चौदहवाँ पूर्व तक ज्ञान होता है । गृहस्थ को भी सूत्र से उत्कृष्ट छज्जीर्वनिकाय दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन तक और अर्थ को पाँचवाँ पिंडेषणा अध्ययन तक जानना, क्योंकि प्रवचन माता के ज्ञान बिना निश्चय वह सामायिक भी किस तरह कर सकता है ? और छज्जीर्वनिकाय के ज्ञान बिना जीवों की रक्षा भी किस तरह से कर सकता है ? अथवा पिंडेषणा के अर्थ जाने बिना साधु महाराज को प्रासुक और एषणीय आहार पानी वस्त्र पात्र को किस तरह दे सकता है । अतः धीरे-धीरे संसार समुद्र को तैरने में नाव तुल्य प्रशस्त गुण प्रकट का प्रभाव वाला, पुण्यानुबन्धी पुण्य का कारण परम कल्याण आदि स्वरूप वाला है और अन्त में भी मधुर हितकर प्रमादरूपी दृढ़ पर्वत को तोड़ने में वज्र समान पापरहित और जन्म-मरण रूपी रोगों को नाश करने के लिये मनोहर रसायण की क्रिया सद्गुरु श्री जैन वचन की प्रथम सूत्र से शुद्ध और अखण्ड अध्ययन करना चाहिये, फिर सुसाधु के पास उसको अर्थ से सम्यग् सुनना चाहिये । आत्मा में अनुबन्ध और स्थिरोत्थरण करने के लिए एक बार पढ़ा हुआ सूत्र का और सुने हुये अर्थ का भी जिन्दगी तक प्रयत्नपूर्वक बार-बार चिन्तन—अनुप्रेक्षण करना चाहिए ।

भूत ज्ञान का लाभ :—मैंने अति पुण्य से यह कोई परम तत्त्व को प्राप्त किया है, ऐसा निखट भाव से उसका बहुत मान करे, सर्व प्रकार से कल्याण

करने वाला, सद्गति के मार्ग का प्रकाशक और भगवन्त के उस श्री जैन वचन का कल्याण हो कि जिससे ये गुण प्रकट गये हैं। ज्ञान से आत्महित का होश, भाव संवर, नया-नया संवेग बढ़ता तप, भावना, परोपदेशत्व, और जीव अजीव-आश्रव आदि तात्त्विक सर्व भाव का तथा इस जन्म, परभव सम्बन्धी आत्मा का हित अहित आदि सम्यक् समझ में आता है। आत्महित का अज्ञानी मूढ़ जीव उलझन में पड़ता है, पापों को करता है और पापों के कारण अनन्त संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है। क्योंकि आत्महित को जाने उसे अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होती है, इसलिए हमेशा आत्महित को जानना चाहिये। और स्वाध्याय को करने वाला पाँचों इन्द्रियों के विकारों को संवर करने वाला, तीन गुप्ति से गुप्त बनकर राग द्वेषादि घोर अशुभ भावों को रोकता है। जैसे-जैसे तात्त्विक इसके अतिशय विस्तारपूर्वक नये-नये श्रुत का अवगाहन करता है वैसे-वैसे नयी-नयी संवेग की श्रद्धा होने से मुनि को महानन्द प्राप्त होता है। और लाभ, हानि की विधि को जानता, विशुद्ध लेश्या वाला और स्थिर मन वाला वह ज्ञानी जिन्दगी तक तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में मनोरंजन करता है। कहा है कि श्री अरिहंत देव के द्वारा कहा हुआ बाह्य, अभ्यन्तर बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय समान तप कर्म न है और नहीं होने वाला है। स्वाध्याय का चिन्तन करने से जीव की सर्व गुप्तियाँ भाव वाली बनती हैं और भाव वाली गुप्तियों से जीवमरण के समय में आराधक बनता है। परोपदेश देने से स्व पर का उद्धार होता है, जिनाज्ञा प्रति वात्सल्य जागृत होता है, शासन की प्रभावना, श्रुत भक्ति और तीर्थ का अविच्छेद होता है। और अनादि के अभ्यास उपदेश बिना भी लोग काम और अर्थ में तो कुशल है, परन्तु धर्म तो ग्रहण शिक्षा ज्ञान बिना नहीं होता है, इसलिए इसमें प्रयत्न करना चाहिये। यदि अन्य मनुष्यों को धन आदि में अविधि करने से उसका धन आदि का अभाव ही होता है तो रोग चिकित्सा के दृष्टान्त से धर्म में भी अविधि अनर्थ के लिए होती है। इसलिए धर्मार्थी ग्रहण शिक्षा में हमेशा प्रयत्न वाला होना चाहिए क्योंकि मोहान्ध मनुष्यों को उस ज्ञान का प्रकाश धर्म प्रवृत्ति में प्रेरक बनता है। जगत में ज्ञान चिन्तामणि है, ज्ञान श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है, ज्ञानविश्वव्यापी चक्षु है और ज्ञान धर्म का साधन है। जिसको इसमें बहुमान नहीं है उसकी धर्म क्रिया लोक में जाति अंध (जन्म से अंध) को नाटक देखने क्रिया के समान निष्फल कहा है। और ज्ञान बिना जो स्वेच्छाचार से कार्य में प्रवृत्ति करता है वह कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता है, सुखी नहीं

होता अर्थात् उसकी श्रेष्ठ गति नहीं है। अतः कार्य सिद्धि की इच्छा वाले को प्रमाद छोड़कर प्रथम से ही सदा ज्ञान को ग्रहण करने में सम्यक् प्रयत्न करना चाहिये और प्रस्तुत विषय में शास्त्रोक्त सर्व नयों का विविध मतों का संग्रह रूप ज्ञाननय और क्रिया नय नाम के दो ही नय हैं। इसमें ज्ञाननय का मत यह है कि निश्चय कार्य का अर्थी सर्व प्रकार से हमेशा ग्रहण शिक्षा में जो सम्यग् यत्न करे, वह इस तरह—ग्रहण शिक्षा से हेय, उपादेय अर्थ को सम्यग् रूप जानना उसके बाद में ही बुद्धिमान को कार्य में प्रयत्न करना चाहिये, अन्यथा फल में विपरीतता होती है। मिथ्या ज्ञान से प्रवृत्ति करने वाले को फल की प्राप्ति विपरीत होने से मनुष्यों को फल सिद्ध का एक ही हेतु सम्यग् ज्ञान ही है, क्रिया नहीं है। इस प्रकार इस लोक के फल के लिए जैसे कहा, वैसे जन्मान्तर के फल की भी यही विधि है, क्योंकि श्री जिनेश्वरों ने कहा कि “प्रथम ज्ञान फिर दया-क्रिया” इस तरह सर्व विषय में प्रवृत्ति करते साधु संयम का पालन करे। अज्ञानी क्या करेगा ? और पुण्य तथा पाप को क्या जानोगे ? यहाँ पर जैसे क्षायेपशमिक ज्ञान विशिष्ट फल साधक है वैसे क्षायिक ज्ञान भी सम्यग् विशिष्ट फल साधक है। ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि संसार समुद्र को पार उतरने वाले दीक्षित और प्रकृष्ट तप, चारित्र्य वाले श्री अरिहंत देव को भी वहाँ तक मोक्ष नहीं हुआ था कि जब तक जीव अजीवादि समस्त पदार्थों के समूह को बताने में समर्थ केवल ज्ञान प्रगट नहीं हुआ। इसलिए इस लोक पर लोक की फल प्राप्ति में अवन्ध्य कारण ज्ञान ही है, इसलिए उसमें प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए, ज्ञान बिना इन्द्रदत्त के पुत्र समान मनुष्य गौरव को नहीं प्राप्त किया और ज्ञान से उसका ही पुत्र सुरेन्द्र दत्त के समान गौरवता प्राप्त किया वह इस प्रकार है :—

इन्द्र दत्त के अज्ञपुत्र और सुरेन्द्र दत्त की कथा

इन्द्रपुरी सदृश मनोहर इन्द्रपुर नाम का श्रेष्ठ नगर था उसमें देवों पूज्य इन्द्र समान पंडितों के पूज्य इन्द्रदत्त नाम का राजा था उसको बाईस रानियों से जन्मे हुए कामदेव सदृश मनोहर रूप वाले श्रीमाली आदि बाईस पुत्र थे। एक समय उस राजा ने अपने घर में विविध क्रीड़ाएँ करती प्रत्यक्ष रति के समान मंत्रीश्वर की पुत्री को देखा, इससे राजा ने अनुचर से पूछा—यह किसकी पुत्री है ? उसने कहा—हे देव ! यह मंत्रीश्वर की पुत्री है, फिर उसके प्रति रागी हुआ राजा ने स्वयं विविध रूप में मंत्री से याचना की, उससे विवाह

किया और उसी समय ही उसे अंतःपुर में दाखिल कर दिया। अन्यान्य श्रेष्ठ स्त्रियों को सेवने में आसक्ति से राजा उसे भूल गया, फिर बहुत समय के बाद उसे आले में बैठी देखकर राजा ने पूछा, चन्द्र समान प्रसरती कान्ति के समूह वाली, कमल समान आँख वाली और लक्ष्मी समान सुन्दर यह युवती स्त्री कौन है ? कंचुकी ने कहा—हे देव ! यह तो मंत्री की पुत्री है कि जिसको आपने पूर्व में विवाह कर छोड़ दी है, ऐसा कहने से राजा उस रात्री को उसके साथ रहा और ऋतु स्नान वाली होने से उस दिन ही उसे गर्भ उत्पन्न हुआ। फिर पूर्व में मन्त्री ने उससे कहा था कि—‘हे पुत्री ! तुझे गर्भ प्रगट हो वह और तुझे राजा जब जो कुछ कहे वह तू तब-तब मुझे कहना’ इससे उसने सारा वृत्तान्त पिता को कहा, उसने भी राजा के विश्वास के भोज पत्र में वह वृत्तान्त लिखकर रख दिया, फिर प्रतिदिन प्रमाद रहित पुत्री की सार संभाल करने लगा। पूर्ण समय पर उसने पुत्र को जन्म दिया और उसका सुरेन्द्र दत्त नाम रखा। उसी दिन वहाँ अग्निक, पर्वतक, बहुली और सागरक नाम से चार अन्य भी बालक जन्मे थे। मन्त्री ने कलाचार्य के पास सुरेन्द्रदत्त को पढ़ने भेजा, वह उन बालकों के साथ विविध कलाएँ पढ़ रहा था, इस ओर श्रीमाली आदि उस राजा के पुत्र अल्प भी नहीं पढ़े, उल्टे कलाचार्य अल्प भी मारते तो वे रोते और अपनी माता को कहते कि—‘इस तरह हमें उसने मारा’ फिर क्रोधित हुई रानियों ने उपाध्याय को कहा कि—अरे मारने वाले पंडित ! हमारे पुत्रों को पढ़ने के लिए क्यों मारता है ? पुत्र रत्न जैसे वैसे नहीं मिलते हैं, इतना भी क्या तू नहीं जानता है ? हे अत्यन्त मूढ़ ! तेरे पढ़ाने की निष्फल क्रिया से क्या प्रयोजन ? क्योंकि तू पुत्रों को मारने में थोड़ी भी दया नहीं करता है ? इस प्रकार उनके कठोर वचनों से तिरस्कार हुए गुरु ने पुत्रों की उपेक्षा की, इससे राजपुत्र अत्यन्त महामूर्ख रहे, परन्तु इस व्यतिकर को नहीं जानते, राजा मन में मानता था कि—इस नगर में मेरे श्रेष्ठ पुत्र ही अत्यन्त कुशल हैं। इधर वह समान उम्र वाले बच्चों का पराभव को सहन करते सुरेन्द्रदत्त ने सकल कलाओं का अध्ययन किया।

एक समय मथुरा नगरी में पर्वतराज ने अपनी पुत्री को पूछा—पुत्री ! तुझे जो वर पसन्द हो उसे कह, कि उसके साथ तेरा विवाह करें, उसने कहा—हे तात ! इन्द्रदत्त के पुत्र कला कुशल शूरवीर धीर और अच्छे रूप वाले सुने जाते हैं। यदि आप कहो तो स्वयमेव वहाँ जाकर राधावेध द्वारा मैं उसमें से

एक की अच्छी तरह परीक्षा करके उसको स्वीकार करूँ ! राजा ने वह स्वीकार किया, तब उसने बहुत राजऋद्धि के साथ इन्द्रपुर नगर में जाने के लिये प्रस्थान किया । उसे आते सुनकर प्रसन्न हुये इन्द्रदत्त राजा ने अपनी नगरी को विचित्र ध्वजाओं को बंधवा कर सुशोभित करवाया । उस कन्या को आने के बाद सुन्दर ठहरने का स्थान दिया, और भोजन आदि की उचित व्यवस्था की, उसने राजा को निवेदन किया कि—तुम्हारा जो पुत्र राधा को बाँधेगा, वही मेरे साथ शादी करेगा, इसी कारण से मैं यहाँ आई हूँ । राजा ने कहा—हे सुतनु ! एक ही गुण से तू परीक्षा में प्रसन्न नहीं होना क्योंकि मेरे सारे पुत्र प्रत्येक श्रेष्ठ गुण वाले हैं । उसके बाद शीघ्र उचित प्रदेश में बायें दाहिने घूमते चक्र की पंक्ति वाला मस्तक पर राधावेध को धारण करता बड़ा स्तम्भ खड़ा किया और वहाँ अखाड़ा बनाया, मंच तैयार किये, चन्द्रवे बाँधे गये, और हर्ष पूर्वक उछलते मात्र वाले राजा आकर वहाँ बैठा । नगर निवासी आए, राजा ने अपने पुत्रों को बुलाया, और वह राजपुत्री भी वरमाला को लेकर आई । उसके बाद सर्व में बड़े श्रीमाल को राजा ने कहा—हे वत्स ! यह कार्य करके मेरे मनोवांछित को सफल करो, निज कुल को उज्ज्वल करो, पवित्र राज्य को परम उन्नति दिखाओ, जय पताका को ग्रहण कर और शत्रुओं की आत्माओं को खत्म कर दो, इस तरह कुशलता से शीघ्र राधावेध को करके तू प्रत्यक्ष राजलक्ष्मी सदृश यह निवृत्ति नाम की राजपुत्री को प्राप्त करो । ऐसा कहने से वह राजपुत्र क्षोभित होते नष्ट शोभा वाले पसीने से भीगे हुये, चित्त से शून्य बने, दीन मुख और दीन चक्षु वाले घबराहट के साथ, निस्तेज शरीर वाला, सत्त्व अथवा मानवा युक्त, लज्जा युक्त, मिथ्याभिमान रहित, नीचे उतरते, पुरुषार्थ को छोड़ते दृढ़ बाँधा हो इस तरह स्तम्भ के समान स्थिर खड़ा रहा, पुनः भी राजा ने कहा—हे पुत्र ! संक्षोभ को छोड़कर इच्छित कार्य को सिद्ध कर, तूझे इस कार्य में क्यों उलझन है ? हे पुत्र ! जो संक्षोभ करता है वह कलाओं में अति निपुण नहीं होता है, निष्कलंक कलाओं के भण्डार रूप तेरे जैसे को संक्षोभ किस लिए ? राजा के ऐसा कहने से घिटाई (कठोरता) पूर्वक अल्प भी चतुराई बिना श्री माली ने काँपते हाथों द्वारा मुश्किल से धनुष्य को उठाया और शरीर का सर्व बल एकत्रित कर मुसीबत से उसके ऊपर बाण चढ़ाकर 'जहाँ जाए वहाँ भले जाए' ऐसा विचार कर लक्ष्य बिना बाण को छोड़ा । वह बाण स्तम्भ में टकराकर शीघ्र टूट गया, इससे अति

कोलाहल करते लोग गुप्त रूप में हँसने लगे। इस तरह कला रहित शेष डक्कीस राजपुत्रों ने भी जैसे-तैसे बाण फेंका, एक से भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

इस कारण से लज्जा द्वारा आँखें बन्द हो गईं, वज्रमय इन्द्र धनुष्य से ताड़न किया गया हो इस तरह निस्तेज मुख वाला, निराश बना राजा शोक करने लगा। तब मन्त्री ने कहा—हे देव ! शोक को छोड़ दो, आपका ही दूसरा पुत्र है, इससे अब उसकी भी परीक्षा करो। राजा ने कहा—दूसरा पुत्र कौन है ? तब मन्त्री ने भोजपत्र दिया, उसे पढ़कर राजा बोला—इससे भी क्या प्रयोजन ? बहुत पढ़े हुए भी यह पापियों के समान कार्य को सिद्ध नहीं कर सके, उसी तरह वह भी वैसे ही करेगा, ऐसे पुत्रों द्वारा मुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो ! ऐसा होते हुये भी यदि तेरा आग्रह हो तो उस पुत्र की योग्यता को भी जान लो। इससे मन्त्री ने उपाध्याय सहित सुरेन्द्रदत्त को बुलाया, उसके बाद शम्भु विद्या के परिश्रम से शरीर में आँट वाले उसे गोद में बैठाकर प्रसन्न हुये राजा ने कहा—हे पुत्र ! राधावेध करके मेरी इच्छा को तू पूर्ण कर और निवृत्ति नाम की राजकन्या का विवाह कर राज्य को प्राप्त कर। तब राजा और अपने गुरु को नमन करके धीरे सुरेन्द्रदत्त युद्ध के योग्य मुद्रा बनाकर धनुष्यदण्ड ग्रहण करके निर्मल तेल से भरे कुण्ड में प्रतिबिम्बित हुए चक्रों के छिद्रों को देखते, दूसरे राजकुमारों द्वारा तिरस्कार होते गुरु के द्वारा प्रेरणा करते अग्नियज्ञ आदि महपाठी वक्त्रों से भी उपद्रव होते और 'यदि निशाना चूक जायेगा तो मार दूँगा' ऐसा बोलते खुली तलवार वाले पास दो पुरुषों से बार-बार तिरस्कार करते, फिर भी सर्व की उपेक्षा कर लक्ष्य सन्मुख स्थिर दृष्टि वाला और महा मुनिन्द्र के समान स्थिर मन वाले उसने चक्रों की चाल को निश्चित करके बाण से राधा का शीघ्र वेधन कर दिया, और राधा के वेधन से प्रसन्न बनी उस राजपुत्री ने उसके गले में वरमाला पहनाई, राजा को आनन्द हुआ, और सर्वत्र जय-जय शब्द उछलने लगे। राजा ने विवाह महोत्सव किया, और राज्य भी उसे दिया। इस तरह सुरेन्द्रदत्त ने ज्ञान से गौरवता को प्राप्त किया। इस प्रकार ज्ञानमय के मत में इस जन्म और दूसरे जन्म के सुखदेने में सफल कारण है। इसलिए ग्रहण शिक्षा में ही ज्ञान अभ्यास में ही सदा उद्यम करना चाहिए। क्योंकि ग्रहण शिक्षा बिना का अनपढ़ मनुष्य क्रिया करने पर भी कला में अत्यन्त मूढ़ रहता है, श्रीमाल आदि राजपुत्रों के समान जनसमूह में आदर पात्र नहीं बनता है। इस प्रकार ग्रहण शिक्षा जानना। अब पूर्व में प्रस्तावित क्रिया कला रूप आसेवन शिक्षा कहते हैं।

आसेवन शिक्षा का वर्णन—इस आसेवन शिक्षा के बिना जंगल में उत्पन्न हुये मालती के पुष्पों के समान और विधवा के रूप आदि गुण समूह के समान ग्रहण शिक्षा निष्फल होती है। और मन, वचन, काया के तीन योग से आसेवन शिक्षा—क्रिया को सम्यग् रूप आचरण करने वाले को ही ग्रहण शिक्षा ज्ञान प्रकट होता है अन्यथा प्रकट नहीं होता है। उसे प्रगट होने के कारण यह है कि—गुरु चरणों की सेवा कर प्रसन्न करने से, सभी व्याक्षेप त्याग करने के प्रयत्न से, और शुश्रूषा, प्रतिपृच्छा आदि बुद्धि के आठ गुणों के प्रयोग करने से बहु, बहुतर और बहुतम बोध होने द्वारा ग्रहण शिक्षा परम उत्कृष्टता प्राप्त करता है अन्यथा श्रीमाली आदि के समान निश्चय ही उत्कृष्टता को नहीं प्राप्त करता। अर्थात् ज्ञान पढ़ने के लिए भी विनय आदि क्रियारूप आसेवन शिक्षा पहले ही करना होता है, और ग्रहण शिक्षा पढ़ने के बाद भी क्षण-क्षण मन, वचन, काया की क्रिया से उसका आसेवन किया जाता है तभी वह ज्ञान बढ़ता है और स्थिर होता है। इसलिए यदि आसेवन शिक्षा हो तभी उसके प्रभाव से भव्य जीवों को न्यूनता होने पर ग्रहण शिक्षा प्राप्त होती है और आसेवन शिक्षा न हो तो विद्यावान ग्रहण शिक्षा नाश होती है, इस प्रकार सर्व सुख की सिद्धि में बुनियाद रूप और संसार वृक्ष को नाश करने के लिए अग्नि समान उसी एक आसेवन शिक्षा को नमस्कार हो ! इस विषय में क्रियानय का मत इस प्रकार है कि—जो कार्य का अर्थी हो उसे सर्व प्रकार से नित्यमेव क्रिया में ही सम्यग् उद्यम करना चाहिये। वह इस प्रकार से :—हेय-उपादेय अर्थों को जाकर उभय लोक के फल की सिद्धि की चाहने वाले बुद्धिमान को यत्नपूर्वक प्रयत्न ही करना चाहिये। क्योंकि—प्रवृत्ति रूप प्रयत्न बिना ज्ञानी को भी इस संसार में अभिलषित वस्तु की सिद्धि होती नहीं दिखती है, इसीलिए अन्य मत वाले भी कहते हैं कि 'क्रिया ही फलदायी है, ज्ञान नहीं है।' संयम अर्थ और विषयों का अति निपुण विज्ञाता ज्ञानी भी ज्ञान मात्र से सुखी नहीं होता है। प्यासा भी पानी आदि को देखकर भी जब तक उसे पीने आदि की क्रिया में प्रवृत्ति नहीं करता तब तक उसे तृप्ति रूप फल नहीं मिलता है। सन्मुख इष्ट रस का भोजन पड़ा है। स्वयं पास बैठा हो परन्तु हाथ को नहीं चलाए तो ज्ञानी भी भूख से मर जाता है। अति पंडित भी वादी प्रतिवादी को तुच्छ मानकर वाद के लिए राजसभा में गया हो, यदि वहाँ कुछ नहीं बोले तो धन और प्रशंसा को नहीं प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इस लोक के हित के लिए जो विधि कही है वही विधि जन्मान्तर के फलों को जानना, क्योंकि श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा

है कि—तप संयम में जो क्रिया वाला (उद्यमी है) है उसे चैत्य, कुल, गुण, संघ और आचार्यों में तथा प्रवचन श्रुत इन सबमें भी जो करने योग्य है उसकी सेवा करने का है। जिस तरह क्षायोपशमिक चारित्र का फल है उसी तरह ही क्षायिक चारित्र का भी सुन्दर फल साधकत्व जानना। क्योंकि केवल ज्ञान को प्राप्त करने पर भी श्री अरिहंत देव को भी केवल—ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है जब तक समस्त कर्मरूपी ईंधन को अग्नि समान अन्तिम विशुद्ध को करने वाली पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चार मात्र काल जितनी स्थिति वाले सर्व आश्रतों का संवर रूप और इस संसार में कभी पूर्व में प्राप्त नहीं किया हुआ अन्तिम क्रिया जिसमें मुख्य है वह चारित्र शैलेशीकरण-क्रिया प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् भगवान को केवल ज्ञान के बाद भी मुक्ति जाने के शैलेशीकरण की क्रिया करनी पड़ती है वह क्रिया भी उन्हें आवश्यक है। इस विषय में भी उदाहरण उस सुरेन्द्रवत्त का ही जानना। यदि वह जानकार होने पर भी राधा-वेध रूप क्रिया नहीं करता तो दूसरों के समान तिरस्कार पात्र बनता है। इस लिए इस लोक-परलोक के फल की संप्राप्ति में अवन्ध कारक आसेवन शिक्षा ही है, अतः उसमें प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए।

ज्ञान-क्रिया उभय की परस्पर सापेक्ष उपादेयता :—इस तरह ज्ञान, क्रिया इन दोनों नयों द्वारा उभय पक्ष में भी कही हुई शास्त्रोक्ति विविध युक्तियों का समूह सुनकर जैसे एक ओर पुष्ट गन्ध से मनोहर खिले हुए केतकी का फूल और दूसरी ओर अर्ध विकसित मालति की कली को देखकर उसके गन्ध में आसक्त भौरा आकुल बनता है वैसे उस-उस स्व-स्व स्थान में युक्ति के महत्त्व को जानकर मन में बढ़ते संशय की भ्रांति में पड़ा हुआ शिष्य पूछता है कि—ज्ञान या क्रिया के विषय में तत्त्व क्या है ? गुरु महाराज ने कहा अन्योन्य सापेक्ष होने से ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा दोनों तत्त्व रूप हैं, क्योंकि यहाँ ग्रहण शिक्षा अर्थात् ज्ञान बिना आसेवन शिक्षा अर्थात् क्रिया सम्यग् नहीं होता और आसेवन शिक्षा बिना ग्रहण शिक्षा भी सफल नहीं होती। क्योंकि यहाँ श्रुतानुसार जो प्रवृत्ति वही सम्यक्त्व प्रवृत्ति है, इसलिए यहाँ सूत्र, अर्थ के ग्रहण—ज्ञानपूर्वक जो क्रिया उसे मोक्ष की जनेता कहा है। और जो तप संयममय जो योग क्रिया को वहन नहीं कर सकता वह श्रुत ज्ञान में प्रवृत्ति करने वाला भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। कहा है कि 'जैसे दावानल देखता हुआ भी पंगु होने से जलता है और दौड़ता हुआ भी अंध होने से जलता है वैसे क्रिया रहित ज्ञान और ज्ञान बिना की क्रिया भी निष्फल जानना' (यह विशेष आवश्यक का ११५६ वाँ श्लोक है।) "ज्ञान और उद्यम दोनों का संयोग सिद्ध होने से फल की प्राप्ति होती है" लोक में भी कहा जाता है कि

‘एक चक्र से रथ नहीं चलता, अंधा और पंगु होने पर भी वन में दोनों परस्पर सहायक होने से नगर में पहुँचते हैं।’ “ज्ञान नेत्र समान है और चारित्र्य चलने की प्रवृत्ति समान है, दोनों का सम्यग् योग होने पर श्री जिनेश्वर देवों ने शिवपुर की प्राप्ति कहा है।” इस तरह मुनियों के हेतु भी दोनों शिक्षाओं के उपदेश का वर्णन किया है श्रमणोपासक श्रावक को तो उसमें सविशेष प्रयत्न करना ही चाहिए। इसीलिए ही प्रशंसा की जाती है कि—वही पुरुष जगत में धन्य है कि जो नित्य अप्रमादी ज्ञानी और चारित्र्य वाला है। क्योंकि परमार्थ के तत्त्व को अच्छी तरह जानने से और तप-संयम गुणों को अखण्ड पालने से कर्म समूह को नाश होते विशिष्ट गति-मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये चतुर पुरुष ज्ञान से प्रथम लक्ष्य पदार्थ का लक्ष्य जानकर फिर लक्ष्य के अनुरूप क्रिया का आचरण करे। यदि इसमें क्रिया रहित ग्रहण शिक्षा एक ही सफल होती हो तो श्रुतनिधि मथुरा मंगु आचार्य भी ऐसी दशा को प्राप्त नहीं करते वह इस प्रकार है—

मथुरा के मंगु आचार्य की कथा

मथुरा नगरी में युग प्रधान और श्रुत निधान, हमेशा शिष्यों को सूत्र अर्थ पढ़ाने में नियत प्रवृत्ति वाले और भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने में परिश्रम की भी परिवार नहीं करने वाले लोक प्रसिद्ध आर्यमंगु नामक आचार्य थे। परन्तु यथोक्त क्रियाएँ नहीं करते, सुखशील बने वे श्रावकों के रागी होकर तीन गौरव वश हो गये, भक्तों द्वारा हमेशा उत्तम आहार पानी वस्त्र आदि मिलने से वे अप्रतिबद्ध विहार छोड़कर चिरकाल वहीं रहने लगे। उसके बाद साधुता में शिथिल आचार्य वह बहुत प्रमाद को सेवन कर और अपने दोषों की प्रायश्चित्त रूप शुद्धि नहीं करने से आयुष्य पूर्ण होने से मर कर अत्यन्त चंडाल तुल्य किल्बिष होकर उसी नगर के नाले के पास यक्ष के भवन में यक्ष रूप उत्पन्न हुआ। विभंग ज्ञान से पूर्व जन्म को जानकर वह चिन्तन करने लगा कि—अहो ! पापी बने मैंने प्रमाद से मदोन्मत्त होकर विचित्र अतिशयों रूपी रत्नों से भरे जिन शासन रूपी निधान को प्राप्त करके भी उसमें कहीं हुई क्रिया से पराङ्मुख बनकर उसे निष्फल गँवा दिया, मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम आदि सधर्म के हेतुभूत सामग्री को और प्रमाद से गँवाया हुआ चारित्र्य को अब कहाँ प्राप्त करूँगा ? हे पापी जीव ! उस समय शास्त्रार्थ के जानकार होते हुये भी तूने ऋद्धि-रस और शांता गौरव का विरसत्व क्या नहीं जाना था ? अब चंडाल समान यह किल्बिष देव भव को प्राप्त कर मैं दीर्घकाल तक

विरति प्रधान धर्म के लिए अयोग्य बना, मेरे शास्त्रार्थ के परिश्रम को धिक्कार हो ! बुद्धि की सूक्ष्मता को धिक्कार हो ! और अत्यन्त परोपदेश पांडित्य को धिक्कार हो ! वेश्या के शृङ्गार के समान केवल दूसरे के चित्त को प्रसन्न करने के लिए हमेशा भावरहित क्रिया को भी धिक्कार है । इस तरह वैरागी बनकर वह प्रतिक्षण अपने दुश्चारित्र की निन्दा करते कैदखाने में बन्द के समान दिन व्यतीत करने लगा । फिर उस मार्ग से हमेशा जंगल के लिए जाते अपने शिष्यों को देखकर उनको प्रतिबोध करने लिए वह यक्ष की प्रतिमा के मुख में से लम्बी जीभ बाहर निकालकर रहने लगा । प्रतिदिन उसे इस तरह करते देखकर मुनियों ने कहा कि—यहाँ पर जो कोई भी देव, यक्ष, राक्षस अथवा किन्नर हो जो हमें कहना हो वह प्रगट रूप कहो, इस तरह तो हम कुछ भी नहीं समझ सकते । इससे खेदपूर्वक यक्ष ने कहा—हे तपस्वियों ! वह मैं क्रिया का चोर तुम्हारा गुरु आर्य भिगु हूँ । यह सुनकर उन्होंने खेदपूर्वक कहा—हा ! श्रुतनिधि !! दोनों शिक्षा में अति दक्ष आपने नीच यक्ष की योनि को कैसे प्राप्त किया ? यह महान आश्चर्य है । उसने कहा—हे महाभाग साधुओं ! इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है । सद्धर्म की क्रिया के कार्यों में शिथिल श्रावकों में राग करने वाला, ऋद्धि रस और शांता गौरव से भारी बना, शीतल विहारी, मेरे जैसे रसनेन्द्र से हारे हुये की यही गति होती है । इस तरह मेरी कुत्सित देवयोनि को जानकर हे महासात्त्विक साधुओं । यदि सद्गति का प्रयोजन हो तो दुर्लभ संयम को प्राप्त कर तुम प्रमाद के त्यागी बनो, काम रूपी यौद्धा को जीतने वाले, चरण-करण गुण में रक्त, ज्ञानियों की विजय भक्ति करने वाले, ममत्व का त्यागी और मोक्ष मार्ग में आसक्त होकर उपाधि आहार आदि से अल्प लेकर प्राणियों की रक्षा करते विचरण करो । शिष्यों ने कहा—भो देवानु प्रिय ! आपने हमें अच्छा जागृत किया, ऐसा कहकर मुनि संयम में उद्यमशील बने । इस तरह आसेवन शिक्षा के बिना पूर्ण ग्रहण शिक्षा भी किसी रूप में सद्गति वांछित फल साधक नहीं बनता है, और सम्यग् ज्ञान बिना की आसेवन शिक्षा को भी सम्यग् ज्ञान बिना के अंगार मर्दक के समान हितकर नहीं उसकी कथा इस प्रकार है :—

अंगार मर्दक आचार्य की कथा

गर्जनक नाम का नगर था, वहाँ उत्तम साधुओं के समुदाय से युक्त सद्धर्म में परायण श्री विजयसेन सूरि जी मासकल्प स्थिर रहे थे । रात्री के अन्तिम समय में उनके शिष्यों ने स्वप्न देखा कि “निश्चय से पाँच सौ हाथी के बच्चों

से शोभित सूर ने मकान में प्रवेश किया।" उसके बाद विस्मित मन वाले उन्होंने स्वप्न का भावार्थ सूरि जी से पूछा। उन्होंने कहा—हाथी समान उत्तम साधुओं के साथ मैं सूर के समान अधम गुरु आयेगा। फिर सूर्य उदय हुआ तब सौम्य ग्रहों के साथ शनि के समान और कल्पवृक्षों के खण्ड समूह में एरण्डवृक्ष समान पाँच सौ मुनियों के साथ रुद्रदेव नाम के आचार्य आए। साधुओं ने उनकी सर्व उचित सेवा भक्ति की, फिर सूर की परीक्षा के लिए स्थानिक मुनियों को गुरु ने कहने से रात में मात्रा परठने की भूमि पर कोयले डालकर, गुप्त प्रदेश में खड़े होकर देखते रहे, साधक साधु जब मात्रा की भूमि चले तब कोयले पर पैर का आक्रमण होने से किस-किस तरह शब्द उत्पन्न हुआ उसे सुनकर ही खेद करने लगे। बार-बार मिच्छामि दुक्कण्ड देकर हा ! ऐसा यहाँ क्या हुआ ? ऐसा बोलते कोयले के उस किस-किस आवाज के स्थान पर 'यहाँ क्या है ? वह सुबह सूर्य उदय के पश्चात् देखेंगे' ऐसी बुद्धि से निशानी लगाकर जल्दी है वापिस लौट आए, उसके बाद उनके गुरु वह किस-किस शब्द होने से प्रसन्न हुए "अहो ! श्री जिनेश्वरों ने इसमें भी जीव कहा है।" ऐसा बोलते जैन की हंसी करते कोयले को पैर से जोर से दबाते हुये मात्रा की भूमि में गये, और यह बात उन शिष्यों ने अपने आचार्य को कही, उन्होंने भी कहा—हे तपस्वियों ! वह यह गुरु सूर समान और उसके शिष्य महामुनि हाथी के बच्चों के समान हैं। उसके बाद प्रसंग पर श्री विजयसेन सूरि जी ने श्रेष्ठ साधुओं में जैसा देखा था वैसा हेतु और युक्तियों से समझाकर कहा कि—भो महानुभावों ! यह तुम्हारा गुरु निश्चित ही अभव्य है, अतः यदि मोक्ष की अभिलाषा वाले हो तो शीघ्रमेव उसका त्याग करो। क्योंकि उल्टे पंथ पर चढ़े हुये मन्द बुद्धि वाले भी गुरु का त्याग करते हैं, उसे दोष का प्रसंग आता है इसलिये विधिपूर्वक उसका त्याग करना योग्य है। ऐसा सुनकर उन्होंने उपायपूर्वक शीघ्र उसे छोड़ दिया और उग्रतप विशेष करते उन्होंने देव लक्ष्मी स्वर्ग को प्राप्त की। वह अंगार मर्दक पुनः कष्टकारी क्रियाओं में तत्पर होने पर सद्ज्ञान रहित होने से चिरकाल संसार में दुःखी हुआ। इसलिए हे देवानु प्रिय ! आराधना की इच्छा करने वाले तुम ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा रूप दोनों शिक्षाओं में भी सम्यग् प्रयत्न करो।

ग्रहण-आसेवन शिक्षा के भेद—इस तरह उस अभय शिक्षा के पुनः दो-दो भेद होते हैं, एक सामान्य आचरण स्वरूप और दूसरा सविशेष आचरण स्वरूप है, उस प्रत्येक के भी (१) साधु सम्बन्धी और (२) गृहस्थ सम्बन्धी दो प्रकार

का जानना । इसमें प्रथम में गृहस्थ की सामान्य आचार रूप आसेवन शिक्षा को कहता हूँ ।

साधु और गृहस्थ का सामान्य आचार धर्म—लोक निन्दा करे ऐसे व्यापार का त्यागी, मन को क्लुषित रहित, सद्धर्म क्रिया के परिपालन रूप धर्म रक्षण में तल्लीन, शंख की कान्ति समान निष्कलंक, महासमुद्र सदृश गम्भीर अर्थात् हर्ष शोक से रहित, चन्द्र की शीतल चाँदनी समान, कषाय रहित जीवन, हिरनी के नेत्र समान निर्विकारमय, निर्मल आँखों वाला और ईश्वर की मधुरता सदृश जगत में प्रियता, व्यवहार शुद्धि इत्यादि जैनेक्ति मार्गानुसारी जोकि उत्तम श्रावक कुल में जन्म के प्रभाव से श्रावक को सहज सिद्ध होती है, फिर भी इस तरह इन गुणों में विशेषता जानना । ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध की सेवा, शास्त्र का अभ्यास, परोपकारी उत्तम चारित्र्य वाला मनुष्यों की प्रशंसा, दक्षिण्य परायणता, उत्तम गुणों का अनुरागी, उत्सुकता का त्याग, अक्षुद्रत्व, परलोक भीरुता, सर्वत्र क्रोध का त्याग, गुरु, देव और अतिथि की सत्कार पूजादि, पक्षपात बिना, न्याय का पालन, झूठे आग्रह का त्याग, अन्य के साथ स्नेहपूर्वक वार्तालाप, संकट में सुन्दर धैर्यता, सम्पत्ति में नम्रता, अपने गुणों की प्रशंसा सुनकर लज्जा, आत्म-प्रशंसा का त्याग, न्याय और पराक्रम से सुशोभित लज्जालुता, सुन्दर दीर्घदक्षिता, उत्तम पुरुषों के मार्ग का आचरण करने वाला, स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा परिपूर्ण पालन करने में समर्थ, प्राणान्त में भी उचित मर्यादा का पालन करने वाला, आसानी से प्रसन्न कर सके ऐसी सरलता, जन-प्रियत्व, परपीड़ा का त्याग, स्थिरता, सन्तोष ही धन वाला, गुणों का लगातार अभ्यास, परहित में एकाग्रता, विनीत स्वभाव, हितोपदेश का आश्रय स्वीकार करने वाला, माता-पिता आदि गुरु वर्ग का और राजा आदि के अवर्णवाद वगैरह नहीं बोलने वाला इस लोक-परलोक का अपाय आदि का सम्यग् रूप चिन्तन करने वाला इत्यादि इस लोक-परलोक में हितकारी गुण समूह को श्रावकों को हमेशा प्रयत्नपूर्वक आत्मा में स्थिर करना चाहिए । इस तरह यह सामान्य आचारों की आराधना गृहस्थ के लिए है, यह सामान्य गुण विशेष आचार में मुख्य हेतु होने से निश्चय ही उन गुणों की सिद्धि में प्रयत्न करते विशेष आचारों की भी सिद्धि हो सकती है । यहाँ प्रश्न होता है कि सामान्य गुणों में भी आसक्त मनुष्य विशेष गुणों में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? सरसों को भी उठाने में असमर्थ हो वह मेरुपर्वत को नहीं उठा सकता है । इसका उत्तर देते हैं कि—लोक स्थिति में प्रधान उत्तम साधु भी इसी तरह अपनी भूमिका (शक्ति अनुसार) के योग्य सर्वप्रथम

सामान्य आचरण रूप आराधना करे फिर सविशेष आचरण स्वरूप-आसेवन शिक्षा आचरण करे। पूर्व में सूचित उत्तम श्रावक और साधु को दो प्रकार की भी विशेष आसेवन शिक्षा को सम्यग् विभाग संक्षेप में कहा जाता है, उसमें भी सामान्य आसेवन शिक्षा के पालन करने से सविशेष योग्यता को प्राप्त करता है श्री जिनेश्वर भगवान के मत का सम्यग् जानकार गृहस्थ की विशेष आसेवन शिक्षा प्रथम कहा जाता है। वह इस प्रकार है :—

गृहस्थ का विशिष्ट आचार धर्म—प्रतिदिन बढ़ते शुभ परिणाम गृहस्थ घर वाले की आसक्ति परिणाम अहितकर जानकर, आयुष्य, यौवन और धन को महावायु से डगमगाता केले के पत्ते लगे जल बिन्दु के समान क्षण विनश्वर मानकर, स्वभाव से ही विनीत, स्वभाव से ही भद्रिक, स्वभाव से ही परम संवेगी, प्रकृति से ही उदार चित्त वाला, और प्रकृति से ही यथाशक्ति उठाये हुये भार (कार्य) वहन करने में धोरी वृषभ समान, बुद्धिमान सुश्रावक सदा साधर्मिक वात्सल्य में, जीर्ण मन्दिरों के उद्धार कराने में, और परनिन्दा के त्याग में प्रयत्न करे। तथा निद्रा पूरी होते ही पंचपरमेष्ठ महामंगल का स्मरण करके अपनी स्थिति अनुसार धर्म जागरण पूर्वक उठकर लघुशंकादि समयोचित करे फिर गृह मन्दिर में संक्षेप से श्री जैन प्रतिमाओं को वन्दन करके साधु की बस्ती—उपाश्रय में जाए और वहाँ आवश्यक प्रतिक्रमण आदि करे। इस प्रकार करने से—(१) श्री जिनेश्वर की आज्ञा का सम्यग् पालन, (२) गुरु परतन्त्रता (विनय), (३) सूत्र-अर्थ का निशेष ज्ञान, (४) यथास्थित समाचारी (आचार) में कुशलता, (५) अशुद्ध मिथ्यात्व बुद्धि का नाश और गुरु साक्षी में धर्म सम्पूर्ण विधि का पालन होता है। अथवा साधुओं का योग न हो या बस्ती उपाश्रय में जगह का अभाव आदि कारण से गुरु-आज्ञा से पौषधशालादि में भी करे, फिर समय अनुसार स्वाध्याय करके नये सूत्र का भी अभ्यास करे, फिर वहाँ से निकलकर द्रव्य भाव से निर्मल बनकर प्रथम अपने घर में ही नित्य सूत्र विधिपूर्वक चैत्य वन्दन और वैभव के अनुसार पूजा करे। उसके बाद वैरागी उत्तम श्रावक यदि उसे ऐसा कोई घर कार्य न हो तो उसी समय ही शरीर शुद्धि स्नान करके उत्तम श्रृङ्गार सजा कर, पुष्पों आदि से विविध पूजा की सामग्री के समूह को हाथ में उठाकर परिवार को साथ लेकर श्री जैन-मन्दिर में जाए और पाँच प्रकार के अभिगम-विनय पूर्वक वहाँ प्रवेश करके विधिपूर्वक सम्यक् श्रेष्ठ पूजा करे फिर जय वीर-राय तक सम्पूर्ण देव वन्दन करे। फिर किसी कारण से प्रातः सामायिक आदि साधु के पास नहीं करने से जैन भवन के मण्डप में, अपने घर में अथवा पौषध-

शाला में क्रिया हो तो साधुओं के पास जाकर वन्दनपूर्वक सम्यक् पञ्चक्खान करे और समय अनुसार श्री जैन वाणी का श्रवण करे तथा बाल मुनि ग्लान साधु आदि साधुओं के विषय में सुखशान्ता आदि पूछे और उनके करने योग्य औषध समग्र कार्य यथायोग्य भक्तिपूर्वक पूर्ण करे। उसके बाद आजीविका के लिए कुल्य क्रम के अनुसार जिसमें लोग में निन्दा न हो और धर्म की निन्दा न हो इस प्रकार व्यापार करे। भोजन के समय घर आकर स्नानादि करके श्री संघ के मन्दिर में पुष्पादि से अंगपूजा, नैवेद्यादि से अग्रपूजा, वस्त्रादि से सत्कार पूजा और उत्तम भाववाही स्तोत्रों से भावपूजा इस तरह चार प्रकार की पूजा द्वारा विधिपूर्वक श्री जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा की सम्यग् रूप में पूजा करे फिर साधु के पास जाकर ऐसी विनती करना कि—“हे भगवन्त ! आप मेरे ऊपर अनुग्रह करो।” जगजीव वत्सल आप अशनादि वस्तुओं को ग्रहण करके, संसार रूपी कुएं में गिरते हुए मुझे हाथ का सहारा दो। फिर साधु साथ ले चले, चलते समय साधु के पीछे-पीछे चले। इस तरह घर के द्वार तक जाए इस समय दूसरे स्वजन भी दरवाजे से बाहर सामने आये वे सभी उनको वंदन करें, फिर दानरुचि की श्रद्धावाला श्रावक भी गुरु के पैर की प्रेमार्जनी की भूमि पर आसन पर बैठने की विनती करके विधिपूर्वक संविभाग करे (दान दे) फिर वन्दन पूर्वक विदाकर वापिस घर आकर पितादि को भोजन करवा कर पशु, नौकर आदि को भी चिन्ता-सम्भाल लेकर उनके योग्य खाने की व्यवस्था कर, अन्य गांव से आये हुए श्रावकों की भी चिन्ता करके और बीमारों की सार सभाल करके फिर उचित स्थान पर उचित आसन पर बैठकर, अपने पञ्चक्खान को याद कर पारे (पूर्ण करे) श्री नवकार मंत्र को गिन कर भोजन करें। भोजन करने के बाद विधिपूर्वक घर मन्दिर की प्रतिमा जी के आगे बैठ कर चैत्य वंदन करके दिवस चरिम आदि पञ्चक्खान करे। फिर समय अनुसार स्वाध्याय और कुछ नया अभ्यास कर, पुनः आजीविका के लिए अनिदनीय व्यापार करें, शाम के समय में पुनः अपने घर मन्दिर में श्री जिनेश्वर की पूजा करके उत्तम स्तुति स्तोत्रपूर्वक वंदन भी करे, फिर संघ के श्री जैन मन्दिर में जाकर जैनबिम्बों की पूजा कर चैत्यवन्दन करे और प्रातःकाल में कहा था उस प्रकार शाम को भी सामायिक-प्रतिक्रमणादि करे। वह प्रतिक्रमणादि यदि साधु के पास नहीं करे तो फिर साधु के उपाश्रय में जाये वहाँ वन्दना आलोचना और क्षमापना करके पञ्चक्खान स्वीकार करे और समय अनुसार धर्मशास्त्र का श्रवण करे, साधुओं की शरीर सेवा आदि भक्तिपूर्वक विधि से करे। संदिग्ध शब्दों का अर्थ पूछ कर और श्रावक वर्ग का भी औचित्य करके घर जाये

विधिपूर्वक शयन करे, और देव गुरु का स्मरण करे। उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा मैथुन का अमुक समय आदि नियम पूर्वक प्रमाण करे, फिर कंदर्प आदि का त्याग करके एकान्त स्थान में शयन करे।

ऐसा होने पर भी गाढ़ मोहोदय के वश यदि किसी तरह अधम भोग कार्य में प्रवृत्ति करे तो भी मोह का विकार वेग शान्त होने के बाद भावपूर्वक इस प्रकार चिन्तन-मनन करे—ओह दुःख और सर्व अनर्थों का मूल है इसके वश में पड़ा हुआ प्राणी हित को अहित मानता है। और जिसके वश पड़ा हुआ मनुष्य स्त्रियों के असार भी मुख आदि को चन्द्र आदि की उपमा देता है उस मोह को धिक्कार हो, स्त्री शरीर का वास्तविक स्वरूप का इस प्रकार चिन्तन करे कि जिससे मोह शत्रु को जीतने से संवेग का आनन्द उछले—वह इस प्रकार स्त्रियों का जो मुख चन्द्र की कान्ति समान मनोहर कहलाता है, परन्तु वह गन्दा मैल का झरना (दो चक्षु दो कान, दो नाक और एक मुख रूप) सात सोत से युक्त है। बड़े और गोल स्तन मांस से भरा हुआ पिंड है, पेट अशुचि की पेटी है और शेष शरीर भी मांस हड्डी और नसों की रचना मात्र है। तथा शरीर स्वभाव से ही दुर्गन्धमय मैल से भरा हुआ, मलिन और नाश होने वाला है, प्रकृति से ही अधोगति का द्वार घृणाजनक और तिरस्कार करने योग्य है, और जो गुह्य विभाग है वह भी अति लज्जा उत्पन्न कराने वाला अनिष्ट रूप होने से उसे ढांकने की जरूरत पड़ती है, फिर भी उसमें जो करता है तो खेद की बात है कि वह मनुष्य अन्य कौन से निमित्त द्वारा वैराग्य प्राप्त करेगा ? ऐसे दोष वाली स्त्रियों के भोग में जो वैरागी है वे ही निश्चय से जन्म जरा और मरण का तिलान्जली देते हैं। इस तरह जिस निमित्त से जीवन में गुण-घात होता हो उसका उस प्रतिपक्ष को, प्रथम और अन्तिम रात्री के समय में सम्यग् रूप चिन्तन-मनन करे विशेष क्या कहे ? श्री तीर्थंकर की सेवा, पंच-विध आचार रूपी धन वाले—पालक गुरु की भक्ति, सुविहित साधुजन की सेवा, समान या अधिक गुणीजनों के साथ रहना, नये-नये गुणों को प्राप्त करना, श्रेष्ठ और अति श्रेष्ठ नया-नया श्रुत का अभ्यास करना, अपूर्व अर्थ का ज्ञान और नयी-नयी हित शिक्षा प्राप्त करना, सम्यक्त्व गुण की विशुद्धि करना, यथाग्रहित व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, स्वीकार किये धर्म रूपी गुणों का विरोध नहीं हो इस तरह घर कार्य करना। धर्म में ही धन को बुद्धि करना, साधर्मिकों में ही गाढ़ राग रखना, और शास्त्रकथित विधि के पालन करते अतिथि को दान देने के बाद शेष रहा भोजन करना। इस लोक के लौकिक

कार्यों में शिथिलता-अनादार, परलोक की आराधना में एक रसता आदर, चारित्र्य गुण में लोलुपता, लोकपवाद हो ऐसे कार्यों में भीरुता, और संसार-मोक्ष के वास्तविक गुण दोष की भावना के अनुसार प्रत्येक प्रसंग पर सम्यक्तया परम संवेग रस का अनुभव करना । सर्व कार्य विधिपूर्वक करना, श्री जैन शासन द्वारा परम शमरस की प्राप्ति और संवेग का सारभूत सामायिक, स्वाध्याय तथा ध्यान में एकाग्रता करना, इत्यादि उत्तर गुण समूह को सम्यग् आराधना करते अतृप्त, बुद्धिमान कुलिन गृहस्थ समय को व्यतीत करे, इससे जैसे कोई धीरे-धीरे कदम आगे बढ़ाते महान् पर्वत ऊपर चढ़ जाता है वैसे धीर पुरुष आराधना रूपी पर्वत के ऊपर सम्यक् समाखूढ़ हो जाता है । इस प्रकार धर्म के अर्थी गृहस्थ का विशेष आचार यहाँ तक कहा है । अब साधु सम्बन्धी वह विशेष आसेवन शिक्षा संक्षेप में कहते हैं :—

साधु का विशिष्ट आचार धर्म :—सिद्धान्त के ज्ञाताओं ने कही हुई केवल साधु को जो प्रतिदिन की क्रिया है उसे ही विशेष आसेवन क्रिया भी कहते हैं वह इस प्रकार जानना :—प्रति लेखना, प्रमार्जन, भिक्षाचर्या, आलोचना, भोजन पात्र धोना, विचार, स्थंडिल शुद्धि और प्रतिक्रमण करना इत्यादि । और 'इच्छाकार-मिथ्याकार' आदि उपसंपदा तक की सुविहित जन के योग्य दस प्रकार की समाचारी का पालन करे, स्वयं अध्ययन करे, दूसरे को अध्ययन करावे, और तत्त्व को भी प्रयत्न से चिन्तन करे, यदि इस विशेष आचारों में आदर न हो तो वह मुनि व्यसनी है—अर्थात् मिथ्यात्व आदत वाला है । इस तरह गुण दोष की परीक्षा करके तथा ग्रहण शिक्षा रूप ज्ञान को प्राप्त कर प्रतिक्षण आसेवन शिक्षा के अनुसार सेवन करना । इस प्रकार सामान्यतया धर्म के सर्व अर्थों को इन अवान्तर भेदों सहित यदि दोनों प्रकार की शिक्षा कही है उससे युक्त हो तो आराधना में एक चित्त वाले का क्या पूछना ? धर्मार्थी को भी पूर्व के आचारों के दृढ़ अभ्यास बिना इस तरह विशेष आराधना नहीं हो सकती है इस कारण से उस विशेष आराधना के अर्थों को सर्व प्रकार से, इन शिक्षाओं में प्रयत्नपूर्वक यत्न करना चाहिये, अब इस विषय में अधिक क्या लिखें ? इस तरह धर्मोपदेश से मनोहर और परिकर्म विधि आदि चार मुख्य द्वारों वाला आराधना रूपी संवेगरंगशाला के पन्द्रह अन्तर भेद द्वार वाला प्रथम परिकर्म द्वार का यह तीसरा शिक्षा द्वार भेद प्रदेशपूर्वक सम्पूर्ण हुआ । पूर्वोक्त दोनों शिक्षाओं में चतुर हो परन्तु आराधना विनय बिना कृतार्थ नहीं होता है अतः अब विनय द्वार कहते हैं ।

चौथा विनय द्वार—विनय पाँच प्रकार का होता है प्रथम ज्ञान विनय, दूसरा दर्शन विनय, तीसरा चारित्र्य विनय, चौथा तप विनय और अन्तिम पाँचवां उपचार विनय है। उसमें ज्ञान का विनय (१) काल, (२) विनय, (३) बहुमान, (४) उपधान, (५) अनिन्हवण तथा (६) व्यंजन, (७) अर्थ, और (८) तदुभय इस तरह आठ प्रकार का है। दर्शन विनय भी (१) निःशंकित, (२) निष्काङ्क्षित, (३) निर्वितिगिच्छा, (४) अमूढ दृष्टि, (५) उपवृंहणा, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना। ये आठ प्रकार से जानना। प्राणिधानपूर्वक जो तीन गुप्ति और पाँच समितियों के आश्रित उद्यम करना वह आठ प्रकार का चारित्र्य विनय है। तप में तथा तप के रागी तपस्वियों में भक्तिभाव, दूसरे उन तपस्वियों की हीनता का त्याग और शक्ति के अनुसार भी तप का उद्यम करना वह तप विनय जानना। औपचारिक विनय कायिक, वाचिक और मानसिक यह तीन प्रकार की है। वह प्रत्येक भी प्रत्यक्ष और परोक्ष इस तरह दो भेद हैं। इसमें गुण वाले के दर्शनमात्र से भी खड़ा होना, सात-आठ कदम आने वाले के सामने जाना, विनयपूर्वक दो हाथ जोड़कर अंजलि करना, उनके पैरों का प्रेमार्जन करना, आसन देना और उनके बैठने के बाद उचित स्थान पर स्वयं बैठना इत्यादि कायिक विनय जानना। अधिक ज्ञानी के गौरव वाले वचन कहकर उनके गुणगाण का कीर्तन करना वह वाचिक विनय होता है और उनके आश्रित जो अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उद्दीरणा होती है वह मानसिक विनय जानना। उसमें आसन देना इत्यादि प्रत्यक्ष किया जाता है इसलिए यह प्रत्यक्ष विनय और गुरु के विरह—अभाव में भी उन्होंने कही हुई विधि में प्रवृत्ति करना वह परोक्ष विनय कहलाता है।

इस प्रकार अनेक भेद वाले विनय को अच्छी तरह जानकर आराधना के अभिलाषी धीर पुरुष उस विनय को सम्यग् पूर्वक आचरण करे—क्योंकि जिसके पास से विद्या पढ़नी हो उस धर्म गुरु का अविनय से यदि पराभव करता है उसे वह अच्छी तरह ग्रहण की हुई भी विद्या लाभदायक नहीं होती है परन्तु दुःखरूप फल देने वाला है, और यदि गुरु ने उपदेश दिये हुये विनय को हितशिक्षा को भावपूर्वक स्वीकार करता है उसे आचरण करता है, तो वह मनुष्य सर्वत्र विश्वासपात्र, तत्त्वातत्त्व का निर्णय और विशिष्ट बुद्धि को प्राप्त करता है। कुशल पुरुष साधु अथवा गृहस्थ के विनय की ही प्रशंसा करते हैं क्योंकि सर्व गुणों का मूल विनय है अविनीत मनुष्य लोग में कीर्ति और यश को नहीं प्राप्त करता है। कई विनय को जानते हुए भी कर्म विपाक के दोष

से राग द्वेष के आधीन पड़ा विनय करना नहीं चाहता है। विनय लक्ष्मी का मूल है, विनय समस्त सुखों का मूल है, विनय निश्चय धर्म का मूल है और विनय कल्याण-मोक्ष का भी मूल है। विनय रहित सारा अनुष्ठान निरर्थक है, विनय वाले का वह सारा अनुष्ठान सफलता को प्राप्त करता है। तथा विनय रहित को दी हुई सारी विद्या—शिक्षा भी निरर्थक जाती है। शिक्षा का फल विनय और विनय का फल सर्व में मुख्यता है। विनय से दोष भी गुणस्वरूप बनते हैं, अविनीत के गुण भी दोष रूप होते हैं। सज्जनों के मन को रंजन करने वाली मैत्री भी विनय से होती है। माता-पिता भी विनीत सम्यग् गुरुत्व रूप देखते हैं और खेदजनक है कि अविनीत के माता-पिता भी उसे शत्रुरूप देखते हैं। विनयोपचार करने से अदृश्य रूप देवादि भी दर्शन देते हैं, अविनय से नागज हुए पास में रहे भी वह शीघ्र दूर जाता है। प्रसूत गाय अपने बछड़े को देखकर जैसे अति प्रसन्न होती है, वैसे पत्थर के समान कठोर हृदय वाला और तेजोद्वेषी-असहिष्णु मनुष्य भी विनय से शीघ्र प्रसन्न होता है। विनय से विश्वास, विनय से सकल प्रयोजन की सिद्धियाँ और विनय से ही सर्व विद्याएँ भी सफल बन जाती हैं। गुरु को पराभव करने वाली बुद्धिरूप दोष से सुशिक्षित भी अविनीत की विद्या नाश होती है, वह विद्या नाश न हो तो भी गुणकारक नहीं होती है। अविनीत को विद्या देने से गुरु भी उपालम्भ प्राप्त करता है अपने कार्य को नष्ट करता है और अविनीत से विनाश को भी प्राप्त करता है। तथा अच्छे कुल में जन्मी हुई श्रेष्ठ पति को स्वीकार की हुई कुल बालिका के समान पति के बल को प्राप्त करती है वैसे विनयवान पुरुष को ग्रहण की हुई विद्या भी बलवान बनती है। श्रेणिक राजा जैसे गुरु का पराभव करने वाले दुर्विनीत में विद्या प्रवेश नहीं करती है। जब वही श्रेणिक राजा विनीत बनता है तब उसमें विद्या प्रवेश करती है। उसका दृष्टान्त इस प्रकार है :—

विनय पर श्रेणिक राजा की कथा

राजगृह नगर में इन्द्र के समान प्रशंसा फैलाने वाला सम्यक्त्व की स्थिरता में दृढ़ अभ्यासी और वैसे ही बुद्धि वाला श्रेणिक नामक राजा राज्य करता था। उसकी सब रानियों में मुख्य चेललणा नामक रानी और चार प्रकार की बुद्धि से समृद्धशाली अभयकुमार नाम का उनका ही पुत्र मन्त्री था। एक समय रानी ने राजा से कहा—मेरे लिए एक स्तम्भ वाला महल बनाओ, रानी के अति आग्रह से संतप्त हुए राजा ने उसकी बात स्वीकार की और

अभय कुमार को वह कार्य करने का आदेश दिया, उसके बाद मन्त्री अभय कुमार स्तम्भ के लिए सुतार को साथ लेकर अटवी में गया और वहाँ हरा, अति बड़ी शाखाओं वाला एक वृक्ष देखा। अभय कुमार ने यह देव से अधिष्ठित वृक्ष होगा, ऐसा मानकर उपवास करके विविध पुष्पों और ध्रुवों से उस वृक्ष को अधिवासित किया। फिर उसकी बुद्धि से प्रसन्न हुआ उस वृक्ष में रहने वाले देव ने रात्री के अन्दर सोये हुए अभय को कहा—हे महानुभाव ! इस का तू छेदन मत करना, तू अपने घर जाओ, मैं सर्व ऋतु के वृक्ष, फल और पुष्पों से मनोहर बाग से सुशोभित, एक स्तम्भ वाला महल बना दूँगा। देव के मना करने पर अभय कुमार सुतार को लेकर अपने स्थान पर पहुँचा, और देव ने भी आरामदायक महल बनाया। उस महल में रानी के साथ विविध क्रीडा करते प्रतिरूप समुद्र में डूबते राजा के दिन व्यतीत होने लगे। किसी दिन उस नगर में रहते एक चंडाल की पत्नी ने गर्भ धारण किया, गर्भ के प्रभाव उसको एक दिन आम फल खाने का दोहदा उत्पन्न हुआ, परन्तु वह दोहदा पूर्ण नहीं होने से उसे प्रतिदिन सर्व अंग क्षीण होते देखकर चंडाल ने पूछा—हे प्रिया ! तुम क्षीण क्यों हो रही हो ? तब उसने परिपक्व आम फल का दोहदा बतलाया। चंडाल ने कहा—आम फल का यद्यपि इस समय काल नहीं है फिर भी हे सुतनु ! कहीं से भी वह मैं लाकर देऊँगा, तू घोरता धारण कर। उसके बाद उस चण्डाल ने राजा के बाग सर्व ऋतु के फल वाला है ऐसा सुना और बाहर खड़े होकर उस उद्यान को देखते उसने एक पके हुए फल वाला आम वृक्ष को देखा, फिर रात्री होने के बाद उसने अवनामिनी (नमाने वाली) विद्या द्वारा शाखा को नमाकर आम फल लिए और पुनः उत्तम प्रत्यवनामिनी विद्या से उस शाखा को पुनः अपने स्थान पर पहुँचाकर प्रसन्न होता हुआ उसने उन फलों को पत्नी को दिया और पूर्ण दोहदा वाली उस गर्भ को धारण करने लगी।

उसके बाद अन्य वृक्षों को अवलोकन करते राजा ने आमवृक्ष को फल के बिना देखकर बागवान से पूछा—इस पेड़ से आम फल किसने लिया है ? उसने कहा—देव ! निश्चय यहाँ पर कोई मनुष्य नहीं आया, तथा जाते-आते किसी के पैर भी पृथ्वी तल में नहीं दिखते हैं इससे हे देव ! यह आश्चर्य है ? जिसको ऐसा अमानुषी सामर्थ्य है उसे कुछ भी अकरणीय नहीं है, वह सब कुछ कर सकता है। ऐसा विचार कर श्रेणिक ने अभय को कहा—हे पुत्र ! इस प्रकार के कार्य करने में समर्थ चोर को जल्दी पकड़ो। क्योंकि आज जैसे फलों की चोरी की है वैसे किसी दिन मेरी रानी का भी हरण करेगा ? मस्तक द्वारा

भूमितल स्पर्श करते अभय कुमार 'महा प्रसाद' ऐसा कहकर आज्ञा को मस्तक पर चढ़ाकर तीन रास्ते में, चार रास्ते में, चौक आदि स्थान पर सावधानी-पूर्वक खोज करने लगा, इस तरह कई दिन बीत गये, परन्तु चोर का कोई पता नहीं लगा तब अभय कुमार अत्यन्त चिंतातुर हुआ इतने में किसी नट ने नगर के बाहर नाटक आरम्भ किया वहाँ बहुत मानव समूह एकत्रित हुआ, अभय कुमार ने भी वहाँ जाकर स्वभाव जानने के लिए कहा—हे मनुष्यों ! जब तक नाट्यकार नहीं आता है तब तक एक बात सुनाता हूँ । उन्होंने भी कहा—हे नाथ ! सुनाइए, तब अभय कुमार कहने लगा—

बसन्तपुर नगर में जीर्ण नाम का सेठ था । उसकी एक पुत्री थी । दरिद्रता के कारण पिता ने उसकी शादी नहीं की, इससे वह बड़ी उम्र में वर के प्रयोजन से कामदेव की पूजा करने लगी । एक दिन पूजा के लिए उद्यान में से चोरी से फूलों को चुनती उमे देखकर माली ने कुछ विकारपूर्वक उसे बुलाया, उसने उससे कहा—क्या तुझे मेरे समान बहन बेटी नहीं है कि जिससे कुमारी अवस्था में भी मुझे ऐसा कह रहा है ? उसने कहा कि—यदि तू विवाह बाद पति के सेवन में पहले मेरे पास आएगी तो तुझे छोड़ूँगा अन्यथा नहीं जाने दूँगा । 'हाँ मैं ऐसा करूँगी' ऐसा स्वीकार करके वह अपने घर गई, फिर किसी दिन प्रसन्न होकर कामदेव ने उसे सुन्दर मन्त्री पुत्र का वर दिया, और अति श्रेष्ठ लग्न के समय हस्तग्रह योग में उसने उसके साथ विवाह किया । उस समय सूर्य का बिम्ब अस्ताचल पर पहुँच गया, फिर काजल और भ्रमर के समान कान्ति वाली अति अन्धकार की श्रेणा सर्व दिशाओं में फैल गई, उसके बाद रात्री विकासी कुमुद के खण्ड की जड़ता को दूर करने वाला चन्द्र मण्डल का उदय हुआ, विविध मणिमय भूषणों से शोभित मनोहर सब अंगों वाली वह वास भवन में पहुँची और पतिदेव को निवेदन किया कि— 'विवाह के बाद पहले मेरे पास आना' ऐसा माली का वचन उस समय मैंने स्वीकार किया था, इसलिए—हे प्रियतम ! मैं वहाँ जाती हूँ, आप आज्ञा दीजिए । 'यह सत्य प्रतिज्ञा वाली है' ऐसा सोचकर पति ने आज्ञा दे दी, फिर वह श्रेष्ठ आभूषणों से युक्त उसे नगर के बाहर जाते देखकर चोर 'आज तो महानिधान मिला है' ऐसा बोलकर उसे पकड़ा और उसने अपनी बात कही, चोर ने कहा—हे सुतनु ! जाओ, परन्तु शीघ्र वापिस आना कि जिसस तेरी चोरी कर चला जाऊँ 'ऐसे ही करूँगी' ऐसा कहकर वह चली, फिर आधे मार्ग में चपल पुतली से आकुल उछलती आँखों की कटाक्ष वाला, रणकार करते महान दाँत वाला, अत्यन्त फाड़ा हुआ भयंकर मुखरूपी गुफा वाला 'आओ-आओ, बहुत समय से भूखा

हूँ आज तू मुझे मिली है।' ऐसा बोलते अत्यन्त भयंकर शरीर वाला अति दुःप्रेक्ष्य एक राक्षस आया और उसने हाथ से उसे पकड़ी, उसने सत्य बात कही, उससे उसे छोड़ दिया। फिर बाग में जाकर सुखपूर्वक सोये माली को जगाया और कहा—हे सज्जन ! वह मैं यहाँ आई हूँ। माली ने कहा—ऐसी रात्री में आभूषण सहित तू किस तरह आई ? उसने जैसे बना था वैसा सारा कह दिया। इससे अहो ! सत्य प्रतिज्ञा वाली यह महासती है ऐसा विचार करते माली ने उसके पैरों में नमस्कार किया और उसे वहाँ से छोड़ दिया। वह फिर राक्षस के पास आई, उसने माली का वृत्तान्त कहा, इससे 'अहो ! यह महाप्रभावशाली है कि जिसको उस माली ने भी छोड़ दी है' ऐसा सोचकर राक्षस ने भी पैरों में नमन कर उसे छोड़ दिया। फिर चोर के पास गई और पूर्व वृत्तान्त सुनाया महान महीमा देखकर सन्मान वाला बनो उसने भी वन्दन करके अलंकार साथ ही उसे घर भेज दिया। फिर आभूषणों सहित अक्षत शरीर वाली और अखण्ड शील वाली वह अपने पति के पास गयी और जैसा बना था वैसा सारा वृत्तान्त कहा। फिर प्रसन्न चित्त वाले उसके साथ समस्त रात सोई। प्रभात का समय हुआ, उस समय मंत्री पुत्र विचार करने लगा कि—इच्छानुसार चलने वाली, अच्छी रूप वाली समान सुख दुःख वाली और गुप्त बात को बाहर नहीं कहने वाली गम्भीर मित्र या स्त्री के सोने से जागते ही प्रातः दर्शन करते पुरुष को धन्य है। इस प्रकार विचार करते उसने उसको समग्र घर की स्वामिनी बना दिया, अथवा निष्कपट प्रेम से अर्पण हृदय वाले को कौन-सा सम्मान नहीं होता है ?

इसके बाद अभयकुमार ने पूछा कि—भाइयों ! मुझे कहो इस तरह पति, चोर, राक्षस और माली इन चार में स्त्री के त्याग करने में दुष्कर कौन है ? इर्षालुयों ने कहा—स्वामिन् ! पति ने अति दुष्कर कार्य किया है कि जिसने रात्री में अपनी प्रिया को पर पुरुष के पास भेजी। क्षुधा वाले पुरुषों ने कहा—राक्षस ने ही अति दुष्कर कार्य किया है कि जिसने बहुत काल से भूखा होते हुए भी भक्ष्य करने योग्य का भी भक्षण नहीं किया। फिर परदारिक बोले—हे देव ! एक माली ने दुष्कर कार्य किया है रात्री में स्वयं आई थी फिर भी छोड़ दिया। चंडाल ने कहा—कोई कुछ भी कहे परन्तु चोर ने दुष्कर किया है, क्योंकि उसने उस समय एकान्त स्थान से भी सोने के आभूषणों से युक्त उसको छोड़ दी। ऐसा कहने से अभयकुमार ने 'यह चोर है' ऐसा निर्णय करके चंडाल को पकड़वा कर पूछा—बाग में से आम की किस प्रकार से चोरी की है ? उसने कहा—हे नाथ ! मैंने श्रेष्ठ विद्या बल से चोरी की है, फिर यह

सारा वृत्तान्त श्रेणिक राजा को कहा। राजा ने भी कहा—यदि किसी तरह वह चंडाल अपनी विद्या मुझे दे तो छोड़ दूंगा, अन्यथा इसको खत्म करना है चंडाल ने विद्या देना स्वीकार किया, फिर सिंहासन पर बैठे राजा विद्या का अभ्यास करने लगा। बार-बार प्रयत्न से विद्या को रटने लगे फिर भी जब विद्या राजा को प्राप्त नहीं हुई तब क्रोधित बने राजा ने चंडाल को उलाहना देते हुए कहा—अरे ! तू सम्यक् रूप से अभ्यास नहीं करता है। उस समय अभयकुमार ने कहा—हे देव ! इसमें इसका कोई भी दोष नहीं है, विनय से प्राप्त की विद्या स्थिर होती है और फलदायक होती है, अतः इस चंडाल को सिंहासन पर बैठाकर आप जमीन पर रहकर विनयपूर्वक अभ्यास करो कि जिससे अभी ही विद्या की प्राप्ति हो जाये ! राजा ने उसी ही प्रकार किया और विद्या उसी समय प्राप्त हो गई, फिर अत्यन्त स्नेही समान उस चंडाल का सत्कार कर छोड़ दिया।

इस प्रकार यदि इस लोक के तुच्छ कार्यों की साधना करने वाली विद्या भी हलके जाति को भी गुरु को भावपूर्वक विनय करने से मिलती है, तो समस्त मनोवांछित प्रयोजना के साधन में ममर्थ श्री जैन कथित विद्या ग्रहण करने में उसके दातार प्रति विनय नहीं करने वाला किस तरह पंडित हो सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता है। और जिस विनय से धीर-विनीत पुरुषों को पत्थर के गढ़े हुए देव भी सहायता करने में तत्पर होते हैं, तो अन्य वस्तु की सिद्धि का कौन-सा उपाय है ? धीर पुरुष विनय से सर्व सिद्धि कर सकते हैं। तथा श्रुतज्ञान में कुशल, हेतु कारण और विधि का जानकार मनुष्य भी यदि अविनीत हो तो उसे शास्त्रार्थ के जानकार ज्ञानियों ने प्रशंसा नहीं की है, और सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र आदि गुणों की प्राप्ति में हेतुभूत विनय को करने में तत्पर पुरुष यदि बहुश्रुत न हो तो भी उसे बहुश्रुत के पद पर स्थापन करते हैं। जिसमें विनय है वह ज्ञानी है, जो ज्ञानी है उसकी क्रियायें सम्यक् हैं और जिसकी क्रियायें सम्यक् हैं वही आराधना के योग्य है। इसलिए कल्याण की परम्परा को प्राप्त करने में एक समर्थ विनय में बुद्धिमान को एक समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इस तरह संसाररूपी महा समुद्र को तैरने में जहाज समान और परिकर्म विधि आदि चार प्रकार वाली संवेग रंगशाला में आराधना का पन्द्रह अन्तर भेद द्वार वाला है, उस प्रथम मुख्य द्वार का विनय नामक चौथा अन्तर द्वार संक्षेप से कहा। अति विनय-विनम्र पुरुष को भी समाधि के अभाव में स्वर्ग-अपवर्ग को देने वाली आराधना सम्यग् नहीं होती

है, इसलिए इसके बाद सिद्धिपुरी का श्रेष्ठ द्वार और मनवांछित सर्व कार्य की सिद्धि का द्वार-समाधिद्वार कहते हैं :—

पाँचवाँ समाधिद्वार और उसकी महिमा :—समाधि दो प्रकार की है, द्रव्य समाधि और भाव समाधि । उसमें जो द्रव्य स्वभाव से श्रेष्ठ हो, उसके उपयोग से द्रव्य समाधि होती है, अथवा तो अत्यन्त दुर्लभ स्वभाव से ही सुन्दर और इष्ट शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का यथाक्रम सुनकर, देखकर, खाकर, सूँघकर और स्पर्श करके प्राणी जो प्रसन्नता को प्राप्त करता है वह द्रव्य समाधि है । यहाँ पर इस द्रव्य समाधि का अधिकार-प्रयोजन नहीं है अथवा तो कोई द्रव्य समाधि को भी कभी निश्चय से कोई भाव समाधि में निमित्त रूप मानते हैं, वे कहते हैं कि—मन की इच्छानुसार भोजन करके मनोज्ञ आसन पर सोये, मनोज्ञ घर में रह कर मुनि मनोज्ञ ध्यान को करता है । भाव समाधि तो एकान्त से मन के विजय द्वारा होती है मन का विजय राग द्वेष का सम्यग् त्याग करने से होता है । और उसका त्याग अर्थात् विविध शुभाशुभ शब्दादि विषय प्राप्त होता है तो भी राग द्वेष का संवर करना चाहिये । इसलिए चंचल छोड़े समान निरंकुश गति वाला और उन्मार्ग में लगे मन को विवेक रूपी लगाम से ढड़ काबू करके सुख के अर्थी सत्पुरुषों को समाधि प्राप्त करने में नित्यमेव सम्यक् प्रयत्न करना और धर्म के रागी को विशेष प्रयत्न करना चाहिये । उसमें भी अन्तिम आराधना के लिए उद्यमी मन वाले को तो सर्व प्रकार से विशेष प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि उसके बिना सुख-पूर्वक धर्म और आराधना नहीं होनी है । इह इस प्रकार असमाधि से दुःख हो, दुःखी को पुनः अन्तर्ध्यान हो, धर्मध्यान न हो और धर्मध्यान बिना आराधना का मार्ग तो दूर है । एक समाधि बिना पुरुष को सभी प्रयोजन का मिद्ध करने वाली भी सामग्री मिली हो तो वह दावानल तुल्य दुःखदायी बननी है, और समाधि वाले को स्वादिष्ट-निरस भोजन करने पर, अच्छे खराब वस्त्र धारण करने पर, महल या स्मशानादि में रहने पर, अच्छे बुरे काल में और सम विषय अवस्था की प्राप्ति में भी नियम से हमेशा परम सुख ही होता है । तथा समाधि-जन्य सुख भोगने में भय बिना का, प्राप्त करने में क्लेश बिना का लज्जा से रहित, परिणाम से भी सुन्दर स्वाधीन अक्षय सर्वश्रेष्ठ और पाप बिना का है । उत्तम समाधि में स्थिर सत्पुरुष यदि वह किसी को स्मरण की अपेक्षा न करे, अथवा दूसरे उनका स्मरण न करे (उपेक्षा करे) फिर भी केवल समाधि-जन्य सुख की प्राप्ति से भी वे सम्पूर्ण सन्तुष्ट होते हैं । और ममत्व बिना का

जो उत्तम संयम से श्रेष्ठ समाधि में लीन है, वे सर्व पाप स्थानों से मुक्त हैं उनका मन, मित्र, स्वजन, धन आदि का विनाश होते देखते हैं फिर भी निश्चल पर्वत के समान थोड़ा भी चलायमान नहीं होता है। इस विषय में सुसमाधि के निधान रूप भगवन्त श्री नमि राजर्षि दृष्टान्तभूत हैं। वह इस प्रकार से :—

नमि राजर्षि की कथा

पर्वत, नगर, खान, श्रेष्ठ शहर और धनधान्य से समृद्धशाली गाँवों से रमणीय विदेह नाम के देश में मिथिला नगरी थी। उस देश का पालन न्याय, विनय, सत्य, शौर्य, सत्त्व आदि विशिष्ट गुणों से शोभित और जगत में यश फैलाने वाला नमि नामक राजा राज्य करता था। उस राजा के राज्य में खण्डन और करपीडण था परन्तु वह तरुणी स्त्रियों के ओष्ठपुट को तथा स्तनों का ही था, अन्य किसी स्थान पर नहीं था। और गुण को गोक करके वृद्धि करने का व्याकरण में ही सुना जाता था, परन्तु प्रजा में कोई अन्याय से धन या सुख को प्राप्त नहीं करता था, और विरोध तथा उपेक्षा भी उत्तम कवियों के काव्य में अलंकार रूप में ही थी, प्रजा में विरोध उपेक्षा नहीं थी, ऐसे विविध गुणों वाले और अति महिमा से शत्रु को नाश करने वाला वह राजा इन्द्र के समान विषयों को भोगते काल व्यतीत करता था। किसी समय उस राजा को वेदनीय कार्य के वश प्रलयकाल के अग्नि समान महा भयंकर दाह ज्वर हुआ और उस रोग से वह महात्मा वज्र की अग्नि की ज्वालाओं में पड़ा हो, इस तरह शरीर से पीड़ित उछलते, लेटते और लम्बे श्वास छोड़ने लगा उत्तम वैद्यों को बुलाया, उन्होंने औषध का प्रयोग किया, परन्तु संताप लेशमात्र भी शान्त नहीं हुआ। लोक में प्रसिद्ध हुए अन्य मन्त्र तंत्रादि के जानकारों को भी बुलाया, वे भी उस रोग को शान्त करने में निष्फल होने से वापिस चले गये, जलन से अत्यन्त पीड़ित उसे प्रतिक्षण केवल चन्दन रस से और जल से भिगा हुआ ठंडे कमल के नाल से थोड़ा आधारभूत आराम मिलने से पति के दुःख से दुःखी हुई रानियाँ उसके निमित्त एक साथ सतत चन्दन की मालिश करने लगीं। उनके हिलते कोमल भुजाओं में परस्पर टकराते सुवर्ण कंकणों से उत्पन्न हुआ अन्य आवाज को दबा कर रण झंकार की आवाज सर्वत्र फैल गई। उसे सुनकर दुःख होने से राजा ने कहा—अहो ! यह अत्यन्त अशान्तकारी आवाज कहाँ से प्रगट होकर फैल गई है। सेवकों ने कहा—हे देव ! यह आवाज चन्दन को घिसती रानियों के सुवर्ण कंकणों में से उत्पन्न हुई है। फिर राजा के शब्द सुनकर रानियों ने भुजा रूपी लता के ऊपर से एक-एक रखकर शेष सभी

कंकणों को निकाल दिया, एक क्षण के बाद पुनः राजा ने पूछा—अरे ! उस सुवर्ण के कंकणों की आवाज अब क्यों नहीं सुनाई देती ? मनुष्यों ने कहा—स्वामिन् ! केवल एक-एक कंकण होने से परस्पर टकराने के अभाव में इस समय आवाज किस तरह आ सकती है ? राजा को आनन्द हुआ ! इस अकेले कंकण में कोई आवाज नहीं है शान्त वातावरण है निश्चय अकेले जीव को भी किसी प्रकार का अनर्थ नहीं होता है जितने प्रमाण में पर वस्तु का संग है उतने प्रमाण में अनर्थ का फैलाव होता है अतः मैं भी संग को छोड़कर निसंग बनूँ ।

इस तरह संवेग को प्राप्त करते राजा को तुरन्त पूर्व जन्म में आराधना किया चारित्र्य और श्रुत का अनुस्मरण-स्मृति रूप जाति-स्मरण ज्ञान प्रकट हुआ, साथ ही वह दाह ज्वर भी कर्म की अनुकूलता के कारण दूर हो गया, उसके बाद महाभाग राजा अपने स्थान पर पुत्र को स्थापन कर प्रत्येक बुद्ध का वेग धारण करके सर्व संग का त्याग कर भगवन्त समान वह अकेले नगर के बाहर जाकर उद्यान में काउस्सग ध्यान में खड़े रहे । इस तरह नमि राजर्षि काउस्सग ध्यान में स्थिर रहने से उसी समय मारी प्रजा सर्वस्व नाश हो जाने के समान, अत्यन्त स्नेह से बेचैन चित्त होने के समान, महारोग से दुःखी हुये के समान करुण विलाप करती व्यवहार से सर्व दिशाओं को भ्रष्ट इस तरह कोलाहल करती आंसु जल से आँखें भीगी करती रो गयी थीं, फिर काउस्सग से लम्बे भुजा रूप परिधि वाला मानो मेरु पर्वत हो, ऐसे निश्चय नमि राजर्षि को देखकर इन्द्र ने विचार किया कि—नमि मुनि ने साधुता स्वीकार की है उसकी समाधि वर्तमान में कैसी है ? उसके पास जाकर प्रथम परीक्षा करूँ, ऐसा सोचकर ब्राह्मण का रूप धारण कर इन्द्र लोगों के समूह में अति विलाप करता है नगर भयंकर आग से जलता हुआ बताकर नमि राजर्षि को कहा कि—हे मुनि पुंगव ! आज मिथिला में सर्वत्र लोग करुण विलाप कर रहे हैं उसके विविध शब्द क्यों सुनाई देते हैं ? नमि राजर्षि ने कहा—जैसे महा छया वाला और फल फूल से मनोहर वृक्ष वायु के वेग से टूट जाता है शरणरहित दुःखी हुए पक्षी आनन्द करते हैं वैसे ही नगरी का नाश होते अत्यन्त शोक से पीड़ित अति दुःख से लोग भी विलाप करते हैं । इन्द्र ने कहा—यह तेरी नगरी और क्रीड़ा के महल भी प्रबल अग्नि से कैसे जल रहे हैं ? उसे देखो ! और भुजा रूपी नाल को ऊँची करके, अतीव प्रलाप करती है नाथ ! रक्षण करो ।' ऐसा बोलती अति करुणामय अन्तःपुर की स्त्रियों को देखो ! नमि मुनि ने कहा—पुत्र, मित्र, स्वजन, घर और स्त्रियों को छोड़ने वाला मेरा जो कुछ भी हो तो वह जले, उसके अभाव में मिथिला जलती हो उसमें मेरा क्या जलता है ? इस तरह हे भद्र ! नगरी को देखने से भी मेरा क्या प्रयोजन है ?

निश्चल मोक्ष की अभिलाषा वाले, सर्वसंग के त्यागी मुमुक्षु आत्माओं यही निश्चय परम सुख है कि उनको कोई भी प्रिय और अप्रिय नहीं है। इस प्रकार नमिमुनि का प्रशममय कथन सुनकर इन्द्र ने नगर का जलाना बन्द कर फिर इस प्रकार कहने लगे—तू नाथ है, रक्षणकारक है, और शरण देने वाला है, इसलिए शत्रु के भयवश पीड़ित ये लोग तेरे दृढ़ भुजदण्ड रूपी शरण में आए हैं इसलिए नगर के किले के दरवाजे को सांकल से बन्द करवा कर, शस्त्रों को तैयार करवाकर फिर तुझे दीक्षा लेना योग्य है। मुनि ने कहा—हा श्रद्धा यही मेरी नगरी है उसका मैं संवररूपी सांकल से दुर्गम हूँ, धृतिरूपी ध्वजा से युक्त क्षमा रूपी ऊँचा किल्ला बनाया है और वहाँ कर्म शत्रु विनाशक तप रूपी बाणों से शोभित पराक्रम रूप धनुष्य भी तैयार किया है। इस तरह मैंने रक्षा की है, तो इस समय मेरी दीक्षा क्यों योग्य नहीं है? इन्द्र ने कहा—हे भगवन्त ! विविध उत्तम महल बनकर के फिर तुम्हें दीक्षा अंगीकार करने योग्य है। नमि ने कहा—हे भद्र ? मार्ग में घर कौन तैयार करे ? पण्डितजन को तो जहाँ जीव का स्थिरता हो वहीं घर बनाना योग्य है। इन्द्र ने कहा—लोगों की कुशलता के लिए क्षुद्र चोर आदि शत्रुओं को मारकर तुम्हें दीक्षा लेना योग्य है। ऋषि ने कहा—ये बाह्य चोरादि का हनन करना वह मिथ्या है मेरी आत्मा का अहित करने वाला उन कर्मों का निश्चय नाश करना योग्य है। इन्द्र ने कहा—हे भगवन्त ! जो राजा नमते नहीं हैं उन सबको शीघ्र जीतकर फिर तुम्हें दीक्षा लेना उचित है। मुनि ने कहा—जो इस ससार में अति दुर्जय आत्मा है उसको जीतने से ही एक हजार योद्धाओं का परम विजेता होता है। अतः मुझे आत्मा (कर्म) के साथ युद्ध करना उपयुक्त है, मोक्षार्थी को निष्फल बाह्य युद्ध करने से क्या लाभ ? जिसने क्रोध, लोभ, मद, माया और पाँचों इन्द्रियों को जीत लिया उसने जीतने योग्य सर्व को जीत लिया है। जिसने इन क्रोधादि को जीत लिया उसकी कीर्ति सिद्ध क्षेत्र के समान शाश्वत तीनों लोक में फैलकर स्थिर हो जाती है। यह सुनकर भक्ति भरे हृदय से इन्द्र ने पुनः महायश वाले नमिराजर्षि को कहा—बहुत यज्ञों को करवा कर, ब्राह्मण आदि को भोजन देकर, और दीन-दुःखी आदि को दान देकर तुम्हें साधु जीवन को स्वीकार करना अच्छा है, अथवा गृहस्थाश्रम को छोड़कर आप सयय की क्यों इच्छा करते हैं ? हे राजन् ! तुम पोषह का अनुरागी बनकर यहीं गृहस्थ में पौषध-धर्म में रहो। नमि ने कहा—लाखों दक्षिणारों से युक्त सुन्दर यज्ञ कराने से भी संयम अत्यधिक गुणकारक है और घर में रहकर महिने-महिने उपवास को पारणा में कुशाग्र जितना खाये ऐसा तपस्वी भी सर्वसंग के त्यागी भ्रमण

की तुलना में एक लेशमात्र भी नहीं है। इन्द्र ने कहा—हे राजन् ! सुवर्ण-मणि का समूह कासा और वस्त्रों की वृद्धि करके दीक्षा लेना योग्य है। मुनि ने कहा—हे भद्र ! सुवर्ण-मणि आदि के कैलाश जितने ऊँचे हमने असंख्यात् ढेर किये परन्तु लोभी एक जीव की भी तृप्ति नहीं हो सकी क्योंकि—इच्छा आकाश के समान विशाल है, किसी से भी पूरी नहीं हुई है। जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है, वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता है। इस तरह तीन जगत की ऋद्धि सिद्धि प्राप्त होने पर भी किसी प्रकार की शान्ति नहीं होती है।

इन्द्र ने कहा—राजन् ! होते हुए भी मनोहर भोगों का त्याग करके, अभाव वस्तु की इच्छा करते तुम संकल्प से पीड़ित होते हो। मुनि ने कहा—हे मुग्ध ! शल्य अच्छा है, जहर पीना अच्छा है, अति विष सर्प श्रेष्ठ है, क्रोध केसरी सिंह अच्छा है और अग्नि अच्छी है परन्तु भोग अच्छा नहीं है, क्योंकि इच्छा करने मात्र से वह भोग मनुष्य को नरक में ले जाता है, और दुस्तर भव समुद्र में परिभ्रमण करवाता है। शल्य आदि का भोग हो जाये तो भी उससे एक ही भव की मृत्यु होती है, भोग की तो इच्छा मात्र से भी जीव लाख-लाख बार मरता है, इसलिए भोगवांछा का त्यागी हूँ परम अधोगति कारक क्रोध को, अधम गति का मार्ग देने वाले मान को, सद्गति की घातक माया को, और इस भव-परभव उभय भव में भय कारक लोभ का भी नाश करके केवल साधुता की साधना में उद्यम करूँगा। इस प्रकार परम समाधि वाला, अत्यन्त उपशमभाव वाले उस नमि राजर्षि की विविध अनेक युक्तियों से परीक्षा करके और सुवर्ण के समान एक शुद्ध स्वरूप वाला जानकर अति हर्ष उत्पन्न हुआ और इन्द्र उनकी स्तुति करने लगा कि—हे क्रोध को जीतने वाले ! सर्वमान को नाश करने वाले ! और विशाल फैलाव करने वाली प्रबन्ध माया के प्रपञ्च का नाश करने वाले हे मुनिवर्य ! आप विजयी हों, लोभरूपी योद्धा को हनन करने वाले, पुत्र परिवार आदि संग के त्यागी, इस जगत में आप ही एक परमपूज्य हैं। इस भव में तो आप एक उत्तम हैं ही, परभव में भी उत्तमोत्तम होंगे, अष्टकर्म को गाँठ को चरने वाले आप निश्चय तीन जगत के तिलक समान उत्तम सिद्ध क्षेत्र को प्राप्त करोगे। आपके संकीर्तन-भक्ति से शुद्धि क्यों नहीं हो ? आपके दर्शन से पाप उपशम क्यों नहीं होंगे ? कि जिनमें प्रयास से साध्य और शिवसुख की प्राप्ति में सफल मन के निरोध रूप यह समाधि स्फूर्ति है। इस प्रकार मुनि की स्तुति कर और कमल, वज्र, चक्र आदि सुलक्षणों से अलंकृत मुनि के चरण कमल को भक्तिपूर्वक वन्दन करके तुरन्त

भीरे तथा जंगली भैंसे के समान काले आकाश को पार कर इन्द्र देव नगर में पहुँच गया ।

इस प्रकार इस लोक में पाप के संग से विरागी मन वाले धीर पुरुष श्रेष्ठ समाधि के लिए नमिराज के समान सर्वजन उद्यम करते हैं, क्योंकि— धर्म गुणरूपी पौरजनों के निवास का श्रेष्ठ नगर समाधि है, अर्थात् समाधि में धर्मगुरु रह सकते हैं और समाधि आराधना रूपी लता का विशाल कन्द है । सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य, क्षमा आदि महान् गुण भी समाधि गर्भित हो तभी स्वसाध्य यथोक्त फल को सम्यक् रूप देता है, एकान्त में बैठो, प्रयत्न से पश्चासन लगाओ, श्वास को रोको, तथा शरीर को बाह्य चेष्टा को भी रोको, दोनों होंठों को मिलाकर रखो, मन्द आँख की दृष्टि को नाक के अन्तिम स्थान पर लगाओ परन्तु यदि समाधि नहीं लगे तो योगी उस ध्यान का फल को नहीं प्राप्त करता है । अति उत्तम योग वाले योगी जो चराचर जगत को भी हाथ में रहे निर्मल स्फटिक के समान देखते हैं, वह भी निश्चय समाधि का फल है और जिसका चित्त समाधि वाला, स्ववश और दुर्ध्यान रहित होता है, वह साधु निरतिचार साधुता के भार को बिना श्रम से वहन कर रहे हैं । इस भवन तल में वे धन्य हैं कि समाधि के बल से रागद्वेष का चकनाचूर करने वाले जो शरीर का परम आधारभूत आहार की भी इच्छा नहीं करते हैं । वस्तु स्वरूप के सम्यग् ज्ञाता हर्ष विवाद आदि से मुक्त समाधि वाले जीव अनेक जन्मों के बाँधे हुए कर्मों को भी शीघ्रमूल में से उखाड़कर फेंक देते हैं । इसलिए चित्त को विजय करने रूप लक्षण वाली भाव समाधि के लिए प्रयत्न करना योग्य है । यह भाव समाधि ही यहाँ उपयोगी है, अब इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहें । इस प्रकार शास्त्र में कही युक्तियों वाली और परिकर्म विधि आदि चार मुख्य द्वार वाली आराधना रूप संवेगरंगशाला के पन्द्रह अन्तर द्वार वाला परिकर्म नामक प्रथम द्वार में यह पाँचवां समाधि नामक अन्तर द्वार कहा है ।

इस तरह चित्त के विजय से प्रगट हुआ यह समाधि गुण भी यदि आराधक बार-बार मन को नहीं समझायेगा तो मन स्थिर नहीं होगा, क्योंकि यदि बाह्य—नाव के समान मनरूपी समुद्र में पड़ा हुआ परिभ्रमण करता है, अज्ञानरूपी वायु से प्रेरित हुआ दुर्ध्यान रूपी तरंगों से टकरता है और मोहरूपी आवर्त (चक्कर) में पड़ता है, ऐसे मन को बार-बार अनुशासन रूपी कर्णधार नाविक सम्यक् काबू में नहीं रखेगा तो वह समाधि रूपी श्रेष्ठ मार्ग को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? अर्थात् मोक्ष मार्ग नहीं प्राप्त कर सकेगा । इसलिए दोष

का नाश करने वाला और गुणों को प्रकाशमय करने वाला मन के अनुशासन को यहाँ कहते हैं। सुसमाधि वाला वह अनुशासन इस प्रकार करे :—

छठा मन का अनुशास्ति द्वार—हे चित्त ! विचित्र चित्तों के समान तू भी अनेक रंगों (विविध विचारों को) धारण करता है, परन्तु यह परायी पंचायत द्वारा तू अपने आपको ठगता है। रुदन, गति, नाच, हँसना, खेलना आदि विकारों से जीवों को मदोन्मत्त (धनचक्कर) के समान देखकर हे हृदय ! तू स्वयं ऐसा आचरण करता है कि जिससे तू दूसरों की हँसी का पात्र न बने। क्या मोह सर्प से डंक लगने द्वारा अति व्याकुल प्रवृत्ति वाला, सामने रहे अशान्त अथवा असत् मिथ्या जगत को तू नहीं देखता है ? कि जिससे विवेक रूपी मन का तू स्मरण नहीं करता है ? हे चित्त ! तू चपलता से शीघ्रमेव रसातल में प्रवेश करता है, आकाश में पहुँच जाता है और सर्व दिशाओं में भी परिभ्रमण करता है लेकिन उन प्रत्येक से संग रहित तू किसी को स्पर्श नहीं करता है। हे हृदय ! जन्म, जरा और मृत्यु रूपी अग्नि से संसार रूपी भवन चारों तरफ से जल रहा है इसलिए तू ज्ञान समुद्र में स्नान करके स्वस्थता को प्राप्त करो ! हे हृदय ! शिकारी के समान संसार के रागरूपी जाल द्वारा तूने स्वयं महाबंधन किया है, अतः प्रसन्न होकर इस समय ऐसा करो कि जिससे वह बन्धन शीघ्र विनाश हो जाए। हे मन ! अस्थिर वैभवों की चिन्तन करने से क्या लाभ ? इससे तेरी वह तृष्णा रुकी नहीं, इसलिए अब संतोषरूपी रसायण का पान कर। हे हृदय ! यदि तू निर्विकार सुख को चाहता है तो पुत्र, स्त्री आदि के गाढ़ सम्बन्ध से अथवा प्रसंगों से विचित्र यह भव स्वरूप को इन्द्रजाल समझ। यदि तुझे सुख का अभिमान है तो हे हृदय ! संसाररूपी अटवी में रहा हुआ धन और शरीर को लूटने में कुशल शब्दादि विषयरूपी पाश में फँसा हुआ हूँ ऐसा तू अपने आपको क्यों नहीं देखता ? संसारजन्य दुःखों में यदि तुझे द्वेष है और सुख में तेरी इच्छा है तो ऐसा कर कि जिससे दुःख न हो और वह सुख अनन्तता शाश्वतता हो। जब तेरी चित्तवृत्ति मित्र-शत्रु में समान प्रवृत्ति होगी तब निश्चय तू सकल संताप बिना का सुख प्राप्त करेगा। हे मन ! नरक और स्वर्ग में, शत्रु और मित्र में, संसार और मोक्ष में, दुःख और सुख में, मिट्टी और सुवर्ण में यदि तू समान समभाव वाला है तो तू कृतार्थ है।

हे हृदय ! प्रति समय में नजदीक आते और उसको रोकने में असमर्थ एक मृत्यु का ही तू विचार कर ! शेष विकल्पों के जाल का विचार करने से

क्या प्रयोजन है ? हे हृदय ! अनार्य सदृश जरा से जीर्ण होती तेरी यह शरीर रूपी झोपड़ी का भी विचार नहीं करता है ? अरे ! तेरे ऊपर यह महामोह का प्रभाव कैसा है ? हे मूढ़ हृदय ! यदि लोक में जरा मरण, दारिद्र्य रोग, शोक आदि दुःख का समूह प्रगट है वहाँ भी तू वैराग्य क्यों धारण नहीं करता है ? हे मन ! शरीर में श्वास के बहाने गमनागमन करते जीव को भी क्या तू नहीं जानता है ? क्या तू अजरामर के समान रहता है ? हे मन ! मैं कहता हूँ कि—राग द्वारा तुझे सुख की आशा से बहुत काल तक परिभ्रमण करवाया है, अब यदि तू सुख के स्वरूप को समझता हो तो आशा को छोड़ और राग के उपशमभाव का सेवन कर, वही तुझे इष्ट सुख प्राप्त करवायेगा । हे मन ! बचपन में अविवेक द्वारा, बुढ़ापे में इन्द्रियादि की विकलता से, धर्म की बुद्धि के अभाव से तेरा बहुत ही नरभव निष्फल गया है । हे मन ! नित्य-मेव उन्माद में तत्पर काम का एक मित्र, दुर्गति का महा दुःखों की परम्परा का कारण, विषय में पक्षपात करने वाली बुद्धि वाला, मोह की उत्पत्ति में एक हेतु, उन विवेकी रूपी वृक्ष का कन्द, गर्वरूपी सर्व को आश्रय देने वाला चन्दन वृक्ष समान और सम्यग् ज्ञानरूपी चन्द्र के विष को ढाँकने में गहन बादलों के समूह सदृश यह तेरा यौवन भी प्रायः सर्व अनर्थों के लिए ही हुआ किन्तु धर्म गुण का साधक नहीं बन सका और हे हृदय ! इस घर का कार्य किया, इसको करता हूँ और यह वह कार्य करेगा—ऐसा हमेशा व्याकुल रहते तेरे दिन निरर्थक जा रहे हैं, पुत्री की शादी नहीं की, इस बालक को पढ़ाया नहीं है, वे अमुक मेरे काय आज भी सिद्ध नहीं हुए हैं, इस कार्य को मैं आज करूँगा, इसको फिर कल करूँगा और अमुक कार्य को उस दिन, पाक्षिक या महीने के बाद अथवा वर्ष में करूँगा । इत्यादि हमेशा चिन्ता करने से सदा खेद करते हे मन ! तुझे अल्प भी शान्ति कहाँ से होगी ? और हे मन ! कौन मूढ़ात्मा स्वप्न तुल्य इस जीवन में, इसको अभी ही करूँ, इसको करने के बाद इसे करूँगा इत्यादि कौन चिन्तन करे ? हे मनात्मा ! तू कहाँ-कहाँ जायेगा और वहाँ जाने के बाद तू क्या-क्या करके कृतार्थ होगा ? इसलिए स्थिरता को प्राप्त कर और स्थिरता से कार्य कर क्योंकि गति का अन्त नहीं है और कार्यों की प्रवृत्ति का अन्त नहीं है, अर्थात् का अन्त नहीं प्रवृत्ति है अतः निवृत्ति का स्वीकार कर । हे चित्त ! यदि तू नित्यमेव चिन्ता की परम्परा में तत्पर रहेगा तो खेदजनक बात है कि तू अत्यन्त दुस्तर समुद्र में गिरेगा ।

हे हृदय ! तू क्यों विचार नहीं करता ? कि जो यह ऋतुओं रूपी छह पंर वाला, विस्तार युक्त कृष्ण शुक्ल दो पक्ष वाला, तीन लोक रूपी कमल के

पराग का प्रतिदिन आयुष्य का पान करते हुए भी अतृप्त, गूढ़ गति वाला, जगत के सर्व जीवों में तुल्य प्रवृत्ति वाला, कालरूपी भ्रमर यहाँ भ्रमण कर रहा है। हे मन ! तूझे निर्धन धन की इच्छा होती है, धनी को राजा बनने की, राजा को चक्रवर्ति बनने या इन्द्र आदि पदवी प्राप्ति करने की इच्छा होती है और उसे मिल जाये तो भी उसे तृप्ति नहीं होती है। शल्य के समान प्रवेश करते और स्वभाव से ही प्रतिदिन पीड़ा करने वाले काम, क्रोध आदि तेरे अन्तरंग शत्रु हैं। जो हमेशा देह में रहते ही हैं उसका उच्छेदन करने की तो हे चेतन मन ! तेरी इच्छा भी नहीं होती और तू बाह्य शत्रुओं के सामने दौड़ता है, उससे लड़ता है, अहो ! महामोह यह कैसा प्रभाव ? जब तू बाह्य शत्रुओं में मित्रता और अंतरंग शत्रुओं के प्रति शत्रुता करेगा तब हे हृदय ! तू शीघ्र स्वकार्य को भी सिद्ध कर देगा। हे हृदय ! प्रारम्भ में मधुरता और परिणाम में कटु विषयों में आसक्ति नहीं कर। क्योंकि भाग्य के वश से नाश होने वाले वह उस भोगी को अति तीक्ष्ण दुःखों को देता है। मुख मधुर और अन्त विरस विषयों में यदि तू प्रथम से ही राग नहीं करेगा तो हे हृदय ! फिर भी तू कदापि संताप को नहीं करेगा। विषयों बिना सुख नहीं है और वह विषय भी बहुत कष्ट से मिलता है तो हे हृदय ! तू उससे विमुख विषय बिना का अन्य कोई सुख है तो उसका चिन्तन कर। हे चित्त ! जैसे तू विषयों को प्रारम्भ में मधुर देखता है वैसे यदि विपाक को भी देखे और विचार करे तो तू इतनी विडम्बनायें कभी भी प्राप्त नहीं करे। हे हृदय ! जहर समान विषयों की इच्छा करके तू संताप कैसे धारण कर सकता है ? और उसमें ऐसा कोई भी चिन्तन है कि जिससे परम निवृत्ति हो सके ? और विषयों की आशा रूपी छिद्र द्वारा तो ज्ञान से प्राप्त किया गुण भी नाश होता है, इसलिए, हे भूढ़ हृदय ! उस गुणों को स्थिरता या रक्षा के लिए तू उस आशा रूप छिद्र का त्याग कर। और हे हृदय ! विषयों की आशा रूपी वायु से उड़ती हुई रज से मलीन हुआ और निरंकुश भ्रमण करता तू अपने साथ पैदा हुई इन्द्रियों के समूह से भी क्यों लज्जा नहीं करता है। हे मन कुम्भ ! काम के बाण से जर्जरित होने के बाद तेरे में कर्म मल को नाश करने वाला और संसार के संताप को क्षय करने वाला सर्वज्ञ परमात्मा का वचन रूप जल टिकेगा नहीं। यदि वह जैन वचन रूपी जल किसी प्रकार भी तेरे में स्थिर हो जाये तो वे तेरे कषायों के दाह को शान्त कैसे करेगा ? अथवा यह जो तेरी अविवेक रूपी मलीन गांठ को भी कैसे खत्म करेगा ? हे हृदय सागर ! बड़े दुःखों के समूह रूपी मेरु पर्वत रूप मथनी से तेरा मथन करने पर भी तेरे में विवेक रूपी रत्न

प्रगट नहीं हुआ। हे चित्त ! अविवेक रूपी कीचड़ से कलुषित तेरी मति तब तक निर्मल नहीं होगी कि जब तक सुविवेक रूपी जल से अभिषेक करने की क्रिया नहीं करेगा।

हे हृदय ! सुन्दर भी शब्द, रूप, रस के प्रकार और श्रेष्ठ गन्ध तथा स्पर्श भी तब तक तुझे आकर्षण है जब तक तत्त्व बोध रूपी रत्नों वाला और सुख रूपी जल के समूह से पूर्ण भरा हुआ श्रुतज्ञान रूपी अगाध समुद्र में तू ने स्नान नहीं किया। शब्द नियमा कान को सुख देने वाला है, रूप चक्षुओं का हरण करने वाला चोर है, रस जीभ को सुखदायक है, गन्ध नाक को आनन्द देने वाला है और स्पर्श चमड़ी को सुखदायी है उसका संग करने से क्षणिक सुख देकर भी फिर वियोग होते वह तुझे अति भयंकर अन्नत गुणा दुःख देते हैं, इसलिए हे चित्त ! तुझे उस विषयों से क्या प्रयोजन है ? अति मनोहर हवेली, शरद ऋतु का चन्द्र, प्रियजन का संग, पुष्प, चन्द्र रस दक्षिण दिशा का पवन और मदिरा, ये प्रत्येक तथा सब मिलकर भी सरागी को ही क्षोभित करता है, परन्तु हे चित्त ! विषय के राग से विमुख हुआ तुझे ये क्या कर सकते हैं ? इस संसार में बहुत दान देने से क्या ? अथवा बहुत तप करने से क्या ? बहुत बाह्य कष्टकारी क्रिया करने से भी क्या ? और अधिक पढ़ने से भी क्या ? हे मन ! यदि तू अपना हित समझता हो तो राग आदि के कारणों से निर्वृत्ति कर और वैराग्य के कारणों में रमणता प्राप्त कर। हे हृदय ! तू वैराग्य को छोड़कर विषय के संग को चाहता है वह काल नाग के बिल के पास चन्दन के काष्ठा से अनेक द्वार वाला सुन्दर घर बनाकर वहाँ मालति की पुष्पों की शय्या में 'यह सुख है' ऐसा समझ कर निद्रा को लेने की इच्छा करने के समान है। हे हृदय ! यदि तू निष्पाप और परिणाम से भी सुन्दर ऐश्वर्य को चाहता है तो आत्मा में रहे सम्यग् ज्ञान रूपी रत्न को धारण कर। जब तक तेरे अन्दर घोर अज्ञान अन्धकार है, तब तक वह तुझे अन्धकारमय बनायेगा, इसलिए हे हृदय ! तू यदि आज भी जैन मत रूपी सूर्य को अन्दर से प्रगट करे तो प्रकाश वाला होगा। हे हृदय ! मैं मानता हूँ कि—मोह से महा अंधकार से व्याप्त यह संसार रूपी विषम गुफा में से तुझे निकलने का उपाय ज्ञान दीपक के बिना अन्य कोई नहीं है। हे चित्त ! द्रव्याद्रिक जड़ का संग छोड़कर संवेग का आश्रय स्वीकार कर कि जिससे यह तेरी संसार की गांठ मूल में से टूट जाए। हे मूढ़ हृदय ! सुख के लिए इच्छा करते हुये भी दुःखमय वैभव से क्या प्रयोजन है ? अतः आत्मा को सन्तोष में स्थिर करके तू स्वयं सुखी बन। विभूतियाँ प्रकृति

से ही मिलाने में क्लेश को पैदा करती है, मिलने पर पुनः मोह उत्पन्न होता है और उसका नाश होने से अनि संताप को पैदा करता है। इसलिए हे चित्त ! इस समय दुर्गति जाने के मार्ग समान राजा, अग्नि और चोरों का साध्य उस विभूतियों का राग तत्त्व से समझपूर्वक त्याग कर। हड्डी रूपी स्तम्भ धारण करते, स्थान-स्थान पर नसों का रस्सी रूप बन्धन से बांधी हुई, मांस चर्बी आदि के ऊपर चमड़ी ढाकने वाली, इन्द्रिय रूपी रखवाले से रक्षण होता और स्वकर्म रूपी बेड़ियों से जकड़ा हुआ जीव की जेल समान, केवल दुःखों का अनुभव करने का स्थान रूप काया में भी हे मन ! तू मोह मत कर ! सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य आदि विषयों के राग रूप मजबूत तन्तुओं से नित्यमेव सर्व तरफ से स्वयं अपने आप का गाढ़ लपेटता हुआ हे चित्त ! रेशम के कीड़े समान तेरा छुटकारा किस तरह होगा ? हे मूढ़ ! यह भी विचार कर कि—इस संसार में किसी भी स्थान पर जो वस्तु इन्द्रिय ग्राह्य है, वह स्थिर नहीं फिर भी यदि तू वहाँ राग करता है तो हे मन ! तू ही मूढ़ है। संसार में उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं के समूह का नियम से स्वभाव से ही हाथी के बच्चे के कान समान अति चंचलता है इस प्रकार एक तो अपने अनुभव से और दूसरा श्री जिनेश्वर देव के वचनों से भी जानकर, हे मन ! क्षण मात्र भी तू उसमें राग का बन्धन नहीं करना, और हे चित्त ! 'इस असार संसार में स्त्री ही सार है' ऐसे गलत भ्रम रूपी मदिरा से मदोन्मत्त बना तुझे शान्ति कैसे होगी ? क्योंकि इस जन्म या दूसरे जन्म में जीवों को जो तीव्र दुःख आते हैं उन दुःखों का निमित्त स्त्रियों के बिना अन्य कोई नहीं होता है। मैं मानता हूँ कि—मुख में मधुरता और परिणाम से भयंकरता को देखकर विधाता स्त्रियों के मस्तक पर सफेद बाल के बहाने राख डालते हैं।

तथा हे मन भ्रमर ! काम क्रीड़ा से आलसी स्त्रियों को भी मुख रूपी कमल विकसित भी, विशाल नेत्र रूपी पत्तों से अति सुशोभित भी लावण्य रूपी जल से भीगी हुई भी, मस्तक के बाल रूपी भ्रमरों से व्याप्त भी, चारों ओर से सुगन्ध को फैलाते भी और विशिष्ट रूप शोभा से युक्त भी आरम्भ में अल्प-मात्र सुखदायक बनकर अन्त में तुझे बन्धन रूप होगा, क्योंकि स्त्रियों का शरीर चर्बी, हाड, पिंजर, नसें तथा मल, मूत्रादि से बीभत्स दुष्ट द्रव्यों का समूह है, और हे चित्त ! पंडित भी स्त्रियों के चरण को लाल कमल के साथ, पैर को केले के स्तम्भ समान, स्तन का वर्णन कठिनता और आकार को श्रेष्ठ जाति का सुवर्ण, शील और उत्तम कलश के साथ, हथेली को कंकली वृक्ष के पत्तों के साथ, भुजाएँ अथवा शरीर गान्ध को लता के साथ, मुख को चन्द्रमा के साथ,

होंठ को परवाल के साथ, दाँन को भोगरे की कलियों के साथ, आँखों को कमल पत्रों के साथ, भाल को अष्टमी के चन्द्र के साथ, और मस्तक के बाल मयूर के पिच्छ समूह के साथ तुलना उपमा देते हैं वह तेरे अन्तर में उछलती राग की महीमा है। इसलिए हे मन ! देखने में सुन्दर भी अति दुर्गन्धमय मांस, रूधिर, मल और हड्डी का पिंजर, इत्यादि से भरा हुआ मल का भण्डार रूप स्त्रियों में तू राग नहीं कर ! शब्दादि विषयों के समुदाय रूपी सरोवर में विलास करता हुआ हे मन रूपी मछली ! तुझे पकड़ने के लिए कामरूपी मछुआ स्त्रियों रूपी मांस वाली जाल डाली है, स्त्री के संग रूपी मांस में प्रेमी बने तुझे इस जाल से शीघ्र खींचकर हे मूढ़ ! काम के तीव्र अनुराग रूपी अग्नि में सर्व प्रकार से सेकेंगे। हे मन ! यदि तेरे में अमृत तुल्य जैन वचन सम्यक् रूप आचरण आ जायें तो स्त्रियों का हास्य और ललित विलासी हाव भाव भी उसे लेशमात्र भी विकार नहीं करते हैं। हे मन ! जिसके वियोग रूपी अग्नि से जलते तू मुहुर्त मात्र को भी सौ वर्ष से अधिक मानता है, उन स्त्रियों के साथ तेरा कोई ऐसा वियोग होगा कि जिससे सैंकड़ों सागरोपम तक भी पुनः एक समय मात्र संयोग की आशा भी नहीं होगी। हे चित्त ! अपने शरीर में भी अपना जीव भी अत्यन्त निवास को नित्य स्थान नहीं प्राप्त कर सकता है तो अन्य स्थान पर कोई कैसे प्राप्त कर सकता है। हे मन ! इस जगत में जन्म पानी के बुलबुले के समान होता है और नाश होता है वैसे निश्चय ही संयोग और वियोग होता है और नाश होता है। हे मन ! स्वभाव से ही नाशवंत फिर भी प्राण इस शरीर में क्षण बार स्थिर रहते हैं वह आश्चर्य है, क्योंकि—विजली का प्रकाश क्षण से अधिक नहीं रहता ? हे हृत् हृदय ! इष्ट के साथ संयोग क्षण मात्र और फिर उसका वियोग हजारों भव तक रहता है, तो भी तू प्रिय का संगम ही चाहता है। हे हृदय ! कुपथ्य के जैसा अल्पमात्र मनोहर सदृश प्रिय संयोग को भोगने का परिणाम भयंकर ही आता है। इसलिए संसार में संतोषी बन, तप में रागी और सर्वत्र निरभिवाणी, तुझे दुर्गति के मार्ग से बचाने वाला धर्म मार्ग में स्थिर हो। हे मानव ! चक्री और इन्द्रपने में भी जो नहीं है वह इस धर्म की प्राप्ति से होता है तो अब तेरे में क्या अपूर्णता रही ? कि जिससे तू संतोष के लिए खेद करता है ? अर्थात् धर्म की प्राप्ति से सर्व की प्राप्ति है। तथा हे मन ! संतोष करने से तूने धन की प्राप्ति की, रक्षण करने की, और व्यय करने की वेदना से मुक्त होयेगा और इस जन्म में भी तुझे परम शान्ति की प्राप्ति होगी।

हे मन ! संतोष रूपी अमृत रस से भिने तुझे हमेशा ही सुख होता है, वह सुख इधर-उधर की चिन्ता में, आसक्ति में, असंतोषीपन में तुझे कहाँ

मिलता है ? हे मन ! तू यदि संतोषी बनेगा वही तेरी उदारता है, वही तेरा बड़प्पन है, वही सौभाग्य है, वही कीर्ति और वही तेरा सुख है । हे चित्त ! तू संतोषी होते ही तेरी सर्व संपत्तियाँ हैं अन्यथा चक्री जीवन में और देवत्व में सदा दरिद्रता ही है । हे मन ! अर्थ की इच्छा वाला दीनता का ही अभिनय करता है उसको प्राप्त करने पर अभिमान और असंतोष को प्राप्त करता है तथा मिलने के बाद धन नष्ट हो जाने से शोक करता है । इसलिए धन की आशा छोड़कर तू संतोष रूपी सुख से रहो । निश्चय ही अर्थ की इच्छा प्रगट करने के साथ ही अन्दर तत्त्व (स्वत्व) निकल जाता है, अन्यथा हे मन ! अर्थी-जन वैसी ही अवस्था वाला होने पर भी उसकी लघुता कैसे होती है ? और मृतक में जो भारीपन बढ़ता है उसके कारण की भी स्पष्ट जानकारी मिली है कि—जीता था तब अर्थीजन होने के कारण हल्का-लघु था, वह अर्थीजन मर जाने के बाद नहीं होता इस कारण से वह भारी बन जाता है । हे मन ! नित्य-मेव दुःखों से तू उद्विग्न रहता है और सुखों को चाहता है, परन्तु तू ऐसा क्यों नहीं करता कि जिससे इच्छित सुख मिले । हे हृदय ! पूर्व में तूने जैसा किया है, वर्तमान में तुझे वैसा ही मिला है इसलिए इसमें हर्ष-खेद मत कर ! सम्यग् परिणाम से समतापूर्वक सहन कर । “संयोग वियोग वाला, विषय विष के समान परिणाम से दुःखदायी है, काया अनेक रोगों वाली है और रूप स्वरूप से क्षण भंगुर है ।” ऐसा दूसरे को उपदेश देते तेरा वचन जैसे महा स्फूर्ति वाला बनता है, वैसे हे चित्त ! तेरे अपने लिए भी ऐसा बने तो क्या प्राप्त न हो अर्थात् सर्वस्व प्राप्त होता है । हे हृदय ! तेरी पुण्य और पाप रूपी जो मजबूत दो बेड़ियाँ विद्यमान हैं उसे स्वध्याय रूपी चाबी से खोलकर मुक्ति को प्राप्त कर । हे चित्त ! संसार में सुख का तू जो अनुभव चाहता है वह तृष्णा की शान्ति के लिए तू मृग जल को पीता है, सत्त्व की शोध के लिए केले की छाल को उखाड़ता है, मक्खन के लिए पानी को मथना, तेल के लिए रेती को पीलाना अर्थात् ये क्रिया सब निष्फल हैं वैसे संसार में सुख प्राप्ति की इच्छा भी निष्फल है । जैसे इस संसार में कुछ गड़ा हुआ और कुछ गड़ते पात्र को अधूरा छोड़कर दूसरे को गढ़ने से पूर्व के अधूरे का नाश होता है, वैसे अनेक प्राणि जन्म कर साधना नहीं करते, केवल विविध गर्भादि अवस्थाओं को प्राप्त कर संसार के जन्म मरणादि के दुःखों को ही सहन करता है अमुक कारण से नाश होता है, यह जानकर हे चित्त ! कुछ भी शुभ चिन्तन का चिन्तन कर । हे चित्त ! तू एक होने पर अनेक वस्तु का चिन्तन करने से बहुत्व को प्राप्त

करता है—अनेक प्रकार का बनता है पुनः तू ऐसा बनकर स्वयं दुःखी होता है, इसलिए हे चित्त ! अन्य सब वस्तु की चिन्ता को छोड़कर श्रेष्ठ एक भी किसी वस्तु का चिन्तन कर कि जिससे तू परम शान्ति प्राप्त करे । हे मन ! मदोन्मत्त हाथी के समान तू वैसा कर कि—स्वाध्याय के बल से जैसे मेरी संसार रूपी अटवी का मूलभूत कर्मरूपी अटवी टूट जाए और वह टूटते ही भव वन में ताजे पत्ते तुल्य मेरे रागादि सूख जाते ही पंखी तुल्य मेरे कर्म उड़कर कहीं जाते रहे और उसके पुष्पों समान मेरा जन्म जरा मरण सर्वथा नाश हो तथा उसके फल तुल्य मेरे दुःख भी शीघ्र क्षीण हो । हे मन ! यदि तू दुःखरूपी फलों को देने वाली कर्मरूपी जल के सिंचन से बढ़ती हुई संसार रूपी गहरी लता को ध्यान रूपी अग्नि से जलाए तो वह उत्पन्न नहीं होगी ।

यदि तू लक्ष्मी से अभिमान नहीं करता है, रागादि अन्त रंग शत्रुओं को भी वशीभूत नहीं होता है, स्त्रियों से आकर्षित नहीं होता है, यदि विषयों से लोलुपता नहीं रखता है, सन्तोष को नहीं छोड़ता, इच्छाओं को आदर नहीं देता, और पाप पक्ष का विचार नहीं करता, तो हे चित्त ! तुझे ही मेरा नमस्कार, तू ही मेरा वन्दनीय है । तथा हे मन ! यदि तू आसक्ति के त्याग से राग को, अप्रीति को त्याग से, द्वेष को सत्ज्ञान से, मोह को क्षमा से, क्रोध को, मृदुता प्रगट करके मान को, सरलता से भाया को, और सन्तोष गुण से लोभ को जीते और यदि तू नित्य बलपूर्वक भी इन्द्रियों के समूह को सन्तोष करता है, यदि जीव के साथ प्रीति करने के लिए अप्रीति को खत्म करता है, असंयम में अग्नि को और संयम में रति करता है, यदि संसार से ही भय प्राप्त करता है पाप की ही घृणा करता है, यदि वस्तु स्वरूप का विचार कर हर्ष शोकादि नहीं करे, यदि वचन का उच्चारण करने में नित्य सत्य का ही विचार करे, तथा धर्म गुणों की यथाशक्ति सम्यक् आसक्ति करे, काल के अनुरूप समय अनुसार सुन्दर क्रिया में तत्पर उत्तम साधुओं का सत्कार करना, दीन-दुखियों के प्रति करुणा करनी, और यदि पापियों की अपेक्षा करता है तो हे मन ! अन्य निष्फल क्रियाओं को बनने का मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, तेरी कृपा से मुझे मुक्ति वस्थे की ही है । हे मन ! जैसे निःश्वासन पर्वत से निर्मल भी दर्पण शीघ्र मलिन होता है जैसे अति विशाल धुएँ से अग्नि की शिखा काली भ्याम हो जाती है, जैसे उड़नी रेत के समूह से चन्द्र भी निस्तेज हो जाता है वैसे तू उज्ज्वल है तो भी कृपासना से मलिन होता है । तूने आज तक आत्मा को अपने नियम में लेकर राग-द्वेषादि का निग्रह नहीं किया, शुभ ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूप विशाल ईन्धन को नहीं जलाया, विषयों में से खींचकर

इन्द्रियों के समूह को धर्म मार्ग में नहीं जोड़ा, तो हे चित्त ! क्या तुझे मुक्ति के सुख की भी इच्छा नहीं है ? हे मन ! हाथियों को सजाना नहीं है, घोड़ों की कतारों को भगाना नहीं है, आत्मा को प्रयास नहीं करना, तलवार का भी उपयोग नहीं करना, परन्तु शुभध्यान से ही राग आदि अन्तरंग शक्तियों को खत्म करता है, फिर भी तू उनका पराभव क्यों सहन करता है ? गुरु महाराज के बताये उपाय से प्रथम आलम्बन के आधार पर मन, वचन और काया के योग सर्व विघ्नों से रहित होता है, तथा प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करके, बाह्य विषयों की चिन्ता के व्यापार छोड़कर यदि तू निरालम्बन परम तत्त्व में लीन बनेगा तो हे चित्त ! तू संसार चक्र में परिभ्रमण नहीं करेगा ।

हे मन ! यदि तू प्रकृति को ही चल स्वभाव वाला, विषयाभिलाषा में वेग वाला, दुर्दान्त ये इन्द्रिय रूप घोड़ों के समूह को विवेकरूपी बागडोर से बंध करके स्वाधीन करेगा तो रागादि शक्तियाँ नहीं उछलते अन्यथा हमेशा फँसते निरंकुश उनसे तेरा पराभव होगा । जैसे वर्षा करते मेघ द्वारा और हजारों नदियों प्रवेश द्वारा भी समुद्र में उछाल या जोश नहीं आता, और उस मेघ और नदियों के अभाव में निराश भी नहीं होता है, तो तुझे जो मिलने वाला था वह मिल गया तथा उत्तम बना हुआ वह तेरा अति कृतार्थ हुआ है ऐसा समझ क्योंकि दुष्कर तप आदि करने वाले भी भुनि भोगादि की इच्छा रखते हैं उसका कल्याण नहीं है । और 'योग की साधना का रागी घर को छोड़कर वन में मोक्ष की साधना करता है' ऐसा जो कहते हैं वह भी उस मनुष्यों का मोह है क्योंकि—मोक्ष केवल घर त्याग से नहीं होता परन्तु सम्यग् ज्ञान से होता है । और वह ज्ञान तो पुनः घर में अथवा वन में भी साथ रहता है और शेष विकल्पों को छोड़कर वह ज्ञान स्वसाध्य कार्य को साधक भी है, इसलिए हे चित्त ! ज्ञान की महिमा का चिन्तन मनन कर । हे मन ! यदि तू सम्यग् ज्ञानरूपी किल्ले से सुरक्षित रहता है तो संसार में उत्पन्न हुए, और कर्मवश आ मिलते अति रम्य पदार्थ भी तुझे लालची नहीं करते । हे हृदय ! यदि तू सम्यग् ज्ञान रूपी अखण्ड नाव को कभी भी नहीं छोड़ता है तो अविद्वेक रूपी नदी के प्रवाह से तू नहीं बहता । घर में दीपक के समान उत्तम पात्र रूप जीव में रही हुई मोह की तन्तु रूप बात का और स्नेह राग रूपी तेल का नाश करते मिथ्यात्व रूपी अंधकार को दूर करते तथा संकलेश रूपी काजल का वमन करते सम्यग् ज्ञान रूपी दीपक यदि तेरे में प्रगट हो तो हे चित्त ! क्या नहीं मिला ? अर्थात् सर्वस्वमिल गया । गुरु रूपी पर्वत के आधीन रहना अर्थात् गुर्वाधीन, विषयों के वैराग्य रूपी सार तत्त्व वाला

ऊँचे स्कंध वाला और धर्म के अर्थी जीव रूपी पक्षियों ने आश्रम बनाया है, ऐसे जो परम तत्त्वोपदेश रूपी वृक्ष, उसके ऊपर शीघ्रता रहित धीरे-धीरे क्रमशः चढ़कर जो सम्यग् ज्ञान रूपी फल को ग्रहण करता है तो तू मुक्ति का रस आस्वादन कर सकता है। क्योंकि जैसे विद्या सिद्धि वैद्य रोगों की शान्ति का परम उपदेश (उपाय) देते हैं वैसे सद्गुरु बाह्य उपचार बिना का कर्म रूपी रोग को उपशम करने का परम उपदेश-अभ्यंतर उपाय दिया है। हे चित्त ! गुरु के उपदेश रूप इस औषध से केवल अधिगत कर्मों का ही क्षय होता है ऐसा विचार नहीं करना, परन्तु सकल दुःखों से रहित अजरामरत्व भी प्राप्त होता है।

हे चित्त ! तू प्रयत्नपूर्वक कोई उस परमतत्त्व का चिन्तन मनन कर कि जिसका केवल विचार करते ही दीर्घकाल भी परम निर्वृत्ति (शान्ति प्राप्त) हो। हे मन ! "मैं ही बृद्धिमान हूँ, मैं ही विद्वान हूँ, मैं ही सुरूपवान् हूँ, मैं ही त्यागी हूँ, मैं ही शूरवीर हूँ" इत्यादि अहंकार रूपी तेरी गर्मी तब तक ही है, कि जब तक तू परम तत्त्व में मग्न नहीं हुआ। हे चित्त ! हाथी के समान तू अविवेक रूपी महावत को फेंक करके गर्व रूपी मजबूत स्तम्भ को भी तोड़कर पुत्र, स्त्री आदि का स्नेहरूपी मजबूत बेड़ियों को तोड़कर बन्धन रूपी रागादि वृक्षों को भी मूल में से उखाड़ कर, धर्म रूपी वन में विहार करता है कि जिससे परम शान्ति को प्राप्त करता है। हे चित्त ! दिव्य भोजन के विविध रसों को स्पर्श करता हुआ चम्मच जैसे स्वयं उस रसों को नहीं स्वाद कराता, केवल गर्म होता है, वैसे उस आगम के अनुभव बिना का तू भी दूमरों को श्रद्धा प्रगट कराने के लिए यह प्रवचन साक्षात् श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है, यह अमुक गणधरों ने कहा है, यह अमुक उनके शिष्यों ने कहा है, यह अमुक चौदह पूर्वी ने कहा, अमुक प्रत्येक बुद्ध ने कहा है और यह अमुक के पूर्व श्री जिनेश्वरों ने कहा है इत्यादि चिन्तन से केवल स्वयं खेद या श्रम को ही प्राप्त करता है। अथवा कड़खी तो उन रसों से वासित भी होती है और भेदन भी होती है। हे मूढ़ हृदय ! तू तो श्री जैन वचन को आचरण करते भी वासित नहीं होता और भेदित भी नहीं होता, तू महान् ऋषियों के सुभाषितों को नित्य अनेक बार बोलता है, सुनता है, अच्छी तरह विचार करता है, और उसके परमार्थ को भी जानता है, समझता है फिर भी तू प्रथम रस का अनुभव नहीं करता वैसे संवेग और निर्वेद का भी अनुभव नहीं करता तथा एक मुहुर्तमात्र भी उसके भावार्थ के परिणाम वाला नहीं बनता है। इसलिए प्रमाद रूपी मदिरा की

मस्ती वाले हे मन ! तू श्री जैन वचन द्वारा शान्त रस की प्राप्ति किए बिना, शक्ति अनुसार साधु की सुविशुद्ध क्रिया करने रूप बाह्य व्यवहार चारित्र में भी तू लेशमात्र उत्साह को भी प्राप्त नहीं करेगा तो इस तरह नाव मिलने पर भी हे मूढ़ात्मा ! तू संसार समुद्र में डूबेगा । अथवा इस तरह तू केवल श्री जैन वचन के अर्थों को नहीं स्वीकार करेगा, इतना ही नहीं किन्तु तेरे अपने अभि-प्राय से तू उससे विपरीत व्यवसाय, उल्टा उपदेश भी देगा तो हे मूढ़ हृदय ! निज आत्म का आधारभूत श्री जैन मत द्वारा भी तू किसी भी किसी विषय में सर्वथा एकान्त कदाग्रही बनता है, किसी समय एकान्त उत्सर्ग मार्ग में चंचल बनकर तू आकाश के अन्तिम भाग में पहुँचता है और किसी समय अपवाद में ही डूबता तू रसातल में डूबता है उत्सर्ग दृष्टि वाले तुझे अपवाद का आचरण करने वाले जीव अच्छे नहीं लगते, फिर अपवाद दृष्टि वाले तुझे उत्सर्ग में प्रवृत्ति करने वाले जीव पसन्द नहीं हैं । तथा द्रव्य क्षेत्र कालादि के अनुसार उस विषय में उत्सर्ग-अपवाद उभय मार्ग जो चलते हैं वे भी तुझे श्रेष्ठ नहीं लगते । इस तरह हे मन ! निश्चयनय में रहे तुझे व्यवहार नय में प्रवृत्ति करते और व्यवहार नय में रहे तुझे निश्चय नय में प्रवृत्ति करते अन्य जीव अच्छे नहीं लगते हैं । तथा द्रव्य क्षेत्र कालादि भावों के अनुसार उस विषय में जो दोनों नय में प्रवृत्ति करते हैं वे भी तुझे अच्छे नहीं लगते हैं । हे मन ! उत्सर्ग अपवाद आदि में समस्त नयों से युक्त यह श्री जैनमत प्रति अरुचि वाले तुझे विशुद्ध जैन मत का शुद्ध रहस्य किसी तरह प्राप्त हो सकता है ? और उपशम भाव रहित तू किसी अंश को पकड़कर 'मैंने निश्चित तत्त्व को जान लिया' ऐसा स्वयं मानकर उस विषय में श्रुत निधान रूप ज्ञानी को भी तू बहुत नहीं पूछता, इसी तरह तुझे ग्लान के कार्यों की चिन्ता नहीं होती है और काल के अनुसार गुण धारण करने वाले भी गुणी के सम्बन्ध में तुझे प्रसन्नता नहीं होती है, तथा यदि तू वात्सल्य, स्थिरीकरण, उपबृंहण—प्रशंसा करता है तो भी सर्वत्र समान—पक्षपात बिना नहीं करता है, यदि करता है तो अपनी मान्यता अनुसार करता है । इसलिए तू इस प्रकार के मिथ्या आग्रह रूप चक्र को विवेकी रूप चक्र से छेदन करके सद्धर्म में सर्वइच्छा से रहित विशुद्ध राग को स्वीकार कर । हे चित्त ! यदि तुझे इस सद्धर्म में थोड़ा भी राग हो तो इतना दीर्घ-काल तक महादुःखों की यह जाल नहीं । क्या तूने वह नहीं सुना ।

अन्त्य मन वाला जीव यदि एक दिन भी दीक्षा स्वीकार करे तो वह मोक्ष को प्राप्त न करे तो भी वैमानिक देव तो अवश्य बन जाता ही है । अथवा

एक दिन आदि भी बहुत समय कह दिया, क्योंकि एक मुहुर्त मात्र भी ज्ञान का सम्यग् परिणाम होने से इष्ट फल की प्राप्ति होती है, यहाँ शास्त्र में कहा है कि—अज्ञानी जितने कर्मों को अनेक करोड़ों वर्ष में खत्म करते हैं उतने कर्मों को तीन गुप्ति वाले ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास (श्वास) मात्र काल में खत्म करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो हे मन ! सम्यग् ज्ञान के परिणाम रूप गुणरहित पूर्व में किसी गुण की साधना बिना ही श्री मरुदेवा उसी क्षण में सिद्ध हुए हैं, वह कैसे होते ? हे मन ! तू तो किसी समय राग में रंगा हुआ तो किसी समय द्वेष से कलुषित होना, किसी समय मोह में मूढ़ बनना तो किसी वक्त क्रोधाग्नि से जलना, किसी समय मान से अक्कड़ना, तो किसी समय माया से अति व्याप्त रहना, किसी दिन बड़े लोभ समुद्र में सर्वांग डुबा हुआ, तो किसी समय वैर मत्सर उद्वेग—पीड़ा, भय और आर्त-रौद्र ध्यान के आधीन होना है किसी समय द्रव्यक्षेत्र आदि की चिन्ता के भार से युक्त, इस तरह नित्यमेव तीव्र वायु से उड़ते ध्वजापट के समान तू व्याकुल बना कदापि परमार्थ में थोड़ी भी स्थिरता को प्राप्त नहीं करता इत्यादि हे चित्त ! तुझे कितनी शिक्षा दी है ? तू स्वयमेव हिताहित के विभाग को विचार कर और उसका निश्चय कर, उसके बाद नित्य कुशलता—(शुभ) में प्रवृत्ति और कुशल मार्ग में रहने वालों का सत्कार, सन्मान कर। अकुशल प्रवृत्ति और अकुशल वस्तु का त्याग कर ! शुभाशुभ में राग-द्वेष त्याग कर माध्यस्थ भाव का सेवन कर। इस प्रकार अकुशल का त्याग और कुशलमार्ग में प्रवृत्ति रूप मुख्य कारण द्वार हे मन ! तू समाधि रूप परम कार्य को सिद्ध करेगा। इस प्रकार यदि भाव-पूर्वक नित्य प्रति समय मन को समझाया जाए तो एक साथ तू माया, क्रोध और लोभ को जीत लेगा इसमें क्या आश्चर्य है ? अन्यथा अनत्य विविध कवि कल्परूप कल्पनाओं में आसक्त चित्त से पीड़ित, हित को भी अहित, स्वजन को भी पराया, मित्र को भी शत्रु और सत्यता में भी गलत मानकर वसुदत्त के समान, निरंकुश हाथी के समान रोकना दुःशक्य मनुष्य कौन-कौन से पाप स्थान को नहीं करता है ? वह इस प्रकार है :—

मन की चंचलता पर वसुदत्त की कथा

उज्जैन नगर में सूरतेज नाम का राजा था उसने सोमप्रभ नाम का ब्राह्मण पुरोहित रखा था, वह सभी शास्त्रों के रहस्य का जानकार, सर्व प्रकार के दर्शनों का जानकार, सद्गुणी होने से गुण वालों को और राजा को अत्यन्त प्रिय था। उसके मर जाने के बाद उसके स्थान पर स्थापन करने के

लिए स्वजनों ने उसके पुत्र वसुदेव को राजा को दिखाया, परन्तु वह छोटा और पढ़ा हुआ नहीं होने से राजा ने उसका निषेध किया और उसके स्थान पर अन्य ब्राह्मण को स्थापन किया। फिर अपना पराभव होता जानकर अत्यन्त खेद से संताप करते वह वसुदेव पढ़ने के लिए घर से निकल गया। 'पाटलीपुत्र नगर विविध विद्या के विद्वानों वालों श्रेष्ठ विद्या क्षेत्र है।' ऐसा लोगों के मुख से सुनकर वह वहाँ गया और कालक्रम से सर्व विद्याओं को पढ़कर फिर इच्छित कार्य की सिद्धि वाला वह अपने नगर में वापिस आया, उसके विद्या से राजा प्रसन्न हुआ और पिता की आजीविका उसे दी, वह अपने विद्या के बल से राजा और नगर के सर्व लोगों का माननीय बना। राजा के सम्मान से, ऐश्वर्य से और श्रुतमद से जगत को भी तृणवत् मानता वह वहाँ काल व्यतीत करने लगा। इस ऐश्वर्य आदि एक के बल से भी अधीर पुरुषों का मन चंचल बनता है तो कुल, बल, विद्या आदि सर्व का समूह एकत्रित हो जाये तो उससे क्या नहीं होता है? प्रलयकाल के समुद्र के तरंगों के समूह को रोकने में पार प्राप्त कर सकते हैं परन्तु ऐश्वर्य आदि के महामद के आधीन बने मन को थोड़ा भी रोकना अशक्य है। इस तरह उन्मत्त मन वाले उसको उसके मित्रों ने कुतूहल से एक रात्री में नट का नाटक देखने को कहा—हे मित्र ! चलो, हम जाकर क्षण भर नट का नाटक देखें, क्योंकि देखने योग्य देखने से आँखों का होना सफल होता है, उनकी इच्छानुसार वह वहाँ गया और एक क्षण बैठा। उस समय वहाँ एक कोई युवती किसी भाट के साथ इस तरह बोलते सुना—हे सुभग ! तेरे दर्शनरूपी अमृत मिलने से आज कपट पण्डित और घर में बन्द कर रखने वाले मेरे पति से मुझे मुक्ति मिली है। हे नाटक के प्रथम पात्र ! तेरा जीवन दीर्घ अखण्ड बने क्योंकि, तूने क्रोध के समुद्र मेरे पति को यहां व्यग्र किया है, इसलिए हे सुभग ! आओ, जब तक यह कूट पण्डित यहाँ समय व्यतीत करता है तब तक क्षणभर क्रीड़ा करके अपने-अपने घर जायें। इस तरह उनकी स्नेहयुक्त वाणी सुनकर गलत विकल्प करने रूप कथन से प्रेरित उस वसुदेव ने विचार किया कि—मैं मानता हूँ कि निश्चय ही यह मेरी पत्नी है, यह पापिनी परपुरुष के संग क्रीड़ा करती है और मुझे उद्देश्य से कुट पण्डित करती है, पहले भी मैंने उसके लक्षणों से दुर्गाचारिणी मानी थी और अब प्रत्यक्ष ही देखा, इससे इसको शिक्षा देनी चाहिये।

ऐसा विचार कर वह वसुदेव उसको मारने के लिये चला। इतने में तो स्वच्छन्द आचरण करने वाली वह युवती कहीं जाती रही। फिर 'मैं मानता हूँ कि—मुझे आते देखकर वह पापिनी शीघ्र घर गई होगी' ऐसा बुद्धि विचार

कर वहाँ से वह शीघ्र घर की ओर चला। फिर प्रबल क्रोध के वश बना जब वह अपने घर के दरवाजे पर पहुँचा, तब अपनी बहन को जंगल जाने की चिन्ता से घर में प्रवेश करते देखा, इससे 'यह मेरी पत्नी है' ऐसा मानकर उसने कहा—अरे पापिनी ! दुराचारिणी होकर भी मेरे घर में क्यों प्रवेश करती है ? उस भाट के सामने मुझे 'कपट पण्डित' ऐसा मुलजिम बनाकर और उसके साथ सहर्ष क्रीड़ा करके तू आई है। ऐसा बोलते उसने 'हा ! हा !! ऐसा क्यों बोलते हो, यह कौन है ? मैंने क्या अकार्य किया है ?' इस प्रकार बड़ी आवाज से बोलती बहन को भी अत्यन्त क्रोध के आवेश में उसको नहीं जानने से लकड़ी और मुट्ठी से निष्ठुरतापूर्वक उसके मर्मस्थानों पर इस तरह प्रहार किया कि जिससे वह मर गई। उसके बाद ही मित्र वर्ग ने आकर उसे रोका, इससे अधिक क्रोधाग्रस्त होकर उसने कहा कि—हे पापियों ! तुम्हारे ही प्रपञ्च से निश्चय रूप से मेरी स्त्री ऐसा अकार्य करती है और इसी कारण से ही तुम मुझे रोकते हो, निश्चय इस कारण से ही इसके पाप कार्य में विघ्न दूर करना तुम नहीं चाहते परन्तु मुझे नाटक दिखाने के लिये भी ले गये, अथवा कृत्रिम मंत्री से युक्त कपटियों को कोई भी कार्य अकरणीय नहीं है इसलिये हे दुराचारियों ! मेरी दृष्टि के सामने से दूर हट जाओ। इस तरह गलत कुविकल्प से पीड़ित मन वाला वसुदत्त ने निश्चय ही निर्दोषी होते हुये भी इस तरह उनका तिरस्कार किया, इससे वे अपने घर चले गये। यह कोलाहल सुनकर उसकी स्त्री घर में से बाहर आकर और स्थिति देखकर बोलने लगी कि—'हा ! हा ! निर्दय ! निर्लज्ज ! अनार्य ! अपनी बहन को क्यों मारता है ? जो ऐसा पाप तो चण्डाल भी नहीं करता है। इस तरह उसने और नगर लोगों ने भी उसकी निन्दा की, इससे अति कुविकल्पों से घबड़ाये हुए मन वाले उस वसुदत्त ने पुनः विचार किया कि—यह मेरी पत्नी केवल असती ही नहीं, परन्तु शाकिनी भी है कि जिससे मुझे भी इस तरह व्यामूह करके स्वयं हट गई है और बहन को मार दी है फिर तेरा क्रोध शान्त हुआ है और साधु के समान मुख का रंग बदले बिना गम्भीर मुख बनाकर मुझे रोकने लगी है, यदि इसने मेरी दृष्टि बचाना नहीं की हो तो क्या अत्यन्त अन्धकार में मेरी बहन को भी मैं नहीं जान सकता ? ऐसी कल्पना कर कमल के पल्ल समान काली तलवार को खींचकर हे पापिनी ! डाकण !! हे बहन को नाश करने वाली !!! अब तू कहाँ जायेगी ? कि जिस बृहस्पति के समान विद्वान् होते हुए भी मुझे तूने विभ्रमित किया। ऐसा बोलते उसने पत्नी के दोनों होठों सहित नाक को काट दिया।

उसके बाद सूर्योदय हुआ, तब रात्री का सारा वृत्तान्त सुनने से क्रोधित हुए लोगों ने तथा राजा ने उसे नगर में से बाहर निकाल दिया, फिर अकेला घूमता हुआ वड़देश नामक नगर में पहुँचा, वहाँ उसने तारापीठ नामक राजा को प्रसन्न किया, प्रसन्न हुए राजा ने उसे नौकरी दी, और प्रसन्न मन वाला वह वहाँ रहने लगा, एक दिन सूर्यग्रहण हुआ तब विचार करने लगा कि—आज मैं ब्राह्मणों को निमंत्रण देकर बहुत साग से युक्त, अनेक जात के पेय पदार्थ सहित विविध मसालों से युक्त अनेक स्वादिष्ट वाले विविध भोजन को तैयार करवाऊँगा और राजा के गडरियों के पास से दूध मंगवाऊँगा। यदि बार-बार विनयपूर्वक मांगने पर भी वे किसी प्रकार से दूध नहीं देंगे तो मुझे आपघात करके भी उसे ब्रह्म हत्या दूँगा। ऐसा मिथ्या विकल्पों से भ्रमित हुआ, कल्पना को भी सत्य के समान मानता हुआ, वह 'भोजन का समय हुआ है' ऐसा मानकर अपने मन कल्पना द्वारा निश्चय ही "बार-बार बहुत समय तक मांगने पर भी गडरियों ने दूध नहीं दिया" ऐसा मानकर तीव्र क्रोधवश होकर शस्त्र से अपनी हत्या करने लगा और ऊँचे हाथ करके बोला—अहो लोगों ! यह ब्रह्म हत्या राजा के गडरियों के निमित्त से है, क्योंकि इन्होंने मुझे दूध नहीं दिया, इस तरह एक क्षण बोलकर जोर से शस्त्र मारकर अपनी हत्या की और रौद्र ध्यान को प्राप्त कर वह मरकर नर्क में गया। क्योंकि ऐसी स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला चित्त रूपी हाथी से मारा गया। जीव एक क्षण भी सुख से नहीं रह सकता है।

इसलिए मन को प्रतिक्षण में शिक्षा देनी ही चाहिये, अन्यथा ऊपर कही हुई वह परिस्थिति अनुसार क्षण भी कुशलता नहीं हांती है, और स्वच्छंदी दासी को वश करने के समान, स्वच्छंदी मन को ही अपने वश करना चाहिए उसने ही युद्ध मैदान में विजय ध्वजा प्राप्त किया है वही शूरवीर और वही पराक्रमी है। सम्भव है कि कोई पुरुष किसी तरह सम्पूर्ण समुद्र को भी पी जाये, जाज्वल्यमान अग्नि की ज्वालाओं के समूह बीच शयन भी करे शूरवीरता से तीक्ष्णधार वाली तलवार की धार ऊपर भी चले, और तीव्र अग्नि जैसे जलते भाले की नोक ऊपर पद्मासन पर बैठने वाला भी जगत में प्रकृति से ही चंचल, उन्मार्ग में मस्त रहने वाला और शस्त्र रहित भी मन को विजय नहीं कर सकते हैं। जो मदोन्मत्त हाथी का भी दमन करते हैं, सिंह को भी अपने वशीभूत बनाते हैं उछलते समुद्र के पानी के विस्तार को भी शीघ्र रोक सकते हैं, परन्तु वे कष्ट बिना ही मन को जीतने में समर्थ नहीं होते, तो भी किसी प्रकार यदि उसने मन को जीत लिया तो निश्चय ही उसने जीतने योग्य सब कुछ जीत

लिया। इस विषय में अधिक क्या कहें ? मन को जीतने से दूर्जय बहिर आत्मा भी पराजित होता है और उसे पराजित करने से अंतरात्मा परम पद का स्वामी परमात्मा बनता है। इस तरह मन रूपी मधुकर को वश करने के लिए मालती के पुष्पों की माला समान परिकर्म विधि आदि चार बड़े मूल द्वार वाली संवेग रंगशाला रूप आराधना के पन्द्रह अन्तर द्वार वाला प्रथम परिकर्म द्वार में चित्त की शिक्षा नाम का यह छठा अन्तर द्वार कहा है।

सातवाँ अनियत विहार द्वार :—इस तरह शिक्षा देने पर भी चित्त प्रायः नित्य स्थिर वास से राग के लेप से लिप्त होता है, परन्तु निःस्पृह नहीं बन सकता है। इसलिए अब समस्त दोषों को नाश करने वाला अनियत विहार को कहते हैं, उसे सुनकर आलस का त्याग कर उद्यमशील बनो, अवश्य वसति में, उपधि में, गाँव में, नगर में, साधु समुदाय में तथा भक्तजनों में इस तरह सर्वत्र राग बन्धन का त्याग करके विशुद्ध सद् धर्म को करने में प्रीति रखने वाला साधु सविशेष गुणों की इच्छा से सदा अनियत विहार करना चाहिए, अप्रतिबद्ध विचरण करे और श्रावक को भी सदा तीर्थ यात्रादि करने में प्रयत्न करना चाहिए। जो कि गृहस्थ को निश्चय स्पष्ट रूप में अनियत विहार नहीं है तो भी गृहस्थ “मैं अभी तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म दीक्षादि कल्याणक जहाँ हुए हों उन तीर्थों में श्री अरिहंत भगवन्तों को द्रव्य स्तव का सारभूत वन्दन नमस्कार करूँगा, फिर संग का त्याग करके स्वीकार करूँगा अथवा आराधना अनशन को स्वीकार करूँगा” ऐसी बुद्धि से प्रशस्त तीर्थों में यात्रार्थ घूमते अथवा श्रेष्ठ आचार वाले गुरु भगवन्तों की खोज करते गृहस्थ भी वह अनियत विहार कर सकता है। उसमें जो दीक्षा लेकर आराधना करने की इच्छा वाला है उसके लिए अच्छे आचार वाले गुरु वर्ग की प्राप्ति का स्वरूप आगे गण संक्रमण दूमरे द्वार में कहेंगे। परन्तु जो घर में रहकर ही एकमात्र आराधना करने का ही मन वाला है, उसके लिए श्रेष्ठ आचार वाला गच्छ को गवेषणा की विधि इस द्वार में आगे कहेंगे। अब श्री जैन मत की आज्ञानुसार चलने वाले सर्व साधु तथा श्रावकों को भी एक क्षेत्र में से अन्य क्षेत्र में गमन रूप विहार की यह विधि है कि—प्रथम निश्चय जिसने जिसके साथ में मन से, वचन से या काया से जो कोई भी पाप किया हो करवाया हो, अथवा अनुमोदन किया हो, वह थोड़ा हो अथवा समस्त पाप को भी समाधि की इच्छा करने वाला सम्यग् भावपूर्वक क्षमा याचना करे और इसमें ऐसा समझे कि मेरा किसी तरह मृत्यु बाद भी वैर का अनुबन्धन हो। इसमें यदि विहार करने वाला सामान्य मुनि हो तो आचार्य, उपाध्याय को और स्वयं पर्याय में छोटा हो तो

शेष साधुओं को भी अभिवन्दन करके कहते हैं कि—मैं जिस-जिस नगरादि में जाऊँगा वहाँ-वहाँ चैत्य, साधुओं और संघ को तुम्हारी ओर से भी वन्दन करूँगा। अथवा जो जाने वाला स्वयं बड़ा हो तो वहाँ रहने वाले साधु विहार करते मुनि को वन्दन करके कहे कि—हमारी ओर से चैत्य, साधु और संघ को वन्दन करना। उसके बाद उस क्षेत्र में चैत्य भवन (मन्दिर) में जाकर भक्ति-पूर्वक चैत्याचल के आगे उनकी वन्दनार्थ के लिए सम्यग् उपयोग करे।

इसी तरह श्रावक भी निश्चय रहने वाला समस्त को सम्यग् रूप क्षमा याचना कर, प्रतिमा, आचार्य और साधु आदि को वन्दन की सम्यग् विधि करके, उन्होंने दिया हुआ निष्पाप संदेश को स्वीकर करके उपयोगपूर्वक उस गाँव, नगर आदि में आकर जहाँ जाए वहाँ बड़े यान वाहन आदि वैभव से और न्यायोपाजित धन से जैन क्षेत्र में आवश्यक हो उसमें देकर, अनेक धर्म स्थानकों में नित्यमेव श्री जैन शासन की परम उन्नति को करते और दीन अनाथों को अनुकंपादान से परम आनन्द देता बुद्धिमाम श्रावक समस्त तीर्थों में परिभ्रमण करे, उसके बाद गृहस्थ और साधु भी उन चैत्यों में जाकर 'निश्चय संघ यह वन्दन करता है' इस प्रकार प्रथम उपयोगपूर्वक संघ सम्बन्धी सम्यग् वन्दन करके, फिर उसी अवस्था में भावपूर्वक अपना भी सम्यग् वन्दन करे, इस तरह किसी कारण से यदि द्रव्य क्षेत्र, काल आदि का अभाव हो तो संक्षेप से भी प्राणिघान आदि तो अवश्य ही करे। उसके बाद ज्ञानादि गुणों की खान समान साधुओं को और श्रावकजनों को देखकर कहे कि—हमको आप अमुक स्थान पर श्री जिनेश्वरों के दर्शन वन्दन करवाओ। फिर आदर के अतिशय से प्रगट हुये रोमांच द्वारा कंचुक समान बनी काया वाले, भक्ति से भरे हुए उत्तम मन वाले, स्थानिक श्रावक आदि भी उनके साथ में पृथ्वीतल ऊपर मस्तक जमाकर—हे त्रैलोक के महाप्रभु! हे प्रभृत—अनन्त गुण रत्नों के समुद्र! हे जिनेन्द्र परमात्मा! आप विजयी बनो इत्यादि श्री अरिहंत प्रभु के गुणों द्वारा अथवा 'नमोऽस्तुषुणं' इत्यादि शक्रस्तव के सूत्र से स्तुति करे, और आगन्तुक पधारो हुए यात्री उनके साथ आचार्य आदि का भेजा हुआ धर्मलाभ आदि को कहे, उसके बाद स्थानीय श्रावक अभिवन्दन, वन्दन, अनुवन्दन रूप उचित मर्यादा का पालन करे उसके बाद परस्पर कुशलता आदि विशेष पूछने में विकल्प जानना। अर्थात् प्रथम नमस्कार कौन करे और फिर कौन करे इस सम्बन्धी अनियम जानना। इस तरह परस्पर नमस्कार करने योग्य प्रेरणा रूप शुभ-योग से उभय पक्ष को इष्ट की सिद्धि कराने वाला शुभपुण्य का अनुबन्ध होता है, ऐसा श्री जिनेश्वर देवों ने कहा है।

यह समाचारी को जानकर जो विधिपूर्वक अमल करते हैं, उन्हीं को ही इस विषय में कुशल जानना और अन्य सर्व को अकुशल जानना । इस तरह जो कहा है उस विधि अनुसार उस देश में विचरते गृहस्थ अपने और घर के जीवन में धर्म गुणों की सविशेष वृद्धि करता है । वह इस प्रकार से द्रव्यस्तव और भावस्तव आराधना में सविशेष रक्त श्रावक वर्ग को देखकर स्वयं भी उसे सविशेष करने में तत्पर होता है, और उस आने वाले को स्थान-स्थान पर ऐसी क्रिया करने में रक्त प्रवृत्ति करते देखकर धर्म परायण बने अन्य जीवों में भी वह शुभ गुण विकासमय बनता है । और उसको देखकर अश्रद्धालु को भी प्रायः धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है और स्वयं श्रद्धालु हो वह जीव पुनः वैसी प्रवृत्ति करने में उद्यमशील होता है, अस्थिर हो वह स्थिर होता है, तथा स्थिर हो वह अधिक गुणों को ग्रहण करता है, अगुणी भी गुणवान बनता है और गुणी गुणों में अधिक वृद्धि बनता है । इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान का जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान, निर्वाण जहाँ-जहाँ हुआ हो उन-उन अति प्रशस्त तीर्थों में श्री सर्वज्ञ भगवन्तों को वंदन करे और सुस्थिर गुरु की खोज करे, वहाँ तक तीर्थयात्रा-परिभ्रमण करे कि जहाँ तक परम श्रेष्ठ आचार वाले गुरु की प्राप्ति हो, फिर ऐसे गुरु देव की प्राप्ति होते हर्ष से उछलते रोमांचित रूप कंचुक वाला वह स्वयं को मिलना था वह मिल गया और समस्त तीर्थ समूह से पाप धुल गये, ऐसा मानते विधि-पूर्वक उस गुरु भगवन्त को अपने दोषों को सुनाये । उसके बाद गुरु देव के कहे हुए प्रायश्चित्त को सम्यग् भाव से स्वीकार कर ऐसा चिन्तन करे कि अहो ! पाप से मलिन मुझे भी निष्कारण करुणा समुद्र इन आचार्य भगवन्त ने प्रायश्चित्त रूप जल से शुद्धि करके परत विशुद्धि किया है । निश्चय ही इस गुरुदेव का वात्सल्य इतना अधिक है कि इनके सामने माता, पिता, बन्धु, स्वजन आदि किसी को भी नहीं है । इस प्रकार वात्सल्य भाव से जगत में विचरते हैं, अन्यथा कदापि नहीं देखे, नहीं सुने, परदेश से आये हुए यह महा भाग गुरुदेव इस तरह प्रिय पुत्र के समान मेरा सन्मान कैसे करते ? उसके बाद परमानंद से विकसित आँखों वाला वह चिरकाल सेवा करके, उनके उपदेश को स्वीकार करे, गुरु महाराज को अपने क्षेत्र की ओर विहार करने का निमन्त्रण करे । ऐसा करने से पुण्य के समूह से पूर्ण इच्छा वाला किसी उत्तम श्रावक को निश्चय ही निर्विघ्न से इच्छित सिद्धि होती है । और इस तरह यात्रार्थ प्रस्थान करने वाले किसी को संभव है क्योंकि सोपक्रम आयुष्य से 'भाग्य योग' से बीच में मृत्यु हो जाए तो तीर्थादि पूजा बिना भी शुभ ध्यान रूपी गुण से दुर्गता नारी के समान तीर्थयात्रा के साध्य रूप फल की सिद्धि होती है । वह इस प्रकार :—

दुर्गता नारी की कथा

देवों के मस्तक मणि की किरणों से व्याप्त चरणों वाले लोगों को चारित्र्य मार्ग में जोड़ने वाले, लोकालोक को प्रकाशक, करुणा रूपी अमृत के समुद्र, तुच्छ और उत्तम जीवों के प्रति सम दृष्टि वाला सिद्धार्थ नामक राजा का पुत्र था, एक समय श्री महावीर प्रभु काकंदीपुरी में पधारे, वहाँ देवों ने श्रेष्ठ, मनोहर, सुशोभित, विविध प्रकार से उज्ज्वल लहराती ध्वजों वाला और सिंहासन से युक्त मनोहर समवसरण की रचना की, फिर सुर असुर सहित तीन जगत के पूजनीय चरण कमल वाले, भव्य जीवों को प्रतिबोध करने वाले जगत के नाथ श्री वीरप्रभु उसमें पूर्वाभिमुख बिराजमान हुए फिर हर्षित रोमांचित वाले असुर, देव, विद्याधर, किन्नर, मनुष्य और राजा उसी समय श्री जैन वंदन के लिये समवसरण में आये, तब उत्तम शृंगार को सजाकर हाथी, घोड़े, वाहन, विमान आदि में बैठकर देव समूह के समान शोभते नगर निवासी भी धूप पात्र और श्रेष्ठ सुगंधमय पुष्प समूह आदि से हाथ भरे हुए अपने नौकर समूह को साथ लेकर शीघ्र श्री जैन वंदन के लिए चले। तब उसी नगर में रहने वाली लकड़ियों को लेकर आती, अत्यन्त आश्चर्य प्राप्त करती एक दरिद्र वृद्धा ने एक मनुष्य से पूछा—अरे भद्र ! ये सब लोग एक ही दिशा में कहाँ जाते हैं ? उसने कहा—ये लोग, तीन जगत के बन्धु दुःखदायी पापमैल को धोले वाले जन्म जरा मरणरूपी लता विस्तार को विच्छेदन करने में कुल्हाड़े के समान श्री वीर परमात्मा के चरण कमल की पूजा करने के लिए और शिवसुख का कारण भूत धर्म को सुनने के लिए जा रहे हैं।

यह सुनकर शुभ पुण्य कर्म के योग से अतिशय भक्ति जागृत हुई और वह वृद्धा विचार करने लगी कि—मैं पुण्य बिना की दरिद्र अवस्था में क्या कर सकती हूँ ? क्योंकि मेरे पास जैनवर के चरण कमल की पूजा कर सकूँ ऐसी अतिश्रेष्ठ निरवध पूजा के अंग समूह रूप सामग्री नहीं है अथवा नहीं है तो इससे क्या ? पूर्व में जगत के अन्दर देखे हुए मुफ्त मिलते फूलों को भी शीघ्र लाकर श्री जैन पूजा कहूँ। उसके बाद पुष्पों को लेकर भाव में वृद्धि करती श्री जैन पूजा के लिये शीघ्र ही वह वृद्धा समवसरण के प्रति चली, परन्तु वृद्धावस्था से अत्यंत थक जाने से बढ़ते विशुद्ध भावना वाली वह अर्ध-मार्ग में ही मर गई, और उसने श्री जैन पूजा की एकाग्रता मात्र से भी कुशल पुण्य कर्म उपार्जन करके सौधर्म देवलोक में महर्द्धिक देव की संपत्ति प्राप्त

की। 'वृद्धावस्था के कारण मूर्छा प्राप्त की है अथवा थक गई होगी' ऐसा समझकर लोगों ने अनुकम्पा से उसके शरीर पर पानी का सिंचन किया। तो भी उसे शरीर की चेष्टा से रहित देखकर लोगों ने श्री जिनेश्वर भगवन्त से पूछा—हे भगवन्त ! क्या वह जीती है या मर गई है ? प्रभु ने कहा—वह मर गई है और उस वृद्धा का जीव देव रूप बन कर शीघ्र ही अवधि ज्ञान से अपना पूर्वभव जानकर परम भक्ति से आकर जगद्गुरु के चरण कमलों को अभिवंदन करके पास बैठा था। उस देव को भगवन्त ने लोगों को बतलाया और जिस तरह उस वृद्धा का जीव यह देव हुआ वह बतलाया। इससे आश्चर्य चकित हुए लोगों ने कहा—सुकृत बिना भी ऐसी देव ऋद्धि उसने किस तरह प्राप्त की ? हे नाथ ! उसने सद्गति का कारण भूत ज्ञान दान, तप, शील अथवा सर्वज्ञ पूजन कितना किया ? हमेशा दारिद्र्य का बड़ा कंद रूप, जन्म से दुखियारी और दूसरों की नौकरी से सदा संताप करती, उसने वह किस तरह किया ? इससे श्री तीन जगत् गुरु ने उसके पूजा की एकाग्रता का सारा वृत्तांत कहा। लोगों ने प्रभु को पुनः पूछा—हे भगवन्त ! श्री जिनेश्वर के गुणों से अज्ञात यह वृद्धा केवल पूजा के ध्यान से ही किस तरह देवलोक में उत्पन्न हुई ? श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा :—

जिसके गुण नहीं जानते ऐसे मणि आदि जैसे बुखार रोगादि के समूह को नाश करता है वैसे जगत् गुरु श्री जिनेश्वर की भी आराधक आत्मा उनको भले सामान्य रूप में जाने फिर भी श्रवण अनंत गुणों के कारण श्रेष्ठ होने से सत्कार करने वाला अन्य के अशुभ कर्मों का नाश करता है। इसी कारण ही इस शासन में गृहस्थों को द्रव्यस्तव की अनुज्ञा दी है, क्योंकि इसके अभाव में दर्शन शुद्धि भी नहीं होती है। इस तरह श्री जैन पूजा का ध्यान मुक्ति सुख का मूल है, पूर्वोपाजित पाप रूपी पर्वत को तोड़ने में वज्रसमान है और मनो-वांछित अर्थों का निधान है। तो भी मूढ़ जीवों को जैसे अत्यन्त मनोहर भी चिन्तामणी प्राप्ति करने की इच्छा नहीं होती है वैसे शुभ पुण्य कर्म के अभाव में श्री जैन पूजा का परिणाम भी नहीं होता है, इसलिए हे देवानुप्रिय ! आश्चर्य मानो कि इतने भावमात्र से भी अद्यपि यह महात्मा शिवपद को भी प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यहाँ से च्यवन कर श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर मुसाधु की सेवा से श्रेष्ठ दीक्षा को स्वीकार करेगा। वहाँ से देव होगा, पुनः वह पुण्यानुबंधी पुण्य से मनुष्य होगा इस तरह आठवें भाव में कनकपुर नगर में जग प्रसिद्ध कनक ध्वज नाम का राजा होगा और वह धन्यात्मा एक दिन शरदकाल होने पर महावैभव के साथ इन्द्र महोत्सव देखने जायेगा, वहाँ मेंढक

को निगलते एक बड़े सर्प को देखकर, उस सर्प को भी तीक्ष्ण चोंच से निगलते मत्स्यभक्षी 'कुर कुर' शब्द बोलने वाला कुरर नामक पक्षी को देखकर, और करुण स्वर से रोते उस कुरर पक्षी को भी निगलते यम समान अजगर को देखकर, वह महात्मा विचार करेगा कि जैसे मेंढक को सर्प निगलता है वैसे ये पापी जीव को भयंकर राज्य के अधिकारी निगलते (दंड देते) हैं, अधिकारी को भी कुरर पक्षी समान राजा दण्डित करता है और उस राजा को भी अजगर समान यमराज एक कौर बनाकर निगल जाता है। इस तरह हमेशा आई हुई आपत्तियाँ रूप दुःख से भरी हुई इस लोक में मनुष्य के मात्र भोगने की इच्छा करना वह खेदजनक महामोह की मूढ़ता है, इस तरह तीन लोक में जन्म मरण से मुक्त कोई नहीं है, फिर भी वैराग्य उत्पन्न नहीं करता। उन मनुष्यों की मूढ़ता भी खेदजनक है। ऐसा चिन्तन मनन कर राज्य को, देश को, अंतःपुर को और नगर को त्यागकर श्रमण-साधु होगा तथा शेष सर्व कर्म को खतम करके सिद्धि को प्राप्त करेगा। इस प्रकार निश्चय ही श्री अरिहंत भगवन्त की पूजा का ध्यान भी मोक्षदायी बनता है।

इसीलिए यहाँ कहा कि—श्रावक अर्धमार्ग में किसी तीव्र आपत्ति के वश मृत्यु हो जाए फिर भी पूजा के ध्यान मात्र से भी तीर्थों की पूजा का फल प्राप्त करता है। इस तरह सम्यग् आलोचना के परिणाम वाले गुरु के पास जाने के लिए निकला हुआ भी यदि बीच में ही बीमार आदि कोई असुख का कारण हो जाए, तो भी वह आराधक होता है। तथा आलोचना के सम्यग् परिणाम वाला गुरुदेव पास जाते यदि वह बीच मार्ग में ही मर जाए तो भी आराधक होता है। इसी तरह गुरु के पास जाते हुए आलोचना के परिणाम वाले की यदि बीच में ही असुख-बिमारी आदि हो जाये अथवा मृत्यु हो जाये तो भी वह आराधक होता है। क्योंकि पाप शल्य का उद्धार करने की इच्छा वाला वह संवेग-निर्वेद तथा तीव्र श्रद्धा से पाप की शुद्धि के लिए गुरु के पास जाने से वह भाव से आराधक होता है। इस तरह आलोचना के परिणाम वाले गुरु महाराज के पास आते तपस्वी का भी वहाँ पहुँचने के पहले अपना अथवा गुरु का अमंगल हो जाये तो भी सम्यक् शुद्धि होती है। अथवा अनियत विहार से होने वाले गुण हैं, जैनागम में कहाँ हुआ प्रायः साधु और गृहस्थ के यह साधारण गुण सुनो !

अनियत विहार से गृहस्थ-साधु के साधारण गुण :—अनियत विहार करने से (१) दर्शन शुद्धि, (२) संवेग निर्वेद द्वारा धर्म में स्थिरीकरण,

(३) चारित्र के अभ्यास रूपी भावना, (४) सूत्रों के विशेष अर्थ की प्राप्ति, (५) कुशलता और (६) विविध देशों का परिचय परीक्षा, ये छह गुणों की प्राप्ति होती है। वह इस प्रकार :—

श्री जिनेश्वर भगवन्तों की दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण की पवित्र भूमियाँ, जहाँ चैत्य, चिह्न, प्राचीन अवशेष स्थान तथा जन्म भूमियों को देखने से आत्मा प्रथम, सम्यग्दर्शन को अति विशुद्ध करता है। यात्रा करते हुए स्वयं संवेगी को सविशेष संवेग प्राप्त करता है, सुविहितों को उस विधि का दर्शन तथा में अस्थिर बुद्धि वाले को स्थिरता प्रकट करता है, अन्य संवेगियों को, धर्म प्रीति वालों को तथा पाप में भीरु आदि को देखकर स्वयं भी धर्म में प्रीतिवाला और स्थिर होता है, प्रायः प्रियधर्मी और दृढधर्मी बनता है, इस तरह विहार से परस्पर धर्म में दूसरा स्थिरीकरण गुण प्राप्त करता है। अनियत विहार से चलने का, भूख-प्यास का, ठंडी और गरमी का इत्यादि परीषर्हों को सहन करने का अनुभव, व सति रहने का स्थान, किस तरह मिलता उसका सम्यक् सहन करने का चारित्र अभ्यास रूप तीसरी भावना होती है। विहार करने वाले को अतिशय श्रुत ज्ञानियों के दर्शनों का लाभ होता है, उससे सूत्र-अर्थ का स्थिरीकरण तथा अतिशय गूढ़ अर्थों का तथा उसका रहस्य जानने का चौथा सूत्र विशेष अर्थ की प्राप्ति होती है। विहार करते नये-नये समुदाय में रहने से अनेक प्रकार के आचार्यों के गण में सम्यक् प्रवेश करते निष्क्रमण आदि देखने से उस विधि में और अन्य सामाचारी में भी पांचवाँ कुशलता गुण उत्पन्न होता है। और विहार करने से साधु को जहाँ निर्दोष आहारादि आजीविका सुलभ हो ऐसे संयम के योग्य क्षेत्र का परिचय छठा परीक्षा होता है।

इसलिए छह गुण प्राप्ति की इच्छा वाले मुनि को जब तक पैरों में शक्ति हो तब तक अनियत विहार की विधि को पालन करनी चाहिये अर्थात् अप्रति बद्ध विहार करना चाहिये, यदि बलवान होने पर भी रस आदि की आसक्ति से विहार में प्रमाद करता है उसे केवल साधु ही छोड़ देते हैं ऐसा नहीं ही परन्तु गुण भी उसे छोड़ देते हैं। और वही शुभभाव होने फिर से उत्पन्न से विहार में उद्यमशील होता है, तो उसी समय साधु के गुणों से युक्त बन जाता है। प्रमाद रूप स्थिर वास और अप्रमाद रूप नियत विहार इन दोनों विषय में सेलक सूरि का दृष्टान्त रूप है वह इस प्रकार :—

सेलक सूरि की कथा

सेलकपुर नगर में पहले सेलक नामक राजा था। उसकी पद्मावती रानी और उनका मंडुक नाम से पुत्र था। बच्चा पुत्र सूरिश्वर की चरण सेवा करते राजा ने जैन धर्म स्वीकार किया था और वह न्याय पूर्वक निरवध राज्य का सुख भोगता था। एक समय था बच्चा पुत्र सूरि के शिष्य पट्टधर शुक सूरि जी विहार करते उस नगर में पधारे, और मुनियों के उचित मृगवन नामक उद्यान में स्थिरता की, उनका आगमन जानकर राजा वंदनार्थ वहाँ आया। तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में नमस्कार करके हर्षपूर्वक अंगवाला राजा धर्म सुनने बैठा। मुनिपति आचार्य श्री ने भी उसे संसार प्रतिपरम निर्वेद कारक, विषयों के प्रति बैराग्य प्रगट करने में परायण, संमोह को नाश करने वाली, संसार में प्राप्त हुई सारी वस्तुओं के दोषों को बतलाने में समर्थ धर्मकथा कान को सुख देने में मधुर वचन को विस्तारपूर्वक लम्बे समय तक कहा। इससे राजा प्रतिबोध हुआ और अत्यन्त हर्ष से उछलते रोमांचित वाले उसने गुरु चरणों में नमस्कार करके इस प्रकार कहा—हे भगवन्त ! मेरे पुत्र को राज्य ऊपर बैठा कर, राज्य को छोड़कर उसी समय आपके पास मैं दीक्षा स्वीकार करूँगा। गुरुदेव ने कहा—हे राजन् ! संसार स्वरूप को जानकर तुम्हारे सद्यः यह करना योग्य है, इसलिए अब इस संसार विषय में थोड़ा भी राग नहीं करना।

इस तरह गुरु महाराज से प्रतिबोधित हुआ वह राजा अपने घर गया और मंडुक नामक श्रेष्ठ कुंवर को अपने राज्य पर स्थापन किया। उसके बाद पंथक आदि पांच सौ मंत्रियों के साथ राजा सुन्दर शृंगार करके एक हजार पुरुषों से उठाई हुई पालकी में बैठा, और गुरु महाराज के पास जाकर सर्व संग के राग को छोड़कर राजा ने दीक्षा स्वीकार की तथा प्रतिदिन संवेग पूर्वक उस धर्म क्रिया में उद्यम करने लगा। फिर उस मुनि ने अनुक्रम से ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, और दुष्कर तप करने में परायण बनकर वायु के समान अप्रतिबद्ध विहार से पृथ्वी ऊपर विचरने लगे। फिर शुक सूरि जी ने पंथक आदि पांच सौ मुनियों के गुरु सेलक मुनि को सूरिपद पर स्थापन कर के स्वयं बहुत काल तक विहार करके सुरासुरों से पूजित वे एक हजार साधुओं सहित पुंडरिक नामक महा पर्वत (पंडरिकगिरि) ऊपर अन्तर्गम्य करके मोक्ष गये। फिर उस सेलक सूरि का शरीर विविध तप से और विरस आहार पानी से केवल हाडपिंजर का अतिदुर्बल शरीर बन गया, और रोग भी थे फिर भी

सत्त्व वाले होने के कारण विहार करते वे सेलकपुर पधारे और मृगवन उद्यान में स्थिरता की। वहाँ प्रीति के बंधन से मंडुकि राजा वंदनार्थ आया और धर्म कथा सुनकर प्रतिबोधित प्राप्त कर वह श्रावक बना। उसके बाद सूरिजी को रोगी और अत्यन्त दुर्बल शरीर वाले देखकर उसने कहा—हे भगवन्त ! मैं निमित्त बिना तैयार हुआ निर्दोष आहार, पानी, औषधादि से आप की चिकित्सा करूँगा, उसे सुनकर आचार्य श्री ने स्वीकार किया, और फिर राजा ने उनकी औषधादि क्रिया की।

इससे सूरि जी स्वस्थ शरीर वाले हो गये, परन्तु प्रबल मादक रस की गुद्धि आदि में रागी हो गये और इससे साधु के गुणों से विमुख बनकर वे वहीं स्थिर रहने लगे। इससे पंथक सिवाय शेष साधु उनको छोड़कर चले गये। फिर चौमासी की रात्री में गाढ़ सुख नींद सोए उनको पंथक ने चौमासी अति-चार को खमाने के लिए मस्तक से पाद स्पर्श किया, इससे वे जाग गये और क्रोधयुक्त सूरिजी ने कहा—कौन दुराचारी मस्तक से मेरे पैरों में घर्षण करता है ? उसने कहा—हे भगवन्त ! मैं पंथक नाम का साधु चौमासिक क्षमायाचना करता हूँ, एक बार मुझे क्षमा करो, फिर ऐसा नहीं करूँगा, इससे संवेग को प्राप्त करते सूरि जी ने इस प्रकार से कहा—हे पंथक ! रस-गाख आदि के जहर से उपयोग भूले हुए मुझे तूने श्रेष्ठ जागृत किया है, मुझे अब से यहाँ पर स्थिर वास रहने के सुख से क्या प्रयोजन है ? मैं तो विहार करूँगा उसके बाद वे सूरि जी अनियत विहार से विचरने लगे और विहार करते उनके पूर्व के शिष्य भी पुनः आकर मिल गये। फिर कालान्तर में कर्म रूपी रज का नाश करके प्रबल सुभर रूप मोह को चकनाचूर करके शत्रुजयगिरि ऊपर उन्होंने अनुत्तर मोक्ष सुख प्राप्त किया।

इस प्रकार स्थिरवास के दोषों को और उद्यमशील विहार के गुणों को जानकर कौन कल्याण कुशल चाहने वाला अविहार का पक्ष करके स्थिरवास रहे ? और स्थिरवास का यक्ष करने से गृहस्थ राग और अपने संयम में लघुता आती है, लोगों के उपकार में अभाव आ जाता है, अलग-अलग देशों का आचारादि विज्ञान के जानने का अभाव होता है और जैनाज्ञा की विराधना इत्यादि दोष होते हैं। कालादि दोष से यह नियत विहार से विचरण रूप न हो तो भी भाव से नियम से संथारा अन्य स्थान बदलना इत्यादि भी विधि करनी चाहिये। इस तरह पापमूल को धोने में जल समान और परिक्रम विधि आदि चार मुख्य वाली संवेग रंगशाला रूपी आराधना के पंद्रह अन्तर द्वारा वाला प्रथम द्वार में यह अनियत विहार नामक सातवाँ द्वार पूर्ण हुआ।

आठवाँ राजा के अनियत विहार की विधि द्वार :—ऊपर गृहस्थ और साधु सम्बन्धी अनियत विहार की चर्चा की है, अब से ही केवल राजा सम्बन्धी कहता हूँ। क्योंकि—चिरकाल के अत्यन्त पुण्य के भंडार और भावि कल्याण वाला कोई जीव राजा होकर भी अत्यन्त प्रशमरस वाला, परलोक से डरे चित्तवाला विषय सुखों को सम्यक्तया विष समान मानने वाला, मोक्षसुख प्राप्ति में एक लक्ष्य वाला, जब आराधना करने की इच्छा करता है तब परदेश में जाते शत्रु राजा की ओर से विघ्नों का संभव होने से अपने ही देश में जैन प्रतिमा को वंदन करे उतने ही देश में उनका अनियत विहार होता है। वह हाथियों के समूह उदार श्रेष्ठ सुभटों के समूह और घोड़े और रथ के समूह से घिरा हुआ भी उस परदेश में तीर्थों को वंदनार्थ प्रस्थान करे तो शत्रुराजा अपने राज्य के हरण करने की शंका से क्रोधित हो अथवा उसका देश स्वायी रहित है ऐसा मानकर शत्रुराजा उसका हरण करने का कारण हो जाता है। इस कारण से स्वामिभक्त, गुणवान, शास्त्रार्थ के ज्ञान में कुशल, अपने समान राज्य का वफादार मन्त्री को राज्य भार सौंप कर, जीतने योग्य वर्ग को जीतकर, देश को स्वस्थ बनाकर महाभंडार को साथ लेकर, अपने-अपने कार्यों में भक्ति वाले प्रधान उत्तम पुरुषों को उनके योग्य कार्य में सुपुर्द कर, लोगों को पीड़ा भय आदि न हो ऐसे राजा अपने देश में ही अति श्रेष्ठ पूजा करता हुआ जैन मंदिर और जैन प्रतिमा को वंदन नमस्कार करे। और मद्विक परिणामी हाथियों के समूह से विशाल राजमार्ग को भर देते, हर्ष से हिनहिनाहट करते घोड़ों की कठोर खूर को आवाज से आकाश को भी गूँजाते परस्पर जोर से चीख हाँक करने से आवाज द्वारा घोर भयजनक पैदल सेना के समूह को चारों तरफ फैलाते, अति उज्ज्वल छत्रों से सूर्य की किरणों के प्रकाश के विस्तार को ढांकते हुए अपने देश में रहे जैन मंदिरों के आदरपूर्वक दर्शन करता है, उस राजा को देखकर कौन मनुष्य धर्म प्रशंसा को नहीं करे ? अथवा ऐसे उत्तम मनुष्यों से पूजित और सौम्य आनन्द दायक जैन धर्म को मोक्ष का एक हेतुभूत मानकर कौन एक चित्त से स्वीकार न करे ? इस तरह धर्म के श्रेष्ठ कर्त्तव्यों को पालन करने वाला वह राजा कई बार जैन कथित नये द्वारा विषयों की निंदा करे, कई बार महामुनियों के चारित्र्य को एकाग्र मन से सुने, तो कई बार मन्त्री सामंतों के साथ प्रजा की चिन्ता भी करे, कई बार धर्म के विरोध को देखकर उसे सर्वथा रोक दे, किसी समय अपने परिवार को उपयोग पूर्वक समझाये कि—अरे ! सम्यक् रूप देखो ! विचार करो ! संसार में कुछ भी स्तर नहीं है, क्योंकि जीवन बिजली समान चंचल है, सारी

ऋद्धियाँ जल तरंग सदृश चपल हैं। परस्पर के राग भी बन्धनों के समान शान्त देने वाला नहीं है। मृत्यु तो हमेशा तैयार खड़ी है, और वस्तु के भोगादि सामग्री के फल असार है। सुख का संभव अल्प है और उसके परिणाम भोगने का कर्म विपाक अत्यन्तदारुण है और प्रमाद का सेवन असंख्य दुःख का कर्त्ता है।

समग्रदोषों का मुख्य कारण जो मिथ्यात्व है उसका त्यागपूर्वक का मनुष्य जन्म दुर्लभ है, और धर्म करने की उत्तम सामग्री तो इससे भी अति दुर्लभ है। तीनों लोक रूप चक्र को पीड़ा करने में विजय प्राप्त करने वाला जो काम रूपी मल्ल को चकनाचूर करने में समर्थ भवसमुद्र से तरने वाले श्री वीतरागदेव मिलने भी दुर्लभ हैं। रागरहित गुरुदेव भी दुर्लभ हैं, सर्वज्ञ का शासन भी दुर्लभ है और दुर्लभ भी सर्व मिलने पर भी उसमें जो धर्म का उद्यम नहीं करता वह तो महा आश्चर्य है। इस तरह समीप रहने वाले वर्ग को समझाये, किसी समय वह गीतार्थ संविज्ञ आचार्यादि की सेवा भी करे। और वे आचार्य भी उसे युक्ति संगत गंभीर वाणी से बुलाये जैसे कि—हे राजन् ! प्रकृति से ही बुद्धिमान तुम्हारे समान पुरुष जैन वचन द्वारा अशुभ कर्म बन्धन के कारणों को जानकर अन्य अपराधी के प्रति भी लेशमात्र प्रद्वेष नहीं कर, और मोक्ष की ही एक अभिलाषा वाला वह नमते राजा और देवों के मुकट में लगे हुए रत्नों की क्रान्ति से प्रकाशमान चक्रवर्तीत्व अथवा देवों का प्रभुत्व इन्द्रपद की इच्छा भी नहीं करे। लेकिन जेल में रहे कैदी के समान शारीरिक-मानसिक अनेक तीव्र दुःख समूह की अतीव व्याकुलता वाला और प्रकृति से ही भयंकर संसार से शीघ्र छुटकारा प्राप्त करने की इच्छा करे। दुःख से पीड़ित को देखकर उनका दुःख अपने समग्र अंग में व्याप्त हो जाये ऐसे कर्णप्रधान चित्तवाले बन कर दीन-अनाथों की अनुकम्पा करे, और सम्यक्त्व की शुद्धि को चाहने वाला उन जीव अजीवादि समस्त पदार्थों के विस्तार सर्वभाव को जैनाज्ञानुसार सम्यग् सत्य माने। काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद छह अहंकारी अंतरंग शत्रु हृदय में स्थान बनकर न रहे जाए ऐसी सदा सावधानी रखे। संकलषट चित्तवाले की सर्व क्रियाएँ निष्फल जाती हैं, ऐसा जानकर संकलेश को निष्फल करना अथवा क्रियाओं को सफल करने के लिए सदा मन की शुद्धि को धारण करना चाहिये। जहर से मुक्त धार वाली भयंकर तलवार से अंग छेदन करने के समान जिस वाणी श्रोता दुःखी हो ऐसी वाणी का किसी प्रकार भी उपयोग न करे। उत्तम ल में जन्म लेनेकु

और महासत्त्वशाली वह अल्पमात्र सुख में मूढ़ बनकर क्षण भंगुर शरीर से कलेश कारक प्रवृत्ति का आचरण न करे। तथा इच्छामात्र से सर्व कार्य जिसमें सिद्ध हुए हैं ऐसे राज्य का भोग करते हुए भी वीर संवेग से युक्त बुद्धिवाला और संसार स्वरूप का विचार करने वाले राजा को धर्म का पक्ष रखने वाले ऐसी धर्म की चिंता होती है कि :—

सदा सम्पूर्ण सावद्य-पापकारी जीवन वाला संसार की आवारागदी में हेतुभूत वृत्तियों में तत्पर मन वाले मुझे धिक्कार हो। निश्चय मेरा वह कोई भी भविष्य का वर्ष अथवा वह कोई ऋतु या वह महीना या पाक्षिक वह रात्री या दिन अथवा दिन में भी वह मुहुर्त, मुहुर्त में भी वह क्षण अथवा कोई वह वार, वार में भी वह नक्षत्र कब आयेगा ? कि जब परमार्थ को जानकर मैं पुत्र ऊपर राज्य का भार सौंपकर धीर पुरुषों के कहा हुआ सर्वज्ञ प्रणीत आज्ञा को जो पराधीनता है उसे धारण करता, आज्ञाधीन बन कर संवेगी महान् गीतार्थ और उत्तम क्रिया वाले गुरु के चरण कमल में दीक्षित होकर, सर्व सम्बन्ध से निरपेक्ष बनकर, छह अष्टम, दशम दुबालस अथवा दो, तीन, चार, पाँच उपवास आदि तप के विविध प्रकार से द्रव्य भाव सलेखना करते हुए दुर्बल-कृश शरीर वाला बनकर, शरीर की सार संभाल नहीं करने, रूप त्याग करके और उसका परिषह-उपसर्ग सहन करने द्वारा त्याग करके पर्वत की शिला ऊपर पद्मासन लगाकर बैठना, मुझे वृक्ष-टुंठ समझकर चारों तरफ आते हुए हरिण अपने काया को घिसे, ऐसा मैं निश्चल कब बनूंगा ? और सर्वथा आहार का त्यागी यथा स्थित आराधना करते हुए पंच नमस्कार मंत्र एकाग्र बनकर मैं प्राण का त्याग कब करूँगा ? अभी तो केवल जब तक अकृत पुण्य मैं दीक्षा स्वीकार न करूँ तब तक मेरे ही घर में मुनियों को वसति देकर सेवा करूँ। इत्यादि इस प्रकार की धर्म चिंता करना योग्य है, उसमें भी वसतिदान की भावना करनी विशेषतया योग्य है। क्योंकि सभी दानों की अपेक्षा वसति दान श्रेष्ठ है।

साधु को वसति देने से लाभ :—वसति के अभाव में अनवस्थित मुनियों को गृहस्थ आत्म के अनुग्रह के लिए भक्ति वाले होते हुए भी भोजन आदि नहीं दे सकते हैं, तथा अचित्त, अकृत (नहीं किया हुआ) अकारित (नहीं कराया हुआ) और अननुमत (आपा बिना तैयार किया हुआ) न तो औषध को, न तो आहार या न कंबल, और नहीं वस्त्र पात्र को न ही पादप्रोच्छन (पैर साफ करने का वस्त्र) को, या न तो दंडा दे सका और बुद्धिमान पुत्र आदि को

देकर शिष्य बनवाया, शास्त्र पुस्तक को अथवा साधुओं के योग्य कोई उपकरण को भी नहीं दे सका। संसारवास से विरागी चित्तवाला भी कोई गृहस्थ वसति दान दिये बिना सदगुरु की सेवा अथवा उनके उपदेश रूपी वचन श्रवण का भी लाभ नहीं मिल सकता है। और यदि अनियत विहार के आचार को पालते साधुओं को उस क्षेत्र में आने के बाद वसति की प्राप्ति न हो तो वहाँ वे साधु कैसे रह सकते हैं ? और साधु रहे नहीं तो उभय लोक में होने वाला हितकारी वह क्षेत्र अन्य गुण साधु और गृहस्थों का भी किस तरह हो सकता है ? इसमें साधुओं को इस लोक के गुण रूप अशन पानादि की प्राप्ति आदि और परलोक में हितकर संयम का परिपालन आदि जानना। गृहस्थ को भी मुनि के संग से कुसंग का त्याग आदि इस लोक में लाभ होता है और सद् धर्म का श्रवण आदि से पर भव सम्बन्धी अनेक गुण प्राप्त होते हैं। और साधु स्वयं घर को मन, वचन, काया से तैयार नहीं करते हैं। दूसरों के द्वारा नहीं करवाते हैं और दूसरों से किये हुए की अनुमोदना भी नहीं करते हैं। क्योंकि—सामान्य झोंपड़ी जैसा भी घर सूक्ष्म-बादर छह जीवनिकाय की हिंसा बिना नहीं बनता है इसलिए ही कहा है कि—जीवों की हिंसा किये बिना घर तैयार नहीं होता, उसकी रक्षा के लिए बाड़ का संस्थापन आदि किये बिना कैसे हो सकता है ? और जीवों की वह हिंसा करके भी ऐसा कार्य जो करता है तो संयम से भ्रष्ट होकर असंयमी गृहस्थ के मार्ग में जाता है। जिसने बाजों के नाद पूर्वक महोत्सव से अनेक मनुष्य, सदगुरु और संघ के समक्षघर को छोड़ने का—हे भगवन्त ! अब मैं सामायिक लेता हूँ, सभी पाप व्यापारों को जब तक जीवत रहूँगा तब तक त्रिविध-त्रिविध से त्याग करता हूँ” इस तरह जो महा प्रतिज्ञा की है और सर्व प्रकार से छह जीवनिकाय रक्षण में तत्पर है वह मुनि अपनी की हुई ऐसी प्रतिज्ञा को छोड़कर स्वयं घर आदि की किस तरह बात करता है।

इस कारण से अन्य के लिए प्रारम्भ (तैयार किया) और अन्य के लिये ही पूर्ण करना चाहिए, मन, वचन, काया से स्वयं करना नहीं, दूसरों के द्वारा करवाना नहीं, और इसी से अनुमोदन नहीं करना, इस तरह मूल-उत्तर गुण से युक्त प्रमाण युक्त स्त्री, पशु नपुंसक और दुराचारियों से रहित, ऐसे पड़ोसियों से रहित, स्वाध्याय, कालग्रहण, स्थंडिल और प्रश्रवण के लिये (निरवध) भूमि से संयुक्त सुरक्षित, साधुओं के रहने योग्य पाप रहित स्थान गृहस्थ साधुओं को दे। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण ऐसे प्रकार की वसति न मिले तो भी सार असार (लाभ हानि) के विवेक विचारकर अल्प

दोष वाली परन्तु अति महान् गुणकारी वसति सदा मुनियों को देनी चाहिये, क्योंकि उसके बिना वे संयम पालन करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। इस कारण से वसति देने से उसे देने वाले गृहस्थ दुस्तर संसार समुद्र को भी तर जाते हैं, इसीलिये ही शास्त्रकारों ने उसे 'शय्यातर' अर्थात् शय्या से पार उतारने वाला कहा है, और उसने दी हुई वसति में रहे हुए साधु अन्य के पास से भी वस्त्र यात्रादि जो प्राप्त करते हैं वह भी परमार्थ से उसने दिया है ऐसा गिना जाता है। यद्यपि पूर्व में कहे अनुसार भोजनादि उनको स्वयं का वहाँ कुछ न मिले, तो भी वसति के दाता को तो उस दान में मूल का कारण बनता है, क्योंकि वसति मिलने के बाद अश्नादि अन्य वस्तु के दान का मूल दाता तो शय्यातर है फिर देने वाले दूसरे तो उत्तर कारण है। प्रायः मूल अंग शरीर हो तभी उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले हाथ, पैर आदि उत्तर अंगों का वह अधिकारी बनता है। जैसे जड़ का योग बलवान हो तो वृक्ष बड़ा विस्तार वाला होता है, वैसे वसति की प्राप्तिरूपी मूल बलवान हो तो साधु वर्ग भी संयम की विशेष वृद्धि को प्राप्त करते हैं। अपने घर में वसति (स्थान) देने वाला गृहस्थ मुनि पुंगवों को वायु, धूल, वरसात, ठंडी, ताप, आदि के उपसर्गों से, चोरों से दुष्ट श्चापदों के समूह से तथा मच्छरों से रक्षण करते सदाकाल उन मुनियों के मन, वचन, काया को प्रसन्न करते हैं। और इन योगों की प्रसन्नता से ही मुनियों में श्रुति, मति और संज्ञा तथा शान्ति का बल प्रगट होता है तथा शरीर, बल, उनका शुभध्यान की वृद्धि के लिए होता है।

कहा है कि प्रायः सुमनोज्ञ, आश्रय, शयन, आसन और भोजन से महान् लाभ मिलता है, सुमनोज्ञ, ध्यान का ध्याता साधु संसार का विरागी बनता है। जिसके आश्रम में मुहूर्त्त मात्र भी मुनि विश्राम करते हैं इतने से ही वह निश्चय कृत कृत्य बनता है, उसे अन्य पुण्य से क्या प्रयोजन है ? उनका जन्म धन्य है, कुल धन्य है, और वह स्वयं भी धन्य है कि जिसके घर में पाप भैल को घोने वाले सुसाधु रहते हैं। और यहाँ प्रश्न उठता है कि—इस भव में उसका जन्म यदि खराब कुल में हुआ हो तो जगत में एक श्रेष्ठ पूज्यनीय मुनिराज उसके घर में कैसे रहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं कि—जिसका मद, मोह नाश हुआ हो ऐसे मुनि पुण्यवंत के घर में ही रहते हैं क्योंकि—पापियों के घर में कभी रत्न वृष्टि नहीं होती है। जीवों को कलियुग के कलेश से रहित ऐसा अवसर किसी समय ही मिलता है कि जिस काल में गुणरत्नों के महानिधि श्रेष्ठ मुनि उसके घर में रहे। जैसे पुण्य बिना कल्प वृक्ष की छाया नहीं मिलती है वैसे पाप को चकनाचूर करने वाली महानुभावों की सेवा

भी दुर्लभ है। संयम के भार को अखंड धारण करने वाले धीर मुनि वृषभ को धर्मबुद्धि से वसति देने वाले पहले कहा है वह सर्व अर्पण किया है ऐसा समझना। उसने चारित्र्य का पक्षपात, गुणों का राग, उत्तम धर्म की साधन, निर्दोष पक्षपाती और कीर्ति की सम्यग् वृद्धि की है। तथा सन्मार्ग की वृद्धि, कुसंग का त्याग, सुसंग में प्रेम, अपने घर के प्रांगण में कल्पद्रुम बोलने की विधि की है, इच्छित वस्तु को देने वाली दिव्य काम धेनु गाय का ग्रहण करना, हाथ में चिन्तामणी को धारण करना, और श्रेष्ठ रत्नाकर को अपने भवन के आंगण में ही लाने की विधि की है। धर्म की प्याऊ का दान, अमृत का पान, श्रेष्ठ विधि का स्वीकार करना, सब सुखों का आमंत्रण करना और विजय ध्वजा को ग्रहण करना, तथा सर्व कामना को पूर्ण करने वाली कामितविद्या, मंत्रों की परम साधना की और विवेक सहित गुणज्ञता का स्पष्टकरण किया ऐसा समझना चाहिये। तथा उसके उपाश्रय (वसति) में रहे गुण समृद्ध साधुओं के चरण पास आकर लोग धर्म श्रवण करे, और श्रवण करने से चेतना प्रकट होती है, इससे भव्य जीव हमेशा उस विविध धर्म क्रिया में रक्त बनता है, तथा विरोधी हो तो वह भद्रिक भाव वाला बनता है भद्रिक हो तो वह दयावान बनता है, और यथा शक्ति मांस, मदिरा आदि के नियमों को धारण करता है, तथा कोई सम्यक्त्व प्राप्त करता है जो सम्यक्त्व वाला हो वह परम भक्ति वाला बनकर मनोहर श्री जैन मंदिर और जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा में, पूजा में जैन मन्दिर की तीर्थ यात्रा में तथा महोत्सव में सदा प्रवृत्ति करता है और अन्य भी जीव श्री जैन शासन की प्रभावना कार्यों में उद्यम करता है कई ग्लान साधु, साधर्मिक आदि के कार्यों में उद्यम करते हैं, और कोई जैनागम की पुस्तक लिखाने में, कोई देश विरति को कोई सर्व विरति को स्वीकार करता है, कोई विविध तपस्या कर्म करने में उद्यम करता है, इस तरह उनके द्वारा जो-जो धर्म कार्य होता है उन सब पुण्य का हेतुभूत का मूल कारण साधु को उपाश्रय देने वाला है। ऐसा कहा है।

वही सचमुच राजा है, वही राजाओं के मस्तक की मणि है, और वही स्थिर राज्य वाला है कि जिसके राज्य में साधु पुरुष अप्रतिहत विहार करते निर्विघ्न पूर्वक विचरते हैं, और सर्व देशों का राजा तुल्य वही देश आर्यता को धारता करता है, और वही आर्य है कि जहाँ उत्तम साधु विचरते हैं, और देश में भी वह नगर ही अन्य सब नगरों के मुकुट समान और पवित्र है कि जहाँ गुण के भंडार महामुनि नित्य विचरन करते हैं, नगर में भी वह गली, मौहल्ला

पाप का नाश करने वाला है कि जहाँ साधु पुरुष रहते हैं, वही स्थान धन्य है, पवित्र है, और बाकी सब स्थान शून्य हैं ऐसा मैं मानता हूँ। उस मौहल्ले में भी जहाँ गीतार्थ सुविहित साधुओं का निवास होता है, वही एक घर को मैं निश्चय पूर्ण लक्षण वाला मानता हूँ। उसी घर में लक्ष्मी का वास है, वह घर श्रेष्ठ रत्नों की वृष्टि के लिए योग्य है, पृथ्वी में वास्तविक पुरुष वही दाता है और उसका ही परमार्थ से उदय है अन्यथा संयम रूपी लक्ष्मी को क्रीड़ा करने भूमि समान जैन वचन का रागी महामुनियों का वहाँ निवास भी क्यों न हो ? और उस घर में सिद्धान्त स्वाध्याय करने से उसकी ध्वनि के प्रभाव से क्षुद्र उपद्रव आदि दोष नहीं हैं, और अभ्युदय आदि गुण होते हैं। रोग, अग्नि, पिशाच तथा ग्रह आदि क्षुद्र देवों का दोष तथा क्रूर मनुष्य-तिर्यचों के पाप भी पाप से प्रबल योग से प्रकट होता है, उस पाप का प्रतिपक्षी दक्ष श्री जिनेश्वर का धर्म जानना, और जहाँ उस धर्म की प्रवृत्ति हो, वहाँ पाप का विकार भी कहाँ से हो सकता ? सूर्य बिम्ब के प्रभाव से अंधकार का समूह के समान स्वपक्ष बलवान हो तो प्रायः प्रतिपक्ष संभव नहीं होता है, वैसे मोक्ष की साधना में सफल कारण भूत ज्ञान दर्शन सहित जो विविध तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, अध्ययन, ध्यान आदि सद्धर्म चारित्र्य का गुण भी, अपनी वसति में रहने वाले साधुओं के परम उपकार को सम्यग् मानने वाले गुणों के सेवक, राजा अथवा मन्त्री, सेठ सार्थवाह घनपति की अथवा अन्य भी किसी बस्ती में रहते साधुओं को बाधारहित युक्त होता है, और उनके रहने से उस बस्ती में होते धर्म की महिमा से ही बस्ती दाता को पाप से होने वाले दोष नहीं होते हैं और सद्धर्म से होने वाले विविध प्रकार के महान् उपकार होते हैं, जैसे कि अत्यन्त अनुराग वाली पत्नी, पुत्र, सपुत्र परिवार अच्छा विनीत आदि बनता है तथा चतुरंग सेना आदि उस बस्ती के दाता की भूमिका को अनुरूप लाभ होता है।

संसार सुखों की आकांक्षा से मुक्त केवल एक मोक्ष सुख के लक्ष्य वाला महानुभाव सुविहित साधुओं को जो इस भव में घास की बनी जीर्ण झोंपड़ी के भी एक कोने में स्थान देता है, वह मेल से भरा हुआ शरीर रूपी पिंजरे को छोड़कर दूसरे जन्म में मणि मय वेदीप्यमान बड़ी दिवाल की कान्ति के विस्तार से चित्त में रति जगाने वाला अति विशाल सैंकड़ों पुतली और झरोखे और किल्ले से शोभित, विचित्र मणि से जड़ित हजारों बड़े स्तंभों से ऊँचा, रत्नों से जड़ित फर्श वाला, रत्न और मणि के सुन्दर किरणों के समूह से हमेशा पूर्ण

प्रकाश वाला, आकाश मंडल तक पहुँचा हुआ अति ऊँचा, तोरण से मन को आनन्द देने वाला, उड़ते हुए उज्ज्वल ध्वज पर भी श्रेणी से शोभता अति रम्य, आज्ञा के साथ ही उसका अमल करने लिए अनुरागी सेवक देवों से भरा हुआ, नेत्रों का उत्सव रूप क्रीड़ा करती अप्सराओं से भरा हुआ, श्रेष्ठ रत्न, सुवर्ण और मणिमय, आसन, शयन, छत्र, चामर और कलश वाला तथा पंच वर्ण के मणि, रत्न, पुष्प और दिव्य वस्त्रों से समृद्धशाली, इच्छा के साथ ही उसी समय सभी अनुकूल पदार्थ मिल जाए ऐसा सर्वोत्तम विमान में महर्द्धिक देव होता है। पुनः वहाँ से च्यवनकर श्रेष्ठ सौभाग्य और रूप वाला, मनुष्यों के मन और नेत्रों को आनन्द देने वाला, निरूपक्रमी, लम्बी निरोगी आयुष्य वाला, लावण्य से पवित्र शरीर वाला, बंदीजन के द्वारा गुण समूह के गीत गवाने वाला, मणि, सुवर्ण, रत्न के शयन, आसन से युक्त प्रासाद के प्रारंग में क्रीड़ा करते मनोच्छित्त भावों की प्राप्ति वाला महा वैभवशाली, सर्व अतिशयों का भंडार, सर्व दिशा में विस्तृत यशवाला, पुण्यासुबंधी, पुण्यवाला और सम्पूर्ण छह खंड पृथ्वी का भोगी इस मनुष्य लोक में चक्रवर्ती होता है, अथवा अखंड भूमंडल का राजा होता है, अथवा उसका मन्त्री या नगर सेठ या सारथवाह अथवा महान् धनवान का पुत्र होता है। धन्यात्मा वह वहाँ श्रेष्ठ चारित्र्य गुण प्राप्तकर उसी जन्म में अथवा तीन या सात भव में नियम से कर्मक्षय करके शीघ्र मोक्ष को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार साधुओं को भावपूर्वक बस्ती देने से निष्कलंक और वांछित पूर्ण करने में तत्पर राजा बनने का पुण्य बंधन हो उसमें क्या आश्चर्य है? आश्चर्य तो पुनः वह है कि अधम गति प्राप्त करने वाला, प्रमाद रूप मदिरा से मूढ़ और मुग्ध कुरुचन्द्र इच्छा बिना भी साधुओं को बस्ती देने से नित्य साधुओं के दर्शन करते उनके पति लेशमात्र राग होने से जाति स्मरण ज्ञान को प्राप्त कर स्वयमेव प्रतिबोध प्राप्त किया था, उसकी कथा इस प्रकार :—

वसतिदान पर कुरुचन्द्र की कथा

लक्ष्मी का कुल भवन समान आश्चर्यों की जन्म भूमि सदृश और विद्याओं का निधान स्वरूप, श्रावस्ती नाम की नगरी थी। वहाँ नमते हुए राजाओं के मस्तक मुकुटों के रत्नों की कान्ति से प्रकाशमान पादयुगल वाला, जगत प्रसिद्ध आदिवराह नामक राजा था उसे अप्रतिम गुण वाला, रूप से प्रत्यक्ष कामदेव समान और युद्ध की कुशलता से वासुदेव के सदृश युद्ध भूमि में सर्व को जीतने की इच्छा वाला, राजा के लक्षणों से युक्त ताराचन्द्र नाम

का पुत्र था। उस ताराचन्द्र को अपने प्राण समान कुरुचन्द्र नामक मित्र था। युवराज पद देने की इच्छा वाले राजा ने उस ताराचन्द्र को अन्य कुमारों से सर्व श्रेष्ठ जाना। उसके पश्चात् राजा के पास बैठी हुई सौतेली माता ने राजा के स्नेहल भी विषाद युक्त दृष्टि से ताराचन्द्र के सामने देखते हुए देखा, 'अपने पुत्र को राज्य प्राप्ति में ताराचन्द्र विघ्न रूप बनेगा।' ऐसा मानकर उसने उस को मारने के लिए एकान्त में गुप्त रूप भोजन में कार्मण मिलाकर वह भोजन उसे दिया। ताराचन्द्र ने किसी प्रकार के विकल्प बिना वह भोजन खा गया। फिर उस भोजन में से विकार उत्पन्न हुआ इससे ताराचन्द्र का रूप, बल और शरीर को नाश करने वाली महाव्याधि उत्पन्न हुई। उससे पीड़ित, निर्बल और दुर्गन्धीय बने शरीर को देखकर अत्यन्त शोकाग्रस्त बना ताराचन्द्र विचार करने लगा कि—निर्धन, बड़े रोग से पीड़ित हो और अपने स्वजनों के पराभव से अपमानित हुआ सत्पुरुषों को या तो मर जाना चाहिए अथवा अन्य देश में जाना योग्य है। इससे विनष्ट शरीर वाला और नित्यखल मनुष्यों की विलासी कटाक्ष वाले अपूर्ण नजर देखते मुझे अब एक क्षण भी यहाँ रहना योग्य नहीं है। इससे अपने परिवार को कहे बिना ही वह अकेला पूर्व दिशा की ओर वेग से चल दिया। अत्यन्त दीन मन वाला वह धीरे-धीरे चलते क्रमशः अन्यान्य पर्वत, खीन, नगर और गाँव के समूह को देखता हुआ सम्मैत नामक महापर्वत के नजदीक एक शहर में पहुँचा और वहाँ लोगों से पूछा कि—इस पर्वत का क्या नाम है? लोगों ने कहा—हे भोले! दूर देश से आया है अजान तू जो सूर्य के समान अति प्रसिद्ध भी इस पर्वत का नाम पूछ रहा है तो वर्णन सुन :—

यह सम्मैत नाम का महा गिरिराज है, जहाँ भक्ति के समूह से पूर्ण सुर असुरों के द्वारा स्तुति की जाती श्री जिनेश्वर भगवान ने शरीर का त्याग करके निर्वाण पद प्राप्त किया है। उस पर्वत मार्ग में आते भव्यों को पवन से उछलते वृक्षों के पत्र रूप हाथ द्वारा और पक्षियों के शब्द रूप वचन से सब आदरपूर्वक आराधना के लिए निमंत्रण करते हैं। जहाँ नासिकाग्र भाग में आखों का लक्ष्य स्थापन कर, अल्प भी शरीर सुख की अपेक्षा बिना के एकाग्र चित्त वाले योगियों का समूह विघ्न बिना परम अक्षर (ब्रह्म) का ध्यान करते हैं। जहाँ भूमि के गुण प्रभाव से अनेक दुष्ट प्राणी भी पैर छोड़कर परस्पर क्रीड़ा करते हैं, और मुग्ध भी वहाँ विषाद बिना प्रसन्नता से प्राण का त्याग रूप अनशन करके देव रूप बनते हैं, तथा उस गिरि के अति रमणीयता रूप

गुण से प्रसन्न होकर किन्नर किन्नरियाँ शत्रु का भय छोड़कर वहाँ विलास करते हैं, और सर्व ऋतुओं के पुष्पों से शोभित एवम् फलों के समूह से मनोहर बना बन जहाँ चारों दिशा में शोभता है। ऐसा सुनकर चित्त में अत्यन्त आनन्दित हुआ, 'यह तीर्थ है' ऐसा मानकर शरीर को छोड़ने की भावना वाले वह ताराचन्द्र आगे बढ़ा और पर्वत की अन्तिम ऊँचाई पर पहुँचा। विशाल शिखरों से दिशाएँ विस्तारपूर्वक ढके हुए उस पर्वत पर धीरे-धीरे सम्यग् उपयोग पूर्वक चढ़ा, फिर हाथ पैर की शुद्धि वस्त्र से करके सरोवर में से कमलों को लेकर, वस्त्र से मुख बाँधकर, उसने मणि रत्नों से देदीप्यमान श्री अजित नाथ आदि जैनेश्वरों की प्रतिमा की तथा कान्तिरूपी पानी से धोई हो ऐसी उज्ज्वल स्फटिकमय सिद्धशिलाओं की श्रेष्ठ पूजा की, फिर श्री जैन भगवान के चरणों की पूजा से और उस सिद्ध क्षेत्र के शुभ गुणों से बढ़ते शुभ भावना वाला, आनन्द से झरते नेत्रों वाला वह इस प्रकार स्तुति करने लगा :—

इस संसार में अनन्तकाल से रूढ़ हुआ मोह का नाश कर प्रबल जन्म-मरण की लता का उन्मूलन करके मोक्ष मार्ग का उपदेशक जिस जैनेश्वर भगवान ने उपद्रव रहित, अचल और अनन्त सिद्धि वास किया है, वे विजयी हों, जिसके चरणों में केवल नमस्कार करके प्रभाव से भी भव्य जीव लीलामात्र में सम्पूर्ण श्रेष्ठ सुख से सनाथ युक्त होता है और जो अपनी हथेली के समान लोकालोक को देखते हैं, जानते हैं वे तीन भुवन जनों के पूज्य श्री जिनेश्वर की जय हो, इस तरह भगवान की स्तुति कर प्रसन्न हुआ वह रोग रूपी क्रीडाओं से जर्जरित हुआ शरीर का त्याग करने दूसरे ऊँचे पर्वत शिखर के ऊपर जब चढ़ता है इतने में शरद के चन्द्र समान उज्ज्वल, फली हुई विशाल कान्ति का समूह वाले, अट्ठारह हजार शील रूपी रथ के भार से दबे हुये हो, इस तरह अति नम्र कायरूपी लता वाले, नीचे मुँह वाले, लम्बी की हुई लम्बी भुजा वाले, हाथ के नखों की किरण रूपी रस्सी से नरक रूपी कुएँ में गिरे हुए जीव लोक को ऊपर खींचते हो, ऐसा मेरुपर्वत के समान निश्चल, पैर की अंगुलियाँ की निर्मल कान्ति वाला, दस नख के बहाने से मानो क्षमा आदि दस प्रकार के मुनि धर्म को प्रकाशित करते हो, स्फटिक रत्न की देदीप्यमान कान्ति वाली पर्वत की गुफा में रहे अति सुशोभित शरीर वाला, मानो सुख के समूह को प्रगट करने की भूमि हो ऐसे काउस्सग्न में रहे एक साधु को देखा। फिर मृत्यु तो मेरे स्वाधीन है ही ! पहले इन मुनि को नमस्कार करूँ ऐसा चिन्तन कर, सत्कार से भरे हुए आँखों वाले उस ताराचन्द्र ने साधु को नमस्कार किया। भक्तिपूर्वक नमस्कार करके जब आश्चर्य भरे, चित्त वाला वह उसके रूप को

देखने लगा, तब आकाश तल से विद्याधर का जोड़ा नीचे आया, और हर्ष-पूर्वक विकसित नेत्रों वाले उस दम्पति ने मुनि के चरण कमल में नमस्कार कर, गुण की स्तुति करके निर्मल पृथ्वी पीठ ऊपर बैठे, तब ताराचन्द्र ने कहा—आप यहाँ किस कारण से पधारे हैं ? इससे विद्याधर ने कहा कि—विद्याधरों की श्रेणी वैताद्व्य पर्वत से इन प्रभु को वन्दन करने के लिये आये हैं । ताराचन्द्र ने कहा—हे भद्र ! यह मुनि सिंह कौन हैं ? जो कि आभूषण के त्यागी होते हुए भी दिव्य अलंकारों से भूषित हों और मनुष्य होते हुये भी अमानुषी दैव महिमा से शोभित हों ऐसे दिखते हैं । अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पूछने से प्रसन्न बने उस विद्याधर ने कहा—सुनो !—

अनेक गुणों से युक्त ये महात्मा विद्याधरों की श्रेणी के नाथ हैं । जन्म जरा-मरण के रणकार से भयंकर इस संसार के असीम दुःखों को जानकर, राज्य ऊपर अपने पुत्र को स्थापन कर स्वयमेव समत्व प्राप्त किया है, शत्रु-मित्र समान मानने वाले उत्तम साधु बने हैं । उत्तम राज्य लक्ष्मी को और अत्यन्त भोगों को खल स्त्री के समान इन्होंने लीलामात्र में छोड़ दिया है, आज भी इनकी विरहाग्नि से जलती अन्तःपुर की स्त्रियाँ रोती रुकी नहीं हैं । प्रज्जप्ति आदि महा विद्याएँ इनके कार्यों में दासी के समान सदा तैयार रहती थीं, और चिरकाल से वृद्धि होती अति देदीप्यमान उनकी कीर्ति तीन लोकरूपी रंग मण्डप में नटनी के समान नाचती हैं । तप शक्ति से उनको अनेक लब्धियाँ प्रगट हुई हैं, अनुपम सुख समृद्धि से जो शोभते हैं और ये अखण्ड मासखमण करते हैं । इनके समान इस धरती में कौन है ? इस प्रकार गुणों से युक्त, भव से विरक्त, चारित्ररूपी उत्तम रत्नों का निधान रूप, निरूपम करुणारूपी अमृत रस के समुद्र और राजाओं से वन्दनीय यह मुनिश्वर हैं ऐसा जान । ऐसा कहकर विद्याधर जब रुके, तब रोमांचित से कंचुकित काया वाला ताराचन्द्र ने फिर भक्तिपूर्वक उस मुनि को वन्दन किया । फिर उसके शरीर को महान् रोगों से जर्जरित देखकर विद्याधर ने कहा—अरे महायश ! तू अत्यन्त महिमा वाला और गुणों का निधान रूप इस उत्तम मुनि के कल्पतरु की कुंजल समान चरण युगल को स्पर्श करके क्यों इस रोग को दूर नहीं करता है ? ऐसा सुनकर परमहर्ष रूप धन को धारण करते ताराचन्द्र ने मस्तक से महामुनि के चरण कमल को स्पर्श किया । मुनि की महिमा से उसी क्षण में उसका दीर्घकाल का रोग नाश होते ही ताराचन्द्र सविशेष सुन्दर और सशक्त शरीर वाला हुआ । उस दिन से ही अपना जीवन नया मिला हो ऐसा मानता हुआ परम प्रसन्नता-पूर्वक वह स्तुति करने लगा कि :—

हे कामदेव के विजेता ! सावधकार्यों के राग बन्धन को छोड़ने वाले ! संयम के भार को उठाने वाले ! और समाधिपूर्वक मोहरूपी महाग्रह को वश करने वाले, हे मुनिश्वर ! आप विजयी रहो ! देव और विद्याधरों से वंदनीय ! रागरूपी महान् हार्थी को नाश करने में सिंह समान और स्त्रियों के तीक्ष्ण कटाक्ष रूपी लाखों बाणों से भी क्षोभित नहीं होने वाले हे महामुनिश्वर ! आपकी जय हो ! तीव्र दुःखरूपी अग्नि से जलते प्राणियों के अमृत की वर्षा समान ! भाश नामक वनस्पति के उज्ज्वल पुष्पों के प्रकाश सदृश, उछलते उज्ज्वल यश से दिशाओं को भी प्रकाशमय बनाने वाले हे मुनिश्वर ! आप श्री जी की जय हो । कलिकाल के फैले हुये प्रचण्ड अन्धकार से नाश होते मोक्ष मार्ग के प्रकाशक प्रदीप रूप ! महान् गुणों रूपी असामान्य श्रेष्ठ रत्न समूह के निधान हे मुनिश्वर ! आप विजयी बनो ! हे नाथ ! रोग से पीड़ित देह के त्याग के लिये भी मेरा आगमन आपके चरण कमल के प्रभाव से आज निश्चय सफल हुआ है, इसलिए हे जगत् बन्धु ! आज से आप ही एक मेरे माता, पिता, भाई और स्वजन हो, हे मुनिश्वर ! यहाँ अब मुझे जो करणीय हो वह करने की आज्ञा दो ! उसके बाद मुनिपति ने 'यह योग्य है' ऐसा जानकर कार्योत्सर्ग ध्यान पूर्ण किया और सम्यक्त्व रूप उत्तम मूल वाला, पाँच अणुव्रत रूपी महा स्कन्ध वाला, तीन गुणव्रत रूपी मुख्य शाखा वाला, चार शिक्षाव्रत रूपी बड़ी प्रतिशाखा वाला, विविध नियम रूपी पुष्पों से व्याप्त, सर्व दिशाओं को यश-रूपी सुगन्ध से भर देता, देव और मनुष्य की ऋद्धि रूपी फलों के समूह से मनोहर, पापरूपी ताप के विस्तार को नाश करने वाला श्री जिनेश्वरों के द्वारा कहा हुआ सद्धर्म रूपी कल्पवृक्ष का उससे परिचय करवाया और अत्यन्त शुद्ध श्रद्धा तथा वैराग्य से बढ़ते तीव्र भावना वाले उसने श्रद्धा और समझपूर्वक अपने उचित धर्म को स्वीकार किया । इस तरह ताराचन्द्र को प्रतिबोध देकर पुनः मोक्ष में एक स्थिर लक्ष्य वाले वह श्रेष्ठ मुनि का उत्सर्ग ध्यान में दृढ़ स्थिर रहे । उसके बाद 'हम ध्यान में विघ्नभूत हैं' ऐसा समझकर वह विद्याधर युगल और ताराचन्द्र तीनों विनयपूर्वक साधु को वन्दन कर बाहर निकल गये । फिर 'यह सार्धमिक बन्धु है' इस तरह स्नेह भाव प्रगट होने से उस विद्याधर ने ताराचन्द्र को जहर आदि दोषों को नाश करने वाली गोली देकर कहा—अहो महाभाग ! तू इस गोली को निगल जा और इसके प्रभाव से विषकर्मण आदि का भोग बना है इससे तू निर्भय और निःशंकाता से पृथ्वी ऊपर भ्रमण कर । ताराचन्द्र ने उसे आदरपूर्वक स्वीकार किया, और विद्याधर युगल आकाश मार्ग में उड़ गया तथा प्रसन्न बने ताराचन्द्र ने उस गोली को खा लिया, फिर

पर्वत से वह नीचे उतरा और स्वस्थ शरीर वाला चलते कमशः पूर्व समुद्र के किनारे रत्नपुर नगर में पहुँचा ।

वहाँ उसके रूप से आकर्षित हृदय वाली मदन-मंजुषा नामक वेश्या ने अति श्याम-सुन्दर केश समूह से शोभते मस्तक वाला और कामदेव को भी जीतने वाला अति देदीप्यमान रूप वाले उसे देखकर उसकी माता को कहा—“अम्मा ! यदि इस पुरुष को तू नहीं लायेगी तो निश्चय ही मैं प्राण का त्याग करूँगी, इसमें विकल्प भी नहीं करूँगी ।” यह सुनकर अक्का राजपुत्र ताराचन्द्र को अपने घर ले आई, उसके बाद सत्कारपूर्वक स्नान, विलेपन, भोजन आदि करके अपने घर में रहे, वैसे वह वहाँ चिरकाल जक उसके साथ रहने लगा । तब माता ने कहा—हे पापिनी ! भोली मदन-मंजुषा ! साधु के समान इस निर्धन मुसाफिर का संग्रह तू क्यों करती है ? हे पुत्री ! वेश्याओं का यह कुलाचार है कि—शक्ति से इन्द्र और रूप से स्वयं यदि कामदेव हो तो भी निर्धन की इच्छा नहीं करे । पुत्री ने कहा—अम्मा ! तेरे चरणों के प्रभाव से इतना धन है कि सात पीढ़ी पहुँचे इतना धन है, अन्य धन से क्या करूँगी ? फिर अक्का ने निष्ठुर शब्दों से उसे बहुत बार तिरस्कार किया, लेकिन उसने जब ताराचन्द्र को नहीं छोड़ा, तब अक्का ने विचार किया कि—यह जब तक जीता है, तब तक यह पुत्री मेरी बात को नहीं स्वीकार करेगी, इससे गुप्त रूप में मैं इसे उग्र जहर देकर मार दूँगी । फिर किसी सुन्दर अवसर पर उसने उग्र जहर से मिश्रित चूर्ण वाला पान खाने के लिए स्नेहपूर्वक उसे दिया । ताराचन्द्र ने उसे स्वीकार किया और विकल्प बिना उसका भक्षण भी किया, फिर भी पूर्व में खाई हुई गोली के प्रभाव से विष विकार नहीं हुआ । इससे खेदपूर्वक हा ! विष प्रयोग करने पर भी यह पापी अद्यापि क्यों नहीं मरा ? ऐसा विचार कर अक्का ने पुनः उसके प्राणघातक कार्मण किया, परन्तु गुटिका के प्रभाव से उस कार्मण से भी वह नहीं मरा, परन्तु आरोग्य रूप और शोभा अधिकतर बढ़ने लगी । इससे वह वज्रघात हुआ हो इस तरह, या लूटी गई हो इस तरह स्वजनों से दूर फेंक दी हो, इस तरह हथेली में मुँह ढाँककर शोक करने लगी । तब ताराचन्द्र ने उससे कहा—हे माता ! आपको कभी ऐसा उदास नहीं देखा, पहली बार ही वर्षा ऋतु के काले बादल के समान आपका आज श्याम मुख क्यों है ? उसने कहा—पुत्र ! निश्चय जो शक्य न हो वह हितकर और युक्ति वाला भी कहने से क्या लाभ है ? ताराचन्द्र ने कहा—माता ! आप कहो, मैं आपका कहना स्वीकार करूँगा । उसने कहा—पुत्र ! यदि ऐसा ही है तो मुन—हे पुत्र ! तू सुन्दर विशेष लक्षण वाला, रूप वाला, सद्गुणी और मनोहर शरीर

वाला है, परन्तु विषयों की वृद्धि से नजदीक भविष्य में मृत्यु होगी, क्योंकि—तू व्यायाम नहीं करता है, शिष्ट पुरुषों की सभा में तू बैठता नहीं है, और कभी देव मन्दिर या धर्म स्थान में तू परिचय नहीं करता है। हे पुत्र ! हमेशा विषय इच्छा से वासुदेव भी मृत्यु के सन्मुख जाता है, तो कमल फूल के पत्तों समान कोमल शरीर वाला तू कौन-सी गिनती में है ? मैं इसी कारण से यह कह रही हूँ, दुर्लभ प्राप्त भी अन्य वस्तु इस संसार में भाग्ययोग से मिल जाती है, परन्तु तेरे समान पुरुष रत्न पुनः कहाँ से मिलेगा ? इसलिए हे पुत्र ! तुझे प्रतिदिन दुर्बल होते देखकर ही इस चिन्ता से ही मैं शोक संतप्त रहती हूँ।

स्वच्छ स्वभाव होने से ताराचन्द्र ने उसका कहना स्वीकार किया, केवल एकान्त में पुत्री से उसे कहा 'यह सारा कपट है' ऐसा जानकर प्रतिदिन वह पूर्व के समान ही रहने लगा। इससे अक्का ने विचार किया कि—यह पापीष्ठ जहर आदि से भी मरा नहीं है और यदि इसे शस्त्र से मार दूँ तो निश्चय पुत्री भी मर जायेगी। अरे रे ! यह कैसा महासंकट आ गया है ? इसको रोकना भी मुश्किल है। इस तरह शोक से व्याकुल चित्तवाली वह घर में नहीं रहने से दासियों को साथ लेकर नगर के उद्यान को देखने लगी, और इच्छानुसार इधर-उधर घूमती समुद्र किनारे पहुँची, वहाँ उसने परदेश से आया हुआ एक जहाज देखा। उसमें आये हुये मनुष्यों को पूछा—आप यहाँ कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना है ? उन्होंने कहा—हम बहुत दूर से आये हैं और आज रात को जायेंगे। यह सुनकर उसने विचार किया कि—अरे अन्य योजना से क्या लाभ है, अति गाढ़ निद्रा में सोए हुये ताराचन्द्र को रात्री में इस जहाज में चढ़ा दो, कि जिससे वह दूर अन्य देश में पहुँच जाए कि फिर वापिस नहीं आये, ऐसा करने से मेरी पुत्री प्राणों का भी त्याग नहीं करेगी। फिर जहाज के मालिक को उसने एकान्त में कहा—पुत्र सहित मैं आपके साथ जाऊँगी। उसने भी कहा—हे माता ! यदि तुम्हें आने की इच्छा हो तो मध्य रात्री में आज जहाज प्रस्थान करेगा। उसने स्वीकार किया और घर गई, फिर जब मध्य रात्री हुई और पुत्री सो रही थी, तब अपने पलंग पर गाढ़ निद्रा में सोये हुये ताराचन्द्र को धीरे से दासियों द्वारा पलंग सहित उठवाकर पलंग साथ उसे जहाज के एक विभाग में रखा, और उसने जहाज के नायक को कहा—यह मेरा पुत्र है और यह मैं भी आई हूँ, अब तू ही एक हमारा सार्थवाह रक्षक है। जहाज के मालिक ने 'हाँ' कहा। फिर अनेक जात के कपटों से भरी हुई, वह वहाँ के मनुष्यों की नजर बचाकर जैसे आई थी वैसे शीघ्र वापिस चली गई।

फिर बाजे बजते महान मंगल शब्दों युक्त जहाज को चलाया, और घबराने से चारों दिशा में भ्रान्तियुक्त, आँखों वाला ताराचन्द्र जागा—यह क्या है ? कौन-सा देश है ? मैं कहाँ पर हूँ ? अथवा यहाँ मेरा सहायक कौन है ? ऐसा विचार करते जब देखता है तब उसने महासमुद्र को देखा, और धनुष्य से छूटा हुआ अत्यन्त वेग वाले बाण के समान अतीव वेग से जाते और चढ़ा हुआ उज्ज्वल पाल वाले जहाज को भी देखा, इससे विस्मित मन वाला वह विचार करने लगा कि—परछाई की क्रीड़ा समान अथवा इन्द्र जाल के समान नहीं समझ में आए यह मेरा कौन-सा संकट आया है ? अथवा तो सोच समझ भी नहीं सकते हैं, कहा भी नहीं जा सकता और पुरुष प्रयत्न जहाँ निष्फल होता है ऐसा अघटित को भी घटित करने की रूचि वाला मेरे दुर्भाग्य का यह भी कोई दुष्फल है। तो अब जो कुछ होता है वह होने दो ! इस विषय में निष्फल चिन्तन करने से क्या लाभ है ? ऐसा सोचकर फिर उस पलंग पर निश्चित रूप में सो गया। फिर जब सूर्य उदय हुआ तब उठा, 'यह अक्का का प्रपंच है' ऐसा जानकर अति प्रसन्न मुख कमल वाला वह जब शय्या से उठा, तब बहुत काल से गाढ स्नेह वाला जहाज का मालिक अपने बाल-मित्र कुरुचन्द्र को उसने देखकर तुरन्त पहचान लिया। इससे संभ्रमपूर्वक गाढ आलिंगन कर आदरपूर्वक उसने ताराचन्द्र को हे मित्र ! तेरा यहाँ यह आश्चर्य भूत आगमन कहाँ से हुआ है ? अथवा श्रावस्ति से निकलकर इतना समय तूने कहाँ व्यतीत किया ? और वर्तमान में तू पुनः निरोगी अंग वाला किस तरह हुआ ? उसके पश्चात् ताराचन्द्र ने नगर में से निकलकर प्रातःकाल में जागा वहाँ तक का अपना सारा वृत्तान्त उसे कहा। कुरुचन्द्र ने भी वेश्या की माता का सारा व्यतिकर दुःख ताराचन्द्र को कहा। इसका उसका प्रपंच जानकर ताराचन्द्र ने मन में विचार किया कि—बोलती है अन्य और करती है अन्य, स्नेह रहित फिर भी कपट स्नेह से अन्य को देखती है और राग दूसरे के प्रति करती है। ऐसी स्त्रियों के चरित्र को धिक्कार हो। भौंरा जैसे मद के लोभ से हाथी के गंड स्थल को चूसना, वैसे धन के लोभ से जो चण्डाल के गाल को भी चुमन करती हैं, उन युवतियों का इस संसार में क्या निन्दनीय कार्य है ? अथवा पर्वत के शिखर से गिरती नदी के तरंग समान चंचल चित्त वाली कपट का घर स्त्रियों का स्वभाव निश्चय ऐसा ही होता है। ऐसा विचार कर उसने कहा—हे कुरुचन्द्र ! अपना वृत्तान्त कह, तू यहाँ क्यों आया ? और इसके बाद कहाँ जायेगा ? एवम् पिताजी की स्थिति में क्या है ? सारे राज्य कर्म-चारियों की भी कुशलता कैसी है ? और गाँव, नगर, देश सहित श्रावस्ती भी

अच्छी तरह स्वस्थ है ? कुरुचन्द्र ने कहा—राजा की आज्ञा से यहाँ रत्नपुर में आया हूँ और अब श्रावस्ती में जाऊँगा। एक तेरे विरह से गाढ़ दुःखी राजा बिना समग्र राजचक्र तथा देश सहित नगर की भी कुशलता है। जिस दिन तू निकला था उसी दिन से तुझे खोजने के लिए राजा ने सर्व दिशाओं में पुरुषों को भेजा था, परन्तु तू नहीं मिला। इससे हे महाभाग ! मेरा रत्नपुर में आगमन बहुत फलदायक बना कि जिससे तू मुझे पुण्य से आज अचानक यहाँ मिला।

इधर मदन-मंजुषा जागृत होकर शयन कक्ष में ताराचन्द्र को नहीं देखने से तुरन्त—हे प्रियतम ! आप कहाँ हो ? ऐसा बोलते जब रोने लगी तब उसकी माता ने रत्न के अलंकारों की स्वयं चोरी करके कहा—हे पुत्री ! इस तरह लगातार क्यों रो रही है ? उसने कहा—माता ! मेरा हृदय वल्लभ को मैं यहाँ कहीं नहीं देखती हूँ। उसे सुनकर कपट से बाहर अन्दर घर में देखकर व्याकुल जैसी कपट से बन कर माता ने कहा—वे रत्न के अलंकार भी नहीं दिखते हैं, मुझे लगता है कि—उसे लेकर वह आज भाग गया है। अरे पापिष्ठा ! उससे तू आज अच्छी तरह ठगी गई है, तू इसके योग्य ही है, क्योंकि तुझे बार-बार रोकने पर भी निर्धन परदेशी मुसाफिर में तूने राग किया। इत्यादि कपट युक्त वचनों के प्रवाह से उस पुत्री का इस तरह तिरस्कार किया कि जिससे भयभीत बनी उसने सहसा मौन सेवन किया।

इस ओर जहाज जब समुद्र किनारे पहुँचा और वह जहाज को छोड़कर कुरुचन्द्र के साथ ताराचन्द्र रथ में बैठा। फिर आगे चलते वे जब श्रावस्ती नगरी के बाहर पहुँचे तब उसका आगमन जानकर राजा ने घर में प्रवेश करवाया। राजा के पूछने पर कुमार ने भी अपना सारा वृत्तान्त सुनाया, फिर प्रसन्न हुए राजा ने कुरुचन्द्र को मन्त्री बनाया और अति प्रशस्त दिन में ताराचन्द्र को राज्य सिंहासन पर बैठाया और स्वयं ने दीक्षा लेकर श्रेष्ठ साधना कर मरकर देवलोक में पहुँचे। अनेक रथ, योद्धा, हाथी, घोड़े और वृद्धि होते निधान वाला राजा ताराचन्द्र भी राज्य को निष्पाप रूप से भोगने लगा। चारुण मुनिश्वर के कथनानुसार धर्म की अत्यन्त भावपूर्वक एकाग्र चित्त से आराधना करने लगा, और जैनेश्वर भगवान की प्रतिमा की पूजा करने लगा। एक समय अनियत विहार की विधि का पालन करते हुये बहुश्रुत श्री विजय सेन सूरि जी वहाँ पधारे। बड़े वैभव के साथ ताराचन्द्र ने उनके पास जाकर वन्दना की और सविशेष धर्म सुनने के लिए बस्ती (स्थान) देकर अपने घर में रखा। फिर वह हमेशा नय विभाग से युक्त विविध अर्थों के समूह से शोभते

युक्ति से संगत सिद्धान्त नित्य सुनने लगा। इस तरह हमेशा लगातार शास्त्र को सुनते-२ राजा ने अन्तिम सलेखना तक का गृहस्थ धर्म का सर्व परमार्थ जाना। एक सत्य धर्म से विमुख चित्त वाला कुरुचन्द्र बिना, अन्य उस नगर के निवासी अनेक लोगों को प्रतिबोध हुआ। परन्तु कुरुचन्द्र को प्रतिबोध नहीं होने से राजा ने चिन्तन किया कि मेरे साथ धर्म सुनने से भी इसे उपकार नहीं हुआ। परन्तु अब यदि आचार्य श्री उसके घर के नजदीक रहें तो प्रतिक्षण साधु क्रिया को देखने से इसे धर्म बुद्धि जागृत होगी। ऐसा सोचकर राजा ने उसी समय कुरुचन्द्र को बुलाकर कहा—भो ! देवानु प्रिय ! ये गुरु जंगम तीर्थ हैं, इसलिए स्त्री, पशु, नपुंसक रहित तेरे अपने घर में इनको रहने के लिये स्थान दे और फिर श्री अरिहंत परमात्मा का कथित धर्म को सुनो। क्योंकि—एक धर्म ही दुर्मति में डुबते मनुष्य का उद्धार करने में समर्थ है और स्वर्ग तथा मोक्ष सुख-रूपी फल देने वाला कल्पवृक्ष है। और प्रिया, पुत्र, मित्र, धन, शरीर आदि सब एकान्त क्षण भंगुर, असार और अत्यन्त मनोव्यथा पैदा करने वाले हैं ऐसा समझ।

राजा के ऐसा कहने से धर्म क्रिया से विमुख भी कुरुचन्द्र ने राजा के आग्रह से आचार्य जी को अपने घर में रहने का स्थान दिया। फिर हमेशा गुरु के उपदेश को वह सुनने लगा और कुछ राग से बंधे हुए हृदय वाला, सामान्य सद्भावना वाला उसने तपस्वी साधु पुरुषों को विविध तप में रंगे हुए देखा, तो भी श्री वीतराग के सद्धर्म को भावपूर्वक स्वीकार नहीं किया, अथवा भारी कमी को सद्गुरु का संयोग भी क्या कर सकता है ? उसके बाद कल्प-पूर्ण होते आचार्य अन्य स्थान पर गये, तब श्री जैनेश्वर के आगम के रहस्यों को जानकार राजा ताराचन्द्र श्री जैन मन्दिर को तैयार करवाकर उसका अष्टाह्निका आदि महोत्सव, यात्रा और विविध प्रकार की पूजा करने में रक्त चित्त वाला बना, शास्त्र विधि अनुसार कम्पादान आदि धर्म कार्य में प्रवृत्ति करने लगा। महल के नजदीक पौषधशाला बनाकर उसमें अष्टमी-चतुर्दशी आदि अन्य धर्म पर्व के दिनों में पौषध करने में उद्यमशील रहता था। घर में निवास बंधन रूप मानता था, पापी लोगों की संगत का त्यागी, और श्रेष्ठ विशेष गुणों में चित्तवृत्ति को स्थिर करते, विशेष गुण प्राप्ति की भावना वाला, राज्य और राष्ट्र के कार्यों को बाह्य वृत्ति से उदासीनता से ही चिन्तन करता और सच्चारित्र में प्रवृत्ति करता, धार्मिक लोगों की अनुमोदन करता, विशेष आराधना का अभिलाषी और उससे निर्मल परिणाम वाला वह राजा मरकर गृहस्थ धर्म की अन्तिम सर्वश्रेष्ठ गति बारहवें देवलोक में दिव्य ऋद्धि वाला

देव बना। कुरुचन्द्र भी ऐसी उत्तम धर्म की करणी से रहित अज्ञानादि प्रमाद वाला आर्त्तध्यान में प्रवृत्ति करके मरकर अनेक बार तिर्यंच भव में जन्म लिया। वहाँ से निकल कर महाजंगल में भील हुआ, वहाँ समूह के साथ विहार करते साधुओं को देखा। 'कहीं पर ऐसे साधुओं को मैंने पूर्व में देखा है'। ऐसा एकान्त में चिन्तन करते उसमें लीन बने जाति स्मरण ज्ञान हुआ और अपना पूर्व जन्म देखा, तब महान् गुणरूपी रत्नों के भण्डार को अपने घर में रखा था उन मुनियों की स्मृति याद आई, और उन्होंने बार-बार धर्म-उपदेश भी सुनाया था। इससे वह चिन्तन करने लगा कि—उन महामहिमा वाले उपकारी गुरु-देवों ने उस समय मुझे उपदेश दिया था, फिर भी मैंने धर्म में उद्यम नहीं किया। जो कि महानुभाव राजा ने भी उपकार के लिए अपने घर में गुरु महाराज को रखा था, तो भी मुझे उपाकार नहीं हुआ। ऐसे भारी कर्मी मुझे अब वैसी सद्धर्म की सामग्री किस तरह मिलेगी? अथवा ऐसा अधिक चिन्तन करने से क्या लाभ? ऐसी स्थिति में रहकर भी मैं शीघ्र अनशन करके और मन में जगत् गुरु श्री अरिहंत परमात्मा के शासन को धारण करके उसी आचार्य श्री का ध्यान करते मैं कार्य सिद्ध करूँ। इस तरह निष्कलंक सम्यक्त्व को प्राप्त करके कुरुचन्द्र भिल्ल चारों आहार का त्याग कर मरकर सौधर्मकल्प में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

इस तरह कुरुचन्द्र के चारित्र्य से दूसरे के दबाव से भी साधुओं को दिया हुआ बस्ती दान प्रायः कर परभव में भी कल्याण को करता है। इसलिए पंडित पुरुष सर्व संग-परिग्रह से मुक्त, देवों से भी पूजित और जगत् के जीवों का हित करने वाला साधुओं को बस्ती देने में विरोध कैसे करे? साधुओं को बस्ती देने से उनका सन्मान होता है, इससे आत्मा की (बुद्धि की) विशुद्धि होती है, इससे निष्कलंक चारित्र्य की आराधना होती है, इससे कर्मों का विनाश होता है और अन्त में निर्वाण पद प्राप्त करता है। तथा कई जीव सौम्य प्रकृति वाले मुनियों के दर्शन से, अन्य कोई उनके धर्म उपदेश से और कोई उनकी दुष्कर क्रिया को देखकर भी प्रतिबोध प्राप्त करते हैं, और जिसने बोध प्राप्त किया वे दूसरे को प्रतिबोध करते हैं। जैन मन्दिर बनाये, साधार्मिक वात्सल्य करे, और साधुओं को विधिपूर्वक शुद्ध दान दे, इसी तरह तीर्थ (शासन) की वृद्धि-उन्नति हो, नये साधुओं की धर्म में स्थिरता हो, शासन का यश बढ़े और जीवों को अभय-दान मिलता है, इसलिए बस्ती दान में उद्यम करना चाहिये। इस प्रकार राजा भी बस्ती का दान देकर गुरु महाराज के पास से धर्म सुनकर हमेशा विशेष धर्म कार्यों में प्रवृत्ति करे। अब इस सम्बन्ध में अधिक वर्णन करने से क्या?

इस तरह इन्द्रियरूपी पक्षी को वश करने के लिए पिंजरे के समान परिकर्म विधि आदि चार मुख्य द्वार वाली संवेगरंगशाला रूप आराधना के पन्द्रह अन्तर द्वार वाला प्रथम परिकर्म विधिद्वार में आठवाँ राजद्वार (राजा का विहार) नामक अन्तर द्वार कहा है।

नौवाँ परिणाम द्वार :—पूर्व में कहे अनुसार उन सब गुणों के समूह से अलंकृत जीव भी विशिष्ट परिणाम बिना प्रस्तुत आराधना की साधना शक्तिमान नहीं होती है, इसलिए अब परिणाम द्वार कह रहे हैं, इसके दो भेद हैं साधु के परिणाम और गृहस्थ के परिणाम। उसमें गृहस्थ वर्ग के परिणाम द्वार के ये आठ अन्तर द्वार हैं—(१) इस भव और परभव के हित की चिन्ता, (२) घर-व्यवहार सम्बन्धी पुत्र को उपदेश, (३) काल निर्गमन, (४) दीक्षा में अनुमति प्राप्ति के पुत्र को समझाना, (५) अच्छे सुविहित गुरु के योग साधना, (६) आलोचना (प्रायश्चित्त) देना, (७) आयुष्य ज्ञान प्राप्त करना, और (८) अनशनपूर्वक अन्तिम संघारा रूप दीक्षा को स्वीकार करना।

इसभव और परभव का हित चिन्तन :—इसमें इस जन्म और परजन्म के गुणों की चिन्ता नामक द्वार इस प्रकार से जानना, पूर्व में कहे अनुसार गुण वाला राजा या सामान्य गृहस्थ जिसने श्री जैन मन्दिर एक या अनेक करवाये हों, अनेक धर्म स्थानों की स्थापना की हो या करवायी हो, इसलोक-परलोक के कार्यों में प्रशस्त रूप से किया हो, विषयों में रति मन्द हो गई हो, धर्म में ही नित्य अखण्ड रागी हो, और धर्म प्राप्ति आदि घर के विविध कार्यों की आसक्ति से मन को वैरागी बनाया हो, ऐसा वह राजा हो अथवा गृहस्थ किसी दिन मध्य रात्री के समय अति प्रसन्न-निर्मल चित्त वाला बनकर सम्यग् धर्म चिन्तन करते ढड़ संवेग को प्राप्त कर, संसारवास से अति उद्धिग्न मन वाला और नजदीक काल में भावी कल्याण वाला, अल्प संसारी निर्मल बुद्धि से इस प्रकार चिन्तन करे :

श्वावक की भावना :—किसी अनुकूल कर्म परिणाम के वश से अति दुर्लभ भी अति उज्ज्वल उच्च कुल में जन्म मिला है। और अन्यान्य गुणों की वृद्धि करने में एक रसिक अन्तःकरण वाले दुर्लभ माता-पिता भी मिले हैं। उनके प्रभाव से दृष्टि से देखा हुआ और शास्त्र में सुने हुए पदार्थों के रहस्यों को स्वीकार करने में निपुण बुद्धि और विद्या तथा विज्ञान को प्रकर्ष रूप में मुझे प्राप्त हुआ है और मेरी भुजा बल से प्राप्त कर निष्पाप धन को भी पाप रहित विधि से इच्छानुसार उचित स्थान पर दान दिया है। मनुष्य योग्य पाँच इन्द्रियों के विषय भोग को भी अखण्ड भोगा है, पुत्रों को

उत्पन्न किया है, और उनके योग्य उचित अपना कर्त्तव्य भी मैंने किया है। इस तरह इस जन्म की अपेक्षा वाला, सर्व भावों को पूर्ण करने वाला और घरवास में रहने के कारणों को—जवाब देने को पूर्ण करने वाला, यह दुष्ट इच्छा वाला, मेरे जीव को अभी भी क्या इसभव के विविध शब्दादि विषयों को सम्मान करने के बिना अन्य कोई आलम्बन स्थान शेष रहा है ? कि जिससे विषयासक्ति को छोड़कर एकान्त चिन्तामणी और कल्पवृक्ष से भी अत्यधिक एक धर्म में मैं स्थिर नहीं होता हूँ ? अरे रे ! आश्चर्य की बात है कि—कुछ विवेकरूपी तत्त्व को प्राप्त किया हुआ, भव्य प्रकृति से ही महान् और संसार वास से अति उद्धिग्न चित्त वाला और भोग की समग्र सामग्री के समूह, स्वाधीन फिर भी निश्चय से उसे मिथ्या मानने वाला और उसमें अप्रवृत्ति के लक्ष्य वाला चतुर पुरुष भी होता है कि वह जन्म से लेकर नित्य धर्म में ही अत्यन्त कर्त्तव्य बुद्धि वाला होने से परलोक सम्बन्धी धर्म कार्यों में ही सतत् प्रवृत्ति करता है। और हमारे जैसा आशारूपी पिशाचिनी से पराधीन बनो। विविध आशा रखने वाले, चतुर पुरुषों से विपरीत बुद्धि वाले और भावाभिनंदी तुच्छ मनुष्य की ऐसी कुबुद्धि भी होती है कि जिसने इस आराधना स्वरूप को कहीं पर, कभी भी, स्वप्न में भी नहीं सुना, देखा और अनुभव भी नहीं किया। अरे ! उसका जन्म निष्फल गया है। इसलिये अब मैं यहाँ अथवा वहाँ पर—अमुक स्थान पर अमुक उस आराधना का आचरण करूँ कि जिससे आज तक उसका अनादर करने से भविष्य में होने वाला दुःख मुझे दुःखदायी नहीं बने, अथवा यह और वह भी कार्य अनुभव किया, परन्तु अमुक परिमित काल तक ही किया, सम्पूर्ण नहीं किया, इससे इच्छा अधूरी रह गई। अतः अब उस कार्य की इच्छा करता हूँ, उतने काल तक करूँगा कि जिससे वह काल पूर्ण होते ही इच्छाओं की परम्परा का नाश होता है और इस तरह इच्छा रहित उपशम-भाव को प्राप्त करते मैं बाद में जो कार्य करूँ वह शुभ-सुख रूप बने। निश्चय ही प्रकृति से ही हाथी के बच्चे के कान समान जीवन चंचल हो। वहाँ ऐसा कौन बुद्धिशाली इस संसारवास की अयोग्य कल्पना की इच्छा करे ? तथा स्वप्न समान अनित्य इस संसार में यह मैं अभी करता हूँ, और इसे करके यह अमुक समय पर करूँगा, ऐसा भी कौन विचार करे ? इसलिए यदि मैं तत्त्व-गवेषी बनूँ तो सेवन किये बिना भी मुझे सर्व विषय में अनुभव ज्ञान तृप्ति हो और यदि तत्त्वगवेषी नहीं बनूँ तो सर्व कुछ भोगने पर भी अनुभव (आत्मतृप्ति) नहीं होती है। क्योंकि—इस संसार में जैसे-जैसे जीवों को किसी तरह भी मन इच्छित कार्य पूर्ण होता है वैसे-वैसे विशेष तृषातुर बना हुआ विचारा चित्त से

दुःखी ही होता है और उपयोग रूप उपायों में तत्पर जो मनुष्य विषय तृष्णा को समभाव चाहता है, वह मध्याह्न बाद अपनी छाया को पार करने के लिए आगे दौड़ता है अर्थात् मध्याह्न के बाद सन्मुख छाया की ओर जैसे-जैसे आगे दौड़ेगा वैसे-वैसे बढ़ती ही जायेगी। वैसे विषय भोग से जो इच्छा को पूर्ण करना चाहता है, उसकी इच्छा भी बढ़ती ही जाती है। तथा जो अच्छी तरह भोगों को भोग कर, प्रिय स्त्रियों के साथ की हुई क्रीड़ा को और अत्यन्त प्रिय शरीर को भी हे जीव ! कभी भी छोड़ना ही है, चिरकाल स्वजन-कुटुम्ब के साथ रहकर भी, दुष्ट मित्रों के साथ क्रीड़ा करके भी, और चिरकाल शरीर का लालन-पालन करके भी, इन सबको छोड़कर ही जाना है। इष्ट मनुष्य धन-धान्य, मकान-दुकान, हवेली और मन को हरण करने में चोर समान, अति मनोहर ठगने वाले विषयों को एक साथ एक समय में छोड़ना है, तो भी मुझे देखा अनदेखा करना क्या योग्य है ? मन्द पुण्य वालों को सैकड़ों भवों में दुर्लभ श्री अरिहंत देव, सुसाधु गुरुदेव, जैनधर्म में विश्वास, धर्मीजन का परिचय, निर्मल ज्ञान और संसार के प्रति वैराग्य, इत्यादि परलोक साधक करनी को भी मैंने सम्यक् रूप आचार कर अब महान् पुण्य मुझे वह मिला है, तो वर्तमान में आत्म कल्याण के लिये धर्म की सविशेष आराधना करना योग्य है। इस प्रकार करने की इच्छा वाला हूँ तो भी घर के विविध कार्यों में नित्य बन्धन में पड़ा हुआ और पुत्र, स्त्री में आसक्त मैं वैसे आराधना को निर्विघ्नता से नहीं कर सकता हूँ। अतः जब तक अद्यपि वृद्धावस्था नहीं आती, व्याधियाँ पीड़ित नहीं करतीं, जब तक शक्ति भी प्रबल है, समग्र इन्द्रियों का समूह भी अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है, जब तक लोग अनुरागी हैं, लक्ष्मी भी जहाँ तक स्थिर है, जब तक इष्ट का वियोग नहीं हुआ और जब तक यम राजा जाग्रत नहीं हुआ, जहाँ तक परिवार की दरिद्रता के कारण भविष्य में सम्भवित धर्म की निन्दा न हो उसके लिए तथा निर्विघ्न से निरवय धर्म के कार्यों की साधना कर सकूँ। उसके लिये मेरे ऊपर कुटुम्ब के भार को स्वजन आदि की सम्मति पूर्वक पुत्र को सौंप कर उसके मोह को मन्द करके, उस पुत्र की परिणति अथवा भावी परिणाम के देखने के लिए अमुक काल पौषधशाला में रहे और अपनी भक्ति तथा शक्ति के अनुसार श्री जैनेश्वर देवों की अवसरोचित उत्कृष्ट पूजा करने, रूप द्रव्यस्तव सिवाय के अन्य आरम्भों के कार्यों को मन्त्र, वचन, काया से अल्प मात्र भी करना, करवाने का त्याग करके निश्चय आगम विधि अनुसार शुद्ध धर्म कार्यों को करके चित्त को सम्यक् वासित करता हूँ, इस तरह कुछ समय निर्गमन करूँगा, इसके बाद सर्व प्रयत्न-

पूर्वक पुत्र की अनुमति प्राप्त कर योग्य समय निष्पाप संलेखनापूर्वक आराधना का कार्य करूँगा। इस तरह इसभव और परभव हित चिन्ता का प्रथम द्वार कहा। अब पुत्र शिक्षा नामक दूसरा द्वार अल्पमात्र कहते हैं।

दूसरा पुत्र को अनुशास्ति द्वार :—पूर्व में विस्तारपूर्वक कहा हुआ उभय लोक का हित करने वाला, धर्म को करने की मुख्य परिणाम वाला, और इससे घरवास को छोड़ने की इच्छा वाला, सामान्य गृहस्थ या राजा जब प्रभात में जागृत हो, पुत्र आदि सर्व आदर से चरण में नमस्कार करें, तब उसे अपना अभिप्रायः बतलाने के लिये इस प्रकार कहे—हे पुत्र ! यद्यपि स्वभाव से ही तू विनीत है, गुणों का रागी और विशिष्ट प्रवृत्ति वाला है, इसलिए तुझे कुछ उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी माता-पिता ने पुत्रादि को हितोपदेश देना, वह उनका कर्त्तव्य होने से आज अवश्य कुछ तुझे कहा है। हे पुत्र ! सद्गुणी भी, बुद्धिशाली भी, अच्छे कुल में जन्म हुए भी और मनुष्यों में वृषभ-तुल्य श्रेष्ठ मनुष्य भी, भयंकर यौवनरूपी ग्रह से बुद्धिभ्रष्ट बना शीघ्र नाश होता है। क्योंकि—इस यौवन का अन्धकार चन्द्र, सूर्य, रत्न और अग्नि के प्रकाश से लगातार रोकने पर भी अल्प भी नहीं रुकता है, परन्तु अतिरिक्त वह अन्धकार फैलती रात में जैसे तारे खिलते हैं, वैसे जीवन में कुतर्क रूपी तारे प्रगट होते हैं। विषय की विचित्र अभिलाषाएँ रूपी व्यतरियों का समूह विस्तार होने से दौड़ा-दौड़ करते हैं। अवसर मिलते ही उन्माद रूपी उल्लू का समूह उछलता है, कलुषित बुद्धिरूपी चमगादड़ का समूह सर्वत्र जाग उठता है, और अनुकूलता होने से प्रमादरूपी खद्योत (जुगनू) उसी समय विलास करने लगते हैं और कुवासनाएँ रूपी व्यभिचारिणी का समूह निर्लज्ज होकर दौड़ भाग करती हैं। तथा हे पुत्र ! शीतल उपचार से भी उपशम न हो ऐसा दर्प रूपी दाह ज्वर जल स्नान से भी नहीं शान्त होने वाला, तीव्र रागरूपी मैल का विलेपन, मन्त्र-तन्त्र या यन्त्र से भी नहीं रुकने वाला, विषयरूपी विषविकार और अंजन आदि के प्रयोग से भी नहीं रुकने वाला, लक्ष्मी का अभिमान भयंकर अन्धकारमय जीवन बना देता है और हे पुत्र ! मनुष्यों का रात्री पूर्ण होने पर नहीं रुकने वाला विषय सुखरूप सन्निपात से उत्पन्न हुई गाढ़ निद्रा-बेसुध भी बन जाता है। हे पुत्र ! तू भी तरुण, उत्कृष्ट सौभाग्य से युक्त शरीर वाला और बचपन से भी प्रवर ऐश्वर्य वाले, अप्रतिम रूप और भुजा बल से शोभित तथा विज्ञान और ज्ञान को प्राप्त करने वाला है। ऐसे गुण वालों से तू इस गुणों से ही लूटा न जाए ऐसी प्रवृत्ति करना, क्योंकि ये एक-एक गुण भी दुर्विनय करने वाले हैं तो सभी एकत्रित होकर क्या न कर बैठें ? इस-

लिए हे पुत्र ! परस्त्री सामने देखने में जन्मांध, दूसरों की गुप्त बात बोलने में सदा गूंगा, असत्य वचन सुनने में बहरा, कुमार्ग चलने में पंशु और सर्व अशिस्त—गलत प्रवृत्ति करने में प्रमादी बनना । और हे पुत्र ! दूसरे को बुलाते प्रथम उसे बुलाते, सर्व अन्य जीवों को पीड़ा करने में हमेशा त्यागी, मिथ्या आग्रह से विमुख, गम्भीरता वाला, उदारता की औचित्य पूर्वक धारणा करने वाला, परिवार को प्रिय, शिष्ट लोगों के अनुसार चलने वाला, धर्म में उद्यमी, पूर्व के श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्रों को नित्य स्मरण करने वाला और सदा उनके अनुसार आचरण करने वाला, और कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाला, गुणीजनों के गुणों की स्तुति करने वाला, धर्मीजन के प्रति—प्रति समय प्रसन्नता को धारण करने वाला, अनर्थ पापों को छोड़ने वाला, कल्याण मित्र का संसर्ग करने वाला, सारी श्रेष्ठ पुण्य प्रवृत्ति वाला और सदा सर्व विषयों में शुद्ध निश्चय लक्ष्य वाला बनना चाहिए ।

हे पुत्र ! इस तरह प्रवृत्ति द्वारा तू दादा, परदादा आदि पूर्वजों के क्रम से प्राप्त हुआ इस वैभव को पूर्वभव के तेरे पुण्य अनुसार भोग कर । सारे कुटुम्ब के भार को स्वीकार कर और इसकी चिन्ता कर, स्वजनों का उद्धार कर और स्नेही अथवा याचक या नौकर वर्ग को प्रसन्न कर । इस तरह अब समग्र कार्यों का भार स्वयं उठाकर तू मुझे स्वतन्त्र कर दे ! हे पुत्र ! अब तुझे ऐसा करना योग्य है । इस तरह व्यवहार का भार उठाने वाले तेरे पास रहकर मैं अब कल्याणरूपी पुण्यलता को सिंचन करने में जल की नीक समान सदधर्म रूपी गुण में लीन बनकर तेरे उत्तम आचरणों को देखने के लिए कुछ समय घरवास में रहूँगा, उसके बाद तेरी अनुमति से संलेखना करूँगा । घरभार नहीं स्वीकार करते भी पुत्र को इह प्रतिरूप बन्धन के बल से इस प्रकार कान्त और मनोज्ञ भाषा द्वारा सम्यक् रूप स्वीकार करवा कर भूमिगत गुप्त गाड़े हुये धन समूह को भी दिखा दे, बही-खाते में लेना देना भी बतला कर, अपने योग्य देनदार को देकर और लेने वाले से वसूली कर, स्वजन आदि के समक्ष उसे धन के व्यवहार में अधिकारी पद में स्थापन करे । कुछ धन जैन भवन में महोत्सवादि के लिए, कोई साधारण कार्य आ जाने से उसके लिये, कुछ स्वजनों के लिए, कुछ सविशेष कमजोर सन्त या साधर्मिकों की सहायता के लिये, कुछ नये धर्म को प्राप्त किये आत्माओं का सन्मान के लिये, कुछ बहन, पुत्रियों के लिए, कुछ दीन-दुःखी आदि की अनुकम्पा के लिए और कुछ उपकारी मित्र और बन्धुओं के उद्धार के लिए, उत्तम श्रावक को पीछे से दुःख न हो इसके लिए अमुक धन अपने हाथ में रखे, नहीं तो उस समय पर जैन मन्दिर आदि में खर्च नहीं कर सकता है । यह सामान्य गृहस्थों की विधि कही है । राजा तो अच्छे मुहूर्त में

राज्याभिषेकपूर्वक पुत्र को अपनी गद्दी पर स्थापन कर स्वामित्व, मन्त्री, राष्ट्र इत्यादि सर्व पूर्व कहे अनुसार विधिपूर्वक सौंप दे। न्यायमार्ग का सुन्दर उपदेश करे और सामन्त, मन्त्री, सेनापति, प्रजा और सेवकों को तथा नये राजा को भी सर्व साधारण हित शिक्षा दे। इस प्रकार अपना कर्त्तव्य पूर्ण करके, पुत्र के ऊपर समस्त कार्यों का भार रखकर, उत्तरोत्तर अपना इष्ट श्रेष्ठ गुणों की आराधना करे। धर्म में प्रवृत्ति वाला भी और निर्मल आराधना का अभिलाषी भी यदि पूर्व में कहे अनुसार विधि से पुत्र को हित शिक्षा नहीं दे और मूर्खान्ति के कारण अपना धन समूह नहीं बतलाये तो केसरी को जैसे वज्र नाम का पुत्र कर्म बन्धक हुआ वैसे वह कर्म बन्धन में कारण रूप होगा। उसका प्रबन्ध इस प्रकार है :—

योग्य पुत्र को अधिकार नहीं देने पर वज्र और केसरी की कथा

कुसुम स्थल नगर में अपनी अति महान् ऋद्धि से कुबेर की भी सतत् हँसी करने वाला धनसार नामक उत्तम सेठ था। उसे सैंकड़ों मानता से प्रसन्न कर देवी ने दिया हुआ निरोगी शरीर वाला वज्र नामक एक पुत्र था। सारी कला को पढ़ा हुआ और यौवन वय प्राप्त करने पर उसे पिता ने महेश्वर सेठ की पुत्री विनयवती कन्या के साथ विवाह करवाया था। फिर सर्व पदार्थ बिजली के प्रकाश समान, शरद ऋतु के बादल सदृश चंचलता होने से और वासुदेव, चक्रवर्ती या इन्द्र आदि के बल को भी अगोचर बल को धारण करने वाले मृत्यु को भी नहीं रोकने से और आयुष्य कर्म का स्वभाव प्रतिक्षण अत्यन्त विनाशी होने से पुत्र को अपने स्थान पर स्थापन कर घर व्यवहार में जोड़कर धनसार मर गया। इससे पुत्र विलाप करने लगा कि—हे तात् ! हे परम वत्सल ! हे गुण समूह के घर ! हे सेवकादि आश्रित वर्ग को संतोष देने वाले ! नगर निवासी लोगों के नेत्रों समान हे पिताजी ! आप कहाँ गये ? उत्तर तो दीजिये ! हे तात् ! आपके वियोग रूपी वज्राग्नि से पीड़ित मेरी रक्षा करो ! हे हृदय को सुख देने वाले ! हे हितेस्वी ! आप अपने इस पुत्र की उपेक्षा क्यों करते हो ? हे तात् ! आप स्वर्ग गये, उसके साथ निश्चय ही गम्भीरता, क्षमासत्य, विनय और न्याय ये पाँच गुण भी स्वर्ग में गये हैं। हे तात् ! आपके वियोग से मैं एक ही दुःख को प्राप्त नहीं करता, परन्तु प्रतिदिन असिद्ध मनोरथ वाले याचक वर्ग भी निश्चय ही दुःख को प्राप्त करते हैं। ऐसा बोलते, शोक से पीड़ित और बड़ी चीख मारते वज्र ने उसका सारा पार-

लौकिक कार्य किया। फिर प्रीति से लक्ष्यबद्ध बुद्धि वाले स्वजनादि का प्रति-दिन दर्शन सार सम्भाल आदि करने से कामक्रम से वह शोक के भार से मुक्त हुआ। पूर्व परम्परा अनुसार से कुटुम्ब की चिन्ता में, लोक व्यवहार में और दानादि धर्मकार्यों में भी वह प्रवृत्ति करता था और पूर्वजों के मार्ग को अखण्ड रखा। केवल धीरे-धीरे लक्ष्मी कम हुई, व्यापार के लिए दीर्घकाल से परदेश में घूमता हुआ वापिस नहीं आया, भण्डार खाली हुए, व्याज में रखा हुआ धन खत्म हो गया और अनाज आदि संग्रह किया था वह तीव्र अग्नि के कारण जल गया। इस तरह पुण्य के विपरीतता के वश—पापोदय से उसका जो जहाँ था वहीं विनाश हो गया और इससे स्वजन भी सारे पराये हो इस तरह विपरीत बन गये। इस तरह परछाई की क्रीड़ा समान अथवा स्वप्न में प्राप्त हुआ धन आदि समान अनित्य स्वरूप देखकर अति शोकातुर बना वह विचार करने लगा कि—

‘मैं कुसंग से रहित हूँ, परस्त्री तथा जुए का त्यागी हूँ और न्याय मार्ग में चलने वाला हूँ, फिर भी मुझे खेद है कि मेरा धन आदि सारा क्यों चला गया? अथवा बिजली के प्रकाश समान चपल प्रकृति वाला होने से धन चला जाए, परन्तु बिना निमित्त से स्वजन क्यों विमुख हुये? हा! हा! जान लिया, निश्चय धन जाने से अपनी कार्य सिद्धि नहीं होती, इसलिए अब भिखारी जैसे विचार बिना मेरे प्रति स्वजन भी स्नेह किस तरह रखें? मनुष्य के स्वजन, बन्धु और मित्र तब तक सम्बन्ध रखते हैं, कि जहाँ तक कमलपत्र तुल्य लम्बी आँखों वाली लक्ष्मी उसे नहीं छोड़ती है। अब धन रहित मुझे यहाँ रहना योग्य नहीं है क्योंकि—पूर्वजों के परम्परा का व्यवहार तोड़ना वह सज्जनों के लिए अति विडम्बना रूप है। ऐसा विचार कर उसने अन्यत्र जाने की इच्छा रूप अपना अभिप्रायः क्षोमिल नामक मित्र से कहा। मित्र ने कहा—तुझे दूसरे देश में जाना योग्य ही है, केवल मैं भी तेरे साथ ही जाऊँगा। फिर वे दोनों अपने नगर से निकलकर शीघ्र गति से सुवर्ण भूमि में पहुँचे, और वहाँ प्राप्ति के लिए अनेकशः उपाय प्रारम्भ किया, इससे भाग्यवश और क्षेत्र की महिमा से किसी तरह बहुत धन प्राप्त किया। उस धन से श्रेष्ठ मूल्य वाले आठ रत्न खरीद लिये और घर को याद करके घर जाने के लिए वहाँ से अपने नगर की ओर चले। फिर आधे मार्ग में क्षोमिल को अति लोभ की प्रबलता से वे सारे रत्न लेने की इच्छा हुई। इससे इसको किस प्रकार ठगना? अथवा सर्व रत्नों को किस तरह ग्रहण करना? इस प्रकार एक ही विचार वाला वह उपायों को सोचने लगा। फिर एक दिन वज्र गाँव गया, तब अन्दर पत्थर के टुकड़े

बाँधकर आठ रत्नों की गठरी समान दूसरी कृत्रिम गठरी बना कर वज्र को देकर मैं रात्री में चला जाऊँगा, ऐसा विचार कर वह पापिष्ठ भय से जब दो गठरियों को शीघ्र बाँधने लगा, उसी समय वज्र वहाँ आ पहुँचा और उसने पूछा—हे मित्र ! तू यह क्या करता है ? यह सुनकर क्या इसने मुझे देखा ? ऐसे शंकाशील बना, फिर भी कपट करने में चतुर उसने कहा—हे मित्र ! कर्म की गति कुटिल के समान विचित्र है । विधाता के स्वच्छी विलास चित्त में भी नहीं आता है, इससे स्वप्न में भी नहीं दिखता, ऐसा कार्य भी अचानक दैव योग से हो जाता है । ऐसा सोच-विचार कर मैंने यह दो रत्न गठरी तैयार की है क्योंकि एक स्थान पर रखी हुई किसी कारण से सारा हाथ में से विनाश नहीं होता ? इसलिये अपनी चार रत्नों की गठरी तू अपने हाथ में रख और दूसरी मैं रखूँ । ऐसा करने से अच्छी रक्षा होगी । ऐसा कहकर मोहमूढ़ हृदय वाला उसने भ्रम से सच्चे रत्नों की गठरी वज्र के हाथ में और दूसरी कृत्रिम अपने हाथ में रखी । उसके बाद दोनों वहीं सो गये, फिर जब राह देखते मुसीबत से मध्य रात्री हुई तब वह पत्थर की गठरी लेकर क्षोमिल जल्दी चल दिया ।

सात योजन चलने के बाद जब वह रत्न की गठरी खोली तब उसके अन्दर पूर्व में अपने हाथ से बाँधे हुये पत्थर के टुकड़े देखे । इससे वह बोला कि—दो धार वाली तलवार समान स्वच्छंदी, उच्छूँखल और विलासी स्वभाव वाला हे पापी दैव ! तूने मेरे चिन्तन से ऐसा विपरीत क्यों किया ? निश्चय ही पूर्व जन्म में अनेक पाप करने से यह दुःखदायी बना है, इसे मैंने अपने मित्र के लिए किया था परन्तु सफल नहीं हुआ, वह तो मेरे लिए ही हुआ है । मैं मानता हूँ कि—शुद्ध स्वभाव वाले उस मित्र की ठगाई करने से वह पाप इस जन्म में ही निश्चय रूप में उदय आया है । ऐसा बोलते शोक के भयंकर भार से सर्वथा खिन्न और थके हुए शरीर वाला, क्षणभर तो किसी बंधन बाँधा हो, या वज्रघात हुआ हो, ऐसा हो गया । फिर भूख से अत्यन्त पराभव प्राप्त करते, मार्ग में चलने से अत्यन्त थका हुआ और भिक्षा के लिये घूमने में भी अशक्त बना उसने एक घर में प्रवेश किया । उस घर की स्त्री को उसने कहा—हे माता ! आशा रूपी साँकल से टिका हुआ मेरा प्राण जब तक है तब तक कुछ भी भोजन दो । अर्थात् यदि भोजन नहीं मिलेगा तो अब मैं जीता नहीं रहूँगा । उसके दीन वचनों को सुनने से दयालु बनी वह स्त्री उसे आदरपूर्वक भोजन देने लगी, लेकिन उसी समय उसका मालिक वहाँ आया और उसे भोजन करते देखकर क्रोध से लाल अति क्षुब्ध बना नेत्र वाले उसने कहा—

‘अरे ! पापिनी ! मैं घर से जाता हूँ, तब तू ऐसे भाटों का पोषण करती है ।’ ऐसा पत्नी का तिरस्कार कर क्षोमिल को ‘यह अनार्य कार्य को करने वाला व्यभिचारी है’ ऐसा राजपुरुषों को बतलाकर उनको सौंप दिया । उसके बाद उन्होंने राजा को निवेदन किया कि ‘यह जार है’ इससे राजा ने भय से काँपते शरीर वाले और उदास मुख वाले उसे वध करने का आदेश दिया । फिर अति जोर-जोर से रोते उसे राजपुरुष वध स्थान पर ले गये और कहा कि—अब तू अपने इष्ट देव का स्मरण कर । ऐसा कहकर भय के वश टूटे-फूटे शब्दों से कुछ बोलते उसे एक वृक्ष के साथ लम्बी रस्सी से लटका दिया । फिर जीव जाने के पहले ही किसी भाग्य योग से वह बँधी हुई रस्सी टूट गई और वह उसी समय नीचे गिर पड़ा । फिर कुछ क्षण में ही वन की ठण्डी हवा से आश्वासन प्राप्त करते मृत्यु के भयंकर भय से व्याकुल बना वह वहाँ से जल्दी भागा ।

जब वह शीघ्रमेव भागते कुछ दूर निकल गया तब वहाँ महान् ताल वृक्ष के नीचे श्रेष्ठ वीणा और बांसुरी को भी जीतने वाली मधुर वाणी से स्वाध्याय करते और उनके श्रवण से आकर्षण हुए, हिरण के समूह से सेवित चरण कमल वाले एक मुनि को देखा । इससे अद्भुत आश्चर्यजनक उस मुनि को वन्दन करके उस भूमि पर बैठा और मुनि ने भी ‘यह योग्य है’ ऐसा मानकर कहा कि—हे देवानु प्रिय ! अनादि संसार में परिभ्रमण करते जीवों को कोई भी इच्छित अर्थ सिद्ध नहीं होता है, परन्तु यदि किसी भी रूप में वह श्री जैनेश्वर भगवान् प्रति भक्ति, जीवों के प्रति मैत्री, गुरु के उपदेश में तृप्ति या तत्परता, सदाचार गुण से युक्त महात्माओं के प्रति प्रीति; धर्म श्रवण में बुद्धि, परोपकार में धन और परलोक के कार्यों की चिन्ता में मन को जोड़ दे तो निरूपम पुण्य वाला उनका जन्म धर्म प्रधान बनता है । दुर्लभ मनुष्य जीवन मिलने पर भी धर्म गुण रहित मनुष्य के जो दिन जाते हैं वह दिन निष्फल जाते हैं ऐसा समझ । जिन्होंने जन्म से ही इस तरह जन्म को धर्म गुण रहित निष्फल गँवाया है, उनको तो जन्म नहीं लेना वही श्रेष्ठ है अथवा जन्म लेने पर भी जंगल में पशु रूप में जीवन व्यतीत करे वही श्रेष्ठ है । जो महानुभाव का भावी कल्याण नजदीक में ही होता है उन्हीं का ही दिन धर्म प्रवृत्ति से प्रधान होता है । वही धन्य है, वही पुण्य का भागीदार है और उसी का जीवन सफल है कि धर्म में उद्यमशील वाले हैं, जिनकी बुद्धि पापों में क्रीड़ा नहीं करती है । इस तरह मुनि की बात सुनकर अपने खराब चरित्र से वैरागी बनकर क्षोमिल ने शुद्ध भाव से दीक्षा स्वीकार कर ली ।

इधर वह महात्मा वज्र मित्र की खोज करके उसके विरहाग्नि से पीड़ित शरीर वाला, दीन मन वाला, महामुसीबत से कुसुमस्थल नगर पहुँचा। वहाँ क्षोमिल के परलोक की विधि की और रत्नों को बेचकर प्रचुर समृद्धिशाली बना। फिर संसार सेवन करते उसे कालक्रम से अत्यन्त प्रशस्त दिन पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'केसरी' रखा। कर्मोदय की अनुकूलता से अल्प प्रयत्न से भी बहुत धन सम्पत्ति एकत्रित हुई और स्वजन भी अनुकूल हुये। उसके बाद उसने चिन्तन किया कि—इस संसार में निश्चय लक्ष्मी बिना का मनुष्य अल्पमात्र वजन वाला अति हल्का काश वनस्पति के पुष्प के समान सर्व प्रकार से नीचता को प्राप्त करता है। इसलिये इसके बाद मुझे धन का रक्षण अपने जीव के समान करना चाहिए। क्योंकि इसके बिना निश्चय पुत्र भी परा-भव करता है। ऐसा चिन्तन करके पुत्र को भी दूर रखकर सारा धन का संग्रह आदरपूर्वक अपने हाथ से जमीन में गाढ़ा। फिर अन्य किसी दिन सूत्र अर्थ में पारंगत विचित्र तप से सूखे शरीर वाला वह क्षोमिल नामक मुनिवर अनियत विहार चर्या करते हुए वहाँ आये। वज्र ने उनको वन्दन किया और महा-मुश्किल से पहिचाना। अचानक उनके आगमन से आनन्द के आँसू बहाते उसने सत्कारपूर्वक पूछा—हे भगवन्त ! यह आपका वृत्तान्त क्या है ? पापी मैंने तो कई स्थानों पर आपकी खोज करने पर भी नहीं मिलने से आपकी मृत्यु हो गई है ऐसी कल्पना की थी। तब स्वच्छ हृदय वाले मुनि ने अपनी बात को निष्कपट भाव से जैसे बनी थी वैसे विस्तारपूर्वक कहा। उसे सुनकर वज्र परम विस्मय को प्राप्त कर और मुनि ने विविध युक्त वाले वचनों से उसे प्रतिबोध किया। इससे संसार प्रति उद्वेग होने से उसने सर्वज्ञ कथित स्वर्ग मोक्ष के हेतु-भूत गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया। उसे प्रयत्नपूर्वक निरतिचार पालन करने लगा और अत्यन्त भक्ति वाला वह उत्तम साधु वर्ग की प्रतिदिन सेवा करने लगा। वृद्धावस्था होने पर उसने अपने स्थान पर केसरी पुत्र को स्थापन किया और स्वयं श्रेष्ठ सविशेष धर्म कार्यों को करने लगा। परन्तु लम्बे प्रयास से प्राप्त किया जमीन में गाढ़ा हुआ गुप्त निधान को पूछने पर भी मूर्छावश पुत्र को नहीं कहता है। अपना आयुष्य को अति अल्प जानता हुआ भी हमेशा 'आज कहूँगा, कल कहूँगा' ऐसा कहता है और प्राणियों के उपद्रव बिना निर्जीव घर के एक विभाग में आराधना की अभिलाषा से वह पौषध करने द्वारा विविध परिकर्मणा अर्थात् चारित्र के अभ्यास को करता है। पुत्र भी पिता को अति वृद्ध समझकर बार-बार धन के विषय में पूछता है और पिता भी सामा-यिक में स्थिर रहता है।

परन्तु उसने कुछ भी नहीं बतलाया । ऐसा करते वह एक दिन मर गया और उसके दुःख से दुःखी और विमूढ़ मन वाला पुत्र बन गया । तथा पिता को उद्देश से कहने लगा—हा ! हा ! धरती में गुप्त रखकर तूने निधान का कोई उपयोग किए बिना निष्फल क्यों नाश किया ? हा ! पापी पिता ! तू पुत्र का परम बैरी हुआ । हे मूढ़ ! तेरे धर्म को भी धिक्कार हो और तेरे विवेक धन को भी धिक्कार होवे ! ऐसा विलाप करता हुआ मरकर वह भी तिर्यच गति में उत्पन्न हुआ । इस तरह धर्म की आराधना करने वाला भी वह निश्चय पुत्र के कर्म बन्धन का हेतुभूत बना । धर्मीजन को कोई भी कर्म बन्धन में निमित्त रूप बनना योग्य नहीं है । इसलिये ही त्रिभुवन गुरु श्री वीर परमात्मा इसी तरह तापसों का अप्रीति रूप जानकर वर्षाकाल में भी अन्यत्र विहार किया था । वही सत्पुरुष धन्य है और वही सत्यधर्म क्रिया को प्राप्त किया है कि जो जीवों के कर्म बन्धन का निमित्तरूप नहीं बतलाते हैं । इसलिए अनेक भव की वैर परम्परा नहीं होती है । इस कारण से प्रयत्नपूर्वक अधिकार पद पर स्थापन कर गृहस्थ को समाधिपूर्वक धर्म में प्रयत्न करना चाहिए । इस तरह पुत्र शिक्षा नामक यह दूसरा अन्तर द्वार पूर्ण हुआ । अब कालक्षेप नामक तीसरा अन्तर कहते हैं ।

तीसरा कालक्षेप द्वार :—पुत्र को अपने स्थान पर स्थापन करके पूर्व कहे अनुसार श्रावक अथवा राजा उस पुत्र की भी भावना जानने की इच्छा से यदि अमुक समय तक घर में रहने की इच्छा हो उसे पौषधशाला करवानी चाहिए ।

पौषधशाला कैसी और कहाँ करानी ? :—सर्व प्राणियों के उपद्रव से रहित प्रदेश में, अच्छे चारित्र्य पात्र मनुष्यों के रहने के पास में और स्वभाव से ही सौम्य, प्रशस्त एकान्त प्रदेश में, भाँड़ या स्त्रियों आदि के सम्पर्क से रहित हो, वह भी परिवार की अनुमति से प्रसन्न चित्त वाले होकर, वह भी विशुद्ध ईंट, पत्थर, काष्ठ आदि से करवाना चाहिए, अच्छी तरह से रगड़कर मुलायम स्थिर बड़े स्तम्भ वाला, अति मजबूत दो किवाड़ वाला, चिकनी समृद्धि वाली, अच्छी तरह घिसकर नरम मणियों से जुड़े हुए भूमितल वाली, पडिलेहण—प्रमार्जना सरलता से हो सके, अन्य मनुष्यों का प्रवेश होते ही आश्चर्य करने वाली, अनेक श्रावक रहे बैठ सके, तीनों काल में एक समान स्वरूप वाली, स्थण्डिल भूमि से युक्त, पापरूप महारोग से रोगी जीवों के पाप रोग का नाश करने वाली और सद्धर्म रूपी औषध की दानशाला हो ऐसी पौषधशाला तैयार करवानी चाहिए । अथवा स्वीकार किए धर्म कार्य निर्विघ्न से पूर्ण हो सकें

ऐसे योग्य किसी घर जो पूर्व में तैयार हुई मिल जाये तो उसे ही विशेष सुधार करवा दे और वही प्रशस्त धर्म का अर्थ चिन्तन में मन को स्थिर करके, पाप कार्यों का त्याग में उद्यमी बने, योग्य पात्र गुरु आदि को प्राप्त करके किसी समय पढ़ने में, किसी समय प्रश्न पूछने में तो किसी समय परिवर्तन में, किसी समय शास्त्रों के परमगूढ़ अर्थ के चिन्तन में (अनुप्रेक्षा में) किसी समय ध्यान में तो किसी समय वीरासन आदि अनुकूल आसन से आसन बंध द्वारा गात्र को संकोच करते मौन में, किसी समय भावनाओं के चिन्तन में तो किसी समय सद्धर्म के श्रवण द्वारा समाधि में इस तरह काल को व्यतीत करे और सिद्धान्त के महारहस्य रूपी मणियों के भंडार स्वरूप मुनि के प्रति सत्कार भक्ति वाला स्वयं उचित समय जाकर उनकी सेवा करे। तथा 'हे तात् ! कृपा करो, अनुग्रह करो और अब भोजन लेने मेरे घर पधारो।' इस तरह भोजन के समय पुत्र विनयपूर्वक निवेदन करे तब स्थिर मन वाला विधि से धीरे-धीरे चलते घर जाकर मूर्छा रहित भोजन करे तथा यदि सामर्थ्य हो तो आत्महित को चाहने वाला बुद्धिमान श्रेष्ठ वीर्य के वश सविशेष उद्यम वाला बनकर श्रावक की प्रतिमाओं को स्वीकार करे। मोह का नाश करने वाली श्री जैनेश्वरों ने 'दर्शन प्रतिमा' आदि श्रावक की संख्या से ग्यारह प्रतिमा कही हैं वह इस प्रकार हैं :-

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ :—(१) दर्शन प्रतिमा, (२) व्रत प्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) पौषध प्रतिमा, (५) प्रतिभा प्रतिमा, (६) अब्रह्म वर्जन प्रतिमा, (७) सचित्त वर्जन, (८) स्वयं आरम्भ वर्जन प्रतिमा, (९) प्रेष्य-नौकर वर्जन प्रतिमा, (१०) उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा, और (११) श्रमण भूत प्रतिमा। ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।

१. दर्शन प्रतिमा का स्वरूप :—पूर्व कहे अनुसार गुणरूपी रत्नों से अलंकृत वह महात्मा श्रावक प्रथम दर्शन प्रतिमा को स्वीकार करे और उस प्रतिमा में मिथ्यात्व रूपी मैल नहीं होने से दुराग्रहवश होकर उस सम्यक्त्व को कलंक लगे अल्प भी आचरण नहीं करे, क्योंकि उस दुराग्रह के साधना में मिथ्यात्व ही समर्थ है और इस प्रतिमाधारी धर्म में उपयोग शून्य न हो तथा विपरीत आचरण न करे तथा वह आस्तिक्य आदि गुण वाला, शुभ अनुबन्ध वाला एवम् अतिचार रहित होता है। यहाँ प्रश्न करते हैं कि :—पूर्व में जिस गुण समूह का प्ररूपण किया, ऐसे श्रावक को सम्यक्त्व होने पर भी पुनः यह दर्शन प्रतिमा क्यों कही ? इसका उत्तर देते हैं कि—इस दर्शन प्रतिमा में राजाभियोग आदि छह आगारों को सर्वथा त्याग है और आठ प्रकार के दर्शनाचार के सम्यक् रूप का सम्पूर्ण पालन करता है। इस तरह यहाँ पर

सम्यग्दर्शन की सविशेष प्राप्ति में मुख्य होने से श्रावक को प्रथम दर्शन प्रतिमा बतलाई है। फिर प्रश्न करते हैं कि—निसर्ग से या अधिगम से भी प्रगट हुआ शुभ बोध वाला जो आत्मा 'मिथ्यात्व यह देव, गुरु और तत्व के विषय में महान भ्रम को उत्पन्न करने वाला है।' ऐसा समझकर उसका त्याग करे और सम्यक्त्व को स्वीकार करे, उसे उसका स्वीकार करने का क्रम विधि क्या है ? इसका उत्तर— वह महात्मा दर्शन, ज्ञान आदि गुण रत्नों के रोहणा-चल तुल्य सद्गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके कहे कि—हे भगवन्त ! मैं आप श्री के पास जावज्जीव तक मिथ्यात्व का मन, वचन, काया से करना, करवाना और अनुमोदन का पच्यक्खान (त्याग) करके जावज्जीव तक संसार से सम्पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने में एक कल्पवृक्ष तुल्य सम्यक्त्व का सम्यक् रूप स्वीकार करता हूँ। आज से जब तक जीता रहूँगा तब तक भी सम्यक्त्व में रहते मुझे परम भक्तिपूर्वक ऐसा भाव प्राप्त हो। आज से अन्तर के कर्मरूप (शत्रुओं) को जीतने से जो अरिहंत बने हैं वे ही देव बुद्धि से मेरे देव हैं, मोक्ष साधक गुणों की साधना से जो साधु हैं वे ही मेरे गुरु हैं और निवृत्ति नगरी के प्रस्थान में निर्दोष पगडंडी जो श्री जैनेश्वर प्रभु कथित जीव-अजीवादि तत्त्वो-भय आगम ग्रन्थ हैं उसी में ही मुझे उपादयरूप श्रद्धा हो ! और उत्तम समाधि वाली, मन, वचन, काया की वृत्ति वाला मेरा प्रतिदिन तीनों संध्या के उचित पूजापूर्वक श्री जैनेश्वर भगवान को वन्दन हो और धर्म बुद्धि से मुझे लौकिक तीर्थों में स्नानदान या पिंडप्रदान आदि कुछ भी करना नहीं कल्पता, तथा अग्नि हवन, यज्ञ क्रिया, रहट आदि सहित हल का दान, संक्रान्ति दान, ग्रहण दान और कन्या फल सम्बन्धी कन्यादान, छोटे बछड़े की विवाह करना तथा तिल, गुड़ या सुवर्ण की गाय बनाकर दान देना अथवा हई का दान, प्याऊ का दान, पृथ्वी दान, किसी भी धातु का दान, इत्यादि दान तथा धर्मबुद्धि से अन्य भी दान मैं नहीं दूँगा। क्योंकि अधर्म में भी धर्मबुद्धि को करने से सम्यक्त्व प्राप्त किए को भी नाश करता है। सूत्र में जो बुद्धि के अविपर्यास—शुद्धि को समकित कहा है। वह भी पूर्व में कहे उन कार्यों में प्रवृत्ति करने वाले किस तरह योग्य हैं ? आज से मुझे मिथ्यादर्शनों में रागी देवों के देव और साधुओं को गुरु मानकर धर्मबुद्धि से उनका सत्कार, विनय, सेवा, भक्ति आदि करना योग्य नहीं है। उनके प्रति मुझे अल्प भी द्वेष नहीं है, और अल्प भक्ति भी नहीं है, परन्तु उनमें देव और गुरु के गुणों का अभाव होने से उदासीनता ही है।

ऐसा कौन बुद्धिमान होगा कि जो सुवर्ण का गाढ़ अर्थी होने पर भी सुवर्ण के गुण बिना की भी वस्तु को 'यह सुवर्ण है' ऐसा मानेगा ? असुवर्ण होने पर भी मनुष्य सुवर्ण मानकर स्वीकार करने पर अन्य सुवर्ण का प्रयोजन साधने में समर्थ हो सकता है। देव का देवत्व राग, द्वेष और मोह के अभाव के कारण होता है और वह रागादि अभाव उनका चरित्र, आगम और प्रतिमा को देखकर जान सकते हैं। विश्व में गुरु का गुरुत्व भी मुक्ति साधक गुण समूह का जीव है, उसका गौरवता प्राप्त करते हैं और शास्त्रार्थ का सम्यक् उपदेश देते हैं वही यथार्थ और प्रशंसनीय बनते हैं। इस तरह अपने-अपने लक्षण से देव गुरु का स्वरूप को स्पष्ट रूप में दिखने वाले मेरे हैं, उनके कहे हुए तत्त्वों को स्वीकार करना वह दर्शन प्रतिमा है, गुणों से श्रेष्ठ दुर्लभ द्रव्यों द्वारा सात क्षेत्र और चतुर्विध श्री संघ आदि दर्शन के अंगों का शक्ति अनुसार प्रकृष्ट गौरव बढ़ने द्वारा द्रव्य से शुद्ध होती है ! और सर्व क्षेत्रों में रहे हुए कमजोर और श्रेष्ठ के विभागपूर्वक सर्व देव और गुरुओं की विनयादि सेवा मुझे भाव से ही करनी है उसके द्वारा यह दर्शन प्रतिमा क्षेत्र से मेरा विशुद्ध हो ! यह सम्यक्त्व का जावज्जीव तक निरतिचार पालन करते वह काल विशुद्ध हो, और जब तक मैं दृढ़ शरीर से सशक्त और प्रसन्न हूँ तब तक भाव विशुद्ध हो ! अथवा शाकिनी, ग्रह आदि के दोष से मैं चेतन रहित अथवा उन्माद से व्याप्त चित्त वाला न बनूँ तब तक यह प्रतिमा भाव विशुद्ध हो ! अधिक क्या ? जब तक मेरा दर्शन प्रतिमा का परिणाम भाव किसी भी उप-धातवश नाश न हो वहाँ तक मेरी यह दर्शन प्रतिमा भाव विशुद्ध रहे। आज से मैं शंका, कांक्षा, वित्तिगिच्छा, अन्य दर्शन का तथा उसके शास्त्रों का परिचय तथा प्रशंसा ये पाँचों दोषों को जावज्जीवन तक त्याग करता हूँ। राजा, लोग समूह और किसी देव का बलजबरी (बलात्कार) हो, चोरादि बलवान का आक्रमण हो, आजीविका की मुश्किल हो और माता-पिता आदि पूज्यों का आग्रह हो, ये पाँच अभियोग मेरे इस प्रतिमा में आगार हैं। इस तरह प्रतिमा का अभिग्रह स्वीकार करने से सुन्दर श्रावक को भी, गुरु को भी उत्साहित करता है कि तू पुण्यकारक है, तू धन्य है, क्योंकि विश्व में जो धन्य हैं उन्हीं को नमस्कार हो ! वही चिरंजीव है और वही पण्डित है कि जो इस श्रेष्ठ सम्यक्त्व रत्न का निरतिचार पालन करता है। यह सम्यक्त्व ही निश्चय सर्व कल्याण का तथा गुण समूह का श्रेष्ठ मूल है, इस समकित बिना की क्रिया ईश्वर के पुष्प के समान निष्फल है। और क्रिया को भी करने वाला स्वजन धन भोग को छोड़ने वाला, आगे बढ़कर दुःखों को भोगने वाला, सत्त्वशाली भी

अन्ध जैसे शत्रु को नहीं जीत सकता, वैसे पाप कार्यों से निवृत्त होने वाला भी स्वजन, धन भोगों को छोड़ने वाला भी और परिषह-उपसर्गों को सहन करने वाला भी मिथ्या दृष्टि मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है। इस विषय पर अन्ध की कथा है वह इस प्रकार है :—

मिथ्यात्व पर अन्ध की कथा

बसन्तपुर नगर में रिपु मर्दन नामक राजा राज्य करता था। उसका प्रथम पुत्र अन्ध और दूसरा दिव्य चक्षु वाला था। राजा ने उन दोनों को अध्ययन के लिए अध्यापक को सौंपा। बड़ा पुत्र अन्ध होने से अध्यापक ने उसे संगीत वाजिन्त्र, नृत्य आदि और दूसरे को धनुर्वेद आदि सारी कलाएँ सिखायीं, फिर 'अपना अपमान हुआ' ऐसा मानकर अन्ध ने उपाध्याय से कहा—मुझे तू शस्त्रकला क्यों नहीं सिखाता? उपाध्याय ने कहा—अहो महाभाग! तू उद्यमी है, परन्तु चक्षुरहित तुझे मैं उस कला को किस तरह समझाऊँ? अन्ध ने पुनः कहा—यदि अन्ध हूँ तो भी अब मुझे धनुर्वेद पढ़ाओ। फिर उसके अति आग्रह से गुरु ने उसे धनुर्वेद का अध्ययन करवाया। उसने भी अति बुद्धिरूपी वैभव से वह धनुर्वेद ज्ञान प्राप्त किया और शब्दवेधी हुआ। किसी प्रकार से भी लक्ष्य को वह नहीं चूकता था। इस तरह वे दोनों पुत्र कलाओं में अति कुशल हुए।

एक समय वहाँ शत्रु की सेना आई, तब श्रेष्ठ सेना से शोभायमान, युद्ध करने का कुशल अभ्यासी छोटा पुत्र पिता की आज्ञा से शत्रु की सेना को जीतने चला, तब बड़े भाई विद्यमान होने पर भी छोटे भाई को ऐसा करना कैसे योग्य है? ऐसा कहकर अति क्रोध को धारण करते मत्सरपूर्वक शत्रु सेना को जीतने जाते अन्ध को पिता ने समझाया कि—हे पुत्र! अपनी ऐसी अवस्था में जाना योग्य नहीं है। कला में अति कुशलता है बल वाला, दो भुजा अति बलवान हैं तो भी नेत्र बिना का होने से तू युद्ध करने योग्य नहीं है। इत्यादि अनेक वचनों द्वारा कई बार अनेक प्रकार से रोका, फिर भी वह अन्धा उसका अपकार करके मजबूत बख्तर से शरीर को सजाकर गंड स्थल से मदोन्मत्त और मजबूत पलान का आडम्बर करने से भयंकर और श्रेष्ठ हाथी के ऊपर चढ़कर शीघ्र नगर से निकला और शब्द के अनुसार बाणों के समूह को फेंकते सर्व दिशाओं को भर दिया। इस प्रकार वह शत्रु सेना के साथ युद्ध करने लगा। फिर चारों ओर से शब्द के अनुसार आये हुए समूह प्रहार को देखकर, उसके कारण को जानकर शत्रुओं ने मौन धारण किया। इससे शत्रु के शब्द को

नहीं सुनने से और उससे प्रहार को नहीं करते अन्धे के शत्रुओं ने मौनपूर्वक सर्व दिशाओं से प्रहार करने लगे। तब चक्षु वाला छोटा भाई शीघ्र वहाँ आया और उसे महामुसीबत से बचाया। इस दृष्टान्त का उपनय तो यहाँ पूर्व में ही कह दिया है। अब प्रस्तुत को कहते हैं कि—इस कारण से गृहस्थ सर्वप्रथम जावज्जीव तक का सम्यग्दर्शन उच्चारण कर फिर निरतिचार दर्शन प्रतिमा को स्वीकार करे और उसका सम्यग् परिपालन करके उन गुणों से युक्त वह पुनः दूसरी व्रत प्रतिमा को स्वीकार करे।

२. व्रत प्रतिमा का स्वरूप :—इस प्रतिमा में प्राणिबध असत्य भाषण, अदत्त ग्रहण, अब्रह्म सेवन और परिग्रह, इसकी निवृत्ति रूप व्रतों को ग्रहण करे और उसके बध आदि अतिचार को छोड़कर तथा प्रयत्नपूर्वक इस धर्म श्रवण आदि कार्यों में सम्यक् सविशेष प्रवृत्ति करे एवं वह हमेशा अनुकम्पा भाव से वासित बनकर अन्तःकरण के परिणाम वाला बने। उसके पश्चात् पूर्व कहे अनुसार सम्यक्त्वादि गुणों से शोभित और श्रेष्ठ उदासीनता से युक्त वह महान् आत्मा तीसरा सामायिक प्रतिमा को स्वीकार करे।

३. सामायिक प्रतिमा :—इस प्रतिमा में (१) उदासीनता, (२) माध्यस्थ, (३) संकलेश की विशुद्धि, (४) अनाकूलता, और (५) असंगताएँ, ये पाँच गुण कहे हैं। इसमें—जो कोई और जैसा तैसा भी भोजन, शयन आदि से चित्त में जो सन्तोष हो उसे उदासीनता कहते हैं। यह उदासीनता संकलेश की विशुद्धि का कारण होने से श्री जैनेश्वर भगवान ने उसे सामायिक का प्रथम मुख्य अंग कहा है। अब माध्यस्थ को कहते हैं—यह मेरा स्वजन है अथवा यह पराया है। ऐसी बुद्धि तुच्छ प्रकृति वालों को स्वभाव से ही होता है। स्वभाव से उदार मन वाले को तो यह समग्र विश्व भी कुटुम्ब है, क्योंकि अनादि अनन्त इस संसार रूप महासरोवर में परिभ्रमण करते और कई सैंकड़ों भवों का उपाजन करने के द्वारा कर्म समूह के आधीन हुये जीवों ने इस संसार में परस्पर किसके साथ अथवा कौन-कौन से अनेक प्रकार के सम्बन्ध नहीं किये? ऐसा जो चिन्तन या भावना हो वह माध्यस्थ है। जिसके साथ रहे, उसके और अन्य के भी दोषों को देखने पर भी क्रोध नहीं करना, वह संकलेश विशुद्ध जानना। तथा खड़े रहने में, या चलने में, सोने में, जागने में, लाभ में या हानि आदि में हर्ष-विवाद का अभाव हो वह अनाकूलता जानना। सोने या मिट्टी में, मित्र या शत्रु में, सुख और दुःख में, वीभत्स और दर्शनीय वस्तु में, प्रशंसा या निन्दा में और भी अन्य विविध मनोविकार (राग-द्वेष) के कारण आयें तो भी सदा जो समय

चित्तता रखता है, उसे जगत्गुरु ने असंगता कही है। ये पाँच गुणों का समुदाय वह उत्कृष्ट सामायिक है, अथवा उन सर्व का कारणभूत एक उदासीनता गुण प्राप्त करना वही परम सामायिक है। अधिक क्या कहें ? सावधयोगों का त्यागरूप और निरवध योगों के आसेवन रूप इत्वरिक अर्थात् परिमित काल तक का सामायिक वह गृहस्थ का उत्कृष्ट गुण स्थान है। इस तरह तीसरी प्रतिमा में गृहस्थ सम्यक् सामायिक का पालन करे तथा उसमें मनो दुष्प्राणि-धान आदि अतिचारों का त्याग करे।

४. पौषध प्रतिमा :—चौथी प्रतिमा में पूर्व की प्रतिमाओं का पालन करते हुये गृहस्थ श्रावक अष्टमी, चतुदशी आदि पूर्व दिनों में चार प्रकार की पौषध को स्वीकार करे। इस प्रतिमा में 'अप्रति लेखित—दुष्प्रति लेखित, शय्या—संस्तारक' आदि अतिचारों को त्याग करे और आहार आदि का सम्यग् अनुपालन अर्थात्—राग, स्वाद आदि अनुकूलता को त्याग कर पौषध करे।

५. प्रतिमा प्रतिमा :—फिर पूर्व की प्रतिमाओं के अनुसार सर्व गुण वाला वह पाँचवीं प्रतिमा में, चौथी प्रतिमा में कहे अनुसार दिन में पौषध कर और सम्पूर्ण रात्री तक काउत्सर्ग ध्यान करे और प्रतिमा पौषध बिना दिनों में स्नान नहीं करे, दिन में ही भोजन करे, कच्छा नहीं लगाये, दिन में सम्पूर्ण ब्रह्म-चारी और रात्री में भी प्रमाण करे, इस तरह प्रतिमा में स्थिर रहा गृहस्थ पाँच महीने तीन लोक में पूज्यनीय, कषायों को जीतने वाले श्री जैनेश्वर देव का ध्यान करे अथवा अपने दोषों को रोकने के उपाय का ध्यान अथवा अन्य ध्यान करना।

६. अब्रह्मवर्जन प्रतिमा :—छठी प्रतिमा में रात्री के अन्दर भी ब्रह्म-चारी रहे, इसके अतिरिक्त विशेष रूप में मोह को जीतने वाला, शरीर शोभा रहित वह स्त्रियों के साथ एकान्त में न रहे, और पूर्व कही हुई प्रतिमाओं में लक्ष्यबद्ध मन वाला, अप्रमादी वह छह महीने तक प्रगट रूप स्त्रियों का अति परिचय और शृङ्गार की बातें आदि का भी त्याग करे।

७. सचित्त त्याग प्रतिमा :—पूर्व की प्रतिमा में कहे अनुसार गुण वाला अप्रमादी गृहस्थ सातवीं प्रतिमा में सात महीने तक सचित्त आहार का त्याग करे और अचित्त का ही उपयोग करे।

८. आरम्भवर्जन प्रतिमा :—पूर्व आराधना के साथ आठ महीने तक आजीविका के लिए पूर्व में आरम्भ किए भी सावध आरम्भ का स्वयं नहीं करे, नौकर द्वारा करवाये ।

९. प्रेष्यवर्जन प्रतिमा :—नौ महीने तक पुत्र या नौकर के ऊपर घर का भार छोड़कर लोक व्यवहार से भी मुक्त श्रावक परम संवेगी पूर्व की प्रतिमाओं में कहे हुये गुण वाला और प्राप्त हुए धन में सन्तोषी, नौकर आदि द्वारा भी पाप आरम्भ कराने का त्याग करना ।

१०. उद्दिष्टवर्जन प्रतिमा :—दसवीं प्रतिमा के अन्दर कोई क्षौर से मुण्डन करावे अथवा कोई चोटी रखे । ऐसा गृहस्थ दस महीने तक पूर्व की सर्व प्रतिमा का पालन करते जो उसके उद्देश—निमित्त से आहार, पानी आदि भोजन तैयार किया हो, उसे भी उपयोग न करे अर्थात् खाये नहीं । और स्वजन आदि निधान लेन-देन आदि के विषय में पूछे तो स्वयं जानता हो तो कहे, अन्यथा मौन रहे ।

११. श्रमणभूत प्रतिमा :—ग्यारहवीं प्रतिमा में यह प्रतिमाधारी क्षौर-कर्म अथवा लोच से भी मुण्डन मस्तक वाला रजोहरणादि उपकरणों—वेश को धारण कर और साधु समान होकर दृढ़तापूर्वक विचरण करे । केवल स्वजनों का ऐसा स्नेह किसी तरह खत्म नहीं होने से किसी परिचित गाँव आदि में अपने स्वजनों को देखने मिलने वह जा सकता है । वहाँ भी साधु के समान ऐषणा समिति में उपयोग वाला वह किया, करवाया और अनुमोदन बिना का निर्दोष आहार को ही ग्रहण करे, उसमें भी गृहस्थ को वहाँ जाने के पहले तैयार किया हुआ भोजन, सूप आदि लेना उसे कल्पता है । परन्तु बाद में तैयार किया हुआ हो तो वह आहार उसे नहीं कल्पता है । भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करते—अरे ! प्रतिमाधारी श्रमणोपासक गृहस्थ मुझे भिक्षा दो ।' ऐसा बोलना चाहिए । ऐसा विचरते तुझे अन्य कोई पूछे कि—'तू कौन है ?' तब 'मैं श्रावक की प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक हूँ ।' ऐसा उत्तर देना चाहिए । इस तरह ग्यारहवीं प्रतिमा में उत्कृष्ट से ग्यारह महीने तक विचरण करे । जघन्य से तो शेष प्रतिमाओं एक दो दिन आदि का भी पालन कर सकता है । ये प्रतिमा पूर्ण हों तब धीरे से कोई आत्मा दीक्षा को भी स्वीकार करे, अथवा दूसरे पुत्र आदि के राग से गृहस्थ जीवन स्वीकर करे, और घर रहते हुये भी वह प्रायः पाप व्यापार से मुक्त रहे । अपने धन का सामर्थ्य हो तो जीर्ण जैन मन्दिरों आदि का सार सम्भाल लेना चाहिए और अपना ऐसा

सामर्थ्य न हो तो साधारण को खर्च करके भी उसकी चिन्ता सार सम्भाल करे। केवल साधारण द्रव्य के खर्चने के दस स्थान बतलाये हैं। वह इस प्रकार हैं :—

साधारण द्रव्य खर्च के दस स्थान :—(१) जैन मन्दिर, (२) जैन बिम्ब, (३) जैन बिम्बों की पूजा, (४) जैन वचनयुक्त जैताभसन रूप प्रशस्त पुस्तकें, (५) मोक्षसाधक गुणों के साधने वाले साधु, (६) इसी प्रकार की साध्वी, (७) उत्तम धर्मरूपी गुणों को प्राप्त करने वाले सुश्रावक, (८) इसी प्रकार की सुश्राविकाएँ, (९) पौषधशाला उपाश्रय, और (१०) इस प्रकार का सम्यग्दर्शन का शासन संघ आदि किसी प्रकार का धर्म कार्य हो तो उसमें ये दस स्थानक में साधारण द्रव्य को खर्च करना योग्य है। उसमें जैन मन्दिर में साधारण द्रव्य को खर्च करने की विधि इस प्रकार की—

१. जैन मन्दिर :—सूत्रानुसार अनियत विहार के क्रम से नगर, गाँव आदि में अनुक्रम से मास कल्प, चौमासी कल्प से या नवकल्पी विहार से विचरते, द्रव्य, क्षेत्र, काल में भाव आदि में राग रहित, साधु तथा व्यापार अथवा तीर्थयात्रा के लिए गाँव, आकार, नगर आदि में प्रयत्नपूर्वक परिभ्रमण करते आगम रहस्यों को जानकार तथा श्री जैन शासन के प्रति परम भक्ति वाला श्रावक भी जाते हुये रास्ते में गाँव आदि आये तो जैन मन्दिर आदि धर्म स्थानक जानने के लिए गाँव के दरवाजे पर किसी को पूछ ले। और उसके कहने से वहाँ 'जैन मन्दिर आदि हैं' ऐसा सम्यग् रूप जानकारी हो तब हर्ष के समूह से रोमांचित शरीर वाला वह विधिपूर्वक उस गाँव आदि में जाये। यदि स्थिरता हो तो प्रथम ही वहाँ चैत्य वन्दन आदि यथोक्तव विधि करके जैन मन्दिर में दूट-फूट आदि देखे, और उत्सुकता हो तो संक्षेप से भी वन्दन करके उसके दूटे हुये भाग को देखे और विशेष दूटा-फूटा हो तो उसकी चिन्ता करे। अपनी सामर्थ्य हो तो श्रावक ही करे। मुनि भी निश्चय ही उस सम्बन्धी उपदेश देकर यथायोग्य चिन्ता करे। अथवा स्वदेश में अथवा परदेश में अच्छेचारित्र पात्र अन्य लोगों से भरा हुआ भी श्रावक बिना का हो, अथवा वहाँ के श्रावक धन आदि से अति दुर्बल हों, परन्तु रहने वाले अन्य मनुष्य पुण्योदय से चढ़ते कला वाले हों, ऐसे गाँव, नगर आदि स्थानों में जो जैन मन्दिर जीर्ण-शीर्ण हों अथवा दिवाल आदि का सन्धि स्थान दूट गया हो, या दरवाजे, देहली आदि अति क्षीण हो गये हों, उसके उपदेशक मुनियों के अथवा अन्य लोगों के मुख से सुनकर अथवा ऐसा किसी भी, कहीं पर भी देखकर श्री जैन

शासन के भक्ति राग से सात धातुओं का अनुरागी श्रावक स्वयं विचार करता है कि—अहो ! मैं मानता हूँ कि—किसी पुण्य का भण्डार रूप गृहस्थ ने ऐसा सुन्दर जैन मन्दिर बनाकर अपना यश विस्तार को एकत्रित करके यह मन्दिर रूप स्थापन किया है। किन्तु इस तरह मजबूत बनाने पर भी खेदजनक बात है कि कालक्रम से जीर्ण-शीर्ण हो गया है, अथवा तो संसार में उत्पन्न होते सर्व पदार्थ नाशवान हैं ही, इसलिए अब मैं इसे तोड़-फोड़ करवाकर श्रेष्ठ बनवाऊँ। ऐसा करने से यह मन्दिर संसाररूपी खाई में गिरते हुए मनुष्य के उद्धार के लिए हस्तावलम्बन बनेगा। ऐसा विचार कर यदि वह स्वयमेव तैयार कराने वाला शक्तिशाली हो तो स्वयं ही उद्धार करे और स्वयं में शक्ति यदि न हो तो उपदेश देने में कुशल वह अन्य भी श्रावकों को वह हकीकत समझाकर उसे सुधारने का स्वीकार करवाये। इस प्रकार जैसे स्वयं वैसे वह भी उद्धार कराने में यदि असमर्थ हो और यदि दूसरा भी कोई प्रस्तुत वह कार्य करने में समर्थ न हो तो ऐसे समय पर उस मन्दिर का साधारण द्रव्य से खर्च कर उद्धार करवाये। क्योंकि बुद्धिमान श्रावक निश्चय साधारण द्रव्य को इधर-उधर नहीं खर्च करे। और जीर्ण मन्दिर आदि नहीं रहता है, इसलिए अन्य के पास से भी द्रव्य प्राप्त करने का यदि सम्भव न हो तो विवेक से साधारण द्रव्य भी खर्च कर, वह इस प्रकार से—

जीर्ण मन्दिर को नया तैयार करे, चलित को पुनः स्थिर करे, खिसक गये को पुनः वहाँ स्थापना करना, और सड़े हुए को भी पुनः नया जोड़ देना, गिरे हुये को पुनः खड़ा करना, लेप आदि न हो तो उसका लेप करवाना, चूना उतर गया हो तो उसे फिर से सफेदी करवाए, और ढक्कन आदि न हो तो उसे ढकवाये। इसके अतिरिक्त कलश, आमलसार, पात स्तम्भा आदि उसके सड़े गिरे जो जो अंग को तथा पड़े, टूटे या छिद्र गिरे किल्ले को अथवा उसका अंगभूत अन्य कोई भी जो कोई अति अव्यवस्थित देखे वह सर्व श्रेष्ठ प्रयत्न से अच्छी तरह तैयार करवाए। क्योंकि साधारण द्रव्य से भी उद्धार करने से जैन मन्दिर दर्शन करने वाले गुण रागी निश्चय बोधि लाभ के लिये होता है। यद्यपि जैन मन्दिर करने में निश्चय ही पृथ्वीकाय आदि जीवों का विनाश होता है, तो भी समकित दृष्टि को नियम से उस विषय में हिंसा का परिणाम नहीं होता, परन्तु अनुकम्पा का (भक्ति का) परिणाम होता है। जैसे कि—जैन मन्दिर को करवाने से अथवा जीर्णोद्धार करवाने से उसका दर्शन करने वाले भव्यताबोध प्राप्त कर सर्व विरती चारित्र्य को प्राप्त कर पृथ्वीकायादि जीवों की रक्षा करता है। और इससे वह निर्वाण पद मोक्ष प्राप्त करता है,

वह सादि अनन्त काल तक संसारी जीवों को दुःख बाधायें नहीं करता है। इस तरह जैन मन्दिर बनाने में अहिंसा की सिद्धि होती है। जैसे रोगी को अच्छी तरह प्रयोग से नस छेदन आदि वैद्य क्रिया में पीड़ा होती है, परन्तु परिणाम से सुन्दर लाभदायक होता है, वैसे ही छह काय की विराधना होते हुये भी परिणाम से इसका फल अति सुन्दर मिलता है। इस तरह प्रथम जैन मन्दिर द्वार कहा। अब जैन बिम्ब द्वार कहते हैं :—

२. जैन बिम्ब द्वार :—इसमें किसी गाँव, नगर आदि में सर्व अंगों से अखण्ड जैन मन्दिर है, किन्तु उसमें जैन बिम्ब नहीं हो, क्योंकि—पूर्व में किसी ने उसका हरण किया हो अथवा तोड़ दिया हो अथवा अंगों से खण्डित हुई हो तो पूर्व में कहे विधि अनुसार स्वयं अथवा दूसरे भी सामर्थ्य के अभाव में साधारण द्रव्य भी लेकर सुन्दर जैन बिम्ब को तैयार करा सकता है। चन्द्र समान सौम्य शान्त आकृति वाला और निरूपम रूप वाला जैन बिम्ब (प्रतिमा) तैयार करवाकर ऊपर कहे जैन मन्दिर में उसके उचित विधि से प्रतिष्ठित करे। उसे देखकर हर्ष से विकसित रोमांचित वाले कई गुणानुरागी को बोधि-लाभ की प्राप्ति होती है और कई अन्य जीव तो उसी भव में ही जैन दीक्षा को भी स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि वह गाँव, नगर आदि अनार्य पापी लोगों से युक्त हो, वहाँ के रहने वाले पुरुषों की दशा पड़ती हो अथवा वह गाँव आदि देश की अन्तिम सीमा में हो, श्रावक वर्ग से रहित हो, वहाँ जैन मन्दिर जर्जरित हो गया हो, फिर भी उसमें जैन बिम्ब सर्वांग सुन्दर अखण्ड और दर्शनीय हो तो वहाँ अनार्य, मिथ्यात्वी, पापी लोगों द्वारा आशातना आदि दोष लगने के भय से उस जीर्ण जैन मन्दिर में से भी जैन बिम्ब को उत्थापन करके अन्य उचित गाँव, नगर आदि में ले जाकर प्रतिष्ठित करे और इस तरह परिवर्तन की सामग्री का यदि स्वयं के पास या अन्य के पास से भी मिलने का अभाव हो तो साधारण द्रव्य से भी यथायोग्य उस सामग्री के उपयोग में लगाये। ऐसा करने से बोधिबीज का आदि क्या-क्या लाभ नहीं होता ? अर्थात् इससे अनेक लाभ होते हैं। इस तरह जैन बिम्ब द्वार कहा। अब जैन पूजा द्वार कहते हैं :—

३. जैन पूजा द्वार :—इसमें सदाचारी मनुष्यों से युक्त इत्यादि गुणों वाले क्षेत्रों में जैन मन्दिर दोष रहित सुन्दर हो और जैन बिम्ब भी निष्कलंक श्रेष्ठ हो। किन्तु वहाँ रकाबी, कटोरी आदि की पूजा की कोई सामग्री वहाँ नहीं मिलती हो तो स्वयं देखकर अथवा पूर्व कहे अनुसार सुनकर, उस नगर,

गाँव आदि के सर्व मुख्य व्यक्तियों को एकत्रित करके साधु अथवा श्रावक भी अति चतुरता के साथ—युक्ति संगत मधुर वचनों से उनको समझाए कि—यहाँ अन्य कोई नहीं, तुम ही एक परम धन्य हो कि जिसके गाँव या नगर में ऐसा सुन्दर भव्य रचना वाला प्रशंसनीय, मनोहर, मन्दिर और जैन विम्बों के दर्शन होते हैं और तुम्हारे सर्व देव सम्यक् पूजनीय हैं, सर्व श्री सम्यक् वन्दनीय हैं और सर्व भी पूजा करने योग्य हैं, तो यहाँ पर अब पूजा क्यों नहीं होती ? तुम्हें देवों की पूजा करने में अन्तराय करना योग्य नहीं है, इत्यादि वचनों से उन्हें अच्छी तरह समझाये, आग्रह करे। फिर भी वे यदि नहीं मानें और दूसरे से भी पूजा का सम्भव न हो तो साधारण द्रव्य को भी देकर वहाँ रहते माली आदि अन्य लोगों के हाथ में भी पूजा, धूप, दीप और शंख बजाने की व्यवस्था करे। ऐसा करने से अपने स्थान का अनुरागी बनता है। वहाँ रहने वाले भव्य प्राणियों को निश्चय घर के प्रारंग में ही कल्पवृक्ष बोलने जैसी प्रसन्नता होती है और परम गुरु श्री जिनेश्वरों की प्रतिमाओं में पूजा का अतिशय देखकर सत्कार आदि प्रगट होता है, इससे जीवों के बोधिजीव प्राप्ति होती है। इस तरह पूजा द्वार को संक्षेप से सम्यक् रूप कहा, अब गुरु के उपदेश से पुस्तक द्वार को भी कहते हैं :—

४. आगम पुस्तक द्वार :—इसमें अंग उपांग सम्बन्धी अथवा चार अनु-योग के उपयोगी, योनि प्राभृत, ज्योतिष, निमित्त शास्त्र आदि के रहस्यार्थ वाला, अथवा अन्य भी जो शास्त्र श्री जैन शासन की महा उन्नति करने वाला और महागूढ़ अर्थ वाला हो, उसे नाश होते स्वयं देखे अथवा दूसरे के मुख से सुने। परन्तु उसे लिखने में स्वयं असमर्थ हो, दूसरा भी उसे लिखाने में कोई नहीं हो तो ज्ञान की वृद्धि के लिए उसे साधारण द्रव्य से भी लिखाना चाहिए। तीन या चार लाइन से ताडपत्र के ऊपर अथवा बहुत लाइन से कागज के ऊपर विधिपूर्वक लिखवाकर उन पुस्तकों को, जहाँ अच्छा बुद्धिमान संघ हो, ऐसे स्थान पर रखना चाहिये। तथा जो पढ़ने में एवम् याद रखने में समर्थ प्रभावशाली, भाषा में कुशल प्रतिभा आदि गुणों वाले मुनिराज हों, उन्हें विधिपूर्वक अर्पण करे और आहार, बस्ती, वस्त्र आदि का दान देकर शासन प्रभावना के लिए उसकी वाचना विधि करे, अर्थात् श्रेष्ठ मुनियों से पढ़ाए और स्वयं सुने। इस तरह आगम का उद्धार करने वाले तत्त्व से, मिथ्या दर्शन वालों से, शासन को पराभव होते रोक सकते हैं। नया धर्म प्राप्त करने वाला, धर्म में स्थिरता प्राप्त करवाकर, चारित्र्य गुण की विशुद्धि की है। इस तरह श्री जैन शासन की रक्षा की भव्य प्राणियों की अनुकम्पा भक्ति की

और जीवों को अभयदान दिया। अर्थात् जो-जो उपकार होता है वह सर्व शास्त्रों से ही होता है, ऐसा मानना चाहिए। अतः इस कार्य में शक्ति अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस तरह पुस्तक द्वार पूर्ण हुआ। अब साधु साध्वी द्वार को कहते हैं :—

५. साधु द्वार :—इसमें मुनि पुंगव को संयम के लिए वस्त्र, आसन, पात्र, औषध, भेषज आदि भी उत्सर्ग मार्ग में सचित्त का अचित्त करना, खरीद करना या पकवाना। ये तीनों क्रिया साधु के लिए करना, करवाना या अनुमोदन नहीं किया हो, ऐसा नौ कोटि विशुद्ध देना चाहिये। क्योंकि—जो संयम की पुष्टि के लिए ही साधु को दान देता है तो इस तरह उनके लिए पृथ्वी का आदि की हिंसा करना वह कैसे योग्य गिना जाये? यदि दिनचर्या में कहा है कि—संयम निर्वाह में रुकावट न आती हो, तो भी अशुद्ध दोषित वस्तु का दान रोगी और वैद्य के समान लेने वाला और देने वाला दोनों का अहितकर है। और संयम निर्वाह नहीं होता हो तब वही वस्तु लेने वाला, देने वाला दोनों को हित करता है। परन्तु जब उपधि वस्त्रादि को चोर चोरी कर गया हो, अति गाढ़ बिमारी या दुष्काल हो इत्यादि अन्य भी अपवाद समय पर सर्व प्रयत्न करने पर भी यदि निर्दोष वस्त्र, आसन आदि की और औषध, भेषज आदि की प्राप्ति नहीं होती हो तो अपने या दूसरे के धन की शक्ति से साधु के लिए खरीद करना अथवा तैयार किया आदि दोषित भी दे और दूसरा भी वैसी शक्ति सम्पन्न न हो तो ऐसे समय पर वह साधारण द्रव्य से भी सम्यग् रूप दे और दोषित छोड़ने वाले साधु भी उसे अनादर से स्वीकार करे। क्योंकि—मुनियों को संयम निर्वाह शक्य हो तब उत्सर्ग से जो द्रव्य लेने का निषेध है, वह सर्व द्रव्य भी किसी अपवाद के कारण लेना कल्पता है। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—‘जिसको पूर्व में निषेध किया, उसी को ही पुनः वही कल्पता है।’ ऐसा कहने से तो अनावस्था दोष लगता है और इससे नहीं तीर्थ रहेगा, या न तो सत्य रहेगा। यह दर्शन शास्त्र तो निश्चय उन्मत्त वचन समान माना जायेगा। अकल्पनीय हो वह कल्पनीय नहीं हो सकता है, फिर भी यदि इस तरह से तुम्हारी सिद्धि होती हो तो ऐसी सिद्धि किसको नहीं हो? अर्थात् सर्व को सिद्धि हो जाये।

इसका उत्तर आचार्य श्री कहते हैं कि—श्री जिनेश्वर भगवान ने अब्रह्म बिना एकान्त कोई आज्ञा नहीं दी है और एकान्त कोई निषेध नहीं किया है। उनकी आज्ञा यह है कि—प्रत्येक कार्य में सत्यता का पालन करना, माया नहीं

करना । और रागी को औषध के समान जिससे दोषों-रोग को रोक सकता है । और जिससे पूर्व कर्मों को क्षय होता है वह उस मोक्ष (आरोग्यता) का उपाय जानना ! उत्सर्ग सरल राजमार्ग है और अपवाद उसका ही प्रतिपक्षी है । उत्सर्ग से जो सिद्ध नहीं हो उसे अपवाद मार्ग सहायता देकर स्थिर करता है । अर्थात् जो उत्सर्ग का विषय नहीं हो उसे अपवाद सहायता से सिद्ध करता है । मार्ग को जानने वाला भी कारणवश उजड़ मार्ग में दौड़ने वाला क्या पैर से नहीं चलता है ? अथवा तीक्ष्ण कठोर क्रिया को सहन नहीं करने वाला, सामान्य क्रिया करने वाला, वह क्या क्रिया नहीं करता है ? जैसे ऊँचे की अपेक्षा से नीचा और नीचे की अपेक्षा ऊँचे की प्रसिद्धि है, वैसे एक-दूसरे की प्रसिद्धि प्राप्त करते उत्सर्ग और अपवाद मार्ग दोनों भी बराबर हैं । कहा है कि जितने उत्सर्ग हैं उतने ही अपवाद हैं और जितने अपवाद हैं उतने ही उत्सर्ग मार्ग हैं । ये उत्सर्ग और अपवाद मार्ग दोनों अपने-अपने स्थान पर बलवान हैं, और हितकर बनते हैं, और स्वस्थान पर स्थान को वे विभाग करते हैं । वह उस वस्तु से अर्थात् वह उस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुषादि की अपेक्षा निर्णित होता है । उत्सर्ग से निर्वाह कर सके, ऐसे उत्सर्ग रूप विधान किया है, वह अपने स्थान और निर्बल को वह उत्सर्ग विधान पर स्थान कहलाता है । इस तरह अपने स्थान अथवा परस्थान कोई भी द्रव्यादि वस्तु कारण बिना निरपेक्ष नहीं होता है । अपवाद भी ऐसा वैसा नहीं है, परन्तु स्थिर वास रहता है और उसे भी निश्चय गीतार्थ ने पुष्ट गाढ़ कारण बतलाया है । इस विषय पर अधिक कहने से क्या ? अब प्रस्तुत विषय को कहते हैं । शुद्ध वस्त्र आदि की प्राप्ति होती हो तब पूर्व में गाढ़ कारण से अशुद्ध लिए हो उसे विधिपूर्वक त्याग करे (परठ दे), निरोगी होने के पश्चात् बीमारी आदि के कारण भी जो-जो अन्न औषध आदि अशुद्ध उपयोग लिया हो, उसका प्रायश्चित्त स्वीकार करे ।

६. साध्वी द्वार :—इस तरह साधु द्वार कहा है, उसी तरह साध्वी द्वार भी जान लेना । केवल स्त्रीत्व होने से उनको उपाय बहुत होते हैं । आर्याएँ परिपक्व स्वादिष्ट फलों से भरी हुई बेर वृक्ष समान हैं, इसलिए वह गुप्ति रूपी वाड द्वारा रक्षण धिरी हुई भी स्वभाव से ही सर्वभोग होती है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक हमेशा सर्व प्रकार से रक्षण करने योग्य है, यदि उनका किसी शत्रु द्वारा अथवा दुराचारी व्यक्तियों से अनर्थ होता हो तब अपना सामर्थ्य न हो तो साधारण द्रव्य का खर्च करके भी संयम में विघ्न करने वाले निमित्त को

सम्यग् नाश करना चाहिए और उसकी रक्षा करनी चाहिये । इस तरह साध्वी द्वार कहा । अब श्रावक द्वार कहते हैं :—

७. श्रावक द्वार :—इसमें श्रावक यदि धर्म में अनुरागी चित्त वाला हो, धर्म अनुष्ठानों में तल्लीन रहता हो और श्रेष्ठ गुण वाला होते हुये भी यदि किसी तरह आजीविका में मुश्किल होती हो, तो उसमें व्यापार कला हो तथा यदि वह धन का गलत कार्यों में नाश करने वाला न हो, तो कोई भी व्यवस्था करके साधारण द्रव्य से भी व्यापार के लिए उसे मूल राशि दे, और वह व्यापार की कला से रहित हो, तो भी उसे आवश्यकता से आधा या चौथा भाग आदि आजीविका के लिये दे, अथवा यदि वह व्यसनी, झगड़े करने वाला अथवा चुगल खोर न हो, चोर या लंपट आदि अवगुण न हो, शुद्ध, स्वीकार की बात को पालन करने वाला, दाक्षिय गुण वाला और विनय रूपी धन वाला विनीत हो तो उसे ही नौकर के कार्य में अथवा अन्य किसी स्थान करना चाहिए । समान धर्मों अर्थात् सार्धमिक भी निश्चय ही विपरीत उन गुणों से रहित हो, उसे रखने से अवश्य ही लोग में अपनी और शासन की भी निन्दा होने का सम्भव है ।

८. श्राविका द्वार :—श्रावक द्वार के समान श्राविका द्वार भी इसी तरह जानता । केवल आर्याओं के समान उनकी भी चिन्ता विशेषतया करनी चाहिए । इस तरह करसे से धीर उस श्रावक ने श्री जैन शासन का अविच्छेदन रूप रक्षण के लिए परम प्रयत्न किया है, ऐसा मानना चाहिए । अथवा ऐसा करने से उसको सम्यक्त्वादि गुणों का पक्षपाती माना जाता है और उसके द्वारा ही सर्वज्ञ शासन भी प्रभावित हुआ गिना जायेगा । इस द्वार में प्रसंग अनुसार सार्धमिक के प्रति कैसा व्यवहार करना उसे कहते हैं ।

सार्धमिक के प्रति व्यवहार :—स्वजन परजन के विचार बिना समान जाति वाला या उपकारी आदि की अपेक्षा बिना ही 'साथ में धर्म करने वाला होने से यह मेरा धर्म बन्धु है' । इस तरह नित्य विचार करते श्रावक धर्म, आराधना की समाप्ति, पुत्र जन्म, विवाह आदि के समय पर सार्धमिक बन्धुओं का सस्मरण करे, आमन्त्रण देकर स्वामी वात्सल्य करे, उनको देखते ही सकुशल वार्तादि सम्भाषण करे और सुपारी आदि फलों से सत्कार सम्मार्ग करे । रोगादि में औषधादि से प्रतिकार कर सेवा करे, मार्ग में चलने से थक जाने से अंग मर्दन आदि करे, विश्रान्ति दे, उनके सुख में अपने को सुखी माने, उनके गुणों की प्रशंसा करे, अपराध-दोष को छिपाए, व्यापार में कमजोर हो,

उसे अधिक लाभ हो, ऐसा व्यापार में जोड़ दे, धर्म कार्यों का स्मरण करना, दोषों को सेवन करते रोके, अति मधुर वचनों द्वारा सत्कार्यों की प्रेरणा दे और यदि नहीं माने तो कठोर वचनों से बारम्बार निश्चयपूर्वक प्रेरणा करे। अपने में सामर्थ्य हो तो आजीविका की मुश्किल वाले को सहायता दे, अत्यन्त संकट रूप खड्डे में गिरे हुए का उद्धार करे, सारे धर्म कार्यों में उद्यम करने वाले को हमेशा सहायता करे तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य में रहने वाले को सम्यक् स्थिर करे। इस तरह अनेक प्रकार से सार्धार्थिक वात्सल्य करते श्रावक अवश्यमेव इस जगत में शासन की सम्यक् वृद्धि—प्रभावना को करने वाला होता है। इस तरह श्रावक द्वार के साथ प्रसंगोपात श्राविका द्वार को अर्थ युक्त कहकर अब पौषधशाला द्वार को कहते हैं :—

६. पौषधशाला द्वार :—राजा आदि उत्तम मालिक के अधिकार भी तथा उत्तम सदाचारी मनुष्यों से समृद्धशाली गाँव, नगर आदि में पौषधशाला यदि जर्जरित हो गई हो और वहाँ भव भीरु महासत्त्व वाले हमेशा षड्विध आवश्यकतादि सद्धर्म क्रिया के रागी श्रावक रहते हों, फिर भी तथा विधिलाभांतराय कर्मोदय के दोष से उद्यमी होने पर भी जीवन निर्वाह कष्ट रूप महा मुश्किल से चलता हो, जैसे दीपक में गिरा हुआ जली हुई पंख वाली तितलियाँ अपना उद्धार करने में शक्तिमान नहीं होती हैं, वैसे पौषधशाला के उद्धार की इच्छा वाले भी उसे उद्धार करने में शक्तिमान नहीं हो तो, स्वयं समर्थ हो, तो स्वयं अन्यथा उपदेश देकर अन्य द्वार का उद्धार करवा दे और इन दोनों में असमर्थ हो तो साधारण द्रव्य से भी उस पौषधशाला का उद्धार करा सकता है। इस विधि से पौषधशाला का उद्धार कराने वाला वह धन्य पुरुष अवश्य ही दूसरों की सत्प्रवृत्ति का कारणभूत बनता है। उसमें डांस मच्छर आदि को भी कुछ नहीं गिनते, उसका रक्षण करते हैं। पौषध—सामायिक में रहे संवेग से वासित, बुद्धिमान संवेगी आत्मा को ध्यान अध्ययन करते देखकर कई जीवों को बोधिबीज की प्राप्ति होती है और अन्य लघुकर्मी इससे ही सम्यक् बोध को प्राप्त करते हैं। पौषधशाला उद्धार कराने से उसको तीर्थ प्रभावना की, गुणरागी को गुण प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति करवाई, धर्म आराधना की रक्षा और लोक में अभयदान की घोषणा करवाई। क्योंकि इससे जो प्रतिबोध प्राप्त करेंगे, वे अवश्य मोक्ष के अधिकारी बनते हैं, इससे उनके द्वारा होने वाली हिंसा से अन्य जीव का रक्षण होता है। यद्यपि उपासक दशा आदि शास्त्रों में पुरुष, सिंह, आनन्द, श्रावक आदि प्रत्येक को अपने-अपने घर में पौषधशालाएँ थीं ऐसा कहा है, तो भी अनेकों की साधारण एक पौषधशालाएँ

कहने में दोष नहीं है। क्योंकि बहुत जन मिलने से परस्पर विनयादि आचरण करने से सद्गुण सविशेष भावना वाला होता है, वह अनुभव सिद्ध है। जैसे कि—परस्पर विनय करना, परस्पर सारणा-धारणादि करना, धर्म-कथा, वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय करना, स्वाध्याय से थके हुए को विश्रान्ति लेना, और धर्म बन्धु उनका परस्पर सुख-दुःख आदि पूछना, भूले हुये सूत्र अर्थ और तदुभय का परस्पर पूछना, बताना, स्वयं देखी या सुनी हुई समाचारी को समझाये। परस्पर सुने हुये अर्थ को विभागपूर्वक उस विषय में सम्यक् स्थापन करना, उसका निर्णय करना, और शास्त्रोक्त योग विधि का परस्पर निरूपण करना, एक पौषधशाला में मिलने से कोई हमेशा कर सकता हो, कोई नहीं कर सकता हो। ऐसी धर्म की बातों को परस्पर पूछने का होता है, जो कर सकते हो, उसकी प्रशंसा कर सकते हैं और जिसको करना दुष्कर हो, उनको उस विषय में शास्त्र विधि अनुसार उत्साह बढ़ा सके। इस तरह परस्पर प्रेरण-प्रेरक भाव से गुणों का श्रेष्ठ विकास होता है। इसलिए ही व्यवहार सूत्र में राजपुत्रादि को भी एक पौषधशाला में धर्म का प्रसंग करने को बतलाया है। इस तरह अनेक भी उत्तम श्रावकों को सद्धर्म करने के लिये निश्चय ही सर्व साधारण एक पौषधशाला बनाना योग्य है। अब अधिक कहने से क्या लाभ ? गुरु के उपदेश से यह पौषधशाला द्वार कहा। अब दर्शन कार्य द्वार को कुछ अल्पमात्र कहता हूँ :—

१०. दर्शन कार्य द्वार :—यहाँ पर चैत्य संघ आदि अचानक ऐसा कोई विशिष्ट कार्य किसी समय आ जाये तो वह दर्शन कार्य जानना। वह यहाँ अप्रशस्त और प्रशस्त भेद से दो प्रकार का जानना, उसमें जो धर्म विरोधी आदि द्वारा जैन भवन या प्रतिमा का तोड़-फोड़ करना इत्यादि उस सम्बन्धी कार्य करना अथवा धर्मद्वेषी ने संघ को उपद्रव करना या क्षोभरूप कार्य करना, वह प्रशस्त जानना। और देव द्रव्य सम्बन्धी श्रावक आदि करवाना, इत्यादि उस सम्बन्धी कार्य करना, वह प्रशस्त जानना। इन दोनों प्रकार में भी प्रायः राजा आदि के दर्शन—मिलने से हो सकता है। उस राजादि को मिलने का कार्य भेटना आदि दिये बिना नहीं होता है, इसलिए जब दूसरी ओर ऐसा धन नहीं मिले तो उचित काम जानकार श्रावक साधारण द्रव्य से भी उसे देने का विचार करे। ऐसा करने से इस लोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति की प्राप्ति इत्यादि। उभयलोक में कौन-कौन से गुण लाभ नहीं होता ? इस कार्य में यथा योग्य प्रयत्न करना चाहिये। उसे—(१) चैत्य, (२) कुल, (३) गण, (४) साधु, (५) साध्वी, (६) श्रावक, (७) श्राविका, (८) आचार्य, (९) प्रवचन,

और (१०) श्रुत, इन सबका भी कार्य करणीय है। क्योंकि साधारण द्रव्य का खर्च जैन मन्दिर आदि इन दस में ही करने को कहा है। इसलिये, धन्यात्माओं को ही निश्चय इस विषय में बुद्धि प्रगट होती है। यहाँ पर किसी को ऐसी कल्पना हो कि—यह दस स्थान जैन कथित सूत्र में किस स्थान पर कहा है ? और जैन के बिना अन्य का कहा हुआ प्रमाण भूत नहीं है। तो उसे इस तरह समझो कि—निश्चय रूप इन दस का समुदित—एकत्रित कहीं पर नहीं कहा है, परन्तु भिन्न-भिन्न रूप में सूत्र के अन्दर कई स्थान पर कहा ही है और सूत्र में चैत्य, द्रव्य, साधारण द्रव्य इत्यादि वचनों से साधारण द्रव्य का स्पष्ट अलग बतलाया ही है, तो अर्थापत्ति ने उसको खर्च करने का स्थान भी निश्चय ही कहा है। इस तरह कुशल अनुबन्ध का एक कारण होने से भव्य जीवों के हित के लिये आगम के विरोध बिना—आगम के अनुसार हम यहाँ उस स्थान को ही जैन मन्दिरादि रूप दस प्रकार विषय को विभाग द्वारा स्पष्ट बतलाया है। इस जैन मन्दिरादि स्थानों में एक-एक स्थान की भी सेवा करने से पुण्य का निमित्त बनता है, तो वह समग्र की सेवा का तो कहना ही क्या ? अर्थात् अपूर्व लाभ है। यह साधारण द्रव्य प्राप्ति के लिये प्रारम्भ करते आत्मा को उसी दिन से जैन मन्दिर आदि सर्व की सेवा चालू होती है। क्योंकि उसका अनुबन्धपूर्वक चित्त का राग प्रारम्भ से ही एक साथ में उसके विषय भूत सर्व द्रव्य क्षेत्र आदि में पहुँच जाते हैं। इसलिये सर्व प्रकार से विचार कर, अपने वैभव के अनुसार कुछ भी अपने धन से वे साधारण द्रव्य को एकत्रित करना प्रारम्भ करते हैं। जो अन्याय आदि किए बिना विधिपूर्वक प्रतिदिन उसकी वृद्धि करते हैं, अचलित चित्त वाला जो महासत्त्वशाली उसमें मोह रखे बिना उसका रक्षण करता है। और जो पूर्व कहे अनुसार क्रम से निश्चय उसे उस-उस स्थान पर आवश्यकतानुसार खर्च करता है, वह धीरे धीरे तीर्थंकर गोत्र कर्म का पुण्य उपार्जन करता है। और प्रतिदिन उस विषय में बढ़ते अध्यवसाय से अधिकाधिक प्रसन्नता वाला वह पुरुष निश्चय ही नरक और तिर्यंच इन दो गति को रोक देता है। उसका वहाँ जन्म कभी नहीं होता है। और उसको कभी भी अपयश, नाम, कर्म और नीच गोत्र का बन्धन नहीं होता है, परन्तु सविशेष निर्मल सम्यक्त्व रत्न का धारक बनता है।

स्त्री अथवा पुरुष जो प्रारम्भ होने के बाद भी अपने धन को साधारण में देता है वह अवश्यमेव उत्तरोत्तर परम कल्याण की परम्परा को प्राप्त करता है। इस जन्म में भी अपना यश समूह से तीनों भवन को भर देता है। पुण्यानुबन्धी सम्पत्ति का स्वामी, पवित्र भोग सामग्री वाला और उत्तम

परिवार वाला बनता है। और परभव में उत्तम देव, फिर मनुष्यभव में उत्तम कुलिन पुत्र रूप होकर चारित्र्य रूपी सम्पत्ति का अधिकारी बनकर वह अन्त में सिद्ध पद प्राप्त करता है। अब अधिक कहने से क्या ? यदि उस भव में उसका मोक्ष न हो तो तीसरे भव से सातवें भव तक में अवश्य होता है, परन्तु आठवें भव को अधिक नहीं होता है। और जो किसी से मोहित हुआ साधारण द्रव्य में मूढ़ मन वाला व्यामोह से अपने पक्षपात के आधीन बना केवल जैन मन्दिर अथवा जैन बिम्ब, मुनि या श्रावक आदि किसी एक ही विषय में साधारण द्रव्य को व्यय करता है, परन्तु पूर्व कहे अनुसार जहाँ आवश्यकता हो उसकी विधि पूर्वक जैन मन्दिरादि सर्व क्षेत्रों में सम्यगं व्यय नहीं करता है वह प्रवचन (आगम) का वंचक या द्रोही कुमति को प्राप्त करता है। क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति से वह शासन का विच्छेदन करना चाहता है अथवा करता है। इस तरह परिणाम द्वार में काल विगमन नामक तीसरा प्रति द्वार भी प्रासंगिक अन्य विषयों सहित कहा। अब प्रथम परिकर्म द्वार के नौवाँ परिणाम द्वार का पुत्र प्रतिबोध द्वार कहते हैं।

चौथा पुत्र प्रतिबोध द्वार :—पूर्व में विस्तारपूर्वक कहा है। उन नित्य कृत्यों में निश्चय अपना एकाग्र चित्त वाला गृहस्थ कुछ काल व्याधिरहित जीवन व्यतीत होने के बाद अधिकार में पुत्र की सफलता को देखकर सविशेष उत्साह वाला, आराधना का अभिलाषी, प्रगट हुआ वैराग्य वाला वह सुश्रावक अपने अतिगाढ़ राग वाले वितीत पुत्र को बुलाकर संसार प्रति वैराग्य उत्पन्न हो, ऐसी भाषा से इस तरह समझाये—हे पुत्र ! इस संसार की स्वाभाविक भयंकरता का जो कारण है कि—इस संसार में जीवों को सर्वप्रथम मनुष्य जीवन प्राप्त करना दुर्लभ है, उसका जन्म यह मृत्यु का दूत है और सम्पत्ति अत्यन्त कष्ट से रक्षण हो सके, ऐसी प्रकृति से ही संध्या के बादलों के रंग समान चंचल है। रोग रूपी भयंकर सर्प क्षण भर में भी निर्बल बना देता है और सुख का अनुभव भी वट वृक्ष के बीज समान अल्प होते हुये भी महान् दुःखों वाला है। स्थान-स्थान पीछे लगा हुआ आपदा भी मेरु पर्वत सदृश महान् अति दारुण दुःख देता है। श्रेष्ठ और इष्ट सर्व संयोग भी निश्चित भविष्य में नाश होने वाला है और उत्पन्न हुआ मनोरथ का शत्रु मरण भी आ रहा है। यह भी समझ में नहीं आता कि—यहाँ से मरकर परलोक में कहाँ जाना है ? और ऐसी सद्धर्म की सामग्री भी पुनः प्राप्त करना अति दुर्लभ है। इसलिए हे पुत्र ! जब तक भी मेरे इस शरीर रूपी पिंजरे को जरा रूपी पिशाचनी ने ग्रसित नहीं किया, इन्द्रिय भी निर्बल नहीं हुई, जब तक उठने बैठने आदि का बल-

पराक्रम में भी कमी नहीं आती, तब तक मैं तेरी अनुमति पूर्वक परलोक का हितमार्ग स्वीकार करूँ। कान को सुनने में कड़वा और वियोग सूचक वाणी को सुनकर पर्वत समान महान् मुदगर से नाश होता हो, इस तरह पत्थर गिरता हो वैसे मूर्छा से आँखें बन्द वाला, तमाल वृक्ष समान श्याम मुख कान्ति वाला, शोक से बहते आँसू वाला पुत्र शोक से प्रगट हुये दूटे-फूटे अक्षर वाली भाषा से अपने पिता को कहा है कि—हे तात् ! अकाल में उल्कापात समान ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं ? इस जीवन में अभी प्रस्तुत संयम का कोई भी समय प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए हे तात् ! इस विचार से अभी रुक जाँ।

तब पिता उसे कहता है कि—हे पुत्र ! अत्यन्त विनय वाला बनकर तू सफेद बाल वाले मेरे मस्तक को क्यों नहीं देखता ? खड़खड़ाती हड्डी के समूह वाली मेरी यह कायारूपी लकड़ी को और अल्पमात्र प्रयास में ही चलायमान होती मेरी दाँत की पंक्ति को भी क्यों नहीं देखता ? हे पुत्र ! क्या देखने में निर्बल तेजहीन बनी दोनों आँखों को और लावण्य शून्य झुरझुरी वाला शरीर की चमड़ी को भी तू क्यों नहीं देखता है ? और हे पुत्र ! पश्चिम दिशा के आश्रित सूर्य के बिम्ब के समान तेज रहित परम पराक्रम से साध्य कार्यों के लिये प्रकटरूप अशक्त भ्रष्ट हुआ श्रेष्ठ शोभा वाले मेरे इस शरीर को भी क्या तू नहीं देखता ? कि जिससे प्रस्तुत प्रयोजन के लिये अयोग्य कहता है। जैन धर्म युक्त मनुष्य जीवन प्राप्त कर गृहस्थ को निश्चय रूप यही उचित है कि जो अप्रमत्त जीवन जीना और अन्त में अभ्युद्यत मृत्यु से मरना है। अरे ! मन को वश करके जिसने इन्द्रियों का दमन नहीं किया, उसका प्राप्त हुआ मनुष्य जीवन भी निष्फल गया है। इसलिए हे पुत्र ! प्रसन्न होकर अनुमति दे कि जिससे मैं अब सत्पुरुषों के आचार अनुरूप मार्ग का आचरण करूँ। यह सुनकर पुत्र ने कहा कि—हे तात् ! तुम्हारा तीन लोक को आश्चर्य उपजाने वाला शरीर का सुन्दर रूप कहाँ है ? और उसका नाश करने में कारणभूत यह आपकी भावना कहाँ ? यह आपकी अति कोमल काया चारित्र्य की कष्टकारी क्रिया को कैसे सहन करेगा ? तीव्र धूप को तो वृक्ष सहन करते हैं, कमल की माला नहीं करती है, वही पण्डित पुरुष है जो निश्चय वस्तु जहाँ योग्य हो उसे वहाँ करते हैं, क्या कोई बालक भी लकड़ी के कचड़े में आग नहीं लगाता है ? इस प्रकार निश्चय आपका यह आचरण मनोहर लावण्य और कान्ति से शोभित आपके शरीर का नाश करने वाला होगा। इसलिए हे तात् ! अपने बल-वीर्य-पुरुषार्थ और पराक्रम के क्रम से उस कार्य को आचरणपूर्वक सफल करके कष्टकारी प्रवृत्ति को स्वीकार करना। तब धीरे से हँसते पूर्वक सुन्दर दो होठ कुछ

खुले हों और दाँत की श्रेणी दिखती हो, वैसे पुनः पिता पुत्र से कहे कि—हे पुत्र ! मेरे ऊपर अति स्नेह से तू उलक्षण में पड़ा है, इसलिए ऐसा बोलता है, नहीं तो विवेक होने पर ऐसा वचन कैसे निकले ? हे पुत्र ! उत्तम लोगों के हृदय को सन्तोषकारी ऐसा मनुष्य जन्म में जो उचित कार्य है वह मैंने आज तक क्या नहीं किया ? वह तू सुन । योग्य स्थान पर व्यय करने से लक्ष्मी को प्रशंसा प्राप्त की, अर्थात् धन को प्रशस्त कार्य में उपयोग किया । सौंपे हुए भार को उठाने में समर्थ स्कंध वाला तेरे जैसे पुत्र को पैदा किया, और अपने वंश में उत्पन्न हुये पूर्वजों के मार्ग अनुसार पालन किया । ऐसा करने योग्य करके अब परलोक हित करना चाहता हूँ । और तूने जो पूर्व में मुझे बल-वीर्य पराक्रम की सफलता करने को बतलाया, वह भी योग्य नहीं है । क्योंकि—हे वत्स ! पुरुषों को धर्म करने का भी काल वही है कि जब समस्त कार्य करने का सामर्थ्य विद्यमान हो ! क्योंकि इन्द्रियों का पराक्रम हो तब निष्पाप सामर्थ्य के योग से पुरुष सभी कर्त्तव्य करने में समर्थ हो सकता है । जब उन सब इन्द्रियों की कमजोरी के कारण निर्बल शरीर वाला, यहाँ खड़ा भी नहीं हो सकता, तब वह करने योग्य क्या कर सकता है ?

निश्चय में जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को युवा अवस्था में कर सकता है, वही पुरुषार्थ बड़ी उम्र वाले को पर्वत के समान कठोर बन जाता है । इसलिए जैन वचन द्वारा तत्त्व के जानकार पुरुष को सर्व क्रियाओं में तैयार बल के समूह हो, तब ही धर्म का उद्यम करना योग्य है । वीर्य से साध्य तप भी केवल शरीर द्वारा सिद्ध नहीं होता, उसमें बल-वीर्य पराक्रम होना चाहिये । पर्वत को तो वज्र ही तोड़ सकता है, मिट्टी का टुकड़ा कभी भी नहीं तोड़ सकता है । वैसे सामर्थ्य रहित मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता है । अतः बल-वीर्य वाला हूँ, तब तक बुद्धि को धर्म में लगाना चाहता हूँ । तथा वही विद्वान है, वही बुद्धि का उत्कृष्ट है और बल सामर्थ्य भी वही है कि जो एकान्त में आत्महित में ही उपयोगी बना है । इसलिए हे पुत्र ! मेरे मनोवांछित कार्य में अनुमति देकर, तू भी स्वयं धर्म महोत्सव को करते, इस लोक के कार्यों को कर । क्योंकि—धीर पुरुष सद्धर्म क्रिया से रहित एक क्षण भी जाये तब प्रमादरूपी मजबूत दण्ड वाले लुटेरों से अपने को छूटा हुआ मानता है । जब तक अभी भी जीवन लम्बा समर्थ है, तब तक बुद्धि को सद्धर्म में लगा देना चाहिए, वह जीवन अल्प होने के बाद क्या कर सकता है ? अतः धर्म कार्य में उद्यम ही करना चाहिए, उसमें प्रमाद नहीं करे, क्योंकि मनुष्य यदि सद्धर्म में रक्त हो तो उसका जीवन सफल होता है । जो नित्य धर्म में रक्त है वह मनुष्य

मरा हुआ भी जगत में जीता ही है, परन्तु जो पाप के पक्ष वाला है, वह जीता हुआ भी मरे हुए के समान मानता । अतः हे पुत्र ! जन्म, जरा और मृत्यु का नाश करने वाला धर्मरूपी रसायण सदा पीना चाहिए, कि जिसको पीने से मन की परम शान्ति मिलती है । इसलिए हे पुत्र ! प्रयत्नपूर्वक धर्म ध्यान से मन को उसके आचरण से मनुष्य जन्म को और प्रशम प्राप्त कर श्रुत ज्ञान को प्रशंसनीय बना ! इत्यादि वचनों से प्रतिबोध देकर पुत्र पिता को परलोक के हित की प्रवृत्ति के लिए आज्ञा दे । इस तरह पुत्र प्रतिबोध नामक चौथा अन्तर द्वार कहा । अब सुस्थित घटना अर्थात् सदाचारी मुनियों की प्राप्ति नामक पांचवाँ अन्तर द्वार कहा ।

पांचवाँ सुस्थित घटना द्वार :—इसके पश्चात् महा मुश्किल अनिच्छा से पुत्र ने आज्ञा दी । फिर प्रति समय उत्तरोत्तर बढ़ते विशुद्ध परिणाम वाला और 'अब हमारा नाश करेगा' ऐसी अपनी विनाश की शंका से राग द्वेष शत्रुओं ने छोड़ दिया, तथा योग्य समझकर शीघ्र प्रशम से स्मरण करते, पूर्व में बन्धन किए कर्मरूपी कुल पर्वतों को चक्रनाचूर करने में वज्र समान सर्व विरती रूपी महा चारित्र्य की आराधना के लिए उद्यमशील, चित्त से प्रार्थना करते अर्थात् चारित्र्य के लिए उत्साही चित्त वाला, संसार में उत्पन्न होती समस्त वस्तुओं विगुणता का विचार करते तथा कर्म की लघुता होने से शुभ स्वप्नों को देखता है । जैसे कि 'निश्चय आज मैंने पवित्र फल, फूल और शीतल छाया वाचा श्रेष्ठ वृक्ष को प्राप्त किया, और उसकी छाया आदि से मैंने अति आश्वासन प्राप्त किया तथा किसी महापुरुष ने मुझे स्वभाव से ही भयंकर अपार समुद्र में से हाथ का सहारा देकर पार उतारा, इत्यादि स्वप्न देखने से हर्षित रोमांचित वाला वह अधिगत पुरुष आश्चर्यपूर्वक जागकर इस प्रकार चिन्तन करे कि—ऐसा स्वप्न मैंने कभी देखा नहीं, सुना नहीं और अनुभव भी नहीं किया है, इससे मैं मानता हूँ कि अब मेरा कुछ कल्याण होगा, उसके बाद कालक्रम से विचरते हुये किसी भी उसके पुण्य प्रकर्ष से आकर्ष होकर आए हो वैसे, पूर्व में जिसकी खोज करता था वैसे सुस्थित—सुविहित आचार्य महाराज को आए हुए हैं, ऐसा सुनकर वह विचार करता है कि—उनके आने से निश्चय अब मेरा क्या-क्या कल्याण नहीं होगा ? अथवा सिद्धान्त के कौन से रहस्यों को मैं नहीं सुनूँगा ? और पूर्व में सुने हुए तत्त्वों को भी अब मैं स्थिर परिचित करूँगा । ऐसा चिन्तन करते हर्ष के भार से परिपूर्ण अंग वाला गुरु महाराज के पास जाये और आनन्द के आँसू से भरे नेत्रों की दृष्टि वाला, ऐसी दृष्टि से दर्शन करते तीन प्रदक्षिणा देकर, फिर मस्तक

से पृथ्वी तल का स्पर्श करता गुरुदेव के चरणों में गिरकर नमस्कार करे। उसके बाद उनके शरीर की सेवा करके उनके पास से सिद्धान्त के रहस्यों को सुने और यही गुरु भगवन्त हैं, इन्हीं को ही मैंने स्वप्न में देखा था, ये तो उत्तम फल वाले महान् वृक्ष स्वरूप हैं, स्वप्न में देखा था वे मुझे समुद्र में हाथ का सहारा देने वाले यही गुरुदेव हैं। ऐसा चिन्तन मनन करते समय देखकर गुरु महाराज को निवेदन करे कि—

हे भगवन्त ! अति विशाल फैला हुआ मिथ्यात्व रूपी जल प्रवाह से परिपूर्ण प्रत्यक्ष दिखता महा भयंकर मोह के सैंकड़ों चक्करों (आवर्त) से युक्त सतत् मृत्यु जन्म रूपी बड़ी तरंगों से क्षुब्ध किनारा वाला प्रति समय घूमते हुए अनेक रोग, शोकादि मगर, सर्पों से युक्त, स्वभाव से ही गम्भीर गहरा, स्वभाव से ही अपार किनारे बिना का, स्वभाव से ही भयंकर और किनारा रहित इस संसार समुद्र को पार उतरने के लिए आपके द्वारा प्रवज्या रूपी नाव में बैठकर हे मुनिनाथ ! मैं पार उतरने के लिए आप श्री के हाथ का सहारा चाहता हूँ। फिर खिली हुई अति करुणा से भरी हुई पपड़ी वाली और अन्तर में उछलते अनुग्रह से विकास वाली दृष्टि से अनुग्रह करते हो। इस तरह समस्त तीर्थों के जल स्नान के समान उसके पाप मैल को धोते धर्म गुरु मधुर वाणी से उसे इस प्रकार उत्तर दे—अरे, भो ! देवानु प्रिय ! समस्त संसार स्वरूप के जानकार, शत्रु के पक्षपाती, सर्व विषयों की अभिलाषा के त्यागी, आशारूपी कीचड़ से रहित, निर्मल चित्त वृत्ति वाले, प्रमाद को जीतने वाले, प्रतिक्षण बढ़ते प्रशमरस को पीने की तृष्णा वाले, और शास्त्र विधि ज्ञान क्रिया से उत्तम मरणकाल का परम ओच्छव का स्थान रूप मानने वाले तुझे इस समय पर अब दीक्षा लेना वह अत्यन्त योग्य है। हे महायश ! उसाही तू केवल पूर्व में स्वीकार किये व्रत गुणादि के अतिचार की आलोचना करके फिर मन से इच्छनीय, निर्दोष प्रवज्या को स्वीकार कर। चिरकाल सेवन किया हुआ उत्तम गृहस्थ धर्म का फल गृहस्थ इस तरह दीक्षा स्वीकार करे अथवा मरण समय संधारा रूपी दीक्षा को स्वीकार करके प्राप्त करता है। और उस दीक्षा की अथवा संधारा की प्राप्ति न हो तो भी उत्तम मुनि के समान सर्व संग-सम्बन्धों को छोड़कर सामायिक—समभाव में युक्त बना वह भक्त परिज्ञा अनशन को स्वीकार करता है। यह सुनकर 'आपकी हित शिक्षा को मैं चाहता हूँ।' ऐसा कहने द्वारा गुरु की हित शिक्षा को अति मानपूर्वक चिरकाल की इच्छा पूर्ण होने से वह कुछ खेदपूर्वक कहे कि :—

हे भगवन्त ! महा खेदजनक बात है कि—आपके दर्शन की बात तो दूर रही, परन्तु इतना सारा काल निष्पुण्यक मैंने कुछ भी आपको जाना ही नहीं, अथवा कल्पवृक्ष के दर्शन, छाया सेवा आदि का सम्भव तो दूर रहा, उसका परिचय भी निष्पुण्यक को कैसे हो सकता है ? पृथ्वी की सारी प्रजा को प्रगट रूप प्रकाश सूर्य करता है, परन्तु स्वभाव से तामसी पक्षियों का समूह (उल्लू) को हमेशा अविज्ञात—अदृष्ट ही होता है, वैसे मोह से एकान्त महा तामसी प्रकृति वाला और अत्यन्त निर्गुणी मुझे भी हे स्वामिन् ! आप भी किस तरह दिखने में आते ? हे प्रभु ! मोह से मालिन यह मेरा ही दोष है, आपका नहीं है । उल्लू नहीं देखता, फिर भी सूर्य तो प्रगट है ही, हे भगवन्त ! स्थान-स्थान पर अस्खलित, विस्तार से फैलती अति मनोहर कीर्ति के भण्डार आपको इस विश्व में कहाँ-कहाँ कौन-कौन नहीं जानता ? जो कि वर्षा ऋतु बिना शेषकाल में विचरते मुनि अपने गुणों को नहीं कहते, बोलते भी नहीं हैं, फिर भी परिचय हो जाता है क्योंकि गुण समूह की वह प्रकृति ही है, वह गुप्त नहीं रहती है । वर्षाकाल के कंदब पुष्प के विशिष्ट गन्ध से जैसे भ्रमर और भ्रमरियाँ सेवा करते हैं वैसे आप भी हे नाथ ! आपके गुण से लोगों द्वारा सेवाएँ होती हैं । अथवा अग्नि कहाँ प्रगट नहीं होती ? अथवा चन्द्र कहाँ प्रगट नहीं होता ? वैसे आप जैसे सद्गुणी पुरुष कहाँ प्रगट नहीं होते हैं ? अर्थात् आप सर्वत्र ही प्रगट होते हैं । अग्नि तो पानी होने पर प्रगट नहीं और चन्द्र भी बादल से ढक जाने से नहीं दिखता है । परन्तु हे प्रभु ! आप तो सदा सर्वत्र प्रकाश को करते हैं, और अत्यन्त मनोहर भी पूनम का चन्द्र सूर्य विकासी कमल के वनों को आनन्द नहीं देता है, किन्तु आप तो हे भगवन्त ! महाप्रशम आदि श्रेष्ठ गुणों के योग से सर्व जीवराशि को भी परम सन्तोषकारी होते हैं । अधिक क्या कहूँ ? आज मैंने स्वामी का—गुरु का सच्चा सन्मान किया है, आज ही मेरी भवितव्यता अनुकूल हुई, आज मेरी वृद्धि हुई और आज सारे ओच्छवों का मिलन हुआ, आज का दिन भी मेरा कृतार्थ हुआ और आज ही प्रभात मंगलमय बना, आज ही चित्त में आनन्द हुआ, आज ही परम बन्धु श्री अरिहंत देव का संबंध हुआ, आज ही मेरा जन्म कृतार्थ हुआ, आज ही मेरे नेत्र सफल हुए, आज ही मेरे इच्छित कार्य की सम्यक् प्राप्ति हुई, आज ही मेरी पुण्य राशि सफल हुई, और आज ही लक्ष्मी ने वांछारहित सद्भावनापूर्वक मेरे सामने देखी, क्योंकि—हे पापराज को नाश करने वाले मुनीन्द्र ! मैं आज अत्यन्त पुण्योदय से प्राप्त होने वाले निष्पापमय आप श्री के चरण-कमल को प्राप्त किये हैं । इस तरह

सुस्थित घटना नामक यह पांचवाँ अन्तर द्वार कहा है। अब छठा आलोचना द्वार कहते हैं।

छठा आलोचना द्वार :—सद्गुरु के कहे अनुसार आराधना करने में उद्यमशील बना महा सात्त्विक वह उत्तम श्रावक दुर्ध्यान के आधीन बनकर ऐसा चिन्तन नहीं करे कि—मैंने बार-बार अनेकशः बहुत सद्गुरु के पास आलोचना भी ली और प्रायश्चित्त भी पूरे किये, सारी क्रियाओं में जयणापूर्वक आचरण किया, अब मुझे कुछ अल्प भी आलोचलना योग्य नहीं है, ऐसा चिन्तन नहीं करे। परन्तु महा मुश्किल से समझ में आये ऐसी सूक्ष्म अतिचार की भी संशुद्धि के लिए उस समय पर एक चारित्र के अतिचारों के उद्देश्य से आलोचना दी जाती है। ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य। इन चार आचारों की आलोचना तो साधु के समान पूर्व में कहे अनुसार विधि से दी जाती है। इसलिए देश चारित्र श्रावक प्रथम व्रत में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के प्रत्येक और अनन्तकाय रूप दो प्रकार की वनस्पति के, तथा दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय वाले जीवों की विराधना के अतिचार को कह सुनाना चाहिये। उसमें पृथ्वी आदि पाँच को प्रमाद दोष से किसी तरह उसकी सम्यग् जयणा नहीं की, उसे शास्त्र विधि से आलोचना करे। और दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को परिताप—दुःख आदि देने से जो अतिचार या व्रत का भंग हुआ हो, उसे भी हित का अर्थी प्रगट रूप में निवेदन करे। मृषावाद विरमण में अभ्याखान आदि के, अदत्तादान (चोरी) विरमण दृष्टि वंचन आदि का, चौथे व्रत में (स्त्रियों को पुरुष के समान) स्वप्न में भी विजाति साथ क्रीडा या अंग स्पर्श आदि तथा स्वपत्नी के सिवाय अन्य स्त्री के साथ हँसी अथवा गुप्त अंग का स्पर्श आदि, एवं विवाह, प्रेम करना, इत्यादि जो कुछ हुआ हो उन सब अतिचार की आलोचना लेना चाहिए, तथा धन धान्यादि नौ प्रकार का परिग्रह प्रमाण में लगे हुए अतिचार को, और दिशि परिमाण में, प्रमाण से अधिक भूमि में स्वयं जाने से अथवा दूसरे को भेजने से जिस क्षेत्रादि का उत्खनन किया हो उसे सम्यग् रूप आलोचना करना। उपभोग परिभोग में, अनन्तकाय, बहुबीज आदि के भोजन से लगे हुये अतिचारों को तथा कर्मादानों में अंगार कर्म आदि परकर्मों की आलोचना करना। अनर्थ दण्ड में तेल आदि की रक्षा में किया हुआ प्रमाद अथवा पाँच प्रकार का, और पापोपदेश, हिंसक शस्त्रादि प्रदान, तथा जो दुर्ध्यान किया हो, उसकी सम्यग् प्रकार से आलोचना करना। सामायिक व्रत में सचित्तादि स्पर्श आदि करना। मन, वचन, काया का हुये प्रणिधान आदि का छेदन, भेदन इत्यादि करना। चखले की दण्डी से कुतूहल

वृत्ति करना, अथवा अनुकूलता होते हुए भी सामायिक नहीं किया हो इत्यादि की सम्यक् आलोचना करना। देशावगासिक में भी पृथ्वीकायादि के भोग संवर—नियम नहीं किया हो, जयणा से रहित कपड़े धोये हों इत्यादि सर्व को सम्यक् पूर्वक आलोचना ले। पौषध व्रत में संधारा, स्थण्डिल आदि पडिलेहन आदि जो नहीं किया हो या अविधि से किया इत्यादि तथा पौषध का सम्यक् पूर्वक पालन नहीं किया हो उसे भी प्रगट रूप आलोचना ले। अतिथि संविभाग व्रत में साधु, साध्वी को अशुद्ध आहार पानी दिया और शुद्ध कल्प्य आदि उत्तम आहार पानी आदि होते हुए भी नहीं दिया उसकी भी आलोचना स्वीकार करे।

धार्मिक मनुष्यों जो बन सके वैसे अमुक अभिग्रह को अवश्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अभिग्रह के बिना रहना उसे योग्य नहीं है। फिर भी शक्य अभिग्रह स्वीकार नहीं करे, अथवा स्वीकार किए अभिग्रह का प्रमाद से खण्डन करे तो उसकी भी आलोचना ले। यह आलोचना करने रूप अतिचार कहा है। इस तरह देश विरति के अतिचारों की आलोचना करने के बाद तप—वीर्य दर्शन सम्बन्धी लगे हुए अतिचार को भी निश्चित रूप साधु के समान आलोचना स्वीकार करे तथा साधु, साध्वी वर्ग में ग्लानि के औषध की गवेषणा नहीं की या श्री जैन मन्दिर में यदि प्रमार्जन—देखभाल आदि नहीं किया हो, श्री जैन मन्दिर में यदि शयन किया, तथा खान-पान किया अथवा हाथ पैर आदि धोये हों, उन सबकी आलोचना लेना चाहिए। तथा जैन मन्दिर में पान भक्षण का थूक, कफ, श्लेष्म और शरीर का मैल डालना इत्यादि कार्य किया हो तथा वह देनदार आदि किसी को पकड़ा हो अथवा बाल देखना, जूं निकालना, कंधी करना, और श्री जैन मन्दिर में अनुचित आसन लगाना, असभ्यता से बैठना, स्त्री कथा, भक्त कथा आदि विकथा की हो, उस सबको श्री जैन भक्ति में तत्पर गृहस्थ प्रगट रूप आलोचना लेना चाहिए। तथा राग आदि के कारण किसी प्रकार से भी देव द्रव्य से ही आजीविका चलाई हो, या नाश होते देव द्रव्य की उपेक्षा की हो, श्री अरिहंत परमात्मा आदि की जो कोई भी अवज्ञा अशातना की हो, उस सब की भी आत्म शुद्धि करने के लिए सम्यक् रूप निवेदन कर आलोचना ले। तथा धर्मी आत्माओं की हमेशा प्रशंसा आदि करणीय नहीं किया और ईर्ष्या-मत्सर रखा, दोष जाहिर करना इत्यादि अकरणीय किया हो, उसकी भी सम्यक् आलोचना लेना चाहिए। अधिक क्या कहें? जो कुछ भ, कभी भी जैन आगम से विरुद्ध कार्य किया हो, करने योग्य को नहीं किया हो अथवा बहू करते हुये भी सम्यक्

रूप नहीं किया हो। श्री जैनेश्वर के वचन में श्रद्धा नहीं की और जो विपरीत प्ररूपण (कथन) किया हो उन सबकी भव्य आत्मा को सम्यक् रूप से आलोचना लेना चाहिए। इस तरह छठा गृहस्थ सम्बन्धी आलोचना दान नाम का द्वार जानना। अब आयुष्य परिज्ञान द्वार को अल्पमात्र कहते हैं :—

सातवाँ काल परिज्ञान द्वार :—इस तरह कथनानुसार विधि से आलोचना देने के बाद उसमें कोई गृहस्थ समग्र आराधना करने में सशक्त हो अथवा कोई अशक्त भी हो, उसमें सशक्त भी कोई निरोगी शरीर वाला अथवा कोई रोगी भी हो, इस तरह अशक्त भी दो प्रकार का होता है। उसमें अशक्त या सशक्त यदि मृत्युकाल के नजदीक पहुँचा हो, वह तो पूर्व कथनानुसार विधि से शीघ्र भक्त परीक्षा—अनशन को स्वीकार करे, और अन्य को मृत्यु के नजदीक या दूर जानकर उस काल के उचित हो, वह भक्त परीक्षा आदि करना योग्य गिना जाता है। इसमें मृत्यु नजदीक है अथवा लम्बे काल में मृत्यु होगी, यह तो यद्यपि श्री सर्वज्ञ परमात्मा के बिना सम्यक् रूप नहीं जान सकते हैं। इस दुष्काल में तो विशेषतया कोई भी नहीं जान सकता है। फिर भी उसको जानने के लिए उस विषय के शास्त्रों के सामर्थ्य योग द्वार से कुछ स्थूल—मुख्य उपायों को मैं बतलाता हूँ। जैसे बादल से वृष्टि, दीपक से अन्धकार में रही हुई वस्तुएँ, धुएँ से अग्नि, पुष्प से फल की उत्पत्ति, और बीज से अंकुर को जान सकते हैं, वैसे ही इस ग्यारह उपाय के समूह से प्रायः बुद्धिमान को मृत्युकाल की भी जानकारी हो सकती है। वह उपाय इस प्रकार से हैं :—

मृत्युकाल जानने के ग्यारह उपाय :—(१) देवता के प्रभाव से, (२) शकुन शास्त्र से, (३) उपश्रुति अर्थात् शब्द श्रवण द्वारा, (४) छाया द्वार; (५) नाड़ी ज्ञान द्वारा, (६) निमित्त से, (७) ज्योतिष द्वारा, (८) स्वप्न से, (९) अमंगल या मंगल से, (१०) यन्त्र प्रयोग से, और (११) विद्या द्वारा मृत्युकाल का ज्ञान हो सकता है। जैसे कि—

१. देवता द्वार :—इसमें प्रवर विद्या के बल द्वारा विधिपूर्वक अंगूठे के नख में, तलवार, दर्पण में, कुण्ड में आदि में उतारकर तथा विधि—उस प्रकार देवी को पूछने पर वह अर्थ को कहती है, परन्तु आह्वान करने वाला पुरुष अत्यन्त पवित्र बना हुआ और निश्चल मन वाला, विधिपूर्वक उस देवता का आह्वान की विद्या का स्मरण करे। वह विद्या “ॐ नर बीरे ठठ” इस तरह कही है, उसका सूर्य या चन्द्र का ग्रहण हो तब दस हजार और आठ बार जाप करके विद्या को सिद्ध करना चाहिए। फिर कार्यकाल प्राप्त होने पर एक

हजार आठ बार जाप करने से उस विद्या की अधिष्ठायिका अंगूठे आदि में उतरती दिखती है। उसके पश्चात् कुमारिका द्वारा वांछित अर्थ (हकीकत) को निःसंशय जान सकते हैं। केवल यह विद्या निश्चल सम्यक्त्व वाले के वांछित को पूर्ण करती है अथवा किसी तपस्वी चारित्र्य शील गुणों से आकर्षित चित्त वाली यह देवी जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है कि उसे साक्षात् नहीं कहे ! तो मरणकाल कहने में उसे कितना समय लगता है ?

२. शकुन द्वार :—निरोगी या बिमार आयुष्य का ज्ञान के लिए स्वयं अथवा दूसरे द्वारा शकुन को देखे। इसमें प्रथम निरोगी के लिए कहते हैं—वह देव गुरु को नमस्कार करके परम पवित्र बनकर प्रशस्त दिन घर अथवा बाहर शकुन के भावफल को सम्यग् विचार करे। उसमें सर्प, चूहा, कृमिया, चीटों, कीड़े, गिलहरी, बिच्छू आदि की वृद्धि हो और घर में बिल में, दीमक भूमि में छोटे फोड़े समान चीराड, दरार आदि व्रण विशेष और खटमल, जूँ आदि का बहुत ज्यादा उपद्रव हो, मकड़ी अथवा जाल बनाने वाले जीव, मकड़ी का जाल, भौरे, घर में अनाज के कीड़े, दीमक आदि बिना कारण बढ़ती जाए तथा लिपन किया हुआ आदि फट जाए अथवा रंग बदल जाये तो उद्वेग, कलह, युद्ध, धन का नाश, व्याधि मृत्यु संकट आता है और स्थान भ्रष्टता या विदेश गमन होता है अथवा अल्पकाल में घर मनुष्य रहित शून्य बन जायेगा। तथा किसी तरह कभी किसी स्थान पर मुख से सोये हुये निद्रा अवस्था में कौए चोंच से मस्तक के बाल समूह को खींचे तो मरण नजदीक जानना। अथवा उसके वाहन शस्त्र जूते और छत्र को और ढके हुये शरीर को निःशंक रूप में कौआ मारे या काटे वह भी शीघ्र यम के मुख में जाने वाला समझना। यदि आँसू से पूर्ण नेत्र वाला सामान्य पशु अथवा गाय, बैल पैर से पृथ्वी को बहुत खोदे तो उसके मालिक को केवल रोग ही नहीं आता, परन्तु मृत्यु का कारण होता है। यह निरोगी अवस्था वाले के सम्बन्ध में कुछ अल्प शकुन स्वरूप कहा है। अब रोगी सम्बन्धी कुछ कहते हैं, वह सुनो—यदि कुत्ता अपने दाहिने की ओर मुख को मोड़कर अपनी पीठ के अन्तिम विभाग को चाटे तो रोगी एक दिन में मर जायेगा। यदि छाती को चाटे तो दो दिन और पूँछ को चाटे तो तीन दिन तक जीता रहता है, ऐसा श्वान शकुन के ज्ञाता ने कहा है। यदि कुत्ता निमित्त काल के समय में सर्व अंगों को सिकोड़ कर सो रहा हो तो मानो कि बीमार उसी समय मर जाने वाला है। और कुत्ता दो कान हिलाकर और फिर शरीर को मरोड़कर यदि कंपकंपी करे तो रोगी अवश्य मरता है और इन्द्र भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है। खुले मुख वाला लार गिराता कुत्ता

यदि दो आँखों को बन्द कर और सिकोड़कर सो जाता है तो रोगी को यमपुरी में ले जाता है। बिमार के घर ऊपर यदि कौओं का समूह तीनों संध्या में मिलते देखे तो जानना कि अब जीव का विनाश होने वाला है। जिसके शयन घर में अथवा रसोईघर में कौआ, चमड़ा, रस्सी, बाल या हड्डी डाले वह भी शीघ्र मरने वाला है।

३. उपश्रुति (शब्द श्रवण) द्वार :—अब यहाँ से दोष रहित उपश्रुति द्वार को कहते हैं। इसमें प्रशस्त दिन मनुष्यों का सोने का समय हो तब गुरु परम्परा के आए हुए और आचार्य सहित गच्छ के मन को आनन्द उत्पन्न कराने वाले सूरि मन्त्र द्वारा आचार्य उपयोगपूर्वक दो कान को मन्त्रित कर अथवा पंच नमस्कार द्वारा भी देव, गुरु को नमस्कार करके, सुगन्धी, अक्षत हाथ में लेकर, श्वेत वस्त्र का उत्तरासंग धारण करके आयुष्य के प्रमाण को जानने का निश्चय करके, एकाग्र चित्त वाला वह अपने दोनों कान के छिद्र बन्द करके अपने स्थान से निकलकर, प्रशस्त उत्तर—ईशान दिशा सन्मुख क्रम से अथवा पैरों का चलना देखकर चण्डाल वेश्या अथवा वेश्य या शिल्पकार आदि के मीहल्ले में, चौक या बाजार आदि प्रदेशों में सुगन्ध से मनोहर अक्षतों को फेंककर उसके बाद उपश्रुति, अर्थात् जो सुनने में आए उस शब्द को सम्यक् रूप धारण करे। वह शब्द दो प्रकार के होते हैं। प्रथम अन्य पदार्थ का व्यपदेश वाला और दूसरा उसी का ही स्वरूप वाला होता है। उसमें प्रथम चित्तन द्वारा समझा जाये और दूसरा स्पष्ट अर्थ को बताने वाला होता है। जैसे कि—इस घर का स्तम्भ इतने दिनों में या अमुक पखवाड़ों के बाद, अमुक महीने के बाद या अमुक वर्ष में निश्चय ही टूट जायेगा अथवा नहीं टूटेगा, अथवा असुन्दर होगा, या टकराने से यह शीघ्र टूट जायेगा इत्यादि। अथवा तो यह दीपक दीर्घकाल रहेगा या टकराने से शीघ्र नाश होगा। इस तरह पदार्थ के विषय में शब्द सुनकर उस पुरुष को अपनी आयुष्य का अनुमान लगा लेना चाहिये। तथा पिठिका, दीपक की शिखा, लकड़ी का पात्री आदि स्त्रीलिंग पदार्थों के विषय में शब्द, स्त्री के आयुष्य का लाभ, हानिकारण अनुमान डूलगाना इत्यादि अन्य पदार्थ का व्यपदेश वाला उपश्रुति शब्द समझना। तथा यह पुरुष अथवा स्त्री इस स्थान से नहीं जायेगी अथवा हम उसे जाने नहीं देंगे, यह व्यक्ति भी, जाना भी नहीं चाहता, अथवा तो दो, तीन, चार दिन में या उसके बाद इतने दिन, पखवाड़े, महीने या वर्ष के बाद अथवा उसके पहले जायेगा या नहीं जायेगा इत्यादि, अथवा तो यह पुरुष आज ही गमन करेगा, या इसे महाआदरपूर्वक बार-बार रोकने पर भी जल्दी जायेगा, नहीं रुकेगा। आज

ही रात्री अथवा कल या परसों दिन निश्चय यह जाने का उत्सुक है। हम भी जल्दी भेजने की इच्छा करते हैं, इससे शीघ्र जायेगा इत्यादि। यह स्वरूप वाली उपश्रुति का दूसरा प्रकार का शब्द जानना। इसका अभिप्रायः यह है कि यदि जाने की बात सुनाई दे तो आयु का अन्त निकट है, और रहने की बात सुने तो मृत्यु अभी नजदीक नहीं है। इस तरह दोनों प्रकार के शब्द को सुनकर उसके अनुरूप निर्यामक मुनिवर अथवा जिसने भेजा हो, उस रोगी के उद्देश के उचित कार्य करे अथवा बन्द कान को खोलकर जो स्वयं सुनी हुई उपश्रुति के अनुसार चतुर पुरुष अपनी मृत्यु निकट या दूर है, उसे जान लेते हैं। यह उपश्रुति द्वार कहा। अब छाया द्वार में छाया के अनेक भेद हैं, फिर भी यहाँ सामान्य से ही कहते हैं।

४. छाया द्वार :—आयुष्य के ज्ञान के लिए स्थिर मन, वचन, काया वाला पुरुष निश्चय हमेशा ही अपनी छाया को अच्छी तरह देखे, और अपनी परछाई के स्वरूप को अच्छी तरह जानकर शास्त्र कथित विधि द्वारा शुभ-अशुभ को जाने। इसमें सूर्य के प्रकाश के अन्दर, शीशे में अथवा पानी आदि में शरीर की आकृति, प्रमाण वर्ण आदि से जो परछाई गिरती है उसे निश्चय ही प्रतिछाया जानना। वह प्रतिछाया जिसकी सहसा छेदन-भेदन हुई तथा सहसा यदि आकुल अथवा आकार, माप, वर्ण आदि से कम या अधिक दिखे, रस्सी समान आकार वाली या कण्ठ प्रतिष्ठित (गले तक) दिखे तो कह सकते हैं कि यह पुरुष शीघ्र मरण को चाहता है। और पानी किनारे खड़े होकर सूर्य को पीछे रखकर पानी में अपनी छाया को देखते यदि अलग मस्तक वाली दिखे, वह शीघ्र यम मन्दिर में जायेगा। इसमें अधिक क्या कहें? यदि मस्तक बिना की अथवा बहुत मस्तक वाली या प्रकृति से असमान विलक्षण स्वरूप वाली अपनी छाया को देखे, वह शीघ्र यम मन्दिर में पहुँचेगा। जिसको छाया नहीं दिखे उसका जीवन दस दिन का, और दो छायाएँ दिखाई दें तो दो ही दिन का जीवन है। अथवा दूसरी तरह से निमित्त शास्त्र द्वारा कहते हैं कि—सूर्योदय से अस्तमूर्त तक दिन हो जाने के बाद, अत्यन्त पवित्र होकर सम्यग् उपयोग वाला सूर्य को पीछे रखकर अपने शरीर को निश्चल रखकर शुभाशुभ जानने के लिए स्थिर चित्त से छाया व पुरुष को अपनी परछाई देखे। उसमें यदि अपनी उस छाया को सर्व अंगों से अक्षत सम्पूर्ण देखे तो अपना कुशल जानना। यदि पैर नहीं दिखे तो विदेश गमन होगा। दो जंघा न दिखे तो रोग। गुप्त भाग न दिखे तो निश्चय पत्नी का नाश। पेट न दिखे तो धन का नाश। और हृदय नहीं दिखे तो मरण होता है। यदि बाँयी, दाहिनी भुजा नहीं दिखे तो भाई और पुत्र का नाश होना जानना। मस्तक नहीं दिखे तो छह महीने में

मृत्यु होगी। सर्व अंग नहीं दिखे तो शीघ्र ही मृत्यु होगी, ऐसा जानना। इस तरह छाया पुरुष परछाई से आयुष्य काल को जानना चाहिए। यदि जल, दर्पण आदि में अपनी परछाई को देखे नहीं अथवा विकृत देखे तो निश्चय ही यमराज उसके नजदीक में घूम रहा है, ऐसा जानना। इस तरह छाया से भी सम्यग् उपयोगपूर्वक प्रयत्न करने वाला कला कुशल प्रायः मृत्यु काल को जान सकता है।

५. नाड़ी द्वार :—अब यहाँ से नाड़ी द्वार कहते हैं। नाड़ी के ज्ञानी पुरुषों ने तीन प्रकार की नाड़ी कही है, प्रथम ईडा, दूसरी पिंगला और तीसरी सुषुम्णा है। प्रथम बाँयी नासिका से बहती है, दूसरी दाहिनी नासिका से चलती है और तीसरी दोनों भाग से चलती है। इन तीनों नाड़ी के निश्चित ज्ञान युक्त श्रेष्ठ योगी मुख को बन्द करके, आँखों को स्थिर करके तथा सब अन्य प्रवृत्तियाँ छोड़कर केवल इसी अवस्था में स्थिर लक्ष्य वाले को स्पष्ट जानकारी हो सकती है। ईडा और पिंगला क्रमशः अढ़ाई घड़ी तक चलती है और सुषुम्णा एक क्षण मात्र चलती है। इस विषय में अन्य आचार्यों ने कहा है कि—छह दीर्घ स्वरो का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना स्वस्थ शरीर वाला मनुष्य का एक उच्छ्वास अथवा एक निश्वास जानना, उतने काल को प्राण कहते हैं, ऐसे तीन सौ साठ प्राणों की एक बाह्य घड़ी होती है। उस प्रमाण से ईडा नाड़ी सतत् पाँच घड़ी चलती है और पिंगला उससे छह प्राण कम चलती है, यह छह प्राण सुषुम्णा चलती है। इस तरह तीनों नाड़ी की दस घड़ी होती हैं, नाड़ियों का यह प्रवाह प्रसिद्ध है। इसमें बाँयी को चन्द्र-नाड़ी और दाहिनी को सूर्यनाड़ी भी कहते हैं। अब इसके अनुसार काल ज्ञान के उपाय कहते हैं। परमर्षि गुरु ने कहा है कि—यदि आयुष्य का विचार करते समय वायु का प्रवेश हो तो जीता रहेगा और वायु निकले तो मृत्यु होगी। जिसको चन्द्रनाड़ी के समय सूर्यनाड़ी अथवा सूर्यनाड़ी के समय चन्द्रनाड़ी अथवा दोनों भी अनियमित चलें, वह छह महीने तक जीता रहेगा। यदि उत्तरायण के दिन से पाँच दिन तक अखण्ड सूर्यनाड़ी चले तो जीवन तीन वर्ष का जानना। दस दिन तक चले तो दो वर्ष जीयेगा और पन्द्रह दिन तक अखण्ड चले तो एक वर्ष का आयुष्य है। और उत्तरायण के दिन से ही जिसकी बीस दिन तक लगातार सूर्यनाड़ी चले वह छह महीने ही जीता रहता है। यदि पञ्चीस दिन सूर्यनाड़ी चले तो तीन महीने, छब्बीस दिन चले तो दो महीने, और सत्ताईस दिन चले तो निश्चय ही एक महीने जीता है, और उत्तरायण से अट्ठाईस दिन सूर्यनाड़ी अखण्ड चले तो पन्द्रह दिन जीता है। उन्तीस दिन सूर्यनाड़ी चले

निश्चय दस दिन जानना, तीस दिन चले तो पाँच दिन और इकतीस दिन चले तो तीन दिन जीता है, यदि बत्तीस दिन चले तो दो दिन और तैंतीस दिन चले तो एक ही दिन जीता रहेगा। अब अन्य भी प्रसंगानुसार कुछ और भी संक्षेप में कहता हूँ।

समग्र एक दिन लगातार सूर्यनाड़ी चलती हो तो मनुष्य को कुछ उत्पात का सूचक है, और दो दिन चलती रहे तो घर में गोत्र का भय को अवगत कराता है। यदि सूर्यनाड़ी तीन दिन लगातार चले तो उस गाँव में और गोत्र में भय बतलाने वाला है, और चार दिन सूर्यनाड़ी बहे तो निश्चय स्वस्थ अवस्था वाला भी योगी के प्राण सन्देह को कहता है। और यदि पाँच दिन सूर्यनाड़ी सतत् चले तो निश्चय योगी की मृत्यु होती है, और छह दिन तक सदा सूर्यनाड़ी चले तो राजा को कष्टकारी व्याधि होगी, सात अहोरात्री सूर्यनाड़ी चलती है तो निश्चित राजा या घोड़ों का क्षय होगा, और आठ दिन हमेशा चले तो अन्तःपुर में भयजनक कहा है। और नौ दिन नित्य सूर्यनाड़ी चलती हो राजा को महाक्लेश होगा। इस तरह दस दिन तक चलती रहे तो राजा के मरण का सूचन है, और ग्यारह दिन बहती रहे तो देश, राष्ट्र के भय को बतलाता है। बारह और तेरह दिन सतत् चलती रहे तो क्रमशः अमात्य और मन्त्री के भय को कहता है। चौदह दिन तक सूर्यनाड़ी चले तो सामान्य राजा का नाश करता है, और पन्द्रह दिन तक सूर्यनाड़ी बहती रहे तो सूर्यलोक में महाभय उत्पन्न होगा, ऐसा सूचक है। यह सारा सूर्यनाड़ी के विषय में कहा है। चन्द्रनाड़ी यदि इसी तरह चले, तो भी वैसे ही जानना। और जिसको सूर्यनाड़ी चलने के कारण बिना भी निश्चय बाह्य अभ्यन्तर पदार्थों में प्रकृति की ऐसी विपरीतता होती है जैसे कि समुद्र में अत्यन्त तूफान आते उससे दिव्य दैवी शब्द सुनाई दे, किसी के आक्रोश के शब्द सुनकर प्रसन्न हो, और मित्र के सुखकर शब्द सुनकर भी हर्ष न हो। नासिका चतुर होने पर भी बुझे हुए दीपक की गन्ध नहीं जान सके, उष्णता में शीतलता की बुद्धि और शीतल में उष्णता का प्रतीत होता है। नील कान्ति वाली मक्खियों की श्रेणियों से यदि सारा शरीर ढक जाए और जिसका मन अकस्मात् डरावना—बेकाबू बन जाए, इत्यादि। सूर्यनाड़ी चलती उसे अन्य भी कोई प्रकृति का विपरीतता हो जाए उसकी अवश्य ही शीघ्र मृत्यु होती है। इसी तरह चन्द्रनाड़ी चलते भी यदि प्रकृति की विपरीतता अनुभव हो तो निश्चित उद्वेग, रोग, शोक, मुख्य मनुष्य अथवा स्वयं को भय होता है और मानहानि आदि भी होती है। इस तरह नाड़ी द्वारा कहा।

६. निमित्त द्वार :—पृथ्वी विकार आदि आठ प्रकार के श्रेष्ठ निमित्त द्वार को भी सामान्य रूप से कहता हूँ। जिसको चलते, खड़े रहते, बैठते अथवा सोते निमित्त बिना भी उस भूमि में वह दुर्गन्धमय या ज्वालाएँ दिखें अथवा भूमि फटे, चकनाचूर हो अथवा करुणा आक्रन्द का रुदन का शब्द सुनाई दे इत्यादि सहसा अन्य भी कोई भूमि विकार दिखे तो छह महीने में मृत्यु होती है। अपनी दृष्टि भ्रम से जो अन्य के केश में धुआँ या अग्नि का तिनका यदि प्रगट हुआ देखे तो देखने वाला शीघ्र मर जाता है। और कुत्ते की हड्डी या मृतक के अवयव को घर में रखे तो भी मरण होता है। और इस ग्रन्थ में पूर्व में उद्यत विहार में राजा को भी आराधक रूप में बतलाया है, इससे उसके निमित्त को भी कई उत्पातों से कहा है। यदि बाजे बजाये बिना भी शब्द हो, अथवा बजाने पर भी शब्द न हो, पानी में और हरे फलों के गर्भ में अग्नि प्रगट हो अथवा बिना बादल वृष्टि हो तो राजा का मरण होगा, ऐसा जानना। इन्द्र ध्वज, राज्य ध्वज, तोरण द्वार, महल का दरवाजा, स्तम्भ या दरवाजे का अवयव आदि यदि सहसा टूटे-गिरे तो वह भी राजा की मृत्यु बतलाता है। यदि सुन्दर वृक्षों में अकाल में फल-फूल प्रगट हुए दिखें अथवा वह वृक्ष ज्वाला और धुआँ छोड़े, ऐसा दिखे तो शीघ्र राजा का वध होने वाला है। यदि बादल रहित निर्मल आकाश में रात्री या दिन में इन्द्र धनुष्य को देखे तो लम्बा आयुष्य नहीं है, आकाश में गीत का शब्द सुना जाये तो रोग आयेगा, और बाजे की आवाज सुनाई दे तो निश्चित मृत्यु होगी। यदि पवन की गति और स्पर्श को नहीं जान सकता अथवा विपरीत जाने अथवा दो चन्द्र को देखे तो उसे मृत्यु की तैयारी वाला जानना। गुदा, तालू, जीभ आदि में निमित्त बिना अचानक दुष्ट प्रगट रूप में फुंसी आदि बहुत अधिक दिखाई दें तो शीघ्र मृत्यु आई है, ऐसा जानना। जिसने निमित्त बिना ही जीभ के अन्तिम भाग में पहले कभी नहीं देखा ऐसा काला बिन्दु देखे तो वह भी एक महीने के अतिरिक्त नहीं जीयेगा। अथवा कर्मवश के कारण जिसका बड़ा अथवा सुन्दर भी, स्वर बिना कारण अचानक हुआ हो, किसी तरह निश्चय मूल स्वभाव से अति नीचा, मन्द पड़ गया हो अथवा महाउग्र बन गया हो अथवा जिसका स्वर अति करुणा वाला दीनता या कठोरता युक्त दीखे, अथवा आवाज पकड़ी जाए, तो वह मनुष्य भी निःसन्देह अन्य शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् वह मर जाता है। जो उत्तम पुरुष को कपाल विभाग में अति लम्बी और स्थूल एक, दो, तीन, चार या पाँच रेखाएँ होती हैं वह अनुक्रम से तीस, चालीस, साठ, अस्सी और सौ वर्ष तक सुन्दर जीवन जीता है। जिस पुरुष का समग्र शरीर निमित्त बिना

सहसा सर्वथा मूल प्रकृति को छोड़कर विकारमय दिखता है, कम्पन होता हो, पसीना आता हो, और थकावट लगे, उपचार करने से भी यदि गुणकारी नहीं हो तो वह भी अकाल में मृत्यु प्राप्त करता है ऐसा जानना। इस तरह मैंने यह निमित्त द्वार को अल्प मात्रा में कहा है। अब सातवाँ ज्योतिष द्वार को कुछ अल्प में कहना चाहता हूँ।

७. ज्योतिष द्वार :—इसमें शनैश्चर पुरुष के समान आकृति बनाकर, फिर निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र में शनि हो, उसके मुख में वह नक्षत्र स्थापित करना (लिखना) चाहिए। उसके बाद क्रमशः आने वाले चार नक्षत्र दाहिने हाथ में स्थापना करना, तीन-तीन दोनों पैरों में, चार बाएँ हाथ में, पाँच हृदय स्थान पर, तीन मस्तक में, दो-दो नेत्रों में, और एक गुह्य स्थान में स्थापित करना चाहिये। इस तरह नक्षत्रों की स्थापना द्वारा अति सुन्दर शनि पुरुष चक्र को स्थापित करके, उसमें अपना जन्म नक्षत्र अथवा नाम नक्षत्र देखे। यदि निमित्त देखने के समय शनि पुरुष गुह्य स्थान में आया हो और उस पर दुष्ट ग्रह की दृष्टि पड़ती हो अथवा उसके साथ मिलाप हो तथा सौम्य ग्रह की दृष्टि या मिलाप न होता हो तो निरोगी होने पर भी वह मनुष्य मर जाता है। रोगी पुरुष की तो बात ही क्या करनी? (यही बात योगशास्त्र प्रकाश पाँच श्लोक १६७ से २०० में आया है) अथवा प्रश्न लग्न के अनुसार बुद्धिमान ज्योतिषी के कहने से स्पष्ट मरणकाल जानना चाहिये। जैसे कि प्रश्न करने के समय जो लग्न चल रहा हो, वह उसी समय यदि क्रूर ग्रह चौथे, सातवें या दसवें में रहे और चन्द्रमा छठा या आठवें राशि हो, रोगी निश्चय मरता है। अथवा लग्न का स्वामी ग्रह अस्त हुआ हो तो भी रोगी अथवा निरोगी हो, तो मर जाता है। यही बात योगशास्त्र प्रकाश, पाँच श्लोक २०१ में आई है। यदि प्रश्न करते समय लग्नाधिपति मेषादि राशि में गुरु, मंगल और शुक्रादि हो अथवा चालू लग्न का अधिपति अस्त हो गया हो तो निरोगी मनुष्य की भी मृत्यु होती है। तथा प्रश्न करते समय लग्न में चन्द्रमा स्थिर हो, बारहवें में शनि हो, नौवें में मंगल हो, आठवें में सूर्य हो और यदि बृहस्पति बलवान न हो तो उसकी मृत्यु होती है। उसी तरह प्रश्न करते समय समय पर चन्द्रमा दसवें में हो और सूर्य तीसरे या छठें में हो तो समझना चाहिए, उसकी तीसरे दिन दुःखपूर्वक निःसन्देह मृत्यु होगी। और यदि पापग्रह लग्न के उदय स्थान से चौथे या बारहवें में हो तो उस मनुष्य की तीसरे दिन मृत्यु हो जायेगी। प्रश्न करते समय चालू लग्न में अथवा पापग्रह पाँचवें स्थान में हो तो निःसंदेह निरोगी भी पाँच दिन में और योगशास्त्र अनुसार आठ या दस दिन में मृत्यु

होती है। तथा अशुभग्रह यदि धनुष राशि और मिथुन राशि में तथा सातवें स्थान में रहा हो तो व्याधि अथवा मृत्यु होती है, ऐसा सर्वज्ञ भगवन्तों ने कहा है। ये सारा वर्णन योगशास्त्र प्रकाश पाँच श्लोक २०२ से २०७ तक आया है। इस तरह कुछ कह अल्प ही ज्योतिष द्वार का वर्णन किया है। अब स्वप्न द्वार को भी अल्पमात्र कहते हैं।

८. स्वप्न द्वार :—विकराल नेत्रों वाली बन्दरी यदि स्वप्न में किसी तरह आलिंगन करे तथा दाढ़ी, मूँछ या बाल नख को काटे, ऐसा स्वप्न में देखे तो जल्दी मृत्यु होगी ऐसा जानना। स्वप्न में अपने को यदि तेल, काजल से विलेपन अंग वाला, बिखरे हुए बाल वाला, वस्त्र रहित और गधे या ऊँट पर बैठकर दक्षिण दिशा जाते देखे तो भी शीघ्र मृत्यु जानना। स्वप्न में रक्त पट वाले तपस्यों का दर्शन अवश्य मृत्यु के लिए होता है, और लाल वस्त्र युक्त स्वप्न में स्वयं गतिमान करते देखे तो भी निश्चय मृत्यु है। यदि स्वप्न में ऊँट या गधे से युक्त वाहन में स्वयं अकेला चढ़े और उस अवस्था में ही जागे तो मृत्यु नजदीक जानना। यदि स्वप्न में काले वस्त्र वाली और काला विलेपन युक्त अंग वाली नारी आलिंगन करे तो शीघ्र मृत्यु होती है। जो पुरुष जाग्रत होते हुए भी नित्य दुष्ट स्वप्नों को देखता है वह एक वर्ष में मर जाता है, यह सत्य केवली कथन है। स्वप्न में भूत अथवा मृतक के साथ मदिरा को पीते जिसको सियार के बच्चे खींचें, वह प्रायः कर बुखार से मृत्यु प्राप्त करेगा। स्वप्न में जिसको सूअर, गधा, कुत्ता, ऊँट, भेड़िया, भैंसा आदि दक्षिण दिशा में खींचकर ले जाएँ उसकी शोष के रोग से मृत्यु होगी। स्वप्न में जिसके हृदय में ताल वृक्ष, बांस या काँटे वाली लता उत्पन्न हो, तो वह गुल्म के दोष से नाश प्राप्त करता है। स्वप्न में ज्वाला रहित अग्नि को तर्पण करते, नग्न और सर्व शरीर पर धी की मालिश युक्त जिस पुरुष के हृदय रूपी सरोवर में कमल उत्पन्न हो, उसका कोढ़ रोग से शरीर नष्ट होगा और शीघ्र यम मन्दिर में पहुँचेगा। और स्वप्न में लाल वस्त्रों को और लाल पुष्पों को धारण करते, हँसते हुये यदि पुरुष को स्त्रियाँ खींचें, उसकी रक्तपित्त के दोष से मृत्यु होगी। स्वप्न में यदि चण्डालों के साथ तेल, धी आदि स्निग्ध वस्तु का पान करता है, वह प्रमेह दोष से मर जाता है। स्वप्न में चण्डालों के साथ जल में डूब जाता है, वह राक्षस दोष से मरता है। और स्वप्न में उन्मादी बनकर नाचते जिसे प्रेत ले जाता है, वह अन्तकाल में उन्माद के दोष से प्राणों का त्याग करेगा। स्वप्न में चन्द्र, सूर्य को नीचे गिरते जो देखे वह नेत्र रोग से मरता है, और स्वप्न में चन्द्र-सूर्य को ग्रहण देखे तो मूत्र कृच्छ्र रोग से मृत्यु होगी। और स्वप्न में जो सुपारी अथवा

तिल पापड़ी का भक्षण करे, वह उसी प्रकार वर्तन से करते मरता है और जल, तेल, चरबी, मज्जा आदि का स्वप्न में पान करने से अतिसार के रोग से मरता है। जिसके स्वप्न में बन्दर, गधा, ऊँट, बिलाव, बाघ, भेड़िया, सूअर के साथ तथा प्रेतों या सियारों के साथ गमन होता हो, वह भी जाने कि— मरने की इच्छा वाला जानना। तथा लाल पुष्प वाले, मूँडा हुआ, नग्न यदि पुरुष को स्वप्न में चण्डाल दक्षिण दिशा में ले जाए और स्वप्न में जिसके मस्तक पर बांस की लता आदि उत्पन्न होने का सम्भव हो, पक्षी घोंसला डाले, कौआ, गिद्ध आदि सिर पर चढ़े, बैठे तथा स्वयं मुंडन किया हुआ देखे, जिसको स्वप्न में ही प्रेत, अपने किसी सम्बन्धी को मरा हुआ, पिशाच, स्त्री या चण्डाल का संगम हो तथा बेत की लता, घास के या बांस के जंगल में या पत्थर वाली अटवी में अथवा काटे वाले जंगल में, खाई में या शमशान में यदि शयन करे अथवा राख में या धूल में गिरे, पानी या कीचड़ में फँस जाए और शीघ्र वेग वाले जल प्रवाह द्वारा बह जाता है तो मृत्यु अथवा भयंकर बीमारी आती है।

तथा स्वप्न में लाल पुष्प की माला को धारण करता, विलेपन करता है, वस्त्र भूषा पहनता तथा गीत गाता है, बाजे बजाता है या नृत्य क्रिया करे, स्वप्न में जिसके अंग का नाश अथवा वृद्धि होती है, गात्र का अभ्यंगन हो, तथा मंगल विवाह, हास्यादि क्रिया होती हो, यदि स्वप्न में मिठाई आदि भोजन को खाए, जिससे उल्टी या विरेचन हो, धन आदि या लोहा आदि कोई भी धातु की प्राप्ति हो, स्वप्न में शरीर के सर्व अंगों को लता के विस्तार से या वृक्ष की छाल से लपेटे, तथा जो स्वप्न में ही झगड़ा करे तथा जिसका बन्धन अथवा पराजय हो, देव मन्दिर, नक्षत्र, चक्षु प्रदीप दांत आदि गिरे अथवा नाश आदि हो, जूते का नाश हो और हाथ पैर की चमड़ी का पतन हो, स्वप्न में अति क्रोधित हुआ चचेरे लोगों से जिसका तिरस्कार हो अथवा सहसा अति हर्ष होता है अथवा जिसका विश्वास भंग हो, तथा स्वप्न में ही रसोईघर में, माता के पास, चिता में, लाल पुष्पों के वन में, अति तंग अन्धकार में जिसका प्रवेश होता है, स्वप्न में भगवा रंग वाला वस्त्र पहनकर लाल आँख वाला त्रिदण्डधारी या नग्न, काला मनुष्य का मुख का, क्षुद्र मनुष्य का दर्शन हो तथा जो स्वप्न में ही रात्री भोजन करता है तथा मन्दिर या पर्वत से गिरता है, जिस पुरुष को मगरमच्छ निगल जाए, अति काली छाया और वस्त्रों वाली, अति पीली आँखों वाली, वस्त्र रहित, विकृत आकार वाली, क्षीण उदर वाली, अति बड़े नख और रोमांचित वाली तथा हँसती स्त्री को

यदि स्वप्न में आलिंगन करते देखे, और अतीव नीच लोग बुलाए और उनके पास जाए अथवा जो हाथी से जुड़ा वाहन द्वारा प्रेत—मृतक भी अथवा मुंडित किसी साधु के साथ खेजड़ा वृक्ष या नीम के वृक्षों से विषय मार्ग वाले जंगल में प्रवेश करे तो वह स्वस्थ भी निश्चय मृत्यु प्राप्त करता है और रोगी तो अवश्य मर जाता है। वह इस प्रकार से—ऊपर कहे अनुसार अति भयंकर स्वप्नों को देखकर रोगी अवश्य मरता है और स्वस्थ मृत्यु के संदेह प्राप्त कर जीता रहता है।

स्वप्न सात प्रकार का होता है—(१) देखा हुआ, (२) सुना हुआ, (३) अनुभव किया हुआ, (४) वातपित्त आदि दोष के कारण से, (५) कल्पित भाव का, (६) इच्छित भावों, और (७) कर्म उदय के कारण से आता है। इसमें प्रथम पाँच प्रकार के स्वप्न निष्फल कहे हैं और अन्तिम दो प्रकार के जो स्वप्न शुभाशुभ का फल सूचक जानना। उसमें जो स्वप्न अति लम्बा अथवा अति छोटा हो यदि देखते ही नाश हो जाए और जो कभी अति प्रथम रात्री देखा हो वह स्वप्न लम्बे समय में अथवा तुच्छ फल को देने वाला होता है और जो अति प्रभात में देखता हो वह उसी दिन अथवा महान् फल को देने वाला होता है। और अन्य ऐसा कहते हैं कि रात्री के प्रथम पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में, दूसरे पहर में देखा हुआ तीन महीने में, तीसरे पहर में देखा हुआ दो महीने में, चौथे पहर में देखा हुआ एक महीने में, और प्रभात काल में देखा हुआ स्वप्न दस अथवा सात दिन में फल देता है। यदि प्रथम अनिष्ट स्वप्न को देखकर बाद में इष्ट को देखे तो उसका शुभफल ही होता है और इसी तरह शुभ स्वप्न देखकर फिर अशुभ स्वप्न देखे तो अनिष्ट फल होता है। तथा श्री जैन प्रतिमा के पूजन से श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करने से तथा तप संयमदान नियम आदि धर्म अनुष्ठान करने से पाप स्वप्न भी मन्द फल वाला हो जाता है। इस तरह से स्वप्न द्वार को कहा है।

६ रिष्ट द्वार :—अब रिष्ट अर्थात् अमंगल द्वार को कहते हैं, क्योंकि अमंगल के बिना मृत्यु नहीं होती है और अमंगल देखने के पश्चात् जीवन टिकता नहीं है। इसलिए आराधक वर्ग को सद्गुरु के उपदेशानुसार सर्व प्रयत्न से अमंगल को हमेशा अच्छी तरह देखना चाहिए। निमित्त बिना भी तर्क रहित भी पुरुष को जो प्रकृति के विकार का सहसा अनुभव होता है उसे यहाँ पर रिष्ट कहा है। अचानक जिसका पैर कीचड़ या रेती आदि में अथवा आगे-पीछे अपूर्ण दिखाई दे, वह आठ महीने भी जीता नहीं रह सकता है। घी के पात में प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य का बिम्ब देखते बीमार को यदि वह पूर्व दिशा खण्डित

देखे तो छह महीने, दक्षिण दिशा खण्डित दिखे तो तीन महीने, पश्चिम दिशा खण्डित दिखे तो दो महीने और उत्तर दिशा खण्डित दिखे तो एक महीने जीवित रहता है। इससे अधिक जीता नहीं रहेगा। और वह सूर्य बिम्ब रेखा वाचा देखे, पन्द्रह दिन छिद्र वाला देखे तो दस दिन और धूम्र सहित देखे तो पाँच दिन तक जीता रहेगा, इससे अधिक नहीं जीयेगा। वायु रहित भी जिसके घर में दीपक के समग्र अंग तेल, बत्ती आदि श्रेष्ठ हो और बार-बार दीपक को प्रगट करने पर भी यदि सहसा बुझ जाए तथा जिस बीमार के घर में निमित्त बिना ही बरतन अति प्रमाण में बार-बार नीचे गिरे और दूट-फूट जाये तो वह भी शीघ्र मर जाता है। जिसको अपने कान आदि पाँच इन्द्रियों द्वारा भी शब्द रस, रूप, गंध और स्पर्श का ज्ञान न हो अथवा विपरीत ज्ञान हो तथा वह बीमार आए हुए श्रेष्ठ वैद्य का और उसके दिया हुआ औषध का अभिनन्दन नहीं करे क्योंकि उसे भी निश्चय अन्य शरीर में जाने में तत्पर बना है ऐसा जानना। जो चन्द्र और सूर्य के बिम्ब को काजल के समूह रूप काला श्याम देखे तो बारह दिन में यम के मुख में जाता है। आहार पानी परिमित मात्रा लेने पर भी जिसको अति अधिक मल मूत्र हो अथवा इससे विपरीत—अधिक आहार पानी लेने पर मल मूत्र अल्प हो तो उसकी मृत्यु नजदीक में जानना। जो पुरुष सद्गुणी भी परिजन, स्वजनादि परिवार में पूर्व में अच्छा विनीत था फिर भी सहसा विपरीत वर्तन करे, उसे भी अल्प आयु वाला जानना। और जिस दिन आकाश तल को नहीं देखे, परन्तु दिन को तारा देखे, देवताओं के विमान देखे, उसे भी यम का घर नजदीक जानना। जो सूर्य चन्द्र के बिम्ब में अथवा ताराओं में एक-दो या अनेक छिद्र देखे उसका आयुष्य एक वर्ष जानना। दोनों हाथ के अंगूठे से कान के छिद्रों को ढाकने के बाद भी यदि अपने कान के अन्दर में आवाज को नहीं सुने तो वह सात दिन में मरता है। दाहिने हाथ से मजबूत दबाकर दबाकर बायें हाथ की उंगलियों के पर्व जिसे लाल नहीं दिखे उसकी भी मृत्यु शीघ्र जानना। मुख, शरीर या चोट स्थान आदि में जिसको बिना कारण अति इष्ट या अति अनिष्ट गन्ध उत्पन्न हो तो वह भी शीघ्र मरता है। जिसका गरमी वाला शरीर भी अचानक कमल के फूल समान शीतल हो, उसे भी यमराज की राजधानी के मार्ग का मुसाफिर जानना।

जहाँ पसीना आता हो ऐसे ताप वाले घर में रहकर हमेशा अपने ललाट को देखे, उसमें यदि पसीना नहीं आता तो जानना कि मृत्यु नजदीक आ गई है। जिसकी सूखी विष्टा तथा थूक शीघ्र पानी में डुब जाये तो वह पुरुष एक महीने में यम के पास पहुँच जाता है। हे कुशल ! निरन्तर जिसके शरीर में

जूं दिखे या उत्पन्न हो अथवा मक्खी शरीर पर बैठे या पीछे घूमे उसे शीघ्रमेव काल भक्षण करने वाला है। जो मनुष्य सर्वथा बादल बिना भी आकाश में बिजली अथवा इन्द्र धनुष्य को देखता है या गर्जना के शब्द सुनता है वह शीघ्र यम के घर जाता है। कुआँ, उल्लू या कंक पक्षी (जिसके पंख बाण के पंख बलते हैं वह) इत्यादि मांसभक्षी पक्षी सहसा जिसके मस्तक के ऊपर आकर बैठे तो वह थोड़े दिनों में यम के घर जायेगा। सूर्य, चन्द्र और ताराओं के समूह को जो निस्तेज देखता है वह एक वर्ष तक जीता है और जो सर्वथा नहीं देखता, वह जीये तो भी छह महीने तक ही जीता है। तथा जो सूर्य या चन्द्र के बिम्ब को अकस्मात् नीचे गिरते देखे तो उसका आयुष्य निःसंशय बारह दिन का जानना। और जो दो सूर्य को देखे तो वह तीन महीने में मर जायेगा। और सूर्य बिम्ब को आकाश में घूमते हुये देखे तो उसका शीघ्र विनाश होगा अथवा सूर्य को और स्वयं को जो एक साथ देखे उसका आयुष्य चार दिन, और जो चारों दिशा में सूर्य के बिम्बों को एक साथ देखे उसका आयुष्य चार घड़ी का जानना। अथवा अकस्मात् सूर्य के समग्र बिम्ब को जो छिद्रों वाला देखता है वह निश्चित दस दिन में स्वर्ग के मार्ग में चला जाता है। सर्व पदार्थों के समूह को जो पीला देखता है वह तीन दिन जीता है, और जिसकी विष्टा काली और खण्डित होती है वह शीघ्र मरता है। जिसने नेत्र का लक्ष्य ऊँचा रखा हो वह अपनी दो भृकुटियों को नहीं देखे तो वह नौ दिन में मरता है। ललाट पर हाथ स्थापित कर देखे तो यदि कलाई मूल स्वरूप देखे, अति कुशतर—पतला नहीं देखे वह भी शीघ्र मरण-शरण स्वीकार करेगा। अंगुली के अन्तिम विभाग से नेत्रों के अन्तिम विभाग को दबाकर देखे यदि अपनी आँखों के अन्दर ज्योति को नहीं देखे वह अवश्य तीन दिन में यम के मुख में जायेगा। यदि अपने हाथ की अंगुली से ढांकने पर बाँयी आँख के नीचे प्रकाश दिखाई न दे तो छह महीने में मृत्यु होती है, भृकुटि का विभाग प्रकाश नहीं दिखे तो तीन महीने में, आँख के कान की ओर प्रकाश नहीं दिखाई दे तो दो महीने में और नाक की ओर प्रकाश दिखाई न दे तो एक महीने में मृत्यु होती है। और इसी क्रमानुसार ऊपर, नीचे, कान, नाक और प्रकाश नहीं दिखे तो उसका आयुष्य क्रमशः दस, पाँच, तीन और दो दिन का जानना। (यह दोनों बातें योगशास्त्र प्रकाश ५ श्लोक १२२ और १२३ में आई हैं) और अन्य लक्ष्य को छोड़कर नेत्रों के बरूनी को नीचे वड़बाकर अति मन्द, नीचे स्थिर पुतली वाले दोनों नेत्रों को नासिका के अन्तिम स्थान पर जैसे स्थिर हो इस तरह निष्कृत जो अपनी नासिका देखते हुए भी नहीं दिखे तो वह पाँच दिन में

मर जायेगा। इस तरह जो अपनी मुख में से निकली हुई जीभ के अन्तिम भाग नहीं देख सकता वह भी एक अहोरात्री रहता है। अब दस श्लोक से काल चक्र की विधि को कहते हैं।

अपनी अवस्था के अनुसार द्रव्य और भाव से परम पवित्र बनकर श्री अरिहंत परमात्मा की उत्कृष्ट विधि से श्रेष्ठ पूजा करके, दाहिने हाथ की शुक्ल पक्ष के रूप में कल्पना करके उसकी कनिष्ठा अंगुली के नीचे के पौर में प्रतिपदा, मध्यम पौर में षष्ठी तिथि और ऊपर के पौर में एकादशी तिथि की कल्पना करे, फिर प्रदक्षिणाक्रम से शेष अंगुलियों के पौर में शेष तिथियाँ कल्पना करें, अर्थात् अनामिका अंगुली के तीनों पौरों में दूज, तीज और चौथ की मध्यमा के तीनों पौरों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीनों पौरों में द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करनी, और अंगूठे के तीनों पौरों में पंचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करनी चाहिये। इसी तरह बाएँ हाथ में कृष्ण पक्ष की कल्पना कर दाहिने हाथ के समान अंगुलियों के पौरों में तिथियों की कल्पना करे, उसके बाद महासात्त्विक बुद्धिशाली आत्मा एकान्त प्रदेश में जाकर पद्मासन लगा करके दोनों हाथों को कमल-कोश के आकार में जोड़ करके प्रसन्न और स्थिर मन, वचन, काया वाला उज्ज्वल वस्त्र से अपने अंग को ढांककर उसमें ही एक स्थिर लक्ष्य वाला उस हस्त कमल में काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे, उसके बाद हस्त कमल खोलने पर जिस-जिस अंगुली के अन्दर कल्पित सुदि, बदि तिथि में काला बिन्दु दिखाई दे उसी तिथि के दिन निःसन्देह मृत्यु होगी, ऐसा समझ लेना चाहिए। ऐसा ही वर्णन योगशास्त्र प्रकाश ५ श्लोक १२६ से १३४ तक में आया है। श्री गुरु वचन बिना निश्चय सकल शास्त्र के जानकार होने पर भी, लाखों जन्म में भी किसी तरह अपनी को नहीं जान सकता है। अर्थात् इस विषय में गुरुगम से जानना आवश्यक है। इस तरह दस गाथा से यह काल ज्ञान को बतलाया है। इसका ध्यान प्रतिपदा के दिन करे कि जिससे मृत्यु ज्ञान हो सके।

जिसके ललाट, हृदय में अथवा मस्तक में आकृति से दूज के चन्द्र समान अपूर्व नस्ते का उभार हो अथवा रेखा हो, या जिसके मस्तक में उपला के चूर्ण समान दिखे, अथवा गाढ़ काला श्याम दिखे उसका जीवन एक महीने में विनाश हो जायेगा। दाँत भी जिसके सहसा अत्यन्त नये उत्पन्न हों, या कड़-कड़ाहट वाले बनें, रुखे अथवा श्याम बन जायें तो उसे भी यम के पास जाने वाला समझना। दाँत के किसी रोग के बिना भी अचानक जिसके दाँत गिरे

या दूटें वह शीघ्र अन्य जन्म लेने वाला है। जिसकी जीभ भी श्याम, सफेद, सूज गई हो, माप से अधिक अथवा कम हो जाए या स्थिर हो जाए उसे भी निश्चित मरण का शरण स्वीकार करने वाला है। किसी कारण बिना भी जिसके आँखों में से हमेशा पानी बहे और जीभ में शोष (रोग) हो तो वह अवश्य क्रम से दस और सात दिन में मरता है। गला बन्द हो जाये, तो एक पहर में और तालु का क्षोभ होते ही एक सौ श्वासों श्वास में वज्र के अखण्ड पिंजरे में भी पुरुष को यम ले जाता है। आकर्षण या मरोड़े बिना ही जिसकी अंगुलियाँ सहसा फट जाएँ वह मनुष्य भी अवश्य शीघ्र शरीर को बदलेगा। यदि निमित्त बिना ही मुख अथवा वाचना थक जाये, बोलते बन्द हो अथवा निमित्त बिना दृष्टि का नाश, अन्धा हो जाए वह यत्नपूर्वक जीये तो भी तीन दिन से अधिक नहीं जीयेगा। शरीर से स्वस्थ भी जो अपने बाएँ कन्धे का शिखर नहीं देखे, उसे भी अल्पकाल में काल का कोर बनने वाला जानना। जिसके हाथ, पैर को सख्त दबाने पर अथवा खींचने पर भी आवाज नहीं हो, जिसकी रात्री दिग्मोह हो और वीर्य-धातु अति प्रमाण में नष्ट हो और छींक, खाँसी और मूत्र की क्रिया के समय कारण बिना ही जिसे अपूर्व—कभी सुना भी नहीं हो, ऐसी आवाज हो, वह भी यम राजा की खुराक बनता है। स्नान करने पर भी कमलिनी के पत्तों के समान जिसके अंग को पानी स्पर्श न करे, शरीर गीला नहीं हो वह छह महीने के अन्त में यम का संग करेगा। जिसके स्नान के बाद या विलेपन करते दूसरे अंग गीले होते हुये भी सीना पहले सूख जाये वह अर्ध-मास—पन्द्रह दिन नहीं जीयेगा। जिसके बाल सूखे फिर भी तेल बिना ही सहसा तेल से व्याप्त जैसे अति स्निग्ध हो जाएँ और कंधी किये बिना भी अलग-अलग विभाग वाला बनना, दोनों भ्रुकुटियाँ सिकौड़े बिना भी सिकौड़ी हुई दिखे अथवा कम्पायमान होती हो, बरूनी नेत्रों के अन्दर प्रवेश करती हो अथवा बाहर निकलती दिखे अथवा उल्लू कबूतर की आँखों के समान दोनों आँखें निमेष रहित स्थिर हों तथा जिसकी अभ्रान्त—निर्मल दृष्टि नष्ट हो वह भी शीघ्र मरता है। जिसकी नासिका सहसा टेढ़ी हो जाये, फुंसी से युक्त या अत्यन्त फूटी हो या सिकुड़ गई हो, छिद्र वाली हो गई हो वह भी अन्य जन्म जाने को चाहता है। छह महीने में मरने वाले की शक्ति, सदाचार वायु की गति, स्मृति बल, और बुद्धि, इन छह वस्तु निमित्त बिना ही परिवर्तन हो जाती है। जिसके शरीर की चोट में से दुर्गन्ध निकले, रुधिर अति काला निकले, जीभ के मूल में जिसको पीड़ा हो अथवा हथेली में असह्य वेदना हो, जिसकी चमड़ी केश स्वयं दूटे, जिसके काटे हुए रोम पुनः बढ़े नहीं, जिसके हृदय में

अतीव उष्णता रहे, और पेट में अति शीतलता रहे, बाल को पूछने पर भी जिसको वेदना न हो उस मनुष्य को छह दिन में यमपुरी जाने वाला समझना । इस तरह रिष्ट द्वार कहा । अब जिस विशिष्ट धारणा—शक्ति वाला होता है, इस कारण से कुछ अल्पमात्र यन्त्र प्रयोग को कहता हूँ ।

१०. यन्त्र द्वार :—अन्य व्याक्षेपों से रहित यन्त्र प्रयोग में एकाग्र चित्त वाला औपचारिक विधि करके प्रथम षट्कोण यन्त्र के मध्य में ॐकार सहित अधिगत मनुष्य को अपना नाम लिखना चाहिये । फिर यन्त्र के चारों कोणों में मानो अग्नि की सैंकड़ों ज्वालाओं से युक्त अग्नि मण्डल अर्थात् 'रकार' का स्थापन करना चाहिये, उसके बाद छहों कोणों के बाहरी भाग में छह स्वस्तिक लिखना चाहिये । फिर अनुसार सहित अकार आदि—अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, छह स्वरों से कोणों के बाह्य भागों को घेर लेना चाहिए । स्वस्तिक और स्वर के बीच-बीच में ' छह 'स्वा' अक्षर लिखे फिर चारों और विसर्ग सहित 'यकार' की स्थापना करना और उस यकार के चारों तरफ 'पायु' के पूर से आवृत्त संलग्न चार रेखाएँ खींचना । इस तरह बुद्धि में कल्पना कर या यन्त्र बनाकर पैर, हृदय, मस्तक और संधियों में स्थापन करना, फिर स्व, पर आयुष्य निर्णय करने के लिए, सूर्योदय के समय सूर्य की ओर पीठ करके और पश्चिम में मुख करके बैठना अपनी परछाई को अति निपुण रूप में अवलोकन करना चाहिए । यदि पूर्ण छाया दिखाई दे तो एक वर्ष तक मृत्यु का भय नहीं है, यदि कान दिखाई न दे तो बारह वर्ष तक जीता रहेगा, हाथ न दिखने से दस वर्ष में, यदि अंगुलियाँ न दिखे तो आठ वर्ष, कन्धा न दिखे तो सात वर्ष में, केश न दिखे तो पाँच में, पार्श्व भाग न दिखे तो तीन वर्ष में, और नाक नहीं दिखे तो एक वर्ष में, मस्तक नहीं दिखे तो छह वर्ष में, यदि गर्दन नहीं दिखे तो एक महीने में, दाढ़ी नहीं दिखे तो छह महीने में, यदि आँखें न दिखे तो ग्यारह दिन और यदि हृदय में छिद्र दिखाई दे तो सात दिन में मृत्यु होगी और यदि दो छायाएँ दिखाई दें तो समझ लेना कि अब मृत्यु बहुत ही निकट है । (यही वर्णन योगशास्त्र पृ० ५ श्लोक २०८ से २१५ तक आया है ।) स्नान करने के बाद यदि मनुष्य के कान आदि अंग शीघ्र सूख जाएँ तो पूर्व कहे यन्त्र प्रयोग की विधि अनुसार उतने वर्ष, महीने और दिनों में अवश्य मरता है । इस प्रकार आयुष्य को जानने के लिए उपायभूत यन्त्र प्रयोग द्वार कहा है अब ग्यारहवाँ अन्तिम विद्या द्वार कहते हैं ।

११. विद्या द्वार :—अब विद्यामन्त्र से भी काल ज्ञान हो सकता है, इससे कुतूहल वाले आराधक अथवा अन्य पुरुष इसी तरह स्व और पर के

मृत्युकाल को सम्यग् जान सकता है। उस प्रकार से कहते हैं—अति पवित्र बना हुआ और एकाग्र चित्त वाला पुरुष चोटी में 'स्वा' मस्तक में 'ॐ' दोनों आँखों में 'क्षि' हृदय में 'प' और नाभि में 'हा' अक्षरों का स्थापन करके, फिर

“ॐ जुसः, ॐ मृत्युं जयाय, ॐ वज्रपाणिनि, शूलपाणिने,
हर हर, दह दह स्वरूप दर्शन दर्शन हूँ फट फट।”

इस विद्या से १०८ बार अपने दोनों नेत्रों को मन्त्रित कर फिर अरूणोदय के समय अपनी छाया को उसी तरह मन्त्रित करके सूर्योदय के सूर्य को पीठ करके पश्चिम में मुख रखकर निश्चय शरीर वाला अपने दूसरे के लिए और के लिए अपनी और दूसरे की छाया को सम्यग् रूप मन्त्रित कर परम उपयोगपूर्वक उस छाया को देखना चाहिये। यदि वह छाया सम्पूर्ण रूप में दिखाई दे तो एक वर्ष तक मृत्यु नहीं होगी। छाया में पैर, जंघा और घुटना न दिखाई देने पर क्रमशः तीन, दो और एक वर्ष में मृत्यु होगी। अरू (पिण्डली) न दिखाई दे तो दस महीने में, कमर न दिखाई दे तो आठ-नौ महीने में, और पेट न दिखाई दे तो पाँच-छह महीने में मृत्यु होती है। यदि गर्दन न दिखाई दे तो चार, तीन, दो अथवा एक महीने में मृत्यु होती है। यदि बगल न दिखाई दे तो पन्द्रह दिन में और भुजा न दिखाई दे तो दस दिन में मृत्यु होती है। यदि कंधा न दिखाई दे तो आठ दिन में, हृदय में छिद्र न दिखाई दे तो चार मास में, योगशास्त्र में यदि हृदय न दिखाई दे तो चार प्रहर का काल बतलाया है और मस्तक दिखाई न दे तो दो प्रहर में ही मृत्यु होगी तथा किसी कारण से उस पुरुष को छाया का यदि सर्वथा न दिखाई दे तो तत्काल ही मृत्यु होती है। (इसी प्रकार वर्णन योगशास्त्र में प्रकाश ५ श्लोक २१७ से २२३ में आया है।) यद्यपि आयुष्य को जानने के लिए इसके अतिरिक्त अनेक उपाय शास्त्रों में कहे हैं फिर भी यहाँ वह अल्पमात्र कहा है। योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में कई मन्त्रान्तर बतलाएँ हैं। इस तरह मूल परिकर्म द्वार का नीचा परिणाम अन्तर द्वार में भी सातवाँ आयुष्य ज्ञान द्वार नाम का अन्तर द्वार सुन्दर रूप से कहा है। अब 'अनशन सहित संस्तारक दीक्षा का स्वीकार' इस नाम के आठवें द्वार को मैं कहता हूँ।

८. अणसण प्रतिपत्ति द्वार :—पूर्व कहने के अनुसार विधि से मृत्युकाल नजदीक जानकर अन्तिम आराधना की विधि को सम्पूर्ण आराधना की इच्छा वाला जन्म-मरण, जरा से भयंकर दीर्घ संसारवास से भयभीत बना श्री जैन वचन के श्रवण करने से प्रकट हुआ तीव्र संवेग श्रद्धा वाला और प्रमादादि गुणरूप समृद्धि वाला उत्तम श्रावक के चित्त में निश्चित स्वभाव से ही नित्य ऐसी भावना होती है। अरे रे ! मुझे परम अमृत सदृश जैन वचन की श्रद्धा

होने पर भी अभी भी पापों का धरूप इस गृहवास में रहना किस तरह योग्य है ? अर्थात् सर्वथा अयोग्य है । इन्द्रियों के विषयों में आसक्त और परमार्थ से बैरी भी पत्नी आदि परिवार में गाढ़ राग वाला अनार्य मुझे धिक्कार हो ! उन साधुओं को धन्य है कि जो मोहरूपी योद्धा को जीतने वाले हैं । जितेन्द्रिय, सौम्य, राग-द्वेष से विमुक्त, संसाररूपी वृक्ष को नाश करने में तीक्ष्ण शस्त्र समान है । उन्होंने आश्रव को रोककर तपरूप धन बढ़ाने वाले हैं । क्रिया में अत्यन्त आदर वाला शाश्वत सुखरूप मोक्ष के लिए सतत् सम्यग् उद्यम को करते हैं, इसलिए मेरा वह दिन कब आयेगा ? कि जब मैं गीतार्थ गुरु के पास चारित्र्य को स्वीकार करके मोक्षार्थ उद्यम करूँगा । मोक्षार्थ को साधन करने के अन्य सर्व सामग्री प्राप्त होने पर भी सर्व विरति बिना शाश्वत सुख वाला मोक्ष कैसे प्राप्त होगा ? इसलिए अब जब तक मेरे आयुष्य मास वर्ष आदि विद्यमान हैं, तब तक सर्व राग का त्याग करके मोक्ष मार्ग का अनुकरण करूँ । अथवा लम्बा आयुष्य दूर रहे ! निश्चय समभाव में प्रवृत्ति करते मुझे एक मुहूर्त भी यदि प्रवज्या के परिणाम में हो जाए अर्थात् सर्व विरति गुण स्पर्श हो जाए तो क्या प्राप्त न हो ? ऐसे परिणाम से युक्त बना व्रणपूर्वक बढ़ते तीव्र संवेगवाला श्री गुरुदेव के पास जाकर शुद्ध भाव से कहता है कि—हे भगवन्त ! कर्णारूपी अमृत के झरने से श्रेष्ठ आपने मुझे जो कहा था कि—‘आलोचनादि पूर्वक दीक्षा आदि स्वीकार कर ।’ और मैंने भी ‘इच्छामि’ ऐसा कहकर जो स्वीकार किया था । अतः अब मैं जितनी आयुष्य शेष है, तब तक वैसा करना चाहता हूँ । हे पुज्य पुरुष ! मैं प्रवज्या रूपी अति प्रशस्त नाव में बैठकर परम तारक आप श्री की सहायता से संसार समुद्र को तरना चाहता हूँ ।

उसके बाद अत्यन्त भक्ति भाव से नमते हुए मस्तक वाले उसे गुरु महाराज भी विधिपूर्वक निरवद्य प्रवज्या (दीक्षा) दे । और यदि वह देश विरति और सम्यक्त्व का रागी तथा जैन धर्म में रागी हो, तो उसे अति विशुद्ध अणु-व्रतों को उच्चारणपूर्वक दे । फिर बाह्य इच्छा रहित उदार मन वाला और हर्ष से विकसित रोमांचित शरीर वाला, वह भक्तिपूर्वक गुरु महाराज का और साधार्मिकादि संघ की पूजा करे और अपने धन को नये श्री जैन मन्दिर, श्री जैन विम्ब, और उसकी उसकी उत्तम प्रतिष्ठा में, तथा प्रशस्त ज्ञान की पुस्तकों में, उत्तम तीर्थों में, तथा श्री तीर्थंकर देव की पूजा में खर्च करे । परन्तु किसी तरह वह सर्व विरति में युक्त अनुराग वाला हो, विशुद्ध बुद्धि और काया वाला, स्वजनों के राग से मुक्त और विषय रूपी विष से यदि

विरागी हो, तो सर्व पाप को त्याग करने में उत्साही संयमरूपी श्रेष्ठ राज्य के रस वाला वह महात्मा संस्तारक दीक्षा को भी स्वीकार करे। उसमें यदि अणुव्रतधारी और केवल संधारारूप श्रमण दीक्षा को प्राप्त करता हो, वह संलेखनापूर्वक अन्तःकाल में अनशन अर्थात् चारों आहार का त्याग करे। इस तरह गृहस्थ का अनशन पूर्वक संस्तारक दीक्षा की प्राप्ति नामक आठवाँ द्वार कहा है, ऐसा कहने से गृहस्थ के परिणाम को कहा है। अब समग्र गुणमणि के निधान स्वरूप श्री मुनियों के विषय में परिणाम कहते हैं, वह परिणाम इस तरह चिन्तन द्वारा शुभ होते हैं।

मध्यरात्री में धर्म जागरण करते हुए चढ़ते परिणाम वाला मुनि विचार करे कि—अहो ! यह संसार समुद्र रोग और जरा रूपी मगरों से भरा हुआ है। हमेशा होने वाले जन्म मृत्यु रूपी पानी वाला, द्रव्य क्षेत्र आदि की चार प्रकार की आपत्तियों से भरा हुआ, अनादि सतत् उत्पन्न होते विकल्परूपी तरंगों द्वारा हमेशा जीवों का नाश करता रौद्र और तीक्ष्ण दुःखों का कारण है। उसमें अति दुर्लभ मनुष्य जन्म को महा मुश्किल से प्राप्त करके भी जीव अति दुर्लभ श्री जैन कथित धर्म सामग्री को प्राप्त कर सकता है। उसे प्राप्त करके भी अविरतिरूपी पिशाचनी के गाढ़ बन्धन में पड़े हुए जीवों को असामान्य गुणों से श्रेष्ठ साधुत्व प्राप्त करना तो परम दुर्लभ ही है। कई दुर्लभ भी साधु जीवन को प्राप्त करके थके हुये और सुखशील कीचड़ में फँसने से बड़े हाथी के समान दुःखी होते हैं। जैसे कांकिणी के लिए कोई महामूल्य करोड़ों रत्नों को गँवा देता है, वैसे संसार के सुख में आसक्त जीव मुक्ति के सुख को हार जाता है। अरे ! यह शरीर, जीवन, यौवन, लक्ष्मी, प्रिय संयोग, और उसका सुख भी अनित्य परिणाम वाला, असार और नाश वाला है, इसलिए अति दुर्लभ मनुष्य जीवन और श्री जैन वचन आदि सामग्री को प्राप्त कर पुरुष को शाश्वत सुख में एक रसवाला बनना चाहिए। भव्य जीवों को आज जो संसार का सुख है, वह कल स्वप्न समान केवल स्मरण करने योग्य बन जाता है। इस कारण से पंडित जन उपसर्ग बिना का मोक्ष का शाश्वत सुख की इच्छा करते हैं। चक्रवर्ती और इन्द्र के सुख को भी ज्ञानियों ने तत्त्व से दुःख स्वरूप कहा है, क्योंकि—वह परिणाम से भयंकर और अशाश्वत है। अतः मुझे उस सुख से क्या प्रयोजन है ? शाश्वत सुख की प्राप्ति यह अवश्य श्री जैन आज्ञा के आराधना का फल है। अतः श्री जैन वचन से विशुद्ध बुद्धिपूर्वक उस आज्ञा पालन में उद्यम करूँ। इतने समय में तो सामान्यता से श्रमण जीवन का पालन किया, अब वर्तमान काल में कुछ विशिष्ट क्रिया की साधना करूँ !

क्योंकि—पश्चात्ताप से पीड़ित, धर्म की प्रीति वाला, दोषों को दूर करने की इच्छा वाला पासत्था आदि दुःशील भी उस विशिष्ट आराधना के लिए योग्य है। मेरी तो वह करणीय है ही। और शरीर बल हमेशा क्षीण हो रहा है, पुरुषार्थ और वाणी शक्ति भी नित्य विनाश हो रही है तथा वीर्य-सामर्थ्य भी हमेशा नाश हो रहा है, कान की शक्ति सदैव कम हो रही है, नेत्र का तेज सदा खत्म हो रहा है, बुद्धि नित्य घट रही है और आयुष्य भी हमेशा खत्म हो रही है।

अतः जब तक बल विद्यमान है, वीर्य विद्यमान है, पुरुषकार विद्यमान है और पराक्रम विद्यमान है, जब तक इन समग्र इन्द्रियों की शक्ति से क्षीण नहीं होती और जब तक द्रव्य, क्षेत्रादि सामग्री अनुकूल है, तब तक जैन कल्प आदि कुछ भी उग्र मुनिचर्या का आचरण कल्लूँ, अथवा विशिष्ट संघयण के विषय यह चर्या हमारे योग्य नहीं है, इसलिए वर्तमान काल के साधुओं के संघयण के अनुरूप विशिष्ट कर्तव्य का मैं विधिपूर्वक स्वीकार कल्लूँ, क्योंकि—दुर्लभ मनुष्य जन्म का फल यही है। इस तरह केवल सामान्य मुनि के समान ही नहीं, परन्तु मुनियों में वृषभ भी मुनि अपनी अवस्था के अनुरूप धर्म जागरण का मनोरथ पूर्ण करता हूँ, जैसे कि—मैंने अति दीर्घ दीक्षा पर्याय पालन किया, वाचना भी दी, शिष्यों को तैयार किया, ज्ञान क्रियाशील बनाये और उनके उचित मेरा कर्तव्य का पालन भी किया। इस तरह मेरी भूमिका के उचित जो भी कार्य था, वह क्रमानुसार किया है। अब मुझे कुछ भी उसे विशेषतया करना। अत्यन्त दुष्ट पराक्रम वाला, प्रमादरूप शत्रु सैन्य की पराधीनता से पूज्यों के प्रति मेरे करने योग्य कार्य नहीं किया और नहीं करने योग्य कार्य को किया। इन सबको छोड़कर अब दीर्घकाल तक चरण-करण गुणों को पालने वाला और दीर्घकाल श्री जैनेन्द्र धर्म की प्ररूपणा करने वाला मुझे अब विशेषतया आत्महित को करना है, वही कल्याणकारी है। किन्तु श्री जैन आगम के रहस्यों के जानकार और प्रशमादि गुण समूह से अलंकृत शिष्य को मेरा सूरिपद स्थापन कर और साधु-साध्वी समुदाय को सम्यग् उसकी निश्ठा में स्थापित कर, सामर्थ्य और आयुष्य विद्यमान रहते हुए आत्मा के बल और वीर्य को छिपाये बिना मैं यथाछन्द चारित्र का परिहार विशुद्धि चारित्र को अथवा जैनकल्प को स्वीकार कल्लूँगा, अथवा तो पादयोपगमन, इंगिनी या भक्त परिक्षा आदि कोई अनशन करने का स्वीकार करता हूँ। इस प्रकार चिन्तन करके और प्रयत्नपूर्वक उसका प्राथमिक अभ्यास करके शेष महान आराधना की यदि आशक्ति हो, तो भक्त परिक्षा का निर्णय करे। इस तरह सम्यक्त्व की प्राणदात्री तुल्य और मोक्ष नगर के मुसाफिरों के बाहन सद्यः संवेगरंगशाला

नाम की आराधना के प्रथम परिकर्म द्वार के दो प्रकार के परिणाम नामक नीचाँ प्रतिद्वार में साधु परिणाम नाम को यह दूसरा प्रकार का भी कहा है और उसे कहने से मूल परिकर्म विधिद्वार का दो भेद वाला यह नीचाँ परिणाम नाम का अन्तर द्वार पूर्ण हुआ ।

वसवाँ त्याग द्वार :—इस तरह शुभ परिणाम से युक्त भी प्रस्तुत आराधक जीव विशिष्ट त्याग विना आराधना की साधना में समर्थ नहीं हो सकता है, इसलिए अब त्याग द्वार कहते हैं । वह त्याग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण चार प्रकार का जानना । उसमें जो पूर्व में कहा था उसके अनुसार गृहस्थ आराधना को प्रारम्भ करते ही पुत्र को धन सौंप कर द्रव्य का त्याग किया जाता है । फिर भी विशिष्ट आराधना करते समय अब शरीर परिवार, उपाधि आदि अन्य भी बहुत द्रव्यों में राग नहीं करने रूप विशेषतया त्याग करना चाहिये । तथा क्षेत्र से भी यदि पहले नगर, गाँव, घर आदि का त्याग किया हो, फिर भी इस समय पर इष्ट स्थान में भी उसे मूर्छा को छोड़नी चाहिए । काल से शरद ऋतु आदि में उस काल में भी बुद्धि को आसक्त नहीं करनी चाहिए और इस तरह ही भाव में भी 'अप्रशस्त भावों का राग न करना' इत्यादि जानना । इस तरह मुक्ति की गवेषणा करते और विशुद्ध लक्ष्या वाले मुनि भी केवल संयम की साधना के सिवाय अन्य सारी उपाधि का त्याग करे । तथा उत्सर्ग मार्ग को चाहता मुनि अल्प परिकर्म और अति परिकर्म वाला—ये दोनों प्रकार की शय्या, संधारा आदि का त्याग करे । और जो साधु पाँच प्रकार की शुद्धि किये और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त किये बिना मुक्ति की चाहना करता है, वह निश्चय समाधि को प्राप्त नहीं करता है । उसमें आलोचना की, शय्या की, उपाधि की, आहार, पानी की और वैयावच्य कारक की, इस तरह शुद्धि पाँच प्रकार कही हैं । अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की शुद्धि तथा विनय और आवश्यक की शुद्धि, ये भी पाँच प्रकार की शुद्धि होती हैं । और विवेक इन्द्रियों का, कषाय का, उपाधि का, आहार पानी का, और शरीर का, ये पाँच प्रकार के विवेक दो भेद से हैं—द्रव्य से और भाव से । अथवा (१) शरीर का, (२) शय्या का, (३) संधारा सहित उपाधि का, (४) आहार पानी का, और (५) वैयावच्य कारक का । यह भी पाँच प्रकार का विवेक अर्थात् त्याग समझना । इस तरह से उन सर्व का त्याग करने वाला उत्तम मुनि सहस्र मल्ल के समान मृत्युकाल में भी लीलामात्र से सहसा विजय पताका को प्राप्त करता है । वह इस प्रकार है :—

त्याग पर सहस्र सल की कथा

जंखपुर नगर में न्याय, सत्य, शीर्ष आदि गुणरूपी रत्नों का रत्नाकर के समान कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। उसकी सेवा करने में कुशल गुणानुरागी और परम भक्ति वाला वीरसेन नाम का एक सेवक था। उसके वित्त, पराक्रम आदि गुणों से प्रसन्न हुये राजा ने एक सौ गाँव की आजीविका देने को कहा, परन्तु वह नहीं चाहता था। एक समय में किल्ले के बल से अभिमानी चोरों का अधिपति अपने प्रदेश की सीमा में कालसेन नामक पल्लिपति रहता था। उसे अपने देश का हरण करते जानकर अत्यन्त क्रोधावमान होकर और भृकुटी को ऊँची चढ़ाकर भयंकर मुख वाले राजा ने कहा कि—अरे ! महान्त सामन्त ! हे मन्त्रियों ! सेनापतियों ! और हे श्रेष्ठ सुभटों ! क्या तुम्हारे में ऐसा कोई समर्थ है, जो कालसेन को जीत सके ? ऐसा कहने पर भी जब सामन्त आदि कोई भी नहीं बोले, तब वीरसेन ने कहा—‘हे देव ! मैं समर्थ हूँ !’ तब राजा ने विंदासी चमकती सुन्दर बरौनी वाली और विकसित कुमुद के समान शोभते प्रसन्न दृष्टि से सद्भावपूर्वक उसके सामने देखा। और राजा ने प्रसन्न नेत्रों से अपने सामने देखने से अति प्रमोद भाव प्रगट हुआ और उसने पुनः कहा कि—‘हे देव ! ‘आप मुझे अकेले ही भेजो’ तब राजा ने अपने हस्त कमल से ताम्बूल देकर उसे भेजा और सामन्त आदि लोग भी चुपचाप मौन रहे। फिर राजा को नमस्कार करके वह शीघ्र नगर में से निकल कर कालसेन पल्लिपति के पास पहुँचा। और उसने उसको कहा कि—‘तेरे प्रति राजा कनककेतु नाराज हुए हैं, इसलिए हे कालसेन ! अभी ही समग्र सेना सहित तू काल के मुख में प्रवेश करेगा। यह सुनकर भी दुर्धर गर्व से ऊँची गर्दन वाला कालसेन ने ‘यह विचारा अकेला क्या करेगा ?’ ऐसा मान कर उसकी अब गणना की। इससे कोपायमान हुआ यमराजा के कटाक्ष समान तीक्ष्ण धार वाली अपनी तलवार को घुमाता हुआ, अंग रक्षकों के समूह शस्त्र प्रहारों को कुछ भी नहीं गिनते और सभा सदस्यों को भेदन कर, युद्ध के सतत अभ्यास से लड़ने में शूरवीर वह शीघ्र कालसेन के पास जाकर और केश से पकड़कर बोला—अरे रे ! हताश पुरुषों ! यदि अब इसके बाद मेरे ऊपर शस्त्र को चलायेगा तो तुम्हारा यह स्वामी निश्चित काल का कौर बनेगा। फिर ‘जो इस वीरसेन को प्रहार करेगा वह मेरे जीव के ऊपर प्रहार करता है।’ ऐसा कहते कालसेन ने वीरसेन पर प्रहार करते पुरुषों को रोका।

इधर उस समय में ही उसके गुण से प्रसन्न हुआ कनककेतु के कहने से हाथी, घोड़े, रथ और यौद्धाओं से सम्पूर्ण चतुरंग सेना उसके पीछे आ पहुँची,

तब व्याकुलता रहित शरीर वाला और भक्ति के समूह से भरे मन वाले वीर-सेन ने उस कालसेन को ठगकर कनककेतु को सौंप दिया। राजा ने प्रसन्न होकर उसे आदरपूर्वक हजार गाँव दिये और राजा ने स्वयं उसका नाम सहस्र मल्ल रखा। फिर सन्धि करके हर्षित मन वाले राजा ने सत्कार करके मंडवा-धिपति कालसेन को भी उसके स्थान पर भेज दिया। एक समय कालक्रम से सहस्र मल्ल ने वहाँ उद्यान में सुदर्शन नाम के श्रेष्ठ आचार्य श्री को बैठे हुए देखा और भक्ति पूर्वक नमस्कार करते, मस्तक द्वारा उनके चरणों को वन्दना कर जैन धर्म को सुनने की इच्छा वाला वह भूमि के ऊपर बैठा। गुरुदेव ने भी संसार की असारता की उपदेश रूपी मुख्य गुण वाला और निर्वाण की प्राप्ति रूप फल वाला श्री जैन कथित धर्म को कहा और उसको सुनने से अन्तर में अति श्रेष्ठ वैराग्य उत्पन्न हुआ। राजा वीरसेन पुनः गुरु के चरणों को नमन करके बोलने लगा कि—हे भगवन्त ! तप-चारित्र से रहित और अत्यन्त मोह मूढ़ संसार समुद्र में पड़े जीवों के परभव में सहायक एक निर्मल धर्म को छोड़कर कामभोग से अथवा धन स्वजनादि से थोड़ा भी सहायता नहीं मिलती है। इसलिए यदि आपको मेरी कोई भी योग्यता दिखती हो तो शीघ्र मुझे दीक्षा दो। परिणाम से भयंकर घरवास में रहने से क्या प्रयोजन है ? उसके बाद गुरु महाराज ने ज्ञान के उपयोग से उसकी योग्यता जानकर असंख्य दुःखों का समूह को क्षय करने वाली श्री भागवती दीक्षा दी। उसके बाद थोड़े दिनों में अनेक सूत्रार्थ का अध्ययन करके वह साधुजन के योग्य श्रेष्ठ क्रिया कलाप का परमार्थ का जानकार बना। फिर कालक्रम से शरीरादि के राग के अत्यन्त त्यागी, दृढ़ वैरागी और बाह्य सुख की इच्छा से रहित उसने जैन कल्प को स्वीकार किया। फिर जहाँ सूर्य का अस्त हो, वहीं कार्यात्सर्ग में रहता, शमशान, बून्य घर या अरण्य में रहते वायु के समान अप्रतिबद्ध और अनियत विहार से विचरण करते वह महान-आत्मा जहाँ शनिग्रह के सदृश स्वभाव से ही क्रूर और चिरवैरी कालसेन रहता था उस मण्डप में पहुँचा। उसके बाद वहाँ बाहर काउस्सग में रहे। उसे वहाँ आकर पापी उस कालसेन ने देखा। इससे अपने पुरुषों से कहा कि—अरे ! यह वह मेरा शत्रु है कि उस समय इसने अकेले ही लीलामात्र में मुझे बाँधा था, इसलिए अभी जहाँ तक स्वयमेव यह विश्वास, शस्त्र रहित है, वहाँ तक सहसा उसके पुरुषार्थ के अभिमान को नाश करो।

यह सुनकर क्रोध के वश फड़फड़ाते होंठ वाले उन पुरुषों द्वारा विविध शस्त्रों से प्रहार सहन करते वे मुनि विचार करने लगे कि—हे जीव ! मारने

के लिए उद्यत हुए इन अज्ञानी पुरुषों के प्रति किसी तरह अल्प भी द्वेष नहीं रखना है, क्योंकि "सर्व प्राणी वर्ग अपने पूर्वकृत कर्मों के विपाक रूप फल को प्राप्त करता है, अपकारों में या उपकारों में दूसरा तो केवल निमित्त मात्र होता है।" हे जीवात्मा ! यदि फिर भी तुझे तीक्ष्ण दुःखों की परम्परा को सहन करनी है, तो सद्ज्ञान, रूप, मित्र आदि से युक्त तुझे अभी ही सहन करना श्रेष्ठ है। यदि ! ब्रह्मदत्त नामक बलवान चक्रवर्ती को भी केवल एक पशु-पालक गड़रिये ने नेत्र फोड़कर दुःख दिया था। यदि तीन लोकरूपी रंग मंडप में असाधारण मल्ल प्रभु श्री महावीर परमात्मा अरिहंत होते हुये भी अति घोर उपसर्गों की परम्परा प्राप्त की थी, अथवा यदि श्रीकृष्ण वासुदेव की स्वजनों का नाश आदि पैर बिधना तक के अति दुःसह तीक्ष्ण दुःखों को प्राप्त किया था। तो हे जीव ! तू अपकार करने वालों के प्रति थोड़ा भी द्वेष नहीं करना, और जो तेरे आधीन प्रशम सुख है, उसमें क्यों नहीं रमण करता ? यदि तूने उपाधि समुदाय और गुरुकुल वास के राग को भी सर्वथा त्याग किया है, तो स्वयं नाशवान, असार शरीर में मोह किसलिए करना ? इस तरह धर्म ध्यान में मग्न उस महात्मा को उन्होंने तलवार की तीक्ष्ण धार से प्रहार कर मार दिया। महामुनि मरकर सवार्थ सिद्धि में देव उत्पन्न हुए। इस तरह पूर्व में जो कहा है कि 'त्यागी और निर्मम साधु लीलामाल में प्रस्तुत प्रयोजन मोक्षादि को प्राप्त करते हैं' वह यहाँ बतलाया। इस तरह मन भ्रमर को वश करने के लिए मालती के माला समान और आराधना रूप संवेगशाला के मूल प्रथम परिकर्म विधि द्वार में कहे हुए पन्द्रह अन्तर द्वार वाला क्रमशः त्याग नाम का यह दसवाँ अन्तर द्वार कहा है।

ग्यारहवाँ मरण विभक्ति द्वार :—पूर्व में जो सर्व त्याग वर्णन किया है, वह मृत्यु के समय में सम्भव हो सकता है, इसलिए अब मैं मरण विभक्ति द्वार को कहता हूँ। उसमें—(१) आवीची मरण, (२) अवधि मरण, (३) आत्यंतिक (अन्तिय) मरण, (४) बलाय मरण, (५) वशात्त मरण, (६) अन्तःशल्य (सशल्य) मरण, (७) तद्भव मरण, (८) बाल मरण, (९) पण्डित मरण, (१०) बाल पण्डित मरण, (११) छद्मस्थ मरण, (१२) केवली मरण, (१३) वेदायस मरण, (१४) गुध्रपृष्ठ मरण, (१५) भक्त परिक्षा मरण, (१६) इंगिनी मरण, और (१७) पादपोप गमन मरण। इस तरह गुण से महान गुरुदेवों ने मरण के सत्तरह विधि—भेद कहे हैं। अब उसका स्वरूप अनुक्रम से कहता हूँ।

प्रति समय आयुष्य कर्म के समूह का जो निर्जरा हो उसे १—आवीची मरण कहते हैं। नरक आदि जन्मों का निमित्त भूत आयुष्य कर्म के जो दल

को भोगकर वर्तमान में मरता है, और पुनः कोई उसी कर्मदल को उसी तरह भोगकर मरता है उस मृत्यु को २-**अवधि मरण** कहते हैं। नरकादि भवों में निमित्त भूत आयुष्य के समूह को भोगकर मरेगा, अथवा मरे हुए पुनः कभी भी उस दल को उसी तरह अनुभव करके नहीं मरता उसे ३-**अन्तिय** अथवा **आत्यंतिक मरण** जानना। संयम योग से थके हुये भी उसी स्थिति में ही जो मरता है वह ४-**बलाय मरण** है, और इन्द्रियों के विषयों के वश पड़ा हुआ जो उस विषयों के कारण मरता है वह ५-**वशात्त मरण** जानना। लज्जा से, अभिमान से अथवा बहुत श्रुतज्ञान होने के मद से जो अपने दुश्चस्त्रि को गुरु समक्ष नहीं कहते वे निश्चित आराधक नहीं होते हैं, ऐसे गारवरूप कीचड़ में फँसे हुये जो अग्ने अतिचारों को दूसरों के समक्ष नहीं कहते वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र अन्तर में शल्य वाला होने से उसका ६-**अन्तःशल्य (सशल्य) मरण** होता है। इस सशल्य के मरण से मरकर जीव महाभयंकर दुस्तर और दीर्घ संसार अटवी में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है। मनुष्य अथवा तिर्यच भव के प्रायोग्य आयुष्य को बाँधकर उसी के लिए मरते तिर्यच या मनुष्य की मृत्यु अर्थात् अनन्तर जन्म में उसी ही तरह जन्म प्राप्त करने के लिए मरना, उसे ७-**तद्भव मरण** कहते हैं। अकर्म भूमि के मनुष्य तिर्यच, देव और नारकियों के सिवाय शेष जीवों में तद्भव मरण कई बार होता है, इन सात में अविधि बिना के आवीचि, आर्यतिय, बलाय, वशात्त और अन्तःशल्य पाँच ही मरण हैं, क्योंकि शेष अवधि और वहेंगे, बाल मरण आदि को तद्भव मरण के अन्तर्गत जानना। तप, नियम, संयम आदि बिना अविरति वाले की मृत्यु वह ८-**बाल मरण** है। यम नियम आदि सर्व विरति युक्त विरति वाला भी मृत्यु वह ९-**पण्डित मरण**, और देश विरति धारणा करने वाले की मृत्यु वह १०-**बाल पण्डित मरण** जानना। मनः पर्यव, अवधि, श्रुत और मति ज्ञान वाला जो छद्मस्थ भ्रमण मरता है वह ११-**छद्मस्थ मरण** है और केवल ज्ञान प्राप्त कर मृत्यु होनी वह १२-**केवली मरण** जानना। गृध्रादि के भक्षण द्वारा मरना वह १३-**गृध्रपृष्ठ मरण** है, और फाँसी आदि से मरना वह १४-**वेहायस मरण** है। यह दोनों मृत्यु भी विशेष कारणों से अनुज्ञा दी है, क्योंकि आगाढ़ उपसर्ग में सर्व किसी तरह पार न उतरे, ऐसे दुष्काल में या किसी विशेष कार्य के समय में कृत योगी -ज्ञानी मुनि को अविधि से किया हुआ मरण भी शुद्ध माना गया है। इसीलिए ही जयमुन्दर और सोमदत्त नामक दो श्रेष्ठ मुनियों ने वेहायस और गृध्रपृष्ठ मरण को स्वीकार किया था। वह इस प्रकार है—

जयसुन्दर और सोमदत्त की कथा

नरविक्रम राजा से रक्षित वैदेशात नगरी में सुदर्शन नामक सेठ था। उसके दो पुत्र थे, प्रथम जयसुन्दर और दूसरा सोमदत्त। दोनों कलाओं में कुशल और रूप आदि गुणयुक्त थे। परस्पर स्नेह से परिपूर्ण चित्त वाले और उत्कृष्ट सत्त्व वाले वे दोनों इसलोक और परलोक से अविरुद्ध—उत्तम कार्यों में प्रवृत्ति करने वाले थे। एक समय में बहुत बड़ा मूल्य का अनाज लेकर बहुत मनुष्य के परिवार सहित वे अहिच्छन्ना नगरी गये। वहाँ रहते परस्पर व्यापार करने में उनका जयवर्धन सेठ के साथ सद्भावना युक्त मित्रता हो गई। उस सेठ की सोमश्री और द्विजयश्री नाम की दो पुत्री थीं। उस सेठ ने उनको दी, और विधिपूर्वक दोनों का विवाह किया। उसके बाद वे उन स्त्रियों के साथ सज्जनों के आनन्दनीय समयानुरूप पाँच प्रकार के विषय सुख भोगते वहाँ रहते थे। एक समय अपनी वैदेशा नगरी से आये हुये पुरुष ने उनको कहा कि 'अरे ! आप शीघ्र घर चलो। इस तरह तुम्हारे पिता ने आज्ञा दी है। क्योंकि सतत् श्वास, खाँसी, आदि कई रोगों से पीड़ित वह शीघ्र तुम्हारे दर्शन करना चाहता है।' ऐसा सुनकर उन्होंने ससुर को वृत्तान्त कहकर, पत्नियों को वहीं रखकर, उसी समय पिता के पास पहुँचने के लिए शीघ्र चल दिये। अखण्ड प्रस्थान करते वे अपने घर पहुँचे, और वहाँ परिवार को शोक से निस्तेज मुख वाला शोकातुर देखा, घर को भी शोभा रहित अति भयंकर शमशान देखा और दीन अनाथों की दानशाला के लिए रोके हुए नौकरों से भी रहित देखा। हा ! हा ! इस दुःख का लम्बा श्वास लेते—हमारे पिता निश्चित मर गये हैं, इससे यह घर सूर्यास्त के बाद का कमल वन के समान आनन्द नहीं देता है। ऐसा विचार करते उनको दासी ने दिये हुये आसन्न पर बैठे। इतने में अत्यन्त शोक के वेग से अश्रुभीनी आँखों वाले परिजनों ने पैर में नमन कर उनको पिता के मरण के अति शोकजनक बात सम्पूर्ण की। इससे वे मुक्त कण्ठ से बड़ी आवाज से रोने लगे और परिवार ने मधुर वाणी द्वारा महा मुश्किल से रोते रोका। फिर उन्होंने कहा कि—बहुत प्रीति को धारण करने वाले पिता श्री ने निष्पुण्यक हमारे लिये क्या उपदेश देकर गये हैं ? वह कहो। यह सुनकर शोक के भार से गद्गद वाणी वाले परिवार ने कहा कि—तुम्हारे दर्शन की अत्यन्त अभिलाषा वाला 'वह मेरा पुत्र आयेगा, तब उनके आगे मैं यह कहूँगा और वह कहेगा' ऐसा बोलते पिता जी को हमने पूछा, फिर भी हमको कुछ भी नहीं कहा और अति प्रचण्ड रोग के वश तुम्हारे आने के पहले ही वह

शीघ्र मर गये हैं। यह सुनकर कोई अकथनीय तीव्र सन्ताप को वहन करते उन दोनों भाईयों ने जोर-शोर से रुदन किया—हा ! निष्ठुर यम ! तूने पिता के साथ हमारा मिलाप क्यों नहीं करवाया ? और पापी हम भी वहाँ क्यों रुके रहे ? इत्यादि विलाप करते और बारबार सिर फोड़ते उन्होंने इस प्रकार रुदन किया कि जिससे मनुष्य और मुसाफिर भी रोने लगे। उसके बाद आहार पानी को नहीं लेने से उनको परिजनों ने अनेक प्रकार से समझाया बुझाया तो वे चित्त बिना केवल परिजनों के आग्रह से सर्व कार्य करने लगे।

किसी समय उन्होंने दमघोष सूरि के पास संसार को नाश करने वाली श्री सर्वज्ञ कथित धर्म का श्रवण किया। इससे मरण, रोग, दुर्भाग्य, शोक, जरा आदि दुःखों से पूर्ण संसार को असार मानकर वैराग्य हुआ। उन दोनों भाईयों ने दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक पर लगाकर गुरु समक्ष निवेदन किया कि—हे भगवन्त ! आपके पास दीक्षा को ग्रहण करेंगे। फिर गुरु ने सूत्रज्ञान के उपयोग से उनको भावि में अल्प विघ्न होने वाले हैं, ऐसा जानकर कहा कि—हे महानुभावों ! आपको दीक्षा लेना उचित है, केवल स्त्रियों का तुम्हें महान उपसर्ग होगा, यदि प्राण का भोग देकर भी निश्चल तुम सम्यग् सहन करोगे तो तुम शीघ्र दीक्षा को स्वीकार करो और मोक्ष के लिये उद्यम करो। अन्यथा चढ़कर गिर जाना वह क्रिया हास्य का कारण होती है। उन्होंने कहा कि—हे भगवन्त ! यदि हमें अल्प भी जीवन के प्रति राग होता तो हम सर्व विरति को स्वीकार करने की भावना नहीं करते। अतः संसारवास से उदासीन आपके चरण-कमल का शरण स्वीकार किया है और विघ्न में भी हम निश्चल रहेंगे, अतः आप हमें दीक्षा दें। उसके बाद दीक्षा देकर गुरु महाराज ने सर्व क्रिया की विधि में कुशल बनाया, और सम्यगृतया सूत्र अर्थ के श्रेष्ठ सिद्धान्त पढ़ाया। चिरकाल गुरुकुलवास में रहकर एक समय महासत्त्व वाले वे अपने गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर अकेले विहार किया। फिर अनियत विहार की विधिपूर्वक विचरते सम्यग् उपयोग वाले जयसुन्दर मुनि किसी सयय अहिच्छत्रापुरी में पहुँचे।

वहाँ उस सेठ की जिस पुत्री से विवाह हुआ था, वह पापिनी सोमश्री असती के आचरण से उस समय में गर्भवती हुई रहती थी कि—यदि जयसुन्दर यहाँ आए तो उसकी दीक्षा का त्याग करवाकर अपना दुश्चग्नि छिपाऊँ। इधर भिक्षार्थ के लिए उस साधु ने नगर में प्रवेश किया और किसी तरह उसके समान दुराचारिणी पड़ौसी के घर में उसको देखा, शीघ्र घर में ले गई और

विनयपूर्वक चरणों में नमस्कार कर उसने कहा कि—हे प्राणनाथ ! इस दुष्कर तपस्या से रुक जाओ और अब चारित्र्य को छोड़ दो, हे सुभग ! मैंने जिस दिन आपकी दीक्षा की बात सुनी उसी दिन मुझे वज्र के प्रहार से भी अधिक दुःख हुआ, और आपके वियोग से 'जीवन को आज त्यागूं, कल छोड़ूं' ऐसा विचार करती केवल आपके दर्शन की आशा से इतने दिन जीती रही। अब तो जीवन अथवा मृत्यु निःसन्देह आपके साथ ही होगा, तो हे प्राणनाथ ! जो आपको रुचिकर हो उसे करो ! उसके ऐसा कहने से पूर्व मैं जो गुरुदेव ने वचन कहा था वह याद आया और ऐसा धर्म विघ्न आया कि वह किसी भी उपाय से नहीं शान्त होने वाला जानकर, मोक्ष के एक बद्ध लक्ष्य वाला, अपने जीवन के लिये अत्यन्त निरपेक्ष उस साधु ने कहा कि—हे भद्रे ! जब तक मैं अपना कुछ कार्य करूँ तब तक एक क्षण तू घर बाहर खड़ी रहो, फिर 'जो आपको हितकर और भविष्य में सुखकर हो' उसे मैं करूँगी। ऐसा कहकर प्रसन्न मुख वाली, अत्यन्त कपट रूप, दुराचार वाली, उसने उसके आदेश तहत्तिपूर्वक स्वीकार करके घर के दरवाजे बन्द करके बाहर खड़ी रही। और श्रेष्ठ धर्म ध्यान में प्रवृत्ति करने वाले साधु भी अनशन स्वीकार कर वेहायस मरण—अर्थात् गले में फाँसा लगाकर, ऊँचे लटककर विधिपूर्वक मरकर अच्युत देवलोक में उत्पन्न हुए। इसके बाद मारे नगर में बात फैल गई कि 'इसने साधुओं को मार दिया है।' इससे पिता ने शीघ्र अपमानित करके अपने घर में से उसे निकाल दिया। अत्यन्त स्नेह के कारण उसकी विजयश्री भी उसके साथ निकली, और प्रसूति दोष के कारण सोमश्री मार्ग में ही मर गई।

फिर विजयश्री ने तापसी दीक्षा की स्वीकार किया और निरंकुशता, कन्दमूल, आदि का भोजन करती तापसों के एक आश्रम में रहती थी। एक समय पूर्व मुनिवर के छोटे भाई वह सोमदत्त नाम के साधु विहार करते, वहाँ आये और विहार में तीक्ष्ण काँटे उनके पैरों में लगे, इससे चलने में असमर्थ बने वहाँ किसी एक प्रदेश में बैठे। उस समय विजयश्री ने उन्हें देख लिया और पहचान गई। इससे कामाग्नि से ज्वल्य मान हृदय वाली वह विविध प्रकार से उसे क्षोभित करने लगी। इस तरह प्रतिक्षण उस पापिनी से क्षोभित होते हुए उन्हें गुरुदेव के वचनों का स्मरण आया, परन्तु वहाँ से आगे बढ़ने में वह मुनि असमर्थ थे। अकः 'किस तरह अपने प्राणों का त्याग करूँ ?' ऐसा चिन्तन कर रहे थे। तब उस प्रदेश में, उस समय पर परस्पर अतीव विरोधि दो राजाओं ने देखा और देखने मात्र से भयंकर युद्ध हुआ। उसमें अनेक सुभट, हाथी और घोड़े मरे। रुधिर का प्रवाह बढ़ने लगा। इससे स्वपक्ष और परपक्ष

के क्षय को देखकर दोनों राजाओं ने लड़ना बन्द कर दिया, उसके बाद गौड़, सियार आदि उस मुर्दे को भक्षण करने लगे, तब साधु ने विचार किया कि— मरने का और कोई उपाय नहीं है, इसलिए रणभूमि में रहकर गृध्रपृष्ठ मरण को स्वीकार करूँ। ऐसा निर्णय करके जब वह पापिनी कन्द-फल आदि लेने के लिये वहाँ से गई, तब सब करने योग्य अनशन आदि करके वह महात्मा धीरे-धीरे जाकर उन मुर्दों के बीच में मुरदे के समान गिरा और और दुष्ट हिंसक प्राणियों ने उनका भक्षण किया। इस तरह अत्यन्त समाधि के कारण मरकर वह जयन्त विमान में देवरूप उत्पन्न हुआ, इस तरह उसने गृध्रपृष्ठ मरण की सम्यग् प्रकार से आराधना की। इस तरह तीन जगत से पूजनीय श्री जैनेश्वर भगवान ने निश्चय गाढ़ कारण से वेहायस और गृध्रपृष्ठ मरणों की भी आज्ञा दी है। घातक ने राजा को मारने से साधुवेष धारी आचार्य शासन का कलंक रोकने के लिए शस्त्र ग्रहण किया था और अपने आप मरे थे। उसका भी दृष्टांत इस प्रकार है :—

उदायी राजा को मारने वाले की कथा

पाटलीपुत्र नगर में अत्यन्त प्रचण्ड आज्ञा वाले जिसको सामन्त समूह नमस्कार करता था ऐसा जगत् प्रसिद्ध उदायी नाम से राजा था। उसने केवल अल्प अपराध में भी एक राजा का समग्र राज्य ले लिया था। इससे वह राजा जल्दी वहाँ से भाग गया फिर उसका एक पुत्र घूमता हुआ उज्जैनी नगरी में गया और प्रयत्नपूर्वक उज्जैनी के राजा की सेवा करने लगा। उस उज्जैनी के राजा को अनेक बार उदायी राजा को शाप देखा। देखकर उस राजपुत्र ने नमस्कार करके एकान्त में उन्हें विनम्र निवेदन किया—हे देव ! यदि आप मेरे सहायक बने तो मैं आपके शत्रु को मार दूँ। राजा ने वह बात स्वीकार की और उसे महान आजीवन साधना कर दिया। इससे कंकजाति के, लोह की कटार लेकर, उसे अच्छी तरह छुपाकर उस उदायी राजा को मारने गया। मारने का कोई मौका नहीं मिलने से, अष्टमी, चतुर्दशी के दिन पौषध करते उदायी राजा को रात्री में धर्म सुनाने के लिए सूरिजी को राजमहल में जाते देखकर उसने विचार किया कि—मैं इन साधुओं का शिष्य होकर उनके साथ राजमहल में जाकर शीघ्र इष्ट प्रयोजन को सिद्ध करूँ। फिर कंक की कटारी को छुपाकर उसने दीक्षा स्वीकार की, और अत्यन्त विनयाचार से आचार्य श्री को अत्यन्त प्रसन्न किया। एक समय रात्री में पौषध वाले राजा को धर्म कथा सुनाने के लिये आचार्य श्री को जाते देखकर अति विनय भाव से गुप्तरूप

शीघ्र कटारी लेकर आचार्य श्री का संथारा आदि उपधि को हाथ में उठाकर आचार्य के साथ में राजमन्दिर में जाने के लिए चला। और “चिर दीक्षित है, संयम का अनुरागी है तथा अच्छी तरह परीक्षित हुआ है।” ऐसा मानकर आचार्य श्री ने उसे नहीं रोका। इस तरह वे दोनों राजमहल में गये, और उसके बाद राजा को पौषध उच्चारण करवाकर दीर्घकाल तक धर्मकथा कहकर रात्री में आचार्य श्री सो गये। उनके समीप में ही राजा भी शीघ्र सो गया। फिर उनको गाढ़ नींद में सोये हुये जानकर वह दुष्ट शिष्य राजा के गले में उस कटारी से मारकर वहाँ से चला दिया। पहरेदार ने ‘यह साधु है’ ऐसा मानकर उसे जाते नहीं रोका। फिर कंक छुरी से छेदित हुए राजा के गले में से निकलते रक्त के अति प्रवाह से भिगे शरीर वाले आचार्य श्री जी शीघ्र जाग्रत हुये और राजा को मरे हुये देखकर विचार किया कि—निश्चित ही उस कुशिष्य का यह कर्म है। इससे यदि मैं अब प्राणों का त्याग नहीं करूँगा तो सर्वत्र जैन शासन की निन्दा होगी और धर्म का विनाश होगा। ऐसा चिन्तन मनन कर अनशन आदि सर्व अन्तिम विधि करके उत्सर्ग—अपवाद विधि में कुशल उस आचार्य श्री ने उसी कटारी को अपने गले में चुभाकर काल धर्म प्राप्त किया। इस तरह आगाड़ कारणों के कारण शस्त्र, फाँसी आदि प्रयोगों से भी मरना, उसे निर्दोष कहा है। अब पन्द्रहवाँ भक्त परिक्षा मरण कहते हैं।

१५. भक्त परिक्षा मरण द्वार :—इस संसार में पूर्व के अन्दर अनेक बार अनेक प्रकार का भोजन खाया, फिर भी उससे जीव को वास्तविक तृप्ति नहीं होती है, नहीं तो पुनः भी कदापि सुना न हो, वैसे ही कभी भी देखा न हो, वैसे ही कदापि खाया न हो, वैसे ही प्रथम ही बार अमृत मिला हो। इस प्रकार प्रतिदिन उसका अति सम्मान कैसे करता ? अशुचित्व आदि अनेक प्रकार के विकार को प्राप्त करने के स्वभाव वाला है। उसका चिन्तन मात्र से भी पाप का कारण बनता है, ऐसे भोजन करने से अब भुझे क्या प्रयोजन है ? ऐसे भगवन्त के वचन के द्वारा ज्ञान होने से योग्य विषयों का हेय रूप ज्ञान और इससे उसी तरह पच्यक्खान द्वारा चार प्रकार के सर्व आहार, पानी का, बाह्य वस्त्र पात्राधि उपधि का तथा अभ्यन्तर रागादि उपधि का, इन सबका जावज्जीव तक त्याग करना, इत्यादि जो इस भव में तीनों आहार अथवा चारों आहार का जावज्जीव सम्यक् परित्याग करने रूप प्रत्याख्यान—नियम वह भक्त परिक्षा है और उसको स्वीकार पूर्वक मरना वह पन्द्रहवाँ भक्त परिक्षा मरण कहलाता है। उस भक्त परिक्षा अवश्य सप्रतिकर्म है, अर्थात् इसमें शरीर की सेवा सुश्रुषादि कर सकते हैं। इस भक्त परिक्षा मरण के

सविचार और अविचार दो भेद हैं। उसमें पराक्रम वाले अर्थात् क्रिया के अभ्यास जिस मुनि ने शरीर की संलेखना की हो उसे सविचार पूर्वक होता है। और दूसरा अविचार भक्त परिक्षा मरण, मृत्यु नजदीक होने से संलेखना का समय पहुँचता न हो, ऐसे अपराक्रम वाले मुनि को होता है। वह अविचार भक्त परिक्षा भी संक्षेप से तीन प्रकार की है—प्रथम निरुद्ध, दूसरी निरुद्धतर, और तीसरी परम निरुद्ध कहा है। उसका भी स्वरूप कहता हूँ। जो जंघा बल रहित और रोगों से दुर्बल शरीर वाला हो उसे प्रथम अविचार निरुद्ध भक्त परिक्षा मरण कहा है। यह मरण में भी बाह्य, अभ्यन्तर त्याग आदि विधि पूर्व में कही है, उसके अनुसार जानना और यह मरण भी प्रकाश—अप्रकाश दो प्रकार का है, जिससे लोग जानते हैं वह प्रकाश रूप अर्थात् प्रगट-रूप है, और लोग नहीं जानें वह अप्रकाश रूप समझना। और सर्प, अग्नि, सिंह आदि से अथवा शूल रोग, मूर्छा, विशूचिका आदि से आयुष्य को खत्म होता जानकर मुनि शीघ्र ही वाणी जहाँ तक गँवाई नहीं (बन्द नहीं हुई) और चित्त भी व्याक्षिप्त नहीं हुआ, वहाँ तक पास में रहे आचार्योंदि के समक्ष अतिचारादि की आलोचना करना उसे दूसरा निरुद्धतर अविचार मरण कहा है। उससे भी पूर्व कहे अनुसार त्यागादि विधि यथायोग्य करने का होता है। और बात आदि रोग से जब साधु की वाणी रुक जाये, बोलने में असमर्थ हो, तब उसे तीसरा परम निरुद्ध अविचार नामक मरण जानना। आयुष्य को खत्म होता जानकर वह साधु उसी ही समय श्री अरिहंत, सिद्ध और साधुओं के समक्ष सर्व की आलोचना करे। इस तरह यह भक्त परिक्षा श्रुतानुसार से कहा है। अब इंगिनी मरण को सम्यग् रूप संक्षेप से कहता हूँ।

१६. इंगिनी मरण :—इसमें प्रतिनियत (अमूक) भूमि भाग में ही अनशन क्रिया की इंगन अर्थात् चेष्टा या प्रवृत्ति करने की होने से इससे उस चेष्टा को इंगिनी कहलाता है, और उसके द्वारा जो मृत्यु होती हो, उसे इंगिनी मरण कहते हैं। वह चार प्रकार का आहार का त्याग करने वाला, शरीर की सेवा सुश्रूषा आदि प्रतिकर्म नहीं करने वाला, और इंगिनी अमुक देश में रहने वाले को ही होता है। भक्त परिक्षा में विस्तारपूर्वक जो उपक्रम ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करने को कहा है, वही उपक्रम इंगिनी मरण में भी यथायोग्य जानना। द्रव्य से शरीरादि की और भाव से रागादि की संलेखना को करने वाला, इंगिनी मरण में ही एक बद्ध व्यापार वाला, प्रथम के संघयण वाला, और बुद्धिमान ज्ञानी मुनि अपने गच्छ को क्षमा याचना कर, अन्दर और बाहर से भी सचित्त या जीवादि से संसक्त न हो शुद्ध भूमि के ऊपर बैठकर, वहाँ तृण आदि को बिछा-

कर उत्तर अथवा पूर्व में मुख रखकर और मस्तक पर अंजलि करके, विशुद्ध चित्त वाला वह श्री अरिहंत आदि के समक्ष आलोचना लेकर चारों प्रकार के आहार का त्याग करे। अपने शरीर के अवयव को लम्बे-चौड़े किये बिना ही क्रियाओं को स्वयं करे, जब उपसर्ग रहित हो तब बड़ी नीति आदि को सम्यग् स्वयं परिष्ठापन (परठवे) करे और उसे जब देवता या मनुष्यों के उपसर्ग हों तब लेशमात्र भी कम्पायमान बिना निमग्न उस उपसर्गों को सहन करे। इस तरह प्रतिकूल उपसर्ग सहन करने के बाद किन्तु, कि पुरुष आदि व्यंतरों की देव कन्याएँ भोगादि की अनुकूल प्रार्थना करे, तो भी वह क्षोभित न हो तथा वह मान सम्मानादि ऋद्धि से विस्मय को नहीं करे, और उसके शरीरादि के सर्व पुद्गल दुःखदायी बने—पीड़ा दे तो भी उसे ध्यान में थोड़ी भी विश्रोत-सिका (स्खलना) न हो, अथवा उसको सर्व पुद्गल सुखरूप में बने तो भी उसे ध्यान में भंग नहीं होता है। उपसर्ग करने वाला कोई उसे यदि जबरदस्त सचित्त भूमि में डाले तो वहाँ भाव से शरीर मुक्त होकर, शरीर से आत्मा को भिन्न मानकर उसकी उपेक्षा करे, और जब उपसर्ग शान्त हो, तब यत्नपूर्वक शुद्ध निर्जीव—अचित्त भूमि में जाए। सूत्र की वाचना, पृच्छना, परावर्तना और धर्मकथा को छोड़कर सूत्र और अर्थ उभय पोरिसी में एकाग्र मन वाला सूत्र का स्मरण करे ? इस तरह आठ प्रहर स्थिर एकाग्र, प्रसन्न चित्त वाला ध्यान को करे, और बलात्कार से निद्रा आये तो भी उसे थोड़ी भी स्मृति का नाश न होता है। सज्जाय, कालग्रहण, पडिलेहण आदि क्रियाएँ उनको नहीं होती हैं, क्योंकि उसे शमशान में भी ध्यान का निषेध नहीं है। वह उभयकाल आवश्यक को करे जहाँ शक्य हो, वहाँ उपधि को पडिलेहण करे और कोई स्खलना हो उसका मिच्छामि दुक्कड़ करे। वैक्रिय आहारक, चारण अथवा क्षीराश्रव आदि लब्धियों को यदि कोई कार्य आ जाए तो भी वैरागी भाव से उसे उपयोग नहीं करे। मौन का अभिग्रह में रक्त होने पर भी आचार्यादि के प्रश्नों का उत्तर दे और यदि देव तथा मनुष्य पूछे तो धर्म कथा करे। इस तरह शास्त्रानुसार से इंगिनी मरण को सम्यग् रूप कहा है। अब संक्षेप से ही सत्तरहवाँ पादपोषगमन मरण को कहता हूँ।

१७. पादपोषगमन मरण :—मरण के प्रकार में निश्चय वृक्ष के समान जहाँ किसी स्थान में अथवा जिस किसी आकृति में रहने का अभिग्रह को पादपोषगमन मरण कहते हैं। जिस अंग को जहाँ जिस तरह रखे, उसे वहाँ उसी तरह धारण करना, हलन चलन नहीं करना, वह पादपोषगमन मरण नीहार और अनीहार इस तरह दो प्रकार का होता है। उसमें उपसर्ग द्वारा

भी अन्यत्र हरण किया हो, उस मूल स्थान से अन्य स्थान में कालधर्म प्राप्त करना उसे नीहारिक कहा जाता है और उपसर्ग रहित मूल स्थान में ही मरे उसे दूसरा अनीहारिक कहते हैं। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय वाले स्थान में संहरण करने पर भी शरीर का ममत्व के त्याग द्वारा और सेवा-सार सम्भाल नहीं करने वाला, उसका त्यागी वह महात्मा जब तक जीयेगा तब तक वह अनशन का पालन करेगा, जरा भी हलन चलन नहीं करता है। शोभा अथवा गंधादि विलेपन से यदि कोई विभूषित करे तो भी जोवन तक शुद्ध लेश्या वाला, पादपोषगमन वाला मुनि चेष्टा रहित रहता है। क्योंकि—खड़ा हुआ अथवा लम्बा पड़ा हो तो भी शरीर के अंग लम्बे चौड़े किये बिना उद्धर्तनादि से रहित और जड़ के समान हलन चलनादि चेष्टा से रहित होते हैं। इससे वह दृक्ष के समान दिखता है। इस तरह सत्तरहवें प्रकार के मरण के स्वरूप का वर्णन कुछ अल्पमात्र किया है, अब वह अन्तिम तीन मरणों के विषय में कहने योग्य कुछ कहता हूँ।

सर्व साध्वी, प्रथम संघयण बिना के पुरुष और सब देश विरति धारक श्रावक भक्त परिक्षा को स्वीकार कर सकता है, परन्तु इंगिनी मरण को तो अति दृढ़ धैर्य वाला और बल वाला पुरुष ही आचरण कर सकता है। साध्वी आदि को उसका प्रतिषेध बतलाया है। और आत्म—शरीर संलेखना करने वाले या नहीं करने वाले तथा दृढतम बुद्धि बल वाले, प्रथम संघयण वाले, पादपोषगमन अनशन करते हैं। स्नेहवश देव ने तमस्काय—घोर अन्धकार आदि करने में भी वह घोर आत्माएँ स्वीकार किया हुआ विशुद्ध ध्यान से अल्प भी चलित नहीं होते हैं। चौदह पूर्वी का विच्छेद होते वह पादपोषगमन करने वालों का भी विच्छेद होता है। क्योंकि—उसके बाद वह पहला संघयण नहीं होता है। इस तरह इस द्वार में संक्षेप से मरण विधि कहा है। इसका भी फल आराधना के फल को बतलाने वाले द्वार में आगे कहूँगा। इस तरह सिद्धान्त रूपी समुद्र में अमृत तुल्य संवेगरंगशाला नाम की आराधना का मूल-भूत प्रथम परिकर्म द्वार में पन्द्रह प्रतिद्वार हैं। उस क्रम के अनुसार यह मरण विभक्ति नामक ग्याहरवाँ द्वार कहा है। पूर्व में सामान्यतया अनेक प्रकार के मरणों को बतलाया है। अब प्रस्तुत पण्डित मरण द्वार के स्वरूप को कहते हैं।

बारहवाँ अधिगत मरण द्वार :—प्रश्न—प्रस्तुत पण्डित मरण किस प्रकार है ? उत्तर—दुःख के समूह रूप लताओं का नाश करने लिए एक तीक्ष्ण धार वाला महान कुल्हाड़ी के समान है। और इससे विपरीत मरण को मोह मेल रहित श्री वीतराग भगवन्तों ने बाल मरण कहा है। इन दोनों का स्वरूप

इस तरह पाँच प्रकार का बतलाया है। (१) पण्डित-पण्डित मरण, (२) पण्डित मरण, (३) बाल-पण्डित मरण, (४) बाल मरण, और (५) बाल-बाल मरण। इसमें प्रथम जैनेश्वर भगवन्त को होता है, दूसरा सर्व विरति साधुओं को, तीसरा देश विरति श्रावक को, चौथा सम्यग् दृष्टियों को, और पाँचवाँ मिथ्या दृष्टियों को होता है। अन्य आचार्यों का जो यह पाँच मरण रूप ज्ञेय पदार्थ है, उसका विभाग इस प्रकार बतलाया है। जैसे कि—केवली भगवन्त को मरते पण्डित-पण्डित मरण होता है। भवन परिक्षादि तीन पण्डित मरण मुनिवर्य को होता है, देश विरति और अविरति समकित दृष्टियों को बाल पण्डित मरण होता है, जो उपशम वाले मिथ्या दृष्टियों को बाल मरण होता है, और कषाय से क्लृप्त जो दृढ़ अभिगृहिक मिथ्यात्व सहित मरते हैं, उनका सर्व जघन्य बाल मरण होता है अथवा पाँच के प्रथम तीन पण्डित मरण और अन्तिम दो बाल मरण जानना। उसमें प्रथम तीन समकित दृष्टि और अन्तिम दो को मिथ्या दृष्टि जानना। इसमें प्रथम तीन मृत्यु से मरने वाले मुनियों को अप्रमत्त, स्वाश्रयी, एकाकी विहार—अनशन का विधि क्रमशः उत्तम, मध्यम, और जघन्य जानना। यद्यपि सम्यक्त्व में पक्षपाती मन वाला जीव मरते समय असंयमी होता है तो भी श्री जैन वचन के अनुसार आचरण करने से वे अल्प संसारी हैं। जो श्री जैनाज्ञा में श्रद्धा वाला, प्रतीति वाला और रुचि वाला होता है वह सम्यक्त्व के अनुसार आचरण करने से निश्चित आराधक होता है। श्री जैनेश्वरों के कथित इस प्रवचन में श्रद्धा को नहीं करने वाले अनेक जीवों ने भूतकाय में अनन्ता बाल मरण किये हैं, फिर भी ज्ञान रहित—विवेक शून्य उन विचारे जीवों के उस अनन्ता मरण से भी गुणों को कुछ अल्पमात्र भी प्राप्त नहीं किया। इसलिए बाल मरण के वर्णन के विस्तार को छोड़कर केवल उसके विपाक को संक्षेप से मैं कहता हूँ, उसे तुम कान खोलकर सुनो।

अनेक जात की विकार वाली अथवा विस्तार वाली संसार रूपी भयंकर दुर्गम अटवी में दुःख से पीड़ित जीव बाल मरणों के द्वारा मरने से निश्चय ही दीर्घकाल तक परिभ्रमण किया है, करते हैं और करेंगे। जैसे कि—दुःख से छुटकारा वाले जन्म, जरा और मरण रूपी चक्र में बार-बार परिभ्रमण करने से अत्यधिक थका हुआ, परिभ्रमण करता हुआ भी पार को भी नहीं प्राप्त करने वाला, इस संसार रूपी रहट में बाँधा हुआ जीव रूपी बैल घूम रहा है। बैल अनेकों बार घूमने के बाद भी उसी चक्र में रहता है। यही दशा बाल मरण करने वाले जीव की है, उन जीवों को जो चार गतियों में और जो चौरासी लाख योनियों में अनिष्ट प्रद है उसे ही दुःखपूर्वक अनुभव करना

होता है, और जो इष्ट होने पर भी निरनुबन्धी—वियोग होता है और जो दुःख से पाग हो सके, ऐसा अनिष्ट होने पर भी सानुबन्धी अर्थात् संयोग जीव को प्राप्त होता है। इस तरह बाल मरण का भयंकर स्वरूप जानकर धीरे पुरुषों को पण्डित मरण का स्वीकार करना चाहिए। पण्डित शब्द का अर्थ इस प्रकार से है—

‘पण्डा’ अर्थात् बुद्धि उससे युक्त हो, उसे पण्डित कहते हैं, और उसकी जो मृत्यु उसे पण्डित मरण कहते हैं। इसे शास्त्र द्वार में जो पण्डित मरण कहा है वह भक्त परिक्षा ही है कि जिसके मरने से मरने वाले को निश्चय इच्छित फल की सिद्धि होती है। वर्तकाल में दुःषमकाल है, अनिष्ट अन्तिम संशयण है, अतिशायी ज्ञानी पुरुषों का अभाव है, तथा दृढ़ धैर्य बल का नहीं होने पर भी यह भक्त परिक्षा मरण भी सुन्दर है। काल के योग साध्य है, जो पादपोषगमन और इंगिनी मरण से मिलता हुआ और वैसा ही फल देने वाला है। यह भक्त परिक्षा निश्चय मनोवांछित शुभ फल देने में कल्पवृक्षों का एक महा उपवन है और अज्ञानरूपी अन्धकार से गाढ़ दुःषम कालरूपी रात्री में शरद का चन्द्र है और यह भयंकर संसाररूपी मरुस्थल में बह्राते निर्मल जल का सरोवर है और अत्यन्त दरिद्रता का नाश करने वाला श्रेष्ठ चिन्तामणी है, और वह अति दुर्गम दुर्गति रूप मार्ग में फँसे हुये को बचाने के लिए उत्तम मार्ग है, और मोक्ष महल में चढ़ने के लिए उत्तम सीढ़ी है। बुद्धिबल से व्याकुल, अकाल में मरने वाला, दृढ़ धर्म में अभ्यास रहित भी वर्तमान काल के मुनियों के योग्य यह मरण निष्पाप और उपसर्ग रहित है। इसलिए व्याधि ग्रस्त और मरेगा ही ऐसा निश्चय वाला भव्य आत्मा साधु या गृहस्थ को भक्त परिक्षा रूप पण्डित मरण में यत्न करना चाहिए। पण्डित मरण से मरे हुये अनन्त जीव मुक्ति महल प्राप्त करते हैं और बाल मरण से पुनः संसार रूपी भयंकर अरण्य में अनन्ती बार परिभ्रमण करता है। एक बार का एक पण्डित मरण भी जीवों के दुःखों को मूल से नाश करके स्वर्ग में अथवा मोक्ष में सुख देता है। यदि इस जीव लोक में जन्म लेकर सबको को अवश्य मरना है तो ऐसे किसी श्रेष्ठ रूप में मरना चाहिये कि जिससे पुनः मरण न हो। सुन्दरी नन्द के समान निर्धन रूप बने हुए भी जीव यदि किसी तरह पण्डित मरण को प्राप्त करे, तो इच्छित अर्थ की सिद्धि करता है।

सुन्दरी नन्द की कथा

इस जम्बू द्वीप में भारतवर्ष के अन्दर इन्द्रपुरी समान पण्डितजनों के हृदय को हरण करने वाली, हमेशा चलते श्रेष्ठ महोत्सव वाली, श्री वासूपूज्य भगवान के मुखरूपी चन्द्र से विकसित हुई, भव्य जीव रूपी, कुमुद के वनों वाली, लक्ष्मी से शोभित, जगत् प्रसिद्ध चम्पा नामक नगरी थी। वहाँ कुबेर के धन भण्डार को पराभव करने वाला, महान् धनाढ्य वाला, वहाँ का निवासी विशिष्ट गुण वाला धन नामक सेठ रहता था। उसकी तामलिप्ती नगरी का रहने वाला वसु नामक व्यापारी के साथ निःस्वार्थ मित्रता हुई। जैन धर्म पालन करने में तत्पर और उत्तम साधुओं के चरण कमल की भक्ति करने वाले वे दिन व्यतीत करते थे। एक दिन हमेशा अखण्ड प्रीति को वे दोनों सेठ चाहते थे। अतः धन सेठ ने अपनी पुत्री सुन्दरी को वसु सेठ के पुत्र नन्द को दी। और अच्छे मुहूर्त में बहुत लक्ष्मी समूह को खर्च कर जगत् के आश्चर्य को उत्पन्न करने वाला उन दोनों का विवाह किया। उसके बाद पूर्वोपार्जित पुण्य रूपी वृक्ष के उचित सुन्दरी के साथ विषय सुख रूपी फल को भोगते नन्द के दिन बीत रहे थे। बुद्धि की अति निर्मलता के कारण जैन मत के विज्ञाता भी नन्द को भी एक समय पर विचार आया कि—व्यवसाय रूपी धन उद्यम बिना का पुरुष लोग में निन्दा पात्र बनता है और कायर पुरुष मानकर उसे पूर्व की लक्ष्मी भी शीघ्र छोड़ देती है। अतः पूर्वजों की परम्परा के क्रम से आया हुआ समुद्र मार्ग का व्यापार करूँ। पूर्वजों के धन से आनन्द करने में मेरी क्या महत्ता है? क्या वह भी जगत में जीता गिना जाये कि जो अपने दो भुजाओं से मिले हुए धन से प्रतिदिन याचकों को मनोवांछित नहीं देता? विद्या, पराक्रम आदि गुणों से प्रशंसनीय आजीविका से जो जीता है, उसका जीवन प्रशंसनीय है। इससे विपरीत जीने वाले, उस जीवन से क्या लाभ? पानी के बुलबुले के समान जगत में क्या पुरुष अनेक बार जन्म-मरण नहीं करता है? तात्त्विक शोभा बिना के उस जन्म और मरण से क्या प्रयोजन है? उसकी प्रशंसा किस तरह की जाये कि जब सत्पुरुषों की प्रशंसा होती है, उस समय अपने त्यागादि अनेक गुणों से उनका प्रथम नम्बर नहीं आता? अर्थात् सत्पुरुषों में यदि प्रथम नम्बर नहीं आता उसकी प्रशंसा कैसे हो? ऐसा विचार कर उसने शीघ्र अन्य बन्दरगाह में दुर्लभ अनाज समूह से भरकर जहाज से समुद्र के किनारे तैयार किये। और जाने के लिए अति उत्सुक देखकर उसके विरह सहन करने में अति कायर बनने से अत्यन्त शोकातुर सुन्दरी ने उससे

कहा कि—हे आर्य पुत्र ! मैं भी निश्चय आपके साथ जाऊँगी, क्योंकि प्रेम से पराधीन इस मेरे मन को तुम्हारे विरह में शान्त रखने में मैं शक्तिमान नहीं हूँ। ऐसा उसके कहने से अति दृढ़ स्नेहवश से आकर्षित चित्त के वेग वाले नन्द ने वह स्वीकार किया।

फिर श्रेष्ठ प्रस्थान का समय आते ही उन दोनों ने श्रेष्ठ जहाज में बैठकर और प्रसन्न चित्त वाले कुशल रूप में अन्य बन्दरगाह में पहुँचे। वहाँ अनाज बेचा और अनेक सोना-मुहरें प्राप्त कीं। उसके स्थान पर अन्य अनाज लेकर समुद्र मार्ग से वापिस जाते पूर्वकृत कर्मों के विपाक से अति प्रबल पवन से टकराते शीघ्र ही सैंकड़ों टुकड़े हो गये। फिर तथाभव्यत्व के कारण मुसीबत से शीघ्र ही लकड़ी का तख्ता हाथ में आया और वे दोनों एक ही बन्दरगाह पर पहुँचे। तथा अघटित को घटित और घटित को अघटित करने में कुशल विधाता के योग में विरह से अति व्याकुल बने उन दोनों का परस्पर दर्शन मिलन हुआ। उसके बाद हर्ष और खेदवश उछलते अति शोक से सूजन हुए गले वाली मानो समुद्र के संग से लगे हुए जल बिन्दुओं के समूह मानो बिखरते हों, इस तरह अखण्ड गिरते आँसू की धारा वाली दीन सुन्दरी सहसा नन्द के गले से लिपट कर रोने लगी। तब महा मुसीबत से धीरज धारण करके नन्द ने कहा कि—हे सुन्दरी ! अत्यन्त श्याम मुख वाली, तू इस तरह शोक क्यों करती है ? हे मृगाक्षी ! जगत में वह कौन जन्मा है कि जिसको संकट नहीं आया ? और जन्म मरण नहीं हुआ हो ? हे कमल मुखी ! यदि आकाश तल के असाधारण चूड़ामणी तुल्य सूर्य का भी प्रतिदिन उदय, प्रताप और विनाश होता है। अथवा तूने श्री जैनेश्वर भगवान की वाणी में नहीं सुना कि—पूर्व पुण्य का क्षय होते ही देवेन्द्र भी दुःखी अवस्था प्राप्त करते हैं ? हे सुतनु ! पेड़ छाया के समान दुःखों की परम्परा जिसको साथ ही परिभ्रमण करती है, वह कर्म के वश पड़ा हुआ। जीवों को इतना बड़ा दुःख में सन्ताप क्यों होता है ? इत्यादि वचनों से सुन्दरी को समझाकर भूख-प्यास से पीड़ित नन्द उसके साथ ही गाँव की ओर चले। फिर सुन्दरी ने कहा कि—हे नाथ ! परिश्रम से थकी हुई अत्यन्त तृषातुर, मैं यहाँ से एक कदम भी आगे चलने में असमर्थ हूँ। तब नन्द ने कहा कि—हे सुतनु ! तू एक क्षण यहाँ पर विश्राम ले, कि जिससे मैं तेरे लिए कहीं से भी जल ले आऊँ। उसने स्वीकार किया, अतः नन्द उसे छोड़कर शीघ्र नजदीक के वन प्रदेश में पानी खोजने गया। और दुर्भाग्यवश वहाँ यम समान भूख से अतीव्र पीड़ित फाड़े हुए महान मुख वाला और अति चपल लपलप करते जीभ वाले सिंह को उसने देखा। उस सिंह के भय से संध्रम युक्त बन

गया। इससे अनशनादि अन्तिम आराधना के कर्त्तव्य को भूल गया। आर्त्त-
ध्यान को प्राप्त कर शरण रहित उस नन्द को सिंह ने मार दिया, और
सम्यक्त्वरूप शुभ गुणों का नाश होने से वह नन्द बाल मरण के दोष से उसी
वन प्रदेश में बन्दर रूप उत्पन्न हुआ।

इधर राह देखती सुन्दरी ने दिन पूरा किया, फिर भी जब नन्द वापिस
नहीं आया, तब 'पति मर गया है' ऐसा निश्चय करके क्षोभ प्राप्त करती
'धस' शब्द करती जमीन पर गिर गई, मूर्छा से आँखें बन्द हो गयीं। एक क्षण
मुरदे के समान निचेष्ट पड़ी रही। तब वन के पुष्पों से सुगन्ध वाले वायु से
अल्प चैतन्य को प्राप्त करके दीन मुख वाली वह माद दुःख के कारण जोर से
रोने लगी। हे जैनेश्वर भगवान के चरण कमल से पूजा में प्रीति वाला ! हे
सद्धर्म के महान भण्डार रूप ! हे आर्य पुत्र ! आप कहाँ गए ? मुझे जवाब
दो ! हे पापी दैव ! धन, स्वजन और घर का नाश होने पर भी तुझे सन्तोष
नहीं हुआ ! कि हे अनार्य ! आज मेरे पति को भी तूने मरण दे दिया है।
पुत्री वत्सल पिताजी ! और निष्कर प्रीति वाली हे माता जी ! हा ! हा !
आप दुःख समुद्र में गिरी हुई अपनी पुत्री की उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? इस
तरह चिरकाल विलाप करके परिश्रम से बहुत थके शरीर वाली, दो हाथ में
रखे हुए मुख वाली अति कठोर दुःख को अनुभव करती, उसने अश्व को खिलाने
के लिए वहाँ प्रियंकर नामक श्रीपुर का राजा आया। और किस तरह देखकर
विचार करने लगा कि—क्या श्राप से भ्रष्ट हुई यह कोई देवी है अथवा काम-
देव से विरहित रति है ? कोई वन देवी है अथवा कोई विद्याधरी है ? इस
तरह विस्मित मन वाला उसने पूछा कि—हे सुतनु ! तू कौन है ? यहाँ क्यों
बैठी है ? कहाँ से आई है ? और इस प्रकार सन्ताप को क्यों करती है ? फिर
लम्बा उष्ण निश्वास से स्थलित शब्द वाली और शोकवश आँखें बन्द वाली
सुन्दरी ने कहा कि—हे महा सात्त्विक ! संकटों की परम्परा को खड़े करने में
समर्थ विधाता के प्रयोगवश यहाँ बैठी हूँ। मेरी दुःखसमूह के हेतुभूत यह बातें
जानकर क्या लाभ है ? यह सुनकर संकट में पड़ी हुई भी 'उत्तमकुल में जन्म
लेने वाली कुलीन होने के कारण यह अपना वृत्तान्त नहीं कहेगी।' ऐसा सोच
कर राजा उसे कोमल वाणी से समझाकर महा मुसीबत से अपने घर ले गया
और अति आग्रह से भोजनादि करवाया। उसके बाद राजा उसके प्रति अनु-
राग होने से, सत्पुरुष का आचरण करने से हमेशा उसका मन इच्छित पूर्ण
करता है।

फिर 'राजा का सन्मान प्राप्त करने से और प्रेमपूर्वक बात करती थी' वह प्रसन्न रहती थी। इससे राजा ने एकान्त में सुन्दरी से कहा कि—हे चन्द्र-मुखी ! शरीर और मन की शान्ति को नाश करने के लिये पूर्व के बने वृत्तान्त को भूलकर, मेरे साथ इच्छानुसार विषय सुख का भोग करो। हे सुतनु ! दीपक की ज्योति से मालती की माला जैसे सूख जाती है, वैसे शोक से तपी हुई तेरी कोमल कायारूपी लता हमेशा सूख रही है। हे सुतनु ! जन-मन को आनन्द देने वाला भी राहु के उपद्रव से घिरा हुआ शरद पूर्णिमा के चन्द्र बिम्ब समान जनमन को आनन्द देने वाला भी शोकरूपी राहु के उपद्रव से पीड़ित तेरा यौवन सौभाग्य का आदर नहीं होता है। अति सुन्दर भी, मन प्रसन्न भी और लोक में दुर्लभ भी खो गई अथवा नाश हुई वस्तु को समझदार पुरुष शोक नहीं करते हैं। अतः तुझे इस विषय में अधिक क्या कहे ? अब मेरी प्रार्थना को तू सफल कर, पण्डितजन प्रसंगोचित प्रवृत्ति में ही उद्यम करते हैं। काट को अति कटु लगने वाला और पूर्व में कभी नहीं सुना हुआ यह वचन सुनकर व्रत भंग के भय से उलझन में पड़ी गाढ़ दुःख से व्याकुल मन वाली उसने कहा कि—हे नर शिरोमणी ! सुकुल में उत्पन्न हुआ, लोक में प्रसिद्ध और न्याय मार्ग में प्रेरक, आपके सदृश श्रेष्ठ पुरुष को पर स्त्री का सेवन करना अत्यन्त अनुचित है। इस लोक और परलोक के हित का नाश करने में समर्थ और तीनों लोक में अपयश की घोषणा रूप है। राजा ने कहा कि—हे कमल मुखी ! चिर संचित पुण्य समूह के उदय से निघान रूप मिली हुई तुझे भोगने में मुझे क्या दोष है ? उसके बाद राजा के अतीव आग्रह को जानकर उसने उत्तर में कहा कि—हे नरवर ! यदि ऐसा ही है तो चिरकाल से अभिग्रह ग्रहण किया है जब तक वह पूर्ण नहीं होता है तब तक उस समय का रक्षण करो। फिर आप श्री की इच्छानुसार मैं आचरण करूँगी। यह सुनकर प्रसन्न हुआ राजा उसके चित्त विनोद के नाटक, खेल आदि को दिखाता समय पूर्ण करता था।

इधर नन्द का जीव जो बन्दर बना था उसे योग्य जानकर बन्दर को नचाने वाले ने पकड़ा, और उसको नाटक आदि अनेक कला का अभ्यास करवा कर प्रत्येक गाँव, नगर में उसकी कलाएँ दिखाते उन खिलाड़ियों ने किसी समय उसे लेकर श्रीपुर नगर में आया। वहाँ घर-घर में उसे नचाकर वे राजमहल में गये और उहाँ उन्होंने उस बन्दर को सर्व प्रयत्नपूर्वक नचाने लगे, फिर नाचते उस बन्दर ने किसी तरह राजा के पास बैठी हुई सुन्दरी को पूर्व के स्नेह भाव से विकसित एक ही दृष्टि देखने लगा और 'मैंने इसको किसी स्थान पर देखा है' ऐसा बार-बार चिन्तन करते उसे पूर्व जन्म का स्मरण आया और

सारा पूर्वजन्म का वृत्तान्त जाना । फिर परम निर्वेद को प्राप्त करते उसने विचार किया कि—हा ! हा ! अनर्थ का स्थान रूप इस संसारवास को धिक्कार हो, क्योंकि वैसा निर्मल विवेक वाला, धर्म रागी भी और प्रति समय शास्त्रोक्त विधि अनुसार अनुष्ठान को करने वाला भी मैंने उस बाल अर्थात् अज्ञान मरण से ऐसी विषम दशा को प्राप्त की है । अब तिर्यच जीवन में रहा हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ ? अथवा ऐसा विचार करने से क्या लाभ ? इस अवस्था के उचित भी धर्म कार्य करूँ, ऐसे जीवन से क्या है ? ऐसा विचार करते उसे थका हुआ मानकर उन खिलाड़ियों ने, अपने स्थान पर ले गये और उसने वहाँ अनशन स्वीकार किया । उसके बाद श्री पंचपरमेष्ठि मन्त्र का बार-बार स्मरण करते शुद्ध भाव से मरकर उस देवलोक में महाद्विक देव बना । वहाँ अवधि ज्ञान से पूर्व का वृत्तान्त जानकर, यहाँ आकर राजा को प्रतिबोध किया और सुन्दरी को भी प्रतिबोध होने से प्रवज्या स्वीकार करने के लिये आचार्य महाराज को सौंपा । इस तरह तिर्यचपने को प्राप्त कर भी जीव को कहा था उसके अनुसार पण्डित मरण निष्पाप सद्गति रूप नगर के महान राज्य को देता है ।

पण्डित मरण की महिमा :—समग्र जीवन तक भी दुर्धर्मात् आदि करके पाप समूह का भोग करने वाला जीव अन्तिम में पण्डित मरण को प्राप्त कर शुद्ध होता है । अनादि काल से संसारिक रूपी अटवी में फँसा हुआ जीव तब तक पार को नहीं प्राप्त करता कि जब तक यहाँ पूर्व में ऐसा कभी भी नहीं मिला हुआ पण्डित मरण प्राप्त नहीं करता । पण्डित मरण से मरे हुये कई जीव तो उसी ही भव में, कई देवलोक में जाकर पुनः मनुष्य जन्म आकर, श्रावक कुल जन्म लेकर, और दीर्घकाल साधु जीवन पालन कर, पण्डित मरण से मरकर, तीसरे जन्म में भी सिद्ध होते हैं । पण्डित मरण से मरने वाला जीव नरक और तिर्यच बिना उत्तम मनुष्य और देवलोक में विलास करके भी आखिर आठवें भव में सिद्ध हो जायेगा । उसमें गृहस्थ अथवा साधु निर्जीव प्रदेश में रहे, विधिपूर्वक अतिचार रूपी सभी शक्तियों का त्याग करके, सर्व आहार का त्याग करके, छहकाय जीवों की रक्षा तत्पर बने । अन्य को क्षमा याचना करने में और स्वयं क्षमा देने में भी तत्पर, विराघना का त्यागी, चपलता रहित, जितेन्द्रिय, तीन दण्ड रूप शत्रुओं का विजेता, चार कषाय की सेना को जीतने वाला और शत्रु मित्र समताभाव रखने वाला, इस तरह पण्डित मरण से जो मरता है, वह निश्चय सम्यग् जानना । यह पण्डित मरण लघुकर्मी सम-कित दृष्टि जीव को होता है, मिथ्यात्वी को नहीं होता है । क्या इस संसार में अल्प पुण्य वाले को चिन्तामणी रत्न को प्राप्त कर सकता है ? इसलिये उसके

बिना अज्ञजीवों को तो बार-बार बाल मरण सुलभ है, केवल यह मरण अनर्थ को करने वाली और संसार वर्धक है। क्योंकि बाल—अर्थात् मूर्ख, वह पुनः निदान पूर्वक अतश्नान रूप विविध तप को करके मरता है, वह अशुभव्यन्तर की जातियों में उत्पन्न होता है। और वहाँ उत्पन्न हुआ वह बालक के समान हँसी, मजाक, दिल्लगी, काम-क्रीडा आदि का व्यसनी वह वैसी क्रीडाओं को करता है कि जिससे पुनः अनादि अनन्त संसार समुद्र में बार-बार परिभ्रमण करता है। इससे पूर्व कर्मों के क्षय के लिए उद्यमी और धीर पुरुष एक बार वह पण्डित मरण को प्राप्त कर संसार का पार पाने वाला होता है। जो एक पण्डित मरण से मरते हैं वे पुनः अनेक मरण नहीं करते हैं, उसी ने अप्रमत्त भाव से चारित्र्य की आराधना की है। संयम गुणों में सम्यक् संवर को करने वाला और सर्व संग से मुक्त होकर जो शरीर का त्याग करता है वही पण्डित मरण से मरा कहलाता है। क्योंकि असंवर वाला अनेक काल में भी जितनी कर्म की निर्जरा करता है, उतने कर्मों को संवर वाला और तीन गुप्ति से गुप्त जीव एक श्वास मात्र में खत्म करता है। निश्चय नय से तीन दण्ड द्वार त्यागी, तीनों गुप्त से गुप्त, तीन शक्तियों से रहित त्रिविध—अर्थात् मन, वचन, काया से अप्रयत्न जगत के सर्व जीवों की दया में श्रेष्ठ मन वाले, पाँच महाव्रतों में रक्त और सम्पूर्ण चारित्र्य रूप अट्ठारह हजार शील गुण से युक्त मुनि विधि पूर्वक मरता है, वह आराधक होता है।

जीव जब शरीर से पूर्ण अर्थात् सशक्त अथवा व्याधि रहित हो श्रुत के सार रूप परमार्थ को प्राप्त किया है और धैर्यकाल हो उसके बाद आचार्य भगवन्त के द्वारा दिया हुआ पण्डित मरण को स्वीकार करता है। रत्न की टोकरी समान यह पण्डित मरण जो प्राप्त होता है वह निश्चय उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त करता है, सविशेष पुण्यानुबन्ध वाला किसी जीव को ही प्राप्त होता है। देहली के पुष्प के समान लोक में दुर्लभ इस पण्डित मरण को पुण्य रहित जीवों को प्राप्त नहीं होता है। यह पण्डित मरण निश्चय सर्व मरणों का मरण है। जराओं को नाश करने में प्रतिजरा है और पुनः जन्म का अजन्म है। पण्डित मरण से मरने वाला शारीरिक और मानसिक उभय प्रकार से प्रगट होने वाला असंख्य आकृति वाले सर्व दुःखों को जलाञ्जली देता है। और दूसरा—जीवों को जगत में जो इष्ट सुख सानुबन्ध अर्थात् परस्पर वृद्धि वाला होता है। वह सर्व पण्डित मरण के प्रभाव से जानना अथवा—इस संसार में जो कुछ भी इष्ट सानुबन्धी और अनिष्ट निरनुबन्धी होता है, वह सारा पण्डित मरण रूपी वृक्ष का फल जानना। एक ही पण्डित मरण सर्व भवों के

अनिष्टों को नाश करने में समर्थ है। अथवा एक अग्नि का कण क्या ईंधन के समूह को नहीं जलाता? यह पण्डित मरण जीवों का हित करने में पिता, माता अथवा बन्धु वर्ग समान है और रणभूमि में सुभट के समान समर्थ है। कुगति के द्वार को बन्द करने वाला, सुगति रूपी नगर के द्वार को खोलने वाला, और पाप रज का नाश करने वाला, पण्डित मरण जगत में विजयी रहो। अद्यम पुरुषों को दुर्लभ और उत्तम पुरुषों के आराधना करने योग्य, उत्तम फल को देने वाला जो पण्डित मरण है, वह जगत में विजयी रहे। जो इच्छने योग्य है और जो प्रशंसनीय भी अति दुर्लभ है, उसे भी प्राप्त करने में समर्थ पण्डित मरण जगत में विजयी रहे। चिन्तामणी, कामधेनु और कल्पवृक्ष को भी निश्चय जो असाध्य है, उसे प्राप्त करने में समर्थ पण्डित मरण जगत में विजयी रहे। एक ही पण्डित मरण अनेक सैकड़ों जन्मों का छेदन करता है, इसलिए उसी मरण से मरना चाहिए कि जिसके मरने से मरणा अच्छा है, वह सदा के लिये अजर अमर हो जाता है। यदि मरने का भय है तो पण्डित मरण से मरना चाहिए। क्योंकि एक पण्डित मरण अन्य सभी मरणों का नाश करता है। जिसका आचरण कर उत्तम धैर्य वाला पुरुष सर्व कर्मों का क्षय करता है, उस पण्डित मरण के गुण समूह को सम्पूर्ण वर्णन करने में कौन समर्थ है? इस तरह पापरूपी अग्नि का नाश करने में जल के समूह रूप संवेगरंगशाला नाम की आराधना के मूल परिकर्म विधि नामक द्वार में कहे हुए पन्द्रह अन्तर द्वारों में क्रमशः यह बारहवाँ अधिगत मरण नाम का प्रतिद्वार कहा है। यह अधिगत मरण को स्वीकार करने पर भी श्रेणी बिना जीव आराधना में आरूढ़ होने अर्थात् ऊँचे गुण स्थान के चढ़ने में समर्थ नहीं होता है। अतः अब श्रेणी द्वार को कहते हैं।

तेहरवाँ श्रेणी द्वार :—यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार की श्रेणी है। इसमें ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए सोपान आदि द्रव्य श्रेणी जानना। और संयम स्थानों की लेश्या और स्थिति की तारतम्यता वाला शुद्धतर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक प्राप्त करना या अनुभव करना उसे भाव श्रेणी जानना। वह इस तरह—जैसे महल पर चढ़ने वाले को द्रव्य श्रेणीरूप सीढ़ी होती है, वैसे ही ऊपर से ऊपर के गुण स्थानक को प्राप्त करने वाले को भाव श्रेणी रूपी सीढ़ी होती है। इस भाव श्रेणी के ऊपर चढ़ा हुआ उद्गमादि दोषों से दूषित वसति का और उपाधि का त्याग करके निश्चित संयम में सम्यग् विचरण करता है। वह आचार्य के साथ आलाप-सलाप करता है और कार्य पढ़ने पर शेष साधुओं के साथ बोलता है; उसे मिथ्या दृष्टि लोगों के साथ मौन और समकित दृष्टि

तना स्वजन में बोले अथवा नहीं भी बोले । अन्यथा यथातथा परस्पर बातों में आकर्षित चित्त प्रवाह वाला किसी आराधक को भी प्रमाद से प्रस्तुत अर्थ में अर्थात् आराधना में विघ्न भी हो, इससे आराधना करने की इच्छा वाले उसमें ही एकचित्त वाले श्रेणी का प्रयत्न करे, क्योंकि इस श्रेणी का नाश होने से स्वयंभूदत्त के समान आराधना नाश होती है, वह इस प्रकार है :—

स्वयंभूदत्त की कथा

कंचनपुर नगर में स्वयंभूदत्त और सुगुप्त नामक परस्पर बढ़ प्रीति वाले और लोगों में प्रसिद्ध दो भाई रहते थे । अपने कुलक्रम के अनुसार से, शुद्ध वृत्ति से आजीविका को प्राप्त कर वे समय सुखपूर्वक व्यतीत करते थे । एक समय क्रूर ग्रह के वश बरसात के अभाव से नगर में अति दुःखद भयंकर दुष्काल गिरा । तब बहुत समय से संग्रह किया हुआ बहुत बड़ा जंगी घास का समूह, और बड़े-बड़े कोठार खत्म हो गये । इससे कमजोर पशुओं को और मनुष्यों को देखकर उद्विग्न बने राजा ने नीतिमार्ग को छोड़कर अपने आदमियों को आज्ञा दी कि—अरे ! इस नगर में जिसका जितना अनाज संग्रह हो उससे आधा-आधा जबरदस्ती जल्दी ले आओ । इस तरह आज्ञा को प्राप्त कर और यम के समान भृकुटी रचना भयंकर उन राजपुरुषों ने सर्वत्र उसी प्रकार ही किया । इससे अत्यन्त क्षुधा से धन-स्वजन के नाश से, और अत्यन्त रोग के समूह से व्याकुल लोग सविशेष मरने लगे, और घर मनुष्यों से रहित बनने के कारण, गली घड़-मस्तक से दुर्गम बनने के कारण एवम् लोगों को अन्य स्वस्थ देशों में जाने के कारण वह स्वयंभूदत्त भी अपने भाई सुगुप्त सहित नगर में से निकलकर प्रदेश जाने के लिये एक सार्थवाह के साथ हो गया । साथ ही लम्बा रास्ता पार करने के बाद जब एक अरण्य में पहुँचे, तब युद्ध में तत्पर शस्त्रबद्ध भिल्लो का धावा आ गया । जोर से चिल्लाते, भयंकर धनुष्य ऊपर चढ़ाये हुये बाण वाले, बाँधे हुए मस्तक के ऊँचे चोटी वाले, यम ने भेजे हों इस तरह, तमाल ताड़ के समान काले, शङ्खुओं को नाश करने में समर्थ, चमकती तेजस्वी तलवार वाले, इससे मानो बिजली सहित काले बादलों की पंक्ति हो इस तरह भयंकर, जंगली हाथियों को नाश करने वाले, हिरणों के मांस से अपना पोषण करने वाले मांसाहारी, उत्तम लोगों को दुःखी करने वाले, और युद्ध करने में एक सट्टा रस रखने वाले, उन्होंने एकदम धावा बोल दिया । फिर युद्ध में समर्थ सार्थपति के सुभट भी भाले, तलवार, बरछी आदि शस्त्र हाथ में लेकर उसके साथ युद्ध करने लगे । इसमें बलवान समर्थ सुभट मरने लगे । कायर पुरुष डर

के कारण भाग गये और सार्थवाह बहुत दुःखी हुआ। कालिकाल जैसे धर्म का नाश करता है, वैसे अत्यन्त निर्दय और प्रचण्ड बल वाले भिल्ल समूह ने सारे सार्थ को लूट लिया। उसके बाद सार-सार वस्तुओं को लूटकर और सुन्दर स्त्रियों को तथा पुरुषों को कैद करके भिल्लों की सेना पल्ली में गई।

अपने छोटे भाई से अलग पड़ा वह स्वयंभूदत्त को भी किसी तरह 'यह धनवान है' ऐसा मानकर भिल्लों की सेना ने पकड़ा और भिल्लों ने चिरकाल तक चाबुक के प्रहार और बन्धन आदि से, निर्दयता से सख्त मारते हुए भी जब उसने अपने योग्य कुछ भी वस्तु होने का नहीं माना, तब भय से काँपते सर्व शरीर वाले उसको, वे भिल्ल प्रचण्ड रूप वाली चामुण्डा देवी को बलिदान देने के लिये ले गये। मरे हुए पशु और भैंसे के खून की धाराओं से उसका मन्दिर अस्त-व्यस्त था। दरवाजे पर बाँधी हुई बड़े अनेक घंटे की विरस आवाज से बज रहे थे। पुण्य की मान्यता से हमेशा भिल्ल उसकी तर्पण क्रिया जीवों का बलिदान करते थे। लाल कनेर के पुष्पों की माला से उसका पूजा-उपचार किया जाता था, और हाथी के चमड़े की वस्त्रधारी तथा भयंकर रूप वाली थी। उस चामुण्डा के पास स्वयंभूदत्त को ले जाकर भिल्लों ने कहा कि—हे अधम वणिक् ! यदि जीता चाहता है तो अब भी शीघ्र हमें धन देने की बात स्वीकार कर ! अकाल में यम मन्दिर में क्यों जाता है ? ऐसा बोलते उस स्वयंभूदत्त के ऊपर तलवार से घात करता है। उसके पहले अचानक महान कोलाहल उत्पन्न होता है—अरे ! इन विचारों को छोड़ो और स्त्रियों, बालक और वृद्धों का नाश करने वाले इन शत्रु वर्ग के पीछे लगो। विलम्ब न करो। इस पल्ली का नाश हो रहा है, और घर जल रहा है। यह शब्द सुनकर स्वयंभूदत्त को छोड़कर, चिरवैरी सुभटों का आगमन जानकर, पवन को भी जीते ऐसा वेग से वे भिल्ल चामुण्डा के मन्दिर में से तुरन्त निकले। और 'मैंने आज ही जन्म लिया अथवा आज ही सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त कीं' ऐसा मानता स्वयंभूदत्त वहाँ से उसी समय भागा। फिर भयंकर भिल्लों के भय से घबराता पर्वत की खाई के मध्य में होकर बहुत वृक्ष और लताओं के समूह से युक्त उजड़ मार्ग में चलने लगा, परन्तु मार्ग में ही उसे सर्प ने डंख लगाया, इससे महाभयंकर वेदना हुई। इस कारण से उसने मान लिया कि अब निश्चय ही मैं मर जाऊँगा। जो कि महा मुश्किल से भिल्लों से छुटकारा प्राप्त किया तो अब यम समान सर्प ने डंख लगाया। हा ! हा ! विधि का स्वरूप विचित्र है। अथवा जन्म मरण के साथ, यौवन जरा के साथ, संयोग, वियोग के साथ ही जन्म होता है, तो इसमें शोक करने से क्या लाभ ? ऐसा विचार करते जैसे

ही ठण्डे वृक्ष की छाया की ओर जाता है, वहाँ वृक्ष के नीचे रहे महासात्विक, विचित्र—नय सप्तभंगी से युक्त, दुर्जय सूत्र शास्त्र का परावर्तन करते, पद्मासन में बैठे हुए धीर और शान्त मुद्रा वाले चारण मुनि को देखा।

‘हे भगवन्त ! विषय विष वाले सर्प के जहर से व्याकुल मुझे इस समय आपका ही शरण हो।’ ऐसा कहते हुए वह बेहोश होकर वहीं पर ही नीचे गिर पड़ा। उसके बाद जहर से बेहोश बने उसे देखकर उस महामुनि ने ‘करूँगा’ ऐसा विचार किया कि—‘अब क्या करना योग्य है ? सर्व जीवों को आत्म-तुल्य मानने वाला, साधुओं को पाप कार्यों में रक्त गृहस्थों की उपचार सेवा में प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है। क्योंकि उसकी सेवा करने के निष्पाप जीवन वाले साधुओं को भी गृहस्थ जो-जो पाप स्थानक को सेवन करे उसमें उसके प्रति रागरूपी दोष से निमित्त कारण बनता है। परन्तु यदि उपचार करने के बाद वह गृहस्थ तुरन्त सर्व संग छोड़कर प्रवज्या स्वीकार करके सद्धर्म के कार्यों में उद्यम करें तो उनकी की हुई निर्जरा भी मुनि को होती है।’ ऐसा विचार करते उस साधु की दाहिनी आँख सहसा निमित्त बिना ही फड़कने लगी। इससे उसने उपकार होने की सम्भावना करके उसके पैर के अन्दर ऊपर के भाग में सूक्ष्म और विकार रहित सर्प के डंख को देखकर उस महामुनि ने चिन्तन किया कि—निश्चय यह जीयेगा। क्योंकि—सर्प दंश का स्थान विरुद्ध नहीं है, शास्त्र में मस्तक आदि को ही विरुद्ध कहा है। वह इस प्रकार से—

मस्तक, लिंग, चिबुक अर्थात् होंठ के नीचे भाग में, गले, शंख, नेत्र और कान के बीच—कनपटी में तथा अंगूठे, स्तन भाग में, होंठ, हृदय, भृकुटी, नाभि, नाक, हाथ, पैर के तलवे में, कन्धा, नख, नेत्र, कपाल, केश और संघी स्थान पर यदि सर्व डंख लगा हो तो यम के घर जाता है। तथा पंचमी, अष्टमी, षष्ठी, नवमी और चतुर्दशी की तिथियों में यदि सर्प डंख लगा हो तो पखवारे में मरता है। परन्तु आज तिथि भी विरुद्ध नहीं है, नक्षत्र भी मद्या, विशाखा, मूल, आश्लेषा, रोहिणी, आर्द्रा और कृतिका दुष्ट है, वह भी इस समय नहीं है और पूर्व मुनियों ने सर्प डंख लगने से मनुष्य को इतने अमंगल कहे हैं। शरीर कंफ, लाल पड़ना, उबासी, आँखों की लाली, मूर्छा, शरीर दूटना, गाल में कृशता, कान्ति कम हो, हिचकी और शरीर की शीतलता, यह तुरन्त मृत्यु के लिये होती हैं। इसमें से एक भी अमंगल नहीं दिखता है। इसलिए इस भव्य आत्मा के विष का प्रतिकार करूँ। क्योंकि—जैन धर्म दया प्रधान धर्म है। ऐसा विचार कर ध्यान से नम्र बनाये स्थिर नेत्रों वाले वह महामुनि सम्यक्

पूर्वक विशिष्ट सूत्र का स्मरण करने लगे । फिर जब उस महात्मा ने शरदचन्द्र के सतत् फैलती प्रभा के समान शोभती उज्ज्वल एवम् अमृत की नीक का अनुकरण करती शीतल अक्षरों की पंक्ति को उच्चारण की, तब सूर्य के तेज समूह से अन्धकार जैसे नाश होता है वैसे उसका महासर्प का जहर नाश हुआ और वह सोया हुआ जागता है, वैसे स्वस्थ शरीर वाला उठा । उसके बाद 'जीवनदाता और उत्तम साधु है' ऐसा राग प्रगट हुआ और अति मानपूर्वक वह चारण मुनि को नमस्कार करके कहने लगा कि—हे भगवन्त ! मैं मानता हूँ कि भ्रमण करते भयंकर शिकारी प्राणियों से भरी हुई इस अटवी में आपका निवास मेरे पुण्य से हुआ है । अन्यथा हे नाथ ! यदि आप यहाँ नहीं होते, तो महा विषधर सर्प के जहर से बेहोश हुआ मेरा जीवन किस तरह होता ? कहाँ मरु-देश और कहाँ फलों से समृद्धशाली महान कल्पवृक्ष ? अथवा कहाँ निर्घन का घर और कहाँ उसमें रत्नों की निधि ? इसी तरह अति दुःख से पीड़ित मैं कहाँ ? और अत्यन्त प्रभावशाली आप कहाँ ? अहो ! विधि के विलासों के रहस्य को इस जगत में कौन जान सकता है ? हे भगवन्त ! ऐसे उपकारी आपको क्या दे सकता हूँ अथवा क्या करने से निर्भागी मैं ऋण मुक्त हो सकता हूँ ।

मुनि ने कहा कि—हे भद्र ! यदि ऋण मुक्त होने की इच्छा है तो तू अब निष्पाप प्रवज्या (दीक्षा) को स्वीकार कर । मैंने तेरे ऊपर उपकार भी निश्चय इस प्रवज्या के लिए किया है । अन्यथा अविरति की चिन्ता करने का उत्तम मुनियों को अधिकार नहीं है । और हे भद्र ! मनुष्यों का धर्म रहित जीवन प्रशंसनीय नहीं है । इसलिए घर का राग छोड़कर, रागरहित उत्तम साधु बन । उसके बाद भाल प्रदेश हस्त कमल की अंजली जोड़कर उसने कहा कि—हे भगवन्त ! ऐसा ही करूँगा, केवल छोटे भाई का राग मेरे मन को पीड़ित करता है, यदि किसी तरह उसके दर्शन हों तो शल्य रहित और एकचित्त वाला मैं प्रवज्या स्वीकार करूँ । मुनि ने कहा कि—हे भद्र ! यदि तू जहर के कारण मर गया होता तो किस तरह छोटे भाई को देखने के योग्य होता ? अतः यह निरर्थक राग को छोड़ दो और निष्पाप धर्म का आचरण कर, क्योंकि—जीवों को यह धर्म ही एक बन्धु भ्राता और पिता तुल्य है । मुनि के ऐसा कहने से स्वयंभूदत्त ने श्रेष्ठ विनयपूर्वक प्रवज्या को स्वीकार की, और विविध तपस्या करने लगा । दुःसह परीषह की सेना को सहन करते, महासात्त्विक उस गुरु के साथ में गाँव, नगर आदि से युक्त धरती ऊपर विचरने लगा । इस तरह ज्ञान, दर्शनादि गुणों से युक्त उसने दीर्घकाल गुरु के

साथ में विहार करके, अन्त में आयुष्य को अल्प जानकर भक्त परिक्षा अनशन स्वीकार करते उसे गुरु ने समझाया कि—हे महाभाग ! अन्तकाल की यह सविशेष आराधना बहुत पुण्य से मिलती है। इसलिए स्वजन उपधि, कुल, गच्छ में और अपने शरीर में भी राग को नहीं करना, क्योंकि यह राग अनर्थों का मूल है। तब “इच्छामो अणुसद्वि” अर्थात् आपकी शिक्षा को मैं चाहता हूँ।’ ऐसा कहकर गुरु की वाणी में डढ़ रति वाला स्वयंभूदत्त ने अनशन को स्वीकार किया। और उसके पुण्योदय से आकर्षित होकर नगर जन उसकी पूजा करने करने।

इधर पूर्व में अलग पड़ा हुआ वह सुगुप्त नाम का उसका छोटा भाई परिभ्रमण करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा, और नगर के लोगों को मुनि के वन्दन के लिये एक दिशा की ओर जाते देखकर उसने पूछा कि—ये सभी लोग वहाँ क्यों जा रहे हैं ? एक मनुष्य ने उससे कहा कि—यहाँ प्रत्यक्ष सद्धर्म का भण्डार रूप एक महामुनि अनशन कर रहे हैं, इसलिए तीर्थ के सदृश उनको वन्दनार्थ ये लोग जा रहे हैं। ऐसा सुनकर कुतूहल से सुगुप्त भी लोगों के साथ मैं स्वयंभूदत्त साधु को देखने के लिए उस स्थान पर पहुँचा। फिर मुनि के रूप में भाई को देखकर वह बड़े जोर से रोता हुआ कहने लगा कि—हे भाई ! हे स्वजन वत्सल ! कपटी साधुओं से तू किस तरह ठगा गया ? कि अतिकृश शरीर वाला, तूने ऐसी दशा प्राप्त की है। अब भी शीघ्र इस पाखण्ड को छोड़ कर अपने देश जायेंगे। तेरे वियोग से निश्चय मेरा हृदय अभी ही फट जायेगा। उसने ऐसा कहा। तब स्वयंभूदत्त ने भी कुछ राग से उसे पास बुलाकर पूर्व का सारा वृत्तान्त पूछा। और दुःख से पीड़ित उसने भी शोक से भाग्य फूटे शब्द वाली वाणी से ‘भिल्लों का धावा से अलग हुआ’ इत्यादि अपना वृत्तान्त कहा। फिर ऐसे कष्ट शब्दों के सुनने से स्नेह राग प्रगट होने से कलुषित ध्यान वाला स्वयंभूदत्त स्वार्थ सिद्धि की प्राप्ति के योग अध्यवसाय होते हुये उसे छोड़कर भाई के प्रति स्नेहरूपी दोष से मरकर सौधर्म देवलोक मध्यम् आयुष्य वाला देव हुआ। इस तरह भावश्रेणी में जो योग व्यापार बाधक हो उसे आराधना के अभिलाषी यत्नपूर्वक करें, इससे ही प्रयत्नपूर्वक आराधना रूपी ऊँचे महल की भाव सीढ़ी पर चढ़ने वाले को आचार्य के साथ ही आलाप संलाप करे, मिथ्या दृष्टि लोग से मौन रहे इत्यादि यथा करना चाहिए। इससे अनशन को करने वाला सर्व सुखशीलता का त्याग करके, और भावश्रेणी में आरोहण करके राग मुक्त होकर रहना चाहिए। इस तरह कामरूपी सर्प को नाश करने में गरुड़ की उपमा वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना

मूल प्रथम परिकर्म विधि द्वारा प्रस्तुत पन्दह प्रति द्वारों के क्रमानुसार श्रेणी सम्बन्धी यह तेरहवाँ अन्तर द्वार कहा है। अब श्रेणी में चढ़ा हुआ भी भाव के बिना स्थिर नहीं हो सकता है। इसलिए भाव द्वार को सविस्तारार्थ कहता हूँ।

चौदहवाँ भावना द्वार :—इससे जीव भावना वाला बनता है, इस कारण से इसे भावना कहते हैं। यह भावना अप्रशस्त और प्रशस्त दो प्रकार की होती हैं। उसमें—(१) कन्दर्प, (२) देव किल्बिष, (३) आभियोगिक, (४) आसुरी, और (५) संमोह। यह पाँच प्रकार की भावना निश्चय अप्रशस्त है। उसमें अर्थात् अप्रशस्त भावनाओं में अपने हास्यादि अनेक प्रकार से जिसमें भावना हो वह कन्दर्प भावना जानें। कन्दर्प द्वारा, कौत्कुच्य से, द्रुतशीलपने से, हास्य करने से और दूसरे को विस्मय बात करने से। इस तरह पाँच भेद होते हैं। उसमें बड़ी आवाज से हँसना, दूसरों को हँसाना, गुप्त शब्द कहना, तथा काम वांचना की बात करनी, काम वांचना का उपदेश, और उसकी प्रशंसा करनी। इस तरह प्रथम कन्दर्प के अनेक भेद जानना।

१. कौत्कुच्य :—अर्थात् पुनः उसी तरह कि जिसमें स्वयं नहीं हँसता, परन्तु विविध चेष्टाओं वाला अपनी आँखें, भृकुटी आदि अवयवों से दूसरे को हँसाना। द्रुतशीलत्व—अर्थात् निश्चित रूप अहंकार से चलना, अहंकार से बोलना इत्यादि तथा सर्व कार्यों में अति ही शीघ्रता करना। हास्य क्रिया—अर्थात् विचित्र वेश धारण द्वारा, अथवा विकारी वचनों से या मुख्य द्वार स्वपर को हँसाना। और विस्मयकरण—अर्थात् स्वयं लेशमात्र भी विस्मय प्राप्त किए बिना इन्द्रजाल चमत्कारी मन्त्र तन्त्रादि से अथवा वक्र वचन आदि द्वारा अन्य को आश्चर्य प्रगट करवाना। इस तरह कन्दर्प भावना कहा है। अब दुष्ट हलके देवत्व को प्राप्त करने वाली पाँच प्रकार की दूसरी किल्बिषिक भावना कहते हैं।

२. किल्बिषिक भावना :—इसके भी पाँच भेद हैं—(१) श्रुतज्ञान की अवज्ञा, (२) केवल भगवन्त की अवज्ञा, (३) धर्मोचार्य, (४) सर्व साधुओं की अवर्णवाद बोलना तथा (५) गढ़ माया करना। इसमें जीव, व्रत, प्रमाद आदि के जो भाव एक ग्रन्थ में कहे हैं वही भाव दूसरे ग्रन्थों में भी बार-बार कहा है इत्यादि से अपमान करना वह प्रथम श्रुतज्ञान की अवज्ञा है। यदि वे सच्चे वीतराग हैं तो पक्षपात युक्त केवल भव्य जीवों को ही क्यों धर्म का उपदेश देते हैं? इस तरह उनकी निन्दा करना वह दूसरी केवल अवज्ञा है। धर्म, आचार्य की जाति, कुल, ज्ञान आदि की निन्दा करना वह तीसरी धर्मोचार्य की

अवज्ञा है। साधु को एक क्षेत्र में प्रेम-प्रसन्नता नहीं रहती, इसलिए अनेक गाँव में घूमते रहते हैं इत्यादि नाना प्रकार के शब्द बोलना चौथी सर्व साधु की निन्दा है और अपने हृदय के भाव को छुपाना इत्यादि कपट प्रवृत्ति करने से होता है वह पाँचवीं गाढ़ माया जानना। इस तरह पाँच प्रकार की दूसरी किल्बिषिक भावना कहा है।

३. आभियोगिक भावना :-गारव में आसक्ति वाला जो वशीकरण उस मन्त्रादि से अपने को वासित करता है वह आभियोगिक भावना जानना। वह भावना—(१) कौतुक, (२) भूतिकर्म, (३) प्रश्न, (४) प्रश्नाप्रश्न और निमित्त कहने से पाँच प्रकार का होता है। इसमें अग्नि के अन्दर होम करना, औषध आदि द्वारा अन्य को वश करके जो भोजन आदि प्राप्त करना वह प्रथम कौतुक आजीविका है। और जो भूतिकर्म—रक्षा सूत्र अर्थात् रक्षा-बन्धन आदि से दूसरों की रक्षा करके आहार आदि को प्राप्त करना वह दूसरा भूमिकर्म आजीविका कहलाता है। अंगूठे आदि में देव को उतारकर, उसे पूछकर दूसरे के प्रश्न का निर्णय देकर भोजनादि की प्राप्ति करना उसे ज्ञानियों का तीसरा प्रश्न आजीविका कहा है। स्वप्न विद्या, घण्टा कर्ण पिशाचि की विद्या अथवा ऐसी किसी विद्या द्वारा परके अर्थ का निर्णय करके आजीविका चलानी, उसे महामुनियों ने चौथा प्रश्नाप्रश्न आजीविका कही है। निमित्त शास्त्र द्वारा दूसरों का लाभ-हानि आदि बताना, उसके द्वारा जो आहार आदि प्राप्त करना उसे गुरुदेवों ने निमित्त आजीविका कहा है। इस तरह आभियोगिक भावना का वर्णन किया। अब असुर निकाय देव की सम्पत्ति देने वाली का वर्णन करते हैं।

४. आसुरिक भावना :-यह पाँच प्रकार की है—(१) बार-बार झगड़ा वापन, (२) संसक्त तप, (३) निमित्त कथान, (४) क्रूरता, और (५) निरनुकंपा-यन। इसमें हमेशा लड़ाई-झगड़े करने में प्रीति रखना उसे प्रथम झगड़ा वापन कहते हैं और आहारादि प्राप्त करने के लिए तप करना वह दूसरा संसक्त तप जानना। अभिमान से अथवा द्वेष से साधु ने गृहस्थ को जो भूत-भावि आदि के भाव बतलाने—तेजी-मन्दी कहना वह तीसरा निमित्त कथन है। पुष्ट शरीर वाला समर्थ भी पश्चाताप बिना—निधर्वस भाव से त्रसादि जीवों के ऊपर चलना, उस पर बैठना, खड़े रहना, सोना आदि करना वह चौथा निष्कृपा भाव (कठोरता) कहा है। और दुःख से पीड़ित तथा भय से अति कांपते हुए देखकर भी जो निष्ठुर हृदय वाला है उसे पाँचवाँ निरनुकम्पात्व कहते हैं।

इस तरह आसुरी भावना के पाँच भेद कहे। अब स्वयं को पर को भी मोह उत्पन्न करने वाला संमोह भावना कहते हैं।

५. संमोह भावना :—इसके भी पाँच भेद हैं—(१) उन्मार्ग देशना, (२) मार्ग दूषण, (३) उन्मार्ग का स्वीकार, (४) मोह मूढ़ता, और (५) दूसरे को महामूढ़ बनाना। उसमें (१) उन्मार्ग देशना—मोक्ष मार्ग रूप सम्यग् ज्ञान आदि के दोष बताकर, उसमें विपरीत मिथ्या मोक्ष मार्ग के देने वाले को जानना। मोक्ष का मार्गभूत, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के तथा उसमें स्थिर रहे श्रद्धावान् मनुष्यों के दोष कहने वाला दोष का मूलभूत (२) मार्ग दूषण भावना होती है। अपने स्वच्छ वितर्कों द्वारा मोक्ष मार्ग को दोषित मानकर उन्मार्ग के अनुसार चलने वाले जीव को (३) मार्ग विप्रतिपत्ति भावना जानना। अन्य मिथ्या ज्ञान में, अन्य के मिथ्या चारित्र में तथा परतीर्थ वालों की संपत्ति को देखकर मुरझा जाना वह (४) मोह मूढ़ता भावना कहलाती है जैसे कि सरजरक, गैरिक, रकटपट आदि के धर्म को मैं सच्चा मानता हूँ कि जिसका लोग ऐसा महान पूजा सत्कार हुआ है। और सद्भावना से कपट से भी लोगों को किसी भी प्रयत्न द्वारा अन्य कुमत में जो आदर मोह प्राप्त करवाना वह मोह जनन भावना कहलाती है।

चारित्र की मलिनता में हेतुभूत और अत्यन्त कठोर दुर्गति को देने वाली ये पाँच अप्रशस्त भावनाओं का अल्पमात्र वर्णन किया है। संयत चारित्रवान् यदि साधु किसी प्रकार इन अप्रशस्त भावनाओं में प्रवृत्ति करता है, वह उसी प्रकार की देवयोनि में उत्पन्न होता है। चारित्र रहित को तो हल्की देव योनि मिलती है, ऐसा जानें। इन भावनाओं द्वारा अपने को उसमें वासित करता जीव द्रुष्ट देव की गति में जाता है और वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके अनन्त संसार समुद्र के परिभ्रमण करता है। इसलिये इन भावनाओं को दूर से त्याग करके सर्व संग में राग रहित महामुनिराज सम्यग् सुप्रशस्त भावनाओं के वासित बनना चाहिए। अब प्रशस्त भावनाओं का वर्णन करते हैं।

प्रशस्त भावना :—इसके पाँच भेद हैं—(१) तप भावना, (२) श्रुत भावना, (३) सत्त्व भावना, (४) एकत्व भावना, और (५) धीरज बल भावना। उसमें (१) तप भावना—तप भावना से दमन की हुई पाँचों इन्द्रियाँ जिसकी वश हुई हों, उन इन्द्रियों को वश करने में अभ्यासी आचार्य उन इन्द्रियों को समाधि में साधन बनाता है। मुनिजन के निन्दित इन्द्रियों के सुख में आसक्त और परीबहों से पराभव प्राप्त करने वाला, जिसने वैसा अभ्यास नहीं किया, वह नपुंसक व्यक्ति आराधना काल में व्याकुल बनता है। जैसे चिरकाल सुख

से लालन-पालन किया हो और योग अभ्यास को नहीं सिखाया हो वह घोड़ा युद्ध के मैदान में लगाने से कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है, वैसे पूर्व में अभ्यास किए बिना का मरण काल में समाधि को चाहता जीव भी परीषहों को सहन नहीं कर सकता है और विषयों के सुख को छोड़ नहीं सकता है। (२) श्रुत भावना—इसमें श्रुत के परिशीलन से ज्ञान, दर्शन, तप और संयम आत्मा में होता है, इससे वह व्यथा बिना सुखपूर्वक उसे उपयोगपूर्वक चिन्तन में ला सकता है। जयणापूर्वक योग को परिवासित करने वाला, अभ्यासी आत्मा श्री जैन वचन का अनुकरण करने वाला, बुद्धिशाली आत्मा को परिणाम घोर परीषह आ जाये तो भी भ्रष्ट नहीं होता है। (३) सत्त्व भावना—शारीरिक और मानसिक उभय दुःख एक साथ आ जायें तो भी सत्त्व भावना से जीव भूतकाल में भोगे हुए दुःखों का विचार कर व्याकुल नहीं होता है। तथा सत्त्व भावना से धीर पुरुष अपने अनन्त बाल मरणों का विचार करते यदि मरण आ जाए तो भी व्याकुल नहीं बनता है। जैसे युद्धों से अपनी आत्मा को अनेक बार अभ्यासी बनाने वाला सुभट रण-संग्राम में आकुल-व्याकुल नहीं होता, वैसे सत्त्व का अभ्यासी मुनि उपसर्गों में व्याकुल नहीं होता है। दिन अथवा रात्री में भयंकर रूपों द्वारा देवों के डराने पर भी सत्त्व भावना से पूर्ण आत्मा धर्म साधना में अखण्डता वहन करता है। (४) एकत्व भावना—एकत्व भावना से वैराग्य को प्राप्त करने वाला जीव कामभोगों में मन के अन्दर अथवा शरीर में राग नहीं करता है, परन्तु श्रेष्ठ धर्म का पालन करता है। जैसे व्रत भंग होते अपनी बहन में जैन कल्पित मुनि एकत्व भावना से व्याकुल नहीं हुए, उसी तरह तपस्वी भी व्याकुल नहीं होता है। वह इस प्रकार है :—

एकत्व भावना वाले मुनि की कथा

पुष्पपुर में पुष्पकेतु राजा था। उसकी पुष्पवती नाम की रानी थी। उससे पुत्र-पुत्री का जोड़ा उत्पन्न हुआ। उचित समय पर पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्प चूला रखा। क्रमशः उन दोनों ने यौवन वय को प्राप्त किया। परस्पर उनका अत्यन्त दृढ़ स्नेह को देखकर, उनका परस्पर वियोग न हो, इसलिए राजा ने अनुरूप समय पर, समान रूप वाले पुरुष के हाथ विवाह करवाकर अपने घर ही रहकर पुष्प चूला पति के साथ समय व्यतीत करती थी। बहन के सतत् परम स्नेह में बँधा हुआ पुष्प चूल भी अखण्ड राज्य लक्ष्मी को इच्छानुसार भोगता था। एक समय परम संवेग को

प्राप्त करने से वह महात्मा पुष्प चूल दीक्षित हुआ, और उसके स्नेह से पुष्प चूला ने भी दीक्षा ग्रहण की। फिर सूत्र अर्थ का अभ्यास कर उस धीर पुरुष पुष्प चूल मुनि जैन कल्प को स्वीकार करने के लिए आत्मा को एकत्व भावना से अत्यन्त अभ्यासी होने लगा। तब एक देव ने उसकी परीक्षा के लिए पुष्प चूला का दूसरा रूप बतलाकर जरा पुरुष बलात्कार से व्रत भंग करने लगा। तब वह उस दुःख से पीड़ित हो बोली—‘हे बड़े भाई मेरा रक्षण करो।’ उसे देखते भी शुद्ध परिणाम वाले उस धीमान् पुष्प चूल मुनि ने उसकी अवगणना की—हे जीव ! तू अकेला ही है, ये बाह्य स्वजनों के योग्य से तुझे क्या है ? इस तरह एकत्व भावना के वासित धर्म ध्यान से अल्पमात्र भी चलित नहीं हुए।

५. धैर्य बल भावना :—यदि अत्यन्त दुःसह, लगा हुआ और अल्प सत्त्व वालों को भयजनक समग्र परीषद् की सेना उपसर्ग सहित चढ़कर आये तो भी धीरता में अत्यन्त दृढ़, शीघ्र एक साथ पीड़ा होते हुये भी मुनि अपना इच्छित पूर्ण होता हो, इस तरह व्याकुलता रहित उसे सहन करता है। यह विशुद्ध भावना से चिरकाल आत्म शुद्धि करके मुनि दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य में उत्कृष्टता से विचरण करता है। जैन कल्प को स्वीकार कर महामुनि इन भावनाओं द्वारा जैसे आत्मा की समर्थता बतलाता है, वैसे ही यह उत्तमार्थ का साधक भी यथाशक्ति इन भावनाओं से अपने को वासित करता है, उसमें किसी का दोष नहीं है ? इसलिए सत्त्व वाले वह भगवन्त श्री आर्य महागिरि को ही धन्य है कि जिन्होंने जैन कल्प का विच्छेदन होने पर भी उसका परिकर्म—अर्थात् आचरण किया था। वह इस प्रकार है :—

आर्य महागिरि का प्रबन्ध

कुसुमपुर नगर के नन्द राजा को सम्यग् बुद्धि का समुद्र, जैन दर्शन के भेदों को जानने वाला, शकडाल नामक श्रावक मन्त्री था। रूप से कुबेर के पुत्र समान, पवित्र गुणों से शोभित, अत्यन्त विलासी और भोगी, स्थूल भद्र नामक उसका पुत्र था। जब वररुचि के प्रपन्न से नन्द राजा को रुष्ट हुआ देखकर शकडाल ने जहर खाकर मृत्यु की सिद्धि की, तब महासात्त्विक स्थूल भद्र को राजा ने कहा कि—‘हे धीर ! तेरे पिता के मन्त्री पद को स्वीकार कर और कुविकल्प छोड़कर, प्रचण्ड राज्य भार को पूर्व की नीति द्वारा धारण कर।’ फिर घरवास को मधुर और परिणाम से अहितकर जानकर तथा विषय की आसक्ति को छोड़कर उस स्थूल भद्र ने संयम रूपी उत्तम योग को स्वीकार किया। तथा आचार्य संभूत विजय के पास सूत्र अर्थ का अभ्यास करके उस

समय में श्रेष्ठ चारों अनुयोग का धारण करने वाले अनुयोगाचार्य हुये। काम की शक्ति को चकनाचूर करने वाले उस महात्मा ने पूर्व परिचित उपकोशा वेश्या के घर में चातुर्मास किया। ऐसा अति आश्चर्यकारी उनका चारित्र्य सुनकर आज भी कौन आनन्द से विभोर रोमांचित से व्याप्त शरीर वाला नहीं होता है ? उस उपकोशा के घर में रहकर उन्होंने ऐसा अपना परिचय दिया कि वही धीर है कि विकार का निमित्त होते हुए भी जिसका मन विकार वाला नहीं बना। सिंह गुफा के द्वार पर काउस्सग करने वाले आदि उत्तम चार मुनियों में गुरु ने जिसकी 'अतिदुष्कर दुष्करकारी' ऐसा कहकर प्रशंसा की। उसके निर्मल शीलगुण से आनन्दित मन वाले उपकोशा ने भी राजा ने सौंपे हुए पति—रथकार के समक्ष अपनी भक्तिपूर्वक उसकी प्रशंसा की कि—आमों का गुच्छा तोड़ना कोई दुष्कर कार्य नहीं है, और न सरसों पर नाचना भी दुष्कर है। महादुष्कर तो वह है कि जिस महानुभाव स्थूलिभद्र मुनि ने स्त्रियों के अटवी में भी अमूर्छित रहे। इस तरह शरद पूर्णिमा के चन्द्र समान निर्मल यशरूपी लक्ष्मी से जगत की शोभा बढ़ाने वाले उस स्थूलिभद्र महामुनि के श्री आर्य महागिरि तथा श्री आर्य सुहस्ति दो शिष्य थे। वे भी वैसे ही निर्मल गुणरूपी मणियों के निधान, काम के विजेता, भव्य जीवरूपी कुमुद विकसित करने में तेजस्वी चन्द्र के बिम्ब समान, चरण-करण आदि सर्व अनुयोग के समर्थ अभ्यासी, बढ़ते हुये मिथ्यात्व रूपी गाढ़ फँसे हुए अन्धकार को नाश करने वाले, शुद्ध गुण रत्नों की खान रूप सूरि पद की प्राप्ति से विस्तृत प्रगट प्रभाव वाले और तीन भवन के लोगों से वंदित चरण वाले दोनों आचार्य भगवन्तों ने चिरकाल तक पृथ्वी तल के ऊपर विहार किया। फिर शिष्य प्रशिष्यादि को भी विधिपूर्वक सकल सूत्र अर्थ का अध्ययन करवाकर श्री आर्य महागिरि जी अपने गण-समुदाय को श्री सुहस्ति सूरि को सौंपकर 'जैन कल्प का विच्छेद हुआ है।' ऐसा जानते हुए भी उसके अनुरूप अभ्यास करते वे गच्छ की निश्रा में विचरते थे।

एक समय विहार करते वे महात्मा पाटलीपुत्र नाम के श्रेष्ठ नगर में पधारे, और योग्य समय में उपयोगपूर्वक भिक्षा लेने के लिए नगर में प्रवेश किया। इधर उसी नगर में रहने वाला वसुभूति सेठ स्वजनों को बोध कराने के लिये श्री आर्य सुहस्ति सूरिजी को अपने घर ले गया। आर्य सुहस्ति सूरि ने प्रतिबोध करने के लिए धर्म कथा का प्रारम्भ किया, और उस प्रसंग पर श्री आर्य महागिरि जी भिक्षा के लिए वहाँ पधारे। उनको देखकर महात्मा श्री आर्य सुहस्ति सूरि भावपूर्वक खड़े हुये। इससे विस्मित मन वाले वसुभूति सेठ ने इस

प्रकार कहा कि—हे भगवन्त ! क्या आप श्री से भी बड़े अन्य आचार्य हैं ? कि जिससे इस तरह आपने उनको देखकर खड़े हुये आदि विनय किया ? तब आर्य सुहस्ति सूरि ने कहा कि—हे भद्र ! इनका प्रारम्भ अति दुष्कर है, उस जैन कल्प का विच्छेद होने पर भी ये भगवन्त इस तरह उसका अभ्यास करते हैं । अनेकानेक उपसर्गों के समय भी निश्चल रहते हैं, फँकने योग्य आहार पानी लेते हैं, हमेशा काउस्सग ध्यानमें रहते हैं, एक धर्म ध्यान में ही स्थिर, अपने शरीर में भी भूर्छा रहित, और अपने शिष्यादि समुदाय की भी ममता बिना के वे शून्य घर अथवा शमशान आदि में विविध प्रकार के आसन्न-मुद्रा करते रहते हैं । इत्यादि जैन कल्प की तुलना करते, उनकी इस तरह गुण प्रशंसा करके और वसुभूति के स्वजनों को धर्म में स्थिर करके, श्री आर्य सुहस्ति सूरि उसके घर में से निकल गये । फिर सेठ ने अपने परिवार को कहा कि—यदि किसी भी समय पर ऐसे साधु भिक्षा के लिये आयें तो उनको तुम आहार पानी आदि को निरूपयोगी कहकर आदरपूर्वक देना । इस प्रकार दान देने से बहुत फल मिलता है । इस तरह सेठ के कहने के बाद किसी दिन आर्य श्री महागिरि जी भिक्षा के लिए वहाँ पधारे । वसुभूति की दी हुई शिक्षा के अनुसार निरूपयोगी अन्न पानी के प्रयोग से दान देने में तत्पर बने परिवार को देखकर, मेरूपर्वत के समान धीरता धारण करने वाले, महासत्त्व वाले श्री आर्य महागिरि ने द्रव्य, क्षेत्र आदि का उपयोग देकर 'यह कपट रचना है' ऐसा जानकर और भिक्षा लिये बिना वापिस चले गये । फिर श्री आर्य सुहस्ति सूरि को कहा कि—आहार दोषित क्यों किया ? उन्होंने कहा कि—किसने किया ? तब श्री आर्य महागिरि ने कहा कि—सेठ के घर मुझे आते देखकर 'खड़े हुए' इत्यादि मेरा विनय करने से तुमने मेरा आहार दूषित किया । फिर उन दोनों ने साथ ही विहार करके अवन्ती नगरी में पधारे और वहाँ जीवत स्वामी जैन प्रतिमा को वन्दना कर आचार्य श्री महागिरि जी वहाँ से विहार करके गजाग्र पदगिरि की यात्रार्थ एलकाक्ष नगर की ओर गये । उस नगर का नाम एलकाक्ष जिस तरह पड़ा उसे कहते हैं ।

एलकाक्ष नगर का इतिहास :—पूर्व में इस नगर का नाम दशार्णपुर था । वहाँ एक उत्तम श्राविका मिथ्या दृष्टि की पत्नी थी । जैन धर्म में निश्चल मन वाली, संध्या समय में पच्यक्खाण को करती देखकर उसे उसके पति ने अपमानपूर्वक कहा कि—हे भोली ! क्या कोई मनुष्य रात में करता है कि जिससे तू इस तरह नित्य रात्री के अन्दर नियम करती है ? यदि इस तरह नहीं खाने की वस्तु का भी पच्यक्खाण करने से कोई लाभ होता है तो कहा कि

जिससे मैं भी पच्यक्खाण करूँ ? उसने कहा कि पच्यक्खाण करने से विरति रूप गुण होता है, परन्तु पच्यक्खाण लेकर खण्डन करने से महान दोष होता है। उसने कहा कि—हे भोली ! क्या तूने मुझे कभी भी रात्री में भोजन करते देखा है ? अपमानपूर्वक ऐसा कहकर उसने पच्यक्खान किया। फिर उस प्रदेश में रहने वाली एक देवी ने विचार किया कि—अपमान करते इसके अविनय को दूर करूँ। फिर दिव्य लड्डु को भेंट रूप लेकर वह देवी उसकी वहन के रूप से रात्री में वहाँ आई और उसे खाने के लिये उस लड्डु को दिया। उसे लेकर वह खाने लगा, तब श्राविका ने निषेध किया। इससे उसने कहा कि—हे भोली ! तेरे कपट नियम से मुझे अब कोई प्रयोजन नहीं है। यह सुनकर हेपापी ! हे शुभ सदाचार से भ्रष्ट ! तू जैन धर्म की भी हँसी करता है ? ऐसा बोलती उत्पन्न हुए अति क्रोध से लाल आँखों वाली, उस देवी ने रात्री भोजन में आसक्त उसके मुख पर ऐसा प्रहार किया कि जिससे उसकी आँखों की दोनों पुतली जमीन पर गिर पड़ीं। तब 'अरे ! यह महान् अपयश होगा।' ऐसी कल्पना से भयभीत बनी हुई उस श्राविका ने श्री ज्ञानेश्वर देव के समक्ष काउत्सर्ग किया। इससे मध्य रात्री के समय देवी ने आकर कहा कि—मेरा स्मरण क्यों किया ? उसने कहा कि—हे देवी ! इस अपयश को दूर करो। इससे देवी ने उसी क्षण में ही मरे हुए बकरे की आँखों को लाकर उसकी दोनों आँखों में स्थापित की। फिर प्रभात होते स्वजन और नगर के लोगों ने आश्चर्य पूर्वक कहा कि—भो ! यह क्या आश्चर्य है ? कि तू एलकाक्ष अर्थात् बकरे की आँख वाला हुआ। इस तरह से वह सर्वत्र 'एलकाक्ष' नाम से प्रसिद्ध हुआ और फिर उसके कारण से नगर भी 'एलकाक्ष नगर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अब पूर्व में 'दशार्णकूट' नाम से जगत में प्रसिद्ध था। वह पर्वत भी जिस तरह 'गजाग्रपद' नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसे कहते हैं :—

गजाग्रपद पर्वत का इतिहास :—पूर्वकाल में उस दशार्णपुर नगर में दशार्णभद्र नामक महान राजा राज्य करता था। उसे पाँच सौ श्रेष्ठरूपवती स्त्रियों का अन्तःपुर था। अपने यौवन से, रूप से, राजलक्ष्मी से और प्रवर सेना से युक्त वह अन्य राजाओं की अवज्ञा करता था। एक समय उस दशार्ण-कूट पर्वत के ऊपर जगत के नाथ श्री वर्धमान स्वामी पधारे और देव भी आए। उस समय "सर्व सामग्री से विभूषित होकर मैं श्री भगवन्त को इस तरह वन्दन करने जाऊँ कि इस तरह पूर्व में कोई भी वन्दन करने नहीं गया हो।" ऐसा अभिमान को करते उस दशार्णभद्र राजा ने सर्व प्रकार के आडम्बर से युक्त होकर, चतुरंगी सेना सहित, अन्तःपुर को साथ लेकर, हाथी के ऊपर बैठकर

वहाँ जाकर प्रभु को वन्दन किया। फिर उसके मन के कुविकल्प अहंकार को जानकर, इन्द्र ने अपने ऐरावत हाथी के मुख में श्रेष्ठ आठ दाँत बनाकर, और एक-एक दाँत में आठ-आठ बावड़ियाँ बनायीं। उसके बाद एक-एक बावड़ी में आठ-आठ कमल और कमल में आठ-आठ पंखुड़ियाँ बनायीं। उस प्रत्येक पंखुड़ी के बत्तीस पात्रों से प्रतिबद्ध नाटक करके उस हाथी के ऊपर बैठा और करोड़ों देवों से घिरा हुआ उसने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर आश्चर्यकारी ऋद्धि-सिद्धि पूर्वक प्रभु को वन्दन किया। ऐसी ऋद्धि वाले इन्द्र को देखकर ऋद्धि-गारव से युक्त बने राजा ने विचार किया कि पूर्व में इस इन्द्र ने धर्म किया है। और अवश्य में ऐसी आराधना नहीं की। इससे अब भी उस धर्म को संचित अथवा आराधना करूँ। ऐसा विचार कर उस महात्मा ने उसी समय ही राज्य का त्याग कर दीक्षा स्वीकार की। फिर दैवी की महिमा से उस पर्वत में औजार से नक्काशी की हो इस तरह इन्द्र के हाथी का आगे पैर पड़ा। इससे वह दशार्णकूट पर्वत तब से ही समग्र लोगों में 'गजाग्रपद' इस नाम से अति प्रसिद्ध हुआ था। इस तरह उस गजाग्रपद पर्वत के ऊपर असाधारण किलष्ट तप करके चारों आहार का त्यागी, साधुओं में सिंह के समान, दीर्घकाल तक निरतिचार चारित्र के आराधक, विधिपूर्वक विविध भावनाओं का चिन्तन करने वाले सुरासुर और विद्याधरों से पूजित, वे भगवन्त श्री आर्य महागिरि जी ने वहाँ काल करके देवलोक प्राप्त किया।

इस तरह संसारवास के विनाश को चाहने वाला सर्व आत्माएँ निश्चय रूप प्रमाद को छोड़कर प्रशस्त भावनाओं में प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह चार कषाय के भय को रोकने के लिए इस संवेगरंगशाला नाम की आराधना का मूल प्रथम परिकर्म विधि द्वार में प्रस्तुत पन्द्रह अन्तर द्वार वाला है, वह अनुक्रम से यह चौदहवाँ भावना नामक अन्तर—पति द्वार कहा है। अब अति प्रशस्त भावना का चिन्तन करने वाला भी संलेखना बिना आराधना करने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए अब संलेखना द्वार कहते हैं। अथवा पूर्व में अर्द्ध—अर्थात् योग्यता आदि सर्व द्वार में परिकर्म (आराधना) करने का ही बतलाया है। वह परिकर्म भाव शुद्धि से होती है। भाव शुद्धि भी रागादि की तीव्र वासना के विनाश से होती है, और वह विनाश भी महोदय का विध्वंस के कारण होता है। वह विध्वंस प्रायः शरीर और धातुओं की क्षीणता से होता है, और वह क्षीणता भी विविध तप आदि करने से होता है। यह तपश्चर्या भी उस संलेखना के अनुकरण करने से होता है, उस प्रस्तुत कार्य को (अनशन को) सिद्ध कर सकते हैं। इसलिए अब विस्तारपूर्वक संलेखना द्वार को कहते हैं।

पन्द्रहवाँ संलेखना द्वार :—यहाँ पर श्री जैनेश्वरों ने संलेखना को तपश्चर्या बतलाया है। क्योंकि उससे अवश्य शरीर कषाय आदि पतले कर सकते हैं। यद्यपि सामान्यतः सर्व तपस्या संलेखनाकारक होती है। फिर भी यह अन्तिम काल में ही स्वीकार किया जाता है, यही इसकी विशिष्टता है। यह अन्तिम तपस्या भी अति लम्बे काल के लिए दुःसाध्य है, इसलिये व्याधि उपसर्ग में चारित्र्य रूपी धन को विनाश करने वाला कोई अन्य कारण में, अथवा कान आदि किसी इन्द्रिय का विषय विनाश हुआ हो, अथवा भयंकर दुष्काल पड़ा हो, तब धीर साधु और श्रावक के करने योग्य है। क्योंकि इस संसार में आनन्दादि महासत्त्व वाले श्रावक को अति लम्बे काल निर्मल श्रावक धर्म को पालकर अन्त में आगम कथित विधिपूर्वक सम्यक् संलेखना को करके उन्होंने उग्र क्रिया की आराधना करके क्रमशः श्रेष्ठ और महान् कल्याण परम्परा को प्राप्त किया है। और पूर्व के महापुरुष ऋषियों ने भी दीक्षा से लेकर जीवन तक निश्चय दुश्चर चारित्र्य को भी चिरकाल पालन कर किलष्ट तप को करके अन्तकाल में पुनः विशेष तपस्या से दिव्य शरीर और भाव की अर्थात् कषाय आदि की संलेखना करते हुये काल करके सिद्धि पद प्राप्त किया है, ऐसा सुना जाता है। और श्री ऋषभ स्वामी आदि तीर्थंकर थे। तीन जगत के तिलक समान थे। देवों से पूज्यनीय थे। अप्रतिहत केवल ज्ञान के किरणों द्वारा जगत का उद्योत करने वाले थे, और वे अवश्यमेव सिद्धि पद प्राप्त करने वाले थे। फिर भी निर्वाणकाल में निश्चय सविशेष तप करने में परायण थे। श्री ऋषभ देव परमात्मा ने निर्वाण के समय अर्थात् अन्तिम क्रिया में चौदह भक्त अर्थात् छह उपवास से, श्री वीर परमात्मा ने षष्ठ भक्त—दो उपवास और शेष बाईस भगवानों ने एक मासिक तप से हुआ था। इसलिये उस तप का पक्षपात करने वाले, मोक्ष प्राप्त की इच्छा वाले एवम् भवभीरु अन्य आत्मा को भी उन पूर्व पुरुषों के क्रमानुसार संलेखना करना योग्य है। किन्तु तपस्या बिना प्रायः शरीर पुष्ट मांस रुधिर की पुष्टिता को नहीं छोड़ेगा, इसलिए प्रथम यह तप करना चाहिए। क्योंकि पुष्ट मांस रुधिर वाले को अनुकूल होने के कारण वह किसी कारण से अशुभ प्रवृत्ति में प्रबल कारण रूप मोह का उदय होता है। और उसके उदय होने से यदि विवेकी भी दीर्घ दृष्टि बिना का, और तप नहीं करने वाले के लिए तो पूछना ही क्या ? इस कारण से जैसे शरीर को पीड़ा न हो, मांस-रुधिर की पुष्टि भी न हो और धर्म ध्यान की वृद्धि हो। इस तरह संलेखना करनी—शरीर को गलाना चाहिये।

यह संलेखना उत्कृष्ट और जघन्य इस तरह दो प्रकार की है। इसमें उत्कृष्ट बारह वर्ष की और जघन्य छह महीने की है। अथवा द्रव्य से और भाव से भी दो प्रकार की है। उसमें द्रव्य से शरीर की कृशता और भाव से इन्द्रियों की और कषायों की कृशता जानना अर्थात् हल्का करना। इसमें जो उत्कृष्ट संलेखनाकाल से बारह वर्ष कहे हैं, उसे द्रव्य से, सूत्रानुसार से यहाँ कुछ कहता हूँ—विविध अभिग्रह सहित चौथे भक्त छठ, अट्ठम आदि विविध तप करके सर्व रस और कस वाली विगड़ियों से पारणा करते तपस्वी प्रथम चार वर्ष पूर्ण करे, पुनः चार वर्ष विचित्र—विविध तप से सम्पूर्ण करे, केवल उसमें विगड़ का उपयोग नहीं करे। उसके पश्चात् दो वर्ष पारणे में आयंबिल पूर्वक एकान्तर उपवास का तप करे, इस तरह वर्ष सम्पूर्ण हुए। ग्यारहवें वर्ष में पहले छह महीने में अति विकिष्ट अर्थात् चार उपवासादि उग्र तप न करे और पारणे में परिमित आहार से आयंबिल करे। फिर अन्तिम छह महीने में अट्ठम, चार उपवास आदि विकिलष्ट तप को करके देह को टिकाने के पारणा आयंबिल से इच्छानुसार भोजन करे। इस तरह ग्यारह वर्ष पूर्ण करके, बारहवाँ वर्ष कोटि सहित—लगातार आयंबिल तप करके पूर्ण करे, केवल बारहवें वर्ष के अन्तिम चार महीने में एकान्तर मुख में तेल का कुल्ला चिरकाल भरकर रखे, फिर उसके क्षार को प्याले पर ठ कर मुख साफ करे। ऐसा करने का क्या कारण है? इसका उत्तर देते हैं—ऐसा करने से उसका मुख वायु से बन्ध नहीं होता है, मृत्युकाल में भी वह महात्मा स्वयं श्री नवकार महामन्त्र का स्मरण कष्ट बिना कर सकता है। यह मैंने द्रव्य से उत्कृष्ट संलेखना कही है, यही संलेखना यदि आयुष्य के अन्तिम छह महीने अथवा चार महीने करे तो वह जघन्य कहलाती है।

अपने-अपने विषय में आसक्त, इन्द्रिय, कषाय तथा योग का निग्रह करना उस संलेखना को ज्ञानी पुरुषों ने भाव संलेखना कहते हैं और उसमें साधुता के चिर उपासक ज्ञानी भगवन्तों ने विशेष क्रिया के आश्रित अनशन आदि तप द्वारा संलेखना इस प्रकार से कही है—(१) अनशन, (२) उनोदरिता, (३) वृत्ति संक्षेप, (४) रस त्याग, (५) काया क्लेश और विविक्त शय्या, इन्द्रिय तथा मन का निग्रह आदि, (६) संलीनता, इसका वर्णन आगे करते हैं।

अनशन :—यह दो प्रकार का है—सर्व और देश। इसमें संलेखना करने वाला 'भवचरिम्' अर्थात् जीवन पर्यन्त का पच्यक्खान करता है उसे सर्व अनशन कहते हैं। यथाशक्ति उपवास आदि तप करना वह देश अनशन कहलाता है।

उनोदरिका :—इसके भी दो भेद हैं—द्रव्य और भाव । उसमें द्रव्य उनोदरिका उपकरण और आहार पानी में होता है । वह जैन कल्पी आदि को अथवा जैन कल्प के अभ्यास करने वाले को होता है । संयम का अभाव हो, इसलिए उपकरण उनोदरित दूसरे को नहीं अथवा अधिक उपकरणादि का त्याग करने रूप, वह स्थविर कल्पी जैन कल्पी आदि सर्व को भी होता है । क्योंकि कहा भी है कि—जो संयम में उपकार करता है वह निश्चय से उपकरण जानना । और जो अयतना वाला, अयतना से अधिक धारण करे वह अधिकरण जानना । पुरुष का निश्चय आहार बत्तीस कौर का माना जाता है और स्त्रियों की वे अट्ठाईस कौर माने गये हैं । इस कौर का प्रमाण मुर्गी के अण्डे समान, अथवा मुख में विकृत किए बिना स्वस्थ से मुख में डाल सके उतना ही जानना । इस तरह कौर की मर्यादा बाँधकर श्री जैनेश्वर और श्री गणधरों ने आहार आदि का उनोदरिका—अर्थात् जिसमें उदर के लिये पर्याप्त आहार से कम किया जाये, यानि उदय ऊन=कम रखा जाये । वह उनोदरिक कहलाता है । वह अल्पहार आदि पाँच प्रकार के कहे हैं । आठ कौर का आहार करना वह प्रथम अल्पाहार ऊनोदरी है, बारह कौर लिए जायें वह दूसरा उपार्ध ऊनोदरी है, सौलह कौर लिए जायें तो वह तीसरा द्विभाग ऊनोदरी है, चौबीस कौर तक लेने से चौथा प्राप्ति ऊनोदरी है और इक्कीस कौर तक ग्रहण करे वह पाँचवाँ किंचिद्रुण ऊनोदरी जानना । अथवा अपने प्रमाण अनुसार आहार में एक-एक कौर आदि काम करते हुए आखिर में एक कौर तक आना और उसमें में आधा कौर, कम करते-करते आखिर में एक दाना ही लेना, यह सब द्रव्य ऊनोदरी है । श्री जैन वाणी के चिन्तन द्वारा हमेशा क्रोधादि कषायों का त्याग करना उसे श्री वीतराग देवों ने भाव ऊनोदरी कहा है । अब वृत्ति संक्षेप कहते हैं ।

वृत्ति संक्षेप :—जिससे जीवन टिक सके उसे वृत्ति कहते हैं । उस वृत्ति का संक्षेप करके गोचरी (आहार) लेने के समय दत्ति—परिमाण करना अथवा एक, दो, तीन आदि घर का अभिग्रह (नियम) करना, पिंडेसणा और पाणेष्णा के प्रमाण का नियम करना, अथवा प्रतिदिन विविध अभिग्रह स्वीकार करना, उसे वृत्ति संक्षेप जानना । वह अभिग्रह पुनः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी होता है । उसमें आज मैं लेप वाली अथवा लेप बिना का अमुक द्रव्य ग्रहण करूँगा या अमुक द्रव्य द्वारा ही ग्रहण करूँगा । इस प्रकार मन में अभिग्रह करना वह द्रव्य अभिग्रह जानना । तथा शास्त्रोक्त गोचरी भूमि के आठ द्वार कहे हैं, उसमें से केवल देहली के बाहर या अन्दर अथवा अपने गाँव या परगाँव से ।

उसमें इतने धर में अथवा अमुक घरों में ग्रहण करूँगा इत्यादि क्षेत्र के कारण नियम लेना वह क्षेत्र अभिग्रह जानना। गौचरी भूमि के शास्त्रों में आठ भेद कहे हैं—(१) ऋजुगति, (२) गत्वा प्रत्यागति, (३) गौमूत्रिका, (४) पतंग वीथि, (५) पेटा, (६) अर्द्ध पेटा, (७) अभ्यन्तर शंबूका, और (८) बाह्य शंबूका। काल अभिग्रह में आदि, मध्य और अन्तः काल यह तीन प्रकार का होता है। उसमें भिक्षा काल होने के पूर्व में जाना वह प्रथम, भिक्षा काल के बीच जाना वह दूसरा, और भिक्षा काल पूर्ण के बाद जाना वह तीसरा काल जानना। माँगे बिना दे उसे ही लेना, ऐसा अभिग्रह वाले को सूक्ष्म भी अप्रीति किसी को न हो, इस आशय से भिक्षा काल के पूर्व में या बाद में भिक्षा के लिये जाना, भिक्षा काल में नहीं जाना, वह काल अभिग्रह जानना। और अमुक अवस्था में रहा हुआ आदमी भिक्षा दे तभी लूँगा, अन्यथा नहीं लेने वाला मुनि निश्चय भाव अभिग्रह वाला होता है, तथा गीत गाते, रोता, बैठे-बैठे, आहार देवे, अथवा वापिस जाते, सन्मुख आते, उल्टे मुख करके आहार दे, अथवा अहंकार धारण किया हो तो या नहीं नहीं धारण किये हो, इस तरह अमुक अवस्था में रहे हुये आहार देवे तो लेना अन्यथा नहीं लेना इत्यादि अभिग्रह को भाव अभिग्रह कहा है। इस तरह वृत्ति संक्षेप के लिए विविध अभिग्रह को धारण करता है। अब रस त्याग कहते हैं।

रस त्याग :—दूध, दही, घी, तेल आदि रसों को विगई अर्थात् विकृति कहते हैं, उसके बिना यदि संयम निर्वाह हो सके तो उसका त्याग करना वह रस त्याग जानना। क्योंकि—उन विगइयों को दुर्गति का मूल कहा है, माखन, मांस, मदिरा और मद यह चार महा विगई हैं। यह आसक्ति, अब्रह्म, अहंकार और असंयम को करने वाली हैं। पूर्व में श्री जैनाज्ञा के अभिलाषी, पापभीरु, और तप समाधि की इच्छा वाले महान् ऋषियों ने उन्होंने जावज्जीवन तक त्याग किया है। दूध, दही, घी, तेल, गुड़, कड़ा—पकवान विगई को तथा और भी स्वादिष्ट-विकारी नमक, लहसुन आदि त्याग करना चाहिए। क्योंकि उससे परिणाम में विकार करने वाला मोह का उदय होता है। जब मोह का उदय होता है, तब मन का विजय करने में अति तत्पर भी जीव नहीं करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। मोह यह दावानल समान है, जब मोह दावानल में जलेगा, तब जलते रहते हुये भी कौन बुझाने में उपयोगी हो सकेगा? अर्थात् जब मोह का साम्राज्य होगा, तब तुझे कोई श्रेष्ठ व्यक्ति भी समझाने में असमर्थ बनेगा। इसलिए मोह का मूलभूत रस का त्याग करे। अब काया क्लेश को कहते हैं।

काया क्लेश :—आगम विधि से शरीर को कसना वह काया क्लेश है। सूर्य को पीछे रखकर, सन्मुख रखकर, ऊपर रखकर अथवा तिरछा रखकर, दोनों पैर समान रखकर या एक पैर ऊँचा रखकर या गिद्ध के समान नीचे दृष्टि से लीन बनकर खड़े रहना इत्यादि, तथा बीरासन, पर्यकासन, सम-पूतासन=एक समान बैठना, गोदोहिकासन या उत्कटूकासन करना, दण्ड के समान लम्बा सोना, सीधा सोना, उल्टा सोना, और टेढ़ा काष्ठ के समान सोना, मगर के मुख समान या हाथी की सूँड के समान ऊर्ध्वशयन करना, एक तरफ शयन करना, घास ऊपर, लकड़ी के पटरे ऊपर, पत्थर शीला ऊपर या भूमि उपर सोना। रात्री को नहीं सोना, स्नान नहीं करना, उद्वर्तन नहीं करना, खुजली आने पर भी नहीं खुजलाना। लोच करना, ठण्ड में वस्त्र रहित रहना और गर्मी में आतापना लेना इत्यादि काया क्लेश तप विविध प्रकार का जानना। स्वयं दुःख सहन करना काया का निरोध है, इससे जीवों की दया-भाव उत्पन्न होता है, और परलोक हित की बुद्धि है, तथा अन्य को धर्म के प्रति अतिमान प्रगट होता है इत्यादि अनेक गुण होते हैं। इस वेदना से भी अनन्ततर अधिक कष्टकारी वेदनाएँ नरकों में परवश के कारण सहन करनी पड़ती हैं, उसके अपेक्षा इसमें क्या कष्ट है? ऐसी भावना के बल से संवेग प्रगट होता है, उसकी बुद्धि, रूप, गुण वाले को यह काया क्लेश तप संसारवास का निर्वेद उत्पन्न कराने के लिये रसायण है। अब संलीनता तप कहते हैं।

संलीनता :—अर्थात् संवर करना अथवा अपने अंगोपांगों को सिकोड़ना, संकोच करना संलीनता है। उसमें प्रथम वसति संलीनता है, वह इस प्रकार—वृक्ष के नीचे, आराम गृह में, उद्यान में, पर्वत की गुफा में, तापस आदि के आश्रम में, प्याऊ और शमशान में, शून्य घर में, देव कुलिका में अथवा माँगने पर दूसरे को दिया हुआ मकान में उद्गम, उत्पादन और ऐषणा दोष से रहित और इससे ही मूल से अन्त तक में साधु के निमित्त अकृत, अकारित और अनु-मति बिना की होती है। पुनः वह वसति भी स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित होती है, शीतल या उष्ण, ऊँची, नीची या सम, विषम भूमि वाली होती है, नगर, गाँव आदि के अन्दर अथवा बाहर हो, जहाँ मंगल या पापकारी शब्दों के श्रवण से ध्यानादि में स्थलना या स्वाध्याय, ध्यान में विघ्न न होता हो, ऐसी वसति को विविक्त शय्या संलीनता तप कहते हैं। क्योंकि ऐसी वसति में प्रायः स्व-पर उभय से होने वाले राग-द्वेषादि दोष उत्पन्न नहीं होते हैं। अब इन्द्रिय संलीनता कहते हैं कि—ऊपर के कथन अनुसार गुणकारी बस्ती में रहते हुए भी इन्द्रिय आदि को वश करके संलीनता से आत्मा का सम्यग् चिन्तन

करे। इन्द्रिय को शब्दादि कोई ऐसा विषय नहीं है कि विविध विषय में प्रेमी और हमेशा अतृप्त रहने वाली इन्द्रिय जिसे भोग कर तृप्ति प्राप्त कर सके। और विषय के समान इन विषयों में एक-एक विषय भी संयमरूपी आत्मा का घात करने में समर्थ है तो यदि पाँचों का एक ही साथ भोग करे तो उसकी कुशलता कैसे रह सकती है? जैसे निरंकुश घोड़ों से सारथी को संग्राम भूमि में निश्चय ही विडम्बना प्राप्त करता है, वैसे ही निरंकुश इन्द्रियों से भी इस जन्म, परजन्म में आत्मा का अनर्थ—अहित प्राप्त करता है। महापुरुषों ने सेवन किया मार्ग से भ्रष्ट हुआ। इन्द्रिय निग्रह नहीं करने वाला इस संसार में दारुण दुःख को देने वाले अन्य भी अनेक प्रकार के दोष होते हैं। इत्यादि अति दुःख के विपाक का अपनी बुद्धि से सम्यग् विचार करके धीर पुरुष को विषयों में रसिक इन्द्रियों की संलीनता करनी चाहिये। और उस संलीनता का इष्ट-अनिष्ट विषयों में साम्य भाव—वैराग्य भाव से राग-द्वेष के समय को छोड़ने योग्य जानना। तथा उस-उस विषयों को सुनकर, देखकर, सेवन कर, सूँघकर और स्पर्श करके भी जिसको रति या अरति नहीं होना उसे इन्द्रिय संलीनता कहते हैं। इसलिए विषयों रूपी गाढ़ जंगल में निरंकुश जहाँ-तहाँ परिभ्रमण करती इन्द्रिय रूपी हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से वश करना चाहिये। अब मन संलीनता कहते हैं।

इसी तरह धीर पुरुष बुद्धि बल से मन रूपी हाथी को भी वैसे किसी उत्तम उपाय से वश करे कि जिससे शत्रु पक्ष—मोह को जीतकर आराधना रूपी विजय ध्वजा को प्राप्त करे। इसी प्रकार शत्रु वेग के समान कषार्थों को और योगों के विस्तार वेग को भी रोककर बुद्धिमान उसकी भी निष्पाप संलीनता करे। इस तरह सम्यग् व्यापार में प्रवृत्ति करने वाला, प्रशस्त योग से संलीनता को प्राप्त करने वाला, पाँच समिति से समित, और तीन गुप्ति से गुप्त बना मुनि आत्महित में तत्पर बनता है। असंयमी जीव अति लम्बे काल में जो कर्मों को खत्म करते हैं उसे संयत तपस्वी अन्त मुहूर्त में खत्म करते हैं। वह तप भी ऐसा करना कि जिससे मन अनिष्ट का चिन्तन न करे, संयम योगों की हानि न हो और मन की शान्ति वाला हो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को और धातुओं (प्रकृति) को जानकर उसके अनुसार तप करे, कि जिससे वातपित्त, कफ क्षुब्ध न हो। अन्यथा ऐसे तप की शक्यता न हो, तो उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोष से रहित, प्रमाण अनुसार, हल्का विरस और रुखा आदि आहार पानी आदि से अपना निर्वाह करे और अनुक्रम से आहार को कम करते शरीर की संलीनता करे, उसमें तो शास्त्राज्ञों से आयंबिल को भी उत्कृष्ट

तप कहते हैं। अल्प आहार वालों की इन्द्रिय विषयों में आकर्षित नहीं होती है। अथवा तप द्वारा खिन्न न हो और रस वाले विषयों में आसक्ति न कर। अधिक क्या कहें ? एक-एक तप भी बार-बार उस तरह सम्यग् वसित कर कि उससे कृश होते हुए भी तुझे किसी प्रकार असमाधि न हो। इस प्रकार शरीर संलेखना की क्रिया को अनेक प्रकार से करने पर भी क्षपक अध्यवसाय शुद्धि को एक क्षण भी छोड़े नहीं। क्योंकि—अध्यवसाय की विशुद्धि बिना जो विकिण्ट तप भी करे, फिर भी उसकी कदापि शुद्धि नहीं होती है। और सविशुद्ध शुक्ल लेश्या वाला जो सामान्य—अल्प तप को करता है, तो भी विशुद्ध अध्यवसाय वाला वह केवल ज्ञान रूपी शुद्धि को प्राप्त करते हैं। इस अध्यवसाय की शुद्धि कषाय से कलुषित चित्त वाले को नहीं नहीं होती है, इसलिए उसकी शुद्धि के लिए कषाय रूपी शत्रु को दृढ़तापूर्वक निर्बल कर।

कषाय में हल्का बना हुआ तू शीघ्र क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को सन्तोष से अल्प करे। वह आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ के वश नहीं हो कि जिससे उन कषायों की उत्पत्ति के मूल में से छोड़ दे अथवा होने ही न दे। इसलिए उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए कि जिसके कारण कषाय रूपी अग्नि प्रगट होती हो, और उस वस्तु को स्वीकार करना चाहिए कि जिससे कषाय प्रगट न हो। कषाय करने माल से भी मनुष्य कुछ कम पूर्व क्रोड़ि वर्ष तक भी जो चारित्र्य को प्राप्त किया हो उसे एक मुहूर्त में खत्म कर देता है। जली हुई कषाय रूपी अग्नि निश्चय समग्र चारित्र्य धन को जलाकर खत्म कर देता है और सम्यक्त्व को भी विराधना कर अनन्त संसारी बनता है। स्वस्थ बैठे पंगु के समान धन्य पुरुष के कषाय ऐसे निर्बल होते हैं कि निश्चय दूसरों द्वारा कषायों को जागृत करने पर भी उनको प्रगट नहीं होता है। कुशास्त्र रूपी पवन से प्रेरित कषाय अग्नि यदि सामान्य लोक में जलती है तो भले जले, परन्तु वह आश्चर्य की बात है कि श्री जैन वचन रूपी से सिंचन भी प्रज्जलन करता है। इस संसार में वीतराग बनने से क्लेश का हिस्सेदार नहीं होता है, उसमें क्या आश्चर्य है ? इसमें तो महाआश्चर्य है कि छद्मस्थ होने पर जो कषाय को जीतता है, इससे वह भी वीतराग समान है। क्रोधादि का निग्रह करने वाले को अनुक्रम से, क्रोध का त्याग करने से सुन्दर रूप, अभिमान छोड़ने से ऊँचे गोत्र, माया का त्याग करने से अविस्वादी, एकान्तिक सुख और लोभ का त्याग करने से विविध श्रेष्ठ लाभ होता है। इसलिये कषाय रूपी दावानल को उत्पन्न होते ही शीघ्र 'इच्छा, मिच्छा, दुर्वकड़' रूपी पानी द्वारा बुझा देना चाहिए, और उसी तरह

निश्चय ही हास्यादि ने कषाय को, आहारादि चार संज्ञा को, रासगारव आदि तीन गारव और कृष्णादि छह लेश्या की परम उपशम द्वारा संलेखना करना चाहिये। बार-बार तप करने वाला और इससे प्रगट रूप दिखती नसें स्नायु तथा हाड़ पिजरे वाला, और कषाय संलेखना करने वाला, इस तरह द्रव्य भाव दो प्रकार की संलेखना को प्राप्त करता है। इस प्रकार सम्यग् रूप द्रव्य-भाव उभयथा यदि कर्म विधि के योग को साधन करने वाला, संलेखना कारण महात्मा आराधना रूपी विजय ध्वजा को प्राप्त करता है। और जो अपनी मति से इस विधि से विपरीत क्रिया में प्रवृत्ति करता है वह गंगदत्त के समान आराधक नहीं होता है। उसकी कथा इस तरह है :—

गंगदत्त की कथा

पुर, नगर और व्यापार की मण्डियों से युक्त और बड़े-बड़े पर्वत तथा बड़े देव मन्दिर से शोभते वच्छ देश में जयवर्धन नामक प्रसिद्ध नगर था। वहाँ सिद्धान्त प्रसिद्ध विशुद्ध धर्म क्रिया में दृढ राग वाला और न्याय नीति से विशिष्ट बन्धुप्रिय नाम का सेठ रहता था। उसे शिष्य पुरुषों का मान्य और अति विनीत गंगदत्त नाम का पुत्र था। वह क्रमशः युवतियों के मन को हरण करने वाला यौवन बना। उसकी सुन्दर आकृति देखकर हर्षित बना स्वयंभू नामक वणिग की पुत्री के साथ उसके पिता ने सम्बन्ध किया। फिर हर्षपूर्वक गंगदत्त पाणिग्रहण करने के योग्य उत्तम तिथि—मुहूर्त दिन आने पर उसके साथ विवाह किया। केवल जिस समय उसका हाथ उसने पकड़ा उसी समय उसको दुःसह दाह रोग उत्पन्न हुआ। इससे क्या मैंने अग्नि का स्पर्श किया या जहर के रस का सिंचन हुआ? इस तरह चिन्तन करती दाहिने हाथ से अपना मुख छुपाने वाली, दीन मन वाली, दोनों नेत्रों में से सतत् आँसू प्रवाह बहाती ब्रक गरदन करके रोती हुई को देखकर उसके पिता स्वयंभू ने कहा कि—हे पुत्री! हर्ष के स्थान पर भी तू इस तरह सन्ताप क्यों करती है कि जिससे तू हँसते मुख स्नेहपूर्वक सखियों को भी नहीं बुलाती है? और हे पुत्री! तेरे विवाह महोत्सव को देखने से आनन्द भरपूर मन वाले स्वजन लोगों के विलासपूर्वक गीत और नृत्यों को क्यों नहीं देखती? अतः अपनी गरदन सीधी कर सामने देख। आँखों की जल कणिका को दूर कर, तेज रूप मुख की शोभा को प्रगट कर, और यह शोक को छोड़ दो! फिर भी यदि अति गाढ़ शोक का कोई भी कारण हो तो उसे निःशंकता से स्पष्ट वचनों से कह, कि जिससे शीघ्र दूर करूँ। उसने कहा—पिताजी! हो गई वस्तु को कहने से अब क्या लाभ है?

मस्तक मुंडन के बाद नक्षत्र शोधन से क्या हित करेगा ? स्वयंभू ने कहा— हे पुत्री ! फिर भी तू इस शोक का रहस्य कह । इससे उसने वर का सारा वृत्तान्त सुनाया । उसे सुनकर उस पर वज्रघात हो गया हो अथवा घर का सर्व धन नष्ट हुआ हो या शरीर पर काजल लगाया हो इस तरह वह निस्तेज बन गया । विवाह का कार्य पूर्ण हुआ और स्वजन वर्ग भी अपने घर गये । फिर अन्य दिन ससुर के घर जाने का समय आया । पति के दुर्भाग्य रूपी तलवार से अत्यन्त दूटे हृदय वाली तथा पति से छूटने के लिए अन्य कोई भी उपाय नहीं मिलने से उसने मकान के शिखर पर चढ़कर मरने के लिये शीघ्र शरीर को गिरते छोड़ दिया और गिरकर वहीं मर गई ।

माता-पिता दौड़कर आए, स्वजन लोग भी उसी समय आये और उसके शरीर सत्कार आदि समग्र क्रिया की । उस मृत्यु का निमित्त भी उस नगर में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया, इससे गंगदत्त ने भी अपने दुर्भाग्य से अत्यन्त लज्जा को प्राप्त किया । केवल पिता ने उससे कहा कि—पुत्र ! इस विषय पर जरा भी खेद नहीं करना । मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि जिससे तेरी दूसरी पत्नी होगी । उसके बाद उसका उसी प्रकार से बहुत धन खर्च कर अनेक प्रयत्नों द्वारा दूर नगर में रहने वाले वणिक पुत्री के साथ उसका विवाह किया । वह दूसरी पत्नी भी विवाह के बाद उसी तरह ही होने से अतिशय शोक प्राप्त कर और केवल पति के घर जाने के समय वह फाँसी लगाकर मर गई । इससे समग्र देश में भी दुःसह दुर्भाग्य के कलंक प्राप्त करते वह शोक के भार से व्याकुल शरीर वाला गंगदत्त ने विचार किया कि—पूर्व जन्म में पापी मैंने कौन-सा महान् पाप किया है कि जिसके प्रभाव से इस तरह मैं स्त्रियों के द्वेष का कारण रूप बनता हूँ ? वह महासत्त्वशाली सनत्कुमार आदि भगवन्त को धन्य है, कि जो दृढ़ स्नेह से शोभते भी चौसठ हजार स्त्रियों से युक्त महान् विशाल अंतःपुर को छोड़कर संयम मार्ग में चले थे । मैं तो निर्भागी वर्ग से अग्रेसर और स्वप्न में स्त्रियों का अनिष्ट करने वाला निर्भागी होने पर अहो ! महान् खेद है कि मृग का बच्चा जैसे मृगतृष्णा से दुःखी होता है, वैसे आशा बिना का निष्फल विषय तृष्णा से दुःखी हो रहा हूँ । अरे ! इससे ज्यादा सुख कहाँ मिलेगा ? इस तरह वह जब चिन्तन करता था, तब उसका पिता आया और उसने कहा कि—पुत्र ! निरर्थक शोक करना छोड़ दो और करने योग्य कार्य को करो ! अनेक जन्मों की परम्परा से बन्धन किये पापों का यह फैलाव है, तत्त्व से इस विषय में कोई दोष नहीं है । इसलिए हे पुत्र ! चलो, सुना है कि यहाँ पर भगवान् श्री गुणसागर सूरि जी पधारे हैं, वहाँ जाकर और ज्ञान के रत्नों के

भण्डार रूप उनको नमस्कार करें। उसने वह स्वीकार किया। दोनों जन आचार्य भगवन्त के पास गये और विनयपूर्वक उनको नमस्कार कर नजदीक में जमीन पर बैठे। आचार्य श्री ने भी दिव्य ज्ञान के उपयोग से जानने योग्य सर्व जानकर आक्षेपणी—विक्षेपणी स्वरूप धर्म कथा कहने लगे। फिर समय देखकर गंगदत्त ने आचार्य श्री से पूछा कि—भगवन्त मैंने पूर्व जन्म में दुर्भाग्यजनक कौन सा कर्म किया है कि जिससे इस भव में मैं स्त्रियों का अतिद्वेषी बना हूँ? उसके ऐसा प्रश्न पूछने पर आचार्य देव ने कहा कि—तुम अपना पूर्व भव सुनो :—

पूर्व में शतद्वार नगर में श्री शेखर राजा की तू अति प्रिय काम में अति आसक्त रानी थी। उस राजा के अतिशय रूप लावण्य से मनोहर अंग वाली पूर्ण पाँच सौ रानियाँ थीं। राजा के साथ निविघ्न यथेच्छ भोग की इच्छा होने से उन रानियों पर द्वेष करती थी और अनेक फूट, मन्त्र, तन्त्रों से उन पाँच सौ को मार दिया। इससे वज्र समान अति दारुण अनेक पाप समूह को तथा उस निमित्त से अत्यन्त कठिन दुर्भाग्य नाम कर्म को उपार्जन किया। फिर अन्तकाल तक अति दुःसह श्वास आदि अनेक प्रबल रोगों से मरकर नरक तिर्यच गतियों में अनेक बार दुःखों को भोगकर एवम् फिर महा मुसीबत से कर्म की लघुता होने से यहाँ मनुष्य भव प्राप्त किया है और पूर्व में किए हुए पापकर्म के दोष से वर्तमान में तू दुर्भाग्य का अनुभव कर रहा है। यह सुनकर धर्म श्रद्धावान् बना, संसार से उद्वेग प्राप्त किया और पिता को पूछकर दीक्षा स्वीकार की। गुरुकुल वास में रहकर सूत्र अर्थ के चिन्तन में उद्यमशील बना और वायु के समान प्रतिबन्ध रहित वह गाँव, नगरादि में विचरने लगा। कुछ काल तक निरतिचार संयम की आराधना कर, फिर भक्त परिक्षा रूप चार आहार त्याग द्वारा वह अनशन करने में उद्यत बना। तब स्थविरों ने कहा कि अहो महाभाग! पुष्ट रुधिर—मांस वाले तुझे इस समय यह अनशन करना अनुचित है। अतः चार वर्ष विचित्र तप, चार वर्ष विगड़्यों का त्याग इत्यादि क्रम से संलेखना को करनी चाहिए। द्रव्य, भाव की संलेखना करके फिर इच्छित प्रयोजन आचरण करना, अन्यथा विस्त्रोतसिका कुर्ध्यानादि भी होता है क्योंकि ज्ञानियों ने इस अनशन को बहुत विघ्न वाला कहा है। इस तरह उसे बहुत समझाया, तो भी उनकी वाणी का अपमान करके और स्वच्छन्दी रूप में उसने अनशन स्वीकार किया और पर्वत की शिला पर बैठा। फिर उस ध्यान में रहे दुष्ट योगों का निरोध करते और अनशन में रहे भी उसे ही क्या हुआ वह अब सुनो :—

तमाल के गुच्छे के समान अति मनोहर केश कलाप से शोभित, शरद पूर्णिमा के चन्द्र समान मुख की कान्ति से दिशाओं को भी उज्ज्वल करती, निर्मल किरणों वाली मोती के हार से शोभती, स्थूल स्तनों वाली, अति श्रेष्ठ लगे हुए सुन्दर मणियों के कंदोरे से शोभित कमर वाली, केले के वृक्ष के समान, अनुक्रम से स्थूल गोलाकार और मनोहर देदीप्यमान दो जंघा वाली, पैर में पहनी हुई कोमल झनझनाहट करती घुंघरुओं से रमणीय, अत्यन्त विचित्र, महामूल्य के श्रेष्ठ दुकुल वस्त्रों से सज्ज और कल्पवृक्ष के पुष्पों की सुगन्ध से आए हुए भौरों की श्रेणियों से श्याम दिखती सुन्दर मनोहर अनेक युवतियों से घिरा हुआ अनंग केतु नामक अति प्रसिद्ध विद्याधर राजा का पुत्र शाश्वत चैत्यों की यात्रा करके अपने घर की ओर जाते मुनि को अनशन में स्थित जानकर वहाँ जमीन पर उतरा। फिर अति विशाल भक्ति के समूह से प्रगट हुआ रोमांचित वाले उसने गंगदत्त मुनि की दीर्घकाल तक स्तुति करके स्त्रियों के साथ अपने नगर में गया। साधु गंगदत्त का भी स्त्रियों के मन को हरण में समर्थ उस विद्याधर का श्रेष्ठ सौभाग्य देखकर मन चलायमान हो गया और इस प्रकार विचार करने लगा कि—यह महात्मा स्त्रियों के समूह से घिरा हुआ इस तरह लीला करता है, और पापकर्मी मैं तो इस काल में स्त्रियों से इस तरह पराभव प्राप्त किया है। इसलिए मेरा जीवन निरर्थक है, और दुष्ट मनुष्य जन्म को धिक्कार है! कि यद्यपि के अखण्ड देह वाला हूँ, फिर भी इस तरह विडम्बना को प्राप्त किया। इस तरह कुविकल्पों के वश पड़ा हुआ वह बोला कि—‘यदि इस साधु जीवन का कुछ फल हो तो मैं आगामी जन्म में इसके जैसा ही सौभाग्यशाली बनूँ।’ ऐसा निदान करके वहाँ से मरकर वह महेन्द्र कल्प में श्रेष्ठ देव उत्पन्न हुआ और वहाँ विषयों को भोगकर तथा आयुष्य पूर्ण कर पृथ्वी के तिलक समान उज्जैन नगर में श्री समरसिंह राजा की सोमा नामक रानी की कुक्षि में पुत्र रूप उत्पन्न हुआ, श्रेष्ठ स्वप्न के द्वारा गर्भ की उत्तमता को सूचन करने वाला और निरोगी उसका उचित समय पर जन्म हुआ। उसके जन्म की खुशी मनाई गई। कई ओर से बधाईयाँ आईं, समय पर उसका नाम रणशूर रखा और फिर क्रमशः श्रेष्ठ यौवनवय प्राप्त किया। उसके बाद पूर्व निदान के कारण अमर्यादित उग्र सौभाग्य को प्राप्त किया। वहाँ जहाँ-जहाँ घूमने लगा, वहाँ-वहाँ उसके ऊपर कटाक्ष फेंकतीं, काम के परवश बनीं बहुत हाव-भाव विभ्रम और विलासयुक्त चेष्टा करतीं तथा निर्लज बनी हुई स्त्रियाँ विविध क्रीड़ा करतीं घर का कार्य भी भूल जाती थीं। फिर ‘हमारा पति यही होगा अथवा तो अग्नि का शरण होगा।’ ऐसा बोलती अत्यन्त दृढ़ स्नेह वाली, राजा

महाराजा, सेनापति, बड़े-बड़े धनाढ्य, सामन्त और मन्त्रियों की अनेक पुत्रियों ने उसके साथ विवाह किया और दीर्घकाल तक उनके साथ में उसने एक ही साथ में पाँच प्रकार के विषय सुख के भोग किए। फिर मर कर वह गंगदत्त अपने दुराचरण के कारण संसार के चक्र में गिरा और वहाँ अति तीक्ष्ण लाखों दुःखों का चिरकाल भाजन बना।

इसलिए कहा है कि—पहले द्रव्य भाव इस तरह दोनों प्रकार की संलेखना करके बाद में भक्त परिक्षा को करना चाहिये। इस तरह यह प्रथम द्वार में कहा है। परिकर्म करने वाले को प्रायः आराधना का भंग न हो ऐसी सम्यग् आराधना करनी चाहिए। श्री जैनेश्वर भगवान की आज्ञा भी यही है। इस तरह श्री जैन चन्द्र सूरिश्वर रचित परिकर्म विधि चार बड़े मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के पन्द्रह अन्तर द्वार वाला, प्रथम परिक्रम विधि नामक द्वार का अन्तिम संलेखना नामक प्रतिद्वार जानना। और यह कहने से पन्द्रह अन्तर द्वार वाला परिक्रम विधि नाम का प्रथम महाद्वार भी सम्यग् रूप सम्पूर्ण हुआ, ऐसा जानना। इस तरह संवेगरंगशाला नामक आराधना के पन्द्रह अन्तर द्वार वाला परिकर्म विधि नामक प्रथम द्वार यहाँ ४१६८ श्लोकों से समाप्त हुआ।

॥ इति श्री संवेगरंगशाला प्रथम द्वार ॥



ॐ अहं नमः ॐ

॥ नमोऽस्तु श्री जैन प्रवचनाय ॥

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानन्द प्रकाश सूरि गुरु वरेभ्यो नमः

(२) द्वितीय द्वार

परगण संक्रमण द्वार

दूसरे द्वार का मंगलाचरण

अपहं अरयं अरूप अजरं अमर अरागमऽय ओसं ।

अमयऽमकम्ममऽजम्मं सम्मं पणमह महावीरं ॥ ४१६६ ॥

अर्थात् :—पाप से रहित, रज रहित, जरा—वृद्धावस्था से रहित, मृत्यु से रहित, राग से रहित, द्वेष से रहित, भय से रहित, कर्म से रहित एवम् जन्म से रहित श्रवण भगवान श्री महावीर देव को हे भव्यात्माओं ! सम्यग् रूप से नमस्कार करो ।

प्रथम द्वार में परिकर्म विधि का जो वर्णन किया है उसका गण संक्रमण करते आराधकों के लिए शुद्धि विधि करूँगा, इसमें प्रतिद्वार दस हैं । वे इस प्रकार हैं :—(१) दिशा द्वार, (२) क्षामणा द्वार, (३) अनुशास्ति द्वार, (४) परगण गवेषण द्वार, (५) सुस्थित (गुरु) गवेषणा, (६) उप-सम्पदा द्वार, (७) परीक्षा द्वार, (८) प्रतिलेखना द्वार, (९) पृच्छा द्वार, और (१०) प्रति-पृच्छा द्वार हैं । इनका वर्णन क्रमशः कहते हैं ।

पहला दिशा द्वार :—दिशा अर्थात् गच्छ, क्योंकि दिशा से यहाँ यति समूह के कहने योग्य कहता हूँ । इसलिए अब वह दिशा—गच्छ की अनुज्ञा को यथार्थ रूप कहता हूँ । इस ग्रन्थ के पूर्व द्वार में विस्तारपूर्वक कथनानुसार जिसने (संस्ताक) दीक्षा स्वीकार की है, वह श्रावक अथवा दीर्घकाल प्रवज्या को पालन करने वाला कोई साधु अथवा निर्मल गुण समूह से पूज्य सूरिपद को प्राप्त करने वाले साधु—सूरि (आचार्य) ही निरतिचार आराधना विधि को कर सकते हैं । उसमें जो आगम विधिपूर्वक दीर्घकाल सूरिपद का अनुपालन करके, समस्त सूत्र अर्थ का अध्ययन द्वारा शिष्यों को पालन-योषण करके,

शास्त्र मर्यादा अनुसार ऋद्धि, रस और शांता इन तीनों गारव रहित विहार कर भग्य आत्माओं को प्रतिबोध करके, फिर आराधना करने के लिये यदि चाहे तो उत्तरोत्तर बढ़ते प्रशस्त परिणाम रूप संवेग वाले वे आचार्य (सूरि) प्रथम बहुत साधुओं के रहने योग्य बड़े क्षेत्र में जाए। उसके बाद उस नगर, खेट, कर्वट आदि स्थानों में विचरते अपने साधु गण को बुलाकर उनके समक्ष इस प्रकार अपना अभिप्राय बतलावे। उसके पश्चात् पक्षपात बिना सम्यग् बुद्धि से प्रथम निश्चय अपने ही गच्छ में अथवा अन्य गच्छ में वह आचार्य पद के योग्य पुरुष रत्न की बुद्धि से खोज करे। वह इस प्रकार है :—

आचार्य की योग्यता :—आर्य देश में जन्म लेने वाला, उत्तम जाति रूप, कुल आदि पुण्य सम्पत्ति से युक्त हो, सर्व कलाओं में कुशल, लोक व्यवहार में अच्छी तरह कुशल हो, स्वभाव से सुन्दर आचरण वाला, स्वभाव से ही गुण के अभ्यास में सदा तल्लीन रहने वाला, प्रकृति से ही नम्र स्वभाव वाला, प्रकृति से ही लोगों के अनुराग का पात्र, प्रकृति से ही अति प्रसन्न चित्त वाला, प्रकृति से ही प्रिय भाषा बोलने में अग्रसर, प्रकृति से ही अति प्रशान्त आकृति वाला, और इससे ही प्रकृति गम्भीर, प्रकृति से ही अति उदार आचार वाला, प्रकृति से ही महापुरुषों के आचार में चित्त की प्रीति वाला, और प्रकृति से ही निष्पाप विद्या को प्राप्त करने में उद्यमी चित्त वाला, कल्याण-धर्म मित्रों की मित्रता करने में अग्रसर, निन्दा को नहीं करने वाला, माया रहित, मजबूत शरीर वाला, बुद्धि-बल वाला, धार्मिक लोगों के मान्य, अनेक देशों में विचरण किया हो, और सर्व देशों की भाषा के जानकार, व्यवहार में बहुत अनुभवी, देश परदेश के विविध वृत्तान्तों को सुने हो, दीर्घदृष्टा, अक्षुद्र, दाक्षिण्य के महा समुद्र, अति लज्जालु, वृद्धों का अनुकरण करने वाला, विनीत और सर्व विषय में अति स्थिर लक्षण वाला, सरलता से प्रसन्न कर सके ऐसे गुणों का पक्षपाती, देश-काल-भाव के जानकार, परहित करने में प्रीति वाला, विशेषज्ञ और पाप से अति भीरु, सद्गुरु ने जिसे विधिपूर्वक दीक्षा दी हो, उसके बाद अनुक्रम से स्व-पर शास्त्रों के विधानों के अभ्यासी, चिर-परिचित सूत्र अर्थ वाला, उस-उस युग में आगम घरों में मुख्य शास्त्रानुसारी ज्ञान वाला, तत्त्वों को समझाने की विशिष्ट बुद्धि वाला, क्षमावान्, सत्क्रिया को करने में रक्त, संवेगी लब्धिमान्, संसार की असारता को अच्छी तरह समझने वाला, और उससे विरागी चित्त वाला, और सम्यग् ज्ञानादि गुणों को प्ररूपक और स्वयं पालक, शिष्यादि तथा गच्छ समुदाय के उपयोगी उपकरणादि का संग्रह करने वाला अप्रमादी, ज्ञानी तपस्वी गीतार्थ, कथा करने में कुशल तथा परलोक का हित करने वाला, गुणों

के समूह को ग्रहण करने में कुशल, सतत् गुरुकुल वास में रहने वाला, आदेश वाक्य बोलने वाला, अतिशय प्रशम रस-संयम गुण में एक रस वाला, प्रवचन, शासन और संघ प्रतिवात्सल्य वाला, शुद्ध मन वाला, शुद्ध वचन वाला, शुद्ध काया वाला, विशुद्ध आचार वाला, द्रव्य, क्षेत्र आदि में आसक्ति बिना का और सर्व विषय में जयणायुक्त, इन्द्रियों का दमन करने वाला, तीन गुप्ति से गुप्त, गुप्त आचार वाला, मत्सर्य रहित, शिष्यादि को अनुवर्तन कराने में कुशल, तात्त्विक उपकार में उद्यत, दृढ़ प्रतिज्ञा वाला, उठाई हुई जिम्मेदारी के भार को वहन करने में श्रेष्ठ ऋषभ समान, आशंसा रहित, तेजस्वी, ओजस्वी, पराक्रमी, अविषादी, गुप्त बात दूसरों को 'नहीं' कहने वाला, धीर, हितमित और स्पष्टभाषी, कान की सुखकारी, उदार आवाज वाला होता है।

मन, वचन, काया की चपलता बिना का, साधु के सारे गुणोरूपी ऋद्धि वाला, बिना परिश्रम से आगम के सूत्र अर्थ को यथास्थित कहने वाला, उसमें भी दृढ़ युक्तियाँ, हेतु, उदाहरण आदि देकर जिस विषय को आरम्भ किया हो उसे सिद्धि करने में समर्थ। पूछे हुये प्रश्नों का तत्काल उत्तर देने में चतुर, उत्तम मध्यस्थ गुण वाला, पाँच प्रकार का आचार पालन करने वाला, भव्य जीवों को उपदेश देने में आदर वाले, पर्षदा को जीतने वाले, क्षोभ रहित, निद्रा को जीतने वाले—अल्प निद्रा वाले, विविध अभिग्रह स्वीकार करने में रक्त, काल को सहन करने में धीरता धारण करने वाला, जवाबदारी के भार को सहन करने वाला, उपसर्गों को सहन करने वाला, और परीषद्‌ओं को सहन करने वाला, तथा थकावट को सहन करने वाला, दूसरे के दुर्वाक्यों को सहन करने वाले, कष्टों को सहन करने वाले, पृथ्वी के समान सब कुछ सहन करने वाला, उत्सर्ग अपवाद के समय पर उत्सर्ग और अपवाद को सेवन करने में चतुर, फिर भी बाल-मुग्ध जीवों के समक्ष अपवाद को नहीं आचरण करने वाला, प्रारम्भ में और परिचय के पश्चात् भी भद्रिक तथा समुद्र समान गम्भीर बुद्धि वाला, राजा के खजाने के समान सर्व के हितकर, मद्य के घड़े के समान, प्रकृति से ही मधुर और मद्य के ढक्कन के समान, बाह्य व्यवहार में भी मधुर और गर्जना रहित, निरभिमानी, उपदेशरूपी, अमृत जल की वृष्टि करने में तत्परता से युक्त, शिष्यादि प्राप्त करने से और शिष्यादि को ज्ञान क्रिया में कुशलता प्रगट करने से, सर्व काल में और सर्व क्षेत्रों में, देश से और सर्व से बुद्धि प्राप्त करते पुष्करावर्त मेघ के साथ बराबरी करने वाले अर्थात् पुष्करावर्त मेघ गर्जना रहित वर्षा करने में तत्पर और उस-उस काल में उस-उस क्षेत्र में देश से और सर्व से अनाज उत्पन्न करने वाला और वृद्धि करने वाला होता

है, वैसे शिष्यादि को भी वह गर्जना रहित वात्सल्य भाव से ज्ञानामृत की वर्षा करने में तत्पर, यथायोग्य शिष्य को योग्य बनाने वाले होते हैं। अभ्यन्तर और बाह्य सामर्थ्य वाला तथा स्व और पर की अनुकम्पा में तत्पर तथा सूत्र पढ़ने से क्रिया में सीता सरोवर के समान नित्य बहते हुये श्रोत के समान, और अध्ययन की क्रिया में सर्व ओर से पानी (जल) को प्राप्त करते श्रोत के सदृश साधु की खोज करे।

फिर भी काल की परिहानि के दोष से ऐसा सम्पूर्ण गुण वाला नहीं मिले तो इससे एक, दो आदि कम गुण वाला अथवा छोटे-बड़े दोष वाला भी अन्य बहुत बड़े गुण वाले को उत्तम प्रकार के शिष्य को शोध करके यह योग्य है ऐसा मानकर ऋष मुक्ति की इच्छा वाले आचार्य अपने गण-समुदाय को पूछ करके उसे गणाधिपति रूप (आचार्य पद) में स्थापन करे, केवल इतना विशेष है कि—अपना और शिष्य का दोनों का भी जब लग्न श्रेष्ठ चन्द्रबल युक्त हो, ऊँचे स्थान में रहे सर्व शुभ ग्रहों की दृष्टि लग्न के ऊपर पड़ती हो, ऐसे उत्तम लग्न के समय में गच्छ के हित में उपयुक्त वह आचार्य समग्र संघ साथ में शास्त्रोक्त विधि से उस शिष्य में अपना आचार्य पद को आरोपन (स्थापन) करे। फिर निःस्पृह उस आचार्य को सूत्रोक्त विधि से समग्र संघ समक्ष ही 'यह गण तुम्हारा है' ऐसा बोलकर गच्छ की अनुज्ञा करे अर्थात् नये आचार्य को गच्छ समर्पण करे। परन्तु यदि आचार्य ऊपर कहे अनुसार सविशेष सभी गुण समूह से युक्त पुरुष के अभाव में अन्य साधुओं की अपेक्षा से कुछ विशेष सद्-गुण वाले भी साधु को अपने पद पर स्थापन नहीं करे और उसे गच्छ-समुदाय भी नहीं सौंपे तो वह शिव भद्राचार्य के समान अपने हित को और गच्छ को भी गँवा देता है, उसकी कथा इस प्रकार है :—

शिवभद्राचार्य का प्रबन्ध

कंचनपुर नगर में श्रुतरूपी रत्नों का महान् रत्नाकर, महान् भाग्य वाला और अनेक शिष्यों रूप गच्छ के नेत्र रूप शिवभद्र नाम से आचार्य थे। वे महात्मा एक समय, मध्यरात्री के समय में आयुष्य को जानने के लिए जब आकाश को देखने लगे, तब अकस्मात् उन्होंने उछलती कान्ति के प्रवाह से समग्र दिशा चक्र को उज्ज्वल करते दो चन्द्र को समकाल में देखा। इससे क्या मति भ्रम से दो चन्द्र देखा है अथवा क्या दृष्टि दोष है? या क्या कृत्रिम भय है? ऐसा विस्मित चित्त वाले उन्होंने दूसरे साधु को उठाया और कहा कि—हे भद्र! क्या आकाश में तुझे दो चन्द्रमण्डल दिखते हैं? उसने कहा कि—“मैं

एक ही चन्द्र को देखता हूँ।” तब सूरि जी ने जाना कि—निश्चय ही जीवन का अन्त आ गया है। इससे मैंने पूर्व में नहीं देखा हुआ, यह उत्पात हुआ है। क्योंकि—चिरकाल जीने वाला मनुष्य ऐसा दूसरों का आश्चर्य कारण और अत्यन्त अघटित उत्पात को कभी भी नहीं देखता है अथवा ऐसे विकल्प करने से क्या लाभ ? उत्पात के अभाव में भी मनुष्य तृण के अन्तिम भाग में लगा हुआ जल-बिन्दु देखने पर अपने जीवन को चिरकाल रहने का नहीं मानता। इससे प्रति समय नाश होते जीवन वाले प्राणियों को इस विषय में आश्चर्य क्या है ? अथवा व्याकुलता किसलिये ? अथवा संमोह क्यों होवे ? उल्टा चिरकाल निर्मल शील से शोभित उत्तम घोर तपस्या वाला तपस्वियों को तो परम अभ्युदय में निमित्त रूप मरण भी मन को आनन्द करता है। परन्तु पाथेय बिना का लम्बे पंथ के मुसाफिर के समान जो परभव जाने के समय सद्धर्म की उपार्जन करने वाला नहीं है, वह दुःखी होता है। इसलिए मैं उत्तम गुण वाले सभी साधुओं के नेत्र को आनन्द देने वाले एक मेरे शिष्य के ऊपर गच्छ का भार रखकर मैं अत्यन्त विकलिष्ट उग्र विविध जात की तपस्या से काया को सुखाकर एकाग्र मन वाला दीर्घ साधुता का फल प्राप्त करूँ।

परन्तु मेरे इन शिष्यों में कोई स्वभाव से ही क्रोधातुर है और शास्त्र के परमार्थ को जानने में कोई भी कुशल नहीं है, कोई रूप विकल है तो कोई शिष्यों का अनुवर्तन करवाने का नहीं जानता है, कोई झगड़ा करने वाला है, तो कोई लोभी तो कोई मायावी है और कोई बहुत गुण वाला है, परन्तु अभिमानी है। हा ! क्या करूँ ? ऐसा कोई सर्व गुण नहीं है कि जिसके ऊपर यह गणधर पद का आरोपण करूँ। शास्त्र में कहा है कि—“जानते हुए भी स्नेह राग से जो यह गणधर पद को कुपात्र में स्थापन करता है, वह शासन का प्रत्यनिक है।” इस तरह शिष्यों के प्रति अरुचित्व होने के कारण इस प्रकार के कई गुणों से युक्त होने पर भी शिष्य समुदाय की अवगणना कर और भावी अनर्थ का विचार किये बिना ही समय के अनुरूप कर्तव्य में मूढ़ बने उन्होंने कुल अल्पमात्र संलेखना को करके भक्त परिक्षा अनशन को स्वीकार किया। फिर गुरु अनशन में रहने से जब सारणा—वारणादि का सम्भव नहीं रहा तब जंगल के हाथियों के समान निरंकुश बना तथा गुरु को शिष्यों के प्रति उपेक्षा वाला देखकर, गुरु से निरपेक्ष बने हुये शिष्य भी उनकी सेवा आदि कार्यों में मन्द आदर वाले हुए और आचार्य भी उनको इस तरह देखकर हृदय में संताप करते अनशन को पूर्ण किए बिना ही मरकर अमुर देवों में उत्पन्न हुए। शिष्य समुदाय भी जैसे नायक बिना के नागरिक शत्रु के सुभट समूह से पराभव प्राप्त

करते हैं वैसे अति क्रूर प्रमाद शत्रु के सुभटों के समूह से पराभूत हो गये और गुरु के अभाव में साधु के कर्त्तव्य में शिथिल बन गये तथा मन्त्र-तन्त्र कौतुक आदि में प्रवृत्ति करते अनेक अनर्थों के भागीदार बने ।

इस कारण से आचार्य मध्यम गुण वाले को भी आचार्य पद स्थापन करके उसे गच्छ की अनुज्ञा देकर अनशन का प्रयत्न करना चाहिये । अन्यथा प्रवचन की निन्दा, धर्म का नाश, मोक्ष मार्ग का उच्छेद क्लेश—कर्म बन्धन और धर्म से विपरीत परिणाम आदि दोष लगते हैं । इस तरह कुगति रूपी अन्धकार का नाश करने में सूर्य के प्रकाश तुल्य और मरण के सामने विजय पताका की प्राप्ति कराने में सफल कारण रूप संवेगरंगशाला रूपी आराधना के दस अन्तर द्वार वाला दूसरा गण संक्रमण द्वार का दिशा नामक प्रथम अन्तर द्वार कहा है । अब इस तरह अपने पद पर शिष्य को स्थापन कर उसे गण—समुदाय की अनुज्ञा करने वाला, एकान्त निर्जरा की उपेक्षा वाला भी आचार्य को उसके अभाव में अति महान कल्याण रूपी लता वृद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता है, उसे दुर्गति को नाश करने वाली क्षमापना कहलाती है ।

दूसरा क्षामणा द्वार :—उसके बाद प्रशान्त चित्त वाले वे आचार्य भगवन्त, बाल, वृद्ध सहित अपना सर्व समुदाय को तथा तत्काल स्थापन किये नये आचार्य को बुलाकर मधुर वाणी से इस प्रकार कहे कि—‘भो महानुभवों ! साथ में रहने वालों को निश्चय सूक्ष्म या बादर कुछ भी अप्रीति हो ।’ इसलिए कदापि अशन, पान, वस्त्र, पात्र तथा पीठ या अन्य भी जो कोई धर्म का उपकार करने वाला धर्मोपकरण मुझे मिला हुआ हो, विद्यमान होने पर भी और कल्प्य होने पर भी मैंने नहीं दिया हो अथवा दूसरे देने वाले को किसी कारण से रोका हो । अथवा पूछने पर भी यदि अक्षर, पद, गाथा, अध्ययन आदि सूत्र का अध्ययन न करवाया हो, अथवा अच्छी तरह अर्थ या विस्तार से नहीं समझाया हो, अथवा ऋद्धि, रस और शांता गारव के वश होकर किसी कारण से, कुछ भी कठोर भाषा से, चिरकाल बार-बार प्रेरणा या तर्जना की हो । विनय से अति नम्र और गाढ़ राग के बन्धन से दृढ़, बन्धन से युक्त भी तुमको रागादि के वश होकर मैंने यदि किसी विषम दृष्टि से अविनीतादि रूप में देखा हो या मान्य किया हो, और सद्गुणों की प्राप्ति में भी उस समय यदि तुम्हारी उत्साह वृद्धि न की हो, उसे हे मुनि भगवन्तों ! शल्य और कषाय रहित होकर मैं तुम्हें खमाता हूँ । तथा हे देवानुप्रिय ! प्रिय हितकर को भी अप्रिय मानकर यदि इतने समय तक अस्थान में कारण बिना भी तुमको दुःखी किया हो तो भी

खमाता हूँ। क्या किसी से भी रात-दिन—सतत् किसी का भी एकान्त में प्रिय न कर सकता है? इसलिए मैंने ही कुछ भी तुम्हारा अप्रिय किया हो उसके लिये मुझे क्षमा करना। अधिक क्या कहूँ? यहाँ साधु जीवन में द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से मैंने तुम्हारा जो कोई भी अनुचित किया हो, उन सबको भी निश्चय ही मैं खमाता हूँ।

फिर तीव्र गुरु भक्ति वाला चित्त युक्त आत्म वृत्ति वाला, उन सर्वों ने भी पूर्व जन्म में नहीं सुना हुआ गुरु का वचन सुनकर भयभीत बने हुये के समान उत्पन्न हुए शोक से मन्द बने गद्गद् स्वर वाला, अति विद्वान् होते हुए भी सतत् बड़े-बड़े आँसुओं से भी गीली आँखों वाला गुरु को कहे कि—हे स्वामिन् ! सर्व प्रकार से स्वयं कष्ट सहन कर भी यदि आपने सदा हमको ही चारित्र्य द्वारा पालन पोषण किया उसका उपकार करते हुए भी आपको मैं खमाता हूँ। ऐसा यह वचन क्यों कहते हैं? उसके स्थान पर 'आपने सद्गुणों में स्थापन उसकी अनुमोदना करता हूँ।' ऐसा कहना चाहिये। आप अप्राप्त गुणों को प्राप्त कराने वाले, प्राप्त किए गुणों की वृद्धि करने वाले, कल्याण रूपी लता को उत्पन्न करने वाले, एकान्त हित करने वाले वत्सल, मुक्तिपुरी में ले जाने वाले एक श्रेष्ठ सार्थवाह, निष्कारण, एक प्रिय बन्धु, संयम में सहायक, सकल जगत के जीवों के रक्षक, संसार समुद्र में पार उतारने वाले कर्णधार और सर्व प्राणि-समूह के सच्चे माता-पिता होने से जो अति चतुर भव्य प्राणियों के माता-पिता का त्याग करके, आश्रय करने योग्य महासत्त्व वाले महात्मा भय से पीड़ित को भय मुक्त करने वाले और हित में तत्पर, हे भगवन्त ! आप उपयोग के अभाव में, प्रमाद से भी लोक में किसी का भी किसी तरह अनुचित का चिन्तन कर सकते हो? द्रव्य, क्षेत्र और काल से नित्य सर्व प्राणियों का एकान्त प्रिय करने वाले आपको भी क्या खमाने योग्य हो सकता है? निश्चय 'इस तरह कहने से गुण होगा' ऐसा मानकर आपको जो कुछ कठोरतापूर्वक आदि भी कहा, वह भी उत्तम वैद्य के कड़वे औषध के समान परिणाम से हमारे लिये हितकर होता है। इसलिए हमने ही आपके लिये जो कोई भी अनुचित किया हो, करवाया हो और अनुमोदन किया हो उसे आप प्रति खमाने योग्य हैं। पुनः हे भगवन्त ! वह भी हमने राग से, द्वेष से, मोह से या अनाभोग से, मन, वचन और काया द्वारा जो अनुचित किया हो, उसमें राग से अपनी बड़ाई करने से, द्वेष से, आपके प्रति द्वेष करने से, मोह से, अज्ञान द्वारा और अनाभोग से, उपयोग बिना जो अनुचित किया हो तो वह आपके प्रति खमाने योग्य है।

और आपने सम्यग् अनुग्रह बुद्धि से हमारा हित करने पर भी हमने मन से कुछ भी विपरीत कल्पना की हो, वचन से बीच में बोला हो या अप्रिय वचन बोला हो, पीछे निन्दा, चुगल खोर तथा आपकी जाति, कुल, बल, ज्ञान आदि से जो नीचता बतलाई हो, काया से आपके हाथ, पैर, उपधि आदि का यदि कोई अनुचित स्पर्श आदि किया हो, उन सर्व को हम त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना करते हैं। तथा हे भगवन्त ! अशन, पान आदि का तथा सूत्र, अर्थ और तदुभय वस्त्र, पात्र दण्ड आदि के तथा सारणा, वारणा, नोदना और प्रति नोदन का आदि की रुचि वाला आपने प्रेमपूर्वक दिया है, फिर भी हमने किसी तरह अविनय से स्वीकार किया हो, वह भी सर्व क्षमा याचना करते हैं, और किसी द्रव्य में, क्षेत्र में काल में या भाव में, कहीं पर भी किसी जात की कदापि जो आशातना की हो, उसे भी निश्चिन्त त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना करते हैं। अब इस विषय में अधिक क्या कहें ? इस तरह से भक्ति समूह युक्त शरीर वाला, वे शिष्य दो हाथ सम्यग् भाल-तल पर जोड़कर, गुणों से महान्, धर्माचार्य, धर्मोपदेशक और धर्म के वृषभ समान अपने गुरु महाराज को बार-बार अपने अपराध किये हुये की क्षमा याचना करे, और भी कहे कि—संयम के भार को धारण करने वाले उज्ज्वल गुणों के एक आधार हे पूज्य गुरुदेव ! दीक्षा दिन से आज तक हितोपदेश देने वाले आप की आज्ञा को अज्ञान तथा प्रमाद दोष के आधीन पड़े हमने जो कोई विराधना की हो, उन सर्व को भी मन, वचन, काया से क्षमा याचना करते हैं। इस तरह गुरु से यथायोग्य खमाणा करने वाले शिष्यादि आनन्द के आँसू बरसाते पृथ्वी तक मस्तक नमा कर यथायोग्य क्षमा याचना करे। इस तरह क्षमापना करने से आत्मा की शुद्धि होती है और दूसरे जन्म में थोड़ा भी वैर का कारण नहीं रहता है। अन्यथा क्षमापन नहीं करने से नयशील सूरि के समान ज्ञान का अभ्यास और परोपदेशादि धर्म का व्यापार भी परभव में निष्फल होता है। वह इस तरह है :—

आचार्य नयशील सूरि की कथा

एक बड़े समुदाय में विशाल श्रुतज्ञान से जानने योग्य ज्ञेय के जानकार, दूर से अन्य गच्छ में से आकर सुनने की इच्छा वाले, संकड़ों शिष्यों के संशयों को नाश करने वाले महाज्ञानी और महान् उपदेशक एवं बुद्धि से स्वयं बृहस्पति के समान नयशील नामक आचार्य थे। केवल सुखशीलता के कारण क्रिया में वे ऐसे उद्यमी नहीं थे। उनका एक शिष्य सम्यग् ज्ञानी और चारित्र्य से भी युक्त था।

इससे शास्त्रार्थ में विचक्षण लोग उपयुक्त मन वाले होकर 'तहत्ति' बोलते थे, उसके पास श्री जैनागम को सुनते थे और 'यह मुनि पवित्र चारित्र्य वाला है' ऐसा अतिमान देते थे। इस तरह काल व्यतीत होते एक समय उस आचार्य ने विचार किया कि—ये भोले लोग मुझे छोड़कर इसकी सेवा क्यों करते हैं? अथवा स्वच्छन्दाचारी ये लोग चाहे कुछ भी करें, किन्तु मैंने इस तरह बहुत श्रुत बनाया है, इस तरह दीक्षित बनाया है, इस तरह पालन भी किया है तथा महान् गुणवान बनाया है, फिर भी यह तुच्छ शिष्य मेरी अवगणना करके इस तरह पर्षदा में भेद का वर्तन क्यों करता है? 'राजा जीता हुआ भी छत्र का भंग नहीं किया जाता है।' इस लोग प्रवाह को भी मैं मानता हूँ कि इस अनार्य ने सुना नहीं है। फिर भी इसको मैं यदि अभी धर्मकथा करते रोकूंगा तो महामुग्ध लोग मुझे ईर्ष्या वाला समझेंगे। इसलिए चाहे वह कुछ भी करे, इस प्रकार के जीवों की उपेक्षा करनी चाहिए, वही योग्य है, अन्य कुछ भी करना वह निष्फल है और उसके भवत लोक में विरुद्ध हैं। इस तरह संकलेश बनकर उसके प्रति प्रद्वेष करने लगे, और वह आचार्य अन्तकाल में भी उसके साथ क्षमापना किये बिना मरण प्राप्त किया। फिर संकलेश दोष से उसी वन में वह क्रूर आत्मा, संज्ञी मन वाला, तमाल वृक्ष समान अति काला श्याम सर्प हुआ। फिर किसी तरह जहाँ तहाँ घूमता हुआ जिस स्थान पर साधु स्वाध्याय—ध्यान करने की भूमि में आकर रहा। उस समय स्वाध्याय करने की इच्छा से वह शिष्य चला, तब अपशक्न होने से स्थविरों ने उसे रोका। एक क्षण रुककर जब वह फिर चला, तब भी पुनः वैसा ही अपशक्न हुआ, उस समय स्थविरों ने विचार किया कि—इस विषय में कुछ भी कारण होना चाहिये, अतः साथ में हमें भी जाना चाहिये। ऐसा मानकर उसके साथ ही स्थविर मुनि भी स्वाध्याय भूमि पर गये।

फिर स्थविर के मध्य में बैठे उस शिष्य को देखकर पूर्व जन्म की कठोर ईर्ष्या के कारण उस सर्प को भयंकर क्रोध चढ़ा। तब प्रचण्ड फणा चढ़ाकर लाल आँखों द्वारा आकाश को भी लाल करते और अति चौड़े मुख वाला वह सर्प उस शिष्य की ओर दौड़ा। अन्य मुनियों को छोड़कर उस शिष्य की ओर अति वेग से जाते हुये उस सर्प को स्थविरों ने महामुसीबत से भी उसी समय रोका और उन्होंने विचार किया कि—जो ऐसा वैर धारण करता है वह निश्चय ही इस तरह किसी का भी साधुता का भंजक और साधु का प्रत्यनिक होता है। उसके पश्चात् किसी समय पर वहाँ केवली भगवन्त पधारे और स्थविरों ने विनयपूर्वक उनसे यह वृत्तान्त पूछा। इससे केवली भगवान ने पूर्व

जन्म की बात कही, उस नयशील सूरि का उसके प्रति प्रद्वेष वाला सारा वृत्तान्त मूल से ही उन्होंने कहा। इस तरह मुनकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे बुद्धिमान मुनि बोले—अहो ! प्रद्वेष का दुष्ट परिणाम भयंकर है, क्योंकि ऐसे श्रुतज्ञान रूपी गुण की खान, बुद्धिमान और कर्तव्य के जानकार भी महानुभाव आचार्य श्री द्वेष के कारण भयंकर सर्प बने हैं। फिर पूछा कि—हे भगवन्त ! अब उसे वैर का अपशम किस तरह हो सकता है ? केवली भगवन्त ने कहा कि—उसके पास जाकर पूर्वभव के वैर का स्वरूप उसे कहो और बारम्बार क्षमापना करो, ऐसा करने से जाति स्मरण ज्ञान को प्राप्त कर उसे बोध होगा और इससे धर्म भावना प्रगट होगी, वह मत्सर का त्याग करके अनशन स्वीकार करेगा और फिर भी उस काल के उचित सद्धर्म की करणी की आराधना करेगा, इससे स्थविरों ने सर्प के उद्देश से उसी तरह क्षमापनादि सर्व किया और वह सर्प अनशन आदि क्रिया करके मर कर देवलोक में उत्पन्न हुआ। इस तरह वैर की परम्परा को उपशम करने के लिए अनशन के समय में शिष्य समुदाय की सविशेष क्षमापना करने से शुभ फल वाली बनती है, और क्षमापना करने वाले को इस जन्म में निःशल्यता, विनय का प्रगटीकरण, सम्यग् दर्शनादि गुणों की प्राप्ति, कर्म की लघुता, एकत्व भावना और रागरूपी बन्धन का त्याग, इन गुणों की प्राप्ति होती है। इस तरह गुणरूपी रत्नों के लिए रोहणाचल पर्वत की भूमि समान और मरण की सामने युद्ध में विजय पताका की प्राप्ति कराने में सफल हेतुभूत श्री संवेगरंगशाला नाम की आराधना के दस अन्तर द्वार वाला गण संक्रमण नामक दूसरा द्वार का क्षमापना नामक दूसरा अन्तर द्वार कहा है। अब तीसरा अनुशास्ति द्वार कहते हैं।

तीसरा अनुशास्ति द्वार :—अब शास्त्र विधि अनुसार मुनियों को क्षमापना करने पर भी जिसके बिना सम्यग् समाधि को प्राप्त न करे उस अनुशासित को अल्पमात्र कुछ कहते हैं। क्षमापन करने के बाद एकाग्रता से यथाविधि सर्व धर्म व्यापारों में प्रतिदिन उद्यम वाला, बढ़ते विशुद्ध उत्साह वाला, शास्त्र रहस्यों का जानकार, साधु के योग्य समस्त आचार्यों को स्वयं अखण्ड आचरण करते और शेष मुनियों को भी उसी तरह बतलाने वाला, अपने पद पर स्थापित नूतन आचार्य को अति संयम में रक्त समग्र गच्छ को देखकर वह पूर्व में कहे अनुसार, अनुपकारी भी दूसरों को अनुग्रह करने में लीन चित्त वाले, महासत्त्वशाली और संवेग से भरे हुए हृदय वाले वह महात्मा पूर्व सूरि उसकी अनुमोदना करे और अति प्रसन्न मन वाला वह सूरि उचित समय पर

किस तरह शिक्षा दे उसे कहते हैं—बड़े गुण की समूह की वृद्धि और पुष्टि द्वारा उसमें से कुबुद्धि रूप मैल धो गया हो। पण्डित के मन को सन्तोष देने वाले प्रशम रस को बहती, अति स्नेह से युक्त, सन्देह बिना की, गम्भीर अर्थ युक्त, संसार प्रति वैराग्य प्रकट करने वाली, पाप रहित, मोह, अज्ञान रहित, कथनीय विषय को ग्रहण करने वाली, दुराग्रह की नाशक, मनरूपी अश्व को धर्म की चाबुक समान, मधुरता से क्षीर, मद की महिमा को भी जीतने वाली, अति मधुर और सुनने वाले के अस्थि—मज्जा को भी रंग दे ऐसी हित शिक्षा नये आचार्य को और गच्छ को दे वह इस प्रकार है—

हे देवानुप्रिय ! तुम जगत में धन्य हो, कि जो इस जगत में अति दुर्लभ आर्य देश में मनुष्य जीवन प्राप्त किया है। और स्नेही जन, स्वजन, नौकर आदि मनुष्यों से भरे हुए, उत्तम कुल में जन्म, प्रशस्त जाति तथा सुन्दर रूप, सुन्दर बल, आरोग्यता, और लम्बा आयुष्य, विज्ञान सद्धर्ममें बुद्धि, सम्यक्त्व, और अखण्ड निरतिचार शील को तुमने प्राप्त किया है। ऐसा पुण्य समूह निष्पुण्यक को नहीं मिल सकता है। इस तरह सर्व की सामान्य रूप में प्रशंसा करके उसके बाद सर्व प्रथम आचार्य को शिक्षा दे, जैसे कि—हे सत्पुरुष ! तू संसार समुद्र में तारने वाली उत्तम धर्मरूपी नाव का कर्णधार है, मोक्ष मार्ग में सार्यवाह है एवं अज्ञान से अन्धे जीवों के नेत्र समान है। अशरण भव्य जीवों का शरण है और अनाथों का नाथ है, इसलिए हे सत्पुरुष ! तुझे गच्छ के महान भार में जोड़ा है। हे धीर ! सर्वोत्तम तीर्थंकर नाम कर्म फल का जनक यह सर्वोत्तम आचार्य (सूरि) पद को, अक्षय सुख रूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिए छत्तीस गुणरूपी धर्म रथ की धुरा को धारण करने में धीर, वृषभ समान, और पुरुषों में सिंह सदृश श्री गौतम गणधर आदि ने वहन किया है, जिससे निर्मल बुद्धि तुझे भी उसे दृढ़ रूप धारण करना। क्योंकि धन्य पुरुषों को यह पद दिया जाता है। धन्य पुरुष इसका पार प्राप्त कर सकते हैं, और इसका पार पाकर वे दुःखों का पार—अन्त को प्राप्त करते हैं। इससे भी श्रेष्ठ अन्य पद समग्र जगत में भी नहीं है, क्योंकि काल दोष से श्री जैनश्वरों का व्युच्छेद होने से वर्तमान काल में शासन का प्रकाश—प्रभावना करने वाला यह पद है। इससे किसी ऐहिक आशा बिना प्रतिदिन श्री जैनागम के अनुसार विविध प्रकार के शिष्य समूह को योग्यता अनुसार विद्वता का व्याख्यान करना कि जिससे परलोक में उद्यत धीर पुरुषों ने तेरे ऊपर आरोपित किया हुआ इस गणधर (आचार्य) पद को तू निस्तार प्राप्त कर सफल करना। क्योंकि जन्म, जरा, मरण से भयं विशाल संसार रूपी अटवी में परिभ्रमण करने से थके हुए,

परम पद रूप कल्पवृक्ष से शुभ फल की सम्पत्ति को चाहते इस भव्य प्राणियों को श्री जैन कथित धर्मशास्त्र के उपदेश तुल्य तीनों जगत में भी दूसरा सुन्दर उपकार नहीं है। और इस तरह श्री जैन कथित आगम का जो व्याख्यान करना वह परमार्थ मोक्ष के संशय रूप अन्धकार को नाश करने में सूर्य रूप है। संवेग और प्रशम का जनक है, दुराग्रह रूपी ग्रह को निग्रह करने में मुख्य समर्थ है, स्वपर उपकार करने वाला होने से महान है, प्रशस्त श्री तीर्थकर नामकर्म का बन्धन करने वाला है, इस तरह महान् गुण का जनक है। इस कारण से हे सुन्दर। परिश्रम का अवकाश दिये बिना पर के उपकार करने में एक समान भाव वाला तू रमणीय जैन धर्म का सम्यग् उपदेश देना।

और हे धीर पुरुष ! तुझे प्रति लेखनादि दस भेद वाली मुनि के दसधा-चक्रवाल क्रिया में, समाचारी में, क्षमा, मार्दव, आदि दस प्रकार के यति धर्म में तथा सत्तरह विध संयम में और सकल शुभ फलदायक अट्ठारह हजार शीलांग रथ में, इससे अधिक क्या कहें ? अन्य भी अपने पद के उचित कार्यों नित्य सर्व प्रकार से अप्रमाद करना, क्योंकि गुरु यदि उद्यमी हो तो शिष्य भी सम्यग् उद्यमशील बनते हैं। तथा प्रशान्त चित्त द्वारा तुझे सदा सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री करना, गुणीजनों को सन्मान देना, विनीत वचनों से प्रशंसा आदि से प्रीति करना, दीन, अनाथ, अन्ध, बहेरा आदि दुःखी जीवों के प्रति कृपा करना और निर्गुणी, गुण के निन्दक, पाप सक्त जीवों में उपेक्षा करना। तथा हे सुन्दर ! दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य गुण के प्रकर्ष के लिए विहार करना, मुनि के आचार का सर्व प्रकार से वृद्धि करना। तथा जैसे मूल में छोटी भी श्रेष्ठ नदी बहती हुई समुद्र के नजदीक चौड़ाई में बढ़ जाती है वैसे पर्याय के साथ तू भी शील गुण से वृद्धि करना। हे सुन्दर ! तू विहार आदि मुनिचर्या को बिलाव के रूदन समान प्रथम उग्र और फिर मन्द नहीं करना, अन्यथा अपना और गच्छ का भी नाश करेगा। सुखशीलता में गृद्ध जो मूढ़ शीतल बिहारी बनता है उसे संयम धन से रहित केवल वेशधारी जानना। राज्य, देश, नगर, गाँव, घर और कुल का त्याग कर प्रवज्या स्वीकार करके पुनः जो वैसी ही ममता करता है वह संयम धन से रहित केवल वेशधारी है। जो क्षेत्र राजा बिना का हो अथवा जहाँ राजा दुष्ट हो, जहाँ जीवों की प्रवज्या की प्राप्ति न हो अथवा संयम पालन न हो और संयम का घात होता हो तो वह क्षेत्र त्याग करने योग्य है। स्व-पर दोनों पक्ष में अवर्णवाद तथा विरोध को असमाधि-कारक वाणी को और अपने लिए विष तुल्य तथा पर के लिए अग्नि समान कषायों को छोड़ देना, यदि जलते हुये अपने घर को प्रयत्नपूर्वक ठण्डा करने

की इच्छा न करे तो उससे घर की अग्नि को शान्त करने की आशा कैसे कर सकते हैं ? सिद्धान्त में सारभूत ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र्य में, इन तीनों में जो अपने आपको तथा गच्छ को स्थिर करता है वह गणधर कहलाता है। हे वत्स ! चारित्र्य की शुद्धि के लिए उद्गम, उत्पाद आदि दोषों से रहित अशन आदि पिंड उपधि को और बस्ती को ग्रहण करना जो आचार में वर्तन करता है वही आगम में आचार्य की मर्यादा कही है और ऊपर कहे आचार रहित जो रहता है वह मर्यादा की अवश्य विराधना करता है। सर्व कार्यों में गुह्य तत्त्व को गुप्त और सम्यक् समदर्शी बनना, बाल और वृद्धों से युक्त समग्र गच्छ का नेत्र के समान सम्यग् रक्षण करना। जैसे ठीक मध्य में पकड़ा हुआ सोने का काँटा (तराजू) वजन को समभाव में धारण करता है अर्थात् एक पलड़े में सोना और दूसरे पलड़े में लोहा हो तो भी वह समभाव से धारण करता है अथवा जैसे समान गुण वाले दोनों पुत्र को माता समान रूप सार सम्भाल रखती है अथवा जैसे तू अपने दोनों नेत्रों को किसी प्रकार के भेदभाव बिना एक समान सार सम्भाल रखता है, वैसे विचित्र चित्त प्रकृति वाले भी शिष्य समुदाय प्रति तू समान दृष्टि वाला बनना। जैसे अति दृढ़ मूल रूप गुण वाला वृक्ष के विविध दिशा में उत्पन्न हुये भी उत्तम पत्ते चारों तरफ घिरे हुये होते हैं, वैसे दृढ़ मूल गुणों से युक्त तुझे भी भिन्न-भिन्न दिशा से आये हुये ये महामुनि भी सर्वथा घिरे हुये रहेंगे। (यहाँ दिशा अलग-अलग गच्छ समुदाय समझना) और जैसे पत्ते समूह से छाया वाला बना हुआ वृक्ष पक्षियों का आधार भूत बनता है, वैसे मुनि रूपी पत्तों के योग से कीर्ति को प्राप्त करने वाले तू मोक्ष रूपी फल की इच्छा भव्य प्राणी रूपी पक्षियों के सेवा पात्र बनेंगे।

इसलिए तुझे इन उत्तम मुनियों को लेशमात्र भी अपमानित नहीं करना। क्योंकि तूने उठाये हुए सूरिपद के भार को उठाने में तुझे वे परम सहायक हैं। जैसे विन्ध्याचल भद्र जाति के, मन्द जाति के, मृग जाति आदि के विविध संकीर्ण जाति वाले हाथियों का सदाकाल भी आधारभूत है, वैसे तू भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और क्षुद्र कुल में जन्मे हुये और संयम में रहे सर्व साधुओं का आधारभूत बनना। तथा उसी विन्ध्याचल जैसे नजदीक रहे और दूर वन में रहे हाथियों के यूथों का भेद बिना समान भाव से आधार रूप धारण करते हैं, आश्रय को देते हैं, वैसे हे सुन्दर ! तू भी स्वजन-परजन आदि संकल्प बिना समान रूप में इन सर्व मुनियों का आधारभूत बनना। और स्वजन या परजन को भी बालक समान, स्वजन-सदन बिना का, रोगी, अज्ञान, बाल वृद्धादि सर्व मुनियों का परम सहायक तू बनना। प्रेमयुक्त से पिता समान

अथवा दादा समान निराधार का आधार, अनाथ का नाथ बनना । तथा इस दुष्माकाल रूपी कठोर गरमी में धर्मबुद्धि रूप जल की तृष्णा वाला साधुओं का तथा संसर्ग से दूर रहने वाली भी 'यह तेरी अन्ते वाणियाँ हैं' ऐसा समझकर साध्वियों को भी, मुक्तिपुरी के मार्ग में चलने वाले सुविहित साधुओं की आचार रूपी पानी परब (प्याऊ) में रहा हुआ तू देशना रूप नाल द्वारा कर्तव्य रूपी जल का पान करना, तथा इस लोक में सारणादि करे, वह इस लोक का आचार्य है और परलोक के लिये जैन आगम का जो स्पष्ट उपदेश दे वह परलोक का आचार्य । इस तरह आचार्य दो प्रकार के होते हैं । इसमें यदि आचार्य सारणा न करता है, वह जीभ से पैर को चाटता है अर्थात् लाड-प्यार करता है तो भी हितकर नहीं है, यदि दण्ड से मारे और सारणादि करे वह भी हितकर नहीं है । जैसे कोई शरण में आए का प्राण नाश करता है, उसे महापापी गिना जाता है । वैसे गच्छ में सारणादि करने योग्य को भी सारणादि नहीं करे तो वह आचार्य भी वैसा जानना । इसलिये हे देवानुप्रिय ! तू सम्यक् परलोक आचार्य बनना, केवल इस लोक का आचार्य बनकर स्व-पर का नाशक नहीं बनना । क्योंकि दुःखियों को तारने में समर्थ परम ज्ञानी आदि गुण को प्राप्त करके जो संसार के भय से डरते जीवों का दृढ़ रक्षण करता है, वह धन्य है । तथा साधु मन, वचन या काया से तुझे संकड़ों अनिष्ट अपराध करे, फिर भी तू उनका हितकर ही बनना, अप्रीति को अल्प भी नहीं करना । किसी एक का पक्षपात किए बिना रोषादि का जय करके सर्व साधर्मियों के प्रति सम-चित्त रूप वर्तन करना । सर्व जीवों के प्रति बन्धु-भाव करने योग्य करना । परन्तु जो अपनी आत्मा को एकाकी ही रागी करता है उसके समान दूसरा मूढ़ कौन हो सकता है ? स्वयं क्लेश सहन करके भी तेरे साधर्मिक साधुओं के कार्यों में किसी तरह उत्तम प्रकार से वर्तन करना चाहिए कि जिससे तू उनका अमृत तुल्य बन जाये ।

ऐसा करने से तेरी कीर्ति तीनों जगत को शोभायमान होगी । इस कारण से ही किसी ने चन्द्र के उद्देश्य से कहा है कि—हे चन्द्र ! गगन मण्डल में परिभ्रमण कर और दिन प्रतिदिन क्षीण आदि दुःखों को सतत् सहन कर, क्योंकि मुख भोगने से आत्मा को जगत् प्रसिद्ध नहीं कर सकता है । तथा अज्ञानवश या विकारी प्रकृति के दोष से जो अपना मन, वचन, काया से परा-भव ही करता है, उनको भी तुझे 'तू स्वामी होने के कारण' बहुत सहन करके भी मधुर बचनों द्वारा उस क्षुद्र भूलों से प्रयत्नपूर्वक रोकनी चाहिये । हे भद्र ! अविनीत को शिक्षा देते तू किसी समय कृत्रिम क्रोध करे तो भी अन्तर

परिणाम शुद्धि को—अनुग्रह बुद्धि को त्याग नहीं करना, निश्चय सर्व विषयों में यह परिणाम शुद्धि ही रहस्य-तात्त्विक धन है। क्योंकि श्री वीर परमात्मा के आश्रित ग्वाला, खरक वैद्य तथा सिद्धार्थ का भेद रहा है, वैसे दूसरे को पीड़ा देने वाले को भी भिन्न परिणामवश से गति में भेद रहता है। श्री वीर प्रभु के कानों में कील डालकर पीड़ा करने वाले ग्वाले ने दुष्ट परिणाम से नरक गति को प्राप्त किया और उसको निकालने से महान् पीड़ा करते हुये भी खरक वैद्य और सिद्धार्थ दोनों परिणाम शुद्धि होने से देवलोक में गये। हे सुन्दर ! यदि तू अति कठोर बनेगा तो परिवार का खेदकारक बनेगा और अति कोमल बनेगा तो परिवार के पराभव का पात्र बनेगा, इसलिए मध्य परिणामी बनना। निरंकुश परिवार वाला स्वामी भी स्व-पर उभय को दुःख का निमित्त बनता है, इसलिए तू आचार्य होने पर भी उनके अनुसार वर्तन करने का प्रयत्न करना। प्रायः अनुवर्तन करने से शिष्य परम योग्यता को प्राप्त करते हैं, रत्न भी परिकर्म करने से गुण के उत्कर्ष को प्राप्त करता है। परस्पर विरुद्ध होने से जल और अग्नि का, तथा जहूर और अमृत का योग होने पर भी महासमुद्र के समान प्रकृति से ही अविकारी होती है, वैसे ही बाह्य निमित्त के कारण से विविध अंतरंग भाव उत्पन्न होते हैं, परन्तु हे सुन्दर ! तू नित्य अनिन्दित रूपवाल ही गम्भीर बनना, अर्थात् समुद्र के समान बाह्य विषमता के समय पर भी तू गम्भीर बनना। व्याख्या में कुशल भी यह अति अद्भुत प्रभाव वाला आचार्य पद के प्रत्येक विषय में सर्व प्रकार से उपदेश (शिक्षा) देने में कौन समर्थ हो सकता है ? अतः इतना ही कहता हूँ कि जिस-जिस से शासन की उन्नति हो उसका स्वयमेव विचार करके तुझे करना चाहिये।

इस तरह प्रथम गणधर के कर्त्तव्य द्वारा हित-शिक्षा देकर वह आचार्य सूत्रोक्त विधि से शेष साधुओं को हित-शिक्षा दे जैसे कि—भो भो देवानुप्रियों ! प्रिय या अप्रिय, सर्व विषयों में निश्चय ही आप कभी राग-द्वेष के वश नहीं होना। स्वाध्याय, अध्ययन, ध्यान आदि योग में सदा अप्रमत्त और साधुजन के उचित अन्य कार्यों में भी नित्य रत बनना। यथावादी तथाकारी बोलना वैसा पालन करने वाला बनना। परन्तु निग्रन्थ प्रवचन में अल्प भी शिथिल मन वाला नहीं बनना। असार मनुष्य जीवन में बोध प्राप्त करना दुर्लभ है, ऐसा जानकर अवश्य करणीय संयम और तपश्चर्या में प्रमाद नहीं करना। श्री जैन वचनानुसारी बुद्धि वाले तुम सदा पाँच समितियों में युक्त, तीन गारव से रहित और तीन दण्ड को निरोध करने वाले बनना। आहारादि संज्ञा, कषाय और आर्त रौद्र ध्यान का भी नित्य त्याग करना और सर्व बल से दुष्ट इन्द्रियों का

सम्यग् विजय करता। बक्खतर आदि से युक्त हो और हाथ में धनुष्य-बाण धारण किए हो, फिर भी रण में से भागता हो तो सुभट जैसे निन्दा का पात्र बनता है, वैसे इन्द्रियों और कषायों के वश हुआ साधु भी निन्दा का पात्र बनता है। उन साधु को धन्य है कि ज्ञान और चारित्र्य में निष्कलंक जो विषयों को वश करके भी लोक में राग रहित अलिप्त रूप में विचरते हैं। और जो विरोध से मुक्त मूढ़ता बिना के विषमता में अखण्ड मुख कान्ति वाला और अखण्ड गुण समूह वाला है। वे विस्तृत यश समूह वाले विजयी हैं। शिष्यों की हित-शिक्षा का प्रारम्भ किया है। फिर भी यह वर्णन करते विषय का प्रसन्न चित्त वाला हे सूरि जी ! तुम भी एक क्षण सुनो।

साध्वी और स्त्री संग से दोष :—हे अप्रमत्त मुनियों ! तुम अग्नि और जहर समान साध्वियों के परिचय को छोड़ो, क्योंकि—साध्वियों के परिचय वाला साधु शीघ्र लोकापवाद को प्राप्त करता है। वृद्ध, तपस्वी, अत्यन्त बहु-श्रुत और प्रमाणिक साधु को भी साध्वी के संसर्ग से अपवाद—निन्दा रूपी दृढ़ वज्र का प्रहार होता है, तो फिर युवावस्था, अबहुश्रुत, उग्रतप बिना की और शब्दादि विषयों में आसक्त साधु जगत में निन्दा का पात्र कैसे नहीं बन सकता ? जो साधु सर्व विषयों से भी विमुक्त और सर्व विषयों में आत्मवश—स्वाधीन हो वह भी साध्वियों का परिचय वाला अनात्मवश—चेतना शक्ति खो बैठता है। साधु के बन्धन में, साध्वी के समान लोक में दूसरी उपमा नहीं है, अर्थात्, साध्वी उत्कृष्ट बन्धन रूप है, क्योंकि अवसर मिलते ही वे रत्न त्रयरूपी भाव मार्ग से गिराने वाली है, यद्यपि स्वयं दृढ़ चित्त वाला हो तो भी अग्नि के समीप में जैसे घी पिघल जाता है, वैसे सम्पर्क से परिचित बनी साध्वी में उसका मन रागी बनता है। इसी तरह इन्द्रिय दमन गुण रूप काष्ठ को जलाने में अग्नि समान शेष स्त्री वर्ग के साथ में भी संसर्ग को प्रयत्नपूर्वक दूर से ही त्याग करना। विषयांश स्त्री कुल को अपने वश को, पति को, पुत्र को, माता को और पिता को भी नहीं गिनकर उसे दुःख समुद्र में फँकता है। स्त्री रूपी सीढ़ी द्वारा नीच पुरुष भी गुणों के समूह रूपी फलों से शोभित शाखा वाला मान से उन्नत पुरुष रूपी वृक्ष के मस्तक पर चढ़ता है, अर्थात् अभिमानी गुणवान् पुरुष को भी स्त्री सम्पर्क से नीच भी पराभव करता है। जैसे अंकुश से बलवान् हाथियों को नीचे बैठा सकते हैं, वैसे दुष्ट स्त्रियों के संसर्ग द्वारा अभिमानी पुरुषों को भी अधोमुख—हल्के तुच्छ कर सकते हैं। जगत में पुरुषों ने स्त्रियों के कारण अनेक प्रकार के भयानक युद्ध हुये हैं, ऐसा महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में सुना जाता है। नीचे मार्ग में चलने वाली, बहुत जल

वाली, कुपित और वक्र गति वाली नदी जैसे पर्वत को भी भेदन करती है, वैसे नीच आचार वाली, ऊँचे स्तन वाली, काम से व्याकुल और मन्द गति वाली स्त्रियाँ महान् पुरुषों को भी भेदन करती हैं और नीचे गिरा देती हैं। अच्छी तरह वश की हुई, बहुत दूध पिलाकर पोषण की हुई और अति हृदय प्रेम वाली साँपनी के समान अतिवश की हुई और अति हृदय प्रेम वाली स्त्रियों में भी कौन विश्वास करे? क्योंकि पूर्ण विश्वास, उपकार करने में तत्पर और हृदय स्नेह वाले पति को भी अल्प इच्छा विरुद्ध अप्रिय होते ही निर्भागी स्त्रियाँ तुरन्त मरण का कारण बनाती हैं। पण्डित जन भी स्त्रियों के दोषों के पार को नहीं प्राप्त करते हैं, क्योंकि—जगत में बड़े दोषों की अन्तिम सीमा तक वही होते हैं। रमणीय रूप वाली सुकुमार पुष्पों के समान अंग वाली और गुण से वश हुई स्त्रियाँ पुरुषों के मन को हरण करती हैं। परन्तु केवल दिखने की सुन्दरता से मोह उत्पन्न करने वाली उन स्त्रियों का आलिंगन वज्र की माला के समान तुरन्त विनाश होता है। निष्कपट प्रेम से वश मन वाले राजा को भी सुकुमारिका ने पंगु जाट पुरुष के कारण गंगा नामक नदी में धक्का दिया था। उसकी कथा इस प्रकार से है :—

सुकुमारिका की कथा

बसन्तपुर नगर में जगत् प्रसिद्ध जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था, उसकी अप्रतिम रूप वाली सुकुमारिका नाम की रानी थी। अत्यन्त राग से तन्मय चित्त वाला वह राज्य कार्य को छोड़कर उसके साथ सतत् क्रिया करते काल को व्यतीत करता था। उस समय राज्य का विनाश होते देखकर मंत्रियों ने सहसा रानी सहित उसे निकाल दिया और उसके पुत्र का राज्याभिषेक किया। फिर मार्ग में आते जितशत्रु जब एक अटवी में गया, तब तृष्णा से पीड़ित रानी ने पानी पीने की याचना की, तब रानी भयभीत न हो ऐसा विचार कर उसकी आँखें बाँध करके और राजा ने औषध के प्रयोग से स्वयं मरे नहीं इस तरह अपनी भुजा का रुधिर उसे पिलाया। फिर भूख से पीड़ित रानी को राजा ने अपनी जंघा काटकर खांस खिलाया और सरोहिणी औषध से उसी समय जंघा को पुनः स्वस्थ कर दिया। फिर वे दूर के किसी नगर में जब पहुँचे तब सर्व कलाओं में कुशल राजा ने उसके आभूषणों को बेचकर उस धन से व्यापार करने लगा। और पंगु आदमी को निर्विकारी जानकर, रक्षण के लिए रानी के पास रख दिया। उसने मधुर गीतों से और कथा कौशल आदि से रानी को वश में किया। इससे रानी उसके साथ एकचित्त वाली और पति के प्रति द्वेष वाली बनी। अन्य अवसर पर वह पंगु के साथ क्रीड़ा करती

थी और एक दिन उसने उद्यान में रहे अति विश्वासु जितशत्रु को अति मात्रा में मदिरा पान करवा कर गंगा नदी में फेंक दिया ।

इस तरह अपने मांस और रुधिर को देकर भी पोषण किये शरीर वाली निर्भागी स्त्रियाँ उपकार भूलकर पुरुष को मार देती हैं । जो स्त्रियाँ वर्षाकाल की नदी समान नित्यमेव कलुषित हृदय वाली, चोर समान धन लेने की एक बुद्धि वाली, अपने कार्य को गौरव मानने वाली, सिंहनी के समान भयंकर रूप वाली, संध्या के समान अस्थिर—चंचल रूप वाली और हाथियों के श्रेणियों के सदृश नित्य मद से या विकार से व्याकुल होती हैं वे स्त्रियाँ कपट हास्य से और बातों से, कपटमय रुदन से और मिथ्या शपथ से अति विलक्षण पुरुष को भी विवश करती हैं । निर्दय स्त्री पुरुष को वचन से वश करती है और हृदय से नाश करती है । क्योंकि उसकी वाणी अमृतमय और हृदय विषमय समान होता है । स्त्री शोक की नदी, पाप की गुफा, कपट का घर, क्लेश करने वाली, वैर रूपी अग्नि को प्रगट करने में अरणी काष्ठ समान दुःखों की खान और सुख की शलु होती है । इस कारण से ही महापुरुष 'एकान्त में मन विकारी बनता है ।' इस भय से माता, बहन या पुत्री के साथ एकान्त में बात नहीं करते हैं । सम्यक् दृढ़ अभ्यास किये बिना म्लेच्छ—पापी कामदेव के बाण समूह समान स्त्रियों की दृष्टि के कटाक्षों को जीतने में कौन समर्थ है ? पानी से भरे हुये बादलों की श्रेणी जैसे गोनस जाति के सर्प के जहर को बढ़ाता है वैसे ऊँचे स्तन वाली स्त्रियाँ पुरुष में मोह रूपी जहर को बढ़ाती हैं । तथा दृष्टि विष सर्प के समान स्त्रियों की दृष्टि का त्याग करो—उसके सामने देखो ही नहीं, क्योंकि—उसकी दृष्टि पड़ने से प्रायः कर चारित्र्य रूपी प्राण का नाश होता है । जैसे अग्नि से घी पिघल जाता है, वैसे स्त्री संसर्ग से अल्प सत्त्व वाले मुनि का भी मन मोम के समान तुरन्त ही विलय प्राप्त करता है । यद्यपि संसर्ग का त्यागी और तप से दुर्बल शरीर वाला हो, फिर भी कोशा वेश्या के घर में रहा हुआ सिंह गुफावासी मुनि के समान स्त्री संसर्ग के चारित्र्य से गिरता है । उसका दृष्टान्त इस प्रकार है :—

सिंह गुफावासी मुनि की कथा

गुरु ने स्थूल भद्र जी की प्रशंसा करने से सिंह गुफावासी मुनि को तीव्र ईर्ष्या हुई । वह मन में सोचने लगा कि—कहाँ वर्षाकाल में कोशा के घर में रहने वाला और कहीं दुष्कर तप शक्ति द्वारा सिंह को भी शांत करने वाला आचार्य श्री संभूति विजय के ऐसे शिष्य ? अतः वह अपना प्रभाव दिखाने के

लिये चौमासे में कोशा के घर गये। कोशा उत्तम वेश्या ने विकारी हास्य, विकारी वचन, विकारी चाल और वक्र कटाक्ष आदि द्वारा लीला मात्र में उसे विकारी कर दिया, इससे शीघ्रमेव उसे अपने वशीभूत कर दिया। फिर उसके शील के रक्षण के लिये उसे 'नये साधु को लाख सोना मोहर के मूल्य वाला रत्न कम्बल का दान नेपाल देश का राजा देता है' उसके पास रत्न कम्बल लेने के लिये भेजा। इस तरह तत्त्व से विचार करते संयम रूपी प्राण का विनाश करने में एकबद्ध लक्ष्य वाली एवं दुःख को देने वाली स्त्री में तथा प्राण लेने वाले, लक्ष्य वाले, दुःख देने वाले शत्रु में कोई भी अन्तर नहीं है। तथा मुनि शृङ्गार रूपी तरंग वाली, विलास रूपी ज्वर वाली, यौवन रूपी जल वाली और हास्य रूपी फणा वाली, स्त्री रूपी नदी में नहीं बहते हैं।

परन्तु धीर पुरुष विषय रूपी जल वाले, मोह रूपी कीचड़ वाले स्त्रियों के नेत्र विकार तथा विकारी अंग चेष्टा आदि जलचरों से व्याप्त काम के मद रूपी मगरमच्छ वाला और यौवन रूपी महासमुद्र को पार प्राप्त करते हैं। जो स्त्रियाँ पुरुष को बन्धन के लिये पाश समान अथवा ठगने के लिये पाश सदृश, छेदन करने के लिए तलवार समान, दुःखी करने के लिए शल्य तुल्य, मूढ़ता करने में इन्द्रजाल सदृश, हृदय को चीरने में कैंची के समान, भेदन करने में शूल समान, दिखने में कीचड़ समान और मरने के लिये मारने योग्य है अथवा श्लेष्म में चिपटी हुई तुच्छ मक्खी को छुटना जैसे दुष्कर है वैसे तुच्छ मात्र पुरुष नाम धारी को स्त्री के संसर्ग से आत्मा को छोड़ना निश्चय ही अति दुष्कर है। जो स्त्री वर्ग में सर्वत्र विश्वास नहीं करता है और सदा अप्रमत्त रहता है, वह ब्रह्मचर्य को पार कर सकता है। इससे विपरीत प्रकृति वाला पार को नहीं प्राप्त कर सकता है। स्त्रियों में जो दोष होते हैं वह नीच पुरुषों में भी होते हैं अथवा अधिक बल-शक्ति वाले पुरुषों में स्त्रियों से अधिकतर दोष होते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य का रक्षण करने वाले पुरुषों को जैसे स्त्रियाँ निन्दा का पात्र हैं, वैसे ब्रह्मचर्य का रक्षण करने वाली स्त्रियों को पुरुष भी निन्दा का पात्र है। और इस पृथ्वी तल में गुण से शोभायमान अति विस्तृत यश वाली तथा तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव गणधर आदि सत्पुरुषों को जन्म देने वाली, देवों की सहायता प्राप्त करने वाली शीलवती, मनुष्य लोक की देवियाँ समान चरम शरीरी और पूज्यनीय स्त्रियाँ भी हुई हैं, ऐसा सुना जाता है। कि जो पुण्यशाली पानी के प्रवाह में नहीं बहतीं, भयंकर जलती हुई अग्नि से जो नहीं जलती हैं और सिंह तथा हिसक प्राणी भी उनको उपद्रव नहीं कर सके हैं। इसलिये सर्वथा ऐसा कहना योग्य नहीं है कि—एकान्त से स्त्रियाँ ही

शील रहित होती हैं, किन्तु इस संसार में मोह के वश पड़े हुये सर्व जीव भी दुःशील हैं। इतना भेद है कि वह मोह प्रायःकर स्त्रियों को उत्कण्ठ होता है। इस कारण के उपदेश देने की अपेक्षा से इस तरह स्त्रियों से होने वाले दोषों का वर्णन किया जाता है और उसका चिन्तन करते पुरुष विषयों में विरागी बनता है। वे पुण्यशास्त्री हैं कि जो स्त्रियों के हृदय में बसते हैं और उन देवों को भी वन्दनीय हैं कि जिनके हृदय में स्त्रियाँ नहीं बसती हैं। ऐसा चिन्तन कर भाव से आत्मा के हित को चाहने वाले जीवों को इस विषय में अत्यन्त अप्रमत्त रहना चाहिए। इत्यादि क्रम से शिष्यों को हित शिक्षा देकर, अब वह आचार्य शास्त्र नीति में प्रवर्तिनी को भी हित शिक्षा देते हैं।

प्रवर्तिनी को अनुशास्ति :- यद्यपि तुम सर्व विषय में भी कुशल हो फिर भी हमें हित-शिक्षा देने का अधिकार है, इसलिये हे महायश वाली ! तुमको हितकर कुछ कहता हूँ। समस्त गुणों की सिद्धि करने में अति महान यह प्रवर्तिनी पदवी तुमने प्राप्त की है, इसलिए इसके द्वारा उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिए। तथा सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप ज्ञान में तथा शास्त्रोक्त कार्यों में शक्ति अतिरिक्त भी तुम्हें निश्चय उद्यम करना। पाप से भी किये हुये शुभ कार्यों की प्रवृत्ति प्रायःकर सुन्दर फल वाली होती है, तो भी संवेगपूर्वक की हुई शुभ प्रवृत्ति को लाभ का कहना ही क्या ? इसलिए संवेग में प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि दीर्घकाल भी तपस्या की हो, चारित्र्य पालन किया हो और श्रुतज्ञान का अध्ययन किया हो, परन्तु संवेग के रंग बिना निष्फल है, इसलिए उसका ही उपदेश देता हूँ। तथा इन साध्वियों को सम्यग् ज्ञानादि गुणों की प्रवृत्ति कराने से निश्चय जैसे तुम सच्ची प्रवर्तिनी बने हो वैसे प्रयत्न करना। सौभाग्य, नाट्य, रूप आदि विविध विज्ञान के राग से तन्मय बनी लोक की दृष्टि जैसे रंग मण्डप में नाचती नटी के ऊपर स्थिर होती है वैसे हे भद्रे ! सम्यग् ज्ञान आदि अनेक प्रकार के तुम्हारे सद्धर्म रूपी गुणों के अनुराग से रागी बनी हुई विविध देश में उत्पन्न हुई, विशाल कुल में जन्मी हुई और पिता-माता को भी छोड़कर आई हुई साध्वियाँ भी तुम्हें प्राप्त हुई, प्रवर्तिनी पद से समणीय बनी, तुम्हारे आश्रय करके रही हैं। इसलिए वे नटी समान निश्चय विनय वाली—मधुर स्नेह वाली है, अपनी दृष्टि से प्रेक्षकों को देखती और कहे हुये वह सौभाग्यादि, विज्ञानादि गुणों को प्रगट करती प्रेक्षकों की दृष्टियों को प्रसन्न करती है, वैसे तुम भी स्नेह—मधुर दृष्टि की कृपा से ज्ञानादि धर्म गुणों के दान से नित्य इन आचार्यों को अच्छी तरह प्रसन्न करना। जैसे अपने गुणों से ही पूज्य, उज्ज्वल विकास वाली और शुक्ल पक्ष

के दूज की चन्द्रकला प्रकृति से ही शीतल और मोति के हार समान उज्ज्वल अन्यान्य कलाओं का आश्रय करता है, वैसे उस प्रकार के अपने गुणों से दूज के चन्द्र समान लोक में पूजा पात्र बनना और प्रकृति से ही अति निर्मल गुण वाले तुम्हारा आश्रय लेकर ये साधवियाँ भी रही हैं, जैसे वह आगन्तुक कलाओं से वह दूज की कलाओं के समान वृद्धि होती है और जैसे वह प्राप्त हुई कलाओं का मूल आधार वह दूज की कला है, अथवा उस दूज की कला बिना शेष कलाओं की अल्प की स्थिति नहीं घटती है, वैसे दूज की कला समान तुम्हारी वृद्धि इन साधवियों से है। इन साधवियों का भी मूल आधार तुम हो और सज्जनों के श्लाघनीय उनकी भी स्थिति तुम्हारे बिना नहीं घटती है। तथा जैसे वह दूज की चन्द्रकला शेष कलाओं से रहित नहीं शोभती वैसे तुम भी यह इन साधवियों के बिना नहीं शोभती और वे भी तुम्हारे बिना नहीं शोभती हैं। इसलिए मोक्ष के साधक योगी (संयम व्यापार की) साधना करते इन साधवियों को तुम्हें बार-बार सम्यक् सहायक बनना।

तथा प्रयत्नपूर्वक इन साधवियों के स्वेच्छाचार को रोकने के लिये तुम वज्र की सांकल समान, उनके ब्रह्मचर्य आदि गुणों की रक्षा के लिये पेट्टी समान, उनके गुणरूपी पुष्पों के विकास के लिए अति गाढ़ उद्यान समान, और अन्य पुरुषादि का प्रवेश बस्ती में न हो उनके लिए किल्ले के समान बनना। और जैसे समुद्र का ज्वार केवल अति मनोहर प्रवाल की लता, मोती की सीप तथा रत्नों के समूहों को ही धारण नहीं करती, परन्तु जल में उत्पन्न होने वाला असुन्दर जल की काई सिवाल, नाव और कोड़ियों को भी धारण करते हैं, वैसे तुम भी केवल राजा, मन्त्री, सामन्त, धनाढ्य आदि भाग्यशाली और नगर सेठ आदि की पुत्रियों को, बहुत स्वतन्त्र वाली, अधिक पढ़ी-लिखी विदुषियों को अपने वर्ग—पक्ष का आश्रय करने वाली—सम्बन्धो आदि का पालन नहीं करना, परन्तु उसके बिना सामान्य साधवियों का भी पालन करना, क्योंकि संयम भार को उठाने के लिए रूप गुण में सभी समान हैं। और समुद्र का ज्वार तो रत्न आदि धारण करके किसी समय फेंक भी देते हैं, परन्तु तुम इन धन्यवतियों को सदा सम्भाल कर रखना, किसी समय छोड़ना नहीं। और दीन दरिद्र बिना पढ़ा हुआ, इन्द्रिय से विकल, कम हृदय या प्रीति वाली अथवा कम समझने वाली, बंधन रहित तथा पुण्यादि शक्ति रहित प्रकृति से ही अनादर वचन वाली, विज्ञान से रहित, बोलने में असमर्थ, अचतुर तथा मुख बिना की, सहायक बिना की, अथवा सहायता नहीं कर सके ऐसी वृद्धावस्था वाली, शिष्ट बुद्धि बिना की, खण्डित या विकल अंग वाली, विषम अवस्थान को

प्राप्त करने वाली और अभिमान से अपमान करने वाली, दोष को देने वाली फिर भी संयम गुण में एक समान राग वाली। उन सब साध्वियों का तुम विनयादि करने में गुरुणी के समान, बिमारी आदि के समय में उनकी अंग परिचारिका—वैयावच्य सेवा करने के समान, शरीर रक्षा में धाय माता के समान अथवा बेचैनी के समय में प्रिय सखी के समान, बहन के समान या माता के समान अथवा माता, पिता और भाई के समान बनना। तुम्हें अधिक क्या कहें ? जैसे अत्यन्त फल वाले बड़े वृक्ष की शाखा सर्व पक्षियों के लिये साधारण होती है, वैसे गुरुणी के उचित गुणोंरूपी फल वाला, तुम भी सर्व साध्वियों रूप पक्षियों के लिए अत्यन्त साधारण—निष्पक्ष बनना। इस तरह प्रवर्तिनी को हित-शिक्षा देकर फिर सर्व साध्वियों को हित-शिक्षा दें, जैसे कि—

साध्वियों को अनुशास्ति :—ये नये आचार्य तुम्हारे गुरु, बन्धु, पिता अथवा माता तुल्य हैं। हे महान् यश दानियों ! यह महामुनिराज भी एक माता से जन्मे हुए बड़े भाई के समान तुम्हारे प्रति सदा अत्यन्त वात्सल्य में तत्पर हैं। इसलिए इस गुरु और मुनियों को भी मन, वचन और काया से प्रतिकूल वर्तन नहीं करना, परन्तु अति सन्मान करना। इस तरह प्रवर्तिनी को भी निश्चय उनकी आज्ञा को अखण्ड पालकर ही सम्यक् अनुकूल बनना, परन्तु अल्प भी कोपायमान नहीं होना। किसी कारण से जब यह कोपायमान हो तब भी मृगावती जैसे अपनी गुरुणी को खमाया था वैसे तुम्हें अपने दोषों को कबूलात पूर्वक प्रत्येक समय पर उनको खमाना चाहिए। क्योंकि हे साध्वियों ! मोक्ष नगर में जाने के लिये तुम्हारे वास्ते यह उत्तम सार्थवाहिणी है, और तुम्हारा प्रमाद रूपी शत्रु की सेना को पराभव करने में समर्थ प्रतिसेना के समान है। तथा हित-शिक्षा रूपी अखण्ड दूध की धारा देने वाली गाय के समान है। इसी प्रकार अज्ञान से अन्ध जीवों के लिए अन्जन शलाका के समान है। इससे भ्रमरियों को मालती के पुष्प की कली समान, राज हंसनियों के कमलिनी के समान और पक्षियों के वन राजा के समान तुम्हारी यह प्रवर्तिनी को गुण रूपी पराग के लिए, शोभा के लिए और आश्रय के सेवा करने योग्य है। तथा क्रीड़ा, क्लेश, विकथा और प्रमाद रूपी शत्रु—मोह सेना का पराभव करके हमेशा परलोक के कार्य में उद्यमी बनना, जिससे तुम्हारा जन्म पूर्णकर जीवन को सफल करना, और छोटे-बड़े भाई-बहनों के समान संयम योग की साधना में परस्पर सम्यक् सहायक होना, तथा मन्द गति से चलना, प्रगट रूप में हँसना नहीं और मन्द स्वर से बोलना, अथवा तुमने सारी प्रवृत्ति मन्द रूप में करना। आश्रम के बाहर एकाकी पैर भी नहीं रखना और

श्री जैन मन्दिर अथवा साधु की बस्ती में भी वृद्ध साध्वियों के साथ जाना । इस तरह आचार्य श्री प्रत्येक वर्ग को अलग-अलग हित-शिक्षा देकर उनके ही समक्ष सर्व को साधारण हित-शिक्षा दें कि—आज्ञा पालन में सर्व रक्त होने से तुमको बाल, वृद्धों से युक्त गच्छ में भक्ति और शक्ति पूर्वक परस्पर वैयावच्य में सदा उद्यमशील रहना । क्योंकि—स्वाध्याय, तप आदि सर्व में उसे मुख्य कहा है, सर्व गुण प्रतिपाती हैं जबकि वैयावच्य अप्रतिपाती है । भरत बाहुबली और दशार कुल की वृद्धि करने वाला वसुदेव ये वैयावच्य के उदाहरण हैं । इसलिए साधुओं को सर्व प्रकार की सेवा से संतुष्ट करना चाहिए । वे दृष्टान्त इस प्रकार से हैं :—

वैयावच्य की महिमा :—युद्ध करने में तत्पर, शत्रुओं का पराभव करने वाला, जो प्रखण्ड राजाओं के समूह का पराभव करके छह खण्ड पृथ्वी मण्डल को जीतने में समर्थ प्रताप वाला, अति रूपवती श्रेष्ठ चौसठ हजार रानियों से अत्यन्त मनोहर, अनेक हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथ युक्त, नौ निधान वाला, आँख ऊँची करने मात्र से सामन्त राजा नमने वाले, अपने स्वार्थ की अपेक्षा बिना ही सहायता करते यक्षों वाला, जो चक्रवर्ती भारत में, पूर्व में भरत चक्री ने प्राप्त किया था वह पूर्वजन्म साधु महाराज की वैयावच्य करने का फल है । और प्रबल भुजा के बल से पृथ्वी के भार को वहन करने वाले, अनेक युद्धों में शरद के चन्द्र समान निर्मल यश को प्राप्त करने वाले और शत्रुओं के मस्तक को छेदन में निर्दय पराक्रम वाला, चक्र को हाथ में धारण करने वाला, चक्री होने पर भी भरत को प्रखण्ड भुजा बल के निधान रूप बाहुबली का बल देख कर 'क्या यह बाहुबली चक्रवर्ती है' ? ऐसा संशय उत्पन्न हुआ था और जिसने दृष्टि युद्ध आदि युद्धों से देवों के समक्ष लीलामात्र में हराया था, वह भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल देने में कल्पवृक्ष समान उत्तम साधुओं के योग्य वैयावच्य करने की यह सब महिमा है । जो अपने रूप की सुन्दरता से जग प्रसिद्ध काम-देव के अहंकार को जीतने वाले, दशार कुल रूपी कुमुद को विकसित करने में कौमुदी के चन्द्र समान और जहाँ तहाँ परिभ्रमण करते हुए भी वसुदेव को उस काल में ऊँचे स्तन वाली भाग से शोभती, नवयौवन से मनोहर, पूनम की रात्री के चन्द्र समान मुख वाली, काम से पीड़ित अंग वाली, अत्यन्त स्नेह वाली और मृग समान नेत्र वाली, विद्याधरों की पुत्रियाँ 'मैं प्रथम-मैं प्रथम' ऐसा बोलती विवाह किया, वह भी सारा फल चिन्तामणी को जीतने वाला तपस्वी, नव दीक्षित, बाल, ग्लान आदि मुनियों की वैयावच्य करने का फल है ।

इसलिए हे महानुभाव ! जो समर्थ होने पर भी अचित्त महिमा वाला वैयावच्य को नहीं करता है उसे शुभ—सुख का शत्रु समझना । उसने तीर्थंकर भगवान की आज्ञा के प्रति क्रोध किया है, श्रुतधर्म की विराधना तथा अनाचार किया और आत्मा को, परलोक वचन को दूर फेंककर अहित किया है । और गुण नहीं होने पर गुणों को प्रगट करने के लिए तथा विद्यमान गुणों की वृद्धि करने के लिए हमेशा सज्जनों के ही साथ संग करना, विद्यमान गुणों को नाश होने के भय से अप्राप्त गुण अति दूर होने के भय से और दोषों की प्राप्ति होने के भय से दुर्जन की संगति का त्याग करना । यदि नया घड़ा सुगन्धीमय अथवा दुर्गन्धीमय पदार्थ से भरा हुआ हो तो वैसा ही गन्ध वाला बनता है, तो भावुक मनुष्य संगति से उसके गुण दोष क्यों नहीं प्राप्त करता है अर्थात् जैसी संगति होगी वैसा ही मनुष्य बनेगा । जैसे अग्नि के संग से पानी अपनी शीतलता को गँवा देता है, वैसे प्रायः दुर्जन के संग से सज्जन भी अपने गुणों को गँवा देता है । चण्डाल के घर दूध को पीते ब्राह्मण के समान, दुर्जन की सोबत करने से सज्जन लोगों में भी दोष की शंका का पाव बनता है । दुर्जन लोगों की संगति से वासित बना बैरागी भी प्रायः सज्जनों का सम्पर्क में प्रसन्न नहीं होता है, परन्तु दुर्जन लोगों में रहने से प्रसन्न होते हैं, जैसे गन्ध रहित भी देव की शेष मानकर लोग मस्तक पर चढ़ाते हैं, वैसे सज्जन के साथ रहने वाला दुर्जन मनुष्य भी पूजनीय बनता है । इस तरह जो-जो चारित्र्य गुण का नाश करता है वह अन्य वस्तु का भी त्याग करता है कि जिससे तुम बड़ संयमी बनो । पासत्थादि के साथ का परिचय को भी हमेशा प्रयत्नपूर्वक त्याग करना क्योंकि संसर्गवश पुरुष तुरन्त उसके समान बनता है । जैसे कि संविग्न को भी पासत्थादि की संगति से उसके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से विश्वास जागृत होता है, विश्वास होने से राग और राग से तन्मयता (तुल्यता) होती है, उसके समान होने से लज्जा का नाश होता है और इससे निःशंकता, रूप से अशुभ विषय में प्रवृत्ति होती है, इस तरह धर्म में प्रेम रखने वाला भी कुसंसर्ग के दोष से शीघ्र संयम से परिभ्रष्ट होता है । और संविज्ञों के साथ रहने वाला धर्म में प्रीति बिना का भी तथा कायर भी पुरुष भावना से, भय से मान से अथवा लज्जा से भी चरण-करण—मूल गुण और उत्तर गुणों में उद्यम करता है और जैसे अति सुगन्धमय कर्पूर, कस्तूरी के साथ मिलने से विशेष सुगन्धमय बनता है, वैसे संविज्ञ, संविज्ञ की संगति से अवश्यमेव सविशेष गुण वाला बनता है । कहा है कि—‘लाभ्य पासत्थाओं से भी एक सुशील व्यक्ति श्रेष्ठ माना

जाता है।' क्योंकि उसका आश्रय करने वाले को ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की वृद्धि होती है।

यहाँ पर संयम में कुशील ने पूजा करने से संयमी किया हुआ अपमान भी श्रेष्ठ है, क्योंकि प्रथम कुशील द्वारा शील का नाश होता है और संयत द्वारा शील का नाश नहीं होता है। जैसे मेघ के बादल से व्यंतर (एक जाति के सर्प) का उपशम हुआ विष कुपित होता है, वैसे कुशल पुरुषों ने उपशम किया हुआ भी मुनियों का प्रमाद रूपी विष कुशील संसर्ग रूपी मेघ बादल से पुनः भी कुपित होता है। इस कारण से धर्म में प्रीति और दृढ़ता वाले पाप भीरुओं के साथ संगति करनी चाहिए। क्योंकि अनेक प्रभाव से धर्म में मन्द आदर वाला भी उद्यमशील बनता है। कहा है कि—नये धर्म प्राप्त करने वाले की बुद्धि प्रायः कर धर्म में आदर नहीं करता, परन्तु जैसे वृद्ध बैल के साथ जोड़ा हुआ नया बैल अव्याकुलता जुआ का वहन करता है, वैसे ही नया धर्मी भी वृद्धों की संगति से धर्म में रागी—स्थिर हो जाता है। शील गुण से महान् पुरुषों के साथ में जो संसर्ग करता है, चतुर पुरुषों के साथ बात करता है और निर्लोभी—निःस्वार्थ बुद्धि वालों के साथ प्रीति करता है वह आत्मा अपना हित करता है। इस तरह संगति के कारण पुरुष दोष और गुण को प्राप्त करता है। इसलिए प्रशस्त गुण वाले का आश्रय लेना चाहिए। प्रशस्त भाव वाले तुम परस्पर कान को कड़वा परन्तु हितकर बोलना, क्योंकि कटु औषध के समान निश्चय परिणाम से वह सुन्दर—हितकर होगा। अपने गच्छ में अथवा परगच्छ में किसी की पर-निन्दा नहीं करना, और सदा पूज्यों की आशातना से मुक्त और पापभीरु बनना। एवम् आत्मा को सर्वथा प्रयत्नपूर्वक इस तरह संस्कारी करना कि जिस तरह गुण से उत्पन्न हुई तुम्हारी कीर्ति सर्वत्र फैल जाए। 'यह साधु निर्मल शील वाले हैं, ये बहुत ज्ञानवान् हैं, न्यायी हैं, किसी को संताप नहीं करते हैं, क्रिया गुण में सम्यक् स्थिर हैं।' ऐसी उद्घोषणा धन्य पुरुषों की फ़ैज़ती है। "मैंने मार्ग के अन्जान को मार्ग दिखाने में रक्त, चक्षु रहित को चक्षु देने के समान, कर्मरूपी व्याधि से अति पीड़ित को वैद्य के समान, असहाय को सहायक और संसार रूपी कुएँ में गिरते हुए को बाहर निकालने के लिए हाथ का आलम्बन देने वाले गुणों से महान् गुरु तुमको दिया है और अब मैं गच्छ की देख-भाल सर्व प्रकार से मुक्त होता हूँ। इस आचार्य के श्रेष्ठ आश्रम को छोड़कर तुम्हें कदापि कहीं पर भी जाना योग्य नहीं है, फिर भी आज्ञा पालन में रक्त तुम्हें इनकी आज्ञा से यदि किसी समय पर कहीं गये हो परन्तु पुण्य की खान इस गुरु को हृदय से नहीं छोड़ना।

जैसे सुभट अपने स्वामी को, अन्धा उसके हाथ पकड़ने वाले को, और मुसा-फिर सार्थपति को नहीं छोड़ता है, वैसे तुम्हें भी इस गुरु को नहीं छोड़ना। यह आचार्य यदि सारणा-वारणा आदि करे तो भी क्रोध नहीं करता। बुद्धिमान कौन हितस्वी मनुष्य के प्रति क्रोध करे ? किसी समय पर उनका कड़वा भी कहा हुआ उसे अमृत समान मानते तुम कुलवधू के समान उनके प्रति विनय को नहीं छोड़ना।”

इस कारण से शिष्य गुरु की इच्छा में आनन्द मानने वाला और उनके प्रति रुचि रखने वाला, गुरु की दृष्टि गिरते ही—इणारे मात्र से स्वेच्छाचार को मर्यादित करने वाला और गुरु की इच्छानुसार विनय वेष धारण करने वाला, कुलवधू के समान होता है। कार्य-कारण की विधि के जानकार यह गुरु किसी समय पर तुम्हारे भावि के लिए कृत्रिम अथवा सत्य भी क्रोध से चढ़ी हुई भयंकर भृकुटी वाले, अति भयजनक भाल तल वाले होकर भी तुमको उलाहना दे और निकाल दे तो भी ‘यह गुरु ही हमारा शणगार है’ ऐसा मानना और हृदय में ऐसा चिन्तन करते तुम अतिशय दक्षतापूर्वक विनय करके उनको ही प्रसन्न करना। वह इस प्रकार चिन्तन करे—स्वामी को प्रसन्न करने में समर्थ उपाय अनेक प्रकार के हैं। उन सफल उपायों को सद्भावपूर्वक बार-बार अपने मन में चिन्तन करना। उन भव्य जीवों अथवा सेवकों के जीवन को धिक्कार है कि—जिसके ऊपर पास में रहे हुए मनुष्य प्रसन्न हों ऐसे स्वामी क्षण भर को भी क्रोध नहीं करते, अर्थात् गुरु जिसके प्रति हित करने के लिए क्रोध करते हैं, वह धन्य है। क्योंकि उसकी योग्यता हो तो ही गुरु महाराज उस पर क्रोध करके भी सुधारने की इच्छा करते हैं। तथा जैसे समुद्र में समुद्र के संक्षोभ (उपद्रवों) को नहीं सहन करने वाला—सुख की इच्छा वाला मगर-मच्छ उसमें से निकल जाता है, तो वह निकलने मात्र से नाश होता है, वैसे ही गच्छ रूपी समुद्र में गुरु की सारणा-वारणादि तरंगों से पराभव प्राप्त कर सुख की इच्छा वाले तुम गच्छ से निकलकर अलग नहीं होना, अन्यथा मगरमच्छ के समान संयम से नष्ट होगे। महान् आत्मा यह तुम्हारा गुरु अनेक गुण रूपी रत्नों का सागर है, धीर है और इस संसार रूपी अटवी में फँसे हुए तुम्हारा रक्षक करने वाला नायक है। धीरता को धारण करने वाले इस गुरु को तुम ‘दीक्षा पर्याय से छोटा, समान पर्याय वाला है, अथवा बहुत अल्प पढ़ा हुआ है’ ऐसा समझकर अपमान नहीं करना। क्योंकि—यह गच्छ का स्वामी होने से अति पूजनीय है।

हे मुनिवरों ! तुम ज्ञान के भण्डार इस गुरु के वचन को कदापि उल्लंघन मत करना, परन्तु वचन द्वारा 'तहत्ति' बोलकर स्वीकार करे और उसका सम्यक् रूप पालन करना । क्योंकि जगत में निःकारण वत्सल, इस गुरु के भाई के साथ, पिता और माता के साथ की उपमा—या बराबरी नहीं हो सकती है अर्थात् माता, पिता, भाई आदि से भी अधिक उपकारी है । इसलिए धर्म में एक स्थिर बुद्धि वाले तुम इनको ही हमेशा यावज्जीव रक्षण करने वाले और शरण रूप स्वीकार करना । तुम मोक्षार्थी हो और उस मोक्ष का उपाय गुरु के बिना और कोई नहीं है । इसलिए गुणों के निधि—यह गुरु ही निश्चय तुमसे सेवा करने योग्य है । तथा तुम्हें वचन से, तुम्हें परस्पर सम्यक् उपकारी भाव से व्यवहार करना चाहिए । क्योंकि—विपरीत आचरण से गुण लाभदायक नहीं होता है । और जैसे धूरी के बिना चक्र विशेष घुमाने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है वैसे ही डण्डल के बिना पुष्प शोभा नहीं देता है और पत्ते जैसे शरीर को बाँध नहीं सकता है, वैसे तुम भी निश्चय रूप इस गुरु के बिना संगठन को प्राप्त नहीं कर सकते हो । और धूरी के बिना चक्र और पत्ते रहित डण्डल भी शोभायमान नहीं होता, वैसे परिवार बिना का स्वामी भी कार्यकर नहीं हो सकता है । परन्तु जो अवयव और अवयवी परस्पर अपेक्षा वाले बनते हैं तो इच्छित अर्थ की सिद्धि प्राप्त करते हैं और शोभा को भी प्राप्त करते हैं । जैसे नाक, मुख से और मुख भी नाक से शोभा प्राप्त करता है वैसे स्वामी उत्तम परिवार से शोभा प्राप्त करता है और परिवार भी उत्तम स्वामी से शोभा प्राप्त करता है । इसी तरह वन के पशु और सिंह का परस्पर रक्ष्य, रक्षक करने वाले का सम्यक् विचार करके तुम्हें गुरु शिष्यों को परस्पर वर्तन करना चाहिए । अधिक कहने से क्या लाभ ? भ्रमण विहार आदि करने में, आहार करने में, पढ़ने में, बोलने में, इत्यादि सर्व प्रवृत्तियों में अति विनीत, गम्भीर स्नेहयुक्त बनना, यह उपदेश का सार है । इस तरह हमने तुमको करुणा भाव से और प्रियता होने से यह उपदेश दिया है । अतः जिस प्रकार यह निष्फल न हो इस तरह तुमको करना चाहिये ।

शिष्यों की गुरु प्रति कृतज्ञता :—उसके पश्चात् पृथ्वी के साथ में घिसते मस्तक के ऊपर गुरुदेव के चरण-कमल को धारण करते आनन्द के अश्रुधारा को बरसाते, शोक से अथवा पश्चाताप से गला भर जाने से मन्द-मन्द प्रगट होता गद्गद् आवाज वाला, उष्ण-उष्ण लम्बे निःश्वास निकलते हुये को रोकता हुआ वह शिष्य गुरुदेव के हितकर, मंगल स्वरूप, देवरूप और चैत्यरूप मानता हुआ गुरुदेव के सामने "इच्छामो अणुसंठिठ अर्थात् आपकी शिक्षा को बार-बार

चाहता हूँ।" ऐसा कहकर पुनः इस प्रकार बोला—हे भगवन्त ! आप श्री का महान् उपकार है कि जो आपने हमको अपने शरीर के समान पालन पोषण किया है। सारणा-वाग्णा प्रतिनोदना के द्वारा श्रेष्ठ मार्ग में चढ़ाया है और अन्धे को दृष्टि वाला किया है। हृदय रहित मूर्ख को सहृदय—दयालु बनाया है, अथवा अहित करने वाले को स्वहितकारी किया है और अति दुर्लभ मोक्ष मार्ग को प्राप्त करवाया है, परन्तु हे स्वामिन् ! वर्तमान में आपके वियोग में अज्ञानी बने हम कैसे बनेंगे ? हमारा क्या होगा ? जगत के सर्व जीवों का हित करने वाला, तथा स्थविर और जगत के सर्व जीवों का नाथ यदि परदेश जाए अथवा मर जाता है, तो खेदकारी बात है कि वह देश शून्य हो जाता है। परन्तु आचरण और गुण से युक्त तथा अन्य को सन्ताप नहीं करने वाला स्वामी जब प्रवासी बन जाता है या मर जाता है, तब तो देश खत्म हो जाता है। हे गच्छाधिपति ! बल रहित वृद्धावस्था से जर्जरित और पड़े हुए दाँत की पंक्ति वाला भी विचरते हुए विद्यमान आप स्वामी से आज भी साधु समुदाय सनाथ है। सर्वस्व देने वाला, सुख-दुःख से समान और निश्चल उत्तम गुरु का जो वियोग वह निश्चय दुःख को सहने के लिये है अर्थात् दुःखद रूप है। इस तरह कुनय रूपी मृग को वश करने में जाल के समान और यम के साथ युद्ध करने में जय पताका प्राप्त कराने में सफल हेतुभूत इस संवेगरंगशाला नाम की आराधना के दस अन्तर द्वार गण संक्रमण नामक दूसरे द्वार में अनुशासित नाम का यह तीसरा अन्तर द्वार कहा है। इस तरह हित-शिक्षा देने पर भी अपने गच्छ में रहने से आचार्य की समाधि नहीं रहे इसलिये अब परगण से संक्रमण करने की विधि का चौथा अन्तर द्वार कहलाता है।

चौथी परगण संक्रमण विधि :—(गवेषणा द्वार) इसके बाद पूर्व कहे अनुसार वह महान् आत्मा आचार्य श्री पूर्व की हित-शिक्षा के अनुसार हितकर कार्यों में तत्पर अपने नये आचार्य और गच्छ को भी फिर बुलाकर चन्द्र किरणों के प्रवाह समान शीतल और आनन्द को देने वाली वाणी द्वारा इस प्रकार से कहे—भो महानुभावों ! अब मैं 'सूत्रादान करना' इत्यादि तुम्हारे कार्यों को सम्यक् रूप पूर्ण करने से सर्व कार्यों में कृत-कृत्य हुआ हूँ, इसलिये उपयोग वाले भी तुम्हारे सम्बन्ध में अन्य अति अल्प भी तुमको कहने योग्य एक कार्य मुझे ध्यान आता है। अतः अब मैंने जो हित-शिक्षा दी है इससे भी पहले मेरी आराधना की निर्विघ्न सिद्धि के लिए मुझे परगण में संक्रमण (प्रवेश) करने के लिए सम्यक् अनुमति दो। और गुरु के प्रति अतीव भक्ति वाले विनीत तुम्हें भी मेरा बारम्बार मिच्छामि दुक्कडं हो। इस तरह गुरुदेव के वचन सुनकर

शोक के भार से अति ग्लान और अफसोस से भरे हुये गले वाला तथा सतत् गिरते हुए आँसू के बिन्दु के समूह से भरा नेत्र वाले शिष्य सूरि जी के चरण-कमल रूपी गोद में मस्तक रखकर गद्गद् स्वर से कहे कि—हे भगवन्त ! कान का शल्य समान और अत्यन्त दुःसह आप यह क्या बोल रहे हो ? जो कि हम सर्वथा आपका ऐसा उपकार करने वाले हैं, ऐसे बुद्धिमान नहीं हैं, ऐसे गीतार्थ नहीं हैं, आपके चरण-कमल की सेवा के योग्य नहीं है तथा अन्त समय की कही हुई संलेखना आदि की विधि में कुशल भी नहीं हैं, फिर भी हे भगवन्त ! एकान्त में परहित में तत्पर एक चित्त वाले, पर को अनुग्रह करने में श्रेष्ठ और प्रार्थना का भंग नहीं करने वाले, आप श्री हमें छोड़ देना वह उचित नहीं है। क्योंकि—आज भी बीच में बैठे आपके चरण-कमल से (आप श्री द्वारा) यह गच्छ शोभा दे रहा है। इसलिए हमारे सुख के लिए कालचक्र गिरने के समान ऐसा वचन आपके बोलने से और चिन्तन करने से क्या लाभ है ? शिष्यों के इस तरह कहने पर भी गुरु महाराज भी मधुर वाणी से कहते हैं कि :—

श्री अरिहन्त परमात्मा के वचनों से वासित बने हुए और अपनी बुद्धि-रूपी धन से योग्यायोग्य को समझने वाले, हे महानुभावों ! तुम्हें मन से ऐसा चिन्तन करना भी योग्य नहीं है और बोलना तो सर्वथा योग्य नहीं है। कौन बुद्धिशाली उचित कार्य में भी रोके ? अथवा क्या श्री अरिहन्त कथित शास्त्रों में इसकी अनुमति नहीं दी है ? अथवा पूर्व पुरुषों ने इसका आचरण नहीं किया ? क्या तुमने ऐसा किसी स्थान पर नहीं देखा ? और भयंकर वायु से आन्दोलित ध्वजापट समान चंचल मेरे इस जीवन को तुम नहीं देखते ! कि जिससे अमर्यादित अति असद् आग्रह के आधीन बनकर ऐसा बोल रहे हो ? अतः मेरे प्रस्तुत कार्य को सर्व प्रकार से भी प्रतिकूल नहीं बने। इत्यादि गुरुदेव की वाणी सुनकर शिष्यादि पुनः इस तरह उनको विनती करते हैं कि—हे भगवन्त ! यदि ऐसा ही है तो भी अन्य गच्छ में जाने से क्या प्रयोजन है ? यहाँ अपने गच्छ में ही इच्छित प्रयोजन की सिद्धि करो, क्योंकि—यहाँ भी प्रस्तुत कार्य में समर्थ, भार को वहन करने वाला, महामति वाला, गीतार्थ, उत्साह में वृद्धि करने वाले, भैरव आदि के सामने आते भयों में भय रहित, संवेगी, क्षमा से सहन करने वाला और अति विनती ऐसे अनेक साधु हैं। इस तरह उत्तम साधुओं के कहने से किसी आचार्य महाराज के आगे कहते गुण-दोष पक्ष को—लाभ-हानि का तारतम्य का बार-बार विचार करके वही इच्छित कार्य को करे और किसी अन्य आचार्य के द्वारा कही हुई विधि अनुसार

से अपने गच्छ को पृष्ठकर बढ़ते परिणाम से आराधना के लिए परगण में प्रवेश करे, क्योंकि अपने गच्छ में रहने से— १-आज्ञा कोष, २-कठोर वचन, ३-कलह करण, ४-परिताप, ५-निर्भयता, ६-स्नेह राग, ७-करुणा, ८-ध्यान में विघ्न, और ९-असमाधि होती है। जैसे कि अपने गच्छ में उहाहकारी स्थविर, कलह करने वाले छोटे साधुओं और कठोर नये दीक्षित यदि आचार्य की आज्ञा का लोप करे, अनादर करे, तो इससे असमाधि होती है। परगच्छ में रहे आचार्य का तो उन साधुओं के प्रति व्यापार (अधिकार) कम नहीं होता है, इसलिए आज्ञा लोप करे तो भी असमाधि किस तरह हो सकती है? वहाँ असमाधि नहीं रहती है।

किसी क्षुल्लक साधु को, स्थविर को और नये साधुओं को असंयम में प्रवृत्ति करते देखकर वह आचार्य कठोर वचन भी कहे और बार-बार ऐसी प्रेरणा करने पर सहन नहीं करने से उनके साथ कलह भी हो जाता है, इससे आचार्य को और उन साधुओं को सन्ताप आदि दोष भी लगता है, तथा अपने गण समुदाय में रहने पर आचार्य को शिष्यादि के प्रति ममत्व दोष के कारण असमाधि होती है। एवम् अपने गच्छ में रोग आदि से साधुओं को जो पीड़ा आदि को प्राप्त करते तो इससे आचार्य को दुःख, स्नेह अथवा असमाधि होती है। अति दुःसह तृष्णा या क्षुधादि होने से अपने गच्छ में विश्वास प्राप्त करने वाला वह आचार्य निर्भय होकर कुछ अकल्पनीय वस्तु की याचना करे अथवा उसका उपयोग करे। आत्यन्तिक वियोग—मरण के समय पर अनाथ साध्वियों को, वृद्ध मुनियों को और अपनी गोद में उछलते बाल साधुओं को देखकर आचार्य को उनके प्रति स्नेह उत्पन्न हो, तथा क्षुल्लक साधु अथवा क्षुल्लक साध्वियाँ निश्चय से करुणाजनक वचनादि यदि बोलें, रो तो आचार्य को वै ध्यान में विघ्न अथवा असमाधि होती है। शिष्य वर्ग आहार पानी अथवा सेवा सुश्रुषा में यदि प्रमाद करे तो आचार्य को समाधि होती है। अपने गण में रहने से नूतन आचार्य को और अनशन स्वीकार करने वाले को अप्रशम से अधिकतः ये दोष लगते हैं, इस कारण से वह परगण में जाता है। परगण के साधु विद्वान हैं और भक्ति वाले भी हैं, परन्तु अपने गच्छ को छोड़कर, ये महात्मा हमारी आशा लेकर यहाँ पधारे हैं। ऐसा विचार करके भी परम आदरपूर्वक सर्वस्व शक्ति को छुपाये बिना उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक उनकी सेवा में दृढतापूर्वक वर्तन करे और गीतार्थ एवं चारित्र्य शील आचार्य भी अपने समुदाय को पृष्ठकर आए हुए उस आगन्तुक का सर्वथा आदरपूर्वक निर्यामक बने और संविज्ञ, पापभीरु तथा श्री जैन वचन के सर्व सार को प्राप्त करने वाले उस

आचार्य के चरण-कमल में (निश्चा में) रहता हुआ आगन्तुक भी अवश्य आराधक बनता है। इस तरह शुद्ध बुद्धि—सम्यक्त्व की संजीवनी औषधि तुल्य और मृत्यु के सामने युद्ध में जय पताका प्राप्त कराने में निर्विघ्न हेतुभूत यह संवेगरंगशाला नाम की आराधना के दस अन्तर द्वार वाला गणसंक्रम नामक दूसरे द्वार में परगण संक्रम नामक चौथा अन्तर द्वार कहा है। इस तरह परगण में संक्रम करने पर भी यथोक्त पूर्व कहा है ऐसा सुस्थित (आचार्य) की गवेषणा प्राप्ति बिना इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए अब उसका निरूपण करते हैं।

पांचवाँ सुस्थित गवेषणा द्वार :—उसके बाद सिद्धान्त में प्रसिद्ध कही हुई विधि द्वारा अपने गच्छ को छोड़ने वाला और समाधि को चाहने वाला वह आचार्य राजा बिना का एकत्रित हुआ युद्ध में कुशल महान् सेनानायक की जैसे खोज करता है, वैसे सार्थवाह बिना का अतिदूर नगर में प्रस्थान करने वाला व्यक्ति सार्थवाह (सार्थोदार) को खोजता है, वैसे क्षपक परगण के चारित्र आदि बड़े गुणों की खान के समान गुरु बिना का जानकर क्षेत्र की अपेक्षा से छह सौ, सात सौ योजन तक खोज करे और काल की अपेक्षा बारह वर्ष तक निर्यामक आचार्य श्री की खोज करे। वह किस तरह आचार्य श्री की खोज करे ? उसे कहते हैं।

सुस्थित का स्वरूप :—चारित्र द्वारा प्रधान—श्रेष्ठ, शरणागत वत्सल, स्थिर, सौम्य, गम्भीर, अपने कर्त्तव्य में दृढ़ अभ्यासी। इन बातों से प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले और महासात्त्विक इस तरह सामान्य गुण सहज स्वभाव से होते हैं। और इसके अतिरिक्त—१-आचारवान, २-आधारवान, ३-व्यवहारवान, ४-लज्जा को दूर कराने वाला, ५-शुद्धि करने वाले, ६-निर्वाह करने वाला-निर्यामक, ७-अपाय दर्शक, और ८-अपरिश्रामी। ये आठ विशेष गुण वाले की खोज करे।

१. आचारवान :—जो ज्ञानाचार दर्शनचार, चारित्रचार, तपाचार और वीर्याचार पंच विधि आचार हो वह अतिचार रहित पालन करे, दूसरे को पंचाचार पालन करावे और यथोक्त-शास्त्रानुसार उपदेश दे, उसे आचारवान कहते हैं। आचेलक्य आदि दस प्रकार के स्थिर कल्प में जो अति रागी हैं और अष्ट प्रवचन माता में उपयोग वाला होता है, वह आचारवान कहलाता है। इस प्रकार आचार अर्थात् साधु के दोषों को छुड़वाकर गुण में स्थिर करे, इससे आचार का अर्थ आचार्य निर्यामक होता है।

२. आधारवान :—महाबुद्धिमान जो चौदह, दस अथवा नौव पूर्वी हो, सागर के समान गम्भीर हो और कल्प तथा व्यवहार आदि सूत्र को धारण करने वाला ज्ञाता हो, वह आधारवान कहलाता है। अगीतार्थ आचार्य, लोक में श्रेष्ठ अंगभूत (मनुष्यत्व, धर्म श्रवण, श्रद्धा एवं संयम में उद्यमशील) इन क्षपक के चार अंगों को नाश करे और इन चार अंगों का नाश होने पर अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य सुलभ्य नहीं बनता है। क्यों महा भयंकर दुःख रूपी पानी वाला और अनन्त जन्मों वाले इस संसार समुद्र में परिभ्रमण करते जीव को मनुष्य जन्म प्राप्त करना महामुश्किल है। उस मनुष्य जीवन में भी श्री जैनेश्वर परमात्मा के वचन को श्रवण करना निश्चय ही अति मुश्किल से मिलता है, उससे भी श्रद्धा होना अतितर दुर्लभ है और श्रद्धा से भी संयम का उद्यम करना दुर्लभतम है। ऐसा सुन्दर संयम मिलने पर भी आधार देने में असमर्थ निर्यामक के पास से मरणकाल में संवेगजनक उपदेश का श्रवण नहीं मिलने से संयम से गिरता है। और आहार से अपना शरीर पोषण करने वाला, आहारमय जीव किसी स्थान पर कहीं पर भी आहार के विरह या अभाव वाला, अर्थात् कभी तपस्या नहीं करने वाला, आर्त्त—रौद्र ध्यान पीड़ित, प्रशस्त तप संयम रूपी उद्यान में क्रीड़ा नहीं कर सकता है। परन्तु कई भूख-प्यास से पीड़ित भी श्री जैन वचन के श्रवण रूपी अमृत के पान से और श्रेष्ठ हित शिक्षा के वचनों से ध्यान में एकाग्र बन जाता है। प्रथम प्यास से अथवा दूसरी भूख से पीड़ित उस तपस्वी को अगीतार्थ समाधिकारक उपदेश आदि नहीं देना चाहिए, क्योंकि उस कारणवश प्यास आदि से पीड़ित वह कर्मवश किसी समय पर दीनता धारण करे अथवा करुणाजनक याचना या एकत्व को धारण करता है, अथवा सहसा बड़ी आवाज से चिल्लाता है या भाग जाता है, अथवा शासन की अपभाजना (निन्दा) करता है, मिथ्यात्व प्राप्त करता है अथवा असमाधि मरण से मृत्यु प्राप्त करता है। और जब इस तरह होता है तब गीतार्थ उसे इच्छित वस्तु देकर तथा उसके शरीर की परि-कर्मणा (सेवा) करके अथवा अन्य उपायों से द्रव्य, क्षेत्रादि के अनुरूप शास्त्र विधि से उसकी समाधि का कारण गीतार्थ जानें और रुचिकर उचित समझाए कि जिससे उसको शुभ ध्यान रूपी अग्नि प्रगट हो। गीतार्थ देने योग्य प्रासुक द्रव्य—आहारादि देने का समक्षकर और उत्कंट बना हुआ वातपित्त श्लेष्म का प्रतिकार औषध को भी जाने। उत्सर्ग अपवाद के जानकार वह गीतार्थ निश्चय क्षपक के निराश चित्त को भी सम्यक् उपाय से विधिपूर्वक शान्त करता है, सम्यग् समाधि के उपायों को करता है, किसी कारण से कर्मवश द्वारा नष्ट

हुई समाधि की पुनः साधना करे और असंवर अर्थात् सावध पापकारी भाषा को बोलते हुए भी रोके। इस तरह श्री जैन वचन श्रवण के प्रभाव से पुनः प्रथम गुण को प्राप्त करता है। इससे मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाने से हर्ष शोक रहित बनता है। राग-द्वेष से मुक्त बनकर वह सुखपूर्वक ध्यान करता है और उस ध्यान द्वारा मोह सुभट को जीतकर तथा मत्सर सहित राग रूपी राजा का भी पराभव करके वह अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और वीर्य रूपी चतुरंग प्रभाव से वह निर्वाण रूपी राज्य के सुख को प्राप्त करता है। इस तरह गीतार्थ के चरण-कमल में ऊपर कहे वे अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। निश्चय से संकलेश न हो और असाधारण श्रेष्ठ समाधि प्रगट हो ऐसे मेरे आधारभूत गुरुदेव की निश्चा होनी चाहिये।

३. व्यवहारवानः—जो पाँच प्रकार के व्यवहारों के तत्त्व से विस्तारपूर्वक ज्ञाता हो और दूसरे द्वारा दिये जाते प्रायश्चित्त को अनेक बार देखकर, प्रायश्चित्त देने का अनुभवी हो, उसे व्यवहारवान् जानना। आज्ञा, श्रुत, आगम, धारणा और जीत ये पाँच प्रकार का व्यवहार है, उसकी विस्तारपूर्वक प्ररूपणा शास्त्रों में कहा है। प्रायश्चित्त के लिये आये हुये पुष्प को उसके पर्याय या वय, संघयण, प्रायश्चित्त करने वाले के उसके परिणाम, उत्साह को देखकर और द्रव्य, क्षेत्रकाल तथा भाव को जानकर व्यवहार करने में कुशल, श्री जैन वचन में विशारद्-पण्डितवर्य धीर हो वह व्यवहारवान राग-द्वेष को छोड़कर उसे व्यवहार में प्रस्थापित करे अर्थात् प्रायश्चित्त दे। व्यवहार का अज्ञानी—अनाधिकारी होने पर व्यवहार योग्य का व्यवहार करे, अर्थात् आलोचक को प्रायश्चित्त देता है वह संसार रूपी कीचड़ में फँसता है और अशुभ कर्मों का बन्धन करता है। जैसे औषध को नहीं जानने वाला वैद्य रोगी को निरोगी नहीं करे, वैसे व्यवहार को नहीं जानने वाले, शुद्धि को चाहने वाले आलोचक की शुद्धि नहीं करे। इस कारण से व्यवहार के ज्ञाता की निश्चा में रहना चाहिये, वहीं पर ही ज्ञान चारित्र्य समाधि और बोधिबीज की प्राप्ति होती है।

४. ओबोलग-अपझोडक :—अर्थात् लज्जा दूर करने वाला पराक्रमी, तेजस्वी, बोलने में चतुर, विस्तृत कीर्ति वाला और सिंह के समान निर्भय या रक्षक आचार्य को श्री जनेश्वर भगवान ने आलोचक की शरम को छोड़कर शुद्ध आलोचना देने वाला कहा है। किसी क्षपक—तपस्वी को परहित करने में तत्पर मन वाला वह आचार्य स्नेहपूर्वक, मधुर, मन की प्रसन्नता कराने

वाला और प्रीतिजनक वचनों द्वारा सम्यग् रूप में समझाए, फिर भी तीव्र गारव आदि दोषों से अपने दोषों को स्पष्ट रूप नहीं कहे तो उस ओवीलग गुरु को उसकी लज्जा को छोड़ देना चाहिए, अथवा जैसे अपने तेज से सिंहण-सियार के पेट में रहे मांस का वमन कराता है वैसे आचार्य श्री दोषों को बताने में अनुत्साही के दोषों को कठोर वाणी से प्रकट कराते हैं, फिर भी वह कठोर वचन कटु औषध के समान उस आलोचक को हितकारी होता है। क्योंकि पर-हित की उत्तरदायी की उपेक्षा करने वाला केवल स्वहित का ही चिन्तन करने वाला जीव जगत में सुलभ है, परन्तु अपने हित और पर के हित का चिन्तन करने वाले जीव जगत में दुर्लभ है। यदि क्षपक के छोटे अथवा बड़े भी दोषों को प्रगट नहीं कराते हैं तो वह क्षपक साधु दोषों से निवृत्त नहीं होता है और इसके बिना वह गुणवान नहीं बन सकता है। इसलिए उस क्षपक के हित का चिन्तन करते ओवीलग आचार्य को निश्चय ही क्षपक साधु के सब दोषों को प्रगट करवाने चाहियें।

५. प्रकृवी :—अर्थात् शुद्धि करने वाला, शय्या संधारो, उपधि, संभोग (सहभोजनादि) आहार, जाना, आना, खड़े रहना, बैठना, सोते रहना, परठना अथवा कर्म निर्जरा करना इत्यादि में और एकाकी विहार अथवा अनशन स्वीकार करने में, अति श्रेष्ठ उपकार को करते जो आचार्य सर्व आदरपूर्वक, सर्व शक्ति से और भक्ति से अपने परिश्रम की उपेक्षा करके भी तपस्वी की सार संभाल में हमेशा प्रवृत्त रहे वही प्रकुर्वक आचार्य कहलाते हैं। थके हुए शरीर वाले क्षपक प्रतिचरण (सेवा) गुण से प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं। इसलिये क्षपक को प्रकुर्वी के पास रहना चाहिए।

६. निर्वापक :—अर्थात् निर्वाह करने वाले निर्यामक अथवा निर्वाहक-संधारा, आहार या पानी आदि अनिष्ट देने से अथवा बहुत विलम्ब द्वारा देने से, वैयावच्च करने के प्रमाद से या नवदीक्षित आदि अज्ञ साधुओं को सावध वाणी द्वारा अथवा ठण्डी, गरमी, भूख, प्यास आदि से, अशक्त बनने से या तीव्र वेदना से जब क्षपक मुनि क्रोधित हो अथवा समाचारी—मर्यादा को तोड़ने की इच्छा करे, तब क्षमा से युक्त और मान से मुक्त निर्वापक आचार्य को क्षोभ प्राप्त किये बिना साधु के चित्त को शान्त करना चाहिये। रत्न के निधान रूप अनेक प्रकार के अंग सूत्रों अथवा अंग बाह्य सूत्रों में अति निपुण तथा उसके अर्थों को अच्छी तरह कहने वाला और दृढ़तापूर्वक उसका पालक, विविध सूत्रों को धारण करने वाला, विविध रूप में व्याख्यान कथा करने

वाला, हित उपायों का जानकार, बुद्धिशाली और महाभाग्यशाली निर्वापक आचार्य क्षपक को समाधि प्राप्त कराने के लिये स्नेहपूर्वक मधुर और उसके चित्त को अच्छी लगे इस तरह उदाहरण तथा हेतु से युक्त कथा उपदेश को सुनाए। परीषद् रूपी तरंगों से अस्थिर बना हुआ, संसार रूपी समुद्र के अन्दर चक्र में पड़ा हुआ और संयम रत्नों से भरा हुआ साधुता रूपी नाव को मल्लाह के समान निर्वापक डूबते हुये बचाये। यदि वह बुद्धि बल को प्रगट करने वाला आत्महितकर, शिव सुख को करने वाला मधुर और कान का पुष्टिकारक उपदेश को नहीं दे तो स्व और पर आराधना का नाश होता है। इस कारण से ऐसे निर्यामक आचार्य ही क्षपक मुनि की समाधिकारक बन सकते हैं और उस निर्वापक को भी उसके द्वारा ही निश्चित आराधना होती है।

७. अपायदर्शक :—संसार समुद्र अथवा आराधना के किनारे पहुँचा हुआ भी किसी क्षपक मुनि को विचित्र कर्म के परिणामवश तृषा, भूख इत्यादि से दुर्ध्यान आदि भी होता है। फिर भी किसी को पूजा का मान होता है। कीर्ति की इच्छा वाला, अवर्णवाद से डरने वाला, निकाल देने के भय से अथवा लज्जा या गारव से विवेक बिना का क्षपक मुनि यदि सम्यग् उपयोगपूर्वक उस दुर्ध्यानादि की आलोचना नहीं करे तो उसे भावी में अनर्थों का कारण रूप बतलाकर इस प्रकार जो समझाया जाता है उसे अपायदर्शक जानना। आलोचना नहीं करने से इस भव में 'शठ या शल्य है' ऐसी मान्यता तथा अपकीर्ति, अतिरिक्त इस जन्म में भाव बिना की कष्टकारी की हुई क्रिया भी दुर्गति का कारण होती है। मायाचार से परभव में अनर्थ का कारण होता है, इससे निश्चित दुःखी होता है, इत्यादि जो समझाये वही सूरि नाम से अपायदर्शी कहलाते हैं। इस प्रकार के गुण समूह वाला वह अपाय दर्शी मधुर वचनों से कहे कि—हे महाभाग ! क्षपक ! तू इस सम्यक् रूप का विचार कर। जैसे कांटे आदि का उद्धार नहीं करने से वह द्रव्य शल्य भी निश्चय मनुष्य के शरीर में केवल वेदना ही नहीं करता, परन्तु ज्वर, जलन, गर्दभ नाम का रोग आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और इसके कारण कई बार मृत्यु भी हो जाती है। इसी प्रकार मोहमूढ़ मति वाला साधु को सम्यग् उद्धार (आलोचना) का नहीं करना और आत्मा में ही रखना, इस प्रकार यह भाव शल्य भी इस भव में केवल अपयश आदि ही होता, किन्तु संयम जीवन का नाश होने से चारित्र्य के अभाव रूपी आत्मा का भी मरण करता है और परजन्मों में अशुभ कर्मों का आक्रमण, अति पोषण करने वाला कर्मबन्ध और दुर्लभ बोधित्व को प्राप्त करता है। इसलिए बोधि लाभ से भ्रष्ट आत्मा जन्म-मरण रूपी आवृत्तों

(चक्र) वाला, दुःखरूपी पानी वाला और अनादि अनन्त भयंकर संसार समुद्र में अनन्त काल तक दुःखों को भोगता है, ऊँची-नीची विचित्र प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करता और अति तीक्ष्ण दुःखरूपी अग्नि से सीझता है। तथा अज्ञानी जीव सशल्य मरण से इस संसार महासमुद्र में चिन्तामणी तुल्य श्रमण धर्म का तथा तप संयम को प्राप्त करके भी उसका नाश करता है। सशल्य मरण से मरकर आदि अन्त रहित अति गाढ़ संसार अटवी में पड़ा हुआ दीर्घकाल तक श्रमण करता है। शस्त्र, जहर अथवा नाराज हुआ वेताल उलटा उपयोग किया यन्त्र अथवा गुस्से से चढ़ा हुआ क्रोधी सर्प ऐसा नहीं करता, वैसे जो मृत्यु के समय भाव शल्य का उद्धार नहीं करे अर्थात् उसकी आलोचना नहीं करता है तो वह दुर्लभ बोधित्व को और अनन्त संसारी रूप का परिभ्रमण करता है। इसलिए निश्चय ही प्रमाद के वश एक मुहूर्त मात्र भी शल्य युक्त रहना वह असह्य है, इसलिए लज्जा और गारव से मुक्त तू शल्य का उद्धार कर अर्थात् उसकी आलोचना कर। क्योंकि नये-नये जन्म रूपी संसार लता के मूलभूत शल्य को मूल में से उखाड़ने के लिए भय मुक्त बना हुआ धीर पुरुष संसार समुद्र को पार कर जाता है। यदि निर्यामिक आचार्य भी इसी तरह आराधक साधु को अनर्थों की जानकारी नहीं दे तो शल्य वाले उस आराधक को भी आराधना करने से क्या फल मिलेगा ? इस कारण से आराधक को हमेशा अपाय दर्शक की निश्चा में आत्मा को रखना चाहिए। क्योंकि वहाँ निश्चय आराधना होती है।

८. अपरिश्रावी :—लोहे के पात्र में रखा हुआ पानी बाहर नहीं जाता है वैसे प्रगट हुये अतिचार जिसके मुख से बाहर नहीं निकलते उसे ज्ञानी पुरुषों ने अपरिश्रावी कहा है। जो गुप्त बात को जाहिर करता है वह आचार्य उस साधु का या अपना, गच्छ का, शासन का, धर्म और आराधना का त्याग किया जानना। आलोचक ने कहे हुये दोष अन्य को कहने से कोई लज्जा से और गारव (मान) द्वारा विपरीत परिणाम वाला अधर्मी बन जाये, कोई भाग जाए या कोई मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। रहस्य को प्रगट करने से द्वेषी बना हुआ कोई उस आचार्य को मार दे, आत्मा का भेदन—अपघात करता है और गच्छ समुदाय में भेदन (झगड़ा) करता है अथवा प्रवचन का उपहास करता है इत्यादि दोष रहस्य को धारण करने वाले आचार्य नहीं होते हैं। इस कारण से अपरिश्रावी निर्यामिक आचार्य की खोज करनी चाहिए। इस तरह आठ गुण वाले आचार्य की चरण कृपा से आराधक प्रमाद शत्रु को खत्म कर आराधना की सम्पूर्ण साधना करे। इस तरह पाप रूपी कमल को

जलाने में हिम के समूह समान और यम के साथ युद्ध में जय पताका की प्राप्ति कराने में सफल हेतुभूत संवेगरंगशाला रूपी आराधना के दस अन्तर द्वार वाला गण संक्रमण नामक दूसरे द्वार में सुस्थित (गवेषणा) नामक पांचवाँ द्वार कहा है। इस तरह कही हुई सुस्थित की गवेषणा भी जिसके अभाव में फल की साधना में समर्थ न बने इसलिये अब वह उप-संपदा द्वार को कहता हूँ।

छठा उप-संपदा द्वार :—इस तरह नियामक के गुणों से युक्त और ज्ञान क्रिया वाले आचार्य श्री की खोज करके वह क्षण उस आचार्य श्री की उप-सम्पदा (निश्चा) को स्वीकार करे। उसमें सर्वप्रथम पच्चीस आवश्यक से शुद्ध गुरु वन्दन करके विनय से दोनों हाथ से अंजलि करके सर्व रूप आदरपूर्वक इस तरह कहे—हे भगवन्त ! आपने सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप श्रुत समुद्र को प्राप्त किया है एवं इस शासन में सकल श्री भ्रमण संघ के नियामक गुरु हो, आज इस शासन में आप ही श्री जैन शासन रूपी प्रासाद (महल) के आधार रूप स्तम्भ हो और संसार रूपी वन में भ्रमण करते थे हुए प्राणियों के समूह के समाधि का स्थान है। इस संसार में आप ही गति हो, मति हो, और हम अशरणों के शरण हो, हम अनाथों के नाथ भी आप हो, इसलिए हे भगवन्त ! मैंने योग्य शेष कर्तव्यों को पूर्ण किया है। मैं आप श्री जी के चरण कमल में दीक्षा के दिन से आज तक की सम्यग् भाव से आलोचना देकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य को अति विशुद्ध करके अब दीर्घकाल तक पालन की साधुता का फल भूत निःशल्य आराधना करने की इच्छा करता हूँ। इस प्रकार साधु के कहने पर नियामक आचार्य कहे कि—हे भद्र ! मैं तेरे मनोवांछित कार्य को निर्विघ्नतापूर्वक शीघ्र से शीघ्र सिद्ध करूँगा। हे सुविहित ! तू धन्य है कि जो इस तरह संसार के सम्पूर्ण दुःखों का क्षय करने वाली और निष्पाप आराधना करने के लिए उत्साही बना है। हे सुभग ! तब तक तू विश्वस्त और उत्सुकता रहित बैठो कि जब तक मैं क्षण भर बैयावच्च कारक के साथ मैं इस कार्य का निर्णय करता हूँ। इस तरह दुर्गति नगर को बन्द करने के लिये दरवाजे के भूगल समान, मृत्यु के सामने युद्ध में जय पताका की प्राप्ति कराने में सफल हेतुभूत यह संवेगरंगशाला नाम की आराधना में दस अन्तर द्वार वाला दूसरा गण संक्रमण द्वार का छठा उप-सम्पदा नाम का द्वार कहा है। अब उप-संपदा स्वीकार करने पर भी मुनि परम्परा की परीक्षा के अभाव में शुद्ध समाधि को प्राप्त नहीं करते हैं, इसलिए परीक्षा द्वार को कहते हैं :—

सातवाँ परीक्षा द्वार :—उसके बाद सामान्य साधु अथवा पूर्व में कहे अनुसार उस अनशन की इच्छा वाला आचार्य, उनकी प्रथम प्रारम्भ में ही

गम्भीर बुद्धि से मीनपूर्वक उस गण के आचार्य और साधुओं की परीक्षा करनी चाहिए कि—क्या यह भावुक मन वाला (सद्भाव वाला) है अथवा अभावुक (सद्भाव रहित) है ? इस तरह उस गच्छ में रहे साधुओं की भी उस आगन्तुक क्षपक साधु की विविध प्रकार से परीक्षा करनी चाहिए । और उस गच्छ के आचार्य को भी केवल अनशन करने आने का ही प्रयोजन न रखे, परन्तु अपने साधुओं की भी परीक्षा करनी चाहिए कि—मेरे साधु आगन्तुक के प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं या नहीं हैं ? उसमें आगन्तुक को, उस गण के आचार्य को विचार इस तरह करना चाहिए कि—यदि उस आने वाले को देखकर हर्ष से विकसित नेत्र वाले (स्वागत) ऐसा बोलते स्वयं खड़े हो जायें अथवा औचित्य करने के लिए अपने मुनियों को सामने भेजे तो वह प्रस्तुत कार्य को सिद्ध करेगा ऐसा जानना । और यदि मुख की कान्ति मलीन हो शून्य दृष्टि से देखे तथा मन्द अथवा टूटी-फूटी आवाज से बुलाए तो ऐसे को प्रस्तुत प्रवृत्ति में सहायता के लिए अयोग्य जानना । जब भिक्षा के लिए जाए तब मुनियों की भी परीक्षा के लिए कहना कि—अहो ! तुम मेरे लिए दूध रहित चावल लेते आना । ऐसा कहने के बाद यदि वे साधु परस्पर हँसें अथवा उद्धत जवाब दें तो वे असद्भाव वाले हैं ऐसा जानना । परन्तु वे यदि सहर्ष ऐसा कहें कि—आप श्री ने हमको अनुग्रहित किया है, सर्व प्रयत्न से भी मिलेगा तो ऐसा ही करेंगे, तो उन्हें सद्भाव वाला समझना । इस तरह आए हुए स्थानिक साधुओं की परीक्षा करनी चाहिए । स्थानिक साधु आगन्तुक की भी इसी तरह परीक्षा करें । आगन्तुक के बिना माँगने पर भी श्रेष्ठ चावल आदि उत्तम आहार को लाकर दे । इससे यदि वह आश्चर्यपूर्वक ऐसा बोले कि—अहो ! बहुत काल पृथ्वी पर परिभ्रमण करने पर भी चावल की ऐसी उत्तम गन्ध की मनोहरता और स्वादिष्ट मैंने कहीं पर भी देखा नहीं है । ऐसी व्यंजन सामग्री भी दूसरे स्थान पर नहीं दिखती है, इसलिए मैं इस भोजन को अति अभिलाषा से खाऊँगा । यदि वह ऐसा बोलता है तो वह जितेन्द्रिय नहीं होने से अनशन की प्रसाधना के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, इसलिए इसे निषेध करना चाहिए और जिस तरह आया हो उसी तरह वापिस भेज देना चाहिए ।

परन्तु अनशन करने वाला यदि ऐसा भोजन देखकर ऐसा कहे कि—हे महानुभाव ! मुझे ऐसा श्रेष्ठ भोजन देने से क्या लाभ होगा ? ऐसा श्रेष्ठ आहार को खाने का मुझे यह कौन सा अवसर है ? तो वह महात्मा अनशन करने के लिये योग्य है । ऐसा समझकर उसे स्वीकार करना चाहिए । इस तरह चिकित्सा करते, उनको खड़े रहना, बैठना, चलना, स्वाध्याय करना,

आवश्यक भिक्षा देना, स्थण्डिल भूमि जाना इत्यादि में परस्पर परीक्षा करे, इसके बाद जब वह आराधना करते बार-बार उत्साही हो अथवा आराधना की बार-बार याचना करे, तब स्थानिक आचार्य की भी उसकी इसी तरह परीक्षा करनी चाहिए। आचार्य पूछे कि—हे सुन्दर ! तुमने आत्मा की संलेखना की है ? वह यदि उत्तर में ऐसा कहे कि—हे भगवन्त ! क्या केवल हाड़ और चमड़ी वाले मेरे शरीर को आप नहीं देखते ? जैसे सुना न हो वैसे आचार्य पुनः भी पूछे इससे वह क्षपक साधु रोषपूर्वक कहे कि—आप अति चतुर हो कि जो कहने पर भी और दृष्टि से देखने पर भी विश्वास नहीं करते हैं। इस तरह बोलते यदि अपनी अंगुली को मरोड़कर दिखाये कि—हे भगवन्त ! अच्छी तरह देखो ! इस शरीर में अति अल्पमात्र भी मांस, रुधिर या मज्जा है ? इस तरह होने पर भी हे भगवन्त ! अब मैं कौन-सी संलेखना करूँ ? उसके बाद आचार्य उसे इस तरह कहना—मैं तेरी द्रव्य शरीर की संलेखना नहीं पूछता तूने अपनी अंगुलियाँ क्यों मरोड़ीं ? तेरी कृश काया को मैं दृष्टि से नहीं देखता। मेरी सलाह है कि तुम भाव संलेखना करो इसमें शीघ्रता नहीं करो। सर्वप्रथम इन्द्रिय कषाय और मारव को कृश (पतले) करो, हे साधु ! मैं तेरे इस कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करता हूँ। स्थानिक नियामक आचार्य ने आराधना के लिए आए हुए को प्रतिबोध करने के लिये यह दो श्लोक कहे हैं। इस तरह परस्पर स्वयं अच्छी तरह परीक्षा करने से उभय पक्षों को भक्त परीक्षा (अनशन) समय में थोड़ी भी असमाधि नहीं होती है। परन्तु अति रभसत्व (सहसा) की हुई धर्म—अर्थ सम्बन्धी प्रयोजन भी विपाक (परिणाम) प्रायः अन्त में निवृत्ति के लिए नहीं होता है। इस प्रकार धर्म रूपी तापस के आश्रम तुल्य और मरण सामने युद्ध में जय पताका की प्राप्ति करने में सफल कारणभूत संवेगरंगशाला नाम की आराधना के दस अन्तर द्वार वाला दूसरा गण संक्रम द्वार में परीक्षा नाम का सातवाँ द्वार कहा है। अब उभय पक्ष की परीक्षा करने पर भी जिसके बिना आराधना के अर्थों का कार्य भविष्य में निविघ्न (सिद्ध) न हो अतः पडिलेहणा द्वार कहता हूँ।

आठवाँ पडिलेहणा द्वार :—अथवा प्रतिलेखना द्वार, वह पडिलेहणा इस प्रकार से होता है—निश्चल अप्रमत्त मन वाले उत्साही नियामक आचार्य गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ इस दिव्य निमित्त द्वारा उपसम्पन्न—आए हुए क्षपक की आराधना में विक्षेप होगा या नहीं होगा, उसकी प्रतिलेखना निश्चय करे। उसमें राज्य और क्षेत्र के अधिपति राजादि को गण को और अपने को देखकर यदि वह विघ्न करने वाला न हो तो क्षपक को स्वीकार करे। इस

प्रकार पणिलेहना नहीं करने से बहुत दोष उत्पन्न होते हैं। अथवा किसी अन्य द्वारा उसे परिपूर्ण रूप में जानकर उसे स्वीकार करे अन्यथा स्वीकार नहीं करे। अतः उसके कल्याण, कुशलता और सुकाल में यदि भावि में व्याघात नहीं होने वाला है, ऐसा जानकर उसे स्वीकार करे अन्यथा राजा आदि के स्वरूप की पडिलेहणा (जानकारी) के बिना स्वीकार करने से हरिदत्त मुनि के समान आराधना में विघ्न भी आ सकता है। इस विषय पर कथा कहते हैं :-

हरिदत्त मुनि का प्रबन्ध

शंखपुर नगर में सर्वज्ञ प्रसिद्धि को प्राप्त करने वाला महाबली और शत्रु समूह के विजेता शिवभद्र नामक राजा था और उसे अति मान्य वाला वेद आदि समस्त शास्त्रों में कुशल बुद्धि वाला मति सागर नाम का पुरोहित था। उसने राजा को विघ्नरहित राज्य के सुख के लिए दुर्गति का कारणभूत भी यज्ञ कार्यों में हमेशा के निये लगा दिया। उसके बाद एक समय अनेक साधुओं के समूह के साथ में गुण शेखर नाम के आचार्य नगर के बाहर उद्यान में पधारे। उनको नमस्कार करने के लिए बाल, वृद्धों सहित नगर के मानव-जन महावैभवपूर्वक म्यान इत्यादि सहित वाहन में बैठकर वहाँ गये। उसी समय में उसी पुरोहित के साथ में राजा भी नगर के बाहर विभाग में वहीं घोड़ों को खिलाने लगा। उस समय कोलाहल पूर्वक राजा ने उस नगर के लोगों को आते-जाते देखकर पूछा कि क्या आज कोई महोत्सव है ? कि जिससे इस तरह अपने वैभव अनुसार श्रेष्ठ अलंकारों से युक्त शरीर वाले लोग यथेच्छ सर्वज्ञ घूम रहे हैं ? फिर परिवार के किसी व्यक्ति ने उसका रहस्य (कारण) कहा। इससे आश्चर्यचकित बना राजा उस उद्यान में गया और उस आचार्य श्री को वन्दन नमस्कार करके अपने योग्य स्थान पर बैठा। उसके बाद राजादि पर्षदा के अनुकूल आचार्य श्री ने भी मेघ गर्जना के समान गम्भीर शब्दों वाली वाणी से धर्म कथा प्रारम्भ की। जैसे कि—हे राजन् ! सारे शास्त्रों का रहस्य भूत सर्व सुखकारी एक ही जीव दया, प्रशंसा करने योग्य है, जैसे रात्री चन्द्रमा के बिना नहीं शोभती वैसे ही धर्म तप, नियम के समूह से युक्त हो तो भी इस दया के बिना लेशमात्र भी नहीं शोभता है। इस दया में रंगे हुये मन वाले गृहस्थ भी देवलोक में उत्पन्न हुए हैं और इससे विमुख मुनि ने भी अत्यन्त दुःखदायी नरक को प्राप्त किया है। जो अखूट विशाल और दीर्घ आयुष्य की इच्छा करता है वह कल्पवृक्ष के महान लता सदृश जीव दया का पालन करते हैं। उत्तम मुनियों के द्वारा कही हुई और विशिष्टयुक्ति सहित होने पर भी

जो धर्म जीव दया रहित हो उसे भयंकर सर्प के समान दूर से त्याग करना चाहिए ।

आचार्य श्री के इस तरह कहने पर राजा ने कमल के पत्र समान दृष्टि यज्ञ क्रिया के प्ररूपक पुरोहित के ऊपर फेंकी । उसके बाद अन्तर में बढ़ते तीव्र क्रोध वाले पुरोहित ने कहा कि—हे मुनिवर ! तुम्हारा अति कठोरता आश्चर्य कारक है कि वेद के अर्थ को नहीं जानता है और पुराने शास्त्रों के अल्प भी रहस्य को नहीं जानता, परन्तु तुम हमारे यज्ञ की निन्दा करते हो । आचार्य श्री ने कहा कि—हे भद्र ! रोष के आधीन बना हुआ 'तुम वेद पुराण के पर-मार्थ को नहीं जानते हो ।' तुम इस तरह क्यों बोलते हो ? हे भद्र ? क्या पूर्व भुनियों के द्वारा रचित तेरे शास्त्रों में सर्वत्र जीव दया नहीं कहीं ? अथवा क्या उस शास्त्र का यह वचन तूने नहीं सुना कि—“जो हजारों गायों का और सैंकड़ों अश्वों का दान दे उस दान को सर्व प्राणियों को दिया हुआ अभय दान का उल्लंघन किया जाता है ।” सर्व अवयव वाले स्वस्थ होने पर भी जीव हिंसा करने में तत्पर मनुष्यों को देखकर मैं उनको पंगु, हाथ कटे हुए और कोढ़ी बनना अच्छा समझता हूँ । जो कपिल श्रेष्ठ वर्ण वाली हजार गाय ब्राह्मणों को दान दे और वह एक जीव को जीवन दान (अभयदान) दे वह इसकी सोलवीं कला के भी योग्य नहीं होता है । भयभीत प्राणियों को जो अभयदान देता है उससे अधिक अन्य धर्म इस पृथ्वी तल में नहीं है । एक जीव को भी अभयदान की दक्षिणा देना श्रेष्ठ है, परन्तु समझकर एक हजार गाय हजार ब्राह्मणों को देना श्रेष्ठ नहीं है । जो दयालु सर्व प्राणियों को अभयदान देता है वह शरीर मुक्त बने हुए पर-जन्म में किसी से भी भयभीत नहीं होता है । पृथ्वी में सोने की, गाय का और भूमि का दान करना सुलभ है, परन्तु जो प्राणियों को अभयदान देता है, वे पुरुष लोक में दुर्लभ है । महान् दानों का भी फल काल-क्रम से क्षीण होता है, परन्तु भयभीत आत्मा को अभयदान देने से उसका फल क्षय नहीं होता है । अपना इच्छित तप करना, तीर्थ सेवा करना और श्रुतज्ञान का अभ्यास करना, इन सबको मिलाकर भी अभयदान की सोलहवीं कला को भी नहीं प्राप्त करता है । जैसे मुझे मृत्यु प्रिय नहीं है, वैसे सर्व जीवों को मृत्यु प्रिय नहीं है । इसलिए मरण के भय से डरे हुए जीवों की पण्डितों को रक्षा करनी चाहिए । एक ओर सर्व यज्ञ और समग्र श्रेष्ठ दक्षिणा और दूसरी ओर भयभीत प्राणियों के प्राणों का रक्षण करना श्रेष्ठ है । सर्व प्राणियों का जो दान करना और एक प्राणी की दया करना, उसमें सर्व प्राणियों की दया से एक की दया ही प्रशंसनीय है । सर्व वेद, शास्त्र कथन अनुसार सर्व यज्ञ और तीर्थों का

स्तान भी वह लाभदायक नहीं होता जब तक उसमें प्राणियों की दया नहीं करे। इस तरह हे महायश ! तू अपने शास्त्रार्थ का भी क्यों स्मरण नहीं करता है ? कि जिससे तत्त्व से युक्त होने पर भी जीव दया को नहीं स्वीकार करता है ?

इस तरह उपदेश देने पर वह पुरोहित साधु के प्रति दृढ़ द्वेषी बना और अल्प उपशान्त चित्त वाला राजा भद्रिक बना। आचार्य श्री भी भव्य जीवों को श्री जैन कथित धर्म में स्थिर करके वहाँ से निकलकर अन्यत्र विहार करने लगे और नये-नये क्षेत्र, गाँव, नगर आकर आदि में लम्बे काल तक विचरण कर पुनः उसी नगर में उचित प्रदेश में वे विराजमान हुये। फिर वहाँ रहे हुए उस आचार्य का हरिदत्त नाम का साधु अनशन के लिए अपने गच्छ से मुक्त होकर काया की संलेखना करके आचार्य श्री के पास आकर विनयपूर्वक चरण-कमल में नमस्कार करके और ललाट प्रदेश में हाथ जोड़कर इस प्रकार विनती करने लगा कि—हे भगवन्त ! कृपा करो, मैंने संलेखना कर लिया, अब मुझे संसार समुद्र को तरने के लिये नाव समान अनशन उच्चारणपूर्वक अनुग्रह करो, उसके बाद जल्दी ही अपने गण-समुदाय को पूछकर कृष्णा से श्रेष्ठ चित्त वाले गुण शेखर सूरि जी ने उसकी याचना स्वीकार की। फिर आचार्य ने अनशन के विषय में आने वाले विघ्न का विचार किये बिना ही सहसा ही शुभ मुहूर्त में उसे अनशन में लगा दिया। जब इस अनशन की नगर में प्रसिद्धि हुई तब भक्ति से तथा देखने की इच्छा से उस क्षपक साधु को वन्दन करने के लिए लोग हमेशा आने लगे। और इस तरफ उस समय उस शिवभद्र राजा का बड़ा पुत्र अचानक रोग के कारण बीमार पड़ा। रोग निवारण करने के लिये उत्तम वैद्यों को बुलाया, चिकित्सा की और विविध मन्त्रादि का उपयोग किया, फिर भी वह रोग शान्त नहीं हुआ। इससे किकर्तव्य मूढ़ मन वाला और उदास मुख कमल वाला राजा अत्यन्त शोक करने लगा। उस समय मौका देखकर दीर्घ-काल से छिद्र देखने में तत्पर एवं धर्म द्वेषी उस पुरोहित ने राजा से कहा कि—हे देव ! जहाँ साधु बिना कारण आहार का त्याग कर मरते हों वहाँ सुख किस तरह हो सकता है ? ऐसा कहकर अनशन में रहे तपस्वी साधु का सारा वृत्तान्त कहा।

उसे सुनकर राजा अत्यन्त क्रोधित हुआ और अपने पुरुषों को बुलाकर आज्ञा दी कि—अरे ! तुम इस प्रकार कार्य करो कि जिससे ये सब साधु अपना देश छोड़कर शीघ्र निकल जायें। इससे उन्होंने आचार्य श्री के सामने राजा की आज्ञा सुनाई। तब प्रचण्ड विद्या बल वाले एक साधु ने श्री जैन शासन की

लघुता होते देखकर आवेशपूर्वक कहा कि—अरे मूढ़ लोगों ? तुम मर्यादा रहित ऐसा क्यों बोल रहे हो ? क्या तुम नहीं जानते कि जहाँ मुनिवर्य ने आगम शास्त्रों की युक्ति के अनुसार धर्म क्रिया को स्वीकार किया है उस समय से असिव आदि उपद्रव चले गये हैं। फिर भी किसी कारण से वह उपद्रव आदि होते वह भी अपने कर्मों का ही दोष है, फिर साधु के प्रति क्रोध क्यों करते हो ? तुम्हारे द्वारा निश्चय ही निष्फल क्रोध किया जा रहा है। अतः हमारे आदेश से राजा को न्याय मार्ग में स्थिर करो। कुतर्क को छोड़ दो। वे दुष्ट सेवक हैं कि जो उन्मार्ग में जाते स्वामि को हित की शिक्षा नहीं देते। साधु के कहने पर भी उन पुरुषों ने कहा कि—हे साधु ! अधिक मत बोलो, यदि तुम्हें यहाँ रहने की इच्छा है तो आप स्वयमेव जाकर राजा को समझाओ। फिर वह मुनि उन पुरुषों के साथ राजा के पास गया और आशीर्वादपूर्वक इस तरह कहने लगा कि—हे राजन् ! तुम्हें इस तरह धर्म में विघ्न करना योग्य नहीं है। धर्म का पालन करने वाले राजा की ही वृद्धि होती है और उस शास्त्रोक्त धर्म क्रिया के पालन में दत्त चित्त वाले साधुओं का विरोधी लोगों को सम दृष्टि के द्वारा रोकने की होती है। आप ऐसा मत समझना कि—क्रोधित हुये ये साधु क्या कर सकते हैं ? अति घिसने पर चन्दन भी अग्नि प्रगट करता है। इत्यादि कहने पर भी जब राजा ने दुराग्रह को नहीं छोड़ा तब उस मुनिवर ने 'यह दुष्ट है' ऐसा मानकर विद्या के बल से उसके महल के महान और स्थिर स्तम्भ भी चलित हो गये। मणि जड़ित भूमि का तल भाग था वह भी कम्पायमान हो गया, ऊपर के शिखर गिर पड़े, पट्टशाला टूट गई, उत्तम तोरण होने पर नम गये, दिवारों में खलबन्नी मच गई, चारों तरफ से किल्ला काँपने लगा और कई टूटी हुई संधि दिखने लगीं। वह राजा ऐसा देखकर भयभीत बना, अति मानपूर्वक पैरों में पड़कर साधुओं को विनती करने लगा कि—हे भगवन्त ! आप ही उपशम भाव के स्वामी हो, दया की खान स्वरूप और इन्द्रिय कषायों को जीतने वाले हो, आप ही संसार रूपी कुर्यें में गिरे हुए जीवों को हाथ का सहारा देकर बचाने वाले हो। इसलिए मलिन बुद्धि वाले मेरा यह एक अपराध क्षमा करो। पुनः मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा, अपने दुष्ट शिष्य के समान मेरे प्रति अब प्रसन्न हो। हे मुनीन्द्र ! मन से भी कदापि ऐसा करने के लिए मैं नहीं चाहता हूँ, परन्तु पुत्र पीड़ा की व्याकुलता से मैंने दुष्ट प्रेरणा से यह किया है। अब इस प्रसंग के कारण से आपकी शक्तिरूपी मथानी से मथन करने से मेरा मनरूप समुद्र विवेक रत्न का रत्नाकर बना है अर्थात् विवेकी बना है, इस कारण से उस पुत्र से क्या प्रयोजन है ? और उस राज्य तथा

देश से क्या लाभ कि जिससे मुझे आपके चरण-कमल की प्रतिकूलता का कारण बना ?

फिर नमस्कार करने वाले के प्रति वात्सल्य वाले उस मुनि ने 'यह भय-भीत बना है' ऐसा जानकर राजा को प्रशान्त मुख से मधुर वचनों द्वारा आशवासन देकर निर्भय बना दिया। उस समय पर मुनि के प्रभाव से प्रसन्न हुआ जैनदास नामक श्रावक ने राजा से कहा कि—हे देव ! निश्चय इस मुनि का नाम लेने से भी ग्रह, भूत, शाकिनी के दोष शान्त हो जाते हैं और चरणा प्रक्षाल के जल से विषम रोग भी प्रशान्त होते हैं। ऐसा सुनकर राजा ने मुनि के चरण-कमल का प्रक्षालन किया और उसके जल से पुत्र को सिंचन किया, इससे वह शीघ्र ही स्वस्थ शरीर वाला हो गया। उसकी महीमा को स्वयं देखने से धर्म की श्रेष्ठता को निश्चय रूप में राजा ने श्रद्धा को प्राप्त की और साधु के वचन से जैन धर्म को राजा ने स्वीकार किया। उसके बाद सद्धर्म के विरुद्ध बोलने वाला द्वेषी और उत्तम मुनियों का शत्रु उस पुरोहित को नगर में से निकाल दिया एवं राजा अपने सर्व कार्यों को छोड़कर सर्व ऋद्धि द्वारा सर्व प्रकार से आदरपूर्वक क्षपक मुनि का सन्मान करने लगा। इस तरह अनशन में तल्लीन हरिदत्त महामुनि को आए हुये विघ्न को भी अतिशय वाले उस मुनि ने शीघ्र रोक लिया। अथवा ऐसे अतिशय वाले मुनि भी कितने हो सकते हैं ? इसलिए प्रथम से ही विघ्न का विचार करके अनशन में उद्यम करना चाहिए। इस प्रकार आगम समुद्र के ज्वार या बाढ़ के समान मृत्यु के साथ लड़ते विजय पताका प्राप्त कराने में सफल हेतुभूत यह संवेगरंगशाला नामक आराधना के दस अन्तर द्वार वाला दूसरा गण संक्रम द्वार में पडिलेहणा नाम का आठवाँ अन्तर द्वार कहा है। अब विघ्नों का विचार करने पर भी जिसके बिना क्षपक मुनि अनशन को करने में समर्थ नहीं होता, उस पृच्छा द्वार को कहते हैं।

नौवाँ पृच्छा द्वार :—इसके पश्चात् स्थानिक आचार्य अपने गच्छ के सर्व मुनियों को बुलाकर कहे कि—यह महासात्त्विक तपस्वी तुम्हारी निश्चा में विशुद्ध आराधना की क्रिया को करने की इच्छा रखता है। यदि इस क्षेत्र में तपस्वी को समाधिजनक पानी आदि वस्तुएँ सुलभ हों और तुम इसकी अच्छी तरह सेवा देयावच्च कर सकते हो तो कहो, कि जिससे इस महानुभाव को स्वीकार करे। उसके बाद यदि वे सहर्ष ऐसा कहें कि—आहारादि वस्तुएँ यहाँ सुलभ हैं और हम भी इस विषय में तैयार हैं, अतः इस साधु को अनुग्रह करो। उस समय तपस्वी को स्वीकार करना चाहिए। इस तरह उसकी इष्ट सिद्धि बिघ्न रहित होती है और अल्प भी परस्पर असमाधि नहीं होती

है। इस प्रकार पृच्छा नियामिक आचार्य को, अन्य गच्छ में से आए हुए तपस्वी साधु को और साधुओं को सभी को गुणकारी होता है। और इस प्रकार नहीं पूछने से परस्पर अप्रीति एवं आहार पानी के अभाव होने पर तपस्वी को भी असमाधि इत्यादि बहुत दोष उत्पन्न होते हैं। इस तरह मोक्ष मार्ग के रथ समान और मृत्यु के साथ युद्ध में विजय पताका की प्राप्ति करवाने में सफल हेतुभूत यह संवेगरंगशाला नाम की आराधना के दस अन्तर द्वार वाला दूसरा गण संक्रमण द्वार में नौवाँ पृच्छा नाम का अन्तर द्वार कहा है। अब विधिपूर्वक पृच्छा करने पर भी उस क्षपक के आश्रित को उसके बाद सम्यक् करने का कर्तव्य सम्बन्धी प्रतिपृच्छा या प्रतीच्छा द्वार को कहता हूँ।

दसवाँ प्रतीच्छा द्वार :—पूर्व में जो विस्तार से कहा है उसे विधिपूर्वक आये हुए तपस्वी को उत्साह से आचार्य और साधु सर्व आदरपूर्वक स्वीकार करें। केवल यदि उस गच्छ में किसी प्रकार भी एक ही समय में दो तपस्वी आएँ, उसमें जिसने प्रथम से ही संलेखना की हो ऐसी काया हो वह श्री जैन वचन के अनुसार संथारे में रहे हुये शरीर को छोड़े और दूसरा उग्र प्रकार के तप से शरीर की संलेखना करे। परन्तु विधिपूर्वक भी तीसरा तपस्वी आया हो तो उसको निषेध करे, अन्यथा वैयावच्च कारक के अभाव में समाधि का नाश होता है। अथवा किसी तरह उसके योग्य भी श्रेष्ठ वैयावच्च करने वाले दूसरे अधिक साधु हों तो उनकी अनुमति से उसे भी स्वीकार करना चाहिए। और किसी कारण से यदि वह आहार का त्यागी प्रस्तुत अनशन कार्य को पूर्ण करने में समर्थ न हो, थक जाये और लोगों ने उसे जाना—देखा हो, तो उसके स्थान पर दूसरे संलेखना करने वाले साधु को रखना चाहिए तथा उन दोनों के बीच में सम्यग् रूप परदा रखना। उसके बाद जिन्होंने उसे पूर्व में सुना हो या देखा हो वे वन्दनार्थ आये तो अल्पमात्र दर्शन कराना चाहिए अन्यथा अश्रद्धा और शासन की निन्दा आदि दोष उत्पन्न होने का कारण बनता है। इस कारण से परदे के बाहर रहे उस साधु को वन्दन करवाना। इस विधि से गण संक्रमण करके ममत्व से मुक्त बने धीर आत्मा श्री जैनाज्ञा की आराधना करके दुःख का क्षय करता है। इस तरह श्री जैनचन्द्र सूरि जी रचित एवं मृत्यु के साथ युद्ध में विजय पताका की प्राप्ति करने में सफल कारणभूत यह संवेगरंगशाला नाम की आराधना के दस अन्तर द्वार वाला दूसरा गण संक्रमण द्वार में प्रतीच्छा नाम का दसवाँ अन्तर द्वार कहा है और यह कहने से चार मूल द्वार में परगण संक्रमण नाम का यह दूसरा द्वार भी पूर्ण ४८६४ श्लोक से हुआ।

॥ इति श्री संवेगरंगशाला द्वितीय द्वार ॥

卐 ॐ अहं नमः 卐

॥ नमोऽस्तु श्री जैन प्रवचनायः ॥

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानन्द प्रकाश चन्द्र सूरि गुरुभ्योः नमः

(३) तृतीय द्वार

ममत्व विच्छेदन द्वार

तीसरे द्वार का मंगलाचरण

दृष्ट्वे खेत्ते काले, भावाम्मि य सत्त्वहाधुयममत्तो ।

मयवं भवंऽतयारी निरंजणो जयइ वीरजिणो ॥ ४८६७ ॥

सर्व द्रव्यों में, क्षेत्र में, काल में और भाव में सर्वथा ममत्व के त्यागी, संसार का अन्त करने वाले और राग रहित निरंजन भगवन्त श्री महावीर परमात्मा विजयी हैं। जिस कारण से आत्मा का परिकर्म करने पर भी और परगण में संक्रमण करने पर भी ममत्व के विच्छेद नहीं करने वाले की आराधना नहीं होती है, इस कारण से गण संक्रमण को कहकर अब ममत्व विच्छेद के अधिकार को कहता हूँ। इसमें अनुक्रम से नौ अन्तर द्वार हैं। वह इस प्रकार हैं—(१) आलोचना करना, (२) शय्या, (३) संथारा, (४) निर्यापकता, (५) दर्शन, (६) हानि, (७) पञ्चक्खान, (८) क्षमापना, और (९) क्षामणा। इन्हें अनुक्रम से कहते हैं।

प्रथम आलोचना विधान द्वार :—जिस कारण से गुरुदेव ने स्वीकार किया हो, परन्तु तपस्वी आलोचना के बिना शुद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता है, इसलिए अब आलोचना विधान द्वार को कहता हूँ। गुरु महाराज विधिपूर्वक मधुर भाषा से सर्व गण समक्ष तपस्वी को कहे कि—हे महायश ! तूने शरीर की सम्यक् संलेखना की है, तूने श्रमण जीवन स्वीकार किया है, उन सर्व कर्तव्यों में तू रक्त है, शीलगुण की खान, गुरु वर्ग की चरण सेवा में सम्यक् तत्पर है, और निष्पुण्यक को दुर्लभ उत्तम श्रमण पदवी को तूने सम्यक् रूप से प्राप्त किया है, इसलिए अब अहंकार और ममकार को विशेषतया त्यागी बनकर तू अति दुर्जय भी इन्द्रिय, कषाय, गारब और परीषह रूपी मोह

सैन्य को अच्छी तरह पराजय करके दुर्ध्यान रूपी सन्ताप के अपशम भाव वाले हे सुविहित मुनिवर्य ! आत्मा के हित को चाहने वाला तू अणु मात्र भी दुष्कृत्य की विधिपूर्वक आलोचना कर । इस आलोचना करने के दस द्वार हैं । वह इस प्रकार हैं :—(१) आलोचना कितने समय में देनी ? (२) किसको देनी ? (३) किसको नहीं देनी ? (४) नहीं देने से कौन-से दोष लगते हैं ? (५) देने से कौन-सा गुण होता है ? (६) आलोचना किस तरह देनी ? (७) गुरु को क्या कहना ? (८) गुरु ने आलोचना किस तरह देनी ? (९) प्रायश्चित्त, और (१०) फल है, वह अनुक्रम से कहते हैं :—

१. आलोचना कब देनी ?—जिसके पैर में काँटा लगा हो, वह जैसे मार्ग में अप्रमत्त चलता है वैसे अप्रमत्त मन वाले मुनिराज प्रतिदिन सर्व कार्यों में यत्न करता है, फिर भी पाप का त्यागी होने पर भी कर्मोदय के दोष से किसी कार्य में किंचित् भी अतिचार लगे हों और उसकी शुद्धि की इच्छा करते मुनि, पक्षी, चौमासी आदि में अवश्य आलोचना दे तथा पूर्व में स्वीकार किया हुआ अभिग्रह को बतलाकर फिर नया अभिग्रह स्वीकार करे । इस तरह श्री जैन वचन के रहस्य को जानते हुये, संवेग में तत्पर अथवा प्रमादी साधु ने भी अन्तिम अनशन में तो अवश्य आलोचना देनी चाहिये । इस तरह जितने काल की आलोचना देनी हो उसे कहा है । अब किस प्रकार के आचार्य को आलोचना देनी उसे कहते हैं ।

२. आलोचना किसको देनी ?—जैसे लोगों में कुशल वैद्य के आगे रोग को प्रगट किया जाता है वैसे लोकोत्तर मोक्ष मार्ग में भी कुशल आचार्य श्री को भाव रोग भी बतलाना चाहिए । यहाँ पर जो भाव रोग को बतलाए उसी को ही कुशल जानना तथा दोष के प्रायश्चित्त आदि के जानकार, अत्यन्त अप्रमादी और सबके प्रति समदर्शित वाला हो, इसके दो भेद हैं प्रथम आगम व्यवहारी और दूसरा श्रुत व्यवहारी । उसमें आगम से छह प्रकार के कहे हैं, वह—(१) केवली, (२) मनः पर्यवज्ञानी, (३) अवधि ज्ञानी, (४) चौदह पूर्वी, (५) दस पूर्वी, और (६) नौ पूर्वी जानना । और श्रुत से जैनकल्प, महानिश्चय आदि को धारण करने वाले इसके अतिरिक्त आज्ञा व्यवहारी और धारण व्यवहारी को भी श्री जैनेश्वरों ने कारण से कुशल समान कहा है । जैसे विभंग रचित चिकित्सा शास्त्र के जानकार रोग के कारण को तथा उसे शान्त करने वाली औषध के जानकार विविध रोग वालों को भी विविध औषध को देता है और उसका उपयोग करने से रोगियों का तत्काल रोग शान्त होता है और

सदा शुद्ध सत्य शान्ति को प्राप्त करता है। यह उपमा यहाँ पर आलोचन के विषय में भी इसी तरह जानना कि वैद्य के सदृश श्री जैनेश्वर भगवान, रोगी समान साधु और रोग अर्थात् अपराध, औषध अर्थात् प्रायश्चित्त और आरोग्य अर्थात् शुद्ध चारित्र्य है। जैसे वैभंगि कृत वैद्यक शास्त्र द्वारा रोग को जानने वाले वैद्य चिकित्सा करते हैं वैसे पूर्वधर भी प्रायश्चित्त देते हैं। श्रुत व्यवहार में पाँच आचार के पालक, क्षमादि गुण गणयुक्त और जैनकल्प—महानिश्चय का जो धारक हो वही श्री जैन कथित प्रायश्चित्त द्वारा भव्य जीवात्मा को शुद्ध (दोष मुक्त) करते हैं। जंघा बल क्षीण होने से अन्य-अन्य देश में रहे हुए दोनों देश के आचार्यों को भी अगीतार्थ मुनि द्वारा गुप्त रूप में भेजकर उन्हें पूछवाकर आलोचना देना और शुद्ध प्रायश्चित्त देना यह विधि आज्ञा व्यवहार की है। गुरु महाराज ने अन्य को बारम्बार प्रायश्चित्त दिया हो, उन सर्व रहस्य को अवधारण (याद रखने वाला) करने वाला हो, उसे गुरुदेव ने अनुमति दी हो, वह साधु उसी तरह व्यवहार प्रायश्चित्त प्रदान करे उसे धारणा व्यवहार वाला जानना। निर्युक्ति पूर्वक सूत्रार्थ में प्रौढ़ता को धारण करने वाला जो हो, उस-उस काल की अपेक्षा से गीतार्थ हो, और जैनकल्प आदि धारण करने वाला हो, उसे भी इस विषय में योग्य जानना, इसे पांचवाँ जीत व्यवहारी जानना। इसके बिना शेष योग्य नहीं है। जैसे अज्ञानी वैद्य के पास गलत चिकित्सा कराने वाला रोगी मनुष्य की रोग वृद्धि होती है, मृत्यु का कारण बनता है, लोक में निन्दा होती है, और राजा की ओर से शिक्षा—दण्ड मिलता है, वैसे ही लोकोत्तर प्रायश्चित्त अधिकार में भी सर्व इस तरह घटित होता है, ऐसा जानना। जैसे कि मिथ्या आलोचना का प्रायश्चित्त प्रदान होता है, इससे उल्टे दोषों की वृद्धि होती है। इससे फिर चारित्र्य का अभाव हो जाता है और इससे यहाँ आराधना खत्म (मृत्यु) हो जाती है। श्री जैन वचन के विराधक को अन्य जन्मों में भी निन्दा, निन्दित स्थानों में उत्पत्ति और दोष संसार में रहने का दण्ड जानना। इस तरह उत्सर्ग से और अपवाद से आलोचना के योग्य कौन है, वह कहा है। अब वह आलोचना किसको देनी चाहिए उसे कहता हूँ।

३. आलोचना लेने वाला कंसा होता है ?—जाति, कुल, विनय और ज्ञान से युक्त हो तथा दर्शन और चारित्र्य को प्राप्त किया हो। क्षमावान, दान्त, माया रहित और पश्चात्ताप नहीं करने वाले आत्मा को आलोचना के करने में योग्य जानना। उसमें उत्तम जाति और कुल वाले प्रायः कर कभी भी अकार्य नहीं करते हैं और किसी समय पर करते हैं तो फिर जाति-कुल के गुण

से उसे सम्यग् रूप आलोचना करते हैं। शुद्ध स्वभाव वाले विनीत होने से आसन देना, वन्दना करना आदि गुण को विनयपूर्वक शुद्ध प्रकृति के कारण पाप को स्वयं यथार्थ रूप में आलोचना करता है। यदि ज्ञानयुक्त हो वह अपराध के घोर विपाकों को जानकर प्रसन्नता से आलोचना करता है और प्रसन्नता से प्रायश्चित्त स्वीकार करता है। दर्शन गुण वाला 'मैं दोष से सम्यग् शुद्ध हुआ' ऐसी श्रद्धा करता है, चारित्र्य वाला बार-बार उन दोषों का सेवन नहीं करता है तथा आलोचना किये बिना मेरा चारित्र्य शुद्ध नहीं होता है, ऐसा समझकर सम्यक् आलोचना करे। क्षमाशील आचार्य कठोर वचन कहे फिर भी उसे आवेश नहीं आता उसे यथार्थ गुरुदेव जो प्रायश्चित्त दे उसे पूर्ण करने में समर्थ बनता है, पाप को छुपाता नहीं है और पश्चाताप नहीं करने वाला, आलोचना करके फिर खिन्न नहीं होता है। इस कारण से संवेगी और अपने को कृतकृत्य मानने वाले साधु को आलोचना देना। प्रायश्चित्त लेने के बाद ऐसा चिन्तन करे कि—परलोक में इस दोष के उपाय अत्यन्त कठोर भोगने पड़ते हैं, इससे मैं धन्य हूँ कि जो मेरे उन दोषों को गुरुदेव इस जन्म में ही विशुद्ध करते हैं। अतः प्रायश्चित्त से निर्भय बना और पुनः दोषों को नहीं करने में उद्यमी बनूँ, परन्तु विपरीत नहीं बनूँ। क्योंकि ऐसे साधु को आलोचना देने के लिये अयोग्य कहा है। उसके भेद कहते हैं :—

तीसरे आलोचक के दस दोष :—(१) गुरु को भक्ति आदि से वश करके आलोचना करना, (२) अपनी कमजोरी बतलाकर आलोचना लेना, (३) जो दोष अन्य के देखा हो उसे कहे, (४) केवल बड़े दोषों को कहे, अथवा (५) मात्र सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करे, (६) गुप्त रूप कहे अथवा (७) बड़ी आवाज में आलोचना करे, (८) अनेक गुरुदेवों के पास आलोचना करे, (९) अव्यक्त गुरु के समक्ष आलोचना ले, अथवा (१०) अपने समान दोष सेवन करने वाले गुरु के पास में आलोचना ले। ये आलोचक के दस दोष हैं। इन्हें अनुक्रम से कहते हैं—

प्रथम दोष :—'मुझे प्रायश्चित्त अल्प दें' ऐसी भावना से प्रथम सेवा, वैयावच्च आदि से गुरु को वश या प्रसन्न कर फिर आलोचना ले जैसे कि 'थोड़ी आलोचना देने में मेरी सम्पूर्ण आलोचना हो जायेगी' ऐसा मानकर आचार्य श्री मुझे अनुग्रह करेंगे, ऐसी भावना से कोई आहार, पानी, उपकरण से या वन्दन से गुरु महाराज को आर्वाजित (आधीन) करके आलोचना दे, वह आलोचना का प्रथम दोष है। जैसे कोई जीने की इच्छा करने वाला पुरुष

अहित को भी हित मानता, जान-बूझकर जहर पीये वैसे ही यह आलोचना जानना ।

दूसरा दोष :—क्या यह गुरु कठोर प्रायश्चित्त देने वाले हैं अथवा अल्प देने वाले हैं ? इस तरह अनुमान से जानकारी करे अथवा मुझे निर्बल समझकर अल्प प्रायश्चित्त दें, इस भावना से वह गुरु महाराज को कहे कि—‘वह साधु भगवन्त को धन्य है कि जो गुरु ने दिए बहुत तप को अच्छी तरह उत्साह पूर्वक करते हैं, मैं निश्चय ही निर्बल हूँ, इसलिए तप करने में समर्थ नहीं हूँ । आप मेरी शक्ति को, गूदा को दुर्बलता को और अनारोग्य को जानते हैं, परन्तु आपके प्रभाव से इस प्रायश्चित्त को मैं बहुत मुश्किल से पूर्ण कर सकूंगा । इस तरह प्रथम गुरु महाराज के सामने कहकर उसके बाद शल्य सहित आलोचना करे । यह आलोचना का दूसरा दोष है । जैसे सुख का अर्थी परिणाम से अहितकर अपथ्य आहार को गुणकारी मानकर खाए वैसे ही शल्य-पूर्वक की यह आलोचना भी उसी प्रकार है ।

तीसरा दोष :—तप के भय से अथवा ‘यह साधु इतना अपराध वाला है’ इस तरह दूसरे जानते हैं ऐसा मानकर जो-जो दोष दूसरों ने देखा हो उन-उन दोषों की ही आलोचना ले, दूसरे जन नहीं जानते हों उसकी आलोचना नहीं ले । इस प्रकार मूढ़ मति वाला जो गुप्त दोषों को सर्वथा छुपाकर आलोचना करे । यह आलोचना का तीसरा दोष जानना । जैसे खुदते हुए कुएँ में ही कोई धूल से भरता है वैसे यह शल्य वाली विशुद्धि कर्म को बन्धन कराने वाली जानना ।

चौथा दोष :—जो प्रगट रूप में बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करे, सूक्ष्म की आलोचना नहीं करे अथवा केवल सूक्ष्म दोषों की आलोचना करे, परन्तु बड़े दोषों की आलोचना नहीं करे, वह उसमें इस तरह श्रेष्ठ माने कि—यदि सूक्ष्म-सूक्ष्म दोषों की आलोचना करता है, वह बड़े दोषों की क्यों नहीं आलोचना करे ? अथवा यदि बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करता है, वह सूक्ष्म दोषों की आलोचना क्यों नहीं करेगा ? इस तरह अन्य समझेंगे, इससे प्रभाव पड़ेगा । ऐसा मानकर जहाँ-जहाँ उसके व्रत का भंग हुआ हो, वहाँ-वहाँ बड़े दोषों की आलोचना करे और सूक्ष्म दोषों को गुप्त रखे । यह चौथा आलोचना का दोष कहा है । जैसे काँसे की जाली अन्दर से मैली और बाहर से उज्ज्वल रहती है वैसे इस आत्मा में सशल्यत्व के दोष से यह आलोचना बाहर से लोगों

को आकर्षण करने वाली, निर्दोष सिद्ध करने वाली है, परन्तु अन्दर काली श्याम परिणाम वाली है।

पांचवाँ दोष :—भय से, अभिमान से अथवा माया से जो केवल सूक्ष्म या सामान्य दोषों की आलोचना करे और बड़े महा दोषों को छुपाये वह आलोचना का पांचवाँ दोष होता है। जैसे पीतल के कंड़े के ऊपर सोने का पानी चढ़ाये हुये के समान, अथवा कृत्रिम सोने का कंड़ा जिसके अन्दर लाख भरा हुआ कड़ा हो, उसके समान यह आलोचना भी जानना।

छठा दोष :—प्रथम, दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें व्रत में यदि किसी ने मूल गुण और उत्तर गुण की विराधना की हो तो उसे कितने तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है ? इस तरह गुप्त रूप में पूछकर, आलोचना लिए बिना ही अपने आप उसी तरह ही प्रायश्चित्त करे, वह आलोचना का छठा दोष जानना अथवा आलोचना करते जिस तरह स्वयं ही सुने और अन्य नहीं सुने, इस तरह गुप्त आलोचना करे, इस तरह करने से भी छठा दोष लगता है। जो अपने दोषों को कहे बिना ही शुद्धि की इच्छा करता है, वह मृग वृष्णा के जल समान अथवा चन्द्र के आस-पास होने वाला जल का कुंडाला (तुषारा-वृत्) में से भोजन की इच्छा रखता है। जैसे उससे इच्छा पूर्ण नहीं वैसे अपने दोष कहे बिना शुद्धि नहीं होती है।

सातवाँ दोष :—पाक्षिक, चौमासी और संवत्सरी इन शुद्धि करने के दिनों में दूसरे नहीं सुनेंगे ऐसा सोचकर कोलाहल में दोषों को कहे, वह आलोचना का सातवाँ दोष जानना। उसकी यह आलोचना रेहट की घड़ी के समान खाली होकर फिर भरने वाली सद्दृश है, शुद्धि करने पर भी पुनः वैसे दोष लगाने हैं अथवा समूह में की हुई छींक निष्फल जाती है वैसे उसकी शुद्धि भी निष्फल ही फूटे घड़े के समान जिसमें पानी नहीं रहे वैसे इस आलोचना का फल उसमें टिक नहीं सकता है।

आठवाँ दोष :—एक आचार्य के पास आलोचना लेकर जो फिर भी उसी ही दोषों को दूसरे आचार्य श्री के पास आलोचना करे उसे बहुजन नाम का आठवाँ दोष कहा है। गुरु महाराज के समक्ष आलोचना करके उनके पास से प्रायश्चित्त को स्वीकार करके भी उसकी श्रद्धा नहीं करता और अन्य-अन्य को पूछे वह आठवाँ दोष लगता है। अन्दर शल्य (वेदना) रह जाने पर फोड़ा खुशक होने के समान फिर रोगी को भयंकर वेदनाओं से दुःख होता है वैसे यह प्रायश्चित्त भी उसके समान दुःखदायी होता है।

नौवाँ दोष :—जो गुरु महाराज आलोचना के योग्य श्रुत से अथवा पर्याय से अव्यक्त—अधूरे हों उसे अपने दोष कहने वाले को स्पष्ट आलोचना का नौवाँ दोष लगता है। जैसे कृत्रिम सोना अथवा दुर्जन की मैत्री करना वह अन्त में निश्चय ही अहितकर होता है वैसे ही यह प्रायश्चित्त लाभदायक नहीं होता है।

दसवाँ दोष :—आलोचना के समान ही उसी अपराधों को जिस आचार्य ने सेवन किया हो उसे तत्सेवी कहते हैं। इससे आलोचना करने वाला ऐसा माने कि 'यह मेरे समान दोष वाला है, इससे मुझे बहुत बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देगा ? इस तरह मोह से संकिलिष्ट भाव वाला ऐसे गुरु के पास आलोचना ले, वह आलोचना का दसवाँ दोष है। जैसे कोई मूढ़ात्मा, रुधिर से बिगड़ा हुआ वस्त्र की शुद्धि के लिए उसी रुधिर से ही साफ करे, उसके समान यह दोष शुद्धि जानना। जैसे दुष्कर तप को करने वाला हो, परन्तु जैन शासन का विरोधी हो, उसकी किसी प्रकार सिद्धि नहीं होती है। इसी तरह यह शुद्धि भी दोष युक्त अशुद्ध जानना।

इस तरह इन दसों दोषों का त्याग कर भय, लज्जा को और मान, माया को भी दूर करके आराधक तपस्वी शुद्ध आलोचना को करे। जो नटकार के समान चंचलता को गृहस्थ की भाषा को गूंगत्व और जोर की आवाज को छोड़कर गुरुदेव के सम्मुख रहकर विधिपूर्वक सम्यग् आलोचना करे, वह धन्य है। इस तरह आलोचना देने वाला कैसा होता है वह दुष्ट आलोचक का स्वरूप सहित संक्षेप में कहा है। अब आलोचना नहीं देने से जो दोष लगता है, उसे कहते हैं।

४. आलोचना नहीं देने से होने वाले दोष :— लज्जा, गारव और बहु-श्रुत ज्ञान के अभिमान से भी जो अपना दुश्चरित्र (दोष) को गुरुदेव के सन्मुख नहीं कहते हैं, वे निश्चय आराधक नहीं होते हैं। यदि थोड़ी सी भी भूल हो जाये तो भी गुरु महाराज को कहने में लज्जा नहीं करनी चाहिए। लज्जा तो हमेशा केवल अकार्य करने में करनी चाहिए। इस विषय में एक युवराज का उदाहरण है :—एक युवराज मैथुन से रोगी बना था, उसने लज्जा से वैद्य को नहीं कहा, इससे रोग की वृद्धि हुई। भोग का अभाव वाला बना और आखिर वह मर गया। इसका उपनय इस प्रकार है :—युवराज समान साधु है, उसके मैथुन के रोगों के समान अपराध नहीं कहने के सट्टा आलोचना रूपी औषध और वैद्य समान आचार्य जानना। लज्जा से रोग की वृद्धि समान यहाँ

असंयम की वृद्धि है, भोग के अभाव तुल्य देव मनुष्य के भोगों का अभाव और बार-बार मृत्यु रूपी यहाँ संसार समझना । अथवा लज्जा के आघीन अपराध को सम्यक् रूप नहीं कहने से दोष होता है और लज्जा को छोड़कर अपराध कहने से गुण प्रगट होता है । इसे समझाने के लिये ब्राह्मण पुत्र का दृष्टान्त कहते हैं ।

लज्जा से दोष छुपाने वाले ब्राह्मण पुत्र की कथा

उद्यान भवन गोल बावड़ी, देव मन्दिर, चतुष्कोन बावड़ी और सरोवर से रमणीय, एवं समग्र जगत में प्रसिद्ध पाटलीपुत्र नामक नगर में वेद और पुराण का जानकार, ब्राह्मणों में मुख्य तथा सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्ति करने वाला, धर्म में उद्यमशील बुद्धि वाला कपिल नाम का ब्राह्मण था । वह अपनी बुद्धि बल से भव स्वरूप को मदोन्मत्त स्त्री के कटाक्ष समान नाशवत् यौवन के लावण्य को वायु से उड़ें हुआ, आक की रुई समान चपल, तथा विषय सुख को किपाक के फल समान प्रारम्भ में मधुर और परिणाम में दुःखद मानकर तथा सारे स्वजन के सम्बन्धों को भी अति मजबूत बन्धन समान जानकर, घर का राग छोड़कर, एक जंगल की भयानक झाड़ियों वाले प्रदेश में वह तापस दीक्षा स्वीकार कर रहा था । और उस शास्त्र के कथन अनुसार विधिपूर्वक विविध तपस्या तथा फल, मूलकंद आदि से तापस के योग्य जीवन निर्वाह करने लगा । एक दिन वह स्नान के लिये नदी किनारे गया और वहाँ उसने मछली के मांस को खाते पापी मछुए को देखा, कि जिससे उसके पूर्व की पापी प्रकृति से और जीभ इन्द्रिय की प्रबलता से मांस भक्षण की तीव्र इच्छा प्रगट हुई । फिर उसने उनके पास से उस मांस की याचना कर गले तक खाया और उसके खाने से अजीर्ण के दोष से उसे भयंकर बुखार चढ़ा । इससे चिकित्सा के लिए नगर में से कुशल वैद्य को बुलाया और वैद्य ने उससे पूछा कि—हे भद्र ! पहले तूने क्या खाया है ?

लज्जा से उसने सत्य नहीं कहा, परन्तु उसने कहा कि—मैंने वह खाया है जो तापस कंद, मूल आदि खाते हैं । ऐसा कहने पर वैद्य ने 'बुखार दात दोष से उत्पन्न हुआ है' ऐसा मानकर उसको शान्ति करने वाली क्रिया की, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ । वैद्य ने फिर पूछा, तब भी उसने लज्जा से वैसे ही कहा और वैद्य ने भी वही क्रिया—दवा को विशेष रूप से किया । फिर उल्टे, उपचार से वेदना बढ़ गई । अत्यन्त पीड़ा और मृत्यु के भय से कम्पते शरीर वाले, उसने लज्जा छोड़कर एकान्त में वैद्य को मांस खाने का वृत्तान्त

मूल से कहा, तब वैद्य ने कहा कि—हे मूढ़ ! इतने दिन इस तरह आत्मा को सन्ताप में क्यों रखा ? अब भी हे भद्र ! तूने श्रेष्ठ ही कहा है कि रोग का कारण जाना है । तूने अब डरना नहीं, अब मैं ऐसा करूँगा जिससे तू निरोगी हो जायेगा । उसके बाद उसने योग्य औषध का प्रयोग करके उसे स्वस्थ कर दिया । इस तरह इस दृष्टान्त से लज्जा को छोड़कर जिस दोष को जिस तरह सेवन किया उसे उसी तरह कहने वाले परम आरोग्य—मुक्ति को प्राप्त करता है । गारव (बड़प्पन) का पक्ष नहीं करना चाहिए, परन्तु चारित्र्य का पक्ष करना चाहिए, क्योंकि गारव से रहित स्थिर चारित्र्य वाला मुनि मोक्ष को प्राप्त करता है । यह मेरा है—ऋद्धि आदि सुख में आसक्त नहीं रहे जो नाश होने वाले भय से दुर्गति का मूलभूत ऋद्धि आदि गारव में आसक्त होता है, और अपने अपराध को नहीं स्वीकारता, उसकी आलोचना नहीं करता, वह जड़ मनुष्य अस्थिर काँचमणि को परमप्रिय स्वीकार करके शाश्वत निरूपम सुख को देने वाले चिन्तामणी रत्न का अपमान करता है । इसलिए गारव का त्यागी, इन्द्रियों को जीतने वाला, कषाय से रहित और राग द्वेष से मुक्त होकर आलोचना करनी चाहिए ।

आलोचना परसाक्षी में करे :—मैं जिस तरह प्रायश्चित्त अधिकार का सम्यग् रूप जानता हूँ, वह इस तरह दूसरा कौन जानता है ? अथवा मेरे से अधिक ज्ञानवान दूसरा कौन है ? इस प्रकार अभिमान से जो अपने दुश्चरित्र को दूसरे को नहीं कहे, वह पापी प्रमाद से सम्यग् औषध को नहीं करने वाला रोगी वैद्य के समान आराधना रूपी आरोग्यता को नहीं प्राप्त करता है । जैसे कोई रोगी वैद्य ज्ञान के गर्व से अपने रोग को नहीं कहते, स्वयं सैंकड़ों औषध करने पर भी रोग की पीड़ा से मर जाता है । उसी तरह जो अपने अपराध रूपी रोग को दूसरे को सम्यग् रूपी नहीं कहता, वह श्वास के जीते हुए अथवा ज्ञान से ज्ञानी होने पर नाश होता है । क्योंकि व्यवहार में अच्छे कुशल छत्तीस गुण वाले आचार्य को भी यह आलोचना सदा परसाक्षी ही करनी चाहिए । आठ-आठ भेद वाला दर्शन, ज्ञान, चारित्र्याचारों से और बारह प्रकार के तप से युक्त, इस तरह आचार्य में छत्तीस गुण होते हैं अथवा 'वयच्छक' आदि गाथा में कहा है अर्थात् छह व्रतों का पालक, छह काया का रक्षक तथा अकल्प्य वस्तु, गृहस्थ का पात्र, पत्यंक, निषाधा, स्नान और विभूषण के त्यागी इस तरह अदृढारह गुण तथा पंचविध आचार का निरतिचार पालन करे, पालन करावे और यथोक्त शास्त्रानुसार उपदेश दे । इस तरह आचारवान् आदि आठ तथा दस प्रकार के प्रायश्चित्त के जानकार इस तरह

भी छत्तीस गुण होते हैं। तथा आठ प्रवचन माता और दस प्रकार का यति धर्म यह अट्ठारह एवं छह व्रतों का पालन, छह काया का रक्षण आदि ऊपर कहे अनुसार अट्ठारह भेद मिलाकर भी छत्तीस गुण होते हैं। अथवा आचारवान् आदि आठ गुण, अचेलकत्व औदेशिक त्याग आदि दस प्रकार का, स्थित कल्प बारह प्रकार का तप और छह आवश्यक इस तरह भी छत्तीस गुण होते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार कहे हुये छत्तीस गुणों के समूह से शोभित आचार्य को भी मुक्ति के सुख के लिए आलोचना सदा परसाक्षी से ही करनी चाहिये। जैसे कुशल वैद्य भी अपना रोग दूसरे वैद्य को कहता है और दूसरा वैद्य भी सुनकर उस रोगी वैद्य की श्रेष्ठ चिकित्सा को प्रारम्भ करता है वैसे प्रायश्चित्त विधि को अच्छी तरह जानकार स्वयं जानकार हो फिर भी अपने दोषों को अन्य गुरु को अति प्रगट रूप कहना चाहिए। तथा जो अन्य आलोचनाचार्य होने पर उन्होंने आलोचना दिये बिना ही वे आलोचना नहीं देते, ऐसा मानकर यदि अपने आप आलोचना—प्रायश्चित्त करता है वह भी आराधक नहीं है। इस कारण से ही प्रायश्चित्त के लिए गीतार्थ की खोज करे, क्षेत्र से उत्कृष्ट सात सौ योजन तक और काल से बारह वर्ष तक करनी चाहिए। इस तरह आलोचना नहीं करने से होने वाले दोषों को संक्षेप में कहा है। अब वह प्रायश्चित्त करने से जो गुण प्रगट होते हैं उसे कहता हूँ।

५. आलोचना से गुण प्रगट :—(१) लघुता, (२) प्रसन्नता, (३) स्व-पर दोष निवृत्ति, (४) माया का त्याग, (५) आत्मा की शुद्धि, (६) दुष्कर क्रिया, (७) वित्त की प्राप्ति, और (८) निश्चल्यता। ये आठ गुण आलोचना करने से प्रगट होते हैं, इसे अनुक्रम से कहता हूँ—

१ लघुता :—यहाँ पर कर्म के समूह को भार स्वरूप जानना क्योंकि वह जीवों को थकाता है, पराजित करता है, उस भार से थका हुआ जीव शिव गति में जाने में असमर्थ हो जाता है, संकलेश को छोड़कर शुद्ध भाव से दोषों की आलोचना करने से बार-बार में पूर्व में एकत्रित किये कर्म-बन्धन को वह महान भार को खत्म करता है, और ऐसा होने से जीव को भाव से शिव गति का कारणभूत चारित्र्य गुण की अपेक्षा द्वारा परमार्थ से महान कर्मों की लघुता प्राप्त करता है। अर्थात् वह आत्मा कर्मों से हल्का बन जाता है।

२. प्रसन्नता :—शुद्ध स्वभाव वाला मुनि जैसे-जैसे दोषों को सम्यग् उपयोगपूर्वक गुरु महाराज को बतलाता है वैसे-वैसे नया-नया संवेग रूप श्रद्धा से प्रसन्न होता है 'मुझे यह दुर्लभ उत्तम वैद्य मिला है, भाव रोग में ऐसा वैद्य

मिलना दुर्लभ है, व्याधि को बढ़ाने वाला, लज्जा आदि अधम दोष भयंकर है, इसलिए धन्य इस गुरुदेव के चरण-कमल के पास लज्जादि को छोड़कर सम्यग् आलोचना कहकर अप्रमत्त दशा में संसार के दुःखों की नाशक क्रिया अनशन को स्वीकार करूँगा ।' इस तरह शुभ भावपूर्वक आलोचना करता है और वह शुभ भाव वाले को 'मैं धन्य हूँ कि जो मैंने इस संसार रूपी अटवी में आत्मा को शुद्ध किया है' ऐसी प्रसन्नता प्रगट होती है ।

३. स्व पर दोष निवृत्ति :—शुद्ध हुई आत्मा पूज्यों के चरण-कमल के प्रभाव से, लज्जा के कारण और प्रायश्चित्त के भय से पुनः अपराध नहीं करे । इस तरह आत्मा स्वयं दोषों से रुकता है और इसी तरह उद्यम करते व उस उत्तम साधु को देखकर पाप के भय से डरते हुए दूसरे भी अकार्य नहीं करते, केवल संयम के कार्यों को ही करते हैं । इस तरह, अपने और दूसरे के दोषों की निवृत्ति होने से स्व और पर उपकार होता है, और स्व पर उपकार से अत्यन्त महान् दूसरा कोई गुण स्थानक नहीं है ।

४-५. माया त्याग और शुद्धि :—श्री वीतराग भगवन्तों ने आलोचना करने से भवभय का नाशक और परम निवृत्ति का कारण माया त्याग और शुद्धि कहा है । माया रहित सरल जीव की शुद्धि होती है, शुद्ध आत्मा को धर्म स्थिर होता है और इससे घी से सिंचन किए अग्नि के समान परम निर्वाण (परम तेज अथवा पवित्रता) को प्राप्त करता है । परन्तु मायसि क्लिष्ट चित्त वाला बहुत प्रमादी जीव पाप कार्यों का कारणभूत अनेक क्लिष्ट कर्मों का ही बन्धन करता है । और यहाँ पर उस अति कर्मों को भोगते जो परिणाम आते हैं वह प्रायः संक्लेश कारक पाप कर्म का कारक बनता है । इस तरह क्लिष्ट चित्त से पाप कर्मों का बन्धन और उसे भोगते हुये क्लिष्ट चित्त होता है, उसमें पुनः पाप कर्म का बन्धन है, इस तरह परस्पर कार्य कारण रूप में संसार की वृद्धि होती है और संसार बढ़ने से अनेक प्रकार के दुःख प्रगट होते हैं । इस प्रकार माया ही सर्व संक्लेशों—दुःखों का मूल मानना वह योग्य है । आलोचना माया का उन्मूलन होता है, इससे आर्जव—सरलता प्रगट होती है और आलोचना से जीव की शुद्धि होती है, इन दो कारणों से आलोचना करनी चाहिए ।

६. दुष्कर क्रिया :—यह आलोचना करना वह अति दुष्कर है, क्योंकि—कर्म के दोष से जीव प्रमाद से दोषों का सेवन सुखपूर्वक करता है, और यथा-स्थित आलोचना करते उसे दुःख होता है । अतः कर्म के दोष से सैकड़ों, हजारों

अनेक भव में बार-बार सेवन करता हुआ महा बलवान् लज्जा, अभिमान आदि का त्याग कर भी जो आलोचना करता है, वह जगत में दुष्कर कारक है, जो इस तरह सम्यग् प्रकार से आलोचना करता है, वही महात्मा ही सैकड़ों भवों के दुःखों का नाश करने वाली निष्कलंक—शुद्ध आराधना को भी प्राप्त कर सकता है ।

७. विनय :—सम्यग् आलोचना करने से श्री तीर्थंकर भगवन्त की आज्ञा का पालन करने से आज्ञा विनय होता है, गुरुदेवों का विनय होता है और ज्ञानादि सफल होने से वह गुण भी विनय होता है । कहा है कि—विनय यह शासन का मूल है, अतः संयत विनीत होते हैं, 'विनय रहित को धर्म की प्राप्ति कहाँ से और तप भी कहाँ से होता है ?' क्योंकि कहा है कि—चातुरंत संसार से मुक्ति के लिए आठ प्रकार के कर्मों को विनय ही दूर करता है, इस-लिए संसार मुक्त श्री अरिहंत भगवान ने विनय ही श्रेष्ठ कहा है ।

८. निःशल्यता :—आलोचना करने से ही साधु अवश्य शल्य रहित होते अन्यथा नहीं होते हैं, इस कारण से आलोचना का गुण निःशल्यता है । शल्य वाला निश्चय शुद्ध नहीं होता है, क्योंकि श्री वीतराग के शासन में कहा है कि सर्व शल्यों का उद्धार करने वाला ही जीव क्लेशों का नाश करके शुद्ध होता है । इसलिए गारव रहित आत्मा नये-नये जन्म रूप लता का मूलभूत मिथ्या-दर्शन शल्य, माया शल्य और नियाण शल्य को मूल में से उखाड़ता है, जैसे भार वाहक मजदूर भार को उतारकर अति हल्का होता है, वैसे गुरुदेव के पास में दुष्कृत्यों की आलोचना और निन्दा करके सर्व शल्यों का नाश करने वाला साधु कर्म के भार को उतार कर अति हल्का होता है । इस तरह आलोचना के आठ गुण संक्षेप से कहा । इस तरह यह पांचवाँ अन्तर द्वार जानना । अब यह आलोचना किस तरह दे, उसे कहते हैं ।

९. आलोचना किस तरह दे ?—आलोचना में इस तरह सात मर्यादा हैं—(१) व्याक्षेप चित्त की चंचलता को छोड़कर, (२) प्रशस्त द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव का योग प्राप्त कर, (३) प्रशस्त दिशा सन्मुख रखकर, (४) विनय द्वारा, (५) सरलता भाव से, (६) आसेवन आदि क्रम से, और (७) छह कान के बीच आलोचना करनी चाहिए । उसे क्रमसर कहते हैं :—

१. अव्याक्षिप्त मन से :—इसमें अव्याक्षिप्त साधु नित्यमेव संयम स्थान के बिना अन्य विषय में व्याक्षेप रहित अनासक्त रहना चाहिये और आलोचना लेने में तो सविशेष व्याक्षेप रहित रहना चाहिए । दो अथवा तीन दिन में

आलोचना देनी चाहिए, उस कारण से सो कर या जागते अपराध को याद करके सम्यग् रूप से मन में स्थिर करो, फिर ऋजुता—सरलता को प्राप्त करके, उन सब दोषों को तीन बार याद करके लेश्या से विशुद्ध होते शल्य के उद्धार के लिए श्री गुरुदेव के पास आए और पुनः संवेग को प्राप्त करते उसी तरह सम्यग् दोषों को कहे कि—जिस प्रकार परिणाम की विशिष्टता से अन्य जन्मों में किए हुए भी कर्म छेदन-भेदन हो जाए।

२. प्रशस्त द्रव्यादि का योग :—द्रव्य क्षेत्र आदि चारों भाव हैं। वह प्रत्येक प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह दो-दो भेद हैं, उसमें से अप्रशस्त को छोड़कर प्रशस्त में आलोचना करनी चाहिए। उसमें द्रव्य के अन्दर अमनोस—तुच्छ धान्य का ढेर और तुच्छ वृक्ष यह अप्रशस्त द्रव्य हैं, क्षेत्र में—गिरे हुए अथवा जला हुआ घर, उखड़ भूमि आदि स्थान, यह अप्रशस्त क्षेत्र हैं, काल में—दग्धातिथि, अमावस्या और दोनों पक्ष की अष्टमी, नौवीं, छठी, चतुर्थी तथा द्वादशी ये तिथियाँ तथा संध्यागत, रविगत आदि दुष्ट नक्षत्र और अशुभ योग ये सब अप्रशस्त काल जानना, भाव में—राग-द्वेष अथवा प्रमाद मोह आदि अप्रशस्त भाव जानना। इसे स्वदोष समझना, इन अप्रशस्त द्रव्यादि में आलोचना नहीं करना, परन्तु उसके प्रतिपक्षी प्रशस्त द्रव्यादि में करना, वह प्रशस्त द्रव्य में—सुवर्ण आदि अथवा क्षीर वृक्ष आदि के योग में आलोचना करना। प्रशस्त क्षेत्र में—गल्ले के क्षेत्र, चावल के क्षेत्र या श्री जैन मन्दिरादि हों वहाँ पर या जोर से आवाज करते या प्रदक्षिणावर्त वाले—जल के स्थान में आलोचना करना, प्रशस्त काल में—पूर्व में कहे उससे अन्य शेष तिथियाँ, नक्षत्र करण योग आदि में आलोचना करना और प्रशस्त भाव में—मन आदि की प्रसन्नता में और ग्रह आदि उच्च स्थान में हो अथवा प्रशस्त भावजनक सौम्य ग्रह से युक्त है पवित्र या पूर्ण लग्न में वर्तन हो, इस तरह शुभ द्रव्यादि का समुदाय वह इस विषय में प्रशस्त योग जानना।

३. प्रशस्त दिशा :—पूर्व उत्तर अथवा श्री जैनेश्वर आदि से लेकर नौ-पूर्वधर तक ज्ञानी महाराज जिस दिशा में विचरते हों अथवा जिस-जिस दिशा में श्री जैन मन्दिर हों वह दिशा उत्तम जानना, उसमें भी यदि आचार्य महाराज पूर्वाभिमुख बैठे हों तो आलोचक उत्तराभिमुख दाहिने ओर, और यदि आचार्य उत्तराभिमुख हों तो आलोचक पूर्वाभिमुख बायें ओर खड़े रहें। इस तरह परोपकार करने में श्रेष्ठ मन वाले आचार्य श्री पूर्व अथवा उत्तर सन्मुख या चैत्य सन्मुख सुखपूर्वक बैठकर आलोचना को सुने।

४. विनयपूर्वक :—भक्ति एवं अति मानपूर्वक गुरु महाराज को उचित आसन देकर, वन्दन नमस्कार करके, दो हाथ जोड़कर, सन्मुख खड़े रहकर, संवेग रंग से निर्वेदी और विषयों से विरागी, वह महासात्त्विक आलोचक उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आसन में और यदि बवासीर आदि रोग से पीड़ित हो या अनेक दोष सेवन किये हों और उसे कहने में अधिक समय लगने वाला हो तो गुरु महाराज की आज्ञा लेकर आसन पर बैठकर भक्ति और विनय से मस्तक नमाकर सर्व दोषों को यथार्थ स्वरूप निवेदन करे ।

५. ऋजु भावपूर्वक :—जैसे बालक बोलते समय कार्य अथवा अकार्य को जैसे देखा हो उसके अनुसार सरल भाव से बोलता है वैसे भाया और अभिमान रहित आलोचक बालक के समान सरल स्वभाव से दोषों की आलोचना करे ।

६. क्रमपूर्वक :—इसमें आसेवना क्रम और आलोचना क्रम दो प्रकार का क्रम है । उसमें आसेवना क्रम अर्थात् जो दोष जिस क्रम से सेवन किया हो उसी क्रम से आलोचना करे । आलोचना क्रम में बड़े-बड़े अपराधों की बाद में आलोचना करे 'पंचक' आदि से प्रायश्चित्त के क्रम से प्रथम छोटे दोष को कहना फिर जैसे-जैसे प्रायश्चित्त की वृद्धि हो उस-उस क्रम से आकुटिल द्वारा सेवन किया हो, कपट से सेवन किया हो, प्रमाद से सेवन किया हो, कल्पना से सेवन किया हो, जयणापूर्वक सेवन किया हो, अथवा अवश्य करने योग्य, कारण प्राप्त होने पर जयणा से सेवन किया हो उन-उन सर्व दोषों को यथास्थित जैसा सेवन किया हो उस प्रकार आलोचना करे ।

७. छह श्रवण :—इसमें साधु को आचार्य और आलोचक इन दोनों के चार कान और साध्वी के कान जानना । वह इस तरह गुरु महाराज यदि वृद्ध हों तो अकेले और वृद्ध साध्वी हों, फिर भी दूसरी एक साध्वी को साथ में रखे । इस तरह तीन मिलकर छह कान में आलोचना करनी चाहिए और गुरु महाराज यदि युवा न हों, दूसरे साधु को रखकर और यदि साध्वी तरुण हों तो वृद्ध साध्वी को साथ रखकर, इस तरह दो साधु और दो साध्वी, इस प्रकार चार के समक्ष आठ कान में आलोचना देनी चाहिए । इस प्रकार आलोचना जिस तरह देनी, उस तरह संक्षेप से कहा है, अब आलोचना में जो अनेक प्रकार के दोषों की आलोचना करनी चाहिये, वह कहता हूँ ।

७. क्या-क्या आलोचना करे ?—यह आलोचना ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्य इस प्रकार पाँच प्रकार के आचार में विरुद्ध प्रवृत्ति हो उसे

जानना । इसमें समस्त पदार्थों को प्रकाश करने में (जानने में) शरद ऋतु के सूर्य समान है । अतिशयों का भण्डार और इससे तीन जगत से पूजनीय भगवन्त ज्ञान का काल विनय आदि आचार से विरुद्ध प्रवृत्ति करने से आत्म सुख में विघ्नभूत होता है, इसमें कोई भी अतिचार लगा हो उसे सम्यग् रूप आलोचना करनी चाहिए । इसी तरह सम्यग् ज्ञान रूपी लक्ष्मी के विस्तार को धारण करने वाले पुरुष सिंह, ज्ञानी पुरुष तथा ज्ञान के आधारभूत पुस्तक, पट, पटड़ी आदि उपकरणों को पैर आदि के संघट्टन द्वारा, निन्दा करने से अथवा अविनय करने द्वारा जो अतिचार लगा हो उसकी भी आलोचना करनी चाहिए ।

इसी तरह निश्चय ही दर्शनाचार में भी किसी तरह प्रमाद के दोष से शंकाकांक्षा आदि अकरणीय कार्य को करने से तथा प्रशंसा आदि कार्य को नहीं करने से, एवं लोक प्रसिद्ध प्रवचन आदि शासन प्रभावक विशिष्ट पुरुष प्रति उचित व्यवहार नहीं करने से तथा सम्यक्त्व का निमित्त भूत श्री जैन मन्दिर, जैन प्रतिमा आदि की एवं श्री अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, तपस्वी और उत्तम श्रावक, श्राविकाएँ की अति आशातना अथवा अवज्ञा निन्दा आदि करने से जो अतिचार लगा हो वह भी निश्चय आलोचना के योग्य जानना ।

मूल गुणरूप और उत्तर गुणरूप तथा अष्ट प्रवचन माता रूप चारित्र्याचार में भी जो कोई अतिचार सेवन किया हो उसकी आलोचना करना, उसमें मूल गुण में छह काय जीवों का संघट्टन (स्पर्श) परिताप तथा विविध प्रकार की पीड़ा आदि करने से प्रथम प्राणातिशय विरमण व्रत में अतिचार लगता है । इस तरह दूसरे व्रत में भी क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य अथवा भय से तथा विध असत्य वचन बोलने से अतिचार लगता है । मालिक के दिये बिना जो सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्य का हरण करना वह तीसरे व्रत सम्बन्धी अतिचार लगता है । देव, तिर्यंच या मनुष्य की स्त्रियों के भोग की मन से अभिलाषा करना, वचन से प्रार्थना करना और काया से स्पर्श आदि से लगे हुये चौथे व्रत के अतिचार को आलोचना के योग्य जानना । तथा अन्तिम पाँचवें व्रत में देश, कुल अथवा गृहस्थ में तथा अतिरिक्त—अधिक वस्तु में ममत्व स्वरूप जो अतिचार लगा हो वह भी आलोचना करने योग्य जानना । दिन में लाया हुआ रात में, रात में लाया हुआ दिन में, रात में लाया हुआ रात में और पूर्व दिन में लाया हुआ दूसरे दिन । इस तरह चार प्रकार रात्रि भोजन के अन्दर जो अतिचार सेवन किया हो वह भी सम्यग् रूप से सद्गुरु देव के समीप में आलोचना करने योग्य जानना ।

उत्तर गुणरूप चारित्र में भी आहारादि पिंड विशुद्धि प्राप्त में अथवा साधु की बारह पडिमाओं में, बारह भावनाओं में तथा द्रव्यादि अभिग्रह में, प्रतिलेखना में, प्रमार्जन में, पात्र में, उपधि में अथवा बैठते-उठते आदि में जो कोई अतिचार सेवन किया हो वह भी निश्चय आलोचना करने योग्य जानना । इर्या समिति में उपयोग बिना चलने-फिरने से, भाषा समिति में सावध या अवधारणी भाषा बोलने से, एषणा समिति में अशुद्ध आहार पानी आदि लेने से, चौथी समिति में पडिलेहन—प्रमार्जन बिना के पात्र, उपकरण आदि लेने-रखने से, और परिष्ठायनिका समिति में उच्चार, प्रश्रवण आदि को अशुद्ध भूमि में वैसे तैसे परठने से, इस तरह पाँच समिति में तथा तीन गुप्ति में प्रमाद के कारण जो कोई भी अतिचार लगा हो उन सबको भी आलोचना करने योग्य जानना । इस प्रकार रागादि के वश होकर विवेक नष्ट होने से अथवा अशुभ लेश्या से भी चारित्र को जिस प्रकार दूषित किया हो उसकी हमेशा आलोचना करनी चाहिए ।

इसी प्रकार अनशन आदि छह प्रकार के बाह्य तप में तथा प्रायश्चित्त आदि छह भेद वाला अभ्यन्तर तप में शक्ति होने पर भी प्रमाद के कारण जो अनाचरण किया हो वह अतिचार भी अवश्य आलोचना करने योग्य है ।

वीर्याचार में शिवगति के कारणभूत कार्यों में अपना वीर्य—पराक्रम को छुपाने से जो अतिचार का सेवन किया हो उसे भी अवश्य आलोचना करने योग्य जानना ।

इस तरह राग द्वारा, द्वेषों से, कषायों से, उपसर्ग से, इन्द्रियों से और परिषर्हों से पीड़ित जीव में जो कुछ दुष्ट वर्तन किया हो उसे भी सम्यक् आलोचना करनी चाहिए । अवधारण शक्ति की मन्दता से जो स्मृति पथ में नहीं आए उस अतिचार को भी अशठ भाव वाले को उसे ओध (सरलता) से आलोचना करनी चाहिये । इस प्रकार विविध भेद वाला आलोचना योग्य आचरण कहा । अब गुरु को आलोचना किस तरह देनी चाहिए ? उसे कहते हैं ।

८. गुरु आलोचना किस तरह दें ?—पूर्व में कहा है उसी तरह आलोचनाचार्य गुरु भी उसमें जो आगम व्यवहारी (जघन्य से नौ पूर्व का जानकार और उत्कृष्ट से केवली भगवन्त) हो वह “जो कहूँगा उसे स्वीकार करेगा” ऐसा ज्ञान से जानकर आलोचक को विस्तारपूर्वक भूलों को याद करवा दे,

परन्तु जिसको यत्नपूर्वक अच्छी तरह समझाने पर भी स्वीकार नहीं करेगा, ऐसा ज्ञान से जाने उसको वह आचार्य भगवन्त दोषों का स्मरण नहीं कराना चाहिए। क्योंकि—स्मरण करवाने से 'यह मेरे दोष जानते हैं' ऐसी लज्जा को प्राप्त करते वह गुण समूह से शोभते उत्तम गच्छ का त्याग करे अथवा गृहस्थ बन जाए या मिथ्यात्व को प्राप्त करे। गुरु प्रथम आलोचक के गुण-दोष को ज्ञान से जानकर फिर आलोचना सुनने की इच्छा, फिर जिस देश काल आदि में आलोचक सम्यग् प्रायश्चित्त स्वीकार करेगा। ऐसा जानकर उस देश काल में पुनः उसे आलोचना देने की प्रेरणा करे अथवा एकान्त से यदि अयोग्य जाने तो उसका अस्वीकार हो, इस तरह करे कि जिससे अल्प भी अविश्वास न हो। अन्य जो श्रुत व्यवहारी आदि आलोचनाचार्य कहे हैं, वे तो तीन बार आलोचना को दे या सुने और समान विषय में आकार आदि से निष्कपटता को जानकर प्रायश्चित्त दे। क्योंकि—ज्ञानी गुरुदेवों की आकृति से, इससे और पूर्वापर बाधित शब्दों से प्रायः कर मायावी के स्वरूप को जानते हैं। जो सम्यग् आलोचना नहीं ले, माया करे उसे पुनः शिक्षा दे। फिर भी स्थिर न बने ऋजु-भाव से यथार्थ नहीं कहे उसे केवल आलोचना कराने का निषेध करे।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—छद्मस्थ की आलोचना नहीं स्वीकार करे और प्रायश्चित्त भी नहीं देना चाहिए क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से दोष लगने का कारण उसका परिणाम और क्रिया किसकी कैसी होगी, वह नहीं जान सकते हैं, और निश्चय नय से उसे जानकारी बिना प्रायश्चित्त कर्म भी उस दोष के सेवन समान नहीं हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं कि—जैसे शास्त्रों में परिश्रम करने वाले, शास्त्र के जानकार और बार-बार औषध को देने वाला अनुभवी वैद्य छद्मस्थ होने पर भी रोग का नाश करते हैं, वैसे यह छद्मस्थ होने पर भी प्रायश्चित्त शास्त्र के अभ्यासी और बार-बार पूर्व गुरु द्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त को देखने वाले उसके अनुभवी गुरु महाराज आलोचक के दोषों को दूर कर सकते हैं। इस तरह गुरु को आलोचना जिस तरह देनी चाहिए, उस तरह कहा है। अब संक्षेप में प्रायश्चित्त द्वार कहते हैं।

६. प्रायश्चित्त क्या देना ?—आलोचना प्रतिक्रमण मिश्र आदि प्रायश्चित्त दस प्रकार का है। उसमें जो अतिचार जिस प्रायश्चित्त से शुद्ध हो, वह प्रायश्चित्त उसके योग्य जानना। कोई अतिचार आलोचना मात्र से शुद्ध होता है, कोई प्रतिकर्मण करने से शुद्ध होता है, और कोई मिश्र से शुद्ध होता है, इस तरह कोई अन्तिम पारांचित से शुद्ध होता है। पुनः ऐसा दोष नहीं लगाने

में दृढ़ शुद्ध चित्त वाले और अप्रमत्त भाव में प्रायश्चित्त करने वाले को पाप की शुद्धि होती है। इस कारण से इस विषय में नित्य बाह्य अभ्यन्तर समग्र इन्द्रियों से धर्मी होना चाहिए, परन्तु मिथ्या आग्रह वाला नहीं होना चाहिए। इस तरह क्रम प्राप्त प्रायश्चित्त द्वार को संक्षेप से कहा है, अब फल द्वार को कहते हैं। इसमें शिष्य प्रश्न करते हैं कि—यहाँ पर आलोचना अधिकार में पूर्व में आलोचना का जो गुण कहा है वह गुण आलोचना को देने के बाद होने वाला वही आलोचना का फल है, अतः पुनः इस द्वार को कहने से क्या लाभ है ? इसका समाधान कहते हैं कि—तुम कहते हो वह पुनरुक्त दोष यहाँ नहीं है, क्योंकि पूर्व में जो कहा है वह गुण आलोचना का अनन्तर फल है और यहाँ इस द्वार का प्रस्ताव परम्परा फल को जानने के लिये कहा है।

१०. आलोचना का फल :—राग-द्वेष और मोह को जीतने वाले श्री जैनेश्वर भगवान ने इस आलोचना का फल शरीर और आत्मा के दुःखों का क्षय होने से शाश्वत सुख वाला मोक्ष प्राप्त कहा है, क्योंकि—सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप को मोक्ष का हेतु कहा है। चारित्र होने पर सम्यक्त्व और ज्ञान अवश्य होता है। वह चारित्र विद्यमान होने पर भी प्रमाद दोष से मलिनता को प्राप्त करते हुये उसके लाखों भवों का नाश करता है, परन्तु उसकी शुद्धि इस आलोचना के द्वारा करता है। और शुद्ध चारित्र वाला संयम में यत्न करते अप्रमादी, धीर, साधु शेष कर्मों को क्षय करके अल्पकाल में श्रेष्ठ केवल ज्ञान को प्राप्त करता है। और फिर केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाले, सुरासुर मनुष्यों से पूजित और कर्म मुक्त बने, वह भगवान उसी भव में शाश्वत सुख वाला मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार प्रायश्चित्त का फल अल्पमात्र इस द्वार द्वारा कुछ कहा है और यह कहने से प्रस्तुत प्रथम आलोचना विधान द्वार पूर्ण रूप में कहा है। हे क्षपक मुनि ! इसको सम्यक् रूप जानकर आत्मोत्कर्ष का त्यागी—निराभिमानी और उत्कृष्ट आराधना विधि की आराधना करने की इच्छा वाला वह तू हे धीर पुरुष ! बैठते, उठते आदि में लगे हुए अल्पमात्र भी अतिचार का उद्धार कर, क्योंकि जैसे जहर का प्रतिकार नहीं करने से एक कण भी अवश्य प्राण लेता है, वैसे ही अल्प भी अतिचार प्रायःकर अनेक अनिष्ट फल को देने वाला होता है। इस विषय पर सूरतेज राजा का उदाहरण है। वह इस प्रकार है :—

सूरतेज राजा का प्रबन्ध

विविध आश्चर्यों का निवास-स्थान पद्मावती नगरी के अन्दर प्रसिद्ध सूरतेज नाम का राजा था। उसे निष्कपट प्रेम वाली धारणी नाम से रानी थी। उसके साथ में समय के अनुरूप उचित विषय सुख को भोगते तथा राज्य के कार्यों की सार सम्भाल लेते और धर्म कार्य की भी चिन्ता करते राजा के दिन व्यतीत हो रहे थे। एक समय श्रुत समुद्र के पारगामी, जगत प्रसिद्ध एक आचार्य श्री नगर के बाहर उद्यान में पधारे। उनका आगमन सुनकर नगर के श्रेष्ठ मनुष्यों से घिरा हुआ हाथी के स्कन्ध पर बैठा हुआ, मस्तक पर आभूषण के उज्ज्वल छत्र वाला, पास में बैठी हुई तरुण स्त्रियों के हाथ से ढुलाते सुन्दर चामर के समूह वाले और आगे चलते बन्दीजन के द्वारा सहर्ष गुण गाते वह राजा श्री अरिहंत धर्म को सुनने के लिये उसी उद्यान में आया एवं आचार्य जी के चरण-कमल में नमस्कार करके अपने योग्य प्रदेश में बैठा। फिर आचार्य श्री ने उसकी योग्यता जानकर जलयुक्त बादल की गर्जना समान गम्भीर वाणी से शुद्ध सद्धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया। जैसे कि—

जीवात्मा अत्यधिक काल में अपार संसार समुद्र के अन्दर परिभ्रमण करके महामुसीबत से और कर्म की लघुता होने से मनुष्य जीवन प्राप्त करता है। परन्तु उसे प्राप्त करने पर भी क्षेत्र की हीनता से जीव अधर्मी बन जाता है। किसी समय ऐसा आर्य क्षेत्र मिलने पर भी उत्तम जाति और कुल बिना का भी वह क्या कर सकता है? उत्तम जाति कुल वाला भी पाँच इन्द्रिय की पटुता, आरोग्यता आदि गुण समूह से रहित, छाया पुरुष (पड़छाया) के समान वह कुछ भी शुभ कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता है। रूप और आरोग्यता प्राप्त करने पर भी पानी के बुलबुले के अल्प आयुष्य वाला वह चिरकाल तक स्थिरता को जीव नहीं प्राप्त कर सकता है। दीर्घ आयुष्य वाला भी बुद्धि के अभाव और धर्म श्रवण की प्राप्ति से रहित, हितकर प्रवृत्ति से विमुख और काम से अत्यन्त पीड़ित कई मूढ़ पुरुष तत्त्व के उपदेशक उत्तम गुरु महाराज को बैरी समान अथवा दुर्जन लोक के समान मानता हुआ दिन रात विषयों में प्रवृत्ति करता है और इस तरह प्रवृत्ति करने वाला तथा विविध आपत्तियों से घिरा हुआ अवतीराज के समान मनुष्य भव को निष्फल गँवाकर मृत्यु को प्राप्त करता है। और अन्य उत्तम जीव चतुर बुद्धि द्वारा, विषय जन्य सुख के अनर्थों को जानकर शीघ्र ही नर सुन्दर राजा के समान धर्म में अति आदर वाले बनते हैं। इसे सुनकर विस्मृत हृदय वाले सूरतेज राजा ने पूछा कि—हे

भगवन्त ! यह अवन्ती नाथ कौन है ? अथवा वह नर सुन्दर राजा कौन है ? गुरु महाराज ने कहा—हे राजन् ! मैं जो कहता हूँ उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो ।

अवन्तीनाथ और नर सुन्दर की कथा

पृथ्वीतल की शोभा समान ताम्रलिप्ती नाम की नगरी थी, उसमें क्रोध से यम, कीर्ति से अर्जुन के समान और दो भुजाओं से बलभद्र सदृश एक होने पर भी अनेक रूप वाला नर सुन्दर नामक राजा था । उसे रति के समान अप्रतिम रूप वाली, लक्ष्मी के समान श्रेष्ठ लावण्य वाली एवं दृढ़ स्नेह वाली बंधुमति नाम की बहन थी । उसे विशाला नगरी के स्वामी अवन्तीनाथ के राजा ने प्रार्थनापूर्वक याचना कर परम आदरपूर्वक विवाह किया । फिर उसके प्रति अति अनुराग वाला वह हमेशा सुरपान के व्यसन में आसक्त बनकर दिन व्यतीत करने लगा । उसके प्रमाद दोष से राज्य और देश में जब व्यवस्था भंग हुई तब प्रजा के मुख्य मनुष्यों और मंत्रियों ने श्रेष्ठ मंत्रणा करके उसके पुत्र को राज्य गद्दी पर स्थापना कर राजा को बहुत सुरापान करवाकर रानी के साथ में पलंग पर सोये हुये उसको संकेत किए अपने मनुष्यों के द्वारा उठवा कर सिंह, हरिण, सूअर, भिल्ल और रीछों से भरे हुए अरण्य में फेंक दिया और राजा के उत्तराचल वस्त्र के छेड़े पर वापिस नहीं आने का निषेध सूचक लेख (पत्र) बाँध दिया ।

प्रभात में जागृत हुआ और मद रहित बने राजा ने जब पास में देखा, तब वस्त्र के छेड़े पर एक पत्र देखा और उसे पढ़कर, उसके रहस्य को जानकर क्रोधवश ललाट पर भृकुटी चढ़ाकर अति लाल दृष्टि फेंकते और दांत के अग्र-भाग से होंठ को काटते रानी को इस प्रकार कहने लगा—हे सुतनु ! जिसके ऊपर हमेशा उपकार किया है, हमेशा दान दिया है, हमेशा मेरी नयी-नयी मेहरबानी से अपनी सिद्धियों को विस्तारपूर्वक सिद्ध करने वाले, अपराध करने पर भी मैंने हमेशा स्नेहयुक्त दृष्टि से देखता हुआ उनके गुप्त दोषों को कदापि जाहिर नहीं किया और संशय वाले कार्यों में सदा सलाह देने योग्य भी पापी मन्त्री, सामन्त और नौकर आदि ने इस तरह अपने कुलक्रम के अनुरूप प्रपंच किया है, उसे तूने देख लिया ? मैं मानता हूँ कि—उन पापियों ने स्वयमेव मृत्यु के मुख में प्रवेश करने की इच्छा की है, अन्यथा उनको स्वामी द्रोह करने की बुद्धि कैसे जागृत होती ? अतः निश्चय मैं अभी ही उनके मस्तक को छेदन कर भूमि मण्डल को सजाऊँगा, उनके मांस से निशाचरों को भी पोषण करूँगा

और उनके खून से व्यंतरियों के समूह की प्यास दूर करूँगा। हे सुतनु ! यम के समान क्रोधायमान मुझे इसमें क्या असाध्य है ?

इस तरह बोलते अपने भाग्य के परिणाम का नहीं चिन्तन करते राजा को, मधुर वाणी से बन्धुमति ने विनती की कि—हे देव ! आप प्रसन्न हों, क्रोध को छोड़ दो, शान्त हो जाएँ, अभी यह प्रसंग उचित नहीं है, समय के उचित करना वह सर्व कार्य का अति हितकर होता है। हे नाथ ! आप इस समय सहायक के बिना हो, श्रेष्ठ राज्य से भ्रष्ट हुए हो, और प्रजा विरोधी बनी है, फिर तुम शत्रुओं का अहित करने की क्यों चिन्तन करते हो ? अतः उत्तुम्कता को छोड़ दो, हम ताम्रलिप्ति नगर में जाकर वहाँ बड़ स्नेह वाले नर सुन्दर राजा को मिलेंगे। इस बात को राजा ने स्वीकार किया और चलने का प्रारम्भ किया। दोनों चलते क्रमशः ताम्रलिप्ति नगर की नजदीक सीमा में पहुँच गये। फिर रानी ने कहा कि—हे राजन् ! आप इस उद्यान में बैठो और मैं जाकर अपने भाई को आपके आगमन का समाचार देती हूँ कि जिससे वह घोड़े, हाथी, रथ और योद्धाओं की अपनी महान् ऋद्धि सहित सामने आकर आपका नगर प्रवेश करवायेगा। राजा ने 'ऐसा ही हो' ऐसा कहकर स्वीकार किया। रानी राजमहल में गई और वहाँ नर सुन्दर को सिंहासन ऊपर बैठा हुआ देखा, अचानक आगमन देखकर विस्मय मन वाले उसने भी उचित सत्कारपूर्वक उससे सारा वृत्तान्त पूछा। उसने भी सारा वृत्तान्त कहकर कहा कि राजा अमुक स्थान पर विराजमान है, इससे वह शीघ्र सर्व ऋद्धिपूर्वक उसके सामने जाने लगा।

इधर उस समय अवन्तीनाथ राजा भूख से अतीव पीड़ित हुआ। अतः खरबूजा खाने के लिए चोर के समान पिछले मार्ग से खरबूजे के खेत में प्रवेश किया। खेत के मनुष्यों ने देखा और निर्दयता से उस पर लकड़ी का मर्म स्थान पर प्रहार किया। कठोर प्रहार से बेहोश बना वह लकड़े के समान चेतन रहित मार्ग के मध्य भाग में जमीन के ऊपर गिरा। उस समय श्रेष्ठ विजय रथ में, नर सुन्दर राजा बैठकर उसे मिलने के लिए उस प्रदेश में पहुँचा, परन्तु चपल घोड़ों के खूर के प्रहार से उड़ती हुई धूल से आकाश अन्धकारमय बन गया और प्रकाश के अभाव में राजा के रथ की तीक्ष्ण चक्र के आरे ने अवन्तीनाथ के गले के दो विभाग कर दिये अर्थात् रथ के चक्र से राजा का सिर कट गया। फिर पूर्व में कहे अनुसार स्थान पर बहनोई को नहीं देखने से राजा ने यह वृत्तान्त बन्धुमति को सुनाया। भाई के संदेश को सुनकर 'हा,

हा ! देव ! यह क्या हुआ ?' ऐसा संभ्रम से घूमती चपल आँखों वाली बन्धु-मती शीघ्र वहाँ पहुँची । फिर गुम हुए स्तन को जैसे खोज करते हैं वैसे अति चकोर दृष्टि से खोज करती उसने महामुसीबत से उसे उस अवस्था में देखा । उसे मरे हुये को देखकर वज्र प्रहार के समान दुःख से पीड़ित और मूर्च्छा से बन्द आँख वाली वह करुणा युक्त आवाज करती पृथ्वी के ऊपर गिर गई । पास में रहे परिवार के शीतल उपचार करने से चेतना में आई और वह जोर से चिल्लाकर इस प्रकार विलाप करने लगी—हा, हा ! अनुपम पराक्रम के भण्डार ! हे अवन्ती राजा ! किस अनार्य पापी ने तुझे इस अवस्था को प्राप्त करवाया है, अर्थात् मार दिया ? हे प्राणनाथ ! आपका स्वर्गवास हो गया है, पुण्य रहित अब मुझे जीने रहने से कोई भी लाभ नहीं है । हे हत विधि ! राज्य लूटने से, देश का त्याग करने से और स्वजन का वियोग करने पर भी तू क्यों नहीं शान्त हुआ ? कि हे पापी ! तूने इस प्रकार का उपद्रव किया ? हे नीच ! हे कठोर आत्मा ! हे अनार्य हृदय ! तू क्या वज्र से बना है ? कि जिससे प्रिय के विरह रूपी अग्नि से तपे हुये भी अभी तक तेरा नाश नहीं हुआ ? वह राज्य लक्ष्मी और भय से नमस्कार करते छोटे राजाओं का समूह युक्त, वह तेरे स्वामी हैं अन्य किसी भी स्त्री न हो ऐसा मनोहर उनका मेरे में प्रेम था । उसकी आज्ञा का प्रभुत्व और सर्व लोक को उपयोगी उस धन को धिक्कार हो, जो मेरा सारा सुख गंधर्व नगर के समान एक साथ नाश हो गया है । आज तक आपके आनन्द से झरते सुन्दर मुख चन्द्र को देखने वाली अब अन्य के क्रोध से लाल मुख को मैं किस तरह देख सकूंगी ? अथवा आज दिन तक आपकी मेहरबानी द्वारा विविध क्रीड़ाएँ की हैं, अब कौदखाने में बन्द हुए शत्रु की स्त्री के समान मैं पर के घर में किस तरह रहूंगी ? इत्यादि विलाप करती पुष्ट स्तन पृष्ठ को हाथ से जोर से मारती, बिखरे हुये केश वाली, भुजाओं के ऊपर से वस्त्र उतर गया था और कंकण निकल गये, लम्बे समय तक आत्मा में कोई अति महान् शोक समूह को धारण किया । उस समय नर सुन्दर राजा ने अनेक प्रकार के वचनों से समझाया, फिर भी पतंगे के समान पति के साथ में वह ज्वालाओं से व्याप्त अग्नि में गिर गई ।

उस समय संवेग प्राप्त कर नर सुन्दर राजा चिन्तन करने लगा कि—अचिन्त्य रूप वाली संसार की इस स्थिति को धिक्कार हो कि जहाँ केवल थोड़े से काल के अन्दर ही सुखी भी दुःखी हो जाता है, राजा भी रंक हो जाता है, उत्तम मित्र भी शत्रु और सम्पत्ति भी विपत्ति रूप में बदल जाती है । बहन का बहुत लम्बे काल के बाद अचानक समागम किस तरह हुआ और शीघ्र वियोग

भी कैसा हुआ ? इस संसारवास को धिक्कार हो ! मैं मानता हूँ कि—इस संसार में सर्व पदार्थ हाथी के कान, इन्द्र धनुष्य और बिजली की चपलता से युक्त हैं, इस कारण से देखते ही वह क्षण में नाश होता है। इस प्रकार का संसार होने पर परमार्थ के जानकार पुरुष विश्वास द्वारा अपने घर में क्षण भी कैसे रह सकते हैं ? अहो ! उनकी यह कैसी महान् कठोरता है ? इस प्रकार संसार से विरागी बना हुआ वह महात्मा अपने राज्य पर पुत्र को स्थापन करके शुभ भाव में प्रवृत्ति करने लगा और श्री सर्वज्ञ शासन में अपूर्व बहुत मान को धारण करते मरकर ब्रह्मदेवलोक में द्वैदीप्यमाना कान्ति वाला देव हुआ, उसके बाद उत्तरोत्तर विशुद्धि के कारण से कई जन्मों तक मनुष्य और देव की ऋद्धि को भोगकर वह परम सुख वाला मुक्ति पद को प्राप्त किया। इस तरह हे राजन ! तुमने जो अवन्तीनाथ का और नर सुन्दर राजा का चारित्र्य पूछा था वह सम्पूर्ण कहा और इसे सुनकर हे सूरतेज ! शत्रु के पक्ष के सर्व अशुभ कर्त्तव्य को छोड़कर, कोई ऐसी उत्तम प्रवृत्ति करो कि जिससे हे सूरतेज ! तू देवों में तेजस्वी बने।

गुरु महाराज के ऐसा उपदेश सुनने पर राजा का संवेगरंग अत्यन्त बढ़ गया और रानी के साथ गुरु के पास दीक्षा स्वीकार की। सूत्र अर्थ के जानकार प्रतिदिन शुभ भावना बढ़ने लगी। अतिचार रूपी कलंक से रहित निरतिचार साधु जीवन के राग वाले, छठ-अट्ठम आदि कठोर तपस्या में एकबद्ध लक्ष्य वाले उन दोनों के दिन अप्रमत्त भाव में व्यतीत होने लगे। एक समय वे महात्मा विविध दूर देशों में विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर में पधारे और अवग्रह (मकान मालिक) की अनुमति लेकर एक गृहस्थ के स्त्री, पशु, नपुंसक रहित घर में वर्षा ऋतु में निवास करने के लिये रहे। वह साध्वी भी किस तरह विहार करते उसी नगर में उचित स्थान में चौमासा करने के लिये रही। साधु धर्म का पालन करते विशुद्ध चित्त वाले उनका उस नगर में जो वृत्तान्त बना वह कहते हैं।

वहाँ अपने धन समूह से कुबेर के वैभव को भी जीतने वाला विष्णु नाम का धनपति था। उसको कामदेव के समान रूप वाला, सर्व कलाओं में कुशल विविध विलासों का स्थान, निर्मल शियल वाला 'दत्त' नाम से प्रसिद्ध पुत्र था। वह एक दिन बुद्धिमान मित्रों के साथ नृत्यकार का नाटक देखने गया। वहाँ विकासी नील कमल के समान लम्बी नेत्रों वाली तथा साक्षात् रति सद्यः नट की पुत्री को उसने देखा और उसके प्रति प्रेम जाग्रत हुआ।

इससे उसी समय जीवन तक के अपने कुल का काला कलंक का भी विचार किए बिना, लज्जा को भी दूर फेंककर, घर जाकर उसका ही स्मरण करते योगी के समान सर्व प्रवृत्ति को छोड़कर पागल के समान और मूर्छित के सदृश घर के एक कोने में वह एकान्त में बैठा, उस समय पिता ने पूछा कि—हे वत्स ! तू इस तरह अकाल में ही हाथ-पैर से कमजोर, चंपक फल के समान शोभा रहित निराश क्यों दिखता है ? क्या किसी ने तेरे पर क्रोध किया है, रोग से, अथवा क्या किसी ने अपमान किया है या किसी के प्रति राग होने से, हे पुत्र ! तू ऐसा करता है। अतः जो हो वह कहो, जिससे मैं उसकी उचित प्रवृत्ति करूँ। तब दत्त ने कहा कि—पिताजी ! कोई भी सत्य कारण मैं नहीं जानता, केवल अन्तर से पीड़ित होता हूँ, इस तरह अज्ञान का अनुभव करता हूँ। इससे सेठ बहुत व्याकुल हुआ और उसकी शान्ति के लिये अनेक उपाय किए, परन्तु थोड़ा भी लाभ नहीं हुआ। फिर सेठ को पुत्र के मित्रों ने नाटक में नटपुत्री के प्रति राग उत्पन्न हुआ है, वह सारा वृत्तान्त कहा। इससे सेठ विचार करने लगा कि—

अहो ! दोष को रोकने के लिए समर्थ कुलीनता और सुन्दर विवेक विद्यमान है, फिर भी जीव को कोई ऐसा जोर का उन्माद उत्पन्न होता है कि जिससे वह गुरुजनों को, लोक लज्जा को, धर्म ध्वंस को, कीर्ति को बन्धुजन और दुर्गति में गिरते रूप सर्वनाश को भी नहीं गिनता है। तो अब क्या करूँ ? इस तरह रहता हुआ मूढ़ हृदय वाले इसका कोई भी उपाय नहीं है कि जिससे उभय लोक में विरुद्ध नहीं हो। फिर भी उत्तम कुल में जन्म लेने वाली मनोहर रूप रंग वाली अन्य कन्या को बतलाई कि जिससे किसी भी तरह उसका मन नट की पुत्री से रूक जाए। ऐसा सोचकर अनेक कन्याएँ उसे बतलाई, परन्तु नट की कन्या में आसक्त हुआ उसने उनके सामने देखा ही नहीं। इस कारण से यह पुत्र सुधारने के लिए अयोग्य है, ऐसा मानकर सेठ ने दूसरे उपाय की उपेक्षा की। बाद में निर्लज्ज बनकर वह नटों को धन देकर उस कन्या से विवाह किया। इससे 'अहो ! अकार्य किया है।' ऐसा लोकापवाद सर्वत्र फैल गया और उसे कोई नहीं रोक सका।

फिर मनुष्यों के मुख से परस्पर वह बात फैलती हुई सूरतेज मुनि ने सुनी और रागवश अल्प विस्मयपूर्वक मुनि श्री ने कहा कि—निश्चय राग को कोई असाध्य नहीं है, अन्यथा उत्तम कुल में जन्म लेकर भी वह बिचारा इस प्रकार का अकार्य करने में कैसे उद्यम करता ? उस समय पर वहाँ वन्दन के

लिए वह साध्वी भी आई थी, यह वृत्तान्त सुनकर अल्प द्वेषवश कहा कि— अरे ! नीच मनुष्यों की बात करने से क्या लाभ है ? अपने कार्य साधने में उद्यम करो ! कामांध बने हुये को अकार्य करना सुलभ ही है, इसमें निन्दा करने योग्य क्या है ? इस तरह परस्पर बात करने से मुनि को सूक्ष्म राग और साध्वी को सूक्ष्म द्वेष हुआ । इस कारण से नीच गोत्र का बन्धन किया और प्रमाद के आधीन उन्होंने गुरु महाराज के पास सम्यग् आलोचना बिना ही दोनों अन्त में अतृप्त करके मर गये, और केसर कपूर समान अति सुगन्ध के समूह से भरे हुये सौधर्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुये ।

वहाँ पाँच प्रकार के विषय सुखों को भोगते सूरतेज का जीव अपना आयुष्य पूर्ण कर बड़े धनवान वणिक के घर पुत्र रूप में जन्म लिया और देवी भी नट के घर में पुत्री रूप में जन्म लिया । दोनों ने योग्य उम्र में कलाएँ ग्रहण कीं । फिर उन दोनों ने यौवनवय को प्राप्त किया, परन्तु किसी तरह सूरतेज के जीव को युवतियों में और उस नट कन्या को पुरुष प्रति राग बुद्धि नहीं हुई । इस प्रकार उनका काल व्यतीत होते भाग्य योग से एक समय किसी कारण उनका मिलाप हुआ और परस्पर अत्यन्त राग उत्पन्न हुआ । इससे कामाग्नि से जलते उस दत्त के समान माता, पितादि स्वजनों ने रोकने पर भी लज्जा छोड़कर नट को बहुत दान देकर उस नट कन्या के साथ विवाह किया और घर को छोड़कर उन नटों के साथ घूमने लगा । बहुत समय दूर देश परदेश में घूमते उसे किसी समय मुनि का दर्शन हुआ और मुनि दर्शन का उहापोह (चिन्तन) होने से पूर्व जन्म का ज्ञान स्मरण हुआ । इससे पूर्व जन्म के ज्ञान वाले उस महात्मा ने विषय राग को छोड़कर दीक्षा को स्वीकार की और शुद्ध आराधना करते अन्त में मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए ।

इस तरह आलोचना बिना का अल्प भी अतिचार के हित को नाश करने में समर्थ और परिणाम में दुःखदायी जानकर हितकर बुद्धि वाला जीव पूर्व कहे अनुसार विधि से वह उत्तम प्रकार से आत्मा की शुद्धि (आलोचना) कर कि जिससे शुक्ल ध्यान रूप अग्नि से सारे कर्मरूपी वन को जलाकर लोक के अग्रभाग रूपी चौदह राजपुरुष के मस्तक का मणि सिद्ध, बुद्ध, निरंजन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य वाला, अक्षय, निरोगी, शाश्वत, कल्याणकारी, मंगल का घर और अजन्म बना हुआ वह पुनः जहाँ से संसार में नहीं आना है, ऐसा उपद्रव रहित मुक्ति रूपी स्थान को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार से प्रवचन (आगम) समुद्र के पारगामी और चारित्र्य शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त की विधि के जानकार वह आचार्य उस आराधक को समझा-

कर दोष मुक्त विशुद्ध करे। आराधना की इच्छा वाले तपस्वी आचार्य श्री के अभाव में उपाध्याय आदि के पास आत्मा की शुद्धि करे। यदि किसी तरह भी सेवन किये अतिचार भूल गये हों तो उस विषय में शल्य की उद्धार के लिए इस प्रकार से कहना कि—श्री जैनेश्वर भगवन्त जिस-जिस विषय में मेरे अपराधों को जानते हैं, उन अतिचारों की सर्व भाव से तत्पर मैं आलोचना करता हूँ। इस तरह आलोचना करते गारव रहित विशुद्ध परिणाम वाला आत्मा विस्मृत हुए भी अपराधजन्य पाप समूह को नाश करता है। इस तरह दुर्मेद पाप को धोने में जल के विभ्रम समान और संविज्ञ मन रूपी भ्रमर के लिये खिले हुये फूलों के वन समान संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला ममत्व विच्छेद नाम का तीसरा मूल द्वार में आलोचन विधान नामक प्रथम मूल द्वार पूर्ण हुआ। अब पूर्व में कहे अनुसार विधि से प्रायश्चित्त (शुद्धि) करने पर भी जिसके बिना क्षपक मुनि समाधि को नहीं प्राप्त करता है, उस शय्या द्वार को कहता हूँ।

दूसरा शय्या द्वार :—शय्या को वसति (आश्रय) कहलाता है। आराधक के लिए योग्य वसति होनी चाहिए। उसके आस-पास कठोर कर्म करने वाले चोर, वेश्या, मछुआ, शिकार करने आदि पापी तथा हिंसक असभ्य बोलने वाला, नपुंसक और अति व्यभिचारी आदि पंडौसी रहते हों, उस स्थान को स्वीकार नहीं करे। क्योंकि इस प्रकार की वसति में रहने से क्षपक मुनि को उनके अनुचित शब्दादि सुनकर या देखकर आदि से समाधि में व्याघात न हो जाए। सुन्दर भावयुक्त बुद्धि वालों की भी कुत्सित की संगति से भावना बदल जाती है, इस कारण से ही पापी के संसर्ग का निषेध किया है। तिर्यंच योनि वाले भी अशुभ संसर्ग से दोष और शुभ संसर्ग से गुण प्रगट होते हैं। इस विषय में पर्वत के दो तोतों का दृष्टान्त है। वह इस प्रकार है :—

दो तोतों की कथा

विन्ध्याचल नामक महान् पर्वत के समीप में बहने वाली हजारों नदियों से रमरणीय, कुलटा के समान, वृक्षों से घिरी हुयी कादम्बरी नामक अटवी थी। उसमें नीम, आम, जामुन, नींबू, साल, वास, बील वृक्ष, शल्ल, मोच, मालु की लताएँ, बकुल, कीकर, करंज, पुन्नाग, नाग श्री पर्णी सप्तपर्ण आदि विविध नाम वाले, पुष्ट गंध वाले पुष्पों से भरे हुए वृक्षों के समूह से शोभता था। वहाँ एक बड़े वृक्ष के खोखर में एक तोती ने सुन्दर सम्पूर्ण शरीर वाले दो तोतों को उचित समय पर जन्म दिया। फिर प्रतिदिन पांख के पवन से

सेवन करती और दाने को खिलाती उन दोनों को बड़ा किया। फिर किसी दिन थोड़े उड़ने की शक्ति प्राप्त होने से वे दोनों जब चपल स्वभाव से उड़कर वहाँ से अन्यत्र जाने लगे तब पंखों की निर्बलता के कारण थक जाने से अर्ध मार्ग में नीचे गिर गये। उस समय उस प्रदेश में तापस आए थे, उनमें से एक को अपने साथ आश्रम में ले गये और दूसरे को भिल्ल, चोर की पत्नी में ले गये। उसमें चोर की पत्नी में रहने वाला तोता हर समय भिल्लों के “मारो, काटो, तोड़ो, इसका मांस जल्दी खाओ, खून पीओ” इत्यादि दुष्ट वचन सुनते अत्यन्त क्रूर मन वाला हुआ और दूसरा कुरुणा प्रेम के अंतःकरण वाले तापस मुनि के “जीवों को न मारो, न मारो, मुसाफिर आदि की दया करो, दुःखी के प्रति अनुकम्पा करो” इत्यादि वचनों से अत्यन्त दयालु बना।

इस प्रकार काल व्यतीत होते एक समय वृक्ष के ऊपर शिखर पर भिल्लों का तोता बैठा था। उस समय अति शीघ्र वेग वाला, परन्तु विपरीत शिक्षा को प्राप्त करने वाले घोड़े ने हिरण होने से बसन्तपुर नगर का निवासी कनक केतु राजा को किसी तरह वहाँ आते देखा, तब पाप विचारों से युक्त उस तोते ने कहा कि—“अरे ! भिल्लों ! दौड़ो, जाते हुए राजा को शीघ्र पकड़ो और इसके दिव्य मणि, सुवर्ण तथा रत्नों के अलंकार को शीघ्र लूट लो अन्यथा तुम्हारे देखते-देखते वह भाग रहा है।” इसे सुनकर ‘जिस प्रदेश में ऐसे दुष्ट पक्षी रहते हों, उस प्रदेश का दूर से त्याग करना चाहिए।’ ऐसा सोचकर राजा शीघ्र वहाँ से वापस निकल गया और किसी पुण्योदय से तापस के उस आश्रम के नजदीक प्रदेश में पहुँचा। वहाँ तापस के तोते ने राजा को देखकर मधुर वाणी से कहा—“हे तापस मुनियों ! यह ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम वालों का गुरु सदृश राजा घोड़े द्वारा हरण किया यहाँ आया है, इसलिए उसकी भक्ति—उचित विनय करो।” उसके वचन से तापसों ने सर्व आदर-पूर्वक राजा को अपने आश्रम में ले गये, वहाँ भोजन आदि से उसका सत्कार किया। फिर स्वस्थ शरीर वाला और विस्मित मन वाले राजा ने तोते को पूछा कि—समान तिर्यच जीवन है, फिर भी आचरण परस्पर विरुद्ध क्यों है ? जिससे वह भिल्लों का तोता ऐसा निष्ठुर बोलता है और तू कोमल वाणी से ऐसा एकान्त हितकर बोलता है ? तब तोते ने कहा कि—मेरी और उसकी माता एक है और पिता भी एक है, केवल उसे भिल्ल पत्नी में ले गये और मुझे भी मुनि यहाँ ले आये हैं, इस तरह हमारे में निज-निज संसर्ग जन्य यह दोष-गुण प्रगट हुआ है। वह आपने भी प्रगट रूप देखा है।

इस प्रकार यदि तिर्यचों को भी संसर्गवश गुण-दोष की सिद्धि जगत में प्रसिद्ध है, तो तप से दुर्बल दुःख से पालन हो सके ऐसी अनशन की साधना में उद्यमशील बना तपस्वी को दुष्ट मनुष्यों के पड़ोस में रहने से स्वाध्याय में विघ्न आदि का कारण कैसे नहीं हो सकता है ? उनका भी पतन हो सकता है । कुशील मनुष्यों का पड़ोस में रहने से श्रेष्ठ समता वाला भी, इन्द्रियों का श्रेष्ठ दमन करने वाला भी और पूर्ण निरभिमानी भी कलुषित बनता है, उसमें क्या आश्चर्य है ? अन्य मनुष्यों से रहित एकान्त वसति में क्लेश, बातें, झगड़ा विमूढ़ता दुर्जन का मिलन, ममत्व और ध्यान—अध्ययन में विघ्न नहीं होता है । इसलिए जहाँ मन को क्षोभ करने वाले पाँचों इन्द्रियों के विषय न हों, वहाँ तीनों गुप्त से गुप्त क्षपक मुनि शुभ ध्यान में स्थिर रह सकता है । जो उद्गम, उत्पादना और एषणा से शुद्ध हो, साधु के निमित्त में सफाई अथवा लिपाई आदि किए बिना हो, स्त्री, पशु, नपुंसक से अथवा सूक्ष्म जीवों से रहित हो, साधु के लिए जल्दी अथवा देरी से तैयार नहीं किया हो, जिसकी दिवार मजबूत हो, दरवाजे मजबूत हों, गाँव के बाहर हो, गच्छ के बाल-वृद्धादि साधु योग्य हों, ऐसा रहने का स्थान शय्या में अथवा उद्यान घर में, पर्वत की गुफा में अथवा शून्य घर में रहे । तथा मुखपूर्वक निकल सके और प्रवेश कर सके, ऐसा चटाई का परड़े वाली और धर्म कथा के लिये मण्डप सहित दो अथवा तीन वसति रखनी चाहियें, उसमें एक के अन्तर क्षपक को और दूसरे के अन्दर गच्छ में रहे साधुओं को रखना चाहिए कि जिससे आहार की गन्ध से क्षपक मुनि को भोजन की इच्छा न हो । पानी आदि भी वहाँ रखे जहाँ तपस्वी नहीं देखे, अपरिणत (तुच्छ सामान्य) साधुओं को भी वहाँ नहीं रखे । यहाँ प्रश्न करते हैं—सामान्य साधु को नहीं रखने का क्या कारण है ? इसका उत्तर देते हैं—नहीं रखने का मुख्य कारण यह है कि—किसी समय क्षपक मुनि को असमाधि हो जाए तो उसको अशनादि देते देखकर मुग्ध साधुओं को क्षपक मुनि के प्रति अश्रद्धा हो जाती है । और महानुभव क्षपक को भी अनेक भव की परम्परा से आहार का परिचय होने से वह रखने से किसी समय सहसा गृद्धि न प्रगट हो, क्योंकि—आराधना रूप महासमुद्र के किनारे पर पहुँचा हुआ भी तपस्वी की चारित्र्य रूपी नाव को किस कारण से विघ्न आ जाए उसके लिए यह जयणा है । इस तरह धर्म शास्त्रों के मस्तक का मणि समान और संवेगी मन रूपी भ्रमर के लिये विकसित पुष्पों वाली उद्यान समान संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला तीसरा ममत्व विच्छेद द्वार में यह दूसरा शय्या नाम का अन्तर द्वार कहा है । शय्या

यथोक्त हो परन्तु संधारा के बिना आराधक को प्रसन्नता नहीं रहती है, अतः अब उस द्वार को कहते हैं ।

तीसरा संस्तरारक द्वार :—पूर्व में विस्तार से कहा है, उसके अनुसार हो, परन्तु जहाँ चूहे के खोदे हुये रज समूह का थोड़ा नाश न हो, जहाँ जमीन में से उत्पन्न हुआ खार और जलकण आदि का विनाश न हो, जहाँ दीपक का, बिजली का और पूर्व पश्चिमादि दिशा का प्रबल वायु का विनाश न हो, जहाँ अनाज आदि बीज का अथवा हरी वनस्पति का स्पर्श न हो, जहाँ चींटी आदि तस जीवों की हिंसा न हो, जहाँ पर असमाधिकारक अशुभ द्रव्यों की गन्ध आदि न हो, जहाँ जमीन खड्डे और फटी न हो वहाँ क्षपक मुनि की प्रकृति के हितकारी प्रदेश में समाधि के लिये पृथ्वी की शिला का, काष्ठ का अथवा घास का संधारा बनाकर उत्तर में मुख रखे अथवा पूर्व सम्मुख रखना चाहिए। उसमें भूमि संधारा अचित्त, समान, खोखलों से रहित जमीन पर और शिला संधारे के अन्दर पत्थर फटा हुआ न हो अथवा जीव संयुक्त न हो और ऊपर का भाग सम हो, उस शिला पर संधारा करना चाहिए। काष्ठमय संधारा छिद्र रहित हो, स्थिर हो, भार में हल्का हो, एक ही विभाग अखण्ड काष्ठ का करना और घास का संधारा जोड़ बिना का, लम्बे तृण का, पोलेपन से रहित और कोमल करना चाहिए, एवं उभयकाल पडिलेहणा से शुद्ध किया हुआ और योग्य माप से किए हुए इस संधारे में तीन गुप्ति से गुप्त होकर बैठना । मुनि को भावसमाधि का कारण होने से ऊपर कहे अनुसार यह द्रव्य संधारा भी निःसंगता का प्रतीक कहा है । फिर संलीनता में स्थिर रहा हुआ संवेग गुण-युक्त और धीरे संलेखना करने वाला क्षपक मुनि संधारा में बैठा वह अनशन के काल को निर्गमन करे । मजबूत और कठीनता से तृण आदि के संधारे में, बैठने में असमर्थ, क्षपक मुनि को यदि किसी भी प्रकार असमाधि हो तो उस पर एक, दो अथवा अधिक कपड़े बिछाए और अपवाद मार्ग में तो तलाई आदि भी उपयोग में ले सकते हैं ।

भाव संधारा—इस तरह द्रव्य की अपेक्षा से संधारा अनेक प्रकार का कहा है । भाव की अपेक्षा से वह संधारा अनेक प्रकार का जानना, जैसे कि— राग, द्वेष, मोह और कषाय के जाल को दूर से त्यागी परम प्रशम भाव को प्राप्त करने वाला आत्मा ही संधारा है । सावद्य योग से रहित संयम धन वाला, तीन गुप्ति से गुप्त और पाँच समिति से समित आत्मा जो भाव साधु है उसका आत्मा ही संधारा है । निर्मम और निरहंकारी, तृण मणि में, तथा पत्थर

के टुकड़े और सुवर्ण में अत्यन्त समचित्त वाला एवं परमार्थ से तत्त्व के जान-कार जो आत्मा है वही संथारा है। जिसको स्वजन अथवा परजन में, शत्रु और मित्र में, तथा स्व-पर विषय में परम समता है वही आत्मा ही निश्चय संथारा है। दूसरों को प्रिय या अप्रिय करने पर भी जिसका मन हर्षित अथवा दीनता को धारण नहीं करता उसकी आत्मा ही संथारा है। किसी भी द्रव्य में, क्षेत्र में, काल में या भाव में राग को त्याग करने के लिए तत्पर रहना और जो सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव वाली आत्मा हो वही भाव संथारा है। सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र्य रूप जो मोक्ष साधक गुण उस आत्मा में ही सुरक्षित रहते हैं, इसलिए भाव से आत्मा ही संथारा है।

शुद्ध और अशुद्ध संथारा—आश्रय द्वार को नहीं रोकने वाला जो आत्मा को उपशम भाव में स्थिर नहीं करता है और संथारा में रहे अनशन स्वीकार करे उसका संथारा अशुद्ध है। गारव से उन्मत्त जो गुरुदेव के पास आलोचना लेने की इच्छा नहीं रखे और संथारे में बैठा हो उसका संथारा अशुद्ध है। योग्यता प्राप्त करने वाला यदि गुरु महाराज के पास आलोचना को करता है और संथारे में रहता है उसका संथारा अति विशुद्ध है। सर्व विकथा से मुक्त, सात भय स्थानों से रहित बुद्धिमान जो संथारे में रहता है उसका संथारा अति विशुद्ध है। नौ बाड़ सुरक्षित ब्रह्मचर्य वाला एवं दस प्रकार के यति धर्म से युक्त जो संथारे में रहता है उसका संथारा अति विशुद्ध है। आठ भव स्थानों से पराभव प्राप्त करने वाला, निर्वृत्त परिणाम वाला, लोभी और उपशम रहित मन वाले का यह संथारा क्या हित करेगा ? जो रागी, द्वेषी, मोह, मूढ़, क्रोधीमानी, मायावी और लोभी है वह संथारे में रहे हुये भी संथारे के फल का भागीदार नहीं होता है। जो मन, वचन और काया रूप योग के प्रचार को नहीं रोकता और सर्व अंगों से, जिसकी आत्मा संवर रहित है, वह वस्तुतः धर्म से रहित, संथारे के फल का हिस्सेदार कैसे बन सकता है ? अतः जो गुण बिना का भी संथारे में रहकर मोक्ष की इच्छा करता है उस मुसाफिर, रंक और सेवक जन का मोक्ष प्रथम होता है, बाह्य-अभ्यन्तर गुणों से रहित और बाह्य-अभ्यन्तर दोष से दूषित रंक आत्मा संथारे में रहता है, फिर भी अल्पमात्र भी फल को प्राप्त नहीं करता है। बाह्य-अभ्यन्तर गुण से युक्त और बाह्य-अभ्यन्तर दोषों से दूर रहा हुआ, संथारे में नहीं रहने पर भी इच्छित फल का पात्र बनता है। तीनों गारव से रहित, तीन दण्ड का नाश करने में जिसकी कीर्ति फैली हुई है, जो निःस्पृह मन वाला है उसका संथारा निश्चय सफल है। जो छह काय जीवों की रक्षा के लिये एकाग्र जयणा पूर्ण

प्रवृत्ति करता है, आठ मद रहित और विषय सुख की तृषा से रहित है, वह संथारे के फल का हिस्सेदार बनता है। जो तपस्वी समता से युक्त मन वाला हो, संयम, तप, नियम के व्यापार में रक्त मन वाला और स्व-पर कषायों को उपशम करने वाला हो उसे संथारा का फल वास्तविक रूप में प्राप्त कर सकता है। अच्छी तरह गुणों को विस्तार करने वाला संथारा को जो सत्पुरुष प्राप्त करता है, उसी ने जीवलोक में सारभूत धर्म रत्न को प्राप्त किया है। सर्व क्षमा रूपी बख्तर से सर्व अंगों की रक्षा करता, सम्यग् ज्ञानादि गुण और अमृदता रूप शस्त्र को धारण करता अतिचार रूपी मलिनता से रहित और पंच महाव्रत रूपी महा हाथी के ऊपर बैठा हुआ क्षपक वीर सुभट प्रस्तुत संथारा रूपी युद्ध की भूमि में विलास करते उपसर्ग और परिषर्ग रूपी सुभट से प्रचण्ड कर्म शत्रु की प्रबल सेना को सर्व प्रकार से जीतकर आराधना रूपी विजय ध्वजा को प्राप्त करता है, क्योंकि—तीन गुप्ति से गुप्त आत्मा श्रेष्ठ संलेखना के करने के लिये सम्यक्त्व रूपी पृथ्वी के संथारा में अथवा विशुद्ध सद्धर्म गुणरूपी तृण से संथारा में अथवा प्रशम रूपी काष्ठ के संथारा में या अति विशुद्ध लेश्या रूपी शिला के संथारा में आत्मा को स्थिर करता है, इससे वह आत्मा ही संथारा है। और विशुद्ध प्रकार से मरने वाले को तो तृणमय संथारा या अचित्त भूमि पर आराधना में कारण नहीं है, आत्मा ही स्वयं अपना संथारा आधार बनता है। जो द्विविध-द्विविध उपयोग वाला है उसे तो अग्नि में भी, पानी में भी अथवा त्रस जीवों के ऊपर या सचित्त बीज और हरी वनस्पति के ऊपर भी संथारा होता है। अग्नि, पानी और त्रस जीव आदि के संथारे में अनुक्रम से धीरे गजसुकुमार, अग्नि का पुत्र आचार्य और चिलाती पुत्र आदि के दृष्टान्त हैं, वह इस प्रकार है—

अग्नि संथारे पर गजसुकुमार की कथा

द्वारिका नगरी में यादव कुल में ध्वजा समान अर्द्ध-भरत की पृथ्वी का स्वामी श्री कृष्ण नामक अन्तिम वासुदेव था। उसका गजसुकुमार नाम का छोटा भाई था। इच्छा नहीं होने पर भी माता और वासुदेव आदि स्वजनों के आग्रह से उसने सोमशर्मा नाम के ब्राह्मण की पुत्री के साथ विवाह किया, परन्तु श्री नेमिनाथ भगवान के पास धर्म को सुनकर सारे जगत को क्षीण, विनश्वर जानकर नवयौवन होने पर भी और रूप से कामदेव समान होने पर भी वह चरम शरीरी महासत्त्वशाली गजसुकुमार साधु बना और भय मोहनीय से रहित निर्मय बनकर वह भगवान के साथ गाँव, नगरादि में विहार करने

लगे। इस तरह विहार करते बहुत काल के बाद वे द्वारका में पधारे। वहाँ श्री रैवतगिरि के ऊपर देवों ने भगवन्त का समवसरण की रचना की। भगवन्त समवसरण में विराजमान हुए और गजसुकुमार मुनिशमशान में कायोत्सर्ग करके खड़े रहे। फिर किसी कारण से उस प्रदेश में सोमशर्मा आया। 'यह वही है कि जिसने मेरी पुत्री से विवाह करके त्याग किया है' ऐसा विचार करते तीव्र क्रोध चढ़ गया। उसको मार देने की इच्छा से उसने उसके मस्तक ऊपर मिट्टी की पाल बाँधकर, उस पाल के अन्दर जलते अंगारे भर दिये, तब उसका मस्तक अग्नि से जलने लगा, परन्तु गजसुकुमार शुभ ध्यान में स्थिर रहते अंत-क्षुत केवली बनकर मोक्ष गये। इस तरह उस गजसुकुमार का अग्नि का संथारा जानना। अब जिससे जल का संथारा हुआ था उस अर्णिका पुत्र आचार्य का प्रबन्ध कहते हैं।

जल संथारे पर अर्णिका पुत्र आचार्य की कथा

श्री पुष्पभद्र नगर में प्रचण्ड शत्रु पक्ष को चूरन करने का व्यसनी पुष्प-केतु नामक महान राजा था। उसकी पुष्पवती नाम की रानी थी। उस रानी से युगल रूप पुष्पचूल नामक पुत्र और पुष्पचूला नामक पुत्री ने जन्म लिया था। उन दोनों का परस्पर अति स्नेह वाला देखकर राजा ने उनका विधोग नहीं करने के कारण से परस्पर उनका विवाह किया। पुष्पवती को इसके कारण निर्वेद उत्पन्न हुआ और दीक्षा लेकर देवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से सुख सोई उस पुष्पचूला को कष्टना से प्रतिबोध करने के लिए स्वप्न में भयंकर दुःखों से अति दुःखी नरक के जीवों को तथा नारकों को बतलाने लगी। फिर भयंकर स्वरूप वाले उन स्वप्नों को देखकर उसी समय जाग्रत होकर उसने राजा को नरक का वृत्तान्त कहा। उसने भी रानी के विश्वास के लिए सभी पाखण्डियों को बुलाकर पूछा कि—भो ! नरक कैसा होता है ? और उसमें दुःख कैसा होता है ? उसे कहो। अपने-अपने मतानुसार उन्होंने नरक का वृत्तान्त कहा, परन्तु रानी ने उसे स्वीकार नहीं किया। फिर राजा ने बहुश्रुत सर्वत्र प्रसिद्ध एवं स्थविर अर्णिका पुत्र आचार्य को बुलाकर पूछा—उन्होंने नरक का यथास्थित वर्णन किया। इससे भक्तिपूर्ण हृदय वाली पुष्पचूला रानी ने कहा कि—हे भगवन्त ! क्या आपने भी स्वप्न में यह वृत्तान्त देखा है ? गुरु महाराज ने कहा कि—हे भद्रे ! जगत में ऐसा कुछ है कि जिस वस्तु को श्री जैनेश्वर परमात्मा के आगम रूप दीपक के बल से जिसको नहीं जान सकते। इस नरक का वृत्तान्त तो कितना ज्ञानवान् है ?

फिर किसी समय उसकी माता ने उसको स्वप्न में आश्चर्यकारक वैभव से युक्त देवों के समूह वाला स्वर्गलोक को बतलाया । और पूर्व के समान पुनः सभी को आमन्त्रण देकर राजा ने पूछा, परन्तु यथार्थ उत्तर नहीं मिला, इससे आखिर में आचार्य श्री को बुलाकर स्वर्ग का वृत्तान्त पूछा, तब आचार्य श्री ने भी उसका स्वरूप यथार्थ कहा और हर्षित हुई रानी पुष्पचूला ने भक्ति से चरणों में नमस्कार करके कहा कि—गुरुदेव ! नरक के दुःखों की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? और देवों के सुख की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? गुरु महाराज ने कहा—भद्रे ! विषयासक्ति आदि पापों से नरक का दुःख और उसके त्याग से स्वर्ग सुख मिलता है । तब सम्यक् प्रतिबोध को प्राप्त कर उसने विषय के व्यसन को छोड़कर दीक्षा लेने के लिये राजा से अनुमति माँगी और उसके विरह से राजा मुरझा गया । फिर 'तुझे कभी भी अन्य क्षेत्र में विहार नहीं करना, इस स्थान पर रहना ।' ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक, महाकष्टपूर्वक आज्ञा दी, फिर पुष्पचूला दीक्षा लेकर अनेक तपस्या द्वारा पापों का पराभव करने लगी ।

एक समय दुष्काल पड़ा । सभी शिष्यों को दूर देश में विहार करवा दिया । अणिका पुत्र आचार्य का जंघा बल क्षीण होने से अकेले वहीं स्थिरवास किया और पुष्पचूला साध्वी राजमन्दिर से आहार, पानी लाकर देती थी । इस तरह समय व्यतीत करते अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाली उस साध्वी ने घातीकर्म को नाश करके केवल ज्ञानरूप प्रकाश प्राप्त किया । परन्तु 'केवली रूप में प्रसिद्ध नहीं होने से केवली पूर्व जो आचार पालन करते हैं, उस विनय का उल्लंघन नहीं करते हैं ।' ऐसा आचार होने से वह पूर्व के समान गुरु महाराज को अशनादि लाकर देती थी । एक समय श्लेष्म से पीड़ित आचार्य श्री को तीखा भोजन खाने की इच्छा हुई । उसने उचित समय उस इच्छा को उसी तरह पूर्ण की, इससे विस्मय मन वाले आचार्य श्री ने कहा कि—हे आर्या ! तूने मेरा मानसिक गुप्त चिन्तन को किस तरह जाना ? कि जिससे अति दुर्लभ भोजन को योग्य समय लेकर आई हो ? उसने कहा—ज्ञान से । आचार्य श्री ने पूछा—कौन से ज्ञान के द्वारा ? उसने कहा कि—अप्रतिपाती ज्ञान के द्वारा । यह सुनकर, धिक्कार हो, धिक्कार हो, मैं अनार्य ने, महात्मा ने इस केवली की कैसी आशातना की है ? इस तरह आचार्य शोक करने लगे । तब, हे मुनिश्वर ! शोक मत करो । क्योंकि—'यह केवली है' ऐसा जाहिर हुए बिना केवली भी पूर्व के व्यवहार को नहीं छोड़ते हैं । ऐसा कहकर उसे शोक करते रोका । फिर आचार्य ने पूछा—'मैं दीर्घकाल से उत्तम चारित्र्य की आराधना

करता हूँ, क्या मैं निर्वाण पद को प्राप्त करूँगा या नहीं ?' उसने कहा कि—हे मुनीश ! निर्वाण के लिये संशय क्यों करते हो ? क्योंकि गंगा नदी के पार उतरते तुम भी शीघ्र कर्मक्षय करोगे ।

यह सुनकर आचार्य श्री गंगा पार उतरने के लिये नाव में आकर बैठे । नाव चलने लगी, परन्तु कर्म दोष से दाव में जहाँ-जहाँ वे बैठने लगे, वह नाव का विभाग डूबने लगा, इससे 'सर्व का नाश होगा' ऐसी आशंका से निर्यामक ने अणिका पुत्र आचार्य को नाव में से उठाकर पानी में फेंक दिया । फिर परम प्रशम रस में निमग्न अति प्रसन्न चित्त वृत्ति वाले, सम्पूर्णतया सभी आश्रव द्वार को रोकने वाले, द्रव्य और भाव से परम वैराग्य को प्राप्त करते, अति विशुद्ध को प्राप्त करते वह आचार्य शुक्ल ध्यान में स्थिर होने से उसके द्वारा कर्मों का क्षय करते, केवल ज्ञान प्राप्त किया । जल के संधारा में रहने पर भी सर्व योगों का सम्पूर्ण निरोध करते, उन्होंने मोक्ष पद प्राप्त किया और उसके द्वारा मन वंछित कार्य की सिद्धि की । इस तरह जल संधारे पर अणिका पुत्र का वर्णन किया और त्रस संधारा के विषय में चिलाती पुत्र का दृष्टान्त है वह पूर्व में कहा है । इस तरह अन्य भी जिस-जिस संधारे में मृत्यु के समय जिस-जिस आत्मा को समभाव से उत्तम समाधि को प्राप्त करता है, वह सर्व उनका संधारा जानना । इस तरह संधारा में रहता हुआ वह क्षपक मुनि सर्वश्रेष्ठ तप समाधि में रहकर अनेक जन्मों तक पीड़ा देने वाले कर्मों को तोड़कर समय व्यतीत करता है, चक्रवर्ती को भी वह सुख नहीं और सारे उत्तम देवों को भी वह सुख नहीं है जो सुख द्रव्य, भाव संधारे में रहे राग रहित वैरागी मुनि को है । इस तरह संधारे में रहा हुआ अति विशुद्ध योग वाला मुनि हाथी के समान अनेक काल के एकत्रित हुए कर्मरूपी वृक्षों के जंगल को चारित्र्य द्वारा खत्म करता हुआ विचरता है । इस तरह कामरूपी सर्प को पराभव करने में गरुड़ के उपमायुक्त और संवेग मनरूपी भ्रमर के लिए खिले हुए पुष्पों वाली उद्यान के समान संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला ममत्व विच्छेद नाम के तीसरा मूल द्वार में तीसरे संधारा नामक अन्तर द्वार कहा । अब संधारे में रहने वाले क्षपक मुनि को निर्यामक बिना समाधि की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए उस निर्यामक द्वार को कहते हैं ।

चौथा निर्यामक द्वार :—उसके बाद जिसने द्रव्य से शरीर की संलेखना की हो और भाव से परीषद् तथा कषाय की जाल को तोड़ी है, वह क्षपक मुनि निर्यामणा करने वाले जो गुरु हो उसकी इच्छा करे, वह निर्यामक छत्तीस गुण वाला, प्रायश्चित्त के विधि में विशारद—गीतार्थ, धीर, पाँच समिति का

पालक तीन गुप्ति से गुप्त, अनासक्त अथवा स्वाश्रयी, राग, द्वेष; और मद बिना के योग सिद्ध अथवा कृत क्रिया का सतत् अभ्यासी, समय का जानकार, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप समृद्धिशाली, मरण-समाधि की क्रिया और मरण-काल के जानकार, इंगित आकृति से शीघ्र अथवा प्रार्थना-इच्छा करने वाले के स्वभाव को जानने वाला, व्यवहार कार्य करने में कुशल, अनशन रूपी रथ के सारथी अर्थात् क्षपक मुनि के अनशन को निर्विघ्न पूर्ण कराने वाले एवं अस्खलित आदि गुणों से युक्त द्वादशांगी रूप सूत्र के एक समुद्र, सद्यः अपना निर्यामणा कराने वाले गुरु को और निर्यामक मुनियों की खोज करे। फिर आगम को प्रकाश करने में दीपक समान उस आचार्य श्री की निश्चा में धीर क्षपक मुनि महा प्रयोजन—मोक्ष के साधन के लिए अनशन को स्वीकार करे।

फिर गुरु महाराज ने दिया हुआ अल्प निद्रा वाला, संवेगी, पापभीरु, धैर्य वाला तथा पासत्था, अवसन्न और कुशील अथवा शिथिलाचार के स्थान छोड़ने में उद्यमी, क्षमापूर्वक सहन करने वाला, मार्दव गुण वाला, अशठ, लोलुपतारहित, लब्धिवंत मिथ्या आग्रह से मुक्त चतुर, सुन्दर स्वर वाला, महासत्त्व वाला, सूत्र के अर्थ में एकान्त आग्रह बिना स्याद्वादी, निर्जेरा के लक्ष्य वाला, जितेन्द्र, मन से दान्त कुतूहल से रहित, धर्म में दृढ़ प्रीति वाला, उत्साही, अवश्य कार्य में स्थिर दृढ़ मन वाला, उत्सर्ग—अपवाद के उस-उस स्थान में श्रद्धालु और उसके उपदेशक, दूसरे के अभिप्राय के जानकार, विश्वासपात्र, पञ्चकखान में उसके विविध प्रकारों के जानकार, कल्प्य अकल्प्य को जानने में कुशल, समाधि को प्राप्त करने में और आगम रहस्यों के जानकार, अड़तालीस मुनि उसके निर्यामक बने। वह इस प्रकार :—

१-उद्वर्तनादि कराना, २-अन्दर के द्वार बैठना, ३-संधारा का प्रति-लेखना आदि कराना, ४-क्षपक मुनि को धर्मकथा सुनानी, ५-आगन्तुक वादियों के साथ में वाद करना, ६-मुख्य द्वार पर चौकी करना, ७-आहार ले आना, ८-पानी ले आना, ९-मलोत्सर्ग करवाना, १०-प्रश्रवणश्ले आदि परठना, ११-बाहर के श्रोताओं को धर्म सुनाना, और १२-चारों दिशाओं में सम्भाल रखनी। इन बारह विषयों में प्रत्येक के चार-चार विभाग होते हैं, वह इस प्रकार—

१. अत्यन्त कोमल हाथ से चार मुनि क्षपक मुनि के करवट को बदलाएँ, फिर दूसरी करवट बदलाएँ या चलाना आदि शरीर की सेवा करें, उसके बाद शरीर से कमजोर बने तब हाथ आदि का सहारा देकर चलायें और यदि वह

भी सहन करने में असमर्थ हो तो संधारे में रखकर ही उसे उठाना फेरना आदि करना । २. चार मुनि अन्दर के द्वार में अच्छी तरह उपयोगपूर्वक बैठे और ख्याल रखें । और ३. चार मुनि प्रतिलेखनापूर्वक संधारा बिछाए । ४. चार मुनि बारी-बारी अस्तो व्यस्त नहीं बोले, इस तरह एक दूसरे अक्षरों को मिलाए बिना, अस्खलित कम अधिक बिना विलम्ब से नहीं हो, इस तरह शीघ्रता भी नहीं करना, एकत्रित उच्चारण से नहीं, वैसे एक ही उच्चारण बार-बार नहीं करना, परन्तु मधुर स्वर पूर्वक स्पष्ट समझ में आए इस तरह, बहुत बड़ी आवाज नहीं, अति मन्द स्वर से भी नहीं, असत्य अथवा निष्फल भी नहीं बोले, प्रतिध्वनि या गूँज न हो, इस तरह शुद्ध संदेह रहित सुनने वाले को अर्थ का निश्चय हो, इस तरह पदच्छेदनपूर्वक बोले अथवा क्षपक मुनि के हृदय को अनुकूल हो, इस तरह स्नेहपूर्वक मीठे शब्दों से और पथ्य भोजन के समान आनन्दजनक धर्मकथा को चार मुनि उस क्षपक को सम्यग् रूप में कहे । उसमें क्षपक मुनि को वह धर्मकथा कहना कि जिसको सम्यग् सुनकर वह आर्त्त-रौद्र रूपी अपध्यान को छोड़कर संवेग निर्वेद को प्राप्त करे । ५. चार वादी मुनि के बाद के लिये आने वाले प्रतिवादियों को बोलने से रोके अथवा समझाएँ । ६. तपस्वी के मुख्य द्वार पर चार मुनि उपयोगपूर्वक बैठें । ७. लब्धि वाले कपट बिना के चार मुनि उद्वेग बिना उत्साहपूर्वक क्षपक मुनि को रुचि-कर दोष रहित आहार खोज कर लाएँ । ८. चार मुनि ग्लान के योग्य पानी लाकर दें । ९. चार महामुनि क्षपक मुनि की बड़ी नीति को परटे । १०. चार मुनि उसके कफ की कूण्डी, प्याला आदि को विधिपूर्वक परटे । ११. श्रोताओं को धर्मकथा करने वाले चार गीतार्थ बाहर बैठें । १२. सहस्र मल्ल के समान चार मुनि तपस्वी मुनि के उपद्रव आदि से रक्षण करते चार दिशा में रहे ।

इस तरह अड़तालीस निर्यामक क्षपक मुनि को निर्यामणा करानी चाहिए । उसमें भी भरत, ऐरावत क्षेत्रों में जब ऐसा काल हो, तब उस काल के अनुरूप अड़तालीस निर्यामक भी उसी तरह होते हैं, और काल के अनुसार इतने मुनियों का अभाव में क्रमशः चार-चार कम करना, जघन्य से चार अथवा दो भी निर्यामक होते हैं । कहा है कि 'भरत और ऐरावत क्षेत्र में जब जैसा काल हो, तब उस काल अनुरूप निर्यामक भी जघन्य से दो होते हैं ।' उसमें एक सदा पास में रहकर अप्रमत्त भाव में क्षपक मुनि की सार सम्भाल रखे और दूसरा प्रयत्नपूर्वक साथ के साधु का तथा अपना उचित निर्दोष आहारादि खोजकर ले आएँ । परन्तु यदि किसी कारण से एक ही निर्यामक हो तो वह अपने लिए भी भिक्षा भ्रमण आदि नहीं कर सकता है, इसलिए

अपने आपको छोड़ता है अथवा इससे विपरीत रूप से भिक्षार्थ भ्रमण करता है तो क्षपक को छोड़ता है, उसकी सार सम्भाल नहीं कर सकता है, उस क्षपक मुनि करने से उसे साधु धर्म को अवश्य दूर करता है। क्योंकि निर्यामक के अभाव में तृषा—क्षुधा आदि से मन्द उत्साही क्षपक बन जाता है। अकल्प्य आहारादि उपयोग अथवा दूसरे के पास याचनादि करता, अपभ्राजना (अपमान) करता है, अथवा असमाधि से मर जाये और दुर्गति में भी चला जाता है इत्यादि दोष लगने के कारण क्षपक के पास जघन्य से दो ही निर्यामक होने चाहियें।

तथा संलेखना करने वाले को निर्यामणा कराता है ऐसा सुनकर सुविहित आचार वाले सर्व मुनियों ने वहीं जाना चाहिए और अन्य कार्य की गौणता रखनी चाहिए। क्योंकि यदि तीव्र भक्ति राग से संलेखना करने वाले के पास जाता है, वह दैवी सुखों को भोग कर उत्तम स्थान रूप मुक्ति को प्राप्त करता है। जो जीव एक जन्म में भी समाधि मरण से मरता है वह सात या आठ भव से अतिरिक्त अधिक बार संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। श्रेष्ठ अनशन के साधक को सुनकर भी यदि साधु तीव्र भक्तिपूर्वक वहाँ नहीं जाता तो उसकी समाधि मरण में भक्ति कैसी? और जिसको समाधि मरण में भक्ति भी नहीं हो, उसे मृत्युकाल में समाधि मरण किस तरह हो सकता है? तथा शिथिलाचारी साधुओं को क्षपक के पास में प्रवेश करने में देना नहीं चाहिए, क्योंकि उनकी सावद्य (पापकारी) वाणी से क्षपक मुनि को असमाधि उत्पन्न होती है। तथा क्षपक मुनि को तेल या अर्क आदि के कुल्ले बार-बार कराने चाहियें कि जिससे जीभ और कान का बल टिका रहे और उच्चारण स्पष्ट हो अथवा मुख निर्मल रहे। इस तरह धर्मापदेश से मनोहर और संवेगी मन रूपी भ्रमर के लिए खिले हुए पुष्पों का उद्यान समान संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला ममत्व विच्छेद नाम के तीसरे द्वार में चौथा निर्यामक नाम का अन्तर द्वार कहा है। इस प्रकार निर्यात्मकादि अनशन की सामग्री हो तब आहार त्याग की इच्छा वाले क्षपक मुनि का सर्व वस्तुओं में इच्छा रहित जानने के बाद अनशन उच्चारण करे, वह इच्छा रहित भोजक आदि दिखाने से जान सकते हैं। इसलिए अब वह दर्शन द्वार को अल्पमात्र कहते हैं।

पांचवाँ दर्शन द्वार :—उसके बाद प्रति समय बढ़ते उत्तम शुद्ध परिणाम वाला वह क्षपक महात्मा मरुभूमि के अन्दर गरमी से दुःखी हुआ मुसाफिर के समान अनेक पत्तों से युक्त वृक्ष को प्राप्त करके अथवा रोग से अत्यन्त पीड़ित

रोगी दुःख का प्रतिकार करने वाला वैद्य को प्राप्त कर जैसे विनती करता है वैसे निर्यामक को प्राप्त कर और गुरुदेव को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके इस तरह निवेदन कहता है—हे भगवन्त ! बड़ी कठिनता से प्राप्त हो सके ऐसी यह सामग्री मैंने प्राप्त की है, इसलिए मुझे अब काल का विलम्ब करना योग्य नहीं है । कृपा करके मुझे अनशन का दान करो । दीर्घकाल काया की संलेखना करने वाले मुझे अब इस भोजनादि के उपभोग से क्या प्रयोजन है ? इसके बाद उसकी निरीहता (इच्छा रहित) को जानने के लिए गुरु महाराज स्वभाव से ही श्रेष्ठ स्वाद वाला, स्वभाव से ही चित्त में प्रसन्नता प्रगट करने वाला, स्वभाव से ही सुगन्ध महकते और स्वभाव से ही उसे इच्छा प्रगट करने वाला आहार आदि श्रेष्ठ पदार्थ उसे दिखाये, इसे दिखाने से जैसे कुरुर पक्षी के कुरुर शब्द को सुनकर मछली का समूह जल में से बाहर आता है, वैसे उसके हृदय में रहे संकल्प भाव अवश्य प्रगट होते हैं । यदि इस तरह द्रव्य को दिखाए बिना उसे आहार का त्रिविध से त्याग करवा दिया जाए तो बाद में किसी प्रकार के भोजन में उस क्षपक मुनि को उत्सुकता हो सकती है । और अन्नादि से सेवन की हुई आहार की संज्ञा भी कैसी है—पूर्व में जो भुक्त भोगी, गीतार्थ अच्छी तरह से वैरागी और शरीर से स्वस्थ हो, वह भी आहार के रस धर्म में जल्दी क्षोभ होता है । इसलिए त्रिविध आहार के उद्देश्य को नियम कराने वाले उसको प्रथम सारे उत्कृष्ट द्रव्य को दिखाने चाहिए । इस तरह चार कषाय के भय को भगाने वाली संवेगी मन रूपी भ्रमर के लिए खिले हुए पुष्पों के उद्यान समान संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला तीसरा समत्व विच्छेद द्वार में पांचवाँ दर्शन नाम का अन्तर द्वार कहा है । अब क्रमानुसार हानि द्वार की प्ररूपणा द्वारा द्रव्यों को दिखाने के बाद क्षपक मुनि को जो परिणाम प्रगट होता है, उस परिणाम को कहता है ।

छठा हानि द्वार :—अर्थात् आहार का संक्षेप रूप, गुरु महाराज से भोजन के लिए अनुमति प्राप्त कर अत्यन्त प्रबल सत्त्व वाला क्षपक मुनि के आगे रखा हुआ अशनादि द्रव्यों को देखकर, स्पर्श करके, सूँघकर अथवा उसे ग्रहण करके इच्छा से मुक्त बना, इस प्रकार सम्यग् विचार करे—अनादि इस संसार रूपी अटवी में अनन्तीवार भ्रमण करते मैंने मन वाँछित क्या नहीं भोगा ? किस वस्तु को स्पर्श नहीं किया ? क्या नहीं सूँघा ? अथवा मैंने क्या-क्या वस्तु प्राप्त नहीं की ? अर्थात् मैंने हर पदार्थ का भोग, स्पर्श आदि सब कुछ किया, फिर भी यह पापी जीव को अल्पमात्र भी यदि तृप्ति नहीं हुई है, वह तृप्ति क्या अब होगी ? अतः संसार के किनारे पर पहुँचा हुआ मुझे इन द्रव्यों

से क्या प्रयोजन है ? इस तरह चिन्तन करते कोई संवेग में तत्पर बनता है । कोई अल्प आस्वादन करके अब किनारे पर पहुँचा हुआ मुझे इस द्रव्य की खाने से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार वैराग्य के अनुसार संवेग में हड़ बनता है । कोई थोड़ा खाकर खेद करता है हा हा ! मुझे अब इन द्रव्यों से क्या प्रयोजन है ? ऐसा वैराग्य के अनुसार संवेग में परायण बनता है । कोई सम्पूर्ण खाकर पश्चात्ताप करता है धिक् धिक् ! मुझे अब इन द्रव्यों की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार वैराग्य के अनुसार संवेग में हड़ बनता है । और कोई उसे खाकर यदि मनपसन्द रस में रसिक बने चित्त परिणाम वाला उस भोजन में ही सर्व से या देश से आसक्ति करता है तो वह क्षपक मुनि को पुनः समझाने के लिए गुरु महाराज रसासक्ति को दूर करने वाले आनन्द दायक वचनों से धर्मोपदेश करता है । केवल धर्मोपदेश को ही नहीं करे, परन्तु उसको भय दिखाने के लिये सूक्ष्म भी गृद्धि शल्य के कण्ठों को इस प्रकार बतलाए । भूखे इस जीव ने हिमवन्त पर्वत, मलय पर्वत, मेरु पर्वत और सारे द्वीप समुद्र तथा पृथ्वी के समान के ढेर से भी अधिकतर तूने आहार खाया है । इस संसार चक्र में परिभ्रमण करते तूने सभी पुद्गलों को अनेक बार भोगे हैं और शरीर रूप में परिवर्तन हुआ है, फिर भी तू तृप्त नहीं हुआ है । पापी आहार के कारण शीघ्र सर्व नरकों में जाता है वहाँ से अनेक बार सर्व प्रकार की म्लेच्छ जातियों में भी उत्पन्न होता है । आहार के कारण तन्दुलिया मछली अन्तिम सातवीं नरक में जाती है, इसलिए हे क्षपक मुनि तू आहार की सर्व क्रिया को मन से भी इच्छा नहीं करना । तृण और काष्ठों से जैसे अग्नि शान्त नहीं होती अथवा हजारों नदियों से लवण समुद्र तृप्त नहीं है वैसे भोजन क्रिया से रस जीव को तृप्त नहीं कर सकता है । गरमी ताप से पीड़ित जीव ने निश्चय ही इस संसार में जितना जल पिया उतना जल सारे कुओं में, तालाबों में, नदियों और समुद्र में भी नहीं है ।

इस अनन्त संसार में अन्य-अन्य जन्मों में माताओं के स्तन का जो दूध पिया है वह भी समुद्र के पानी से अधिकतर है । और स्वादिष्ट घृत समुद्र, क्षीर समुद्र और इक्षुरस समुद्र आदि महान् समुद्र में भी अनेक बार उत्पन्न हुआ है, फिर भी उस शीतल जल से तेरी प्यास शान्त नहीं हुई । यदि इस तरह अनन्ता भी भूतकाल में तूने तृप्ति नहीं प्राप्त की तो वर्तमान में अनशन में रहे तेरी इसमें गृद्धि करने से क्या प्रयोजन है ? जैसे-जैसे गृद्धि (आसक्ति) की जाये वैसे-वैसे जीवों को अविरति की वृद्धि होती है । जैसे-जैसे उसकी अविरति की वृद्धि होती है वैसे-वैसे उसके कारण से कर्मबन्ध होता है, इससे संसार और उस संसार में दुःखों की परम्परा बढ़ती है । इस तरह सर्व दुःखों का कारण

रस गृद्धि है, इस कारण से संसारी जीवों के सारे दुःखों की पीड़ा, अभिमान का और अपमान का मूल कारण यह रस गृद्धि ही जानना। इस तरह ज्ञानादि गुणों से महान् और दीर्घ दुःख रूपी वृक्षों को मूल से छेदन करने वाले गुरु महाराज ने गृद्धि रूप शल्य के विविध कण्टों को अच्छी तरह कहने से भव भ्रमण के दुःखों से डरा हुआ सम्यक् आराधना करने की रुचि वाला वह क्षपक महात्मा संवेगपूर्वक रसगृद्धि का त्याग करता है। ऐसा कहने पर भी कर्म के दोष से यदि गृद्धि का त्याग नहीं तो उसकी प्रकृति के हितकर निर्दोष भोजन उसे दे, ऐसे भोजन की प्राप्ति न हो तो उसकी याचना करे अथवा खोज करे और ऐसा होने पर भी यदि नहीं मिले तो उसकी समाधि स्थिर रखने के लिए मूल्य आदि द्वारा उपयोगपूर्वक देना। केवल गुरु एकान्त में मुनियों को प्रेरणा करे कि—तुम्हें क्षपक के सामने इस तरह कहना कि 'संयम योग्य वस्तु यहाँ दुर्लभ है।' फिर इस तरह शिक्षा दी हुई वे क्षपक के आगे इसी तरह कहें और दुःख से पीड़ित हो इस तरह प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा कम देते जाएँ। फिर उचित समय गुरु कहे कि—हे क्षपक मुनि ! तेरे लिए दुर्लभ अशनादि ले आने में मुनि कैसे कण्टों को सहन करते हैं ? इससे वह पश्चाताप करते और प्रतिदिन एक-एक कौर का त्याग द्वारा आहार को कम करता है, वह क्षपक अपने पूर्व के मूल आहार में स्थिर रहता है और अनुक्रम से उसे भी कम करता जाये, इस तरह सारे आहार का संवर (त्याग) करता क्षपक मुनि अपने पानी के अभ्यास से वासित करे अर्थात् विविध आहार का त्याग करे। इस तरह मिथ्यात्वरूपी कमल को जलाने में हिम समान और संवेगी मनरूपी भ्रमर के लिये खिले हुए पुष्पों का उद्यान समान संवेगरंगशाला नामक आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला तीसरा ममत्व विच्छेद द्वार में छठा हानि नामक अन्तर द्वार कहा है। अब पानी के पोषण द्वारा वह क्षपक मुनि जिस तरह संवर करता है उसे अल्प-मात्र कहते हुए पञ्चवखान द्वार को कहते हैं।

सातवाँ पञ्चवखान द्वार :—स्वच्छ, चावल आदि का ओसामण (मांड), लेपकृत, अलेपकृत, कण वाला और कण रहित इस तरह छह प्रकार के जल को शरीर रक्षा के लिए योग्य कहा है। उसमें तिल, जौ, गेहूँ आदि अनाज के घुआ हुआ जल, गुड़-खांड के पात्र के घुला हुआ जल, इमली आदि के घुला हुआ खट्टा जल, इस प्रकार का दूसरा भी जो स्वकाय शस्त्र से अथवा परकाय शस्त्र से अचित्त हुआ हो, वह नौ काटि से अर्थात् हनन, कयण, या पाचन, नहीं किया हो, नहीं करवाया हो या अनुमति नहीं दी हो, अति विशुद्ध केवल अन्य किसी की आशा की अपेक्षा बिना लोगों से मिला हुआ जल साधुओं के योग्य है। इस प्रकार से सहज स्वभाव से मिला हुआ पानी द्वारा क्षपक मुनि सदा

समाधि के लिए अपने संस्कार पोषण करे, केवल खट्टे पानी से श्लेष्म, कफ आदि का क्षय होता है और पित्त का उपशम होता है, वायु के रक्षण के लिए पूर्व कही विधि करनी चाहिए। पेट के मल की शुद्धि के लिये तिखे पानी का त्याग करके क्षपक मुनि को मधुर पानी पिलाना और मन्द रूप में देना। इलायची, दालचीनी, केसर और तमाल पत्र डाला हुआ सक्कर सहित उबालकर ठण्डा किया हुआ दूध को समाधि स्थिर रहे उतना पिलाकर फिर उस क्षपक मुनि को सुपारी आदि द्रव्य से मधुर दे कि जिससे जठराग्नि शान्त होने से सुखपूर्वक समाधि को प्राप्त करे। अथवा गुरु महाराज की आज्ञा से वस्ती कर्म आदि से भी उदर शुद्धि करना, क्योंकि—अशांत अग्नि होने से उदय में पीड़ा उत्पन्न करता है। इसके बाद क्षपक मुनि जावज्जीव त्रिविध से आहार का त्याग की इच्छा करे तब उस समय निर्यामक आचार्य श्री संघ को इस प्रकार बतलाए— जावज्जीव (जब तक जीता रहूँगा तब तक) अनशन स्वीकार करने की इच्छा वाला यह क्षपक महात्मा मस्तक पर हस्त कमल जोड़कर आपको पादवंदन करता है और विनति करता है कि—हे भगवन्त ! आप मेरे ऊपर इस तरह प्रसन्न हो—आशीर्वाद दो कि जिससे मैं ईच्छित अर्थ अनशन को पार प्राप्त करूँ। इसके बाद प्रसन्न मन वाला श्रमण संघ क्षपक की आराधना के निमित्त और उपसर्ग रहित निमित्त कार्योंत्सर्ग को करे। और फिर आचार्य श्री जो संघ समुदाय के समक्ष चैत्य वन्दनपूर्वक विधि से क्षपक मुनि को चतुर्विध आहार का पञ्चक्खान करा दे, अथवा यदि समाधि के लिये आगारपूर्वक प्रारम्भ में त्रिविध आहार त्याग करे, उसके बाद में भी पानी का सदाकाल (जावज्जीव तक) त्याग करे। पानी के उपयोग करने में जो पूर्व में छह प्रकार पानी कहा है वह उसे त्रिविध आहार के त्याग में कल्प सकता है।

इस तरह गुरु महाराज के पास से चारित्र्य के भार को उठाने वाला, सदा उत्सुकता रहित और सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में राग रहित जीव का पञ्चक्खान करने पर आश्रव द्वार का बन्धन होता है और आश्रव का विच्छेद होने से तृष्णा का व्युच्छेदन होता है। तृष्णा व्युच्छेदन से जीव के पाप का उपशम होता है और पाप के उपशम से आवश्यक (समायिक आदि) की शुद्धि होती है। आवश्यक शुद्धि से जीव दर्शन शुद्धि को प्राप्त करता है और दर्शन शुद्धि से निश्चय चारित्र्य शुद्धि को प्राप्त करता है। शुद्ध चारित्र्य वाला जीव ध्यान-अध्ययन की शुद्धि को प्राप्त करता है और ध्यान अध्ययन के विशुद्ध होने से जीव परिणाम की शुद्धि प्राप्त करता है, परिणाम विशुद्धि से कर्म विशुद्धि को प्राप्त करता है और कर्म विशुद्ध से विशुद्ध हुआ

आत्मा सर्व दुःखों का क्षय करके सिद्धि को प्राप्त करता है। इस तरह दुर्गति नगर के दरवाजे को बन्द करने वाला संवेग मनरूपी भ्रमरों के लिए खिले हुए पुष्पों वाला उद्यान के समान संवेगरंगशाला नाम का सातवाँ अन्तर द्वार कहा है। अब पञ्चक्खान करने पर भी क्षमापना बिना क्षपक मुनि की सद्गति नहीं होती है इसलिए क्षमापना द्वार को कहते हैं।

आठवाँ क्षमापना द्वार :—पञ्चक्खान करने के बाद निर्यामक आचार्य मधुर शब्दों से क्षपक मुनि को कहे कि—हे देवानु प्रिये ! पिता तुल्य, बन्धु तुल्य अथवा मित्र तुल्य इस तरह अनेक गुणों के समूह रूप यह श्री संघ अथवा जिसको तीन लोक को वन्दनीय है ऐसे तीर्थंकर परमात्मा भी 'नमो तित्थस्स' ऐसा कहकर नमस्कार करते हैं, वह अनेक जन्मों की परम्परा से प्रगट हुआ दुष्कृत्य रूपी अन्धकार के समूह को नाश करने में सूर्य समान महाभाग श्री संघ उसे उपकार करने यहाँ आया है, इसलिए भक्ति पूर्ण मन वाले तू इस भगवन्त श्री संघ को पूर्व कालिन आशातनाओं के समूह को त्याग करके पूर्ण आदरपूर्वक क्षमा याचना कर। फिर वह क्षपक मुनि भक्ति के भार से नमा हुआ अपने मस्तक पर दोनों हाथ से सम्यग् अंजलि करके "आपकी शिक्षा को मैं चाहता हूँ, आपने मुझे श्रेष्ठ शिक्षा दी है।" इस तरह गुरुदेव के वचन की प्रशंसा करता त्रिकरण शुद्धि से नमस्कार करके अन्य को भी संवेग प्रगट करते सर्व संघ को इस तरह क्षमा याचना करता है—हे भगवन्त ! हे भट्टारक ! हे गुणरत्नों के समुद्र ! हे श्री श्रमण संघ ! आपके कारण मैंने जो कुछ सूक्ष्म या बादर पापानुबन्धी पाप इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में मन से चिन्तन किया हो, वचन से बोला हो अथवा काया से किया हो, अथवा मन, वचन, काया से यदि किया हो, करवाया हो या अनुमोदन किया हो, उन सब पाप को वर्तमान में मैं त्रिविध-त्रिविध सम्यक् खमाता हूँ। आपको नमस्कार हो ! आपको नमस्कार हो ! बारम्बार भी भाव से आपको ही नमस्कार हो ! निश्चय ही पेरों में गिरा हुआ मैं आपको बारम्बार खमाता हूँ। भगवन्त श्री संघ मुझ दीन पर दया करके क्षमा करो ! और निर्विघ्न आराधना के लिए आशीष देने के लिए तत्पर बनो। आपको खमाने से इस जगत में ऐसा कोई नहीं है कि जिसको मैंने खमाया न हो, क्योंकि—आप निश्चय समग्र जीव लोक के माता-पिता तुल्य हो, इससे आपको खमाने से विश्व के साथ क्षमा याचना होती है। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य सार्धमिक कुल और गण के प्रति भी मैंने जो कोई कषाय, मन, वचन और काया से पूर्व में किया हो तथा करवाया हो और अनुमोदन किया हो उन सबको त्रिविध-त्रिविध खमाता हूँ तथा उनके

विषय में भी सर्व अपराध को मैं खमाता हूँ। शत्रु-मित्र प्रति समचित्त वाले और सर्व जीवों के प्रति करुणा रस के एक समुद्र, उस भ्रमण भगवन्त भी अनु-कंपा पात्र मुझे क्षमा करें। इस तरह सम्यग् संवेगी मन वाला वह बाल, वृद्ध सहित सर्व श्री संघ को और फिर पूर्व में जिसके साथ विरोध हुआ हो उसको सविशेष क्षमा याचना करे। जैसे कि—प्रमाद से पूर्व में जो कोई भी मैंने आपके प्रति सद्वर्तन आदि नहीं किया हो, उन सबको वर्तमान में शल्य और कषाय से रहित मैं खमाता हूँ। इस तरह समता रूपी समुद्र को विकसाने में चन्द्र समान और संवेग मनस्वी भ्रमर के लिए विकासी पुष्पों के उद्यान सदृश संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला तीसरा ममत्व विच्छेद द्वार में आठवाँ क्षमापना नाम का अन्तर द्वार कहा है। अब क्षमा याचना योग्य वर्ग को क्षमा याचना करने पर स्वयं क्षमा न करे, तो वांछित सिद्धि नहीं होती है, इसलिए स्वयं का क्षामणा द्वार कहता हूँ।

नौवाँ स्वयं क्षमणा द्वार :—सद्भावपूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' देने आदि से जो कषाय को जीतना उसको यहाँ परमार्थ से श्रेष्ठ क्षमापणा कहा है। क्योंकि—पूर्व में तीव्र रस वाले, दीर्घ स्थिति वाले कठोर कर्मों का बन्धन किया हो, उसका नाश इस क्षमापणा से ही होता है। इस निर्यामक आचार्य के पास से सम्यग् प्रकार से सुनकर संवेग को धारण करते क्षपक मुनि पुनः इस प्रकार कहे—मैं सर्व अपराधों को खमाता हूँ, भगवन्त श्री संघ मुझे क्षमा करें, मैं भी मन, वचन, काया से शुद्ध होकर गुण के भण्डार श्री संघ को क्षमा करता हूँ। दूसरे को ज्ञात हो या अज्ञात हो सारे अपराध स्थानों को निश्चय यह त्रिकरण अति विशुद्ध आत्मा मैं सम्यक् रूप में खमाता हूँ। दूसरे मुझे जानते हों अथवा नहीं जानते हों, दूसरे मुझे खमाएँ अथवा नहीं खमाएँ तो भी त्रिविध शल्य रहित मैं स्वयं खमाता हूँ। इसलिये यदि सामने वाला भी क्षमा याचना करे, तो उभय पक्ष में श्रेष्ठ होता है और अत्यन्त अभिमान वाला, सामने वाला व्यक्ति क्षमा याचना नहीं कर सकता तो भी अहंकार के स्थान से वह मुक्त है। इस तरह विकास करते प्रशम के प्रकर्ष के ऊपर चढ़ते अति विशुद्ध तीनों करण के समूह वाला समता में तल्लीन रहते क्षमा नहीं करने वाले को भी सामने वाले को सम्यग् क्षमापना करने में तत्पर यह मैं निश्चय स्वयं खमाता हूँ, क्योंकि—मेरा यह काल क्षमा याचना का है। मैं सर्व जीवों को खमाता हूँ और वे सर्व भी मुझे क्षमा करें। मैं सर्व जीवों के प्रति वैर मुक्त और मैत्री भाव में तत्पर हूँ। इस तरह अन्य को क्षमा याचना करता स्वयं भी

क्षमा करते विशुद्ध मन वाला जीव श्री चंडरुद्र सूरि के समान तत्काल कर्मक्षय करता है। उसकी कथा इस प्रकार है :—

चंडरुद्राचार्य की कथा

उज्जैन नगर में गीतार्थ और पाप का त्याग करने में तत्पर चंद्ररुद्र नाम के प्रसिद्ध आचार्य थे। एवं वे स्वभाव से ही प्रचंड क्रोध होने से मुनियों के बीच बैठने में असमर्थ थे, इससे अन्य साधुओं से रहित स्थान में स्वाध्याय ध्यान में तत्पर बनकर प्रयत्नपूर्वक अपने अपशम भाव से अत्यन्त तन्मय करते गच्छ की निश्चा में रहते थे। एक समय क्रीड़ा करने का प्रेमी प्रिय मित्रों से युक्त नयी शादी वाला शृङ्गार से युक्त एक धनवान का पुत्र तीन मार्ग वाले तिराहे, चोराहे तथा चार मार्ग वाले चौराहे आदि में सर्वत्र फिरते हुये वहाँ आया और हँसी पूर्वक उन साधुओं को नमस्कार करके उनके चरणों के पास बैठा। उसके बाद उसके मित्रों ने मजाक से कहा कि—हे भगवन्त ! संसार वास से अत्यन्त उद्विग्न बना हुआ यह हमारा मित्र दीक्षा लेने की इच्छा रखता है, इसीलिए ही श्रेष्ठ शृङ्गार करके यहाँ आया है इसलिए दीक्षा दो। उसके भाव जानने में कुशल मुनियों ने उनकी मजाक जानकर अजान के समान कुछ भी उत्तर दिये बिना अपने कार्यों को करने लगे। फिर भी बार-बार बोलने लगे जब वे चिरकाल तक बोलते रुके नहीं तब 'इन दुर्शिक्षा वाले को भले शिक्षा दे' ऐसा विचार कर साधुओं ने कहा—'एकान्त में हमारे गुरुदेव चंडरुद्राचार्य बैठे हैं वे दीक्षा देंगे।' ऐसा कहकर उन्होंने गुरु का स्थान बतलाया। फिर कुतूहल प्रिय प्रकृति वाले वे वहाँ से आचार्य श्री के पास गये और पूर्व के समान सेठ के पुत्र ने दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की। इससे 'अरे रे ! मेरे साथ भी ये वहाँ पापी कैसी हँसी करते हैं ?' ऐसा विचार करते आचार्य श्री को अतीव्र क्रोध चढ़ा और कहा कि—अहो ! यदि ऐसा है तो मुझे जल्दी राख दो। और उसके मित्रों ने शीघ्र ही कहीं से राख लाकर दी। फिर आचार्य श्री ने उस सेठ के पुत्र को मजबूत पकड़कर श्री नमस्कार महामन्त्र सुनाकर अपने हाथ से लोच करने लगे। भवितव्यतावश जब उसके मित्रों ने तथा उस सेठ के पुत्र ने कुछ भी नहीं कहा, तब उन्होंने मस्तक का पूरा लोच कर दिया।

लोच होने के बाद सेठ के पुत्र ने कहा कि—भगवन्त ! इतने समय तक तो मजाक था, परन्तु अब सद्भाव प्रगट हुआ है, इसलिए कृपा करो और संसार समुद्र तरने में सर्वश्रेष्ठ नाव समान और मोक्ष नगर के सुख को देने वाली तथा जगत् गुरु श्री जैनेश्वर देवों के द्वारा कथित दीक्षा को भावपूर्वक दो।

ऐसा कहने से उस आचार्य ने उसे दीक्षा दी और दुःखी होते मित्त अपने-अपने स्थान पर चले गये। फिर उसने कहा कि—हे भगवन्त ! यहाँ मेरे बहुत स्व-जन हैं, इसलिए मैं यहाँ निर्विघ्न धर्म को आराधना नहीं कर सकता हूँ, अतः दूसरे गाँव में जाना चाहिए। गुरु जी ने स्वीकार किया, और उसे मार्ग देखने के लिये भेजा, वह मार्ग देखकर आया। फिर वृद्धावस्था के कारण काम्पते हुए उस आचार्य ने उसके कंधे के ऊपर दाहिना हाथ रखकर धीरे-धीरे चलना प्रारम्भ किया। रात्री के अन्दर मार्ग में चक्षु बल से रहित उनको थोड़ी भी पैर की स्खलना होते ही क्रोधातुर हो जाते, नये साधु को बार-बार कठोर तिरस्कार करते थे और 'यह तूने ऐसा मार्ग देखा है ?' इस तरह बार-बार वचन बोलते दण्ड से मस्तक पर प्रहार करते थे। तब नव दीक्षित होने पर भी वह चिन्तन करता है कि—अहो ? महापाप के भाजन से मैंने इस महात्मा को ऐसे दुःख समुद्र में डाला है ? एक मैं ही शिष्य के बहाने धर्म के भण्डार इस गुरुदेव को प्रत्यनीक (शत्रु) बना हूँ। धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! मेरे दुरा-आचरण को। इसे तरह अपनी निन्दा उसे ऐसी कोई अपूर्व श्रेष्ठ भावना प्रगट हुई कि जिससे निर्मल केवल ज्ञान का प्रकाश प्रगट हुआ। उसके बाद निर्मल केवल ज्ञान रूप दीपक से तीन जगत का विस्तार प्रगट रूप में दिखने लगा, वह शिष्य सम्यग् रूप में चलने लगा, इससे गुरु जी के पैरों की स्खलना नहीं हुई। इस तरह चलते जब प्रभात हुआ तब दण्ड के प्रहार से खून निकला हुआ और मस्तक पर लगे हुए शिष्य को देखकर चंडरुद्र सूरि ने विचार किया कि—अहो ! प्रथम दिन का दीक्षित नये मुनि की ऐसी क्षमा है ? और चिरदीक्षित होने पर भी मेरा ऐसा आचरण है ? क्षमा गुण से रहित मेरे विवेक को धिक्कार है ! निष्फल मेरी श्रुत सम्पत्ति को धिक्कार है ! मेरे आचार्य पद को भी धिक्कार हो ! इस तरह संवेग प्राप्त करते श्रेष्ठ भक्ति से उस शिष्य को खमाने उन्होंने ऐसे श्रेष्ठ ध्यान को प्राप्त किया कि जिस ध्यान से वे केवली बने। इस तरह क्षमा याचना से और क्षमा से जीव पाप समूह को अत्यन्त नाश करते हैं, इसलिये यह क्षमा करने योग्य है। इस तरह अन्य के अपराध को खमाने में तत्पर क्षमक सर्वश्रेष्ठ तप समाधि में प्रवृत्ति करते अनेक जन्मों तक पीड़ा वाले कर्म को तोड़ते विचरण करता है वह इस प्रकार है :—

तीव्र महा मिथ्यात्व की वासना से व्याप्त और चिरकाल तक पापों को करने में अति समर्थ अट्ठारह पाप स्थानक का आचरण करने वाला प्रमाद रूपी महामद से उन्मत्त अथवा कषाय से कलुषित जीव ने पूर्व में दुर्गति की एक प्राप्ति करने में समर्थ जो कुछ भी पाप का बन्धन किया हो उसे शुद्ध

भावना रूप पवन से उत्तेजित की हुई तपस्या रूपी अग्नि की ज्वालाओं से क्षपक तपस्वी मुनि सूखे बड़ वृक्षों के समूह के समान क्षण में जला देता है। इस तरह विघ्नों के समूह को सम्यक् घात करने वाला श्री श्रमण संघ आदि सर्व जीवों को खमाने में तत्पर रहता है और स्वयं भी श्री संघ आदि सर्व जीवों को क्षमा देने वाला इसलोक-परलोक के बाह्य सुख, निदान अभिलाषा रहित, जीवन मरण में समान वृत्ति वाला चन्दन के समान अपकारी-उपकारी और मान-अपमान में समभाव वाला क्षपक मुनि अपने आत्मा को सर्व गुणों से युक्त निर्यामिक को सौंपकर उनका शरण स्वीकार करके संधारा में बैठा हुआ सर्वथा उत्सुकता रहित काल व्यतीत करे। इस तरह परिकर्म करते हुए अन्य गण में रहा हुआ ममता को छेदन करके मोक्ष को चाहने वाला क्षपक मुनि समाधि मरण की प्राप्ति के लिए उद्यम करे।

इस तरह श्री जैन चन्द्र सूरि जी रचित संवेगी मनरूपी भ्रमण के लिए खिले हुए पुष्पों का उद्यान समान संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला तीसरा ममत्व विच्छेद द्वार में नौवाँ खामणा नाम का अन्तर कहा है। और इसे कहने से मूल चार द्वार का यह ममत्व विच्छेद नाम का तीसरा द्वार सम्पूर्ण हुआ है। इस तरह संवेगरंगशाला नामक आराधना का नौ अन्तर द्वार से रचा हुआ ममत्व विच्छेद नामक तीसरा मूल द्वार यहाँ समाप्त हुआ। इस तरह ५५५४ गाथा पूर्ण हुई।

॥ इति श्री संवेगरंगशाला द्वार तृतीय ॥



卐 ॐ अहं नमः 卐

॥ नमोऽस्तु श्री जैन प्रवचनायः ॥

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानन्द प्रकाश चन्द्र सूरि गुरुभ्योः नमः

(४) चौथा द्वार

समाधि लाभ द्वार

चौथे द्वार का मंगलाचरण

सद्धम्मोसहदाणा, पसमिय कम्माऽऽमयो तयऽशु काउं ।

सत्वंग नित्वइं लद्ध जयपसिद्धी सुवेज्जोत्तव ॥ ५५५५ ॥

तइलोककमत्थयमणी मणीहियत्थाण दाणदुत्तलिओ ।

सिरि वद्धमाणसामी समाहि लाभाय भवउ ममं ॥ ५५५६ ॥

अर्थात्—औषधदान से रोग को उपशम करके और फिर सर्व अंगों में स्वस्थता प्राप्त करवा कर उत्तम वैद्य जैसे प्रसिद्धि प्राप्त करता है, वैसे भव्य जीवों को धर्मरूप औषध दान देने से कर्मरूपी रोग को विनाश करके और फिर सर्वांग निवृत्ति (निर्वाण) पद प्राप्त करके तीन जगत में प्रसिद्ध प्राप्त करने वाले तीन लोक के चूड़ामणि भव्य जीवों के मन वांछित प्रयोजन का दान करने में एक महान् व्यसनी श्री वर्धमान स्वामी मुझे समाधि प्राप्त कराने वाले हो ।

आत्मा का परिकर्म करे, फिर अन्य गच्छ में जाए और ममत्व का छेदन करे, फिर भी क्षपक मुनि समाधि के बिना प्रस्तुत समाधि मरण रूप कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता है, इस कारण से ममत्व विच्छेद को कहकर अब 'समाधि लाभ द्वार' को कहते हैं । इसमें यह नौ अन्तर द्वार हैं :— (१) अनुशास्ति, (२) प्रतिपत्ति, (३) सारणा, (४) कवच, (५) समता, (६) ध्यान, (७) लेख्या, (८) आराधना का फल, और (९) शरीर का त्याग । इस विश्व में कारण के अभाव में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है और यहाँ प्रस्तुत कार्य एक अत्यर्थ आराधना रूप है । उसका परम कारण चतुर्विध आहार का पञ्चक्खान स्वीकार करके क्षपक मुनि को समाधि लाभ होता है,

और वह अनुशासित करने से होता है, इसलिए निषेध और विधान रूप श्रेष्ठ अर्थ समूह रूप तत्त्व को जानने में दीपक समान प्रथम अनुशास्ति द्वार को विस्तारपूर्वक कहता हूँ।

प्रथम अनुशास्ति द्वार :—स्वयं भी पाप व्यापार का त्यागी और अति प्रशान्त चित्त वाला निर्यामक गुरु महाराज क्षपक मुनि को मधुर वाणी से कहे कि—निश्चय हे देवानु प्रिय ! तू इस जगत में धन्य है, शुभ लक्षणों वाला, पुण्य की अन्तिम सीमा वाला, और चन्द्र समान निर्मल यश सम्पत्ति से सर्व दिशाओं को उज्ज्वल करने वाला है। मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ फल तूने प्राप्त किया है और तूने दुर्गति के कारणभूत अशुभ कर्मों की जलांजली दी है। क्योंकि—तू पुत्र, स्त्री आदि परिवार से युक्त था, फिर भी गृहस्थवास को तृण के समान त्याग करके अत्यन्त भावपूर्वक श्री भगवती श्रेष्ठ दीक्षा को स्वीकार की और उसे दीर्घकाल तक पालन कर अब धीरे तू सामान्य मनुष्य को सुनकर ही चित्त में अतीव क्षोभ प्रगट हो, ऐसा अति दुष्कर इस अनशन को स्वीकार करके इस तरह अप्रमत्त चित्त से साधना कर रहे हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति तुझे सुविशेष गुण साधन में समर्थ और दुर्गति को भगाने वाली कुछ शिक्षा—उपदेश देता हूँ, इस शिक्षा में त्याज्य वस्तु विषय के पाँच और करणीय वस्तु विषय के तेरह द्वार जानना। वह इस तरह—१. अट्ठारह पाप स्थानक, २. आठ मद स्थान, ३. क्रोधादि कषाय, ४. प्रमाद, और ५. विघ्नों का त्याग द्वार हैं, ये पाँच निषेध द्वार हैं। तथा ६. सम्यक्त्व में स्थिरता, ७. श्री अरिहंत आदि भक्ति छह प्रतिभा, ८. पंच परमेष्ठि नमस्कार में तत्परता, ९. सम्यग् ज्ञान का उपयोग, १०. पाँच महाव्रतों की रक्षा, ११. क्षपक के चार शरण स्वीकार, १२. दुष्कृत की गृही करना, १३. सुकृत की अनुमोदना करना, १४. बारह भावना से युक्त होना, १५. शील का पालन करना, १६. इन्द्रियों का दमन करना, १७. तप में उद्यमशील, और १८. निःशल्यता। इस तरह अनुशास्ति द्वार में निषेध और विधान रूप अट्ठारह अन्तर द्वारों को नाम मात्र कहा है। अब अपने-अपने क्रमानुसार आये हुये उन द्वारों को ही सिद्धान्त से सिद्ध दृष्टान्त युक्ति और परमार्थ से युक्त विस्तारपूर्वक कहता हूँ। इसमें अब प्रथम अट्ठारह अन्तर द्वार वाला अट्ठारह पाप स्थानकों का द्वार मैं कहता हूँ।

अट्ठारह पाप स्थान के नाम :—जीव को कर्मरज से मलिन करता है इस कारण से इसे पाप कहते हैं। इसके ये अट्ठारह स्थानक अथवा विषय हैं—(१) प्राणीघट, (२) अलिङ्ग वचन, (३) अदत्त ग्रहण, (४) मैथुन सेवना,

(५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) प्रेम (राग), (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अम्याख्यान, (१४) अरति-रति, (१५) पैशुन्य, (१६) पर-परिवाद, (१७) माया मृषा वचन, और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य । इसे अनुक्रम विस्तारपूर्वक कहते हैं ।

१. प्राणीवध :—उच्छ्वास आदि प्राण जिसको होते उसे जीव प्राण कहते हैं । उस प्राणों का वध करना अथवा वियोग करना वह प्राणीवध कहा जाता है और वह नरक का मार्ग है । निर्दयता धर्म ध्यान रूपी कमल के वन का नाश करने वाली अचानक प्रचण्ड हिम की वृष्टि रूप अथवा अग्नि के बड़े चूल्हे घिराव रूप हैं । अपकीर्ति रूपी लता के विस्तार के लिए पानी की बड़ी नोक है, प्रसन्न वचन मन वाले मनुष्यों के देश में शत्रु सैन्य का आगम का श्रवण है तथा असहनता और अविरति रूप रति और प्रीति का कामदेव रूप पति है । महान् प्राणी रूपी पंतगिये के समूह का नाश करने वाला प्रज्वलित दीपक का पात्र है, अति उत्कट पाप रूप कीचड़ वाला समुद्र अति गहरा है । अत्यन्त दुर्गम दुर्गति रूपी पर्वत की गुफा का बड़ा प्रवेश द्वार है, संसार रूपी भट्टी में तपे हुये अनेक प्राणी को लोहे के हथौड़े से मारने के लिए एरण है । क्षमा आदि गुण रूप अनाज के कण को दलने के लिये मजबूत चक्की है तथा नरक भूमि रूप तालाब में अथवा नरक रूप गुफा में उतरने के लिए सरल सीढ़ी है । प्राणीवध में आसक्त जीव इस जन्म में ही बार-बार वध बंधन जेल, धन का नाश, पीड़ा और मरण को प्राप्त करता है । जीव दया के बिना दीक्षा, देव पूजा, दान, ध्यान, तप, विनय, आदि सर्व क्रिया अनुष्ठान निरर्थक है । यदि गौहत्या, ब्रह्म हत्या और स्त्री हत्या को निवृत्ति से परम धर्म होता है, तो सर्व जीवों की रक्षा से वह धर्म उससे भी उत्कृष्ट कैसे न हो ? होता ही है ! इस संसार चक्र में परिभ्रमण करते जीव ने सर्व जीवों के साथ सभी प्रकार सम्बन्ध किए हैं, इसलिए जीवों को मारने वाला तत्त्व से अपने सर्व सगे सम्बन्धियों को मारता है । जो एक भी जीव को मारता है वह करोड़ों जन्म तक अनेक बार मरता हुआ अनेक प्रकार से मरता है । चार गति में रहे जीव को जितने दुःख उत्पन्न होते हैं वे सभी हिंसा के फल का कारण हैं, इसे सम्यग् प्रकार समझो । जीव वध करने वाला वह स्वयं अपने आपका वध करता है और जीव दया वह अपने आप पर दया करता है इसलिए आत्मार्थी जीव ने सर्व जीवों की सर्वथा हिंसा का त्याग किया ।

विविध योनियों में रहे मरण के दुःख से पीड़ित जीवों को देखकर बुद्धिमान उसको नहीं मारे, केवल सर्व जीव को अपने समान देखे । कांटे लग जाने

से भी जीव को तीव्र वेदना होती है तो तीर, भाला आदि शस्त्रों से मारे जाते हैं उस जीव को कितनी, कैसी पीड़ा होती है ? हाथ में शस्त्र रखने वाले हिंसक को आये देखकर भी विषाद और भय से व्याकुल बनकर जीव कांपने लगता है, निश्चय लोक में मरण के समान भय नहीं है। 'मर जा' इतना कहने पर भी जीव को यदि अतीव दुःख होता है, तो तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार से मरते हुये क्या दुःख नहीं होता है ? जो जीव जहाँ जिस शरीर आदि में जन्म लेता है वहीं राग करता है, इसलिए जहाँ जीव रहता है उसमें हमेशा दया करनी चाहिए। अभयदान समान अन्य कोई बड़ा दान सारे जगत में भी नहीं है। इसलिए जो उसे देता है वही सच्चा दानवीर-दातार है। इस जगत में मरते जीव को यदि करोड़ सोना मोहर का दान दे और दूसरी ओर जीवन दान देने में आए तो जीवन के चाहने वाला जीव करोड़ सोना मोहर स्वीकार नहीं करेगा। जैसे राजा भी मृत्यु के समय समग्र राज्य को देता है वैसे जो अमूल्य जीवन को देता है वह इस जीवलोक में अक्षयदान को देता है। वह धार्मिक है, विनीत है, उत्तम विद्वान है, चतुर है, पवित्र और विवेकी है कि अन्य जीवों में सुख-दुःख को अपनी उपमा दी है अर्थात् सुख-दुःख अपने आप में माना है। अपना मरण आते देखकर जो महादुःख होता है, उसके अनुमान से सर्व जीवों को भी देखना चाहिए। जो स्वयं को अनिष्ट हो वह दूसरों को भी सर्वथा नहीं करे, क्योंकि इस जन्म में जैसा किया जाता है वैसा ही फल मृत्यु के बाद मिलता है। समग्र जगत में भी जीवों को प्राणों से भी अधिक कोई भी प्रिय नहीं है, इसलिए अपने दृष्टान्त से उनके प्रति दया ही करनी चाहिए। जो जीव जिस प्रकार, जिस निमित्त, जिस तरह से पाप को करता है, वह उसका फल भी उसी क्रम से वैसा ही अनेक बार प्राप्त करता है। जैसे इस जन्म में दातार अथवा लूटेरा उस प्रकार के ही फल को प्राप्त करता है वैसे ही सुख-दुःख का देने वाला भी पुण्य और पाप को प्राप्त करता है। जो दुष्ट मन, वचन और काया रूपी शस्त्रों से जीवों की हिंसा करता है, वही उसी शस्त्रों द्वारा दस गुणा से लेकर अनन्त गुणा तक मारा जाता है। जो हिंसक भयंकर संसार को खत्म करने में समर्थ है और दया तत्त्व को नहीं समझता है, उसके ऊपर गर्जना करती भयंकर पाप रूपी वज्राग्नि गिरती है।

इसलिए हे बन्धु ! सत्य कहता हूँ कि—हिंसा सर्वथा त्याग करने योग्य है, जो हिंसा को छोड़ता है वह दुर्गति को भी छोड़ देता है, ऐसा समझो ! जैसे लोहे का गोला पानी में गिरता है तो आखिर नीचे स्थान पर जाता है, वैसे हिंसा से प्रगट हुये पाप के भार से भारी बना जीव नीचे नरक में गिरता

है। और जो इस लोक में जीवों के प्रति विशुद्ध जीव दया को सम्यक् रूप पालन करता है वह स्वर्ग में मंगल गीत और वाजितों के शब्द श्रवण का सुख, अप्सराओं के समूह से भरा हुआ और रत्न के प्रकाश वाला श्रेष्ठ विमान चिन्तन मात्र से प्राप्त करता है, सकल विषय सुख वाला देव बनता है और वहाँ से च्यवन कर भी असाधारण सम्पत्ति का विस्तार वाला, उज्ज्वल यश वाला उत्तम कुल में ही जन्म लेता है। दया के प्रभाव से वह जगत के सभी जीवों को सुख देने वाला, दीर्घ आयुषी, निरोगी, नित्य शोक, संताप रहित और काया क्लेश से मनुष्य होता है, वह हीन अंग वाला, पंगु, बड़े पेट वाला, कुबड़ा, ठिगना, लावण्य रहित और रूप रहित नहीं होता है। तथा दया धर्म को करने से मनुष्य सुन्दर रूप वाला, सौभाग्यशाली, महाधनिक, गुणों से महान् और असाधारण बल, पराक्रम और गुण रत्नों से सुशोभित शरीर वाला, माता-पिता के प्रति प्रेम वाला, अनुरागी स्त्री, पुत्र, मित्रों वाला और कुल वृद्धि को करने वाला होता है। जिनको प्रिय मनुष्यों के साथ वियोग, अप्रिय का समागम, भय, बिमारी, मन की अप्रसन्नता, हानि, पदार्थ का नाश नहीं होता है। इस प्रकार पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से जिसको बाह्य, अभ्यन्तर सर्व संयोग सदा अनुकूल ही होते हैं, दयालु मनुष्य सम्पूर्ण जैन धर्म की सामग्री को प्राप्त कर और उसे विधिपूर्वक आराधना कर जीव दया के पारमार्थिक फल को प्राप्त करता है। इस तरह जिसके प्रभाव से जीवात्मा श्रेष्ठ कल्याण की परम्परा को सम्यक् रूप से प्राप्त करता है और पूज्य बनता है वह जीव दया विजयी रहे। अथवा लौकिक शास्त्र में भी इस जीव हिंसा का पूर्व कहे अनुसार त्याग रूप कहा है, तो लोकोत्तर शास्त्र में पुनः क्या कहना? प्राणी-वध, आसक्त और उसकी विरति वाले इस जन्म में दोष और लाभ होता है। इस हिंसा अहिंसा विषय में भी सासु, बहु और पुत्री का दृष्टान्त देते हैं, वह इस प्रकार है :—

सास-बहु और पुत्री की कथा

बहुत मनुष्यों वाला और विशाल धन वाला तथा शत्रु सैन्य, चोर या मरकी का भय कभी देखा ही नहीं था, उस शंखपुर नामक नगर में बल नाम का राजा था। उस राजा के प्रीति का पात्र और सभी धन वालों का माननीय सर्वत्र प्रसिद्ध सागरदत्त नाम का नगर सेठ था। उस सेठ की सम्पदा नाम की स्त्री थी, उसको मुनिचन्द्र नाम से पुत्र, बन्धुमती नाम की पुत्री और थावर नामक छोटा बाल नौकर था। उस नगर के नजदीक में वटप्रद नामक अपने

गोकुल में जाकर सेठ अपनी गायों के समूह की सार सम्भाल करता था। प्रत्येक महीने में सेठ वहाँ से घी, दूध से भरे हुये बैलगाड़ी लाता था और स्वजन, मित्र तथा दीन दरिद्र मनुष्यों को देता था। बन्धुमती भी श्री जैनेश्वर देव के धर्म को सुनकर हिंसादि, पाप स्थानकों की त्याग वाली प्रशम गुण वाली श्राविका बनी थी। फिर जीवन का इन्द्र धनुष्य समान चंचलत्व होने से क्रमशः सागर दत्त सेठ की किसी दिन मृत्यु हो गयी और नागरिक और स्वजनों ने उस नगर सेठ के स्थान पर मुनिचन्द्र को स्थापन किया। वह स्व-पर के सारे कार्यों में पूर्व पद्धति के अनुसार करने लगा। थावर नौकर भी पूर्व अनुसार उसका अति मान करता था और मित्र के समान, पुत्र के समान तथा स्वजन के समान घर का कार्य करता था।

केवल कामाग्नि से पीड़ित, उससे व्याकुल दुःशील संपदा स्त्री स्वभाव से और विवेक क्षून्यता से थावर को देखकर चिन्तन करने लगी कि—एकान्त में रहकर मैं किस उपाय से इसके साथ किसी भी रोक-टोक के बिना विघ्न रहित विषय सुख को कब भोग करूँगी? अथवा किस तरह इस मुनिचन्द्र को मार-कर इस थावर को धन सुवर्ण से भरे हुये अपने घर का भी मालिक बनाऊँगी? इस तरह विचार करती वह स्नान, भोजनादि द्वारा थावर की सविशेष सेवा करने लगी। अहो! पापी स्त्रियों की कैसी दुष्टता? उसके आशय को नहीं जानते थावर इस तरह उसका व्यवहार देखकर ऐसा मानने लगा कि—इस तरह मुझे पुत्र तुल्य मान अपना मातृत्व बता रही है। एक समय लज्जा को छोड़कर और अपने कुल की मर्यादा को दूर रखकर उसने एकान्त में सर्व आदरपूर्वक उसे आत्मा सौंप दी, अन्तःकरण की सत्य बात कही कि—हे भद्र! मुनिचन्द्र को मार दो, इस घर में मालिक के समान विश्वस्त तू मेरे साथ भोग विलास कर। उसने पूछा कि—इस मुनिचन्द्र को किस तरह मारूँ? उसने कहा कि—मैं तुझे और उसको गोकुल देखने के लिये जब भेजूँगी तब मार्ग में तू तलवार से उसे मार देना, उसने वह स्वीकार किया। निर्लज्ज को क्या अकरणीय है? यह बात बन्धुमती ने सुन ली और स्नेहपूर्वक उसी समय घर में आते भाई को कह दी। उसको मौन करवा कर मुनिचन्द्र घर में आया और माता भी कपट से रोने लगी। उसने पूछा कि—हे माता जी! आप क्यों रो रही हो? माता ने कहा कि—पुत्र! अपने कार्य को कमजोर देखकर मैं रो रही हूँ। तेरा पिता जब जीता था तब अवश्य मास पूर्ण होते देखकर गोकुल में से घी, दूध लेकर देते थे। हे पुत्र! तू तो अब अत्यन्त प्रमादवश हो गया है, इसलिये गोकुल की अल्प भी सार सम्भाल नहीं करता, कहो अब किसको

कहूँ ? पुत्र ने कहा कि—माता ! रो मत, मैं स्वयं प्रभात में थावर के साथ गोकुल जाऊँगा, आप शोक को छोड़ दो । ऐसा सुनकर प्रसन्न हुई वह मौन धारण कर रही, फिर दूसरे दिन घोड़े के ऊपर बैठकर वह थावर के साथ चला । चलते हुये मार्ग में थावर मन में विचार करने लगा कि—यदि किसी तरह मुनिचन्द्र आगे चले तो तलवार से मैं उसे जल्दी मार दूँगा । मुनिचन्द्र भी बहन के कथन का विचार करते अप्रमत्त बनकर मार्ग में उसके साथ में ही चलने लगा । फिर विषम मार्ग आया तब घोड़े को चाबुक का प्रहार किया और घोड़ा आगे चलने लगा, जब मुनिचन्द्र शंकापूर्वक जाने लगा उस समय पीछे रहे वह उसको मारने के लिये तलवार म्यान में से खींचने लगा । मुनिचन्द्र ने उसी तरह वैसी ही परछायी देखी, इससे उसने घोड़े को तेजी से दौड़ाया और तलवार का निशाना निश्फल किया ।

दोनों गोकुल में पहुँचे और गोकुल के रक्षकों ने उनका सत्कार सेवा की, फिर अन्य-अन्य बातें करते सूर्यास्त तक वहीं रहे । थावर उसे मारने के लिए उपायों का विचार करता है, निश्चय किया कि रात में इसे अवश्य मार दूँगा । फिर रात में जब पलंग सोने के लिये घर में रखा तब मुनिचन्द्र ने कहा कि—आज मैं बहुत समय के बाद यहाँ आया हूँ, इसलिये इस पलंग को गायों के बाड़े में रखो कि जिससे वहाँ रहे हुए सर्व गाय, भैंस के प्रत्येक समूह को देख सकूँ । नौकरों ने पलंग को उसी तरह रख दिया । फिर मुनिचन्द्र विचार करता है कि—अब मैं थावर नौकर की सम्पूर्ण प्रवृत्ति आज देखूँ । उसको अकेला सोया हुआ देखकर 'अब मैं रूकावट बिना सुखपूर्वक मार दूँगा ।' ऐसा मानकर थावर भी मन में प्रसन्न हुआ । फिर जब लोग सो गये तब मुनिचन्द्र तीक्ष्ण तलवार लेकर अपने पलंग पर लकड़ी और ऊपर वस्त्र ढककर देखने वाले को पुरुष दिखे, इस तरह रखकर थावर का दुष्ट आचरण देखने के लिए अत्यन्त सावधान मन वाला, मौन धारण करके एकान्त में छुप गया । थोड़े समय के बाद विश्वास होते थावर ने आकर जब उस पलंग पर प्रहार किया, उसी समय मुनिचन्द्र ने तलवार से प्रहार किया, इससे वह मर गया । उसकी बात छुपाने के लिये सारे पशुओं के समूह को बाड़े से बाहर लाकर मुनिचन्द्र बोलने लगा कि—'अरे ! भाईयों ! दौड़ो, दौड़ो ! चोरों ने गायों का हरण किया है और थावर को मार दिया ।' इससे सर्वत्र पुरुष दौड़े । वे गायों को वापिस ले आये और ऐसा मानने लगे कि—चोर भाग गये हैं । इसके बाद थावर का सारा मृत कार्य किया ।

इधर माता चिन्तातुर हो रही थी 'वहाँ क्या हुआ होगा' और उसके आने वाले मार्ग को देख रही थी, इतने में मुनिचन्द्र अकेले शीघ्र घर पर पहुँचा। तलवार को घर की कील पर लगाकर अपने आसन पर बैठा और उसकी पत्नी उसके पैर धोने लगी। शोकातुर माता ने पूछा कि—हे पुत्र ! थावर कहाँ है ? उसने कहा कि—माता जी ! मन्द गति से पीछे आ रहा है। इससे क्षोभ होते उसने जब तलवार सामने देखी तब खून की गन्ध से चींटियाँ आती देखीं और स्थिर दृष्टि से देखते उसने तलवार को भी खून से युक्त देखी, इससे प्रबध क्रोधाग्नि से जलते शरीर वाली उस पापिनी ने उस तलवार को म्यान में से बाहर निकालकर अदृश्य—गुप्त रूप में रहकर उसने अन्य किसी कार्य एकचित्त बने पुत्र का मस्तक शीघ्र काट दिया। अपने पति को मरते देखकर उसकी पत्नी का अत्यन्त क्रोध बढ़ गया और बन्धुमती के देखते-देखते ही मूसल से सासु को मार दिया और जीव हिंसा से विरागी चित्त वाली वह बन्धुमती हृदय में महा संताप को धारण करती घर के एक कोने में बैठी रही। नगर के लोग वहाँ आए और उस वृत्तान्त को जानकर उन्होंने बन्धुमति से पूछा कि—माता को मारने वाली इस बहु को क्यों नहीं मारा ? तब उसने कहा कि—'मुझे किसी भी जीव को नहीं मारने का नियम है।' इससे लोगों ने उसकी प्रशंसा की और बहु को बहुत धिक्कारा। इसके बाद घर की सम्पत्ति को राजा ले गया, पुत्रवधू को कैदखाने में बन्द कर दिया और बन्धुमती सत्कार करने योग्य बनी। इस तरह प्राणीवध अनर्थ का कारण है। प्राणीवध नाम का यह प्रथम पाप स्थानक कहा है। अब मृषावाद नामक दूसरा पाप स्थानक कहते हैं।

२. मृषावाद द्वार :—मृषा वचन वह अविश्वास रूप वृक्षों के समूह का अति भयंकर कंद है, और मनुष्यों के विश्वास रूप पर्वत के शिखर के ऊपर वज्राग्नि का गिरना है। निन्दा रूपी वेश्या को आभूषण का दान है, सुवासना रूपी अग्नि में जल का छिड़काव है और अपयश रूपी कुलटा को मिलने का सांकेतिक घर है, दोनों जन्म में उत्पन्न होने वाली आपत्ति रूप कमलों को विकसित करने वाला शरद ऋतु का चन्द्र है और अति विशुद्ध धर्म गुण रूपी धान्य सम्पत्तियों को नाश करने में दुष्ट वायु है, पूर्वापद वचन विरोध रूप प्रतिबिम्ब का दर्पण है और सारे अनर्थों के लिए सार्थपति के मस्तक मणि है। और सज्जनता रूपी वन को जलाने में अति तीव्र दावानल है, इसलिये सर्व प्रयत्न से इसका त्याग करना चाहिए। और जैसे जहर मिश्रित भोजन परम विनाशक है तथा जरा यौवन की परम घातक है, वैसे असत्य भी निश्चय सर्व

धर्म का विनाशक जानना । भले जटाधारी हो, शिखाधारी या मुण्डन किया हो, वृक्ष के छिलकों के वस्त्र धारण करने वाले हों अथवा नग्न हों फिर भी असत्यवादी लोक में पाखंडी और चण्डाल कहलाता है । एक बार भी असत्य बोलने से अनेक बार बोला हुआ सत्य वचनों का नाश करता है । और इस तरह यदि सत्य बोले फिर भी वह मृषावादी में तो अविश्वास पात्र ही बनता है । इसलिए झूठ नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि लोक में असत्यवादी निन्दा का पात्र बनता है और अपने प्रति अविश्वास प्रगट करता है । राजा भी मृषावादी के दुष्ट प्रवृत्ति को देखकर जीभ छेदन आदि कठोर दण्ड देता है । मृषा बोलने से उत्पन्न हुए पाप के द्वार जीव को इस जन्म में अपकीर्ति और परलोक में सर्व प्रकार की उद्यमगति होती है । इसलिए परलोक की आराधना के एकचित्त वाले आत्मा, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य अथवा भय से भी मृषावाद को नहीं बोलना चाहिए । ईर्ष्या और कपाय से भरा हुआ विचारा मनुष्य मृषावाद बोलने से दूसरे का उपघात करता है, ऐसा वह नहीं जानता कि—मैं अपना ही घात करता हूँ । लांच (रिश्वत) लेने में रक्त है, कूटसाक्षी देने वाला है, मृषावादी है, आदि लोगों के धिक्कार रूप पुद्गल से मारा जाता है और महा भयंकर नरक में गिरता है । उसमें लांच लेने में रक्त मनुष्य की कीर्ति अपना प्रयोजन, मन की शान्ति अथवा धर्म नहीं होता है, परन्तु दुर्गति गमन ही होता है । झूठी साक्षी देने वाला अपना सदाचार, कुल, लज्जा, मर्यादा, यश, जाति, न्याय, शास्त्र और धर्म का त्याग करता है तथा मृषावादी बोलने वाला जीव इन्द्रिय रहित, जड़त्व, गूंगा, खराब स्वर वाला, दुर्गन्ध मुख वाला, मुख के रोग वाला और निन्दा पात्र बनता है ।

मृषा वचन यह स्वर्ग और मोक्ष मार्ग को बन्द करने वाली जंजीर है, दुर्गति का सरल मार्ग है और अपना प्रभाव नाश करने में है । जगत में भी सारे उत्तम पुरुषों ने मृषा वचन की जोरदार निन्दा की है, झूठा जीव अविश्वास-कारी होता है, इसलिए मृषा नहीं बोलना चाहिए । यदि जगत में भी जो दयालु है वह सहसा कुछ भी झूठ नहीं बोलते हैं, फिर यदि दीक्षित भी झूठ बोले तो ऐसी दीक्षा से क्या लाभ ? सत्य भी वह नहीं बोलना कि जो किसी तरह असत्य—अहित वचन हो, क्योंकि जो सत्य भी जीव को दुःखजनक बने वह सत्य भी असत्य के समान है । अथवा जो पर को पीड़ाकारक हो उस हास्य से भी नहीं बोलना चाहिए । क्या हास्य से खाया हुआ जहर कड़वा फल देने वाला नहीं बनता है ? इसलिए हे भाई ! सत्य कहता हूँ कि—निश्चय मृषा वचन को सर्व प्रकार से त्याग कर, यदि उसका त्याग किया, तो कुगति

का सर्वथा त्याग किया है, ऐसा जान । झूठ बोलने से पाप, समूह के भार से जीव, जैसे लोहे का गोला पानी में डूब जाता है, वैसे नरक में डूब जाता है इसलिए असत्य को छोड़कर हमेशा सत्य ही बोलना चाहिए, क्योंकि वह सत्य स्वर्ग में और मोक्ष में ले जाने के लिए मनोहर विमान है । जो वचन कीर्ति-कारक, धर्मकारक, नरक के द्वार को बन्द करने वाला, संकल के समान, सुख अथवा पुण्य का निधान, गुण को प्रगट करने वाला तेजस्वी दीपक, शिष्ट पुरुषों का इष्ट और मधुर हो, स्व और पर पीड़ा का नाशक, बुद्धि द्वारा विचारा हुआ, प्रकृति से ही सौम्य—शीतल, निष्पाप और कार्य सफल है, उस वचन को सत्य जानना ।

इस प्रकार सत्य वचन रूपी मन्त्र से मन्त्रित विष भी मारने में समर्थ नहीं हो सकता है और धीर पुरुषों के सत्य वचन से श्राप देने पर अग्नि भी नहीं जला सकती है । उल्टे मार्ग में जाती पर्वत की नदी को भी निश्चय सत्य वचन से रोक सकते हैं और सत्य से श्राप किये हुये सर्प भी किल के समान स्थिर हो जाता है । सत्य से स्तम्भित हुआ तेजस्वी शस्त्रों के समूह भी प्रभाव रहित बन जाता है और दिव्य प्रभाव पड़ने पर भी सत्य वचन सुनने मात्र से जल्दी मनुष्य शुद्ध होता है । सत्यवादी धीर पुरुष सत्य वचन से देवों को भी वश करते हैं और सत्य से पराभव हुए डाकिनी, पिशाच और भूत-प्रेत भी छल कपट नहीं कर सकते हैं । सत्य से इस जन्म में अभियोगिक देव पुण्य समूह का बन्धन करके अन्य जन्म में महद्भिक देव बनकर उत्तम मनुष्यत्व को प्राप्त करता है और वहाँ आदेय नाम कर्म वाला, वह सर्वत्र मान्य वचन वाला, तेजस्वी, प्रकृति से सौम्य, देखते ही नेत्रों को सुखकारी और स्मरण करते मन की प्रसन्नता प्राप्त कराने वाला, तथा बोलते समय कान और मन को दूध समान, मधु समान अथवा अमृत समान प्रिय और हितकारी बोलता है, इस तरह सत्य से पुरुष वाणी के गुण वाला बनता है । सत्य से मनुष्य जड़त्व, गूंगा, तुच्छ स्वर वाला, कौए के समान, अप्रिय स्वर वाला, मुख में रोगी और दुर्गन्ध युक्त मुख वाला नहीं है । परन्तु सत्य बोलने वाला मनुष्य सुखी, समाधि प्राप्त करने वाला, प्रमोद से आनन्द करने वाला, प्रीति परायण, प्रशंसनीय, शुभ प्रवृत्ति वाला, परिवार को प्रिय बनता है । तथा प्रथम पाप स्थानक के प्रतिपक्ष से होने वाले जो गुण बतलाये हैं उस गुण से युक्त और इस गुण से युक्त बनता है । इस तरह इसके प्रभाव से जीव श्रेष्ठ कल्याण की परम्परा को प्राप्त करता है और पूज्य बनता है, अतः यह सत्य वाणी विजयी बनती है । सत्य में तप, सत्य में संयम और सत्य में ही सर्व गुण रहे हैं । अति दृढ़ संयमी

पुरुष भी मृषावाद से तृण के समान कीमत रहित बनते हैं। इस तरह सत्य असत्य बोलने के गुण-दोष जानकर—हे सुन्दर ! असत्य वचन का त्याग कर सत्यवाणी का ही उच्चारण कर। दूसरे पाप स्थानक में वसु राजा के समान स्थान भ्रष्ट आदि अनेक दोष लगते हैं और उसके त्याग जीव को नारद के समान गुण उत्पन्न होते हैं, वह इस प्रकार :—

वसु राजा और नारद की कथा

इस जम्बू द्वीप नामक द्वीप में शक्तिमती नगर में अभिचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था और उसका वसु नाम का पुत्र था। उसे वेद का अभ्यास करने के लिए पिता ने आदरपूर्वक गुणवान् क्षीर कदंबक नामक ब्राह्मण उपाध्याय को सौंपा। उपाध्याय का पुत्र पर्वत और नारद के साथ राजपुत्र वसु वेद के रहस्यों का हमेशा अभ्यास करने लगे। एक समय आकाश मार्ग से अतीव ज्ञानी महामुनि जा रहे थे, इन तीनों को देखकर परस्पर कहा कि—जो ये वेद पढ़ रहे हैं उसमें दो नीच गति में जाने वाले और एक ऊर्ध्व गति में जाने वाला है। ऐसा कहकर वे वहाँ से आगे चले। यह सुनकर उपाध्याय क्षीर कदंबक ने विचार किया कि—ऐसा अभ्यास कराना निरर्थक है, इससे क्या लाभ है ? इससे तो मुझे भी धिक्कार है, ऐसा संवेग प्राप्त कर उसने दीक्षित होकर मोक्ष पद प्राप्त किया।

अभिचन्द्र राजा ने अपने राज्य पर अभिषेक करके वसु को राजा बनाया। वह राज्य भोगते उसे एक दिन एक पुरुष ने आकर कहा कि—हे देव ! आज मैं अटवी में गया वहाँ हरिण को मारने के लिए बाण फँका था, परन्तु वह बीच में ही टकरा कर गिर पड़ा। इससे आश्चर्यचकित होते हुये वह वहाँ गया, वहाँ हाथ के स्पर्श करते मैंने एक निर्मल स्फटिक रत्न की शिला देखी जिस शिला के पीछे के भाग में हरिण स्पष्ट दिखता था। बाद में मैंने विचार किया कि—वह आश्चर्यकारण रत्न राजा के ही योग्य है, इसलिए आपको कहने के लिये आया हूँ। यह सुनकर राजा ने उस स्फटिक की शिला को गुप्त रूप में मंगवाकर सिंहासन बनाने के लिए कलाकारों को सौंपा। उसका सिंहासन बनाकर सभा मण्डप में स्थापन किया, उसके ऊपर बैठा हुआ राजा आकाश तल अन्तरिक्ष में (हवा में लटकता) बैठा हो, इस तरह दिखता था। नगर लोग विस्मय होते और अन्य राजाओं में प्रसिद्धि हुई कि—वसु राजा सत्य के प्रभाव से अन्तरिक्ष में बैठता है। और ऐसी प्रसिद्धि को सदा रखने के लिए उसने उन सब कलाकारों को खत्म कर दिया और लोगों को दूर रखकर

विज्ञप्ति आदि बात करता था, परन्तु किसी को भी नजदीक आने नहीं देता था। और वह पर्वत तथा नारद भी शिष्यों को अपने-अपने घर वेद का अध्ययन करवाते थे, इस तरह बहुत समय व्यतीत हुआ।

किसी समय अनेक शिष्यों के साथ नारद पूर्व स्नेह से और अपने गुरु के पुत्र मानकर पर्वत के पास आया, पर्वत ने उसका विनय किया और दोनों बातें करने लगे। प्रसंगोपात अति मूढ़ पर्वत ने यज्ञ के अधिकार सम्बन्धी व्याख्यान किया “अर्जेहि जट्ठव्व” इस वेद पद से ‘अज अर्थात् बकरे द्वारा’ यज्ञ करना चाहिये। इस तरह अपने शिष्य को समझाया। इससे नारद ने कहा कि—यहाँ इस विषय में अज अर्थात् तीन वर्ष का पुराणा अनाज जो फिर उत्पन्न न हो ऐसे जो व्रीही आदि हो उसके द्वारा ही यज्ञ करना ऐसा गुरु जी ने कहा है। यह वचन पर्वत ने नहीं माना, इससे बहुत विवाद हुआ और निर्णय हुआ कि जो वाद में हार जाए उसकी जीभ का छेदन करना, ऐसी दोनों ने प्रतिज्ञा की तथा साथ में पढ़ने वाला वसु राजा था वह इस विषय में जो कहेगा वह प्रमाण रूप माना जायेगा। फिर नारद को सत्यवादी जानकर पर्वत की माता भयभीत हुई कि—निश्चय अब मेरे पुत्र के जीभ छेदन से मृत्यु होगी, इसलिए राजा के पास जाकर निवेदन करूँ। ऐसा सोचकर वह वसु राजा के घर गई। गुरु पत्नी आते देखकर राजा ने खड़े होकर विनय किया, फिर उसने एकान्त में नारद और पर्वत की सारी बातें कहीं। वसु राजा ने कहा कि—हे माता ! आप कहो, इसमें मुझे क्या करना है ? उसने कहा कि—मेरा पुत्र जीते ऐसा करो। उसके अति आग्रह के कारण वसु राजा ने भी स्वीकार किया और दूसरे दिन दोनों पक्ष उसके सामने आए, सत्य बात सुनाकर नारद ने कहा कि—हे राजन् ! तू इस विषय में धर्म का तराजू है, तू सत्यवादियों में अग्रसर है इसलिये कहो कि ‘अर्जेहि जट्ठव्व’ इसकी गुरु जी ने किस तरह व्याख्या की है ? तब अपने सत्यवादी प्रसिद्धि को छोड़कर राजा ने कहा कि—हे भद्र ! ‘अर्जेहि अर्थात् बकरे द्वारा जट्ठव्व अर्थात् यज्ञ की पूजा करनी’ ऐसा कहा है। ऐसा बोलते ही अति गलत साक्षी देने वाला जानकर कुलदेवी कुपित हुई और स्फटिक सिंहासन से नीचे गिराकर मार दिया और इसके बाद भी उस सिंहासन पर आठ राजा बैठे, उन सबको मार दिया। ‘पर्वत भी अति असत्यवादी है’ ऐसा मानकर लोगों ने धिक्कारा और वसु राजा मरकर नरक में उत्पन्न हुआ। नगर लोगों में सत्यवादी के रूप में नारद का सत्कार हुआ, उसकी इस लोक में चन्द्र समान उज्ज्वल कीर्ति हुई और परलोक में देवलोक की सुख सम्पत्ति की प्राप्ति की। इस तरह दूसरा मृषावाद

नामक पाप स्थानक कहा, अब तीसरा अदत्तादान नामक पाप स्थानक कहते हैं।

३. अदत्तादान द्वार :—कीचड़ जैसे जल को, मैल जैसे दर्पण को और धुँआ जैसे दीवार के चित्रों को मलिन करता है वैसे परधन लेन के स्मरण भी चित्त रूपी रत्न को मलिन करता है। इसमें आसक्त जीव धर्म का नाश विचार बिना करने वाला, सत्पुरुषों ने पालन की हुई कुल व्यवस्था का भी अनादर करने वाला, कीर्ति को कलंक नहीं दिखने वाला, जीवन की भी बेकदरी करके, मृग समान गीत के शब्द को, पतंग जैसे दीप की ज्योति को, मत्स्य जैसे जल में, लोहे के काटे में मांस के टुकड़ों को, भ्रमर जैसे कमल को और जंगली हाथी जैसे हथणी के स्पर्श करने की इच्छा करता है, वैसे वह पापी परधन को हरण करता है और उसी जन्म में हाथ का छेदन, कान का छेदन, नेतों का नाश, करवत से काटा जाना अथवा मस्तक आदि अंगों का छेदन-भेदन होता है। पर के धन को, चोरी को आनन्द मानता है और अपना धन जब दूसरा हरण करता है तब मानो शक्ति नामक शस्त्र से सहसा भेदन हुआ हो, इस तरह दुःखी होता है। लोग भी अन्य अपराध करने वाले अपराधी का पक्ष करते हैं, परन्तु चोरी के व्यसनी का उसके स्वजन भी पक्ष नहीं करते हैं। अन्य अपराध करने वाले को सगे सम्बन्धी घर में रहने के लिये स्थान देते हैं, परन्तु परधन की चोरी करने वाले को माता भी घर में स्थान नहीं देती है और किसी तरह भी जिसके घर में उसे आश्रय दिया जाता है वह उसे बिना कारण ही महा अपयश में, दुःख में और महा संकट में फँसा देता है। मनुष्य महा कष्ट से लम्बे काल के बाद विविध आशाओं से कुछ धन एकत्रित करता है। ऐसा प्राण प्रिय समान उस धन की जो चोरी करता है उससे अधिक पापी और कौन है ? संसारी जीवों को यह कष्ट से मिला हुआ धन सर्व प्रकार से प्राण तुल्य होता है, उसका उस धन की चोरी करने वाला पापी उसको जीते ही मारता है। वैभव चोरी होते दीन मुख वाले कितने भूख से मरते हैं, जब कृपण के समान कितने दूसरे के शोकाग्नि से जलते हैं। करुणा रहित उस समय जन्म लेने वाले पशु आदि का हरण करता है, इससे माता से अलग हुए दुःखी वे बच्चे मरते हैं। इस तरह अदत्तादान (चोरी) करने वाला प्राणि का वध करता है और झूठ भी बोलता है, इससे इस जन्म में भी अनेक प्रकार के संकटों और मृत्यु को प्राप्त करता है। तथा चोरी के पाप से जीव जन्मान्तर में दरिद्रता, भीरुता और पिता, पुत्र, स्त्री, स्वजन का वियोग इत्यादि दोषों को प्राप्त करता है। इसलिए हे भाई ! सत्य कहता हूँ कि—निश्चय ही सर्व प्रकार का परधन

त्याग करना चाहिये, परधन त्याग से दुर्गति का भी सर्वथा त्याग होता है। जैसे लोहे का गोला जल में डूबता है वैसे अदत्तादान से उपार्जन किया पाप समूह के भार से भारी बना जीव नरक में पड़ता है।

अदत्तादान का ऐसा भयंकर विपाक वाला फल जानकर आत्महित में स्थिर चित्त वाले को इसका नियम लेना चाहिए। जो जीव परधन को लेने की बुद्धि को भी सर्वथा त्याग करता है वह ऊपर कहे उन सर्व दोषों को दाहिने पैर से अल्प प्रयास द्वारा खत्म करता है, इसके अतिरिक्त उत्तम देवलोक प्राप्त करता है, और वहाँ से उत्तम कुल में जन्म लेकर तथा शुद्ध धर्म को प्राप्त कर आत्महित में प्रवृत्ति करता है। मणि, सुवर्ण, रत्न आदि धन समूह से भरे हुए कुल में मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है और चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा से पुण्यानुबंधी पुण्य वाला धन्य पुरुष बनता है। उसका धन गाँव, नगर, क्षेत्र, खड्डे अथवा अरण्य या घर में पड़ा हो, मार्ग में पड़ा हो, जमीन में गाड़ा हो अथवा किसी स्थान पर गुप्त रखा हो, या प्रगट रूप में रखा हो, अथवा ऐसे ही कहीं पर पड़ा हो, कहीं भूल गये हों अथवा ब्याज में रखा हो, और यदि फँक भी दिया हो फिर भी वह धन दिन अथवा रात में भी नष्ट नहीं होता है, परन्तु अधिक होता है। अधिक क्या कहें ? सचित्त, अचित्त या मिश्र कुछ भी वह धन धान्यादि दास, दासी, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इधर-उधर किसी स्थान पर रहा हो उसे ग्रहण नहीं करता है। देश, नगर, गाँव का भयंकर नाश होता है, परन्तु उसका नाश नहीं होता है। और बिना प्रयत्न से और इच्छा अनुसार मिले हुये धन का वह स्वामी और उसका भोगता होता है तथा उसके अनर्थों का क्षय करता है। वृद्धा के घर में भोजन के लिए टोली आई थी उसने घर के धन को देखकर हरण करने वाले विलासियों के समान तीसरे पाप स्थानक में आसक्त जीव इस जन्म में बन्धन आदि कष्टों को प्राप्त करता है और जो इसका नियम करता है वह अपने शुद्ध स्वभाव से ही उस समूह में रहते हुए श्रावक पुत्र के समान कभी भी दोष-दुःख के स्थान को प्राप्त नहीं करता है। इसका प्रबन्ध इस प्रकार है :—

श्रावक पुत्र और टोली का दृष्टान्त

वसन्तपुर नगर में वसंतसेना नाम की एक वृद्धा रहती थी। उसने बड़े महोत्सव से नगर के सभी जनों को भोजन करवाया। उस नगर में एक विलासी दुष्ट मण्डली—टोली रहती थी। उन्होंने वृद्धा के घर धन देखकर रात्री के समय लूटने लगे, केवल उस मण्डली में श्रावक पुत्र वसुदत्त भी था, उसने चोरी

नहीं की। इससे 'चोरी मत करो, चोरी मत करो।' ऐसा बोलते वृद्धा ने नमस्कार करने के बहाने से श्रावक पुत्र को छोड़कर शेष सब चोरों के चरणों को मोर के पित्त (शरीर जन्य धातु) द्वारा निशान किया। घर के धन को उठाकर चोर निकल गये। फिर उसी समय प्रभात में वृद्धा ने वह वृत्तान्त राजा को कहा। राजा ने नियुक्त किए पुरुषों को आदेश दिया। उन्होंने मोर के पित्त से अंकित पैर वाले पुरुषों की खोज करते सर्व आदरपूर्वक स्वच्छन्दतया पान भोजनादि करते तथा विलास करते उस दुष्ट विलासी मण्डली को देखकर 'यही चोर है' ऐसा निश्चय कर वे चोरों को राजा के पास ले गये। वहाँ अनंकित पैर वाले उस एक श्रावक पुत्र को छोड़कर अन्य का छेदन, भेदन आदि अनेक पीड़ाओं द्वारा मरण के शरण कर दिया। इस तरह अदत्तादान की प्रवृत्ति वाले और उसके नियम वाले जीवों का अशुभ तथा शुभ फल को देखकर—हे वत्स ! तू इससे रुक जा। इस तरह अदत्त ग्रहण नाम का तीसरा पाप स्थानक कहा है। अब चौथा अनेक विषय वाला है फिर भी अल्प-माल कहता हूँ।

४. मैथुन विरमण द्वार :—मैथुन लम्बे काल में कष्ट से प्राप्त होता है, धन के मूल का नाश करने वाला, दोषों के उत्पत्ति का निश्चित कारण और अपयश का घर है। गुण के प्रकर्ष रूप कण समूह को चूरने वाला भयंकर ओखली है, सत्यरूपी पृथ्वी को खोदने वाला हल की अग्र धारा है और विवेक रूपी सूर्य की किरणों के विस्तार को ढाँकने वाली ओस है। इसमें आसक्त जीव गुरुजनों से पराङ्मुख, आज्ञा का लोप करता है और भाई, बहन तथा पुत्रों से भी विरुद्ध रूप चलता है। वह नहीं करने योग्य कार्य करता है, करने योग्य का भी त्याग करता है, विशिष्ट वार्तालाप करते लज्जित होता है और बाह्य प्रवृत्ति से विरक्त चित्त वाला सदा इस तरह से ध्यान करता है कि—अहो ! अरुण समान लाल, नखों की किरणों से व्याप्त, रमणीय का चरण युगल, प्रभात में सूर्य की किरणों से युक्त, कमल के सदृश शोभायमान होता है। अनुक्रम से गोल मनोहर साथल मणि की कलश नली के समान रमणीय है और दोनों पिंडली कामदेव के हाथी की सूँड की समानता को धारण करती हैं। पाँच प्रकार के प्रकाशमय रत्नों का कंदोरे से युक्त नितम्ब प्रदेश भी स्फुरायमान इन्द्र धनुष्य से आकाश विभाग शोभता है वैसे शोभता है। मुष्टि ग्राह्य उदर भाग में मनोहर बलों की परम्परा स्तन रूपी पर्वतों के शिखर के ऊपर चढ़ने के लिए पौढ़ी की श्रेणी के समान शोभती है, कोमल और मांस से पुष्ट हथेलियों से शोभित दो भुजा रूपी लताएँ भी ताजे खिले हुए कमल वाले कमल

के नाल की उपमा धारण करते हैं। आनन्द के बिन्दु गिरते सुन्दर विशाल चन्द्र के बिम्ब समान स्त्री का मुख रूपी शतपत्र कमल है, वह कामी पुरुष रूपी चकोर के मन को उल्लास बढ़ाता है। भ्रमर के समूह रूप एवं काजल समान श्याम उसका केश समूह, चित्त में जलते कामाग्नि का धूम समूह समान शोभता है। इस तरह स्त्री के अंग के सर्व अवयवों के ध्यान में आसक्त रहता है, उससे शून्य चित्त बना हो, उस स्त्री के हाड़ के समूह से बना हो, नारी से अधिष्ठित बना हो अथवा सर्वोत्तम के सम्पूर्ण उसके परिणाम रूप तन्मय बना हो, इस तरह बोलता है कि—अहो ! जगत में कमल पत्र तुल्य नेत्रों वाली युवतियों की हंस गति को जीतने वाली गति का विलास, अहो ! मनोहर वाणी ! और अर्ध नेत्रों से कटाक्ष फेंकने की चतुराई। अहो ! कोई अति प्रशस्त है। अहो ! उसका अल्प विकसित कंरव पुष्प समान, स्फुराय समान दांत का सामान्य दिखने वाला सुखदः मधुर हास्य। अहो ! सुवर्ण के गेद के समान उछलते स्थूल स्तन भाग। अहो ! देखो, उसकी नाच करती वलय से युक्त प्रगट विकसित नाभि कमल और कंचूक को तोड़ते उसका बहुत बड़ा मरोड़ ! इसमें से एक-एक भी दुर्लभ है, तो उसके समूह को तो कहना ही क्या ? अथवा संसार का सारभूत उन स्त्रियों का क्या वर्णन करना ? कि जिसके चिन्तन—स्मरण भी शतमूल्य, दर्शन सहस्र मूल्य, वार्तालाभ कोटि मूल्य और अंग का संभोग अमूल्य है।

इस तरह वह विचार करता उसकी चिन्ता, विलाप और मन, वचन, काया की चेष्टाओं से उन्मत्त के समान, मूर्छित के समान और सर्व ग्रहों से चेतना नष्ट हुई हो इस तरह दिन या रात्री, तृषा या भूख, अरण्य या अन्य गाँव आदि, सुख या दुःख, ठण्डी या गरमी, योग्य या अयोग्य कुछ भी नहीं जानता है, किन्तु बायें हथेली में मुख को छुपाकर निस्तेज होकर वह बार-बार लम्बे निःश्वास लेता है, पछताता है, कम्पायमान होता है, विलाप करता है, रोता है, सोता है और उबासी खाता है। इस तरह अनन्त चिन्ता की परम्परा से खेद करते कामी के दुर्गति का विस्तार करने वाला, विकारों को देखकर सर्व मैथुन को, बुद्धिमान द्रव्य से, देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यच सम्बन्धी, क्षेत्र से उर्ध्व, अधो और तिर्छा लोक में, काल से दिन अथवा रात्री तथा भाव से राग और द्वेष से भी मैथुन दोषों को बड़े समूह महापाप और सर्व कष्टों का कारण होने से मन द्वारा भी चाहना नहीं करना। क्योंकि इसकी चिन्ता करने से प्रायः पर-स्व स्त्री के भोगने के दोष-गुण के पक्ष को नहीं जानता, श्रेष्ठ बुद्धि वाले को भी जंगली हाथी के समान नहीं रूके, उसका

ऐसा मैथुन अति दृढ़ अभिलाषा प्रगट करता है, क्योंकि जीवों की स्वभाव से ही मैथुन संज्ञा अति विशाल होती है, उससे प्रतिदिन बढ़ती है, इच्छा रूप वायु द्वारा अति तेजस्वी ज्वाला वाली प्रचण्ड कामाग्नि किसी प्रकार शान्त नहीं होती है इस तरह सम्पूर्ण शरीर को जलाती है, और इससे जलता जीव मन में उग्र साहस धारण करके अपने जीवन की भी बेकदरी करके, बुजुर्ग की लज्जा आदि का भी अपमान करके मैथुन का भी सेवन करता है। इससे इस जन्म, परजन्म में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इस जन्म में वह हमेशा सर्वत्र शंकापूर्वक भ्रमण करता है। बाद में कभी किसी स्थान पर लोग यदि उसे व्यभिचार सेवन करते रूप देख लेते हैं, तब क्षण में मरने के लिए पीड़ा हो, इस तरह दीन मुख वाला बनता है। और घर के स्त्री के मालिक अथवा नगर के कोतवाल से पकड़ा हुआ तथा उसे मार-पीट कर दुष्ट गद्दे पर बैठाया जाता है, उसके बाद उस रंक को उद्घोषणापूर्वक जहाँ तीन मार्ग का चौक हो, चार रास्ते हों, ऐसे चौक में बड़े राज्य मार्ग में घुमाते हैं उद्घोषणा कराता है कि—भो, भो नागरिकों ! इस शिक्षा में राजा आदि कोई अपराधी नहीं है, केवल अपने किए पापों का अपराधी है, इसलिए हे भाईयों ! इस प्रकार के इन कर्मों को अन्य कोई करना नहीं ! इस प्रकार मैथुन के व्यसनी को इस जन्म में हाथ-पैर का छेदन, मार बन्धन, कारागृह और फाँसी आदि मृत्यु तक के भी कौन-कौन से दुःख नहीं होते ? और परभव सम्बन्धी तो उसके दोष कितने प्रमाण में कहूँ ? क्योंकि—मैथुन से प्रगट हुए पाप के द्वारा अनन्ता जन्मों में परिभ्रमण करता है।

इसलिए हे भाई ! सत्य कहता हूँ कि सर्व प्रकार से मैथुन को सम्यक् त्याग कर दे, उसके त्याग से दुःख स्वभाव वाली दुःगति का भी त्याग होता है। और भी कहा है कि—मैथुन निन्दनीय रूप को प्रगट करने वाला, परिश्रम और दुःख से साध्य, सर्व शरीर में बहुत श्रम से प्रगट हुआ पसीने से अति उद्वेग करने वाला, भय से वाचा को भी व्याकुल करने वाली, निर्लज्ज का कर्त्तव्य और निन्दनीय है, इस कारण से ही गुप्त रूप में सेवन करने योग्य है, हृदय व्यापि क्षय आदि विविध प्रकार की व्याधियों का कारणभूत और अपथ्य भोजन के समान बल-वीर्य की हानि करने वाला है, किपाक फल के समान भोगने योग्य वह आखिर में दुःखदायी, अति तुच्छ और नृत्यकार के नाच समान अथवा गंधर्व नगर के समान, भ्रान्ति करने वाला है। सारे जगत में तिरस्कार को प्राप्त करते कुत्ते आदि अधम प्राणियों के भी वह समान है। सर्व को शंका प्रगट करने वाला, परलोक में धर्म, अर्थ का विघ्नकारी और

प्रारम्भ में ही अल्प सुख के स्वभाव वाला, मैथुन सुख के विवेकी केवल एक मोक्ष सुख की अभिलाषा कौन रखता है ? मैथुन के कारण से उत्पन्न किया पाप के भार से भारी बना मनुष्य लोहे के गोले के समान पानी में डूबकर नरक में गिरता है ।

ब्रह्मचर्य के गुण :—अखण्ड ब्रह्मचर्य को पालकर सम्पूर्ण पुण्य के समूह वाला मनुष्य इच्छा मात्र से प्रयोजन सिद्ध करने वाला उत्तम देवत्व प्राप्त करता है । और वहाँ से ज्यवन कर मनुष्य आयुष्य में देव समान भोग उपभोग की सामग्री वाला, पवित्र शरीर वाला और विशिष्ट कुल जाति से युक्त होता है, वह मनुष्य आदेय पुण्य वाला, सौभाग्यशाली, प्रिय बोलने वाला, सुन्दर आकृति वाला, उत्तम रूप वाला तथा प्रिय और हमेशा प्रमोद आनन्द करने वाला होता है । निरोगी, शोक रहित, दीर्घायुषी, कीर्तिरूपी, कौमुदिनी के चन्द्र समान, क्लेश आदि निमित्तों से रहित, शुभोदय वाला, अतुल बल-वीर्य वाला, सर्व अंगों में उत्तम लक्षणधारी, काव्य की श्रेष्ठ गूँथन समान अलंकारों वाला, श्रीमंत, चतुर, विवेकी और शील से शोभते तथा निरूपक्रमी, पूर्ण आयु को भोगने वाला, स्थिर, दक्ष, तेजस्वी, बहुत मान्य और ब्रह्मचारी विष्णु-ब्रह्मा के समान होता है । इस चौथे पाप स्थानक में प्रवृत्ति के दोष और निवृत्ति के गुणों के विषय में गिरि नगर में रहने वाली सखियों का और उसके पुत्र का दृष्टान्त रूप है, वह इस प्रकार है :—

तीन सखी आदि की कथा

रैवतगिरि से शोभता विशिष्ट सौराष्ट्र देश के अन्दर तिलक समान गिरि नगर में तीन धनवान की तीन पुत्री सखी रूप में थीं । उसी नगर में उनका विवाह किया था और श्रेष्ठ सुन्दर मनोहर अंगवाली उन्होंने योग्य समय पर एक-एक पुत्र को जन्म दिया था । किसी एक दिन नगर के पास बाग में तीनों सखी मिलकर क्रीड़ा करने लगीं, उस समय चोरों ने उनको पकड़कर पारस नामक देश लेकर गये और वेश्या से बहुत धन लेकर बेचा । वेश्याओं ने उनको सम्पूर्ण वेश्या की कला सिखाई । फिर दूर देश से आये हुये श्रेष्ठ व्यापारी के पुत्र आदि के उपभोग के लिये उन सखियों की स्थापना की और लोगों से उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की ।

इधर तीनों सखी के पुत्रों ने यौवनवय प्राप्त किया, तीनों पुत्र पूर्व माताओं के दृष्टान्त से ही परस्पर प्रीति से युक्त रहते थे, उसमें केवल एक

श्रावक पुत्र था जो अणुव्रतधारी था और स्वदार संतोषी था और दूसरे दो मिथ्या दृष्टि थे। किसी समय नाव में विविध प्रकार का अनाज लेकर धन प्राप्ति के लिये वे पारस बन्दरगाह पर आए और भवितव्यतावश उन वेश्याओं के घर में रहे। केवल एक वेश्या ने अणुव्रतधारी श्रावक पुत्र को निर्विकारी मन वाला देखकर पूछा—हे भद्र ! आप कहाँ से आये हैं ? और ये दो तेरे क्या होते हैं ? उसे कहो ! उसने उससे कहा कि—हे भद्रे ! हम गिरि नगर से आए हैं, हम तीनों परस्पर मित्र हैं और हमारी तीनों की माताओं को चोरों ने हरण किया है। उन्होंने कहा कि—हे भद्र ! वर्तमान काल में भी वहाँ क्या जिनदत्त, प्रियमित्र और धनदत्त तीनों व्यापारी रहते हैं ? उसने कहा कि—उनके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? उन्होंने कहा कि—वे हमारे पति थे और हमारे तीनों का एक-एक पुत्र था, इत्यादि सारा वृत्तान्त सुनाया, इससे उसने कहा कि—मैं जिनदत्त का पुत्र हूँ और ये दोनों उन दोनों के पुत्र हैं। ऐसा कहने पर अपने पुत्र होने के कारण वह गले से आलिंगन कर मुक्त कण्ठ से अत्यन्त रोने लगी और पुत्र भी उसी तरह रोने लगा। क्षणमात्र सुख-दुःख को पूछकर मित्रों को अकार्य करते रोकने की बुद्धि से जल्दी उन मित्रों के पास गया और एकान्त में वह सारी बात कही, इससे वे दोनों उसी समय माता भोग करने के पाप द्वारा शोक से अत्यन्त व्याकुल हुए। फिर बहुत धन देकर उन तीनों को वेश्याओं के हाथ में से छुड़ाकर उनको साथ लेकर नगर की ओर चले।

समुद्र मार्ग में चलते दोनों मित्रों को ऐसी चिन्ता प्रगट हुई कि—हमने महाभयंकर अकृत्यकारी कार्य किया है, हम अपने स्वजनों को मुख किस तरह दिखायेंगे ? इस तरह संक्षोभ के कारण लज्जा से दोनों मित्र परदेश में चले गये और उनकी माताएँ वहीं समुद्र में गिरकर मर गईं। वह अणुव्रतधारी श्रावक पुत्र माता को लेकर अपने नगर में गया और उसका सर्व व्यतिकर जानकर नगर के लोगों ने प्रशंसा की। यह सुनकर—हे सुन्दर ! परम तत्त्व के जानकार पुरुषों को भयजनक अब्रह्म (मैथुन) को त्याग कर दे और आराधना के एक मन वाले तू ब्रह्मचर्य का पालन कर। इस तरह मैथुन नामक चौथा पाप स्थानक कहा है अब पाँचवाँ परिग्रह पाप स्थानक को कहता हूँ।

५. परिग्रह पाप स्थानक द्वार :—यह परिग्रह सभी पाप स्थानक रूपी महेलों का मजबूत बुनियाद है और संसार रूपी गहरे कुएँ की अनेक नीक का प्रवाह है। पण्डितों द्वारा निन्दित अनेक कुविकल्प रूप अंकुर को उगाने वाला

वसन्तोत्सव है और एकाग्रचित्तता रूपी बावड़ी को सुखाने वाली ग्रीष्म ऋतु की गरमी का समूह है। ज्ञानादि निर्मल गुण रूप राजहंस के समूह को विघ्न-भूत वर्षा ऋतु है और महान् आरम्भ रूप अत्यधिक अनाज उत्पन्न करने के लिये शरद ऋतु का आगमन है। परिग्रह स्वाभाविकता के आनन्द रूप विशिष्ट सुख रूप कमलिनी के वन को जलाने वाला हेमन्त ऋतु है और अति विशुद्ध धर्मरूपी वृक्ष के पत्तों का नाश करने वाला शिशिर ऋतु है। मृच्छारूपी लता का अखण्ड मण्डप है, दुःख रूपी वृक्षों का वन है, और संतोष रूप शरद के चन्द्र को गलाने वाला अति गाढ़ दाढ़ वाला राहु का मुख है। अत्यन्त अविश्वास का पात्र है, और कषायों का घर है ऐसा परिग्रह मुश्किल से रोक सकते हैं, ऐसा ग्रह के समान किसको पीड़ा नहीं देता ? इसी कारण से ही बुद्धिमान धन, धान्य, क्षेत्र—जमीन, वस्तु—मकान, सोना, चाँदी, पशु, पक्षी, नौकर आदि तथा कुप्य वस्तुओं में हमेशा नियम करते हैं। अन्यथा यथेच्छ अनुमति देना अतीव कष्ट से रोकने वाला स्व-पर मनुष्यों को दान करने की इच्छा रोकने वाली और जगत में विजयी बनी, इस इच्छा को किसी तरह से कष्ट द्वारा भी पूर्ण नहीं होती है। क्योंकि इस संसार में जीव को एक सौ से, हजार से, लाख से, करोड़ से, राज्य से, देवत्व से और इन्द्रत्व से भी सन्तोष नहीं होता है। कोड़ी बिना का विचारा गरीब कोड़ी की इच्छा करता है और कोड़ी मिलने के बाद रुपया को चाहता है और वह मिलने पर सोना मोहर की इच्छा करता है। यदि वह मिल जाती है तो उसमें एक-एक की उत्तरोत्तर वृद्धि करते सौ सोना मोहर की इच्छा करता है, उसे भी प्राप्त कर हजार और हजार वाला लाख की इच्छा करता है, लखपति करोड़ की इच्छा करता है और करोड़पति राज्य की इच्छा करता है, राजा चक्रवर्ती बनने की इच्छा करता है और चक्रवर्ती देवत्व की इच्छा करता है। किसी तरह उसे वह भी मिल जाए तो वह इन्द्र बनने की इच्छा करता है और वह मिलने पर भी इच्छा करे तो आकाश के समान अनन्त होने से अपूर्ण ही रहती है।

कोड़िया के घाट के समान अनुक्रम से जिसकी इच्छा अधिक-अधिक बढ़ती है वह सद्गति को लात मारकर दुर्गति का पथिक बनता है। बार-बार भी गिनने से वह किसी तरह भी दानी या धनवान नहीं होता, इस तरह जिसके भाग्य में अल्प धन है वह क्या कोटीश्वर हो सकता है ? क्योंकि पूर्वं कर्म जो बन्धन किया हो उसी मर्यादा से उतना ही प्राप्त करता है, द्रोणमेघ की वर्षा होने पर भी पर्वत के शिखर पर पानी नहीं टिकता है। इस तरह निश्चय अनेक प्रवृत्ति करमै पर भी अल्प पुण्य वाला यदि बहुत धन की इच्छा

करता है वह अपने हाथ द्वारा आकाश तल को पकड़ने की इच्छा करता है। यदि निर्भागी भी इस पृथ्वी तल में राज्य आदि इच्छित पदार्थ को प्राप्त कर सकता है तो कभी भी कोई भी किसी स्थान पर दुःखी नहीं दिखेगा। यदि मणि, सुवर्ण और रत्नों से भरा हुआ समग्र जगत को भी किस तरह प्राप्त करे फिर भी निश्चय अक्षीण इच्छा वाला विचारा जीव अकृतार्थ अपूर्ण ही रहता है। पुण्य से रहित होने पर भी यदि मूढ़ात्मा धन की इच्छा करता है वह इसी तरह अधूरे मनोरथ से ही मरता है। जैसे इस जगत में वायु से थैला भर नहीं सकता है वैसे आत्मा को भी धन से कभी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। इसलिए इच्छा के विच्छेद के लिए सन्तोष को ही करना सर्व उत्तम है। सन्तोषी निश्चय से सुखी है और असन्तोषी को अनेक दुःख होते हैं। पाँचवें पाप स्थानक में आसक्त और उससे निर्वृत्ति वाले को दोष और गुण लोभानन्दी और जिनदास श्रावक के समान जानना। उसकी कथा इस प्रकार है :—

लोभानन्दी और जिनदास का प्रबन्ध

पाटली पुत्र नगर में अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने से विस्तृत यशस्वी अनेक गुणों से युक्त जयसेन नामक राजा था। उस नगर में कुबेर के धन समूह को भी तिरस्कार करता महा धनिक नन्द आदि व्यापारी और जिनदास आदि उत्तम श्रावक रहते थे। एक समय समुद्रदत्त नाम के व्यापारी ने अति प्राचीन एक सरोवर को खुदाने लगा। उसे खोदने वाले मनुष्यों को पूर्व में वहाँ रखे हुये बहुत काल के कारण मलिन बने हुए सुवर्ण सिक्के मिले। फिर लोहा समझकर वे व्यापारी के पास ले गये और जिनदास ने लोहा समझकर उसमें से दो सिक्के लिए, बाद में सम्यक् रूप देखते सुवर्ण की जानकर उसने परिग्रह परिमाण का उल्लंघन होने के भय से उस सिक्के को श्री जैन मन्दिर में अर्पण कर दी और दूसरी नहीं ली, परन्तु उसे सुवर्ण जानकर नन्द ने अधिक मूल्य देकर उसे लेने लगा और उनको कहने लगा कि अब लोहे के सिक्कों को अन्य नहीं देना, मैं तुम्हें इच्छित मूल्य दूँगा, उन्होंने वह स्वीकार किया।

दूसरे दिन उसका मित्र उसे जबरदस्ती भोजन के लिये अपने घर ले गया, उस समय अपने पुत्र को कहा कि—सिक्के जितने मिलें वह जितना मूल्य माँगें उतना देकर ग्रहण करना, पुत्र ने वह स्वीकार किया और स्वयं मित्र के घर भोजन करने गया। और वह अत्यन्त व्याकुल चित्त से खाकर वापिस घर की ओर चला। इधर परमार्थ नहीं जानने के कारण उस पुत्र ने बहुत मूल्य जानकर सिक्के नहीं लिये, और गुस्से में आकर वे अन्य स्थान पर चले गये।

फिर इधर-उधर घूमते किसी तरह भैल दूर होने से एक सिक्के का सुवर्ण प्रगट हुआ इससे राजपुरुषों ने उनको पकड़कर राजा को सौंपा, राजा ने पूछा कि अन्य सिक्के कहाँ बेचे हैं उसे कहो ! उन्होंने कहा—हे राजन् ! दो सिक्के जिनदास सेठ को दिये हैं और शेष सब नन्द व्यापारी को दिये हैं । इस तरह कहने पर राजा ने जिनदास को बुलाकर पूछा, उसने अपना सारा वृत्तान्त यथास्थित सुनाया । तब राजा ने सन्मान करके उसे अपने घर भेजा । इधर नन्द अपनी दुकान पर आया और पुत्र को पूछा कि—अरे ! क्यों सिक्के लिये या नहीं लिए ? उसने कहा—पिताजी ! बहुत मूल्य होने से वह नहीं लिए । इससे छाती कूट ली—‘हाय ! मैं लूटा गया ।’ ऐसा बोलते नन्द ने “इन पैरों का दोष है कि जिसके द्वारा मैं पर घर गया ।” ऐसा मानकर सिक्कों से अपने पैरों को तोड़ा । उसके बाद राजा ने उसको वध करने की आज्ञा दी और उसका सर्व धन लूट लिया, इत्यादि इच्छा की विरति बिना के जीवों को बहुत दोष लगते हैं, इसलिये हे तपस्वी ! परिग्रह में मन को जरा भी लगाना नहीं । देखते ही क्षण में नाश होने वाला वह है इसलिए धीर पुरुष उसकी इच्छा कैसे करे ? इस तरह परिग्रह विषयक पांचवाँ पाप स्थानक कहा । अब क्रोध का स्वरूप कहते हैं । वह इस प्रकार है—

६. क्रोध पाप स्थानक द्वार :—दुर्गंध वस्तु में से उत्पन्न हुआ दुर्गंधमय क्रोध किसको उद्वेग नहीं होता है । इसलिए ही पण्डितों ने इसे दूर से ही त्याग किया है । और महान क्रोधाग्नि की ज्वालाओं के समूह से अधिकतया ग्रसित—जला हुआ, अदिवेकी पुरुष तत्त्व से अपने को और पर को नहीं जान सकता । अग्नि जहाँ होती है वहाँ ईंधन को प्रथम जलाती है वैसे क्रोध उत्पन्न होते ही जिसमें उत्पन्न हुआ उसी पुरुष को प्रथम जलाता है । क्रोध करने वाले को क्रोध अवश्य जलाता है, दूसरे को जलाने में एकान्त नहीं है उसे जलाये अथवा नहीं भी जलाये । अथवा अग्नि भी अपने उत्पत्ति स्थान को जलाती है दूसरे को जलाए वह नियम नहीं है । अथवा जो अपने आश्रय वाले को अवश्य जलाता है, वह अपनी शक्ति के योग से क्षीण हुआ महापापी क्रोध दूसरे की ओर फेंकता है और क्या कर सकता है ? क्रोध रूप कलह से कलुषित मन वाला जिस पुरुष का दिन जाता है, उस नित्य क्रोधी मनुष्य का इस जन्म या पर-जन्म में सुख की प्राप्ति कैसे कर सकता है ? वैरी भी निश्चय एक ही जन्म में अपकार करता है और क्रोध दोनों जन्मों में महाभयंकर अपकारी होता है । जिस कार्य को उपशम वाला सिद्ध करता है, उस कार्य को क्रोधी

कदापि नहीं कर सकता है, कारण कि कार्य करने में दक्ष—निर्मल वह बुद्धि क्रोधी को कहाँ से हो सकती है ? और भी कहा है—

महापापी क्रोध उद्वेगकारी है, प्रिय बन्धुओं का नाश करने वाला, संताप कारक है और सद्गति को रोकने वाला है । इसलिए विवेकी पुरुषों को कभी भी हजारों पण्डित पुरुषों द्वारा निन्दनीय स्वभाव से ही पापचारी क्रोध के वश नहीं होते हैं । जीव क्रोध से प्राणी को अथवा प्राण का नाश करते हैं । मृषा वचन बोलता है, अदत्त ग्रहण करता है, ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करता है, महा आरम्भ और परिग्रह संग्रह करने वाला भी होता है ! अधिक क्या कहें ? क्रोध से सर्व पाप स्थानक सेवन होता है । उसमें निरपक्ष तू क्षमा रूपी तीक्ष्ण तलवार से महा पतिमल्ल क्रोध को चतुराई से खत्म कर उपशम रूपी विजय लक्ष्मी को प्राप्त कर । क्रोध दुःखों का निमित्त रूप है और केवल एक उसका उपशम सुख का हेतुभूत है । ये दोनों भी आत्मा के आधीन हैं, इसलिए उसका उपशम करना ही यही श्रेष्ठ उपाय है । मन से भी क्रोध किया जाए तो नरक का कारण बनता है और मन से उसका उपशम किया हो तो वह मोक्ष के लिए होता है । यहाँ पर दोनों विषय में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि दृष्टान्त भूत है, वह इस प्रकार है :—

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा

पोतानपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र ने उग्र विषधर सर्पों से भरे घट के समान राज्य को छोड़कर श्री वीर परमात्मा के पास दीक्षा स्वीकार की । फिर जगत गुरु के साथ विहार करते वे राजगृह में आए और वहाँ परिध के समान दो भुजाओं को सम्यग् लम्बे कर काउस्सग्न ध्यान में खड़े रहे । इसके बाद श्री जैनेश्वर भगवान को वन्दना के लिए श्रेणिक राजा सैन्य सहित जा रहा था । दो अग्रसर दुर्मुख और सुमुख नाम के दो दूतों ने उस महाऋषि को देखा और सुमुख ने कहा कि—यह विजयी है और इसका जीवन सफल है, क्योंकि इसने श्रेष्ठ राज्य को छोड़कर इस प्रकार दीक्षा स्वीकार की है । यह सुनकर दुर्मुख ने कहा कि—भद्र ! इसकी प्रशंसा से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि स्वयं नपुंसक निर्बल पुत्र को राज्य पर बैठाकर, शत्रुओं के भय से पाखण्ड स्वीकार कर वह इस तरह रहता है और राज्य, पुत्र तथा प्रजा भी शत्रुओं से पीड़ित हो रही है । इस तरह सुनकर तत्काल धर्म ध्यान की मर्यादा भूलकर प्रसन्नचन्द्र मुनि कुपित होकर विचार करने लगे कि—मैं जीता हूँ, फिर मेरे पुत्र और राज्य पर कौन उपद्रव करने वाला है ? मैं मानता हूँ कि सीमा के राजाओं की यह दुष्ट

कारस्तानी है, इसलिये उनका नाश करके राज्य को स्वस्थ करूँगा। इस तरह काउस्सग ध्यान में रहे मन से पूर्व के समान उनके साथ युद्ध करने लगे।

इधर प्रसन्नचन्द्र मुनि को धर्म ध्यान में स्थिर हुए देखकर श्रेणिक राजा 'अहो ! यह महात्मा किस तरह ध्यान में स्थिर है ?' इस तरह आश्चर्य रस से विस्मित हुए और भक्ति के समूह को धारण करते सर्व प्रकार से आदरपूर्वक उनके चरणों में नमस्कार करके विचार करने लगे कि—ऐसे शुभ ध्यान से मुक्त हो और यदि मर जाए तो यह महानुभव कहाँ उत्पन्न होंगे ? ऐसा भगवन्त को पूछूँगा। ऐसा विचार करते वह प्रभु के पास पहुँचा और जगत पूज्य श्री वीर परमात्मा से पूछा कि—भगवन्त ! इस भाव में रहने वाले प्रसन्नचन्द्र मुनि मरकर कहाँ उत्पन्न होंगे ? वह मुझे कहें ? प्रभु ने कहा कि सातवीं नरक में उत्पन्न होगा। इससे राज्य निश्चय मैंने अच्छी तरह नहीं सुना ऐसा विचार में पड़ा। यहाँ प्रश्नोत्तरी के बीच में मन द्वारा लड़ते और सर्व शस्त्र खत्म होने से मुकुट द्वारा शत्रु को मारने की इच्छा वाले प्रसन्नचन्द्र मुनि ने सहसा हाथ को मस्तक पर रखा और केश समूह का लोच किए मस्तक का स्पर्श होते ही चेतना उत्पन्न हुई कि 'मैं श्रमण हूँ' इससे विषाद करते विशिष्ट शुभध्यान को प्राप्त किया जिससे उस महात्मा को उसी समय केवल ज्ञान प्राप्त किया, और समीप में रहे देवों ने केवली की महिमा को बढ़ाया तथा दुंदुभी का नाद किया, तब राजा श्रेणिक ने पूछा कि—हे भगवन्त ! यह बाजे किस कारण बजे हैं ? जगत पूज्य वीर प्रभु ने कहा कि—'इन देवों ने प्रसन्नचन्द्र मुनि के केवल ज्ञान उत्पन्न होने का महोत्सव कर रहे हैं।' तब विस्मयपूर्वक श्रेणिक ने प्रभु को पूर्वापर वचनों के विरोध का विचार करके पूछा कि—हे नाथ ! इसमें नरक और केवल ज्ञान होने का क्या कारण है ? उस समय प्रभु ने यथा-स्थित सत्य कहा। ऐसा जानकर हे क्षपक मुनि ! क्रोध के त्याग से प्रशम रस की सिद्धि को प्राप्त करता है, अतः अति प्रसन्न मन वाले तू विशुद्ध आराधना को प्राप्त कर। इस तरह क्रोध नाम का छठा पाप स्थानक कहा है। अब मान नाम का सातवाँ पाप स्थानक के विषय में कुछ कहते हैं।

७. मान पाप स्थानक द्वार :—मान संतापकारी है, मान अनर्थों के समूह का जाने वाला मार्ग है, मान पराभव का मूल है और मान प्रिय बन्धुओं का विनाशक है। मान रूपी बड़े ग्रह के आधीन हुआ अक्कड़ता के दोष से अपने यश और कीर्ति को नाश करता है तथा तिरस्कार पात्र बनता है। यह महापापी मान लघुता का मूल कारण है, सद्गति के मार्ग का घातक है, दुर्गति

का मार्ग है और सदाचार रूपी पर्वत को नाश करने में वज्र के समान है। मान के द्वारा अक्कड़ शरीर वाला हित अहित वस्तु को नहीं जानता है। क्या इस जगत में मैं भी किसी प्रकार से कम अथवा क्या गुण रहित हूँ ? इस तरह कलुषित बुद्धि से आधीन बना संयम का मूलभूत विनय को नहीं करता है, विनय रहित में ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, और ज्ञान के बिना चारित्र्य की प्राप्ति नहीं है। चारित्र्य गुण से रहित जगत में विपुल निर्जरा को नहीं कर सकता, उसके अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में सुख कैसे हो सकता है ? मान रूपी अन्धकार के समूह से पराभूत, मूढ़ कर्त्तव्य अकर्त्तव्य में मुरझाकर बार-बार गुण रहित व्यक्तियों का अतिमान करके गुणवन्तों का अपमान करता है, इससे बुद्धि भ्रष्ट होती है, पापी बना गोष्ठा माहिल्ला के समान सर्व सुखों का मूलभूत सम्यक्त्व रूप कल्प वृक्ष को भी मूल में से ही उखाड़ देता है। इस तरह मानांध पुरुष अशुभ नीच गोत्र कर्म का बन्धन कर नीच में भी अति नीच बनकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। तथा विषय आदि की आसक्ति अथवा घरवास का त्याग करके भी चरण-करण गुणों के बाह्य चारित्र्य को प्राप्त करता है, अति उग्र तप आदि कष्टकारी अनुष्ठान को आचरण करता है। हम ही त्यागी हैं, हम ही बहुत श्रुतवान्, हम ही गुणी और हम ही उग्र क्रिया वाले हैं अन्य तो कुत्सित मात्र वेपथारी हैं। अहो ! यह कष्ट कि इस तरह विलास प्राप्त होते मान रूपी अग्नि से पूर्व में किए विद्यमान भी अपने गुणरूपी वन को जला देते हैं ? ऐसे मान को धिक्कार है, धिक्कार है। और विपरीत धर्माचरण वाले तथा आरम्भ—परिग्रह से भरे हुए स्वयं मूढ़ पापी मानी पुरुष अन्य मनुष्यों को भी मोह मूढ़ करके जीव समूह की हिंसा करते हैं सदा शास्त्र विरुद्ध कर्मों को करता है और भी गर्व करता है कि इस जगत में धर्म के आधारभूत पालन करने वाले हम ही हैं।

शान्त, रस और सिद्धि गारव वाले, द्रव्य क्षेत्रादि में ममता करने वाले और अपनी-अपनी क्रिया के अनुरूप जैनमत की भी उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाला, द्रव्य क्षेत्रादि के अनुरूप अपना बल-वीर्य आदि होने पर भी चरण-करण गुणों में यथाशक्ति उद्यम नहीं करते, अपवाद मार्ग में आसक्त, ऐसे लोगों से पूजित मानी पुरुष इस शासन में 'हम ही मुख्य हैं' इस प्रकार अपना बड़प्पन और अभिमान से काल के अनुरूप क्रिया में रक्तसंवेगी, गीतार्थ, श्रेष्ठ मुनिवर आदि की 'यह तो माया आदि में परयण—कपटी है' इस तरह लोगों के समक्ष निन्दा करता है, और अपने आचार के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ममत्व से बद्ध पासत्था लोग को 'यह कपट से रहित है' ऐसा बोलकर उसकी

प्रशंसा करते हैं और इस तरह अशुभ आचरण वाले वे ऐसा कठोर कर्म का बन्धन करते हैं कि जिससे अतीव कठोर दुःखों वाली संसार रूपी अटवी में बार-बार परिभ्रमण करता है। मनुष्य जैसे-जैसे मान करता है वैसे-वैसे गुणों का नाश करता है और क्रमशः गुणों का नाश होने से उसे गुणों का अभाव हो जाता है। और गुण संयोग से सर्वथा रहित पुरुष जगत में उत्तम वंश में जन्मा हुआ भी गुण रहित धनुष्य के समान इच्छित प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। इसलिए स्व पर उभय कार्यो का घातक और इस जन्म पर-जन्म में कठोर दुःखों को देने वाले मान को विवेकी पुरुष दूर से सर्वथा यत्नपूर्वक त्याग किया है। इसलिए हे सुन्दर ! निर्दोष आराधना (मोक्ष सम्बन्धी) की इच्छा करता है तो तू भी मान को त्याग दे, क्योंकि प्रतिपक्ष का क्षय करने से स्वपक्ष की सिद्धि होती है, ऐसा कहा है। जैसे बुखार चले जाने से शरीर का श्रेष्ठ स्वास्थ्य प्रगट होता है, वैसे यह मान जाते हैं आत्मा का श्रेष्ठ स्वास्थ्य प्रगट होता है तथा उसी तरह ही आराधना रूपी पथ्य आत्मा को गुण करता है। सातवाँ पाप स्थानक मान के दोष से बाहुबली ने निश्चय ही क्लेश प्राप्त किया और उससे निवृत्त होते ही उसी समय केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह इस प्रकार है :—

बाहुबली का दृष्टान्त

तक्षशिला नामक नगर के अन्दर इक्ष्वाकु कुल में जन्मे हुए जगत् प्रसिद्ध बाहुबली यथार्थ नाम वाले श्री ऋषभदेव का पुत्र राजा था। अद्वानवें छोटे भाईयों ने दीक्षा लेने के बाद भरतचक्री की सेवा को नहीं स्वीकारने से भरत ने बाहुबली को इस प्रकार कहा—राज्य को शीघ्र छोड़ दो अथवा आज्ञा पालन कर अथवा अभी ही युद्ध में तैयार होकर सन्मुख आ जाओ। यह सुनकर असाधारण भुजा बल से अन्य सुभटों को जीतने वाला बाहुबली ने भरत चक्रवर्ती के साथ युद्ध प्रारम्भ किया। वहाँ मदोन्मत्त हाथी मरने लगे, योद्धाओं का विशेष रूप में नाश होने लगा, कायर पुरुष भागने लगे, रथों के समूह टूट रहे थे, योगी का समूह आ रहा था, फैलता हुआ खून चारों तरफ दिख रहा था, मानो भयंकर यम का घट हो, ऐसा दिखता था महान भय का एक कारण बाणों से आच्छादित भूतल वाला था, हाथी के झरते मदरूपी बादल वाला था, सूर्य को चिन्ता कराने वाला अथवा शूरवीर के बाण फँकने की प्रवृत्ति वाला, मांस भक्षण के लिए घूमते तुष्ट याचकों वाला और अनेक लोगों की मृत्यु रण मैदान को देखकर एक दयारस से युक्त मन वाला महायशस्वी वह बाहुबली

बोला—हे भरत ! इन निरपराधी लोगों को मारने से क्या लाभ है ? वैर परस्पर हम दोनों का है, अतः हम और आप लड़ेंगे । भरत ने स्वीकार किया, उसके बाद वे दोनों लड़ने लगे, इसमें बाहुबली ने भरत को सर्व प्रकार से हराया । इससे भरत चक्री विचार करने लगा कि—क्या मैं चक्री नहीं हूँ ? क्योंकि सामान्य मनुष्य के समान मैं सर्व प्रकार से इसके भुजा बल के द्वारा हार गया हूँ । ऐसा चिन्ता करते भरत के करकमल में चमकते बिजली के समान चंचल और यम के प्रचण्ड दण्ड के समान उसके सामने दुःख से देख सके ऐसा दण्ड रत्न आ गया । तब बाहुबली की, ऐसा देखकर, क्रोधाग्नि बढ़ गई । क्या दण्ड सहित इसको चकनाचूर कर दूँ ? इस तरह एक क्षण विचार करके अल्प शुद्ध बुद्धि प्रगट हुई और विचार करने लगा कि—विषय के अनुराग को धिक्कार है कि जिसके कारण जीवात्मा भिन्न, स्वजन और बन्धुओं को भी तृण तुल्य भी नहीं गिनते, तथा अकार्य को करने के लिये भी उद्यम करते हैं । इससे विषय वासना में वज्राग्नि लगे ।

ऐसा चिन्तन करते उसे वैराग्य हुआ और उस महात्मा ने स्वयमेव लोच करके दीक्षा स्वीकार की । फिर 'प्रभु के पास गया तो मैं छोटे भाईयों को वन्दन किस तरह करूँगा ?' ऐसा अभिमान दोष के कारण वहीं काउस्सग ध्यान में खड़े रहे और 'केवल ज्ञान होने के बाद वहाँ से जायेंगे ।' ऐसी प्रतिज्ञा करके निराहार खड़े रहे । एक साल बाद वे क्रुश हो गये । एक साल के अन्त में श्री ऋषभ देव ने ब्राह्मी और सुन्दरी दो साध्वियों को भेजा । साध्वियों ने आकर कहा कहा कि—हे भाई ! परम पिता परमात्मा ने फरमाया है कि—'क्या हाथी के ऊपर चढ़ने से कभी भी केवल ज्ञान होता है ।' इसके पश्चात् जब उसे सम्यग् रूप से विचार करने लगे तब 'मान यही हाथी है' ऐसा जानकर शुद्ध भाव प्रगट हुए और उस मान को छोड़कर प्रभु के चरणों में जाने के लिये पैर उठाया, उसी समय श्रेष्ठ केवल ज्ञान की प्राप्ति होने से पूर्ण प्रतिज्ञा वाले बने । इस तरह हे महात्मा क्षपक ! मान कषाय की प्रवृत्ति और विरति से होने वाले दोष, गुणों को शुद्ध बुद्धि से विचार करके तू इस आराधना की साधना कर दर्शन ज्ञान सहित श्रेष्ठ चारित्र्य गुण से युक्त अनन्त शिव सुख को प्राप्त कर । इस तरह मान विषयक सातवाँ पाप स्थानक कहा है, अब माया विषयक आठवाँ पाप स्थानक को कुछ अल्पमात्र कहते हैं ।

८. माया पाप स्थानक द्वार :—माया उद्वेग करने वाला है इसकी धर्म शास्त्रों में निन्दा की है, वह पाप की उत्पत्ति रूप है और धर्म का क्षय करने

वाली है। माया गुणों की हानिकारक है, दोषों को स्पष्ट रूप में बढ़ाने वाली है और विवेक रूपी चन्द्र बिम्ब को गलाने वाला एक राहुग्रह है। ज्ञान अभ्यास किया, दर्शन का आचरण किया, चारित्र्य का पालन किया और अति चिरकाल तप भी किया परन्तु यदि माया है तो वह सर्व नष्ट हो जाता है। इससे परलोक की तो बात दूर रही, परन्तु मायावी मनुष्य यद्यपि अपराधकारी नहीं होता है फिर भी इस जन्म में ही सर्प के समान भयजनक दिखता है। मनुष्य जैसे-जैसे माया करता है, वैसे-वैसे लोक में अविश्वास प्रगट करता है और अविश्वास के कारण आकड़े की रई से भी हल्का बन जाता है। इसलिए हे सुन्दर ! इस विषय का विचार कर। माया को सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि इसके त्याग से निर्दोष शुद्ध सरलता गुण प्रगट होता है। सरलता से पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ लोग उसकी 'यह सज्जन है, सरल स्वभावी है' इस प्रकार प्रशंसा करते हैं। मनुष्यों की प्रशंसा को प्राप्त करने में शीघ्रता से गुण प्रगट होते हैं, इसलिए गुण समूह के अर्थी को माया त्याग करने में प्रयत्न करना ही योग्य है। प्रथम मधुर फिर खट्टी छाश के समान प्रथम मधुरता बताकर फिर विकार दिखाने वाला मायावी मनुष्य मधुरता को छुड़ाने से जगत को रुचिकर नहीं होता है। यहाँ पर आठवें पाप स्थानक के दोष में पंडरा साध्वी का दृष्टान्त है अथवा दोष-गुण में यथा क्रम दो वणिक पुत्रों का भी दृष्टान्त है। वह इस प्रकार है :—

साध्वी पंडरा आर्या की कथा

एक शहर में धनवान उत्तम श्रावक के विशाल कुल में एक पुत्री ने जन्म लिया, और उसने संसार से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा स्वीकार की, उत्तम साध्वियों के साथ रहती हुई भी वह ग्रीष्म ऋतु में मलपरीषह को सहन नहीं कर सकी। अतः शरीर और वस्त्रों को साफ सुथरा करती थी, इससे साध्वी उसको प्रेरणा करती कि ऐसा करना साध्वी के लिए योग्य नहीं है। ऐसा सहन नहीं करने से वह अलग उपाश्रम में रहने लगी। वहाँ उज्ज्वल वस्त्र और शरीर साफ रखने से लोग में 'पंडरा आर्या' इस नाम से प्रसिद्ध हुई, और वह अपनी पूजा के लिए विद्या के बल से नगर के लोगों को आश्चर्यचकित तथा भयभीत करती थी, परन्तु अन्तिम उन्न में किसी प्रकार परम वैराग्य को प्राप्त कर उसने सद्गुरुदेव समक्ष पूर्व के दुराचारों का प्रायश्चित्त करके, संघ समक्ष अनशन स्वीकार किया और शुभ ध्यान में रहकर, केवल अपने पूजा सत्कार के लिये मन्त्र प्रयोग से लोगों को आकर्षण करती थी। नगर के लोग हमेशा

उसके पास आते देखकर गुरु ने कहा कि—‘हे महानुभाव ! तुझे मन्त्र का प्रयोग करना योग्य नहीं है ।’ गुरु के शब्दों से उसने ‘मिच्छामि दुक्कडं देकर पुनः नहीं कहूँगी आपने जो प्रेरणा की वह बहुत अच्छा किया ।’ इस तरह उत्तर दिया । फिर पुनः एक दिन एकान्त में नहीं रह सकने से उसने फिर लोगों को आकर्षण किया और गुरु ने उसका निषेध किया । इस तरह जब चार बार निषेध किया तब उसने माया युक्त कहा कि—हे भगवन्त ! मैं कुछ भी विद्या बल का प्रयोग नहीं करती हूँ, किन्तु ये लोग स्वयमेव आते हैं । इस तरह उसने माया के आधीन बनकर आराधना का फल गंवा दिया और अन्तिम समय में मरकर सौधर्म कल्प में ऐरावण नामक देव की देवी रूप बनी । इस तरह माया के दोष में पंडरा साध्वी का दृष्टान्त कहा है । अब दोष और गुण दोनों का पूर्व में कहा था उन वर्णिकों का दृष्टान्त कहता हूँ ।

दो वर्णिक पुत्र की कथा

पश्चिम विदेह में दो व्यापारी मिल रहते थे । उसमें एक मायावी और दूसरा सरलता युक्त था, इस तरह दोनों चिरकाल व्यापार करते मर गये और भरत क्षेत्र में सरलता वाले जीव ने युगलिक रूप में जन्म लिया और दूसरा मायावी हाथी रूप में उत्पन्न हुआ । किसी समय परस्पर दर्शन हुआ, फिर मायावश बन्धन किए आभियोगिक कर्म के उदय से हाथी ने पूर्व संस्कार की प्रीति से उस युगलिक दम्पति को कंधे के ऊपर बैठाकर विलास करवाया । इस तरह मायावी का अनर्थ और उससे विपरीत सरलता के गुण को देखकर हे क्षपक मुनि ! माया रहित बनकर तू सम्यक् आराधना को प्राप्त कर । इस तरह आठवाँ पाप स्थानक अल्पमात्र कहा है । अब लोभ के स्वरूप को बताने में परायण नौवाँ पाप स्थानक को कहते हैं ।

६. लोभ पाप स्थानक द्वार :—जैसे पूर्व में न हो, फिर भी वर्षा के बादल प्रगट होते हैं और प्रगट होने के बाद बढ़ते हैं, वैसे पुरुष में लोभ न हो तो प्रगट होता है तथा हर समय बढ़ता जाता है और लोभ बढ़ते पुरुष कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विचार बिना का हो जाता है, मृत्यु को कुछ भी नहीं गिनते, महासाहस को करता है । लोभ से मनुष्य पर्वत की गुफा में और समुद्र में गहराई में प्रवेश करता है तथा भयंकर युद्ध भूमि में भी जाता है तथा प्रिय स्वजनों को तथा अपने प्राणों का भी त्याग करता है । तथा लोभी को उत्तरोत्तर इच्छित धन की अत्यन्त प्राप्ति होती है, फिर भी तृष्णा ही बढ़ती है तथा स्वप्न में भी तृप्ति नहीं होती है । लोभ अखण्ड व्याधि है, स्वयं भूरमण समुद्र

के समान किसी तरह नहीं शान्त होने वाला वह ईन्धन से अग्नि बढ़ती है, वैसे लाभ रूपी ईन्धन से अत्यन्त बुद्धि को प्राप्त करता है। लोभ सर्व विनाशक है, लोभ परिवार के मनोभेद करने वाला है और लोभ सर्व आपत्तियों वाला दुर्गति में जाने के लिए राजमार्ग है। इसके द्वारा घोर पापों को बढ़ाकर उसके प्रायश्चित्त किये बिना का मनुष्य अति चिरकाल तक संसार रूपी भयंकर अटवी में बार-बार परिभ्रमण करता है। और जो महात्मा लोभ के विपाक को जानकर विवेक से उससे विपरीत चलता है, अर्थात् सन्तोष भाव को रखता है वह उभय लोक में सुख का पात्र बनता है। इस पाप स्थानक में कपिल ब्राह्मण दृष्टान्त रूप है कि जो दो भासा की इच्छा करने वाला भी करोड़ सुवर्ण मोहर लेने की इच्छा प्रगट हुई और उसके प्रतिपक्ष—सन्तोष में भी समग्र स्थूल और सूक्ष्म भी लोभ के अंश को नाश करने वाला और केवल ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करने वाला उस कपिल का ही दृष्टान्त रूप है, वह इस प्रकार :—

कपिल ब्राह्मण की कथा

कौशाम्बी नगर में यशोदा नामक ब्राह्मणी थी, उसको कपिल नाम का पुत्र था, वह छोटा था उस समय उसके पिता की मृत्यु हुई। एक समय पति के समान उम्र वाला दूसरा वैभव सम्पन्न ब्राह्मण को देखकर पति का स्मरण हो आया इससे वह रोने लगी, तब माता को कपिल ने पूछा कि—माता ! आप क्यों रो रही हो ? उसने कहा कि—हे पुत्र ! इस जीवन में मुझे बहुत रोना है। उसने कहा—किस लिये ? माता ने कहा कि—हे पुत्र ! जितनी सम्पत्तियाँ इस ब्राह्मण के पास हैं उतनी सम्पत्तियाँ तेरे पिता के पास थीं, परन्तु तेरे जन्म के बाद वह सब सम्पत्तियाँ नष्ट हो गई हैं। कपिल ने कहा कि—कौन से गुण द्वारा मेरे पिता ने धन प्राप्त किया था। उसने कहा कि—उन्होंने वेद की कुशलता से धन प्राप्त किया था। प्रतिकार करने की इच्छा रूप रोष-पूर्वक कपिल ने कहा कि—मैं भी वैसा अभ्यास करूँगा। माता ने कहा—श्रावस्ती में तेरे पिता के मित्र इन्द्रदत्त नाम के उपाध्याय के पास जाकर इस प्रकार का अभ्यास कर। हे पुत्र ! यहाँ पर तुझे सम्यग् प्रकार से अध्ययन कराने वाले कोई नहीं हैं। उसने माता की आज्ञा स्वीकार की और वह श्रावस्ती पुरी में इन्द्रदत्त के पास गया, उसने आने का कारण पूछा ? तब उसने सारा वृत्तान्त कहा। अपना प्रिय मित्र का पुत्र जानकर उपाध्याय ने उसे आलिंगन किया और कहा कि वत्स ! सांगोपांग चारों वेदों का अभ्यास कर, परन्तु इस नगर में समृद्धशाली धन सेठ को तू भोजन के लिए प्रार्थना कर। कपिल ने उस

सेठ को प्रार्थना की, सेठ ने भी आदरपूर्वक अपनी एक दासी से कहा कि इस विद्यार्थी को प्रतिदिन भोजन करवाना । इस तरह भोजन की हमेशा व्यवस्था कर वह वेद का अभ्यास करने लगा ।

किन्तु आदर से प्रतिदिन भोजन देने से और परिचय से उसे दासी के ऊपर अत्यन्त राग हो गया । एक दिन उस दासी ने उससे कहा कि—कल उत्सव का दिन होने से विविध सुन्दर शृङ्गार को करके अपने-अपने कामुक द्वारा भेंट दिये विशिष्ट वस्त्रादि से रमणीय नगर की वेश्याएँ कामदेव की पूजा करने जायेंगी और उनके बीच में खराब कपड़े वाली, मुझे देखकर सखी हँसेंगी, इसलिए हे प्रियतम ! आपको मैं प्रार्थना करती हूँ कि ऐसा कार्य करो कि जिससे मैं हँसी का पात्र नहीं बनूँ । ऐसा सुनकर कपिल उससे दुःखी हुआ, रात्री को निद्रा खत्म होते ही दासी ने पुनः उससे कहा—हे प्रिये ! सन्ताप को छोड़ो, आप राजा के पास जाओ, जो ब्राह्मण राजा को प्रथम जाग्रत करता है, उसे हमेशा दो मासा सोना देकर सत्कार करता है । यह सुनकर रात्री के समय का विचार किए बिना ही कपिल घर से निकल गया, इससे जाते हुए उसे कोतवाल ने 'यह चोर है' ऐसा मानकर पकड़ लिया और प्रभात में राजा को सौंपा । आकृति से उसके हृदय को जानने में कुशल राजा ने 'यह निर्दोष है' ऐसा जानकर पूछा कि—हे भद्र ! तू कौन है ? उसने भी अपना सारा वृत्तान्त मूल से लेकर कहा, इससे करुणा वाले राजा ने कहा कि—हे भद्र ! जो माँगगा, उसे मैं दूँगा । कपिल ने कहा कि—हे देव ! एकान्त में विचार करके माँगूँगा, राजा ने स्वीकार किया । फिर वह एकान्त में बैठकर विचार करने लगा कि—दो मासा सुवर्ण से मेरा कुछ भी नहीं होने वाला है, दस सोना मोहर की याचना करूँ; परन्तु उससे क्या होगा, केवल कपड़े ही बनेंगे ? अतः बीस सुवर्ण मोहर की माँग करूँ अथवा उस बीस मोहर से आभूषण भी नहीं बनेंगे, इसलिए सौ मोहर माँगूँगा तो अच्छा रहेगा । इतने में उसका क्या होगा और मेरा भी क्या होगा ? इससे तो हजार माँगूँ, परन्तु इतने से भी क्या जीवन का निर्वाह हो जायेगा ? इससे अच्छा है कि दस हजार मोहर की याचना करूँ, इस तरह करोड़ों मोहर की याचना की भावना हुई, और इस तरह उत्तरोत्तर बढ़ती प्रचण्ड धन की इच्छा से मूल इच्छा से अत्यधिक बढ़ जाने से उसने इस प्रकार विचार किया—जैसे लाभ है वैसे लोभ होता है, इस तरह लाभ से लोभ बढ़ता है, दो मासा से कार्य करने के लिये यहाँ आया था परन्तु अब करोड़ से भी इच्छा पूर्ण नहीं है । अरे ! लोभ की चेष्टा दुष्ट से भी दुष्ट है । ऐसा विचार करते उसने पूर्व जन्म में दीक्षा ली थी वह जाति स्मरण ज्ञान होने से संवेग

प्राप्त किया और दीक्षा अंगीकार कर राजा के पास गया, राजा ने पूछा कि—हे भद्र ! इस विषय में तूने क्या विचार किया ? कपिल ने करोड़ सोना मोहर की इच्छा का अपना व्यतिकर कहा । राजा ने कहा कि—करोड़ मुहर भी दूंगा इसमें कोई सन्देह नहीं है । 'अब मुझे परिग्रह से कोई प्रयोजन नहीं है ।' ऐसा कहकर कपिल राजमहल से निकल गया और केवल ज्ञान प्राप्त किया । इस तरह हे सुन्दर ! दुर्जन भी लोभ शत्रु को सन्तोष रूपी तीक्ष्ण तलवार से जीतकर निश्चल तू आत्मा की निर्वृत्ति—मुक्ति को प्राप्त कर । इस तरह लोभ नाम का नौवाँ पाप स्थानक कहा है । अब प्रेम (राग) नामक दसवाँ पाप स्थानक भी सम्यग् रूप कहते हैं ।

१०. प्रेम पाप स्थानक द्वार :-इस शासन में अत्यन्त लोभ और माया रूप आसक्ति के केवल आत्मा परिणाम को ही श्री जिनेश्वर भगवन्तों ने प्रेम अथवा राग कहा है । प्रेम अर्थात् निश्चय पुरुष के शरीर अग्नि बिना का भयंकर जलन है, विष बिना की प्रगट हुई मूर्च्छा है और मन्त्र तन्त्र से भी असाध्य ग्रह या भूत-प्रेत का आवेश है । अखण्ड नेत्र, कान आदि होने पर भी निर्बल है अर्थात् प्रेम के कारण आँखें होने पर भी अन्धा और कान होने पर भी बहरा है, परवश है और महान् व्याकुलता है अहो ! ऐसे प्रेम को धिक्कार है । तथा बुखार के समान प्रेम (राग) से शरीर का उद्बर्तन, दुर्बलता, परिताप, कंपन, निद्रा का अभाव, बार-बार उबासी और दृष्टि की अप्रसन्नता होती है । मूर्च्छा प्रलाप करना, उद्वेग, और लम्बे ऊष्ण निसासा होते हैं । इस तरह बुखार के सदृश राग में अल्प भी लक्षण भेद नहीं है । राग के कारण से कुलीन मनुष्य भी नहीं चिन्तन करने योग्य भी चिन्तन करता है तथा हमेशा असत्य भी बोलता है, नहीं देखने योग्य देखता है, नहीं स्पर्श करने योग्य का भी स्पर्श करता है, अभक्ष्य को भी खाता है, नहीं पीने योग्य को पीता है, नहीं जाने योग्य स्थान में जाता है और अकार्य को भी करता है । और इस संसार में जीवों को विडम्बनकारी राग ही न हो तो अशुचिमल से भरी हुई स्त्री के शरीर से कौन राग करे ? पण्डित पुरुषों ने अशुचि, दुर्गंध बीभत्स रूप जिसका त्याग किया है, उसके साथ में जो मूढ़ात्मा राग करता है, तो दुःख की बात है कि—वह किसमें राग नहीं करता है ? लज्जाकारी मानकर लोगों में निश्चय अनिष्ट पापरूप जो ढांकने में आता है वही अंग उसको रम्य लगता है, तो आश्चर्य है कि उसे जहर भी मधुर लगता है । मरते समय स्त्री उच्छ्वास लेती है, श्वास छोड़ती है, नेत्र बन्द करती है और असक्त बनती है, तब उस रागी को भी वैसा ही करती है, फिर भी रोगी को वह रमणीय लगता है । अशुचि,

अदर्शनीय, मैल से भरा हुआ, दुर्गन्धमय देखने में दुःख होता है और अत्यन्त लज्जास्पद, इसके कारण ही अत्यन्त ढका हुआ तथा हमेशा अशुचि झरने वाला और ज्ञानी पुरुषों द्वारा निन्दनीय, स्त्री के गुप्त भाग में पराक्रमी पुरुष भी राग करता है। अतः राग के चारित्र्य को धिक्कार है। इस तरह शरीर के राग से उसकी मालिस और स्नान आदि द्वारा परिश्रम करता है वह ऐसा चिन्तन नहीं करता कि इतना उपचार करने पर भी यह अपवित्र ही रहता है।

इस तरह धन, अनाज, सोना, चाँदी, क्षेत्र, वस्तु में और पशु पक्षी आदि में राग से उस वस्तु की प्राप्ति के लिए स्वदेश से परदेश में जाता है और पवन से उड़े हुए सूखे पत्तों के समान अस्थिर चित्त वाला वह शारीरिक और मानसिक असंख्य तीव्र दुःखों का अनुभव करता है। अधिक क्या कहें ? जगत में जीवों को जो-जो अति कठोर वेदना वाला दुःख होता है वह सब राग का फल है। जो कुंकुम को भी अपने मूल स्थान से देश का त्याग रूप परावर्तन और चूरण होता है अथवा मजीठ को मूल में से उखाड़ना आदि उबालना तक के कष्ट होते हैं तथा कुसुंभा को तपाया जाता है, खण्डन और पैर आदि से मर्दन होता है, वह उसमें रहे द्रव्य भी राग की ही दुष्ट चेष्टा जानना। राग द्वारा दुःख, दुःख से आत्त-रौद्र ध्यान और उस दुर्ध्यान से जीव इस लोक और परलोक में दुःखी होता है। जो जीवों का सर्व प्रकार से विपरीत करने वाला एक राग ही है अर्थात् इस संसार का मूल कारण एक राग ही है और कोई हेतु के समूह नहीं है। और मनुष्य रागादि पदार्थ को जहाँ-तहाँ से कष्ट के द्वारा प्राप्त कर जैसे-जैसे उसे भोगता है वैसे-वैसे राग बढ़ता जाता है। जो बिन्दुओं से समुद्र को भर सकता है, अथवा ईंधन से अग्नि को तृप्त कर सकता है, तो राग की तृष्णा को प्राप्त करने वाला पुरुष भी इस संसार में तृप्ति को प्राप्त कर सकता है। परन्तु किसी ने इस जगत में ऐसा किया हुआ देखा अथवा सुना भी नहीं है, उससे विवेक होने पर विवेकी को राग रण के विजय में प्रयत्न करना चाहिये, यही युक्त है। जगत में जीवों को जो-जो बड़े परम्परा वाला सुख होता है वह राग रूपी दुर्जय शत्रु का अखण्ड विजय का फल है। जैसे उत्तम रत्नों के समूह के सामने काँच के मणि शोभायमान नहीं होते हैं वैसे राग विजय में सामने देवी अथवा मनुष्य का श्रेष्ठ सुख अल्पमात्र भी शोभायमान नहीं होता है। इस राग पाप स्थानक के दोष में अर्हन्तक की पत्नी और उसके वैराग्य के गुण में उसका अर्ह मित्र देवर का दृष्टान्त है। वह इस प्रकार है :—

अर्हन्नक की पत्नी और अर्हमित्र की कथा

श्री क्षिति प्रतिष्ठित नगर में अर्हन्नक और अर्हमित्र नामक परस्पर दृढ़ प्रेम वाले दो भाई रहते थे। एक दिन तीव्र अनुराग वाली बड़े भाई की स्त्री ने छोटे भाई (देवर) को भाग करने की प्रार्थना की, और उसने बहुत बार रोका, फिर भी वह बलात्कार करती थी, तब उसने कहा कि—क्या मेरे भाई को तू नहीं देखती ? इससे अनाचार वाली उसने पति को खत्म कर दिया और फिर उसने कहा—मैंने ऐसा कार्य किया है फिर भी मुझे क्यों नहीं चाहते ? तब 'इस स्त्री ने मेरे भाई को मार दिया है' इस प्रकार निश्चय करके घर से वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने श्री भागवती दीक्षा स्वीकार की, तथा साधुओं के साथ अन्यत्र विहार किया।

वह स्त्री आर्त्तध्यान के आधीन होकर मरकर कुत्ती हुई। साधु समूह के साथ में विचरते अर्हमित्र भी उस गाँव में आया जहाँ कुत्ती रहती थी। इससे पूर्व स्नेह के वश वह कुत्ती उनके पास में रहने लगी, दूर करने पर भी साथ रहने लगी, इससे उपसर्ग मानकर अर्हमित्र मुनि रात को कहीं भाग गये। कुत्ती भी उसके वियोग में मरकर जंगल में बन्दरी रूप जन्म लिया और वह महात्मा भी किसी तरह विहार करते उसी जंगल में पहुँचे। वहाँ बन्दरी ने उसे देखा और पूर्व राग से वह उससे लिपट गई, शेष साधुओं ने महामुश्किल से छुड़ाया और वह मुनि कहीं छुप गया, परन्तु वह उसके विरह से मरकर यक्षिणी हुई उसके छिद्र देखने लगी और विहार करते वह विरागी साधु को युवान साधुओं ने हँसी पूर्वक कहा कि—हे अर्हमित्र ! तू धन्य है या हे मित्र ! तू कुत्ती और पर्वत की बन्दरी को भी प्रिय है। इस तरह मजाक करने पर भी कषाय रहित वह मुनि किसी समय जल प्रवाह को पार करने के लिए जंघा को लम्बी करके जब जाने लगे, तब गति भेद होने से पूर्व में क्रोधित बनी उस यक्षिणी ने उसके साथल काट दिये। अहो ! दुष्ट हुआ, दुष्ट हुआ, अपकाय जीवों की विराधना न हो ! ऐसा शुभ चिन्तन करते वह जितने में अधीर बना, उतने में शीघ्र ही सम्यग् दृष्टि देवी ने उस यक्षिणी को पराजय करके टुकड़े सहित उसके साथल को जोड़कर पुनः अखण्ड बना दिया। इस तरह राग-प्रेम के वैराग्य में प्रवृत्ति करने वाले को सद्गति को प्राप्त किया और राग से पराभूत वह यक्षिणी विडम्बना का पात्र बनी। इस तरह—हे देवानुप्रिय ! तू भी इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए श्री जैन वचन रूपी निर्मल जल से रागाग्नि को शांत कर। इस तरह दसवाँ पाप स्थानक संक्षेप से कहा है, अब द्वेष नामक ग्यारहवाँ पाप स्थानक कहते हैं।

११. द्वेष पाप स्थानक द्वार :—अत्यन्त क्रोध और मान से उत्पन्न हुआ अशुभ आत्म परिणाम को यहाँ द्वेष कहा है। क्योंकि—इससे स्व पर मनुष्यों का द्वेष होता है। द्वेष अनर्थ का घर है, द्वेष भय, कलह और दुःख का भण्डार है, द्वेष कार्य का घातक है और द्वेष अन्याय का भण्डार है। द्वेष अशांति को करने वाला है, प्रेमी और मित्रों का द्रोह करने वाला है, स्व और पर उभय को सन्ताप करने वाला है और गुणों का विनाशक है। द्वेष से युक्त पुरुष दूसरे के गुणों को दोष रूप में निन्दा करता है और द्वेष से कलुषित मन वाला ही तुच्छ प्रकृति को धारण करता है, तुच्छ प्रकृति वाले को अन्य मनुष्य उसके विषय में जो जो प्रवृत्ति करता है वह उसे निश्चय अपने विषय में मानता है और मूढ़ इस तरह से दुःखी होता है। दूसरे से कहे हुए धर्मोपदेश रूप रति के हेतु को भी वह जड़आत्मा पित्त से पीड़ित रोगी के समान मधुर मिश्रित दूध को दूषित मानता है वैसे वह दूषित मानता है, इसलिए यदि रति का स्थान भी जिसके दोष से खेद का कारण बनता है उस पापी द्वेष को अवकाश देना योग्य नहीं है। निर्भागी द्वेष के पूर्व में जितने दोष कहे हैं, वह सुविशुद्ध प्रशम वाले को उतने ही गुण बनते हैं। द्वेष रूपी दावानल के योग से बार-बार जलता है, वह चित्त समाधि रूप बन समता रूपी जल के बरसात से अवश्य पुनः नया संजीवन होता है। यहाँ पर द्वेष रूप पाप स्थानक से धर्मरूचि अणगार ने चारित्र्य अशुद्ध कहा है और फिर संवेग को प्राप्त करके उस जीवन को ही उसने शुद्ध किया है, वह इस प्रकार से है :—

धर्मरूचि की कथा

गंगा नामक महानदी में नन्द नामक नाविक बहुत लोगों से मूल्य लेकर पार उतारता था। एक समय अनेक लब्धि वाले धर्मरूचि नाम के मुनि-राज नाव से गंगा नदी पार उतरे, परन्तु उनको नन्द ने किरायों के लिये नदी किनारे रोका। भिक्षा का समय भी चला गया और सूर्य के किरणों से अति उष्ण रेती में गरमी के कारण से वे अति दुःखी हुए फिर भी उसे मुक्त नहीं किया, इससे क्रोधित हुए उस मुनि ने दृष्टि रूपी ज्वाला से उसे भस्मसात् करके अन्यत्र गये। नाविक एक सभा स्थान में घरवासी कोयल बना। साधु ने भी विचरते गाँव से आहार पानी लेकर भोजन करने के लिए उसी सभा में प्रवेश किया। उसे देखकर पूर्व के दृढ़ वैर से अति तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ। उसके भोजन प्रारम्भ करते उस साधु के ऊपर ऊँचे स्थान से कचरे को फेंकने लगी। इससे उस स्थान को छोड़कर मुनि अन्य स्थान पर बैठे, वहाँ भी वह

कचरा गिराने लगी, इससे दूसरे स्थान पर बैठे, वहाँ भी उसी तरह कचरा डाला, अतः क्रोधी बने धर्मरुचि मुनि ने भी 'यह नन्द के समान कौन है ?' ऐसा कहा और दृष्टि ज्वाला से जला दिया, तब वह नदी प्रवाह में रुके हुए गंगा किनारे हँस रूप उत्पन्न हुआ, मुनि ने भी वहाँ से गाँव-गाँव विचरते भाग्य योग से उस प्रदेश से जाते हुए किसी तरह हँस पक्षी को देखा, उसके बाद क्रोधातुर होकर वह जल भरी पाँखों से मुनि को जल के छींटे डालने लगा, इससे प्रचण्ड क्रोध से साधु ने उसे जला दिया और वहाँ से मरकर अंजन नामक बड़े पर्वत में वह सिंह उत्पन्न हुआ। फिर एक साथ कई साधु के साथ चलते उसी प्रदेश से जाते किसी तरह उनका साथ छोड़कर एकाकी आगे बढ़े। उस साधु को सिंह ने देखा, इससे साधु मारने के लिये आते सिंह को मुनि ने जला दिया। तब वह मरकर बनारसी नगर में ब्राह्मण का पुत्र हुआ और साधु भी किसी भाग्ययोग से उसी नगर में पधारे। वहाँ भिक्षार्थ नगर में घूमते उनको बटुक ब्राह्मण ने देखा और धूल फेंकना इत्यादि उपसर्ग करने लगा, वहाँ भी पूर्व के समान मुनि ने उसे जला दिया और उसी नगर में वह राजा उत्पन्न हुआ, मुनि भी चिरकाल अन्यत्र विहार करने लगे। फिर राज्य लक्ष्मी को भोगते राजा का अपना पूर्व जन्म का चिन्तन करने से जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, इससे भयभीत बना वह विचार करने लगा कि—यदि अब वह मुझे मारेगा तो महान् अनर्थ होगा और राज्य का विशिष्ट सुख से मैं दूर हो जाऊँगा। इसलिए किसी तरह मैं उस मुनि की जानकारी करूँ और शीघ्र उनसे क्षमा याचना करूँ। इसलिए उसकी जानकारी के लिए उस राजा ने डेढ़ (१½) श्लोक से पूर्वभवं का वृत्तान्त रचकर घर के बाहर लगाया, वह इस प्रकार :—

“गंगा में नन्द नाविक, सभा में कोकिल, गंगा के किनारे हँस, अंजन पर्वत में सिंह, और वाराणसी में बटुक ब्राह्मण होकर वही राजा रूप उत्पन्न हुआ है।” फिर इस तरह की उद्धोषणा करवाई कि—जो कोई इसे पूर्ण करेगा उसे राजा आधा राज्य देगा। इससे नगर के सभी नागरिक अपनी मति रूप वैभव के अनुरूप उत्तरार्द्ध श्लोक की रचना कर राजा को सुनाते थे, परन्तु इससे राजा को विश्वास नहीं होता था। एक दिन धर्मरुचि दीर्घकाल तक अन्यत्र विहार कर वहाँ आये और बाग में रुके, वहाँ बाग में माली “गंगा में नन्द नाविक” इत्यादि पद को बार-बार बोलते सुना। मुनि ने कहा कि—हे भद्र ! तू इस पद को बार-बार क्यों बोलता है ? उसने सारा वृत्तान्त कहा, तब उसका रहस्य जानकर मुनि ने उसका अन्तिम आधा श्लोक इस प्रकार

बनाकर कहा—“जो उसका घातक था वही यहाँ पर हो आया है।” फिर प्रतिपूर्ण समस्या को लेकर माली राजा के पास गया और उसने उत्तरार्द्ध श्लोक सुनाया, इससे भयवश पीड़ित राजा मूर्च्छा से आँखें बन्द कर दुःखी होने लगा। फिर ‘यह राजा का अनिष्ट करने वाला है’ ऐसा मानकर क्रोधित हुए लोग उसे मारने लगे, तब उसने कहा कि—‘मैं काव्य रचना नहीं जानता हूँ, लोगों को क्लेश करने वाला यह वाक्य मुझे साधु ने कहा है।’ फिर क्षण में चैतन्य को प्राप्त कर राजा ने उसे मारने को रोका और पूछा कि—यह उत्तरार्द्ध श्लोक किसने बनाया है? उसने कहा कि—यह मुनि की रचना है, तब प्रधान को भेजकर राजा ने पुछवाया कि—यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं वन्दनार्थ आऊँ, मुनि के उसको स्वीकार करने से राजा वहाँ आये और उपदेश सुनकर श्रावक बना। महात्मा धर्मरुचि ने भी अपना पूर्व के दुराचरण का स्मरण करके उसकी आलोचना—प्रतिक्रमण करके, सर्व प्रकार के कर्मों को मूल से नाश करके द्वेष रूपी वृक्ष को मूल से उखाड़ कर अचल—अनुत्तर शिव सुख को प्राप्त किया। इस प्रकार जानकर हे सत्पुरुष ! तू फैलता हुआ दोष रूपी दावानल को प्रशमन रूपी जल के बरसात से शान्ती कर। हे सुन्दर ! ऐसा करने से अति तीव्र संवेग प्राप्त कर तू भी स्वीकार किया हुआ कार्यरूपी समुद्र को शीघ्र पारगामी होगा। इस प्रकार ग्यारहवाँ पाप स्थानक कहा है, अब कलह नाम का बारहवाँ पाप स्थानक कहता हूँ।

१२. कलह पाप स्थानक द्वार :—क्रोधविष्ट मनुष्य के वाग्युद्ध रूप वचन कलह कहलाता है और वह तन में तथा मन में प्रगट हुए असंख्य सुखों का शत्रु है। कलह कलुषित करने वाला है, वैर की परम्परा का हेतु उत्पन्न करने वाला है, मित्रों को त्रास देने वाला और कीर्ति का क्षय काल है। कलह धन का नाश करने वाला है, दरिद्रता का प्रथम स्थान है, अविवेक का फल है और असमाधि का समूह है। कलह राजा के रूकावट का ग्रह है, कलह से घर में रही लक्ष्मी का भी नाश होता है, कलह से कुल का नाश होता है और अनर्थ को फैलाने वाला है। कलह से भवोन्भव अति दुस्सह दुर्भाग्य प्राप्त करता है, धर्म का नाश होता है एवं पाप को फैलाता है। कलह सुगति के मार्ग का नाशक है, कुगति में जाने के लिए सरलता की पगडण्डी है, कलह हृदय का शोषण करता है और फिर संताप होता है। कलह बेताल के समान मौका देकर शरीर को भी नाश करता है, कलह से गुणों की हानि होती है और कलह से समस्त दोष आते हैं। कलह स्व-पर उभय के हृदय रूपी महान पात्र में रहा हुआ स्नेह रस को तीव्र अग्नि के समान उबाल कर क्षय करता है।

कलह करने से धर्म कला का नाश होता है और इससे शब्द लक्षण (व्याकरण) में विचक्षण पुरुषों ने उसका नाम 'कलं हनन्ति इति कलहः' कल अर्थात् सुन्दर आरोग्य या सन्तोष का नाश करे उसे कलह कहते हैं। इससे दूसरे की बात तो दूर रही किन्तु अपने शरीर से उत्पन्न हुआ फोड़ के समान अपने अंग से उत्पन्न हुआ कलह प्रिय पुत्र लोक में अति दुस्सह तीक्ष्ण दुःख को प्रगट करता है। शास्त्र में कलह से उत्पन्न हुये जितने दोष कहे हैं उतने ही गुण उसके त्याग से प्रगट होते हैं। इसलिए हे धीर ! कलह को प्रशम रूपी वन को खतम करने में हाथी के बच्चे समान समझकर परम सुख का जनक और शुभ उसके विजय में हमेशा राग कर तथा अपने और दूसरे को कलह न हो वैसा कार्य कर। फिर भी यदि किसी तरह वह प्रगट हो, तो भी वह बढ़े नहीं इस तरह वर्तन कर। प्रारम्भ में हाथी के बच्चे के समान निश्चय बढ़ते जाते कलह बाद में रोकना दुष्कर बन जाता है, उसके बाद तो विविध वध बन्धन का कारण बनता है। यहाँ कलह पाप स्थानक के दोष से दुष्ट हरिषेण अपने माता-पिता को भी अति उद्वेगकारी बना। और उन दो सर्पों के व्यतिकर को देखकर तत्त्व का ज्ञाता बनकर साधुता को स्वीकार कर देवों का भी पूज्य बन। वह इस प्रकार है :—

कलह पर हरिषेण की कथा

मथुरा नगरी में महाभाग्यशाली शंख नाम का राजा था। उसने सर्व वस्तुओं के राग का त्याग कर सद्गुरु के पास दीक्षा स्वीकार की थी। काल-क्रम से सूत्र अर्थ का अभ्यास कर पृथ्वी ऊपर विहार करते वह तीन और चार प्रकार मार्ग से मनोहर गजपुर नगर में आए, और भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश करते उसने अग्नि वाले मार्ग के पास खड़े सोमदत्त नामक पुरोहित को पूछा कि—'क्या मैं मार्ग से जा सकता हूँ?' 'इससे अग्नि के मार्ग में जाते जलते हुए इसको मैं देखूँगा।' ऐसा अशुभ विचार कर उसने कहा कि—हे भगवन्त ! इस मार्ग से पधारो ! और इर्या समिति में उपयोग वाले वह मुनि जाने लगे। फिर झरोखे में बैठकर पुरोहित उस मुनि को धीरे-धीरे जाते देख-कर स्वयं भी उस मार्ग में गया। उस मार्ग को शीतल देखकर विस्मयपूर्वक इस तरह विचार करने लगा कि—धक्कार हो ! धक्कार हो ! मैं पापिष्ठ हूँ कि—मैंने ऐसा महापाप का आचरण किया है, अब उस महात्मा के दर्शन करने चाहिये, कि जिसके तप के प्रभाव से अग्नि से व्याप्त मार्ग भी शीघ्र ठण्डे जल के समान शीतल हो गया है। आश्चर्यकारक चारित्र्य वाले महात्माओं को

क्या असाध्य है ? ऐसा विचार करते वह उस तपस्वी के पास गया और भाव-पूर्वक नमस्कार करके अपने दुराचरण को बतलाया । मुनि ने भी उसे अति विस्तारपूर्वक श्री जैन धर्म का स्वरूप समझाया । उसे सुनकर वह प्रतिबोध हुआ और उसने साधु धर्म स्वीकार किया, तथा यथा विधि उसका पालन करने लगा, परन्तु उसने मद के महा भयंकर विपाकों को सुनने पर भी किसी प्रकार जाति मद को नहीं छोड़ा । आखिर मरकर वह स्वर्ग में देदीप्यमान देव हुआ और वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर जाति मद के अभिमान से गंगा नदी के किनारे चंडाल के कुल में रूप रहित और अपने स्वजनों का भी हाँसी पात्र बल नाम का पुत्र हुआ । अत्यन्त कलह खोर और महा पिशाच के समान उद्वेगकारी उसने क्रमशः दोषों से और शरीर से वृद्धि प्राप्त की । फिर वसन्तोत्सव आते मदिरापान और नाचने में परायण स्वजनों से कलह करते उसे निकाल दिया । इससे अत्यन्त खेदित होते स्वजनों के नजदीक में रहकर विविध श्रेष्ठ क्रीड़ाएँ करता था । इतने में काजल और मेघ के समान काला श्याम तथा हाथी की सूँड समान स्थूल सर्प उस प्रदेश में आया और लोगों ने मिलकर उसे मार दिया । उसके बाद थोड़े समय में वैसा ही उसी तरह दूसरा सर्प आया, परन्तु वह जहर रहित है, ऐसा मानकर किसी ने भी उसे नहीं मारा ।

यह देखकर बल ने विचार किया कि निश्चय ही सर्व जीव अपने दोष और गुण के योग्य अशुभ शुभ फल को प्राप्त करते हैं, इसलिये भद्रिक परिणाम वाला होना चाहिए । भद्रिक जीव कल्याण को प्राप्त करता है जहर के कारण सर्प का नाश हुआ और जहर रहित सर्प मुक्त बना । दोष सेवन करने वाले को अपने स्वजनों से भी पराभव होता है इसमें क्या आश्चर्य है ? इसलिए अब भी दोषों का त्याग, गुणों को प्रगट करना चाहिए । ऐसा विचार करते साधु के पास गया, वहाँ धर्म सुनकर संसारवास से अति उद्वेग होते वह मातंग नाम का महामुनि बना । दो, तीन, चार, पाँच और पन्द्रह उपवास आदि विविध तप में रक्त वह महात्मा विचरते वाराणसी नगरी में गये और वहाँ तिद्रुक नामक उद्यान में गंडी तिद्रुक यक्ष के मन्दिर में रहे और वह यक्ष मुनि की भक्तिपूर्वक सेवा करने लगा । किसी समय दूसरे उद्यान में रहे यक्ष ने आकर गंडी तिद्रुक यक्ष को कहा कि—हे भाई ! तुम क्यों दिखते नहीं हो ? उसने कहा कि—सभी गुणों के आधारभूत इस मुनिवर की हमेशा स्तुति—सेवा करता हूँ और अपना समय व्यतीत करता हूँ । मुनि श्री का आचरण देखकर प्रसन्न हुआ और उसने भी तिद्रुक यक्ष को कहा कि—हे मित्र ! तू ही कृतार्थ बना है कि जिसके वन में ऐसे मुनि विराजमान हैं, मेरे उद्यान में भी मुनिराज

पधारे हैं, इसलिए एक क्षण के लिए चल, हम दोनों साथ में जाकर उनको वंदन करें। फिर वे दोनों गये और उन्होंने प्रमाद से युक्त किसी तरह विकथा करने में रक्त मुनि को देखा। इससे उस मातंग मुनि में वह यक्ष गाढ़ अनुरागी बना, फिर नित्यमेव उस महामुनि को भावपूर्वक वन्दन करता और पाप रहित बना, उस यक्ष के दिन अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत होने लगे।

एक समय कोशल देश के राजा की भद्रा नाम की पुत्री परम भक्ति से यक्ष के मन्दिर में आई, साथ में अनेक प्रकार के फल-फूल के टोकरी उठाकर नौकर आये थे। भद्रा ने यक्ष प्रतिमा की पूजा कर उसकी मन्दिर की प्रदक्षिणा देते उसने मैल से मलिन शरीर वाले विकराल काले श्याम वर्ण वाले लावण्य से रहित और तपस्या से सूखे हुये काउस्सग ध्यान में मातंग मुनि को देखा। उसे देखकर उसने अपनी मूढ़ता से श्रुथकार किया और मुनि निन्दा की, इससे तुरन्त कोपायमान होकर यक्ष ने उसके शरीर में प्रवेश किया। बार-बार अनुचित अलाप करती उसे महा मुश्किल से राजभवन में ले गये और अत्यन्त खिन्न चित्त वाले राजा ने भी अनेक मन्त्र-तन्त्र के रहस्यों को जानकार पुरुषों ने और वैद्यों को भी बुलाया, उन्होंने उसकी चारों प्रकार की औषधोपचारादि क्रिया की, परन्तु कुछ भी लाभ नहीं होने से वैद्य आदि रुक गये तब अन्य किसी व्यक्ति में प्रवेश कर उस यक्ष ने कहा कि—इसने साधु की निन्दा की है, इससे यदि तुम इसे उस साधु को ही दो तो छोड़ दूंगा, अन्यथा छुटकारा नहीं होगा। यह सुनकर 'किसी तरह यह बेचारी जीती रहे' ऐसा मानकर राजा ने उसे स्वीकार किया। फिर स्वस्थ शरीर वाली बनी उसे सर्व अलंकार से विभूषित होकर विवाह के योग्य सामग्री को लेकर वह बड़े आडम्बर पूर्वक वहाँ आई और पैरों में गिरकर मुनि से कहा कि—हे भगवन्त ! मेरे ऊपर इस विषय में कृपा करो। मैं स्वयं विवाह के लिए आई हूँ, मेरे हाथ को आप हाथ से स्वीकार करो। मुनि ने कहा कि—जो स्त्रियों के साथ बोलना भी नहीं चाहता है, वह अपने हाथ से स्त्रियों के हाथ को कैसे पकड़ सकता है ? प्रियेयक देव के समान मुक्तिवधू में रागी महामुनि दुर्गति के कारण रूप युवतियों में राग को किस तरह करते हैं ? फिर यक्ष प्रतिकार करने के तीव्र रोष से मुनि रूप धारण करके उसके साथ विवाह किया और समग्र रात्री तक उसको उसका ही दुःख दिया। विवाह को स्वप्न समान मानकर और शोक से व्याकुल शरीर वाली वह प्रभात में माता-पिता के पास गई और सारा वृत्तान्त कहा, फिर यह स्वरूप जानकर रुद्रदेव नामक पुरोहित ने व्याकुल हुये राजा से कहा कि—हे देव ! यह साधु की पत्नी है और उस साधु ने त्याग की है, अतः तुम्हें उसे

ब्राह्मण को देना चाहिये। राजा ने उसे स्वीकार किया और उस रुद्रदेव को ही उसको दे दिया। वह उसके साथ विषय सेवन करते काल व्यतीत करने लगा।

एक समय उसने यज्ञ को प्रारम्भ किया और अन्य देशों से वेद के अर्थ विचक्षण बहुत पण्डित, ब्राह्मण विद्यार्थियों का समूह वहाँ आया। फिर वहाँ यज्ञ क्षेत्र में अनेक प्रकार का भोजन तैयार हुआ था। वहाँ मातंग मुनि मास-क्षमण के पारणा पर भिक्षा के लिये आये और तप से सूखे काया वाले, अल्प उपधि वाले, मैले-कुचैले और कर्कश शरीर वाले उनको देखकर विविध प्रकार से हँसते धर्म द्वेषी उन ब्राह्मण विद्यार्थियों ने कहा कि—हे पापी ! तू यहाँ क्यों आया है ? अभी ही इस स्थान से शीघ्र चले जाओ। उस समय यक्ष ने मुनि के शरीर में प्रवेश करके कहा कि—मैं भिक्षार्थ आया हूँ, अतः ब्राह्मणों ने सामने ही कहा कि—जब तक ब्राह्मणों का नहीं खाओ और जब तक प्रथम अग्निदेव को तृप्त नहीं करते तब तक यह आहार क्षुद्र को नहीं दिया जाता, इसलिए हे साधु तू चला जा। जैसे योग्य समय पर उत्तम क्षेत्र में विधिपूर्वक बोया हुआ बीज फलदायक बनता है, वैसे पितृ, ब्राह्मण और अग्निदेव को दान देने से फल वाला बनता है। फिर मुनि के शरीर में प्रवेश किए यक्ष ने कहा कि तुम्हारे जैसे हिंसक, झूठा और मैथुन में आसक्त पापियों के जन्म मात्र से ब्राह्मण नहीं माने जाते हैं। अग्नि भी पाप का कारण है, तो उसमें स्थापन करने से कैसे भला हो सकता है ? और परभव में गये पिता को भी यहाँ से देने वाले का कैसे स्वीकार हो सकता है ? यह सुनकर 'मुनि को गुस्सा आया है' ऐसा मानकर, सभी ब्राह्मण क्रोधित हुये और हाथ में डण्डा, चाबुक, पत्थर आदि लेकर चारों तरफ से मुनि को मारने दौड़े। यक्ष ने उनमें से कईयों को वहीं कटे वृक्ष के समान गिरा दिया, कई को प्रहार से मार दिया और कई को खून का वमन करवाया। इस प्रकार की अवस्था में सर्व को देखकर भय से काँपने हृदय वाली राजपुत्री ब्राह्मणी कहने लगी कि यह तो वह मुनि है कि जिसके पास उस समय स्वयं विवाह के लिये गई थी, परन्तु इन्होंने मुझे छोड़ दी है, ये तो मुक्तिवधू के रागी हैं, अतः देवांगनाओं की इच्छा भी नहीं करते हैं। अति घोर तप के पराक्रम से इन्होंने सारे तिर्यच, मनुष्य और देवों को भी वश किया है। तीनों लोक के जीव इनके चरणों में नमस्कार करते हैं। इनके पास विविध लब्धियाँ हैं, क्रोध, मान और माया को जीता है तथा लोभ परीषह को भी जीता है और महासात्त्विक हैं जो सूर्य के समान अति फैले हुए पाप रूपी अन्धकार के समूह को चूरने वाले हैं। और कोपायमान बने अग्नि

के समान जगत को जलाते हैं तथा प्रसन्न होने पर वही जगत का रक्षण करते हैं, इसलिए इनको तर्जना करोगे तो मरण के मुख में जाओगे। अतः चरणों में गिरकर इस महर्षि को प्रसन्न करो। यह सुनकर पत्नि सहित रुद्रदेव विनयपूर्वक कहने लगा कि—हे भगवन्त ! रागादि से आपका अपराध किया है, उसको आप हमें क्षमा करें, क्योंकि लोग में उत्तम मुनि का नमन करने वाले के प्रति वात्सल्य भाव होता है। फिर उनको मुनि ने कहा कि—संसार का कारणभूत क्रोध है इसको कौन आश्रय दे ? उसमें भी श्री जैन वचन के जानकार तो विशेषतः स्थान कैसे दे ? केवल मेरी भक्ति में तत्पर बनकर यक्ष यह कार्य करता है इसलिए उसे ही प्रसन्न करो कि जिससे कुशलता को प्राप्त करो। उस समय विविध प्रकार से यक्ष को उपशान्त करके हर्ष से रोमांचित हुए सभी ब्राह्मणों ने भक्तिपूर्वक अपना निमित्त तैयार किया वह भोजन उस साधु को दिया और प्रसन्न हुये यक्ष ने आकाश में से सोना, मोहर की वर्षा की तथा भ्रमरों से व्याप्त सुगन्धी पुष्प समूह से मिश्रित सुगन्धी जल की वर्षा की। इस तरह कलह के त्याग से वह मातंग मुनि देव पूज्य बने। इसलिये हे क्षपक मुनि ! कलह में दोषों को और उसके त्याग में गुणों का सम्यग् विचार करके इस तरह कोई उत्तम प्रकार से वर्तन करें जिससे तेरे प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि होती है। इस तरह बारहवाँ पाप स्थानक भी कुछ अल्प मात्र कहा है। अब तेरहवाँ अभ्याख्यान नामक पाप स्थानक कहते हैं।

१३. अभ्याख्यान पाप स्थानक द्वार :—प्रायःकर दोषों का अभाव हो फिर भी दूसरे उद्देश्य को जो प्रत्यक्ष आरोपण करना उसे ज्ञानियों का अभ्याख्यान कहा है। यह अभ्याख्यान स्व-पर उभय के चित्त में दुष्टता प्रगट करने वाला है, तथा उस अभ्याख्यान का परिणाम वाला पुरुष कौन-कौन सा पाप का बन्धन नहीं करता ? क्योंकि अभ्याख्यान बोलने से क्रोध, कलह आदि पापों में जो कोई भी यह भव-परभव सम्बन्धी दोष पूर्व में कहे हैं वे सब पाप प्रगट होते हैं। यद्यपि अभ्याख्यान देने का पाप अति अल्प होता है, फिर भी वह निश्चय दस गुणा फल को देने वाला होता है। सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है कि 'एक बार भी किया हुआ वध, बन्धन, अभ्याख्यान दान, परधन हरण आदि पापों का सर्व से जघन्य अर्थात् कम से कम भी उदय दस गुणा होता है और तीव्र-तीव्रतर प्रदेष्ट करने से तो सौ गुणा, हजार गुणा, लाख गुणा, करोड़ गुणा अथवा बहुत, बहुततर भी विपाक होता है।' तथा सर्व सुखों का नाश करने में प्रबल शत्रु समान है, गणना से कोई संख्या नहीं है, किसी से रक्षण नहीं हो सकता है तथा अत्यन्त कठोर हृदय रूपी गुफा को चरणों में एक दक्ष-

स्नेह घातक है, इन सब दुःखों का कारण यह अभ्याख्यान है। और इससे विरति वाले को इस जगत में इस भव-परभव में होने वाले सारे कल्याण निश्चय-मेव यथोच्छित स्वाधीन होते हैं। तेरहवें पाप स्थानक से रुद्र जीव के समान अतिशय अपयश को प्राप्त करता है और उससे विरक्त मन वाला अंगर्षि के समान कल्याण को प्राप्त करता है। वह इस प्रकार :—

रुद्र और अंगर्षि की कथा

चम्पा नगर में कौशिकाचार्य नामक उपाध्याय के पास अंगर्षि और रुद्र दोनों धर्म शास्त्रों को पढ़ते थे। वे भी बदले की इच्छा बिना केवल पूजक भाव से पढ़ते थे। उपाध्याय ने अनध्याय (श्रुद्धी) के दिन उन दोनों को आज्ञा दी कि—अरे ! आज शीघ्र लकड़ी का एक-एक भार जंगल में से ले आओ। प्रकृति से ही सरल अंगर्षि उस समय 'तहत्ति' द्वारा स्वीकार करके लकड़ी लेने के लिये जंगल में गया और दुष्ट स्वभाव वाला रुद्र घर से निकलकर बालकों के साथ खेलने लगा, फिर संध्याकाल के होते वह अटवी की ओर चला और उसने दूर से लकड़ी का बोझ लेकर अंगर्षि को आते देखा। फिर स्वयं कार्य नहीं करने से भयभीत होते उसने लकड़ी के भार को लाती उस प्रदेश से ज्योति यशा नामक वृद्धा को देखकर उसे भारकर खड्डे में गाड़ दिया और उसकी लकड़ियाँ उठाकर शीघ्रता से गुरु के पास आया, फिर वह कपटी कहने लगा कि—हे उपाध्याय ! आपके धर्मो शिष्य का चारित्र कैसा भयंकर है ? क्योंकि आज सम्पूर्ण दिन खेल तमाशे कर अभी वृद्धा को मारकर, उसके लकड़ी के गट्ठे को लेकर वह अंगर्षि जल्दी-जल्दी आ रहा है। यदि आप सत्य नहीं मानो तो पधारो कि जिसने उस वृद्धा की दशा की है और जहाँ उसे गाड़ा है, उसे दिखाता हूँ। जहाँ इस तरह कहता था इतने में लकड़ी का गट्ठा उठाकर अंगर्षि वहाँ आया, इससे क्रोधित हुए उपाध्याय ने कहा कि—अरे पापी ! ऐसा अकार्य करके अभी तू घर पर आता है ? मेरी दृष्टि से दूर हट जा, तुझे पढ़ाने से क्या लाभ ?

वज्रपात समान यह दुःसह कलंक सुनकर अति खेद को करते वह अंगर्षि इस तरह विचार करने लगा कि—हे पापी जीव ! पूर्व जन्म में इस प्रकार का कोई भी कर्म तूने किया होगा, जिसके कारण यह अति दुःसह संकट आया है। इस तरह संवेग को प्राप्त करते, उसने पूर्व में अनेक जन्मों के अन्तर चारित्र धर्म की आराधना की थी ऐसा जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और शुभ ध्यान से कर्मों का विनाश करके केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया। तथा देव और मनुष्यों ने उसकी पूजा की और रुद्र को उसी देवों ने 'पापी तथा

अभ्याख्यान देने वाला है' ऐसा सर्वत्र बहुत निन्दा की। यह सुनकर भो क्षपक मुनि ! तू भी अभ्याख्यान द्वारा विरति प्राप्त कर कि जिससे इच्छित गुण की सिद्धि में हेतुभूत समाधि को शीघ्र प्राप्त करता है। यहाँ तक यह तेरहवाँ पाप स्थानक अल्पमात्र कहा है, अब अरति रति नामक चौदहवाँ पाप स्थानक कहते हैं।

१४. अरति रति पाप स्थानक द्वार :—अरति और रति दोनों के द्वारा एक ही पाप स्थानक कहा है, क्योंकि उस विषय में उपचार (कल्पना) विशेष से अरति भी रति और रति भी अरति होती है। जैसे कि—मुलायम बिना वस्त्र को धारण करने में अरति होती है, वह वस्त्र मुलायम हो तो उसे धारण करने में रति होती है, मुलायम धागे वाला वस्त्र धारण करने में रति होती है, वही वस्त्र दूसरे ओर से जहाँ मुलायम धागे वाला न हो उसे धारण करते अरति होती है। जैसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने से जिस पर अरति होती है वही अरति उसकी प्राप्ति होते ही रति रूप परिवर्तन हो जाती है। तथा यहाँ उस प्रस्तुत वस्तु की प्राप्ति से जो रति होती है, वही उस वस्तु के नाश होते अरति रूप में परिवर्तन होता है। अथवा किसी बाह्य निमित्त बिना भी निश्चय अरति मोह नामक कर्म के उदय से शरीर में ही अनिष्ट सूचक जो भाव होते हैं वह अरति जानना, उसके आधिन से आलस्य, शरीर से व्याकुल वाला, अचेतन बना हुआ और इस लोक, परलोक के कार्य करने में प्रमादी बने जीव को किसी भी प्रकार के कार्य में उत्साहित करने पर भी कदापि उत्साही नहीं होता है, ऐसा वह मनुष्य इस जीव लोक में बकरी के गले में आंचल के समान निष्फल जीता है। तथा रति मोह कर्म के वश किसी भी वस्तु में राग से आसक्त चित्त वाला कीचड़ में फँसी हुई वृद्ध गाय के समान उस वस्तु से छुटने के लिये असक्त बना जीव इस लोक के कार्य को नहीं कर सकता है तो फिर अत्यन्त प्रयत्न से स्थिर चित्त से साध्य जो परलोक का कार्य है उसे वह किस तरह सिद्ध करेगा ? इस तरह अरति और रति का संसार भावना का कारण जानकर हे क्षपक मुनि ! तू क्षण भर भी उसका आश्रय नहीं करना अथवा असंयम में अरति को भी कर और संयम गुणों में रति को कर। इस तरह करते तू निश्चय आराधना को भी प्राप्त करेगा। अधिक क्या कहें ? संसार का कारण भूत अप्रशस्त अरति रति का नाश करके संसार से छुड़ाने वाला प्रशस्त अधर्म में अरति करके धर्मरूपी बाग में रति को कर। हे धीर पुरुष ! यदि तुझे समता के परिणाम से इष्ट विषय में रति न हो और अनिष्ट में अरति न हो तो तू आराधना को प्राप्त करता है। संयम भार को उठाने में थका हुआ

क्षुल्लक कुमार मुनि के समान धर्म में अरति और अधर्म में रति, ये दोनों पुरुष को संसार में शोक के पाल बना देता है। असंयम में अरति से संयम में रति से पुनः सम्यक् चेतना को प्राप्त कर वही मुनि जैसे पूज्य बना, वैसे संसार में पूज्य बनता है। वह इस तरह :—

क्षुल्लक कुमार मुनि की कथा

साकेत नामक श्रेष्ठ नगर में पुंडरिक नाम का राजा था, उसे कंडरिक नाम का छोटा भाई था। छोटे भाई की यशोभद्रा नाम की पत्नी थी। एक दिन अत्यन्त मनोहर अंग वाली घर के प्रांगण में घूमती हुई उसे पुंडरिक ने देखकर अत्यन्त आसक्त बना, उसने उसके पास दुती को भेजा और लज्जायुक्त बनी यशोभद्रा ने उसे निषेध किया। राजा ने फिर भेजा, बाद में राजा के अति आग्रह होने पर उसने उत्तर दिया कि—क्या आपको छोटे भाई से भी लज्जा नहीं आती कि जिससे ऐसा बोल रहे हो? अतः राजा ने कंडरिक को गुप्त रूप से मरवा दिया और फिर प्रार्थना की तब ब्रह्मचर्य खण्डन के भय से शीघ्र आभूषणों को लेकर वह राजमहल से निकल गई और एकाकी भी वृद्ध व्यापारी को पितृभाव को धारण कर उसके साथ श्रावस्ती नगर में पहुँच गई। वहाँ श्री जिनसेन सूरि की शिष्या कीर्तिमती नाम की महत्तरा साध्वी को वन्दन के लिए गई और वहाँ सारा वृत्तान्त कहा। साध्वी का उपदेश सुनकर उसे वैराग्य हुआ और दीक्षा स्वीकार की। परन्तु 'गर्भ' की बात कहूँगी तो मुझे दीक्षा नहीं देंगे' अतः अपने गर्भ की बात महत्तरा को नहीं कही। कालक्रम से गर्भ बढ़ने लगा, तब महत्तरा ने उससे एकान्त में कारण पूछा, तब उसने भी सारा सत्य निवेदन किया, फिर जब तक पुत्र का जन्म हो तब तक उसे गुप्त ही रखा। फिर उसके पुत्र का जन्म हुआ, श्रावक के घर बड़ा हुआ और बाद में आचार्य श्री के पास उसने दीक्षा ली, उसका नाम क्षुल्लक कुमार रखा और साधु के योग्य समग्र समाचारी को पढ़ाया, जब यौवन वय प्राप्त किया, उस समय संयम पालन करने के लिए असमर्थ बन गया। दीक्षा छोड़ने के परिणाम जाग्रत हुए और इसके लिए माता को पूछा। साध्वी माता ने अनेक प्रकार से उसे रोका, फिर भी नहीं रहा, तब माता ने फिर कहा कि—हे पुत्र ! मेरे आग्रह से बारह वर्ष तक पालन कर, उसने वह स्वीकार किया। वे बारह वर्ष जब पूर्ण हुये तब पुनः जाने की इच्छा प्रगट की, तब साध्वी माता ने कहा कि—मेरी गुरुणी को पूछा ? उसने भी उतना काल बारह वर्ष रोका और इसी प्रकार आचार्य महाराज ने भी बारह वर्ष रोका, इसी तरह उपाध्याय ने भी

बारह वर्ष रोका। इस तरह अड़तालीस वर्ष व्यतीत हो गये, फिर भी नहीं रुकने से उसकी माता ने उपेक्षा की केवल पूर्व संभालकर रखी, उसके पिता के नाम की अंगूठी और रत्न कम्बल उसे देकर कहा कि—हे पुत्र ! इधर-उधर कहीं पर नहीं जाना, परन्तु पुंडरिक राजा तेरे पिता के बड़े भाई हैं उसे यह तेरे पिता की नाम वाली अंगूठी दिखाना कि जिससे वह तुझे जानकर अवश्य राज्य देंगे। इसे स्वीकार कर क्षुल्लक कुमार मुनि वहाँ से निकल गया और कालक्रम से साकेत पुर में पहुँचा।

उस समय राजा के महल पर आश्चर्यभूत नाटक चल रहा था, इससे 'राजा का दर्शन फिर करूँगा' ऐसा सोचकर वहीं बैठकर वह एकाग्रता से नाटक को देखने लगा और नटी समग्र रात नाचती रही, अतः अत्यन्त थक जाने से नींद आते नटी को विविध करणों के प्रयोग से मनोहर बने नाटक के रंग में भंग पड़ने से भय से अक्का ने प्रभात काल में गीत गाकर सहसा इस प्रकार समझाती है 'हे श्याम सुन्दरी ! तूने सुन्दर गाया है, सुन्दर बजाया है, और सुन्दर नृत्य किया है। इस तरह लम्बी रात्री तक नृत्य कला बतलाई है, अब रात्री के स्वप्न के अन्त में प्रमाद मत कर।' यह सुनकर क्षुल्लक मुनि ने उसको रत्न कम्बल भेंट किया। राजा के पुत्र ने कुण्डल रत्न दिया, श्रीकान्त नाम की सार्थवाह की पत्नी ने हार दिया, मंत्री जयसंधी ने रत्न जड़ित सुवर्ण-मय कड़ा अर्पण किया और महाव्रत ने रत्न का अंकुरा भेंट किया, उन सबका एक-एक लाख मूल्य था।

इन सबका रहस्य जानने के लिये राजा ने पहले ही क्षुल्लक को पूछा कि तूने यह कैसे दिया ? इससे उसने मूल से ही अपना सारा वृत्तान्त सुनाकर कहा कि मैं यहाँ राज्य के लिये आया हूँ, परन्तु गीत सुनकर बोध हुआ है और अब विषय की इच्छा रहित हुआ हूँ तथा दीक्षा में स्थिर चित्त वाला बना हूँ। इसलिए 'यह गुरु है' ऐसा मानकर इसको रत्न कम्बल दिया है। फिर उसे पहचान कर राजा ने कहा कि—हे पुत्र ! यह राज्य स्वीकार कर, तब क्षुल्लक ने उत्तर दिया कि—शेष आयुष्य में अब चिरकालिक संयम को निष्फल करने वाले इस राज्य से क्या लाभ है ? इसके बाद राजा ने पुत्र आदि को पूछा कि—तुम्हें दान देने में क्या कारण है ? तब राजपुत्र ने कहा कि—'हे तात् ! आपको मारकर मुझे राज्य लेने की इच्छा थी' परन्तु मुझे यह गीत सुनकर राज्य से वैराग्य हुआ है, तथा सार्थवाह पत्नी ने कहा कि—मेरे पति को परदेश गये बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं, इसलिए मैंने विचार किया था

कि दूसरे पति को स्वीकार करूँ, ऐसी आशा से—‘किसलिए दुःखी होऊँ’ ऐसा विचार करती थी। उसके बाद मन्त्री ने कहा कि—हे देव ! ‘अन्य राजाओं के साथ मैं सन्धि करूँ अथवा नहीं करूँ’ इस तरह पूर्व में विचार करता था और महाव्रत ने भी कहा कि—सीमा के राजा कहते थे कि पट्टहस्ति को लाकर दे अथवा उसको मार दे। इस तरह बहुत कहने से मैं भी चिरकाल से झूले के समान शंका से चलचित्त परिणाम वाला रहता था, परन्तु इसकी बात सुनकर सावधान हो गया और अपूर्वी अमूल्य वस्तु भेंट की। उन सबके अभिप्रायों को जानकर प्रसन्न हुआ पुंडरिक राजा ने उनको आज्ञा दी कि—‘तुम्हें जो योग्य लगे वैसा करो।’ तब इस प्रकार का द्रोह रूप अकार्य करके हम कितने लम्बे काल तक जी सकेंगे ? ऐसा कहकर वैराग्य होते उन सबने उसी समय क्षुल्लक के पास दीक्षा ली और सकल जन पूज्य बने। उन महात्माओं ने उनके साथ विहार किया। इस प्रकार इस दृष्टान्त से हे क्षपक मुनि ! तू मन वांछित अर्थ की सिद्धि के लिए असंयम में अरति कर और संयम मार्ग में रति को कर। इस तरह चौदहवें पाप स्थानक को अल्पमात्र कहकर अब पैशुन्य नामक पन्द्रहवाँ पाप स्थानक द्वार कहता हूँ।

१५. पैशुन्य पाप स्थानक द्वार :—गुप्त सत्य अथवा असत्य दोष को प्रकाशित रूप जो चुगली का कार्य करता है वह इस लोक में पैशुन्य कहलाता है। मोहमूढ़ इस प्रकार पैशुन्य करने वाला उत्तम कुल में जन्म लेने वाला भी, त्यागी और मुनि भी इस लोक में ‘यह चुगल खोर है’ ऐसा बोला जाता है। इस जगत में मनुष्यों की वहाँ तक मित्रता रहती है, जब तक शुभ चित्त और वहाँ तक ही मैत्री भी रहती है जब तक निर्भागी चुगल खोर बीच में नहीं आता है। अर्थात् चुगल खोर चुगली करके सम्बन्ध खत्म कर देता है। अहो ! चुगल खोर लोहार चुगल रूपी अति तीक्ष्ण कुल्हाड़ी हाथ में लेकर नित्यमेव पुरुषों का प्रेम रूपी काष्ठों को चीरता है अर्थात् परस्पर वैर करवाता है। अति डरावना, भयंकर जो चुगल खोर कुत्ता रुके बिना लोगों के पीठ पीछे भौंकते हमेशा कान को खाता है अर्थात् दूसरे के कान को भरता है अथवा दो हाथ कान पर रखकर ‘मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ’ इस तरह बतलाता है। अथवा जैसे एक चुगल खोर सभी की चुगली करता है, वैसे कुत्ता उज्ज्वल वेष वाले, पड़ौसी, स्वामी, परिचित और भोजन देने वाले को भौंकता नहीं है। अथवा चुगल खोर सज्जनों के संयोग से भी गुणवान नहीं होता है, चन्द्रमण्डल के बीच में रहते हुये भी हरिण काला ही रहता है। यदि इस जन्म में एक ही पैशुन्य है तो अन्य दोष समूह से कोई प्रयोजन नहीं है, वह एक ही दोष उभय

लोक को निष्फल कर देगा। जिसके कारण से जिसकी चुगली करने में आती है उसका अनर्थ होने में अनेकान्त है उसका अनर्थ हो अथवा न भी हो, परन्तु चुगल खोर का तो द्वेष भाव से अवश्य अनर्थ होता है। पैशुन्य से माया, असत्य, निःशूक्रता, दुर्जनता और निर्धनी जीवन आदि अनेक दोष लगते हैं। दूसरे के मस्तक पर छेदन करना अच्छा परन्तु चुगली करना अच्छा नहीं है, क्योंकि—मस्तक छेदन में इतना दुःख नहीं होता जितना दुःख पैशुन्य द्वारा मन को अग्नि देने समान हमेशा होता है। पैशुन्य के समान अन्य महान पाप नहीं है, क्योंकि पैशुन्य करने से सामने अन्य जहर से लिप्त बाण अथवा भाले से पीड़ित शरीर वाले के समान यावज्जीव दुःखपूर्वक जीता है। क्या चुगल खोर स्वामी घातक है? गुरु घातक है? अथवा अधर्माचारी है? नहीं, नहीं इनसे भी वह अधिक अद्यम है। पैशुन्य के दोष से सुबन्धु मन्त्री ने कष्ट को प्राप्त किया और उसके ऊपर पैशुन्य नहीं करने से चाणक्य ने सद्गति को प्राप्त की। वह इस प्रकार :—

सुबन्धु मन्त्री और चाणक्य की कथा

पाटलीपुत्र नगर में मौर्य वंश का जन्म हुआ, बिन्दुसार नाम का राजा था और उसका चाणक्य नाम का उत्तम मन्त्री था। वह श्री जैन धर्म में रक्त चित्त वाला, औत्पातिकी आदि बुद्धि से युक्त और शासन प्रभावना में उद्यमशील बना, दिन व्यतीत करता था। एक दिन पूर्व में राज्य भ्रष्ट हुआ नन्द राजा का सुबन्धु नामक मन्त्री ने पूर्व वैर के कारण चाणक्य के दोष देखकर राजा को इस तरह कहा कि—हे देव ! यद्यपि आप मुझे प्रसन्न या खिन्न दृष्टि से भी नहीं देखते हैं, फिर भी आपको हमें हितकर ही कहना चाहिए। चाणक्य मन्त्री ने तुम्हारी माता का पेट चीरकर मार दी थी, तो इससे दूसरा आपका वैरी कौन हो सकता है? ऐसा सुनकर क्रोधित बने राजा ने अपनी धायमाता से पूछा तो उसने भी वैसे ही कहा, परन्तु मूल से उसका कारण नहीं कहा। उस समय पर चाणक्य आया और राजा उसे देखकर शीघ्र ललाट पर भृकुटी चढ़ाकर विमुख हुआ। उस समय अहो ! इस समय राजा की मर्यादा भ्रष्ट हुई है। इस तरह मेरा पराभव क्यों करता है? ऐसा सोचकर चाणक्य अपने घर गया, फिर घर का धन, पुत्र, प्रपौत्र आदि स्वजनों को देकर निपुण बुद्धि से उसने विचार किया कि—मेरे मन्त्री पद की इच्छा से किसी चुगल खोर ने इस राजा को इस प्रकार क्रोधित किया है, अतः मैं ऐसा करूँ कि जिससे वह चिरकाल दुःख से पीड़ित होकर जीये। इस तरह सोचकर

उसने श्रेष्ठ सुगन्ध की मनोहर मिलाकर चूर्णों को वासित किया और डब्बे में भर दिया तथा भोज पत्र में इस तरह लिखा कि—जो इस उत्तम चूर्ण को सूँघकर इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का भोग करेगा वह यम मन्दिर में जायेगा। और जो श्रेष्ठ वस्त्र, आभूषण, विलेपन आदि को, तलाई, दिव्य पुष्पों को भोगेगा तथा स्नान-शृङ्गार भी करेगा वह शीघ्र मरेगा। इस तरह चूर्ण के स्वरूप को बताने वाले भोज पत्र को भी उस चूर्ण में रखकर उस डब्बे को पेटी में रखा। उस पेटी को भी मजबूत कीलों से जोड़कर मुख्य कमरे में रख कर उसके दरवाजे पर मजबूत ताला लगाकर रखा। फिर स्वजनों से क्षमा-याचना कर उनको जैन धर्म में लगाकर उसने अरण्य में जाकर गोकुल के स्थान पर इगिनी अनशन को स्वीकार किया।

इसका मूल रहस्य जानकर घायमाता ने राजा को कहा कि—पिता से अधिक पूजनीय चाणक्य का पराभव क्यों किया? राजा ने कहा कि—वह मेरी माता का घातक है। तब उसने कहा—कि यदि तेरी माता को इसने मारा न होता तो तू भी नहीं होता? क्योंकि तू जब गर्भ में था, तब तेरे पिता को विष मिश्रित भोजन का कोर लेकर खाते ही जहर से व्याकुल होकर तेरी माता रानी मर गई और उसका मरण देखकर महानुभाव चाणक्य ने उसका पेट छुरी से चीरकर तुझे निकालकर बचाया है। इस तरह निकालते हुये भी तेरे मस्तक पर काले वर्ण वाला जहर का बिन्दु लगा, इस कारण से हे राजन! तू बिन्दुसार कहलाता है। यह सुनकर अति संताप को करते राजा सर्व आडम्बर सहित उसी समय चाणक्य के पास गया और राग मुक्त उस महात्मा को उपले के ढेर के ऊपर बैठे देखा। राजा ने उसे सर्व प्रकार से आदरपूर्वक नमस्कार करके अनेक बार क्षमा याचना की और कहा कि—आप नगर में पधारो और राज्य को सम्भालो! तब उसने कहा कि—मैंने अनशन स्वीकार किया है और राग से मुक्त हुआ हूँ। चुगली के कड़वे फल को जानते हुये चाणक्य ने उस समय सुबन्धु की कारस्तानी को जानते हुए भी उसने राजा को कुछ भी नहीं कहा। इसके बाद दो हाथ ललाट पर जोड़कर सुबन्धु ने राजा से कहा कि—हे देव! मुझे आपकी आज्ञा हो तो मैं इनकी भक्ति करूँ। राजा की आज्ञा मिलते ही क्षुद्र बुद्धि वाले सुबन्धु ने धूप जलाकर उसके अंगारे उपलों में डाले। राजा आदि सभी लोग अपने स्थान पर चले गये। फिर शुद्ध लेश्या में स्थिर रहा चाणक्य उस उपले की अग्नि से जल गया और देवलोक में देदीप्यमान शरीर वाला, महद्भिक्षु देव हुआ। वह सुबन्धु मंत्री उसके मरण से आनन्द मनाने लगा।

किसी योग्य समय पर सुबन्धु मन्त्री ने राजा से प्रार्थना की, अतः राजा की आज्ञा से वह चाणक्य के घर गया और वहाँ मजबूत बन्द किए प्रपंच वाले दरवाजे तथा गन्धयुक्त कमरे को देखा 'सारा धन समूह यहीं होगा' ऐसा मानकर दरवाजे खोलकर पेटी बाहर निकाली, उसके बाद जब चूर्ण को सूँघा और लिखा हुआ भोज पत्र को देखा, उसका अर्थ भी सम्यग् रूप से जाना, तब उसके निर्णय के लिये एक पुरुष को वह चूर्ण सूँघाया और उसने विषयों का भोग किया, उसी समय वह मर गया। इस तरह अन्य भी विशिष्ट वस्तुओं में निर्णय किया। तब अरे ! मरते हुए भी उसने मुझे भी मार दिया। इस तरह दुःख से पीड़ित जीने की इच्छा करता वह रंक उत्तम मुनि के समान भोगादि का त्याग कर रहने लगा। इस तरह ऐसे दोष वाले पैशुन्य—चुगल खोर को और ऐसे गुण वाले उसके त्याग को जानकर हे क्षपक मुनि ! आराधना के चित्त वाले तू उस पैशुन्य को मन में नहीं रखना चाहिए। इस तरह पन्द्रहवाँ पाप स्थानक कहा है, अब परपरिवाद नामक सोलहवाँ पाप स्थानक को संक्षेप में कहते हैं।

१६. परपरिवाद पाप स्थानक द्वार :—यहाँ लोगों के समक्ष ही जो अन्य के दोषों को कहा जाता है उसे परपरिवाद कहते हैं। वह मत्सर (इर्ष्या) से और अपने उत्कर्ष से प्रगट होता है। क्योंकि मत्सर के कारण, स्नेह को, अपनी स्वीकार की प्रतिज्ञा को, दूसरे के किए उपकार को, परिचय को, दाक्षिण्यता को, सज्जनता को, स्व-पर योग्यता के भेद को, कुलक्रम को और धर्म स्थिति को भी नहीं गिनता है, केवल हमेशा वह दूसरा कैसे चलता है? कैसा व्यवहार करता है? क्या विचार करता है? क्या बोलता है? अथवा क्या करता है? इस तरह पर के छिद्र देखने के मन वाला सुख का अनुभव नहीं करता है, परन्तु केवल वह दुःखी होता है। इस क्रम से परपरिवाद करने में एक मत्सर का ही महान कारण बनता है। फिर वह आत्मोत्कर्ष के साथ मिल जाए तो पूछना ही क्या? आत्मोत्कर्ष वाला मेरु पर्वत के समान महान को भी अति छोटा और तृण के समान तुच्छ भी अपने को मेरु पर्वत से भी महान मानता है। इस प्रकार मत्सर आदि प्रौढ़ कारण से परपरिवाद अकार्य को रोकने के शक्तिमान भी अविवेकी मनुष्य किसी तरह शक्तिमान हो सकता है? मनुष्य जैसे-जैसे परपरिवाद करता है वैसे-वैसे नीचता को प्राप्त करता है और जैसे-जैसे नीचता को प्राप्त करता है वैसे-वैसे अपूज्य—तिरस्कार पात्र बनता है। जैसे-जैसे परपरिवाद करता है वैसे-वैसे गुणों का नाश करता है, जैसे-जैसे वह

गुणों का नाश करता है वैसे-वैसे दोषों का आगमन होता है और जैसे-जैसे दोषों का संक्रमण होता है वैसे-वैसे मनुष्य निन्दा का पात्र बनता है। इस तरह परपरिवाद अनर्थ—अमंगल का मुख्य कारण है। परपरिवाद करने वाले मनुष्य में दोष न हो तो भी दोषों का प्रवेश होता है और यदि हो तो वह बहुत, बहुतर और बहुतम मजबूत स्थिर होता है। जो मनुष्य दूसरों के प्रति मत्सर और अपने उत्कर्ष से परनिन्दा करता है वह अन्य जन्मों में भी चिरकाल तक हल्की योनियों में परिभ्रमण करता है।

धन्य पुरुष गुण रत्नों को हरने वाले और दोषों को करने वाले जानकर परनिन्दा को नहीं करते हैं। क्योंकि श्री जैनेश्वरों ने तदुलवेयालिय ग्रन्थ में कहा है कि—जो सदा परनिन्दा को करता है, आठ मद के विस्तार में प्रसन्न होता है और अन्य की लक्ष्मी देखकर जलता है, वह सकषायी हमेशा दुःखी होता है। कुल, गण और संघ से भी बाहर किया हुआ तथा कलह और विवाद में रुचि रखने वाले साधु को निश्चय देवलोक में भी देवों की सभाओं में बैठने का स्थान नहीं मिलता है। इसलिए जो दूसरे लोक व्यवहार विरुद्ध अकार्य को करता है और उस कार्य को जो दूसरा निन्दा करता है वह पर के दोष से मिथ्या दुःखी होता है। अच्छी तरह संयम में उद्यमशील साधु को भी (१) आत्म प्रशंसा, (२) परनिन्दा, (३) जीभ, (४) जननेन्द्रिय और (५) कषाय ये पाँच संयम से रहित करता है। परनिन्दा की प्रकृति वाला जिन-जिन दोषों से अथवा वचन द्वारा दूसरे को दुषित करता है उन-उन दोषों को वह स्वयं प्राप्त करता है। इसलिए वह आदर्शनीय है। परपरिवाद में आसक्त और अन्य के दोषों को बोलने वाला जीव भवान्तर में जाने के बाद स्वयं उन्हीं दोषों को अनन्तानन्त गुणा प्राप्त करता है। इस कारण से परपरिवाद अति भयंकर विपाक वाला है, सैंकड़ों संकट का संयोग वाला है, समस्त गुणों को खींचकर ले जाने वाली दुष्ट आंधी है और सुख रूपी पर्वत को नाश करने में वज्रपात समान है, इस जन्म में सर्व दुःखों का खजाना और जन्मान्तर में दुर्गति के अन्दर गिराने वाला है, उस जीव को संसार से कहीं पर भी जाने नहीं देता है। सुभद्रा के श्वसुर वर्ग के समान अपयश के बाद से मार गया तथा परनिन्दा के व्यसनी लोग में निन्दा को प्राप्त करता है और निन्दा करते भी उस श्वसुर वर्ग की निन्दा को नहीं करने वाली दैवी सहायता को प्राप्त करके महासत्त्व वाली उस सुभद्रा ने कीर्ति प्राप्त की। वह इस प्रकार है :—

सती सुभद्रा की कथा

चम्पा नगरी में बौद्ध धर्म का भक्त एक व्यापारी के पुत्र ने किसी समय जिनदत्त श्रावक की सुभद्रा नाम की पुत्री को देखा और उसके प्रति तीव्र राग वाला हुआ, उसके साथ विवाह करने की याचना की, परन्तु वह मिथ्या दृष्टि होने से पिता ने उसे नहीं दिया। फिर उससे विवाह करने के लिये उसने कपट से साधु के पास जैन धर्म को स्वीकार किया और बाद में वह धर्म उसे भावरूप में परिवर्तन हो गया। जिनदत्त श्रावक ने भी कपट रहित धर्म का रागी है, ऐसा निश्चय करके सुभद्रा को देकर विवाह किया और कहा कि—मेरी पुत्री को अलग घर में रखना, अन्यथा विपरीत धर्म वाले ससुर के घर में यह अपनी धर्म प्रवृत्ति किस तरह करेगी? उसने वह कबूल किया और उसी तरह उसे अलग घर में रखी। वह हमेशा श्री जैन पूजा, मुनिदान आदि धर्म करती थी। परन्तु जैन धर्म के विरोधी होने से श्वसुर वर्ग उसके छिद्र देखते, निन्दा करने लगे। उसका पति भी 'यह लोक द्वेषी है' ऐसा मानकर उसके वचनों को मन में नहीं रखता था। इस तरह सद्धर्म में रक्त उन दोनों का काल व्यतीत होता था। एक दिन अपने शरीर की सार संभाल नहीं लेने वाले त्यागी एक महामुनि भिक्षार्थ ने उसके घर में प्रवेश किया। भिक्षा को देते सुभद्रा ने मुनि की आँख में तृणका गिरा हुआ था 'यह मुनि को पीड़ाकारी है' ऐसा जानकर सावधानीपूर्वक स्पर्श बिना जीभ से निकाल दिया, परन्तु उसे दूर करते उसके मस्तक का तिलक मुनि के मस्तक पर लग गया और वह नन्द आदि ने उसे देखा। इससे लम्बे काल में निन्दा का निमित्त को प्राप्त कर उसने उसके पति को कहा कि—तेरी स्त्री का इस प्रकार निष्कलंक शील को देख! अभी ही उससे भोग भोगकर इस मुनि को विदा कर दिया, यदि विश्वास न हो तो साधु के ललाट में लगा हुआ उसका तिलक देखो! फिर उस तिलक को वैसा देखकर लज्जा को प्राप्त करते उसके रहस्य को जाने बिना उसका पूर्व स्नेह मन्द हो गया और उसके प्रति मन्द आदर करने वाला हुआ। फिर उसने ससुर के कुल में सर्वत्र भी उसके उस दोष को जाहिर किया और पति को अत्यन्त पराङ्मुख देखने से और लोगों से अपना शील को दोषरूपी मैल से मलिन जैन शासन निन्दा से युक्त जानकर अति शोक को धारण करती सुभद्रा ने श्री जैन परमात्मा की पूजा करके कहा कि—'यदि कोई भी देव मुझे सहायता करेगा तभी इस काउस्सग को पूर्ण करूँगी।' ऐसा कहकर अत्यन्त सत्त्व वाली दृढ़ निश्चय वाली उसने काउस्सग किया। उसके भाव से प्रसन्न हुये समकितो दृष्टि देव वहाँ आया। और कहा कि—हे भद्रे! कहो कि

तेरा जो करने का है वह 'मैं कहूँ' फिर काउस्सग को पार कर सुभद्रा ने इस प्रकार कहा कि—हे देव ! दुष्ट लोगों ने गलत बातें फैलाई हैं, इससे शासन की निन्दा हो रही है, वह खत्म हो और शीघ्र शासन की महान प्रभावना हो, इस तरह कार्य करो ।

देवता ने वह बात स्वीकार करके उसे इस प्रकार कहा कि—कल नगर के दरवाजे मैं इस तरह मजबूत बन्द करूँगा कि उसे कोई भी खोल नहीं सकेगा और मैं आकाश में रहकर कहूँगा कि 'अत्यन्त शुद्ध शील वाली स्त्री छलनी में रखे जल से तीन बार छीटे देकर इन बन्द दरवाजों को खोलेगी, परन्तु अन्य स्त्री नहीं खोलेगी।' इससे उस कार्य को अनेक स्त्रियाँ साध्य नहीं कर सकेंगी, तब पूर्वोक्त विधि अनुसार तू लीला मात्र में उसे खोल देगी । इस तरह समझा कर उस समय वह देव अदृश्य हो गया और सुभद्रा ने भी कार्य सिद्ध हो जाने से परम सन्तोष को प्राप्त किया । जब प्रभात हुआ तब नगर के दरवाजे नहीं खुलने से नागरिक व्याकुल हुए और उस समय आकाश में वह वाणी प्रगट हुई, तब राजा, सेनापति की तथा उत्तम कुल में जन्मी हुई शील से शोभित स्त्रियाँ द्वार को खोलने के लिए आयीं, परन्तु छलनी में पानी नहीं टिकने से गर्व रहित हुई और कार्य सिद्ध नहीं होने से वापस आई । इसे देखकर सारा लोग समूह अत्यन्त व्याकुल हुआ । फिर पुनः नगरी में सर्वत्र शीलवती स्त्री की विशेषतया खोज होने लगी । उस समय सामु आदि को विनयपूर्वक नमस्कार करके सुभद्रा ने कहा कि—यदि आप आज्ञा दो, तो मैं भी नगर के द्वार को खोलने जाऊँ । इससे वे परस्पर गुप्त रूप में हँसने लगे और ईर्ष्या पूर्वक कहा कि—पुत्री ! स्वप्न में भी दोष नहीं करने वाली, तू ही अति प्रसिद्ध महासती है, इसलिए जल्दी जाओ और स्वयमेव अपनी निन्दा करवा, इसमें क्या अयोग्य है ? उसे इस तरह कहने पर भी सुभद्रा स्नान करके सफेद वस्त्रों को धारण कर छलनी में पानी भरकर, लोग से पूजित और भाट चारण आदि द्वारा स्तुति होती उसने नगर के तीन दरवाजे खोलकर कहा कि—अब यह चौथा दरवाजा शील से मेरे समान जो होगी वह स्त्री फिर खोलेगी । इस तरह कहकर उसने उस दरवाजे को ऐसा ही छोड़ दिया । उस समय राजा आदि लोगों ने पूजा सत्कार किया और वह अपने घर गई । उसके बाद उसके समुर वर्ग के लोगों ने मिथ्या निन्दाकारक मानकर उनकी बहुत निन्दा की । इसलिए वस्तु स्वरूप जानकर, हे क्षपक मुनि ! श्रेष्ठ आराधना में एक तत्पर बन, परन्तु तू अनेक संकट का कारणभूत पर-निन्दा को मन से भी नहीं करना । इस तरह सौलहवाँ पाप

स्थानक संक्षेप से कहा है। अब माया मृषावाद नामक सत्तरहवाँ पाप स्थानक को भी कहता हूँ।

१७. माया मृषावाद पाप स्थानक द्वार :—अत्यन्त क्लेश के परिणाम से उत्पन्न हुआ माया द्वार अथवा कुटिलता से युक्त मृषा वचन को माया मृषा-वाद अथवा मायामोष कहते हैं। इसको यद्यपि दूसरे और आठवें पाप स्थानक में भिन्न-भिन्न दोषों का वर्णन किया है, फिर भी मनुष्य दोनों द्वार दूसरे को ठगने में मुख्य वेष अभिनय करने वाली चतुर वाणी द्वार पाप में प्रवृत्ति करता है। इस कारण से इसे अलग रूप में कहा है। माया मृषा वचन भोले मनुष्यों के मन रूपी हरिण को वश करने की जाल है, शील रूपी वांस की घटादार श्रेणी का नाशक फल का प्रादुर्भाव है, ज्ञानरूपी सूर्य का अस्ताचल गमन है, मैत्री का नाशक, वित्त का भंजक और अकीर्ति का कारण है, इस कारण से दुर्गति से विमुख (डरने वाला) बुद्धिमान पुरुष किसी तरह से उसका आचरण नहीं करता है। और चाहे ! मस्तक से पर्वत को तोड़ दो, तलवार की तीक्ष्ण धार के अग्र भाग को चबाओ, ज्वलित अग्नि की शिखा का पान करो, आत्मा को करवत से चीरो, समुद्र के पानी में डूबो अथवा यम के मुख में प्रवेश करो, अधिक क्या कहें ? ये सारे कार्य करो, परन्तु निमेष मात्र काल जितना भी माया मृषावाद नहीं करो। क्योंकि मस्तक से पर्वत को तोड़ना आदि कार्य, साध्य धन वाला साहसिक धीर पुरुष को किसी समय अदृश्य सहायता के प्रभाव अपकारण नहीं होता है, यदि अपकारी हो फिर भी वह एक जन्म में ही होता है और मायामोष करने से तो अनन्त भव तक भयंकर फल देने वाला होता है। जैसे खट्टे पदार्थ से दूध अथवा जैसे सुराखार से गाय का दूध आदि पंच गन्ध निष्फल जाते हैं, वह बिगड़ जाते हैं वैसे माया मृषा युक्त धर्म क्रिया भी निष्फल होती है। कठोर तपस्या करो, श्रुतज्ञान का अभ्यास करो, व्रतों का धारण करो तथा चिरकाल तक चारित्र्य का पालन करो, परन्तु वह यदि माया मृषा युक्त है तो वह गुण कारण नहीं होता है। एक ही पुरुष को माया मृषा-वादी और अति धार्मिक इस तरह परस्पर दोनों विरोधी हैं, ये दोनों नाम भोले मनुष्यों को भी निश्चय अश्रद्धेय बनाते हैं। इसलिए आत्महित के गवेषक बुद्धिमान मनुष्य ऐसा कौन होगा कि शास्त्र में जिसके अनेक दोष सुने जाते हैं उस माया मृषावाद को करे ? फिर भी यदि दुर्गति में जाने का मन हो, तो उन अट्ठारह पाप स्थानकों में से यह एक ही होने पर माया मृषा निश्चय वहाँ ले जाने की क्रिया में समर्थ है। इस तरह यदि माया मृषा के अन्दर एकान्त अनेक दोष नहीं होता तो पूर्व मुनि बिना द्वेष बड़ी आवाज से इस तरह त्याग

करना नहीं कहते। इस प्रकार होने पर भी जो मुग्ध लोगों को माया मृषा द्वारा ठगकर लूटता है, वह तीन गाँव के बीच में रहने वाला कूट तपस्वी के समान पछताना होता है। उसकी कथा इस प्रकार है :—

कूट तपस्वी की कथा

उज्जयिनी नामक नगरी में अत्यन्त कूट कपट का व्यसनी अघोर शिव नाम का महा तुच्छ ब्राह्मण रहता था। इन्द्रजाल के समान माया से लोगों को ठगने की प्रवृत्ति करता था। इससे लोगों ने नगर में से निकाल दिया था। वह अन्य देश में चला गया, वहाँ पर हल्के चोर लोगों के साथ मिल गया और अति विरोधी आशय वाले उसने उनको कहा कि—यदि तुम मेरी सेवा करो, तो मैं साधु होकर निश्चय से लोगों के धन का सही स्थान को जानकर तुम्हें कहूँगा, फिर तुम भी सुखपूर्वक उसे चोरी करना। चोर लोगों ने वह सारा स्वीकार किया और वह भी त्रिदंडी वेश धारण कर तीन गाँवों के बीच के उपवन में जाकर रहा। तथा उन चोर लोगों ने जाहिर किया कि—यह ज्ञानी और महा तपस्वी महात्मा है, एक महीने में आहार लेते हैं। उसे बहुत कष्टों से थका हुआ और स्वभाव से ही दुर्बल देखकर लोग 'यह महा तपस्वी है' ऐसा मानकर परम भक्ति से उसकी पूजा करने लगे। उसको वे अपने घर आमन्त्रण देते, हृदय की सारी बातें कहते, निमित्त पूछते और वैभव के विस्तार को कहते थे। इस तरह प्रतिदिन उसकी सेवा करने लगे। परन्तु वह बगवृत्ति से अपने आपको लोगों को उपकारी रूप में दिखाता और चोरों को उनके भेद कहता था। और रात्री में चोरों के साथ मिलकर वह पापी घरों का धन चोरी करता था। कालक्रम से वहाँ ऐसा कोई मनुष्य न रहा कि जिसके घर चोरी न हुई हो।

एक समय वे एक घर में संध खोदने लगे और घर के मालिक ने वह जान लिया, इससे उसने संध के मुख के पास खड़े रहकर देखा और एक चोर को सर्प के समान घर में प्रवेश करते पकड़ा, दूसरे सभी भाग गये। प्रभात का समय होते ही चोर को राजा के अर्पण किया। राजा ने कहा कि—यदि तू सत्य कहेगा तो तुझे छोड़ दिया जायेगा। फिर उसे छोड़ दिया तो भी उसने सत्य नहीं कहा, तब चाबुक, दण्ड, पत्थर और मुट्ठी से बहुत मारते उसने सारा वृत्तान्त कहा, इससे शीघ्र ही उस त्रिदंडी को भी बाँधकर उपवन में से ले आया और वहाँ तक उसे इतना मारा कि जब तक उसने भी अपना दुराचार को स्वीकार नहीं किया। फिर वेद जानकार ब्राह्मण का पुत्र मानकर राजा ने

उसकी दोनों आँखें निकाल दीं और तिरस्कार करके उसी समय उसे नगर से निकाल दिया। बाद में भिक्षार्थ घूमते, लोगों से तिरस्कार प्राप्त करते और दुःख से पीड़ित होते, वह 'हाय ! मैंने यह क्या किया ?' इस तरह अपने आपका शोक करने लगा। इस तरह हे सुन्दर ! अविनय जिसमें मुख्य है और अन्याय का भण्डार रूप माया मूषा को छोड़कर तू परम प्रधान मन की समाधि को स्वीकार कर। इस तरह सत्तरहवाँ पाप स्थानक कहा है। अब मिथ्या दर्शन शल्य नाम का अट्ठारहवाँ पाप स्थानक भी कहता हूँ।

१८. मिथ्या दर्शन शल्य पाप स्थानक द्वार :—दृष्टि की विपरीतता रूप एक साथ दो चन्द्र के दर्शन के समान जो मिथ्या, अर्थात् विपरीत दर्शन उसे यहाँ मिथ्या दर्शन कहा है और वह शल्य के समान मुश्किल से नाश हो, दुःखों को देने वाला होने से उसे 'मिथ्या दर्शन शल्य' उपचार किया है। यह शल्य दो प्रकार का है, प्रथम द्रव्य और दूसरा भाव से। उसमें द्रव्य शल्य भाला, तलवार आदि शस्त्र और भाव शल्य मिथ्या दर्शन जानता। शल्य के समान हृदय में रहा हुआ, सभी दुःखों का कारण मिथ्या दर्शन शल्य भयंकर विपाक वाला है। प्रथम द्रव्य शल्य निश्चय एक को ही दुःख का कारण है और दूसरा जो भाव शल्य है वह स्व पर उभय को भी दुःख का कारण बनता है। जैसे राहु की प्रभा का समूह केवल सूर्य के ही प्रकाश को नाश नहीं करता, परन्तु अन्धकारत्व से समग्र जगत के प्रकाश को भी नाश करता है, इस तरह फैलता हुआ भाव शल्य भी एक उस आत्मा को ही नहीं परन्तु समग्र जगत के प्रकाश (सम्यक्त्व) का भी नाश करता है। इस प्रकार होने से मिथ्या दर्शन रूपी राहु की प्रभा के समूह उसका सम्यक्त्व का प्रकाश नाश होता है और भाव अन्धकार के समूह को करने वाला मिथ्या दर्शन से जो मुरझा जाता है वह भूढ़ात्मा किसी भी पुरुष रूपी सूर्य में और अपने जीवन में भी वह मिथ्यात्व रूप अन्धकार को ही बढ़ाता है, और परम्परा से फैलता प्रमाण रहित अमर्यादित वह अन्धकार से व्याप्त है, इसलिए अन्धकारमय पर्वत की गुफा के समान प्रकाश रहित इस जगत में संसारवास से उद्विग्न और पदार्थों को सम्यक् जानने की इच्छा वाला भी जीवों को सम्यक्त्व का प्रकाश सुखपूर्वक किस तरह प्राप्त कर सकता है ?

और यह मिथ्या दर्शन शल्य दिग्मोह है, आँखों के ऊपर बाँधी हुई पट्टी है यही जन्मांध जीवन है, यही आँखों को नाश करने का उपाय है, अथवा वह इस जगत को शीघ्र हमेशा परिभ्रमण करने वाला चक्र है। अथवा वह इस समुद्र की ओर दक्षिण में जाने वाले की इच्छा वाले का हिमवत की ओर उत्तर में गमन है या पीलिया के रोगी का वह मिथ्या ज्ञान है अथवा वह बुद्धि का

विभ्रम है अथवा वह सीप में रजत का भ्रान्त ज्ञान है अथवा वह मृग तृष्णा में उज्ज्वल जल का दर्शन है अथवा तो वह इस लोक में सुना जाता विपरीत धातु है अथवा वह अकाल में उत्पन्न हुआ उपद्रव है तथा वह रजो वृष्टि का उत्पात है अथवा वह निश्चय घोर अन्ध कुर्ये रूपी गुफा में पतन है, क्योंकि मिथ्या दर्शन रूपी शल्य सम्यक्त्व को रोकने वाला प्रति मल्ल है और सन्मार्ग में चलने वाले को महान् कीचड़ का समूह है। और इसके कारण जीव जो अदेव को भी देव, अगुरु को भी गुरु, अतत्त्व को भी तत्त्व और अधर्म को भी धर्म रूप में मानता है तथा जो परम पद का साधक है, यथोक्त गुण वाले देव, गुरु, तत्त्व और धर्म में अरुचि अथवा प्रद्वेष को करता है तथा देव आदि परम पदार्थों में उदासीनता से करता है वह सर्व इस विश्व में मिथ्या दर्शन शल्य का दुष्ट विलास है। तथा यह मिथ्या दर्शन शल्य सर्व प्रकार से जीता अविवेक का मूल बीज है, क्योंकि मिथ्यात्व से मनुष्य बुद्धिमान हो फिर भी मूढ़ मन वाला हो जाता है। जैसे अति तृषातुर मृग मृगजल से भी पानी को खोजता है वैसे मिथ्यात्व से मूढ़ मन वाला गलत को सत्य देखता है। जैसे धतूरे का भक्षण करने वाला पुरुष मिथ्या पदार्थ को भी सत्य देखता है, वैसे मिथ्यात्व से मूढ़ मति वाला धर्म अधर्म के विषय में उलटा देखता है।

अनादिकाल से मिथ्यात्व की भावना से मूढ़ बना जीव मिथ्यात्व के क्षयोपशम से प्राप्त भी सम्यक्त्व में दुःख से प्रीति करता है। उसमें रुचि करते पीड़ा होती है। तीव्र मिथ्यात्वी जीव जो महान् दोष करता है ऐसा दोष अग्नि भी नहीं करती है, जहर भी नहीं करता है और काला नाग भी नहीं करता है। जैसे अच्छी तरह जल से धोये हुए भी कड़वे पात्र में दूध का नाश होता है, वैसे मिथ्यात्व से कलुषित जीव में प्रगट हुआ तप, ज्ञान और चारित्र्य का विनाश होता है। यह मिथ्यात्व संसार रूप महान् वृक्ष का बड़ा बीज रूप है, इसलिए मोक्ष को चाहने वाला आत्माओं का उसको त्याग करना चाहिए। मिथ्यात्व से मूढ़ मन वाला जीव मिथ्या शास्त्रों का श्रवण से प्रगट हुई कुवासना से वासित होता है, अतत्त्व तत्त्व अथवा आत्मतत्त्व को भी नहीं जानता है। मिथ्यात्व के अन्धकार से विवेक रूप नेत्र को बन्द करने वाला जीव उल्लू के समान सद्धर्म को जानने वाले धर्मोपदेशक सूर्य को भी नहीं देख सकता है। यदि मनुष्य में यह एक ही मिथ्यात्व रूप शल्य लगा है तो सर्व दुःखों के लिए वही पर्याप्त है अन्य दोष से कोई प्रयोजन नहीं है। जहर से युक्त बाण से भेधन हुआ पुरुष उसका प्रतिकार नहीं करने से जैसे वह वेदना प्राप्त करता है वैसे मिथ्यात्व शल्य से वेधा गया यदि उसे दूर नहीं करने वाला

जीव तीव्र वेदना को प्राप्त करता है। इसलिए हे सुन्दर ! चतुराई को प्रगट कर शीघ्र मिथ्यात्व को दूर करके हमेशा सम्यक्त्व में ममता रख। यह मिथ्या दर्शन शत्रु वस्तु का उलटा बोध कराने वाला है, सद्धर्म को दूषित करने वाला और संसार अटवी में परिभ्रमण कराने वाला है। मन मन्दिर में सम्यक्त्व रूप दीपक ऐसा प्रकाशन कर कि मिथ्यात्व रूप प्रचण्ड पवन तुझे प्रेरणा न कर सके, अथवा ज्ञान रूपी दीपक बुझा न दे। पुण्य के समूह से लभ्य सम्यक्त्व रत्न मिलने पर भी मिथ्याभिमान रूपी मदिरा से मदोन्मत्त बना हुआ जीव जमाली के समान नाश करता है। उसका प्रबन्ध इस प्रकार—

जमाली की कथा

जगत् गुरु श्री वर्धमान स्वामी के पास भगवन्त की बहन का पुत्र जमाली ने राज्य सुख को त्याग कर पाँच सौ राज पुत्रों के साथ दीक्षा ली थी और उत्तम धर्म की श्रद्धापूर्वक संवेग से साधु जीवन की क्रिया में प्रवृत्ति करता था। एक समय पित्त ज्वर की तीव्र पीड़ा से निरुत्साही हुआ, तब उसने शयन के लिए अपने स्थविरों को संथारा बिछाने के लिए कहा। कहने के बाद शीघ्रता से मुनि संथारा बिछा रहे थे तब थोड़े समय को भी काल विलम्ब के सहन करने में असमर्थ होने से उन्होंने पुनः साधुओं से पूछा कि—क्या संथारा बिछा दिया या नहीं। साधुओं ने थोड़ा संथारा बिछाया था फिर भी ऐसा कहा :—‘संथारा बिछा दिया है’ तब जमाली उस स्थान पर आया, और संथारा को बिछाते देखकर सहसा भ्रमणा प्राप्त कर उसने कहा कि हे मुनियो ! असत्य क्यों बोल रहे हो ? जो कि ‘बिछाते हुए भी संथारा को ‘बिछा दिया’ ऐसा बोलते हो ? तब स्थविरों ने कहा कि ‘जैसे तीन जगत में जो कार्य प्रारम्भ हो गया उस कार्य को श्री वीर परमात्मा ने किया’ ऐसा कहते हैं वैसे बिछाते-बिछाते संथारा को बिछाया ऐसा कहने में क्या अयुक्त है ? उन्होंने ऐसा कहा फिर भी मिथ्या आग्रह से सम्यक्त्व भ्रष्ट हुआ, इससे ‘पूर्ण कार्य होने पर ही वह कार्य हुआ कहना चाहिए’ ऐसा गलत पक्ष की स्थापना कर उसमें चंचल बना त्रिलोक बन्धु वीर प्रभु का विरोधी बना। दुष्कर तप करने पर भी मुग्ध मनुष्यों को भ्रम में डालते वह जमाली चिरकाल तक पृथ्वी के ऊपर विचरता था।

और अपनी पुत्री को अपने हाथ से दीक्षा दी तथा सदा स्वयं ने साध्वी प्रियदर्शन को अध्ययन करवाया था परन्तु मिथ्यात्व दोष से जमाली के मत के अनुसार चलने वाली थी। अहो ! आश्चर्य की बात है कि तीन जगत

जगतगुरु का प्रत्यक्ष सूर्य समान भी प्रभु श्री वर्धमान स्वामी की विरोधी हुई। इस विषय पर अधिक क्या कहें। केवल संयम को विफल बनाकर जमाली मरकर लांतक कल्प में किल्मिष देव हुआ। उसका वह चारित्र्य गुण, वह ज्ञान की उत्कृष्टता और उसका वह सुन्दर संयम जीवन सब एक साथ ही नाश हुआ। ऐसे मिथ्याभिमान को धिक्कार हो। हे सुन्दर ! जिस मिथ्यात्व के परदे से आच्छादित हुए जीव को उसी क्षण में वस्तु भी अवस्तु रूप दिखती है। यदि उसकी वह सम्यक्त्व आदि गुण रूप लक्ष्मी मिथ्यात्व के अंधकार से आच्छादित न हुई हो तो ऐसा नहीं होता है कि उसे क्या कितना हित हुआ ? इस प्रकार जानकर हे वत्स ! विवेकरूपी अमृत का पान करके तू मन रूपी शरीर में व्याप्त हुआ। इस मिथ्यात्व रूपी जहर का सर्वथा वमन कर ! तथा मिथ्यात्व के जहर से मुक्त और उसके सर्व विकार से रहित, स्वस्थ बना हुआ तू प्रस्तुत आराधना को सम्यक् रूप में प्राप्त कर। इस तरह यह मिथ्या दर्शन शल्य को कहा है और उसे कहने से सारे अठारह पाप स्थानक को कहा है। ये पाप स्थानक में एक-एक भी पाप महादुःखदायी है तो वे सभी के समूह से तो जो दुःखदायी बनता है उसमें क्या कहना ?

इस लोक के सुख में आसक्त जीव, जीव की हिंसा करने से, दूसरों को कठोर आदि झूठ बोल कर, दूसरे के धन को हरण कर, मनुष्य देव और तिर्यच की स्त्रियों के विषय की अति आसक्ति द्वारा, नित्य अपरिमित विविध परिग्रह का आरम्भ करने से, विरोधजनक क्रोध द्वारा, तथा दुःख कारण मान द्वारा, स्पष्ट अपापरूप माया द्वारा, सुख अथवा शोभा का नाश करने वाला लोभ द्वारा, उत्तम मुनियों के द्वारा छोड़ा हुआ दुष्ट राग द्वारा, कुगति पोषक द्वेष द्वारा, स्नेह के शत्रु को कलह द्वारा, खल नीच अभ्याख्यान द्वारा, संसार की प्राप्ति करने वाली, अरति रति द्वारा, अपयश के महान प्रवाह रूप पर निंदा द्वारा, नीच अधम पुरुषों के मन को प्रसन्न करने वाला माया मृषावाद द्वारा और अत्यन्त संकलेश से प्रगट हुआ, शुद्ध मार्ग में विघ्न करने वाला महासुभट रूप मल्ल के समान मिथ्या दर्शन शल्य द्वारा परलोक की चिन्ता भय से रहित मूढात्मा अपने सुख के लिए मन, वचन और काया से कठोर पाप के समूह को उपार्जन करता है इससे चौरासी लाख योनि से व्याप्त अनादि भवसागर में बार-बार जन्म-मरण करते चिरकाल तक परिभ्रमण करता है जो मूढात्मा अपने में अथवा दूसरे में भी इन पाप स्थानों को उत्पन्न करता है वह उस कारण से जो कर्म का बन्धन होता है उससे वह भी लिप्त होता है। इसलिए हे देवानु प्रिय ! इसे जानकर प्रयत्नशील तू-तू उस पापस्थानक से शीघ्र रूककर उसके

प्रतिपक्ष में अर्थात् अहिंसा सत्यादि में उद्यम कर । इस तरह अनुशास्ति द्वार में अट्ठारह पाप स्थानक का यह प्रथम अन्तर द्वार कहा है अब आठ मदस्थान का दूसरा अन्तर द्वार कहते हैं ।

दूसरा अनुशास्ति द्वार :—गुरु महाराज क्षपक मुनि को अट्ठारह पाप स्थान से विरक्त चित्त वाला जानकर सविशेष गुण की प्राप्ति के लिए इस प्रकार कहे कि—हे गुणाकर ! हे आराधनारूपी महान् गाड़ी का जुआ उठाने में वृषभ समान ! धन्य है, कि तू इस आराधना में स्थिर है, सारे मनोविकार को रोककर त्याग करने योग्य धर्मार्थी को सदा अकरणीय, नीचजन के आदरणीय और गुणधन को लूटने में शत्रु सैन्य समान, अष्टमद का त्याग करना चाहिए । वह १—जातिमद, २—कुलमद, ३—रूपमद, ४—बलमद, ५—श्रुतमद, ६—तपमद, ७—लाभमद और ८—ऐश्वर्यमद हैं इसे अनुक्रम से कहते हैं :—

१. जातिमद द्वार :—इसमें श्री जैन वचन से युक्त बुद्धिमान तू तीव्र संताप कारक और अनर्थ का मुख्य कारण भूत प्रथम जातिमद नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह जातिमद करने से कालान्तर में तथाविध दुःखद अवस्थान को प्राप्त करवाकर मानी पुरुषों के भी मान को अवश्यमेव मलिन करता है । और बहुत काल तक नीच योनियों में दुःख से पीड़ित जहाँ तहाँ भ्रमण करके वर्तमान में महा मुश्किल से एक बार उच्च गोत्र मिलने पर बुद्धिमान पुरुष को मद करने का अवसर कैसे हो ? अथवा तो जातिमद तब कर सकता है कि यदि वह उत्तम जाति रूप गुण हमेशा स्थिर रहे तो, अन्यथा वायु से फूला हुआ मसक के समान मिथ्यामद करने से क्या लाभ ? संसार में कर्मवश से होती उत्तम, मध्यम और जघन्य जातियों को देखकर तत्त्व के सम्यग् ज्ञाता कौन ऐसा मद करे ? संसार में जीव इन्द्रियों की रचना से एक दो तीन आदि इन्द्रिय वाला अनेक प्रकार की जातियों को प्राप्त करता है इसलिए उन जातियों की स्थिरता शाश्वत नहीं होती है । इस संसार में राजा अथवा ब्राह्मण होकर भी यदि जन्मान्तर में वह कर्मवश चण्डाल भी होता है तो उसके मद से क्या लाभ ? और सर्वश्रेष्ठ जाति वाले को भी कल्याण का कारण तो गुण ही है, क्योंकि जातिहीन भी गुणवान लोक में पूजा जाता है । “वेदों का पाठक और जनेऊ का धारक हूँ, इससे लोक में गौरव को प्राप्त करते मैं ब्राह्मण सर्व में उत्तम हूँ” इस तरह जातिमद से उन्मत्त बना ब्राह्मण भी यदि नीच उद्यम लोगों के घर में नौकर होता है, तो उसे जातिमद नहीं परन्तु मरण का शरण करना योग्य है । जातिमद करने से जीव जाति का नीच गोत्र ही बन्धन करता है इस विषय पर श्रावस्ती वासी ब्राह्मण पुत्र का दृष्टान्त है । वह इस प्रकार है :—

ब्राह्मण पुत्र का दृष्टान्त

देव मन्दिर, चार कोने वाली बावड़ी, लम्बी बावड़ी, गोलाकार बावड़ी तथा बाग की श्रेणियों से रमणीय श्रावस्तीपुरी में अनेक राजाओं द्वारा चरण कमल में नमाने वाला और जगत प्रसिद्ध नरेन्द्र सिंह नाम का राजा था। उसे वेद के अर्थ के विचार करने में कुशल अमर दत्त नामक पुरोहित था। उस पुरोहित का सुलस नामक पुत्र यौवनवय से ही श्रुतज्ञान से, वैभव से और राजा के सत्कार से अत्यन्त गर्व को धारण करता था। समान वय वाले मित्रों से घिरा हुआ वह निरंकुश हाथी के समान लोकापवाद को भी अपमान करके नगर के मुख्य बड़े आदि राजमार्ग में स्वच्छन्दतापूर्वक घूमता था। एक समय सुखपूर्वक बैठा हुआ उसे माली ने भृं-भृं गुंजार करते भौंरों से भरा हुआ आम की मंजरी भेंट दी। कामदेव ने स्वहस्त से लिखा हुआ आमन्त्रण पत्र हो इस तरह मंजरी लेकर वसन्त मास आया हो ऐसा मानकर प्रसन्न हुआ, वह अपने हाथ से माली को दान देकर चतुर परिवार से घिरा हुआ शीघ्र नन्दन नामक उद्यान में गया। फिर विनय से खड़े हुए नन्दन उद्यान के रक्षक ने उसे कहा—हे कुमार ! आप स्वयं एक क्षण इस प्रदेश में दृष्टिपात करें। फैलती श्रेष्ठ सुगन्ध से आये हुए भ्रमरों का समूह से शोभते डालियों के अन्तिम भाग वाले बकुल वृक्ष को हाथ में पकड़ा हुआ रूढ़ाक्ष की माला वाले जोगी समान शोभते थे। ऊँचे बड़े हुए पत्तों से आकाश तल के विस्तार को स्पर्श करते कमेलि वृक्ष भी प्रज्वलित अग्नि के समूह के समान विरही जनों को सन्ताप करता है, और कमलरूपी मुखवाली, केमुड़ के पुष्परूपी रेशमी वस्त्र वाली, मालती की कलियाँरूपी दांत वाली, पाटल वृक्ष रूपी नेत्रों वाली, कलियाँ वाला कुरुबक जाति वृक्ष का गुच्छ रूप महान् स्तन वाली और स्फुरायमान अति कोमल तिलक वृक्षरूप तिलक वाली यह वन लक्ष्मी कोयल के मधुर आवाज से काम-देव रूपी राजा का तीन जगत के विजय यश के गीत गाती है। इस तरह वह गा रही थी। इस तरह नन्दन वन के पात्रक ने प्रगट वृक्ष की शोभा बताने से दो गुणा उत्साह वाला वह उद्यान के अन्दर परिभ्रमण करने लगा। वहाँ घूमते हुए उसने किसी तरह वन की गाढ़ झाड़ियों के बीच एकान्त में रहे स्वाध्याय करते एक महामुनिवर को देखा। फिर पापिष्ठमन से अत्यन्त जातिमद को धारण करते हँसी करने की इच्छा से मुनि श्री को भक्तिपूर्वक वंदन किया और कहा कि—हे भगवन्त ! संसार के भय से डरा हुआ मुझे आप अपना धर्म कहो, कि जिससे आपके चरण कमल में दीक्षा स्वीकार करूँ।

सरल स्वभाव से मुनि ने मृषावाद, परद्रव्य, मैथुन और परिग्रह के त्याग युक्त पिंड विशुद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के समूह से सुन्दर जगत गुरु श्री जैनेश्वर भगवान ने उसका मूल जीव दया कहा है, इससे शिवगति की प्राप्ति होती है, अतः वहाँ तक धर्म की अच्छी तरह आराधना करने को कहा है। यह सुनकर वह हँसीपूर्वक ऐसा बोलने लगा कि—हे साधु ! किस ठग ने तुझे इस तरह ठग लिया है, कि जिससे प्रत्यक्ष दिखता हुआ भी दिव्य विषय सुख को छोड़कर अपने को और पर को बलेश की चिन्ता में डालता है ? जीव दया करने से धर्म और उसका फल मोक्ष है, परन्तु किसने देखकर कहा है कि जिससे इस तरह कष्ट सहन करते हैं ? अतः मेरे साथ चलो, इस वन की शोभा देखो, पाखण्ड को छोड़कर, महल में रहकर स्वेच्छानुसार स्त्रियों के साथ विलास को करो। इस तरह अयोग्य वचनों द्वारा अपने साथ रहे परिवार को हँसाते उसने मुनि को हाथ से पकड़कर वहाँ से घर की ओर ले जाने लगे। उस समय मुनि के हास्य से क्रोधित हुई वन देवी ने उसे काष्ठ के समान बेहोश करके पृथ्वी के ऊपर गिरा दिया। मुनि ने अल्प भी प्रद्वेष किये बिना स्वकर्तव्य में स्थिर रहे, और सुलस की ऐसी अवस्था देखकर मित्र वर्ग उसे घर ले गये, और यह सारा वृत्तान्त उसके पिता को कहा। दुःख से पीड़ित पिता ने उसकी शान्ति के लिए देव पूजा आदि विविध उपाय किये। फिर भी उसको अल्प भी शान्ति नहीं हुई। इससे उसे लाकर मुनि के पास रखा, वहाँ कुछ स्वस्थ हुआ। तब उसके पिता ने मुनि श्री को कहा कि—हे भगवन्त ! आपका अपमान करने का यह फल प्राप्त किया है, अतः आप कृपा करो और मेरे पुत्र का दोष दूर कर दो। इत्यादि नाना प्रकार से पुरोहित ने कहा, तब देवी ने कहा कि—अरे, म्लेच्छ तुल्य ! तू स्वच्छन्दता पूर्वक बहुत क्या बोलता है ? यदि यह तेरा दुष्ट पुत्र सदा मुनि के दास के समान प्रवृत्ति करेगा तो स्वस्थता को प्राप्त करेगा, अन्यथा जीता नहीं रहेगा। अतः 'किसी तरह भी यदि जीता रहेगा तो मैं देख सकूँगा।' इस तरह चिन्तन कर उसके पिता ने उसे मुनि को सौंपा। उस मुनि ने भी इस तरह कहा कि—'साधु असंयमी गृहस्थ को स्वीकार नहीं करते हैं।' इसलिए यदि दीक्षा को स्वीकार करे तो यह मेरे पास रहे। मुनि के ऐसा कहने पर पुरोहित ने पुत्र से कहा कि—हे वत्स ! यद्यपि तेरे सामने इस तरह कहना योग्य नहीं है, फिर भी तेरे जीवन में दूसरा उपाय कोई नहीं है, इसलिए इस साधु के पास दीक्षा को स्वीकार कर। हे पुत्र ! धर्म के आचरण करते तेरा अहित नहीं होगा, क्योंकि मन वांछित की प्राप्ति कराने में समर्थ धर्म ही सर्व श्रेष्ठ है। फिर मृत्यु होने के अति कठोर संताप से दीन मुख वचन वाला सुलभ ने

अनिच्छा से भी पिता के वचन का मान किया और मुनि ने उसे दीक्षा दी । सर्व कर्त्तव्य की विधि की शिक्षा दी और उचित समय में शास्त्रार्थ को विस्तार-पूर्वक अध्ययन करवाया, फिर केवल मृत्यु के भय से दीक्षा लेने वाला भी वह विविध सूत्र-अर्थ का परावर्तन करते जैन धर्म में स्थिर हुआ और विनय करने में रक्त बना ।

परन्तु मद के अशुभ फल को जानते हुये भी वह जाति मद को नहीं छोड़ता है, आखिर में उसकी आलोचना किये बिना मरा और सौधर्म देवलोक में देव हुआ । वहाँ आयुष्य का क्षय होते ही वहाँ से च्यवन कर जाति मद के दोष से नंदी वर्धन नगर में चण्डाल पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, पूर्व जन्म में किए अल्प सुकृत्य के योग से वह रूपवान और सौभाग्यशाली हुआ और क्रमशः वह मानवों के मन और आँखों के आनन्दप्रद यौवनवय को प्राप्त किया । विलास करते नागरिकों को देखकर वह इस तरह विचार करता है कि—शिष्टजनों के निन्दा पात्र मेरे जीवन को धिक्कार हो ! कि जिम चण्डाल की संगत से मेरा यह श्रेष्ठ यौवन लक्ष्मी भी शोभा रहित बनी है और अरण्य की कमलिनी के समान उत्तम पुरुषों को सुख देने वाला नहीं बना । हे हत विधाता ! यदि तूने मेरा जन्म निन्दित कुल में दिया तो निश्चय निष्फल रूपादि गुण किस लिए दिया ? अथवा ऐसे निरर्थक खेद करने से भी क्या लाभ ? उस देश में जाऊँ कि जहाँ मेरी जाति को कोई मनुष्य नहीं जाने । इस तरह विचार कर अपने स्वजन और मित्रों को कहे बिना, कोई भी नहीं जाने इस तरह वह अपनी नगरी से निकल गया । और चलते हुए अति दूर प्रदेश में रहे कुंडिन नगर में वह पहुँचा । वहाँ राजा के ब्राह्मण मन्त्री की सेवा करने लगा, अपने गुणों से मंत्री की परम प्रसन्नता का पात्र बना और निःशंकता से पाँच प्रकार के विषय सुख को भोगने लगा ।

एक समय संगीत में अति कुशल उसके मित्र श्रावस्ती से घूमते हुए वहाँ आए और मन्त्री के सामने गीत गाते उन्होंने उसे देखा । इससे हर्ष के आवेश वश भावी दोषों का विचार किए बिना ही उन्होंने उसे कहा कि—हे मित्र ! यहाँ आओ, जिससे बहुत काल के बाद हुए तेरे दर्शन के उचित वे आलिंगन आदि करें । और आपके पिता आदि का वृत्तान्त सुनाओ । फिर उनको देखकर वह मुख को छुपाकर चला गया, इससे विस्मय प्राप्त कर मन्त्री ने उससे असली बात पूछी । सरलता से उन्होंने यथास्थिति कह दी इससे क्रोधित होकर उसे शूली के प्रयोग से मार देने की आज्ञा की । राज पुरुष उसे गधे ऊपर बैठाकर तिरस्कार पूर्वक नगर में घुमाकर शूली के पास ले गये । उस

समय प्रसन्न रूप वाले को देखकर अति कृष्णा जोगीश्वर को प्रगट हुई, उसने अंजन सिद्धि की थी उसने विचार किया कि यह पुरुष अकाल में भी छोटी-सी उम्र वाला विचारा अभी ही क्यों मरता है ? अतः अंजन की सलाई से उसके आँखों में अंजन डाला और कहा कि—यम से भी निर्भय होकर यहाँ से चला जा । फिर अंजनसिद्धि के साधन को विनय पूर्वक नमस्कार करके वह वहाँ से भागा, और आखिर मर कर कई जन्मों तक नीच योनि में जन्म लिया । फिर मनुष्य जन्म को प्राप्त किया और वहाँ केवली भगवन्त से अपने पूर्व जन्म जानकर दीक्षा स्वीकार की, वहाँ आयु पूर्ण कर माहेन्द्र कल्प में देव उत्पन्न हुआ । इस तरह हे क्षपक मुनि ! जातिमद से होने वाले दोष को देखकर तुझे अनिष्ट फलदायक जातिमद अल्प भी नहीं करना चाहिए । इस तरह प्रथम मद स्थान कहा है । और अब मैं कुल के मद का दूसरा मद स्थान अल्पमात्र कहता हूँ ।

२. कुलमद द्वार :—जातिमद के समान कुलमद को करने से निर्गुणी भी परमार्थ से अज्ञ मनुष्य अपने आप को दुःखी करता है । क्योंकि इस लोक में स्वयं दुरात्मा को गुण से युक्त उत्तम कुल भी क्या करता है ? क्या सुगन्ध से भरे हुए पुष्प में कीड़े उत्पन्न होते हैं ? हीन कुल में जन्मे हुए भी गुणवान सर्व प्रकार से लोक पूज्य बनते हैं; तथा कीचड़ में उत्पन्न हुआ भी कमल को मनुष्य मस्तक पर धारण करते हैं । उत्तम कुल वाले भी मनुष्य यदि शील, बल, रूप, बुद्धि, श्रुत, वैभव आदि से रहित हो और अन्य पवित्र गुणों के बिना होते हैं तो कुलमद करने से क्या लाभ है ? कुल भले अति विशाल भी हो और कुशील को अलंकार से भूषित भी करो, परन्तु चोरी आदि दुष्ट आसक्ति वाले उस कुशील को कुलमद करने से क्या हितकर है ? उत्तम कुल में जन्म लेने वाला भी यदि हीन कुल वाले का मुख देखता है उसका दासत्व स्वीकार करता है तो उसको कुलमद नहीं करना परन्तु मरना ही श्रेयस्कर है और दूसरी बात यह है कि यदि गुण नहीं है तो कुल से क्या प्रयोजन है ? गुणवन्त को कुल का प्रयोजन नहीं है, गुण रहित मनुष्यों को निष्कलंक कुल यही महान कलंक है । यदि उस समय मरिचि ने कुल का मद नहीं किया होता, तो अंतिम जन्म में कुल बदलने का समय नहीं आता । उसका दृष्टान्त इस प्रकार है—

मरिचि की कथा

नाभिपुत्र श्री ऋषभदेव के राज्य काल में अभिषेक में उद्यम करते विवेकी युगलिकों का विनय देखकर प्रसन्न चित्त हुए इन्द्र ने श्रेष्ठ विनीता नगरी

बनाई थी। त्रिभुवन पति श्री ऋषभदेव भगवान के चरणों रूपी कमलों के स्पर्श से पूजित विनीता नगरी के सामने इन्द्रपुरी ने भी अल्पमात्र श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं किया। मैं मानता हूँ कि उसके महान् सौन्दर्य को फैलते नजर से देखते देवता वहीं पर ही अनिमेषत्व प्राप्त करते हैं। राजाओं के मस्तक मणि के किरणों से व्याप्त चरण वाले और भयंकर चक्र द्वारा शत्रु समूह को कंपा-मान करने वाला भरत राजा उसका पालन करता था। जिस भरत महाराजा के शत्रु की स्त्रियों का समूह स्तन पीठ ऊपर गिरते आंसु वाली बड़े मार्ग की उड़ती धूल से नष्ट हुई शरीर की कान्ति का विस्तार वाली, आहार के ग्रहण से मुक्त, बील के फल से जीते, सर्प अथवा मेंढक के बच्चों से भरे हुए घर (जंगल) में रहते और प्रगट शिकारी प्राणियों की वेदना को सहन करते, दुःखी होते हुए भी मानो सुखी समान था। स्तन पीठ ऊपर से सरकते वस्त्रों वाला, महाप्रभा वाले रत्नों से उज्ज्वल शरीर की कान्ति के विस्तार वाला, मोती के हार को धारण करते राजलक्ष्मी और फल समूह को भोगते, हाथी, घोड़ों से शोभित महल में रहते और प्रगट चामर से सेवा होती थी। उसकी वामा नाम की प्रिय पत्नी ने उचित काल में किरणों के कान्ति समूह को फैलाते सूर्य के समान पुत्र को जन्म दिया। इससे बारहवें दिन राजा ने बड़े वैभव से जन्म-काल के अनुरूप उसका नाम 'मरिचि' स्थापन किया। बाल काल पूर्ण होने के बाद एक समय वह महात्मा मरिचि श्री ऋषभ जैनेश्वर के पास धर्म सुनकर प्रतिबोध हुआ। जीवन को कमलिनी पत्र के अन्तिम विभाग में लगे जल बिन्दु समान चंचल और संसार में उत्पन्न होते सारे वस्तु समूह को विनश्वर जान-कर, विषय सुख का त्यागी और स्वजनादि के राग की भी अपेक्षा बिना उसने श्री ऋषभ देव के पास के संयम के उद्यम को स्वीकार किया। फिर उत्तम श्रद्धा से स्थविरों के पास सामायिकादि अंग सूत्रों का अध्ययन करते श्री जैनेश्वर भगवान के साथ विचरने लगा।

अन्यदा किसी समय सूर्य के प्रचण्ड किरणों से विकराल ग्रीष्म ऋतु आई, तब पृथ्वी तल अति गरम हो गया और पत्थर के टुकड़े का समूह स्पर्श समान कठोर स्पर्श वाला वायुमण्डल हो गया और स्नान नहीं करने कारण पीड़ित मरिचि इस तरह कुवेश का चिन्तन करने लगा कि—तीन दण्ड से विरक्त श्रमण भगवन्त तो स्थिर शरीर वाले होते हैं, परन्तु इन्द्रिय दण्ड को नहीं जीतने वाले मुझे तो त्रिदण्ड का चिह्न बनूँ। साधु वेश किए इन्द्रिय वाले और मुण्डन मस्तक वाले होते हैं, मैं तो अस्त्र से मुण्डन वाला, चोटी रखने वाला, मुझे तो हमेशा स्थूल हिंसा की विरति वाला बनूँ। साधु अकिंचन (धन

से रहित) होते हैं, परन्तु मुझे तो कुछ परिग्रह होगा। साधु शील से सुगन्ध वाले हैं, मैं तो शील से दुर्गन्ध वाला हूँ। साधु मोह रहित है, अतः मोह से आच्छादित मैं छत्र धारण करूँगा, साधु जूते रहित होते हैं मैं तो जूते रखूँगा। साधु श्वेत वस्त्र वाले शोभा रहित होते हैं, मेरे रंगीन वस्त्र हों, क्योंकि—कषाय से कलुषित मति वाला मैं उसके योग्य हूँ। पापभीरू साधु अनेक जीवों से व्याप्त जल के आरम्भ का त्याग करते हैं, मुझे तो परिमित जल से स्नान और पान भी होगा। इस तरह उसने स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पना कर विचित्र बहुत युक्तियों से संयुक्त, साधुओं से विलक्षण रूप वाला परिव्राजक वेश प्रवृत्ति की। परन्तु वह जैनेश्वर भगवान के साथ विहार करता था और भव्य जीवों को प्रतिबोध करके तीन जगत के एक गुरु श्री ऋषभ देव स्वामी को शिष्य रूप में अर्पण करता था।

एक दिन भरत महाराजा समवसरण में आया और श्री ऋषभ देव स्वामी का अत्यन्त वैभवशाली ऐश्वर्य देखकर पूछा कि—हे तात् ! आपके समान अरिहंत कितने होंगे ? श्री जगत् गुरु ने कहा—अजितनाथ आदि जैनेश्वर होंगे और चक्रवर्ती वासुदेव तथा बलदेव भी होंगे। भरत ने फिर पूछा—हे भगवन्त ! क्या यह आपकी देव, मनुष्य, असुर की इतनी विशाल पर्षदा में से इस भरत में कोई तीर्थंकर होगा ? तब प्रभु ने भरत को कहा—सिर के ऊपर छत्र धारण वाला एकान्त में बैठा मरिचि यह अन्तिम तीर्थंकर होगा। और यही मरिचि पोतानपुर के अन्दर वासुदेव में प्रथम होगा, विदेह में मूका नगरी में चक्रवर्ती की लक्ष्मी को भी यही प्राप्त करेगा। यह सुनकर हर्ष आदेश में फँलते गाढ़ रोमांच वाला भरत महाराजा प्रभु की आज्ञा लेकर मरिचि को वन्दन करने गया। परम भक्ति युक्त उसे तीन बार प्रदक्षिणा देकर, सम्यक् प्रकार से वन्दन करके मधुर भाषा में कहने लगा कि—हे महायश ! आप धन्य हो, आपने ही इस संसार में प्राप्त करने योग्य सर्व कुछ प्राप्त किया है, क्योंकि तुम वीर नाम के अन्तिम तीर्थंकर होंगे, वासुदेवों में प्रथम अर्द्ध भरत की पृथ्वी के नाथ होंगे और मूका नगरी में छह खण्ड पृथ्वी मण्डल का स्वामी चक्री होंगे। मैं मनोहर मानकर तुम्हारे इस जन्म को तथा परिव्राजक को वन्दन नहीं करता हूँ, परन्तु अन्तिम जैनेश्वर होंगे, इस कारण से नमस्कार करता हूँ। इत्यादि स्तुति करके जैसे आया था वैसे भरत वापिस चला गया।

उसके बाद गाढ़ हर्ष प्रगट हुआ, विकसित नीलकमल के पत्र समान नेत्र वाला मरिचि रंगभूमि में रहे मल्ल के समान तीन बार त्रिदण्ड को पछाड़ कर अपने उस विवेक को छोड़कर इस तरह बोलने लगा—“देखो वासुदेवों

में प्रथम मैं, विदेह की मूकानगरी में चक्रवर्ती भी मैं और तीर्थंकरों में अन्तिम भी मैं हूँ तो अहो ! मेरा पूर्ण है” वासुदेवों में प्रथम, मेरे पिता चक्रवर्ती के वंश में प्रथम, और आर्य-दादा तीर्थंकरों में प्रथम हैं, अहो ! मेरा कुल उत्तम है। इस तरह अपने कुल की सुन्दरता की सम्यक् प्रशंसा रूप कलुषित भाववश उसने नीच गोत्र कर्म का बन्धन किया, और उस निमित्त से वापिस वह महात्मा छहभवों तक ब्राह्मण कुल में और दूसरे नीच कुल में उत्पन्न हुए तथा वासुदेव, चक्रवर्ती की लक्ष्मी को भोगकर अरिहंत आदि बीस स्थानकों की आराधना करके, अन्तिम जन्म में अरिहंत होने पर भी अनेक पूर्वकाल में बन्धन किये नीच गोत्र कर्म के दोष से वह ब्राह्मण कुल में देवन्दा ब्राह्मण के गर्भ रूप में उत्पन्न हुए, केवल बयासी दिन बाद इन्द्र महाराज ने जानकर ‘यह अनुचित है’ ऐसा विचार कर हरिणैगमेधी देव को आदेश देकर उसे सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला के गर्भ में रखा। फिर उचित समय में उनका जन्म हुआ, तब देवों ने मेरु पर्वत ऊपर जन्माभिषेक किया, और तीर्थ (धर्म) की स्थापन करके उन्होंने परमपद प्राप्त किया। इस तरह अपने कुल की प्रशंसा से बन्धन किये नीच कर्म के दोष से यदि श्री तीर्थंकर परमात्मा भी ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं, तो संसार के जानकार पुरुषों को कुलमद की इच्छा भी कैसे करे ? इस लिए हे क्षपक मुनि ! तुझे अब से इस मद को किसी प्रकार से भी नहीं करना चाहिये। इस तरह दूसरा कुलमद का अन्तर द्वार कहा है अब तीसरा रूप मद को भी मैं अल्पमात्र द्वार कहता हूँ।

३. रूपमद द्वार :—प्रथम से ही शुक्र और रूधिर के संयोग से जिस रूप की उत्पत्ति है, उस रूप को प्राप्त करके मद करना योग्य नहीं है। जिसका नाश का कारण रोग है पुदगल का गलना, सड़ना, जरा और मरण यह साथ ही रहता है। ऐसे नाशवंत रूप में मद करना वह ज्ञानियों को मान्य नहीं है। विचार करते वस्त्र आभूषणादि के संयोग से कुछ शोभा दिखती है, हमेशा बार-बार मरम्मत करने योग्य, नित्य बढ़ने घटने के स्वभाव वाला, अन्दर दुर्गन्ध से भरा हुआ, बाहर केवल चमड़ी से लिपटा हुआ और अस्थिर समान रूप में मद करने का कोई भी अवकाश नहीं है। कर्मवश विरूप वाला भी रूपवान और रूप वाला भी रूप रहित होता है। इस विषय में काकंदी निवासी दो भाईयों का दृष्टान्त कहते हैं। वह इस प्रकार है :—

काकंदी के दो भाईयों की कथा

अनेक देशों में प्रसिद्ध और विविध आश्चर्यों का स्थान भूत काकंदी नगरी में यश नामक धनपति रहता था। उसकी कनकवती नाम की स्त्री था।

और उनका देव कुमार समान रूप लक्ष्मी से जीवों को विस्मित करते वसुदेव नाम का मुख्य पुत्र था। दूसरा स्कंदक नाम का पुत्र डरपोक नेत्रों वाला ठिगना शरीर वाला था। अधिक क्या कहें सारे कद् रूप वालों में वह उदाहरण रूप था। उनका लोकोत्तर सुन्दर रूप वाला और कद्रूप वाला सुनकर कुतूहल से व्याकुल लोग दूर-दूर से उनको देखने के लिए आते थे। इस तरह समय व्यतीत होते एक दिन अवधि ज्ञानी विमल यज्ञ नाम के आचार्य वहाँ पधारे। उनका आगमन जानकर राजा आदि नगर निवासी और उस धनपति के दो पुत्र भी वंदन के लिए आए। गाढ़ भक्ति राग को धारण करते वे बार-बार प्रदक्षिणा देकर आचार्य श्री के चरणों में नमन करके अपने-अपने योग्य स्थान पर बैठे। फिर धर्मकथा करते आचार्य श्री की दृष्टि अभीष्ट के समान किसी तरह उस धनपति के पुत्रों पर पड़ी। उस समय ज्ञान रूपी चक्षु से उनके पूर्वभाव को देखते कुछ प्रसन्न बने गुरु महाराज ने कहा कि—अरे ! कर्म का दुष्ट विलास भयंकर है। क्योंकि—निरूपम रूप वाला भी विरूप बनता है और वही विरूपी पुनः कामदेव के रूप की उपमा को प्राप्त करता है। बाद में विस्मित पूर्वक पर्षदा के लोगों ने नमस्कार करके कहा कि—हे भगवन्त ! इस विषय में तत्त्व के रहस्य को बतलाएं, हमें जानने की बहुत इच्छा है। तब गुरुदेव ने कहा कि—आप सब सावधान होकर सुनो :—

धनपति के ये दो पुत्र तामलिप्ती नगरी में धनरक्षित और धर्मदेव नाम के दो मित्र थे। उसमें प्रथम धनरक्षित रूपवान और दूसरा धर्मदेव अति विरूप था। दोनों परस्पर क्रीड़ा करते थे, परन्तु धनरक्षित रूपमद से लोग समक्ष धर्मदेव की अनेक प्रकार की हांसी करता था। एक समय धनरक्षित ने धर्मदेव को कहा कि—हे भद्र ! पत्नी के बिना सारा गृहवास का राग निष्फल है। इसलिए स्त्री के विवाह से विमुख तू बेकार क्यों दिन गंवा रहा है ? यदि इस तरह भी अविवाहित रहने की इच्छा है तो साधु बन जा। सरल स्वभाव से उसने कहा कि मित्र ! यह सत्य है, परन्तु संसार में स्त्री की प्राप्ति में दो हेतु होते हैं एक मनुष्य के मन को हरण करने वाला रूप अथवा अति विशाल लक्ष्मी हो, ये दोनों भी दुर्भाग्यवश मुझे नहीं मिली हैं। फिर भी अब ऐसी बुद्धि द्वारा स्त्री की प्राप्ति यदि सम्भव हो जाए तो वह तू ही बतला, तुझे दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ। उसके ऐसा कहने से धनरक्षित ने कहा कि—हे मित्र ! तू निश्चित रह, इस विषय में मैं सम्भाल लूंगा। धन, बुद्धि, पराक्रम, न्याय से अथवा अन्याय से अधिक क्या कहूँ ? किसी तरह भी तेरे वांछित अर्थ को सिद्ध करूंगा। उसने कहा कि—कुछ भी कर ! निष्कपट प्रेम वाला

तू मेरा मित्र है, आज से मेरा दुःख तुझे देकर मैं सुखी हुआ हूँ। उसके बाद धन रक्षित ने उसके समान रूप वैभव वाली कुबेर सेठ की पुत्री को दूती भेजकर कहलवाया कि—यदि तू विकल्प छोड़कर, मैं जो कहूँ उसे स्वीकार करे तो तुझे मैं कामदेव समान रूप वाला पति दूँगा। उसने कहा कि—निःशंकता से आदेश दो, मैं स्वीकार करूँगी। फिर उसने कहलवाया कि—आज रात्री में कोई भी नहीं जाने, इस तरह तू मुकुन्द के मन्दिर में आ जाना, जिससे उसके साथ मैं अच्छी तरह तेरा विवाह कर दूँगा। उसने वह स्वीकार किया। फिर सूर्य अस्त होते कोयल के कण्ठ समान काला अन्धकार का समूह फैलते और प्रतिक्षण गली में मनुष्यों का संचार रहित होने पर विवाह के उचित सामग्री को उठाकर परम हर्षित मन वाला धर्म देव के साथ हव वहाँ मुकुन्द के मन्दिर में गया।

उस समय विवाह के उचित वेश धारण कर वह भी वहाँ आई, फिर संक्षेप से उनकी विवाह विधि की, फिर हर्षित हुए धनरक्षित ने दीपक को सामने रखकर कहा कि—हे भद्रे ! पति को नेत्र दर्शन कर ! फिर लज्जा वश स्थिर दृष्टि वाली वह जब मुख को जरा ऊँचा करके दीपक के प्रकाश से देखने लगी तब होंठ के नीचे तक लगा हुआ बड़ा दांत वाला, अत्यन्त चपटी नाक वाला, हृदय की एक ओर उगे हुए वीभत्स कठोर रोम वाला, उल्लू के समान आँख वाला, मुख में घुसा हुआ कृश गाल वाला, तिरछी स्थिर रही धूम रेखा समान भ्रमर वाला, मसि समान श्याम कान्ति वाला उसका मुख दृष्टि से देखा। उसका मुख भी उसके उस गुण से युक्त था, केवल उससे रोम रहित का ही भेद था। दाढ़ी मूँछ या शरीर पर रोम नहीं थे। फिर शीघ्र गरदन घुमाकर अपना मुख उल्टा करके उसने कहा कि—हे धन रक्षित ! निश्चय ही तूने मुझे ठगा है। कामदेव समान कहकर पिशाच समान पति को करते तूने मेरे आत्मा को यावच्चन्द्र अपयश से बदनाम किया है। धन रक्षित ने कहा कि—मेरे प्रति क्रोध नहीं कर, क्योंकि—विधाता ने ही योग्य के साथ योग्य-सी जोड़ी की है, इसमें मेरा क्या दोष है ? फिर तीव्र क्रोध से दांत से होंठ को काटती, स्वभाव से ही श्याम मुख को सविशेष काला करती और अस्पष्ट अक्षरों से मन्द-मन्द कुछ बोलती शीघ्र हाथ से कंकणों को उतार कर विवाह नहीं हुआ हो, इस तरह वह मुकुन्द मन्दिर में से निकल गई। हृदय में फैले हास्य वाला धन रक्षित ने उसे कहा कि—हे मित्र ! इतना होते हुये भी तू क्यों नहीं बोलता ? अब मैं क्या करूँ ? इससे परम सन्ताप को धारण करते उसने सरलता से कहा कि—भाई ? अब भी क्या बोलने जैसा है ? तू अपने घर जा, क्योंकि राक्षसी समान

भी उसने इस तरह पराभव किया, उससे मुझे अब जीने से क्या प्रयोजन है ? धन रक्षित ने कहा—पुरुष के गुण-दोष के ज्ञान से रहित स्त्रियों के प्रति मिथ्या शोक क्यों करते हो ? बाद में मुश्किल से ले आया, परन्तु रात को निकलकर उसने तापस मुनि के पास दीक्षा ली । उसने अज्ञान तप करके आखिर मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ । वहाँ आयुष्य पूर्ण कर वह यह वसुदेव नाम से सुन्दर रूप वाला धनपति का पुत्र हुआ । और रूप मद से अत्यन्त उन्मत्त मन वाला धन रक्षित भी परलोक के कार्यों का प्रायश्चित्त किए बिना मरकर चिरकाल तिर्यच आदि गतियों में परिभ्रमण कर, रूप मद के दोष से इस प्रकार सर्व अंगहीन विकल अंग वाला और लावण्य रहित यह स्कन्ध नाम से उत्पन्न हुआ है । अतः जो तुमने पहले परमार्थ पूछा था, वह यह है । इस प्रकार सुनकर जो उचित हो उसका आचरण करो । ऐसा सुनकर वहाँ अनेक जीव को प्रतिबोध हुआ और वे दोनों धनपति के पुत्रों ने दीक्षा लेकर मुक्ति पद प्राप्त किया । इस तरह रूप मद से दोष प्रगट होता है और उसके त्याग करने से गुण होते जानकर, हे क्षपक मुनि ! तुझे अल्पमात्र भी रूपमद नहीं करना चाहिए । इस तरह मैंने यह तीसरा रूपमद स्थान को कुछ बतलाया है । अब चौथा बलमद स्थान को संक्षेप से कहता हूँ ।

४. बलमद द्वार :—अनियत रूपत्व से क्षण में बढ़ता है और क्षण में घटता है ऐसा जीवों का शरीर बल अनित्य है ऐसा जानकर कौन बुद्धिमान उसका मद—अभिमान करे । पुरुष प्रथम बलवान और सम्पूर्ण गाल कनपट्टी वाला होकर भय, रोग तथा शोक के कारण जब क्षण में निर्बल होता है तथा निर्बलता होते अति शुष्क गाल और कनपट्टी होता है और उपचार करने से पुनः वह बलवान हो जाता है और प्रबल बल वाला मनुष्य भी मृत्यु के सामने जब नित्य अत्यन्त निर्बल होता है तब बलमद करना किस तरह योग्य है ? सामान्य राजा बल से श्रेष्ठ होता है तथा उससे बलदेव और बलदेवों से भी चक्रवर्ती अधिक, अधिक श्रेष्ठ होता है, उससे भी तीर्थंकर प्रभु अनन्त बली होते हैं । इस तरह निश्चय बल में उत्तरोत्तर अन्य अधिक श्रेष्ठ होते हैं, फिर भी अज्ञ आत्मा बल का गर्व मिथ्या करते हैं । क्षयोपशम से उपाजित अल्प बल से भी जो मद करता है, वह मल्लदेव राजा के समान इस जन्म में भी मृत्यु प्राप्त करता है । वह इस प्रकार है :—

मल्लदेव राजा की कथा

श्रीपुर नगर में अजोड़ लक्ष्मी की विशालता वाले शरदचन्द्र के समान यश समूह वाला, विजय सेन नाम का राजा राज्य करता था। वह एक समय जब सुखपूर्वक आसन पर बैठा था, तब दक्षिण दिशा में भेजा हुआ सेनापति आया और पंचांग से नमस्कार करके पास में बैठा। उसके बाद उसे राजा ने स्नेह भरी आँखों से देखकर कहा कि—तेरा अति कुशल है ? उसने कहा कि—आपके चरण कृपा से केवल कुशल ही नहीं, परन्तु दक्षिण के राजा को जीता हूँ। इससे अत्यन्त हर्ष की श्रेष्ठ प्रसन्न नेत्रों वाले राजा ने कहा कि—कहो उसे किस तरह जीता ? उसने कहा कि—सुनो ! आपकी आज्ञा से हाथी, घोड़े, रथ और यौद्धा रूप चतुर्विध सेना के युद्ध सहित लेकर मैं दक्षिण देश के राजा के सीमा स्थल पर रुका और दूत द्वारा उसे मैंने कहलवाया कि—शीघ्र मेरी सेवा को स्वीकार करो अथवा युद्ध के लिये तैयार हो। ऐसा सुनकर प्रचण्ड क्रोधित हुए उस राजा ने दूत को निकाल दिया और अपने प्रधान पुरुषों को आदेश दिया कि—अरे ! अभी ही शीघ्र शस्त्र सजाने की सूचना देकर भेरी बजा दो, चतुर्विध सैन्य को तैयार करो, जयहस्ती को ले आओ, मुझे शस्त्र दो और सेना को शीघ्र प्रस्थान करने की आज्ञा दो। फिर मनुष्यों ने उसी क्षण स्वीकार करके, सारे तैयार हुए। एक साथ तीन जगत का ग्रास करने की इच्छा वाला हो, इस तरह वह मगर, गरुड़, सिंह आदि चिह्न वाली ध्वजाओं से भयंकर सेना के साथ मेरे सामने चला। चरपुरुषों के कहने से उसे आते जानकर मैंने भी सेना को तैयार करके लम्बे प्रस्थान कर उसके सम्मुख जाने लगा, फिर उसके समीप में पहुँचने पर चरपुरुष द्वारा उसकी सेना अपरिमित बहुत विशाल है। ऐसा जानकर मैं कपट युद्ध करने की इच्छा से उसे दर्शन देकर अति वेग वाले घोड़े से अपनी सेना को शीघ्र वहाँ से दूर वापिस ले चला कि जिससे मुझे डरा हुआ और वापिस जाते हुये जानकर उसका उत्साह अधिक बढ़ गया और मुग्ध बुद्धि वाला वह राजा मेरी सेना के पीछे पड़ा। इस तरह प्रतिदिन मेरे पीछे चलने से अत्यन्त थका हुआ संकट में आ गया। निर्भय और प्रमादी चित्त वाला उसकी सेना को देखकर मैं सर्व बल से लड़ने लगा और हे देव ! आपके प्रभाव से अनेक सुभटों द्वारा भी उस शत्रु सैन्य को मैंने अल्पकाल में हरा दिया। उस समय सेनापति के आदेश अनुसार पुरुषों ने उस शत्रु राजा के भण्डार और आठ वर्ष का उसका पुत्र विजय सेन राजा को दिया। फिर सेनापति ने कहा कि—हे देव ! यह भण्डार दक्षिण राजा का है और पुत्र भी उसका ही है, अब इसका जो उचित लगे वैसा करो।

उस पुत्र को अनिमेष दृष्टि से देखते राजा को उसके प्रति अनुभव से ही अपना पुत्र हो ऐसा राग प्रगट हुआ और पादपीठ के ऊपर बैठकर मस्तक पर चुम्बन करके उसने कहा कि—हे वत्स ! अपने घर के समान यहाँ प्रसन्नता से रहो । फिर राजा के पास बैठी रानी को सर्व आदरपूर्वक उस पुत्र को सौंपा और कहा कि—मैं इस पुत्र को दे रहा हूँ । उसने स्वीकार किया और बाद में उस पुत्र ने विविध कलाओं का अभ्यास किया, क्रमशः वह देव के सौंदर्य को जीते ऐसा यौवनवय प्राप्त किया । उसने अपने अत्यन्त भुजा बल से बड़े-बड़े मल्लों को जीता, इसलिए राजा ने उसका नाम मल्लदेव रखा । फिर उसे योग्य ज्ञानकर उसे अपने राज्य पद पर स्थापित किया । और स्वयं तापसी दीक्षा लेकर राजा बनवासी बना । मल्ल देव भी प्रबल भुजा बल से सीमा के सभी राजाओं को जीतकर असीम बल मद को धारण करता अपने राज्य का पालन करता था । एक समय उसने उद्घोषणा करवाई कि जो कोई मेरा प्रतिमल्ल बतलायेगा उसे मैं एक लाख मोहर अवश्य दूंगा ।

यह सुनकर एक जीर्ण कपड़े को धारण करते दुर्बल काया वाला परदेशी पुरुष ने राजा के पास आकर कहा कि—हे देव सुनो ! सारी दिग्चक्र में परिभ्रमण करते मैंने पूर्व दिशा में वज्रधर नामक राजा को देखा है अप्रतिम प्रकृष्ट बल से शत्रु पक्ष को विजय करने वाला वह अपने आप 'त्रैलोक्य वीर' कहलाता है । और वह नहीं सम्भव वाला असम्भवित नहीं है, क्योंकि उस राजा ने लालीमात्र से भी तमाचा मारने मात्र से निरंकुश हाथी भी वश होकर ठीक मार्ग पर आते हैं । ऐसा सुनकर उसे लाख सोना मोहर देकर अपने आदमी को आज्ञा दी कि—अरे ! उस राजा के पास जाकर ऐसा कहना कि—यदि किसी तरह दान का अर्थी भाट चारण ने 'त्रैलोक्य वीर' रूप में तेरी स्तुति की, तो तूने उसे क्यों नहीं रोका ? अथवा इस कीर्तन से क्या प्रयोजन है ? अब भी इस बिरूदावली को छोड़ दे । अन्यथा यह मैं आ रहा हूँ, युद्ध के लिये तैयार हो जा । उस मनुष्य ने वहाँ जाकर उसी तरह सर्व ने उससे निवेदन किया । अतः भ्रुकुटी चढ़ाकर भयंकर मुख धाले उस वज्रधर ने कहा कि—अरे ! वह तेरा राजा कौन है ? उसका नाम भी मैंने अभी ही जाना है, अथवा इस तरह कहने का उसे क्या अधिकार है ? अथवा अन्याय-वाद से अभिमानी और असमर्थ पक्ष बल वाला है, वह रंक यदि मेरे युद्धरूपी अग्नि शिखा में पतंगा के समान उसकी दशा न हो तो मेरी लड़ाई नहीं कहना । इसलिए "अरे ! जल्दी जाओ और उसे भेज कि जिससे उसके विचार अनुसार करूँगा ।" ऐसा सुनकर वापिस जाकर उस पुरुष ने मल्लदेव राजा

को उसी के अनुसार कहा । फिर मन्त्री वर्ग के रोकने पर भी सर्व सैन्य सहित उस मल्लदेव ने प्रस्थान किया और क्रमशः उसके देश में पहुँचा, उसका आगमन जानकर वज्रधर भी शीघ्र सामने आया और अनेक सुभटों का क्षय करने वाला परस्पर युद्ध हुआ । लोगों का क्षय होते देखकर वज्रधर ने मल्लदेव को कहलवाया कि यदि तू बल का अभिमान रखता है तो तू और मैं हम दोनों ही लड़ेंगे । उमय पक्ष के निरपराधी मनुष्यों का क्षय करने वालों का इस युद्ध से क्या लाभ है ? उसने भी यह स्वीकार किया और दोनों परस्पर युद्ध करने लगे उनके युद्ध का संघर्ष मल्लों के समान खड़े होना, नीचे गिरना, पासा बदलना, पीछे हटना इत्यादि भयंकर देव और मनुष्यों को विस्मय कारक था, फिर प्रचण्ड भुजा बल वाले वज्रधर ने उसे शीघ्रमेव हरा दिया, इस तरह बलमद रूपी यम के आधीन हुआ उसकी मृत्यु हुई । बलमद को इस प्रकार का विशेष दोष कारक जानकर हे क्षपक मुनि ! आराधना में स्थिर रहे तुझे उसका आचरण नहीं करना चाहिए । बलमद नाम का यह चौथा मद स्थान कहा है । अब पाँचवाँ श्रुत के मद स्थान को भी अल्पमात्र कहते हैं ।

५. श्रुतमद द्वार :—निरन्तर विस्तार होने वाला महा मिथ्यात्व रूप आंधी वाला, प्रबल प्रभावाला, परदर्शन का रूप ज्योतिषचक्र के प्रचार वाला, परम प्रमाद से भरपूर अति दुर्विदग्ध विलासी मनुष्य रूपी उल्लू समान और दर्शन के लिए प्रयत्न करते अन्य जीव समूह की दृष्टि के विस्तार को नाश करते ऐसी महाकाली रात्री समान वर्तमान काल में मैं एक ही तीन जगत रूप आकाश तल में सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य हूँ । इस तरह हे धीर ! तुझे अल्प मात्र श्रुतज्ञान का मद नहीं करना चाहिए । और जिसको सूत्र, अर्थ और तदुभय सहित चौदह पूर्व का ज्ञान होता है उनको भी यदि परस्पर छट्ठाण आपत्ति अर्थात् वृद्धि हानि रूप तारतम्य सुना जाता है तो उसमें श्रुतमद किस प्रकार का ? उसमें और अधकालिक मुनि अथवा जिनकी मति अल्प है और श्रुत समृद्धि भी ऐसी विशिष्ट नहीं है उनको तो विशेषतः श्रुतमद कैसा हो सकता है क्योंकि वर्तमान काल में अंग प्रविष्ट, अन्तंग प्रविष्ट श्रुत को शुद्ध अभ्यास नहीं है, नियुक्तियों में भी ऐसा परिचय नहीं और भाष्य, चूर्णि तथा वृत्तियों में भी ऐसा परिचय नहीं है । सविज्ञ गीतार्थ और सत्क्रिया वाले पूर्व मुनियों रचित प्रकीर्णक—पयन्ना आदि में भी यदि ऐसा परिचय नहीं है तो श्रुतमद भी नहीं करना चाहिए । यदि सकल सूत्र और अर्थ में पारंगत होने पर भी श्रुतमद करना योग्य नहीं है तो उसमें पारंगत न हो फिर भी मद करना वह क्या योग्य गिना जाए ? क्योंकि कहा है कि सर्वज्ञ के ज्ञान से लेकर जीवों की बुद्धि,

वैभव तार तम्य योग वाला—अल्प, अल्पतर आदि न्यूनता वाला है, इसलिए 'मैं पण्डित हूँ' ऐसा इस जगत में कौन अभिमान करे ! दुःशिक्षित अज्ञ कवियों की रचना, शास्त्र विरुद्ध प्रकरण अथवा कथा प्रबन्धों को दृढ़तापूर्वक पढ़ना फिर भी उसका मद करने का भी अवकाश ही नहीं है। केवल सामायिक, आवश्यक का श्रुतज्ञान भी मद रहित निर्मल केवल ज्ञान को प्राप्त करवाता है और श्रुत समुद्र के पारगामी भी मद से दीर्घकाल तक अनन्त काया में रहता है। इसलिए सर्व प्रकार से मद को नाश करने वाला श्रुत को प्राप्त करके भी उसका अल्प भी मद नहीं करना और अनशन वाला तुझे तो विशेषतया नहीं करना चाहिए। क्या तूने सुना नहीं कि श्रुत के भण्डार भी स्थूल भद्र मुनि को श्रुतमद के दोष से गुरु ने अन्तिम चार पूर्व को अध्ययन नहीं करवाया था ? वह इस प्रकार—

आर्य स्थूल भद्र सूरि की कथा

पाटिल पुत्र नगर में प्रसिद्ध यश वाला नन्द राजा का सारे निष्पाप कार्यों को करने वाला शकडाल मन्त्रीश्वर था और उसका प्रथम पुत्र स्थूल भद्र दूसरा श्रीयक तथा रूपवती यक्षा आदि सात पुत्री थीं। उसमें सेना, वेणा और रेणा ये तीनों छोटी पुत्रियाँ अनुक्रम से, एक दो, और तीन बार सुनते ही नया श्रुत याद कर सकती थीं। श्री जिन चरण की पूजा वन्दन शास्त्रार्थ का चिन्तन आदि धर्म को करते उनका दिन अच्छी तरह से व्यतीत होता था। वहीं रहने वाला कवि वररुचि ब्राह्मण प्रतिदिन एक सौ आठ काव्यों से राजा की स्तुति करता था उसकी काव्य शक्ति से प्रसन्न होकर राजा उसे दान देने की इच्छा करता था, परन्तु शकडाल मन्त्री उसकी प्रशंसा नहीं करने से नहीं देता था। इससे वररुचि ने पुष्प आदि भेंट देकर शकडाल की पत्नी की सेवा करने लगा। तब उसने उससे कहा कि—मेरा कोई कार्य हो तो कहो ! उसने कहा—कि आप के मन्त्री को इस तरह समझाओ कि जिससे राजा के सामने मेरे काव्य की प्रशंसा करे। उसने वह स्वीकार किया और मन्त्री को कहा कि—वररुचि की प्रशंसा क्यों नहीं करते ? मन्त्री ने कहा कि—मिथ्या दृष्टि की प्रशंसा कैसे करूँ ? बार-बार पत्नी के कहने पर उसका वचन मन्त्री ने स्वीकार किया और राजा के सामने 'काव्य सुन्दर है' इस तरह उसकी प्रशंसा की। इससे राजा ने उसे एक सौ आठ सोना मोहर दीं और प्रतिदिन उसकी उतनी आजीविका प्रारम्भ हो गई। इस तरह धन का क्षय होते देखकर मन्त्री ने कहा कि—देव ! इसे आप दान क्यों देते हो ? राजा ने कहा कि तूने इसकी

प्रशंसा की थी इसलिए देता हूँ। मन्त्री ने कहा—मैंने तो 'लोगों के काव्यों को वह अखण्ड बोल सकता है' ऐसा मानकर उसकी प्रशंसा की थी इससे राजा ने पूछा कि—ऐसा किस तरह? मन्त्री ने कहा—क्योंकि मेरी पुत्री भी इस तरह बोल सकती है। फिर योग्य समय पर वररूचि स्तुति करने आया, तब मन्त्री ने अपनी पुत्री को परदे में रखा उसका प्रथम बार बोलते सुनकर सेना पुत्री ने याद कर लिया इससे राजा के सामने अखण्ड बोल दिया, इससे दूसरी बार सुनकर वेणापुत्री को याद हो गया और उसको बोलते तीसरी बार सुनकर रेणापुत्री को याद हो गया और वह भी लम्बे काल पूर्व में याद किया हो और स्वयं मेव रचना की हो वैसे राजा के सामने बोली इससे क्रोधित हुए राजा ने वररूचि का राज्य सभा में आना बन्द कर दिया।

इसके बाद वररूचि गंगा में यंत्र के प्रयोग से रात्री के समय उसमें रख आता था और प्रभात समय में गंगा की स्तुति करके, पैर से यंत्र को दबाने से उसमें से सोना मोहर उछलते हुए को ग्रहण करता था और लोगों के आगे कहता था कि—स्तुति से प्रसन्न हुई गंगा मैया मुझे यह देती है। इस तरह बात फैलते यह बात राजा ने सुनी और उस मन्त्री को कहा। मन्त्री ने कहा कि—'हे देव ! यदि मेरे समक्ष गंगा दे तो गंगा ने दिया है ऐसा मानूंगा। अतः प्रभात में गंगा ही जायेंगे।' राजा ने स्वीकार किया। फिर मन्त्री ने सायंकाल में अपना विश्वामु आदमी को आदेश दिया कि—हे भद्र ! गंगा में जाकर छुपकर रहना और वररूचि जल में जो कुछ रखे वह मुझे लाकर देना। फिर उस पुरुष ने जाकर वहाँ से सोना मोहर की गठरी लाकर दी। प्रभात में नन्दराजा और मन्त्री वहाँ गये और पानी में डूबते उसे गंगा की स्तुति करते देखा, स्तुति करने के बाद उसने उस यन्त्र को हाथ पैर से चिरकाल दबाया, फिर भी जब गंगा ने कुछ भी नहीं दिया, तब वररूचि अत्यन्त दुःखी होने लगा। उस समय मन्त्री शकडाल ने सोना मोहर की गठरी राजा को प्रगट कर दिखाई और राजा ने उसकी हांसी की, इससे वररूचि मन्त्री के ऊपर क्रोधित हुआ, और उसका छिद्र देखने लगा।

एक दिन श्रीयक के विवाह करने की इच्छा वाला शकडाल राजा को भेंट करने योग्य विविध शस्त्रों को गुप्त रूप में तैयार करवा रहा था। यह बात उपचरित्र रूप केवल बाह्य वृत्ति से सेवा करने वाली मन्त्री की दासी ने वररूचि को कही। इस छिद्र का निमित्त मिलते ही, उसने छोटे-छोटे बच्चों को लड्डू देकर तीन मार्ग, चार मार्ग पर मुख्य राज मार्ग पर इस तरह

बोलते सिखाया कि—“शकडाल जो करेगा, उसे लोग नहीं जानते हैं नन्द राजा को मरवा कर श्रीयक को राज्य ऊपर स्थापन करेगा।” बालकों के मुख से बोलते उस राजा ने सुना और गुप्त पुरुष द्वारा मन्त्री के घर की तलाश करवायी, वहाँ गुप्त रूप में अनेक शस्त्रादि तैयार होते देखकर उन पुरुषों ने राजा को वह सारी स्थिति कही। इससे राजा को गुस्सा चढ़ गया। जब मन्त्री सेवा के लिये आया और चरणों में नमस्कार किया तब राजा ने मुख विमुख करके कहा। इससे ‘राजा गुस्से हुआ है’ ऐसा जानकर शकडाल ने घर जाकर श्रीयक को कहा कि हे पुत्र ! यदि मैं नहीं मरूँ तो राजा सर्व को मार देगा, अतः हे वत्स ! राजा के चरण में नमस्कार करते मुझे तू मार देना, यह सुनते ही श्रीयक ने कान बन्द कर लिए। तब शकडाल ने कहा कि पहले मैं तालपुर विष को खाकर स्वयं मरते हुए मुझे राजा के चरणों में नमन करते समय तू निःशंक बनकर मार देना। फिर सर्व विनाश की आशंका युक्त मन वाला श्रीयक ने वैसा करना स्वीकार किया और उसी तरह राजा के चरणों में नमस्कार करते शकडाल का मस्तक काट दिया। हा ! हा ! ‘अहो अकार्य किया’ ऐसा बोलते नन्द राजा खड़ा हो गया। इससे श्रीयक ने कहा कि राजन् ! आप व्याकुल क्यों हो रहे हो ? क्योंकि जो आपका विरोधी हो, वह यदि पिता हो तो भी मुझे उससे कोई काम नहीं है। फिर राजा ने कहा कि—अब तू मन्त्री पद को स्वीकार कर। तब उसने कहा कि—स्थूल भद्र नामक मेरा बड़ा भाई है उसे वेश्या के घर रहते बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं। राजा ने उसे बुलाया और कहा कि—मन्त्री पद को स्वीकार करो। उसने कहा कि—मैं इस विषय पर विचार करूँगा, तब राजा ने नजदीक में रहे अशोक वन में उसे भेजा, तब वह विचार करने लगा कि परकार्यों में व्याकुल मनुष्यों का भोग कैसा और सुख कैसा ? और यदि सुख मिले तो भी अवश्य नरक में जाना पड़ता है इस कारण से इस सुख से क्या लाभ है ? ऐसा विचार कर वैराग्य को प्राप्त किया संसार से विरक्त चित्त वाला उसने पंचमुष्टिक लोच करके स्वयं मुनि वेश को धारण करके राजा के पास जाकर कहा कि—हे राजन् ! मैंने इस प्रकार विचार किया है।

फिर राजा के द्वारा उत्साहित किये वह महात्मा राज मन्दिर से निकला और वेश्या के घर जायेगा ऐसा मानकर राजा उसे देखता रहा। तब मृत कलेवर की दुर्गन्ध वाले मार्ग में भी देखे बिना जाते देखकर राजा ने जाना कि—निश्चय यह काम भोग से विरागी हुआ है। फिर श्रीयक को मन्त्री पद पर स्थापन किया और स्थूल भद्र आर्य श्री संभूति विजय के पास दीक्षित हुए

और विविध प्रकार के अति उग्र तप को करने लगे। इस समय का वररूचि का नाश आदि शेष वर्णन अन्य सूत्र में से जान लेना। आर्य स्थूल भद्र पढ़ने के लिए आर्य भद्र बाहु स्वामी के पास गया और वह न्यून दस पूर्व को पढ़े, फिर विद्या गुरु श्री भद्र बाहु स्वामी के साथ विहार करते पाटलीपुत्र नगर पधारे। वहाँ दीक्षित हुई यक्षा आदि सात बहनें भाई को वन्दन करने के लिए आईं। आचार्य को वन्दन करके उन्होंने पूछा कि—हमारा बड़ा भाई कहाँ है? आचार्य श्री ने कहा कि—सूत्र का परावर्तन करने के लिये देव कुलिका में बैठे हैं। अतः वे वहाँ गई और उनको आते देखकर अपनी ज्ञान लक्ष्मी को दिखाने के लिए स्थूल भद्र मुनि ने केसरी सिंह का रूप बनाया। उसे देखकर भयभीत होकर भागकर साध्वी ने आचार्य श्री से निवेदन किया कि—भगवन्त! सिंह ने बड़े भाई का भक्षण किया है। श्रुत के उपयोग वाले आचार्य श्री ने कहा कि—वह सिंह नहीं है, स्थूल भद्र है, अब जाओ। इससे वे गई और स्थूल भद्र मुनि को वन्दन किया। और एक क्षण खड़ी होकर विहार संयम आदि की बातें पूछकर स्व स्थान पर गई। फिर दूसरे दिन सूत्र का नया अध्ययन करने के लिए स्थूल भद्र मुनि आर्य भद्र बाहु स्वामी के पास आए, तब उन्होंने 'तू अयोग्य है' ऐसा कहकर पढ़ाने का निषेध किया। इससे उस स्थूल भद्र ने सिंह रूप बनाने का अपना दोष जानकर सूरि जी को कहा कि—हे भगवन्त! पुनः ऐसा नहीं करूँगा, मेरे इस अपराध को क्षमा करो। और महाकष्ट से अति विनती करने पर सूरि जी ने पढ़ाने का स्वीकार किया और कहा कि—केवल अन्तिम चार पूर्वों का अध्ययन करवाऊँगा, उसे पढ़, परन्तु दूसरे को तूने पढ़ाना नहीं। इससे वह चार पूर्व उसके बाद विच्छेद हो गये। इसलिये अनर्थ कारक श्रुतमद करना वह उत्तम मुनियों के योग्य नहीं है। अतः हे क्षपक मुनि! तू उसे त्याग कर अनशन के कार्य में सम्यग् उद्यम कर। इस तरह पाँचवाँ श्रुतमद स्थान को कहा है। अब तप के मद को निषेध करने वाला छठा मद स्थान संक्षेप में कहता हूँ।

६. तपमद द्वार :—'मैं ही दुष्कर तपस्वी हूँ' इस तरह मद करते मूर्ख चिरकाल किया हुआ उग्र तप को भी निष्फल करता है। बाँस में से उत्पन्न हुई अग्नि के समान तप से उत्पन्न हुई मद अग्नि के समान शेष गुण रूपी वृक्षों के समूह अपने स्थान को ब्या नहीं जलाता? अर्थात् तपमद से गुणों को जला देता है, शेष सब अनुष्ठानों में तप को ही दुष्कर कहा है, उस तप को भी मद से मनुष्य गंवा देता है, वस्तुतः मोह की महिमा महान् है। और अज्ञान वृत्ति से कोई बदला लेने की इच्छा बिना, बल-वीर्य को अल्प भी छुपाए

बिना केवल निरपेक्ष वृत्ति से श्री जैनेश्वर भगवान आदि ने जो तप किया है वह तीन जगत में आश्चर्यकारी और अनुत्तर सुनकर कौन अनार्थ अपने अल्प-मात्र तप से मद करे ? अत्यन्त असाधारण बल बुद्धि से मनोहर पूर्व पुरुष तो दूर रहे, परन्तु इस प्रकार के श्रुत को नहीं जानने वाले और सामान्य रूप वाले जो दृढ़ प्रहारी मुनि थे उनकी भी तपस्या जानकर अल्प तप का मद कौन बुद्धिशाली करे ? नहीं करता । उसका प्रबन्ध इस प्रकार है :—

दृढ़ प्रहारी की कथा

एक महान् नगरी में न्यायवंत एक ब्राह्मण रहता था, उसका बुर्दान्त नामक पुत्र हमेशा अविनय को करता था । एक दिन संताप के कारण पिता ने उसे अपने घर से निकाल दिया और घूमते हुये वह किसी तरह चोरों के गाँव में पहुँच गया । वहाँ पल्लीपति ने उसे देखा और पुत्र बिना उसे पुत्र बुद्धि से रखा और तलवार, धनुष्य, शस्त्र आदि चलाने की कला सिखाई । वह अपनी बुद्धिरूप धन से उसमें अत्यन्त समर्थ बना और पल्लीपति तथा अन्य लोगों का प्राण से भी प्रिय बना । निर्दय कठोर प्रहार करने से हर्षित होते पल्लीपति ने उसका गुणवाचक दृढ़ प्रहारी नाम स्थापन किया । फिर छोड़ की राल और इन्द्र धनुष्य के समान सर्व पदार्थों का विनश्वर होने से तथाविध रोग के कारण पल्लीपति मर गया । उसका मृत कार्य करके लोगों ने दृढ़ प्रहारी को उचित मानकर पल्लीपति पद पर स्थापन किया और सभी ने नमस्कार किया । महा पराक्रमी वह अपने पल्ली के लोगों का पूर्व के समान पालन पोषण करता है और निर्भयता से गाँव, खान, नगर और श्रेष्ठ शहर को लूटता था । फिर किसी दिन गाँव को लूटते वह कुशस्थल में गये । वहाँ देव शर्मा नामक अति दरिद्र ब्राह्मण रहता था । उस दिन उसके सन्तानों ने खीर की प्रार्थना करने से अत्यन्त प्रयत्न से घर-घर से भीख मांग कर चावल सहित दूध पत्नी ने लाकर दिया । उसके बाद वह खीर तैयार हो रही थी तब देव पूजा आदि नित्य क्रिया करने के लिये वह ब्राह्मण नदी किनारे गया ।

उस समय चोर उसके घर में पहुँचे, वहाँ खीर तैयार हुई देखकर और भूख से पीड़ित एक चोर ने उसे ग्रहण की । उस खीर की चोरी होते देखकर 'हा ! हा ! लूट गये !' ऐसा बोलते बालकों ने दौड़े हुये जाकर वह देव शर्मा से कहा । इससे क्रोधित वश ललाट ऊँची चढ़ाकर विकराल भृकुटी से भयंकर मुख वाला प्रचण्ड तेजस्वी आँखों को बार-बार नचाते मस्तक के चोटी के

बाल बिखरे हुए अति वेग पूर्वक चलने से कटी प्रदेश का वस्त्र शिथिल हो गया, हाथ की अंगुलियों से पुनः स्वस्थ करते और ऊँट के बच्चे की पूँछ समान दाढ़ी मूँछ को स्पर्श करते वह देव शर्मा अरे पापी ! म्लेच्छ ! अब कहाँ जायेगा ? ऐसा बोलते वह द्वार के एक भाग को लेकर चोरोँ के साथ युद्ध करने लगा । तब गर्भ के महान् भार से आक्रान्त उसकी पत्नी युद्ध करते उसको रोकने लगी । फिर भी कुपित यम के समान प्रहार करते वह रुका नहीं । इससे उसके द्वारा अपने चोरोँ को मारते देखकर अत्यन्त गुस्से हुये दृढ़ प्रहारी ने तीक्ष्ण तलवार को खींच ब्राह्मण को और 'न मारो ! न मारो !' इस तरह बार-बार बोलती, हाथ से रोकती उन दोनों के बीच में पड़ी, ब्राह्मणी को भी काट दिया । फिर तलवार के आधार से दो भाग हुये तड़फते गर्भ को देखकर पश्चाताप प्रगट हुआ । फिर दृढ़ प्रहारी विचार करने लगा कि—हा ! हा ! दुःखद है, कि अहो ! मैंने ऐसा पाप किया है ? इस पाप से मैं किस तरह छुटकारा प्राप्त करूँगा ? इसके लिए क्या मैं तीर्थों में जाऊँ ? अथवा पर्वत पर जाकर वहाँ से गिरकर मर जाऊँ ? अथवा अग्नि में प्रवेश करूँ या क्या गंगा के पानी में डूब मरूँ । पाप की विशुद्धि के लिए अनेक विचारों से उद्विग्न मन वाले उसने एकान्त में स्थिर धर्मध्यान में तत्पर मुनि को देखा । परम आदर-पूर्वक उनके चरण कमल को नमस्कार करके उसने कहा कि—हे भगवन्त ! मैं इस प्रकार का महाघोर पापी हूँ, मेरी विशुद्धि के लिये कोई उपाय बतलाओ ? मुनि ने उस सर्व पापरूपी पर्वत को चकनाचूर करने में वज्र समान और शिव सुखकारक श्रमण (साधु) धर्म कहा । कर्म के क्षयोपशम से उसे वह अमृत के समान अति रुचिकर हुआ और इससे संवेग को प्राप्त कर वह उस गुरु के पास दीक्षित हुआ । फिर जिस दिन उस दुश्चरित्र का मुझे स्मरण होगा उस दिन भोजन नहीं करूँगा । ऐसा अभिग्रह स्वीकार कर वह उसी गाँव में रहा ।

वहाँ लोग 'वह इस प्रकार के महापापी को करने वाला है' इस प्रकार बोलते उसकी निन्दा करते थे और मार्ग में जाते आते उसे मारते थे । वह सारा समतापूर्वक सहन करता था, बार-बार अपनी आत्मा की निन्दा करता था और आहार नहीं लेता, धर्म ध्यान में स्थिर रहता था । इस तरह उस धीर पुरुष ने कभी भी एक बार भी भोजन नहीं किया । इस प्रकार सर्व कर्म रज को नाश करके केवल ज्ञान प्राप्त किया । और देव, दानव तथा बाण व्यंतरों ने चन्द्र के समान निर्मल गुणों की स्तुति की, क्रमशः अगणित सुख के प्रमाण वाला निर्वाण पद को प्राप्त किया । इसे सम्यग् रूप सुनकर हे क्षपक

मुनि ! महान् उग्र तप को करते हुये भी मोक्ष के अभिलाषा वाला तुझे अल्प भी तपमद को नहीं करना चाहिए । यह छठा मद स्थान अल्पमात्र दृष्टान्त के साथ कहा है । अब सातवाँ लाभ सम्बन्धी मद स्थान कहता हूँ ।

७. लाभमद द्वार :— मनुष्यों को लाभान्तराय नामक कर्म के क्षयोपशम से लाभ होने का उदय होता है और पुनः उससे अलाभ होता है, इसलिए विवेकी जन को लाभ होने पर 'मैं भी लब्धिवन्त हूँ' ऐसा अपना उत्कर्ष और लाभ नहीं होने पर विषाद नहीं करना चाहिए । जो इस जन्म में लाभ प्राप्त करने वाला होता है वही कर्मवश अन्य जन्म में भिक्षा की प्राप्ति भी नहीं होती है । इस विषय पर ढ़ढ़ण कुमार मुनि का दृष्टान्त भूत है । वह इस प्रकार :—

श्री ढ़ढ़ण कुमार मुनि का दृष्टान्त

मगध देश में धन्यपुर नामक श्रेष्ठ गाँव था, वहाँ कृशी पारासर नाम से धनाढ्य ब्राह्मण रहता था । पूर्वोपाजित पुण्य के आधीन वह धन के लिए खेती आदि जो कोई भी उपाय करता था उसे उसको लाभ के लिए होता था । और श्रेष्ठ अलंकार, दिव्य वस्त्र तथा पुष्पों से मनोहर शरीर वाला वह 'लक्ष्मी का यह फल है' ऐसा मानता स्वजनों के साथ विलास करता था । मगध राजा के आदेश से गाँव के पुरुषों द्वारा पाँच सौ हल से वह हमेशा बोता था । फिर राजा के खेत से निवृत्त हुए किसान भोजन के समय होते भूख से पीड़ित और बेल थक जाते थे फिर भी बलात्कार निर्दय युक्त उसी समय अपने खेत में उनके द्वारा एक-एक खेत में कार्य करवाता था । और उस निमित्त से उसने गाढ़ अन्तराय कर्म बन्धन किया । फिर वह मरकर नरक भूमि में नरक का जीव बना । वहाँ से निकल कर विविध भेद वाली तिर्यच योनियों में उत्पन्न हुआ और किसी तरह पुण्य उपाजन होने से देव और मनुष्य में भी जन्म लिया । फिर समुद्र के संग से अथवा पवित्र लावण्य को प्राप्त करने वाली मनोहर शरीर वाली, स्त्रियों से शोभित, विशिष्ट सौराष्ट्र देश में धन धान्य से समृद्धशाली, प्रत्यक्ष देव लोक के समान और स्वभाव से गुण रागी, सम्यग् दान देने से शूरवीर धर्मिष्ठ लोभों वाली द्वारिका नगरी में उस केशी अश्व मुख दैत्य और कंस के अहंकार को चकनाचूर करने वाला भरत के तीन खण्ड के राजाओं के मस्तक मणि की कान्ति से शोभित चरण वाले, यादवों के कुलरूपी आकाश में सूर्य समान श्रीकृष्ण वासुदेव का ढ़ढ़ण कुमार नाम से पुत्र रूप जन्म लिया । सर्व कलाओं का अभ्यास कर क्रमशः यौवन वय प्राप्त किया । और अनेक युवती स्त्रियों के साथ विवाह कर दोगुंदाक देव के समान विलास करने लगा ।

किसी दिन देहर्ष भी कान्ति से स दिशाओं में कमल के समूह को फैलाते हो वैसे शीतलता से सभी प्राणीवर्ग के सन्ताप को शान्त करते तथा साक्षात् शरीर घाटी शीतल हो इस तरह अठारह हजार उत्तम साधुओं से युक्त और धर्म करने वाले शासन प्रभावक वर्ग के हितस्वी श्री अरिष्ट नेमि भगवन्त ग्रामानुग्राम विचरते हुए द्वारका नगरी में पधारे और रैवत नामक उद्यान में रहे। इसके बाद भगवान के पधारने का समाचर उद्यान पाल नमस्कार पूर्वक श्रीकृष्ण महाराज को दिया। फिर उन्होंने उचित तुष्टि जनक दान देकर यादवों के समूह के साथ श्रीकृष्ण श्री नेमिनाथ भगवान को वंदनार्थ निकले। हर्ष के परम प्रकर्ष से विकसित नेत्र वाले वे श्री जिनेश्वर और गणधर आदि मुनियों को नमस्कार कर अपने योग्य स्थान पर बैठे। तीन जगत के नाथ प्रभु ने देव, मनुष्य और तिर्यचों को समझ में आए ऐसी सर्व साधारण वाणी से धर्म देशना देना प्रारम्भ किया और अनेक प्राणियों को प्रतिबोध किया। तथाविध अत्यन्त कुशल (पुण्य) कर्म के समूह से भावी में जिसका कल्याण नजदीक है उसे ढ़ण कुमार ने भी धर्म कथा सुनकर प्रतिबोध प्राप्त किया। इससे अपकारी विकारी दुष्ट रूप दिखने वाले मित्त के समान अथवा सर्प से भयंकर घर के समान, विषय सुख को त्याग कर उस धन्यात्मा ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की। संसार की असारता का चिन्तन करते वह सदा श्रुतज्ञान का अभ्यास करते हैं और विविध तपस्या करते सर्वज्ञ परमात्मा के साथ विचरते हैं। इस तरह विचरते ढ़ण कुमार के पूर्व जन्म में जो कर्म बन्धन किया था वह अनिष्ट फलदायक वह अन्तराय कर्म उदय में आया। इससे उस कर्म के दोष से वह जिस साधु के साथ भिक्षा के लिए जाता था उसकी भी लब्धी को खतम करता था अहो! कर्म कैसे भयंकर हैं? एक समय जब साधुओं ने उसे भिक्षा नहीं मिलने की बात कही, तब प्रभु ने मूल से लेकर उस कर्म बन्धन का वृत्तान्त कहा। यह सुनकर बुद्धिमान उस ढ़ण कुमार मुनि ने प्रभु के पास अभिग्रह किया कि—अब से दूसरे की लब्धि से मिला हुआ आहार मैं कदापि ग्रहण नहीं करूँगा।

इस तरह रणभूमि में प्रवेश करते समय सुभट के समान विषाद रहित प्रसन्न चित्तवाला दुष्कर्म रूपी शत्रुओं के दुःख को अल्प भी नहीं मानता, निर्वाण रूपी विजय लक्ष्मी को स्वीकार करके विविध प्रकार का उद्यम करते मानो अमृत रूपी श्रेष्ठ भोजन करते तृप्त बना हो इस तरह दिन व्यतीत करता था फिर एक दिन कृष्ण ने भगवान से पूछा कि—हे भगवन्त! इन साधुओं

में दुष्करकारक कौन है ? उसे फरमाईये । प्रभु ने कहा कि—निश्चय ये सभी साधु दुष्करकारक हैं, फिर भी इसमें दुष्करकारी ढुंढण कुमार मुनि है । क्योंकि धीर हृदय वाला, दुःसह उग्र अलाभ परीषह को सम्यग् रूप सहन करते उसका बहुत काल हो गया है । यह सुनकर वह धन्य है, और कृत पुण्य है कि जिसकी इस तरह जगत के एक प्रभु ने स्वयं स्तुति की है ।' ऐसा विचार करते कृष्ण जैसे आया था वैसे वापिस गया और नगरी में प्रवेश करते उसने भाग्य योग से उच्च नीच घरों में भिक्षार्थ घूमते-घूमते उस महात्मा को देखा । इससे दूर से ही हाथी ऊपर से उतर कर परम भक्ति पूर्वक पृथ्वी तल को स्पर्श करते मस्तक द्वारा श्रीकृष्ण ने उनको नमस्कार किया । कृष्ण वासुदेव द्वारा वंदन करते उस मुनि को देखकर विस्मित मन वाले घर में रहे एक धनाढ्य सेठ ने विचार किया कि—यह महात्मा धन्य है कि जिसको इस तरह देवों के भी वंदनीय वासुदेव सविशेषतया भक्ति पूर्वक वंदन करता है । फिर कृष्ण महाराज वंदन कर जब वापिस चले तब क्रमशः भिक्षार्थ घूमते ढुंढण कुमार उस धनाढ्य सेठ के घर पहुँचे । इससे उसने परम भक्ति पूर्वक सिंह केसरी लड्डू के थाल में से उनको दिये और वह मुनि प्रभु के पास गया, नमस्कार करके उस मुनि ने कहा कि—हे भगवन्त ! क्या मेरा अन्तराय कर्म आज खतम हो गया है ? प्रभु ने कहा कि—अभी भी उसका अंश विद्यमान है । परमार्थ से यह लब्धि कृष्ण की है, क्योंकि उसने तुमको नमस्कार करते देखकर धनाढ्य ने यह लड्डू तुझे दिये हैं । प्रभु ने जब ऐसा कहा तब अन्य की लब्धि होने से वह महात्मा शुद्ध भूमि को देखकर उन लड्डू को सम्यग विधि पूर्वक परठने लगे । उसे परठते और कर्मों का कटु विपाकों का चिंतन करते उन्हें शुद्ध शुक्ल ध्यान के प्रभाव से केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ । फिर केवली पर्याय को पाल कर और भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर, जिसके लिए दीक्षा ली थी वह मोक्षपद प्राप्त किया । इस तरह लाभालाभ कर्माधीन जानकर—हे धीर ! लाभ की प्राप्ति वाले भी तुझे अत्यन्त प्राप्ति होने पर उसका मद नहीं करना चाहिए । इस तरह सातवाँ लाभमद का स्थान कहा है । अब ऐश्वर्य मद को रोकने में समर्थ आठवाँ मद स्थान को संक्षेप से कहता हूँ ।

८. ऐश्वर्यमद द्वार :—गणिम, धरिम, मेय और पारिचेद्य इस तरह चार प्रकार का धन मुझे बहुत है, और भंडार क्षेत्र तथा वस्तु मकान मुझे अनेक प्रकार का है । चाँदी, सोने के ढेर हैं, आज्ञा के पालन करने वाले अनेक नौकर हैं, दास दासीजन भी हैं, तथा रथ, घोड़े और श्रेष्ठ हाथी भी हैं । विविध प्रकार की गाय हैं, भैंस, ऊँट आदि हैं, बहुत मंडार हैं, गाँव, नगर और

खीन आदि हैं, तथा स्त्री, पुत्रादि परिवार अनुरागी हैं। इस तरह मेरा ऐश्वर्य सर्वत्र प्रशस्त पदार्थों के विस्तार से स्थिर है, इससे मानता हूँ कि मैं ही इस लोक में साक्षात् वह कुबेर यक्ष हूँ। इस तरह ऐश्वर्य के आश्रित भी मद सर्वथा नहीं करना चाहिये। क्योंकि संसार में मिले हुए सभी पदार्थ नाशवान हैं। राजा, अग्नि, चोर, हिस्सेदार और अति कुपित देव आदि से धन का क्षय करने वाले कारण सदा पास होते हैं। इस लिए उसका मद करना योग्य नहीं है। तथा दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा के व्यापारियों की शास्त्र प्रसिद्ध कथा को सुनकर धन्य पुरुष ऐश्वर्य में अल्पमात्र भी मद नहीं करते हैं। वह कथा इस प्रकार है :—

दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा के व्यापारियों की कथा

जगत प्रभु श्री सुपाश्वनाथ के मणि के स्तुभ से शोभित अति प्रशस्त तीर्थभूत और देवनगरी के समान मनोहर मथुरा नाम की नगरी थी। वहाँ कुबेर तुल्य धन का विशाल समूह वाला लोगों में प्रसिद्ध परम विलासी धनसार नाम का बड़ा धनिक सेठ रहता था। एक समय तथाविध कार्यवश अनेक पुरुषों से युक्त वह दक्षिण मथुरा में गया और वहाँ उसका सत्कार सन्मान आदि करने से उसके समान वैभव से शोभित धन मित्र नामक व्यापारी के साथ स्नेह युक्त शुद्ध मैत्री हो गई। एक दिन सुख से बैठे और प्रसन्न चित्त वाले उनमें परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप हुआ कि—पृथ्वी के ऊपर घूमते, किसको, किसकी बात नहीं करते? अथवा स्नेह युक्त मैत्री भाव को कौन नहीं स्वीकार करता? परन्तु सम्बन्ध बिना बहुत दिन जाने के बाद रेती की बाँधी पाल के समान टूट जाती है। वह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक मूल भूत और दूसरा उत्तर भूत। उसमें पिता, माता, भाई का सम्बन्ध मूल भूत होता है, वह हमें आज नहीं है, पुनः उत्तर सम्बन्ध विवाह करने से होता है, वह यदि हमारे यहाँ पुत्री अथवा पुत्र जन्म हुआ हो तो करने योग्य है। ऐसा करने से वज्र से जुड़ी हुई हो ऐसी मैत्री जावज्जीव तक अखण्ड रहती है। यह कथन योग्य होने से कुविकल्पी को छोड़कर दोनों ने उसे स्वीकार किया। फिर धन मित्र को पुत्र का जन्म हुआ और धनसार सेठ की पुत्री ने जन्म लिया। उन्होंने पूर्व में स्वीकार करने के अनुसार कबूल कर बालक होने पर भी उनकी परस्पर सगाई की। बाद में धनसार अपना कार्य पूर्णकर अपने नगर को गया, और धन मित्र अपने इष्ट कार्यों में प्रवृत्ति करने लगा।

किसी समय जीवन का शरद ऋतु के बादल समान चंचल होने से वह

घनमित्र मर गया, और उसके स्थान पर उसका पुत्र अधिकारी हुआ। वह एक दिन जब स्नान करने के लिए पहरे पर बैठा था, तब चारों दिशा में सुवर्ण के चार उत्तम कलश स्थापन किये, उसके पीछे दो चाँदी सुवर्ण आदि मिश्र वर्ण वाले रखे, उसके पीछे ताम्बे के और उसके पीछे मिट्टी के कलश स्थापन किये। उन कलशों से महान सामग्री द्वारा जब स्नान करता है तब ऐश्वर्य इन्द्र धनुष्य के समान चंचलतापूर्वक पूर्व दिशा के सुवर्ण कलश विद्या-धर के समान आकाश मार्ग से चले गये। इसी तरह सभी कलश आकाश मार्ग में उड़ गये। उसके बाद स्नान से उठा तो उसका विविध मणि सुवर्ण से प्रकाशमान स्नान पट्टरा भी चला गया। इस तरह व्यक्तिकर को देखकर अत्यन्त शोक प्रगट हुआ, उसने संगीत के लिए आये हुए नाटककार मनुष्यों को विदा किया। फिर जब भोजन का समय हुआ, तब नौकरों ने भोजन तैयार किया, और वह देव पूजादि कार्य करके भोजन करने बैठा। नौकरों ने उसके आगे अत्यन्त जातिवन्त सुवर्ण तथा चाँदी के कलायुक्त कटोरी सहित चन्द्र समान उज्ज्वल चाँदी का थाल रखा, और भोजन करते एक के बाद एक बर्तन उसी तरह उड़ने लगे इस तरह उड़ते आखिर मूल थाल भी उड़ने लगा, इससे विस्मय होते उसको उड़ते उसने हाथ से पकड़ा और जितना भाग पकड़ा था उतना भाग हाथ में रह गया और शेष सारा उड़ गया। उसके बाद भंडार को देखा तो उसका भी नाश हो गया देखा, जमीन है रखा हुआ निधान भी खतम हो गया और जो दूसरे को ब्याज से दिया था वह भी नहीं मिला अपने हाथ से रखा हुआ भी आभूषणों का समूह भी नहीं मिला, तथा आज तक संभाल कर रखे दास दासी भी शीघ्र निकल गये। अनेक बार उपकार किया था वह समग्र स्वजन वर्ग अत्यन्त अपरिचित हो इस तरह किसी कार्य में सहायता नहीं करते। इस प्रकार वह सारा गंधर्व नगर के समान अथवा स्वप्न दर्शन समान अनित्य मानकर शोकातुर हृदय वाला वह विचार करता है—

मंदभागी में शिरोमणी मेरे जीवन को धिक्कार है कि नये जन्म के समान जिसका इस तरह एक ही दिन में जीवन बदल गया। सत्पुरुष सैंकड़ों बार नाश हुई सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करते हैं और अरे ! मेरे स्रष्टा कायर पुरुष सम्पत्ति होने पर गँवा देता है। मैं मानता हूँ कि पूर्व जन्म में निश्चय मैंने कोई भी पुण्य नहीं किया, इसलिए ही आज इस विषम अवस्था का विपाक आया है। इसलिए वर्त्तमान में भी पुण्य प्राप्ति के लिये मैं प्रवृत्ति करूँ, अफ-सोस करने से क्या लाभ है ? ऐसा सोचकर वह आचार्य श्री धर्मघोष सूरि के

पास दीक्षित हुआ। संवेग से युक्त बुद्धिमान और विनय में तत्पर उसने धर्म की प्रवर श्रद्धा से सूत्र और अर्थ से ग्यारह अंगों का अभ्यास किया। परन्तु भविष्य में कभी किस तरह विहार करते पूर्व के थाल को देखूंगा, इस तरह जानने की इच्छा से पूर्व में सम्भाल कर थाल के टुकड़े रखे थे, उसे नहीं छोड़ता था। अनियत विहार की मर्यादा से विचरते वह किसी समय उत्तरमथुरा नगरी में गया और भिक्षार्थ घूमते किसी दिन वह धनसार सेठ के सुन्दर मकान में पहुँचा और उसी समय स्नान करके सेठ भोजन के लिये आया, उसके आगे वही चाँदी का थाल रखा और नवयौवन से मनोहर उसकी पुत्री भी पंखा लेकर आगे खड़ी थी। साधु भी जब टकटकी दृष्टि से उस दूटे थाल को देखने लगा, तब सेठ भिक्षा दे रहा था तो भी वह देखता नहीं, इससे सेठ ने कहा कि—हे भगवन्त ! मेरी पुत्री को क्यों देखते हो ? मुनि ने कहा कि—भद्र ! मुझे आपकी पुत्री से कोई प्रयोजन नहीं है ? किन्तु यह थाल तुझे कहाँ से मिला है, उसे कह ? सेठ ने कहा कि—भगवन्त ! दादा परदादा की परम्परा से आया है। साधु ने कहा कि—सत्य बोलो ! तब सेठ ने कहा—भगवन्त ! मुझे स्नान करते यह सारी स्नान की सामग्री आकर मिली है और भोजन करते यह भोजन के बर्तन आदि साधन मिले हैं तथा अनेक निधानों द्वारा भण्डार भी पूर्ण भर गया है। मुनि ने कहा कि—यह सारा मेरा था। इससे सेठ ने कहा कि—ऐसा कैसे हो सकता है ?

तब मुनि ने विश्वास करवाने के लिए वहाँ से थाल मँगाकर पूर्व काल में संग्रह कर रखा हुआ उस थाल के टुकड़े को दिया और उसे वहाँ लगाया, फिर तत्त्व के समान तत्स्वरूप हो इस तरह वह टुकड़ा शीघ्र अपने स्थान पर थाल में जुड़ गया और मुनि ने अपना गाँव, पिता का नाम, वैभव का नाश आदि सर्व बातें कहीं। इससे यह मेरा जमाई है। ऐसा जानकर हृदय में महान् शोक फैल गया, अश्रु जलधारा बहने लगी, सेठ साधु को आलिगन कर अत्यन्त रोने लगा। विस्मित मन वाले परिवार को महामुसीबत से रोते बन्द करवाया। फिर वह अत्यन्त राग से, मनोहर वाणी से साधु को इस प्रकार कहने लगा—तेरा सारा धन समूह उसी अवस्था में विद्यमान है और पूर्व में जन्मी हुई यह मेरी पुत्री भी तेरे आधीन है। यह सारा नौकर वर्ग तेरी आज्ञानुसार वर्तन करने वाला है, इसलिए दीक्षा छोड़कर अपने घर के समान स्वेच्छापूर्वक विलास कर। मुनि ने कहा कि—प्रथम पुरुष काम भोग को छोड़ता है अथवा तो पुण्य का नाश होते वह विषय पहले पुरुष को छोड़ता है। इस तरह जो छोड़कर चला जाता है, उन विषयों को स्वीकार करना वह मानी पुरुषों को

योग्य नहीं है। इसलिए शरद ऋतु के बादल समान नाश होने वाले विषयों से मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सुनकर सेठ को संवेग उत्पन्न हुआ और विचार किया कि—यह पापी विषय मुझे भी अवश्य छोड़ देंगे, अतः अवश्य नश्वर स्वभाव वाले परिणाम से कटु दुःखदायी दुर्गति का कारणभूत, राजा, चोर आदि को लुटाने योग्य, हृदय में खेद कराने वाला, मुश्किल से रक्षण करने योग्य, दुःखदायी, और सर्व अवस्थाओं में तीव्र मूढ़ता प्रगट कराने वाले इन विषयों से क्या लाभ होता है? ऐसा चिन्तन कर उस सेठ ने सर्व परिग्रह छोड़कर सद्गुरु के पास उत्तम मुनि दीक्षा को स्वीकार की। कर्मवश तथा-विध विशिष्ट वैभव होने पर भी इस तरह ऐश्वर्य को नाशवान समझकर कौन बुद्धिशाली उसका मद करे?

तथा इस प्रकार आज्ञाधीन मेरे शिष्य, मेरी शिष्याएँ और मेरे संघ की सर्व पर्वदा और स्व-पर शास्त्रों के महान् अर्थ युक्त मेरी पुस्तकों का विस्तार, मेरे वस्त्र पात्रादि अनेक हैं तथा मैं ही नगर के लोगों में ज्ञानी—प्रसिद्ध हूँ इत्यादि साधु को भी ऐश्वर्य का मद अति अनिष्ट फलदायक है। इस तरह प्राणियों की सद्गति की प्राप्ति को रोकने वाला, माढ़ अज्ञान रूपी अन्धकार फैलाने वाला तथा विकार से बहुत दुःखदायी, ये आठ प्रकार के मद तुझे नहीं करना चाहिए। अथवा तपमद और ऐश्वर्य मद इन दो के बदले बुद्धि-बल और प्रियता मद भी कहने का है उसका स्वरूप इस प्रकार जानना। इसमें बुद्धि मद अर्थात् शास्त्र को ग्रहण करना, दूसरे को पढ़ाना, नयी-नयी कृतियाँ—शास्त्र रचना, अर्थ का विचार करना और उसका निर्णय करना इत्यादि अनन्त पर्याय की अन्यान्य जीवों की अपेक्षा से बुद्धि वाला, बुद्धि के विकल्पों में जो पुरुषों में सिंह समान हो गये हैं उन पूर्व के ज्ञानियों का अतिशय वाला विज्ञानादि अनन्त गुणों को सुनकर आज के पुरुष अपनी बुद्धि का मद किस तरह करे? अर्थात् पूर्व के ज्ञानियों की अपेक्षा से वर्तमान काल के जीवों की बुद्धि अति अल्प होने से उसका मद किस तरह कर सकता है? दूसरा लोक प्रियता का मद करना योग्य नहीं है, क्योंकि कुत्ते के समान सैंकड़ों मीठे चाटु वचनों से स्वयं दूसरे मनुष्यों का प्रिय बनता है, फिर भी खेद की बात है कि वह रंक बचपन का गर्व करता है। तथा उस गर्व से ही वह मानता है कि—मैं एक ही इनका प्रिय हूँ और इसके घर में सर्व कार्यों में मैं ही कर्त्ता, धरता हूँ। परन्तु वह मूढ़ यह नहीं जानता कि पूर्व में किये अति उत्तम पुण्यों से पुण्य के भण्डार बने 'यह पुण्य वाले का मैं सर्व प्रकार से नीकर बना हूँ।' और किस समय में भी उसका तथा किस प्रकार प्रियता की अवगणना करके यदि वह सामने है अप्रियता

दिखाता है तब उसे विषाद रूपी अग्नि जलाती है अर्थात् खेद प्राप्त कर मन में ही जलता है, इसलिए हे सुन्दर ! आखिर विकार दिखाने वाला, इस प्रकार की प्रियता प्राप्त करने पर भी मद करने से क्या लाभ है ? पूर्व में कही हुई चाणक्य और शकडाल नामक मन्त्रियों की कथानक सुनकर तू प्रियता का मद नहीं कर । इसलिए प्रियता को प्राप्त करके भी तू 'मैं इसका प्रिय हूँ' ऐसी वाणी मद को भयंकर सर्प के समान त्याग कर इस प्रकार ही विचार करना कि—मेरे कार्यों की अपेक्षा छोड़कर मैं इसके सभी कार्यों में प्रवृत्ति करता हूँ, इसलिए यह मेरे प्रति स्नेहयुक्त प्रियता दिखाता है, किन्तु यदि मैं निरपेक्ष बनूँ तो निरूपकारी होने से अवश्य उसका अपराध किया हो, वैसे मैं उसके दृष्टि समक्ष खड़ा हो, फिर भी प्रियता नहीं होगी ।

यहाँ पर मद स्थान आठ हैं वह उपलक्षण वचन से ही जानना । अन्यथा मैं वादी हूँ, वक्ता हूँ, पराक्रमी, नीतिमान हूँ इत्यादि गुणों के उत्कर्ष से मद स्थान अनेक प्रकार का भी है, इसलिए हे वत्स ! सर्व गुणों का भी मद नहीं कर । जाति कुल आदि का मद करने वाले पुरुषों को गुण की प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु मद करने से जन्मान्तर में उसी जाति कुल आदि में हीनता को प्राप्त करता है । और अपने गुणों से दूसरे की निन्दा करते तथा उसी गुण से अपना उत्कर्ष प्रशंसा करते जीव कठोर नीच गोल कर्म का बन्धन करता है । फिर उसके कारण अत्यन्त अधम योनि रूप तरंगों में खींचते अपार संसार समुद्र में भटकता है, और इस जन्म के सर्वगुण समूह का गर्व नहीं करता है वह जीव जन्मान्तर में निर्मल सारे गुणों का पात्र बनता है । इस तरह आठ मद स्थान नाम का दूसरा अन्तर द्वार कहा है, अब क्रोधादि का निग्रह करने का यह तीसरा द्वार कहता हूँ ।

तीसरा क्रोधादि निग्रह द्वार :—जो कि अट्ठारह पाप स्थानक में क्रोधादि एक-एक का विपाक दृष्टान्त द्वारा कहा है, फिर भी उसका त्याग अत्यन्त दुष्कर होने से और उसका स्थान निरूपण रहित न रहे, इसलिए यहाँ पर पुनः भी गुरु महाराज क्षयक मुनि के उद्देश्य को कहते हैं कि—हे सत्पुरुष ! क्रोधादि के विपाक को और उसको रोकने से होने वाले गुणों को जानकर तू कषाय रूपी शत्रुओं का प्रयत्नपूर्वक विरोध कर । तीनों लोकों में जो अति कठोर दुःख और जो श्रेष्ठ सुख है, वह सर्व कषायों की वृद्धि और क्षय के कारण ही जानना । क्रोधित शत्रु, व्याधि और सिंह मुनि का वह अपकार नहीं करता है कि जितना अपकार क्रोधित कषाय शत्रु करता है । राग द्वेष के आधीन हुआ और कषाय से व्यामूढ बना अनेक मनुष्य संसार का अन्त

करने वाले श्री जिनेश्वर के वचन को भी शिथिल करते हैं अर्थात् कषाययुक्त आत्मा श्री जैन वचन का भी अनादर करता है। धन्य पुरुषों के कषाय अवश्य अत्यन्त फैले हुए भी गर्जना करते दूसरे का क्रोधरूपी वायु से टकराते बादल के समान बिखर जाता है। इससे भी अधिक धन्य पुरुषों के कषाय अवश्य कुलवान के काम विकार के समान अकार्य किए बिना ही सदा अन्तर में ही क्षय हो जाते हैं। और कई अति धन्य पुरुषों के कषाय तो निश्चय ही ग्रीष्म ऋतु के ताप से पसीने के जल बिन्दुओं के समान जहाँ उत्पन्न होते हैं वैसे ही नाश भी वहीं हो जाते हैं। कई धन्य पुरुषों के कषाय खुदती हुई सुरंग की धूल जैसे सुरंग में ही समा जाती है, वैसे दूसरे के मुख वचनरूपी कोदश के बड़े प्रहार से भी अन्तर में ही समा जाता है। कई धन्य पुरुषों के कषाय अवश्य दूसरे वचनरूपी पवन से प्रगट हुए उच्च शरद ऋतु के जल रहित बादल के समान असार फल, फल वाला (निष्फल) होता है। ईर्ष्या के वश कई धन्य पुरुषों के कषाय अति भयंकर समुद्र की बड़ी जल तरंगों के समान किनारे पर पहुँचकर नाश होते हैं। धन्यों में भी वह पुरुष धन्य है कि जो कषाय रूप गेहूँ और जौ के कणों को सम्पूर्ण चूर्ण करने के लिए चक्की के समान अन्तःकरण रूपी चक्की में पिसते हैं। इसलिए हे देवानु प्रिय ! क्रोधादि निरोध करने में अग्रसर होकर तू भी उसका उसी तरह विजय कर कि जिससे तू सम्यग् आराधना कर सके। इस तरह क्रोधादि के निग्रह का तीसरा द्वार संक्षेप से कहा। अब चौथा प्रमाद त्याग द्वार को भेद पूर्वक कहता हूँ।

चौथा प्रमाद त्याग द्वार :—जिसके द्वारा जीव धर्म में प्रमत्त—अर्थात् प्रमादी बनता है उसे प्रमाद कहते हैं। वह पाँच प्रकार का है—१. मद्य, २. विषय, ३. कषाय, ४. निद्रा और ५. विकथा। इसमें जिसके कारण जीव विकारी बनता है वह कारण सर्व प्रकार के विकारों का प्रगट अखण्ड कारण को मद्य कहलाता है। अबुध और सामान्य लोगों के पीने योग्य मद्य-शराब पण्डित जन उत्तम पुरुषों को अपेय अर्थात् पीने योग्य नहीं है, क्योंकि पेय और अपेय पण्डित और उत्तम मनुष्य ही जानते हैं। इस लोक और परलोक के हित के विचार में विशिष्ट पुरुषों ने जिसको यह जगत में निर्दोष देखा है या माना है वह उत्तम यश कारक और पवित्र श्रेष्ठ पीने योग्य है। अथवा जो आगम द्वारा निषिद्ध है, विशिष्ट लोगों में निन्दापात्र, विकारकारक इस लोक में भी प्रत्यक्ष बहुत दोष दिखते हों, पीने से जो निर्मल हो परन्तु बुद्धि को आच्छादन करने वाला मन को शून्य बनाने वाला, सर्व इन्द्रियों के विषयों को विपरीत बोध कराने वाला, और सर्व इन्द्रिय समभाव वाली हो, स्वस्थ हो, प्रौढ़ बुद्धि

वाली हो, और स्पष्ट चैतन्य वाला चतुर पुरुषों की आत्मा भी उसे पीने मात्र से सहसा अन्यथा परिणाम वाला होता है। अर्थात् समभाव छोड़कर रागी द्वेषी बनता है, विभाव दशा को प्राप्त करता है क्षुध बुद्धि वाला और शून्य चेतना वाला बनता है। अतः वह स्पष्ट अनार्य पापी मद्य को कौन बुद्धिशाली पीयेगा। जैसे जल से दूसरे में अंकुर प्रगट होते हैं वैसे मद्य पीने से प्रत्येक समय में इस भव पर भव में दुःखों को देने वाले विविध दोष प्रगट होते हैं। तथा मद्यपान से राग की वृद्धि होती है, राग वृद्धि से काम की वृद्धि होती है और काम में अति आसक्त मनुष्य गम्यागम्य का भी विचार नहीं करता है। इस तरह यदि मद्य इस जन्म में ही समझदार मनुष्यों को विकल-पागल करता है तथा उसके साथ विष की भी सङ्गता को धारण करता है। और हम क्या कहें ? अर्थात् मद्य और जहर दोनों समान मानों ! अथवा यदि मद्य अवश्य जन्मांतर में भी विकलेन्द्रिय रूप बनता है तो एक ही जन्म में विकलेन्द्रिय रूप करने वाला विष को मद्य के साथ कैसे समानता दे सकते हैं ? विष से मद्य अधिक दुष्टकारक है। ऐसा विचार नहीं किया कि द्रव्यों का मिलन रूप होने से सज्जनों को मद्य पीने योग्य ही है, परन्तु इस विषय में सभी पेय अपेय की व्यवस्था विशिष्ट लोगकृत और शास्त्रकृत है सब द्रव्यों का एक रूप होने पर भी एक वस्तु पीने योग्य होती है परन्तु दूसरी वस्तु वैसे नहीं होती है। जैसे द्रव्य मिलाकर द्राक्षादि का पानी सर्वथा पीने योग्य कहा है, उसी तरह मिलाया हुआ समान परन्तु सड़े हुए पानी को पीना योग्य नहीं है।

ऊपर कहा हुआ यह पेय और अपेय व्यवस्था लोककृत है और अब शास्त्रकृत कहते हैं। वह शास्त्र दो प्रकार का है, लौकिक तथा लोकोत्तरिक। उसमें प्रथम लौकिक शास्त्र कहता है कि—गुड़, आटा, और महुड़ा इस तरह तीन प्रकार की मदिरा होती है। वह जैसे एक पीने योग्य नहीं वैसे तीनों सुरा उत्तम ब्राह्मण को पीने योग्य नहीं है। क्योंकि जिसका शरीर गात ब्रह्ममद्य से एक बार लिप्त होता है, उसका ब्राह्मणपन दूर हो जाता है और शूद्रता आती है। स्त्री का घात करने वाला, पुरुष का घात करने वाला, कन्या का सेवन करने वाला, और मद्यपान करने वाला ये चारों तथा पाँचवाँ उसके साथ रहने वाला इन पाँचों को पापी कहा है। ब्रह्म हत्या करने वाला, बारह वर्ष वन में व्रत का पालन करे, वह शुद्ध होता है, परन्तु गुरु पत्नी को सेवन करने वाला अथवा मदिरापान करने वाला ये दो तो मरे बिना शुद्ध नहीं होते हैं। मद्य से या मद्य की गन्ध से भी स्पर्श हुआ बर्तन को ब्राह्मण स्पर्श नहीं करे, फिर भी यदि स्पर्श हो जाए तो स्नान द्वारा शुद्ध हो। लोकोत्तर शास्त्र

के वचन हैं कि 'मद्य और प्रमाद से मुक्त' तथा 'मद्य मांस को नहीं खाना चाहिए' इस तरह मद्यपान उभय शास्त्र से निषिद्ध है। मैं मानता हूँ कि—पाप का मुख्य कारण मद्य है, इसलिए ही विद्वानों ने सर्व प्रमादों में इसे प्रथम स्थान दिया है। क्योंकि मद्य में आसक्त मनुष्य उसे नहीं पीने से आकांक्षा वाला और पीने के बाद भी सर्व कार्यों में विकल बुद्धि वाला होता है। इसलिए उसमें आसक्त जीव नित्यमेव अयोग्य है। मद्य से मदोन्मत्त बने हुए की विद्यमान बुद्धि भी नहीं रहती है, ऐसा मेरा निश्चय अभिप्राय है। अन्यथा वे अपना धन क्यों गँवायें और अनर्थ को कैसे स्वीकार करें? मद्यपान से इस जन्म में ही शत्रु से पकड़ा जाना आदि कारण होते हैं और परलोक में दुर्गति के अन्दर जाना आदि अनेक दोष होते हैं। मैं जानता हूँ कि मद्य से मत्त बना हुआ बोलने में स्खलन रूप होता है। वह आयुष्य का क्षय नजदीक आया हो, इस तरह और नीचे लोटता है। वह नरक में प्रस्थान करता हो वैसे स्वयं नरक में जाता है। आँखें लाल होती हैं वह नजदीक रहा नरक का ताप है, और निरंकुश हाथ इधर-उधर लम्बा करता है वह भी निराधार बना हो, उसका प्रतीक है। यदि मद्य में दोष नहीं होता तो ऋषि, ब्राह्मण और अन्य भी जो-जो धर्म के अभिलाषा वाले हैं वे क्यों नहीं पीते? प्रमाद का मुख्य अंग और शुभचित्त को दूषित करने वाले मद्य में अपशब्द बोलना इत्यादि अनेक प्रकार के दोष प्रत्यक्ष ही हैं। सुना है कि—कोई लौकिक ऋषि महातपस्वी भी देवियों में आसक्त होकर मद्य से मूढ़ के समान विडम्बना को प्राप्त किया। वह कथा इस प्रकार है :—

लौकिक ऋषि की कथा

कोई ऋषि तपस्या कर रहा था। उसके तप से भयभीत होकर इन्द्र ने उसे क्षोभित करने के लिये देवियों को भेजा। तब उन्होंने आकर उसे विनय से प्रसन्न किया और वह वरदान देने को तैयार हुआ। तब उन्होंने कहा कि—मद्यपान करो, हिंसा करो, और हमारा सेवन करो तथा देव की मूर्ति का खंडन करो। यदि ये चारों न करो तो भगवन्त कोई भी एक को करो। ऐसा सुनकर उसने सोचा कि—शेष सब पाप नरक का हेतु है और मद्य सुखकारण है, ऐसा अपनी मति से मानकर उसने मद्य को पिया, इससे मदोन्मत्त बना उसने निर्भर अति मांस का परिभोग किया, उस मांस को पकाने के लिए काष्ठ की मूर्ति के टुकड़े किये और लज्जा को छोड़कर तथा मर्यादा को एक ओर रखकर उसने उन देवियों के साथ भोग भी किया। इससे तप शक्ति को खण्डित करने वाला वह मर कर दुर्गति में गया, इस तरह मद्य अनेक पापों का कारण और दोषों

का समूह है। मद्य से यादवों का भी नाश हुआ। ऐसा अति दारुण दोष को सुनकर, हे सुन्दर ! तत्त्वों के श्रोता तू मद्य नामक प्रमाद को अति दूर आजीवन तक कर दे। जिसने मद्य का त्याग किया है उसका धर्म हमेशा अखण्ड है, उसने ही सर्व दानों का अतुल फल प्राप्त किया है और उसने सर्व तीर्थों में स्नान किया है।

मांसाहार और उसके दोष :—अनेक उत्तम वस्तु मिलाने से उत्पन्न हुए जन्तु समूह के कारण जैसे मद्यपान करना पाप है वैसे मांस, मक्खन और मद्य भक्षण करना बहुत पाप है। सतत जीवोत्पत्ति होने से शिष्ट पुरुषों से निन्द्य होने से और सम्पातिक (उड़कर आ गिरते) जीवों का विनाश होने से ये तीनों दुष्परिणाम हैं। धर्म का सार जो दया है वह भी मांस भक्षण में कहाँ से हो सकती है ? यदि हो तो कहो। इसलिए धर्म बुद्धि वाले मांस का जीवन तक त्याग करते हैं। मनुष्यों के योग्य लोक में अन्य भी जीव की हिंसा किए बिना अत्यन्त स्वाद वाली, रस वाली, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से, स्वभाव से ही मधुर, पवित्र, स्वभाव से ही सर्व इन्द्रियों को रुचिकर और पुरुषों के योग्य, उत्तम वस्तु होने पर भी नींदनीय मांस को खाने से क्या लाभ है ? हा ! उस मांस को धिक्कार हो ! कि जिसमें अति विश्वास, दूसरे जीवों का स्थिर प्राणों का तर्क बिना विनाश होता है। क्योंकि मांस वृक्षों से उत्पन्न नहीं हुआ हो अथवा पुष्प, फल से नहीं होता है, जमीन से प्रगट नहीं होता है अथवा आकाश से बरसता नहीं है, परन्तु भयंकर जीव हिंसा से ही उत्पन्न होता है। तो क्रूर परिणाम वाला जीव वध से उत्पन्न हुआ मांस को कौन निर्दय खायेगा ? क्योंकि उसे खाकर शीघ्र मार्ग भ्रष्ट होता है। और भूख से जलते केवल जठर भरने योग्य यह एक ही शरीर के लिए अल्प सुख—स्वादार्थ मूर्ख मनुष्य जो अनेक जीवों का वध करता है तो स्वभाव से ही हाथी के कान समान चंचल जीवन क्या अन्य मांस पोषण से स्थिर रहने वाला है ? और ऐसा कभी भी विचार नहीं किया कि—मांस भी जीवों का अंग रूप होने पर वनस्पति आदि आहार के समान सज्जनों को भक्ष्य है ? क्योंकि भक्ष्य—अभक्ष्य की सारी व्यवस्था विशिष्ट लोककृत और शास्त्रकृत है। जीव का अंग रूप समान होने पर भी एक भक्ष्य है परन्तु दूसरी वह भक्ष्य नहीं है। यह बात अति प्रसिद्ध है कि—जीव का अंग रूप समान होने पर भी जैसे गाय का दूध पीया जाता है, वैसे उसका रुधिर नहीं पीया जाता। इस तरह अन्य वस्तुओं में भी जानना। इस तरह केवल जीव अंग की अपेक्षा तो गाय और कुत्ते के मांस का निषेध भी नहीं रहेगा, क्योंकि वह भी जीव का अंग होने से वह भी भक्ष्य गिना जायेगा। और जीव

अंग रूप हड्डी आदि समान होने से वह भी भक्ष्य गिना जायेगा। और यदि केवल जीव अंग की समानता मानकर इस लोक में प्रवृत्ति की जाए तो माता और पत्नी में स्त्री भाव समान होने से वे दोनों भी तुल्य योग्य होती हैं।

इस तरह यह लोककृत भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था कही है। अब शास्त्रकृत कहते हैं। शास्त्र लौकिक और लोकोत्तरिक इस तरह दो प्रकार का है, उसमें प्रथम लौकिक इस प्रकार से है—मांस हिंसा प्रवृत्ति करने वाला है, अधर्म की बुद्धि करने वाला है और दुःख का उत्पादक है, इसलिए मांस नहीं खाना चाहिए। जो दूसरे के मांस से अपने मांस को बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ-जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ-वहाँ उद्वेगकारी स्थान को प्राप्त करता है। दीक्षित अथवा ब्रह्मचारी जो मांस का भक्षण करता है, वह अधर्मी, पापी पुरुष स्पष्ट—अवश्य नरक में जाता है। ब्राह्मण आकाश गामी है, परन्तु मांस भक्षण से नीचे गिरता है। इसलिए उस ब्राह्मण का पतन देखकर मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए। मृत्यु से भयभीत प्राणियों का मांस जो इस जन्म में खाता है वह धोर नरक, नीच, तिर्यंच योनियों में अथवा हल्के मनुष्य में जन्म लेता है। जो मांस खाता है और वह मांस जिसका खाता है उन दोनों का अन्तर तो देखो। एक को क्षणिक तृप्ति और दूसरे को प्राणों से मुक्ति होती है। शास्त्र में सुना जाता है कि—हे भरत ! जो मांस खाता नहीं है वह तीनों लोक में जितने तीर्थ हैं उसमें स्नान करने का पुण्य प्राप्त करता है। जो मनुष्य मोक्ष अथवा देवलोक को चाहता है, फिर भी मांस को नहीं छोड़ता है, तो उससे उसे कोई लाभदायक नहीं है। जो मांस को खाता है तो साधु वेश धारण करने से क्या लाभ है ? और मस्तक तथा मुख को मुंडाने से भी क्या लाभ ? अर्थात् उसका सारा निरर्थक है। जो सुवर्ण का मेरु पर्वत को और सारी पृथ्वी को दान में दे, तथा दूसरी ओर मांस भक्षण का त्याग करे, तो हे युधिष्ठिर ! वह दोनों बराबर नहीं होते अर्थात् मांस त्याग पुण्य में बढ़ जाता है। और प्राणियों की हिंसा के बिना कहीं पर मांस उत्पन्न नहीं होता है और प्राणिवध करने से स्वर्ग नहीं मिलता है। इस कारण से मांस को नहीं खाना चाहिए। जो पुरुष शूक्र और रुधिर से बना अशुचि मांस को खाता है और फिर पानी से शौच करता है, उस मूर्ख की मूर्खता पर देव हँसते हैं। क्योंकि जैसे जंगली हाथी निर्मल जल के सरोवर में स्नान करके धूल से शरीर को गंदा करता है, उसके समान वह शौचकर्म और मांस भक्षण है। जो ब्राह्मणों को एक हजार कपिला गाय को दान करे और दूसरी ओर एक को जीवन दान करे, उसमें गौदान प्राणदान के सौलहवें अंश की भी कला को नहीं प्राप्त करता है। हिंसा की अनुमति देने वाला, अंगों को

छेदन करने वाला, प्राणों को लेने वाला, मांस बेचने वाला, खरीदने वाला, उसको पकाने वाला, दूसरे को परोसने वाला और खाने वाला ये आठों घात करने वाले माने गये हैं। जो मनुष्य मांस भक्षी है वह अल्पायुष्य वाले, दरिद्री, दूसरों की नौकरी से जीने वाला और नीच कुल में जन्म लेता है। इत्यादि मांस की दुष्टता जानने के लिए लौकिक शास्त्र वचन अनेक प्रकार के हैं। और 'मद्य मांस नहीं खाना' आदि लोकोत्तरिक वचन भी हैं। अथवा जो लौकिक शास्त्र का वर्णन यहाँ पूर्व में बतलाया है वह भी इस ग्रन्थ में रखा है इससे इस वचन को निश्चय लोकोत्तरिक वचन जानना। क्योंकि सुवर्ण रस से युक्त लोहा भी जैसे सुवर्ण बनता है वैसे मिथ्यादृष्टियों ने कहा हुआ भी श्रुत समकित दृष्टि ने ग्रहण करने से सम्यग् श्रुत बन जाता है।

यहाँ यह प्रश्न कहते हैं कि—यदि पण्डितजनों ने मांस को जीव का अंग होने से त्याग करने योग्य है तो क्या मूँग आदि अनाज भी प्राणियों का अंग नहीं है कि जिससे उसे दूषित नहीं कहा ? इसका उत्तर देते हैं कि मूँग आदि अनाज जो जीवों का अंग है वह जीव पंचेन्द्रियों के समान रूप वाले नहीं होते हैं, क्योंकि पंचेन्द्रिय जीव में जिस तरह मानस विज्ञान से युक्त चेतना वाला होता है, और तीक्ष्ण शास्त्रों से शरीर के एक भाग रूप मांस काटने पर प्रतिक्षण चीख मारता उसे जैसे अत्यन्त दुःख होता है उस तरह जीव रूप में समान होने पर भी एक ही इन्द्रिय होने से मूँग आदि के जीवों को उस प्रकार का दुःख नहीं होता है, तो उनकी परस्पर तुलना कैसे हो सकती है ? अरे मारो ! जल्दी भक्षण करो। इत्यादि अत्यन्त क्रूर वाणी को वे कान से स्पष्ट सुन सकते हैं, अति तेज चमकती तीक्ष्ण तलवार आदि के समूह को हाथ में धारण करते पुरुष को और उसके प्रहार को वह भय से डरा हुआ चपल नेत्रों की पुतली शीघ्र देखती हैं, चित्त में भय का अनुभव करता है, और भय प्राप्त करते वह कांपते शरीर वाला विचारा ऐसा मानता है कि अहो ! मेरी मृत्यु आ गई। इस तरह जीवत्व तुल्य होने पर पंचेन्द्रिय जीव समान तीक्ष्ण दुःख को स्पष्ट अनुभव करता है। उस तरह मूँग आदि एकेन्द्रिय जीव अनुभव नहीं करते हैं। तथा पंचेन्द्रिय जीव परस्पर साक्षेप मन, वचन और काया इन तीनों द्वारा अत्यन्त दुःख को अवश्य प्रगट रूप अनुभव करता है और मूँग आदि एकेन्द्रिय तो प्राप्त दुःख को केवल काया से और वह भी कुछ अल्पमात्र अव्यक्त रूप में भोगता है। और दूसरा हिंसक को पास में आते देखकर मरण से डरता वह विचारा पंचेन्द्रिय जीव किस तरह अपने जीवन की रक्षा के लिए जिस तरह इधर-उधर हलचल करता है, हैरान होता

है, भागता है, छुप जाता है, और देखता है, उस तरह मांस की आसक्ति वाला आवेश वश बना हुआ बध करने वाला भी उसे विश्वास प्राप्त करवाने के लिए, ठगने के लिए, पकड़ने और मारने आदि के उपायों को जिस तरह चिन्तन करता है, उस तरह एकेन्द्रिय को मारने में नहीं होता है। अतः जहाँ जहाँ मरने वाले को बहुत दुःख होता है, और जहाँ-जहाँ मारने वाले में दुष्ट अभिप्राय होता है वही हिंसा में अनेक दोष लगते हैं। और त्रास जीवों में ऐसा स्पष्ट दिखता है इसलिए उसके अंग को ही मांस कहा है और उसे ही निषेध किया है। उस पंचेन्द्रिय से विपरीत लक्षण होने से बहुत जीव होने पर मूंग आदि में मांस नहीं है और लोक में भी वह अति प्रसिद्ध होने से दुष्ट नहीं है। और इस तरह केवल जीव अंग रूप होने से ही यह अभक्ष्य नहीं है, किन्तु उसमें उत्पन्न होते अन्य भी बहुत जीव होने से वह अभक्ष्य है, क्योंकि कहा है—‘कच्चे पक्के हुये, और पकाते प्रत्येक मांस की पेशी में निगोद जीवों का हमेशा अत्यधिक उत्पन्न होते हैं।’

और कई मूढ़ बुद्धि वाले पाँच मूंग खाने से पंचेन्द्रिय का भक्षण मानते हैं, उसका कहना बराबर नहीं है वह मोह का अज्ञान वचन है। जैसे तन्तु पर-स्पर सापेक्षता से पट रूप बनता है, और पुनः बहुत तन्तु होने पर भी निर-पेक्षता (अलग रहने) से पटरूप नहीं होता है। इस तरह परस्पर सापेक्ष भाव वाली और स्व विषय को ग्रहण करने में तत्पर पाँच इन्द्रियों का एक शरीर में मिलने से वह पंचेन्द्रिय बनता है। सुख दुःख का अनुभव कराने वाले विज्ञान का प्रकर्ष भी वही होता है। जब प्रत्येक भिन्न-भिन्न इन्द्रिय वाले अनेक भी मूंग आदि में उस संवेदना का प्रकर्ष नहीं होता है। इस तरह अत्यन्त अव्यक्त केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय के ज्ञान के आश्रित बहुत भी मूंग आदि में पंचेन्द्रिय रूप अयोग्य है। लौकिक शास्त्रों में ऊपर कहे अनुसार मांस को निषेधकर पुनः उसी शास्त्र में आपत्ति अथवा श्राद्ध आदि में उसकी अनुज्ञा दी है—वहाँ इस प्रकार कहा है कि—वेद मन्त्र से मन्त्रित मांस को ब्राह्मण की इच्छा से अर्थात् खाने वाले ब्राह्मण की अनुमति से शास्त्रोक्त विधि अनुसार गुरु ने जिसको यज्ञ क्रिया में नियुक्त किया हो, उस यज्ञ विधि को कराने वाले को खाना चाहिए, अथवा जब प्राण का नाश होता हो तभी खा लेना चाहिये। विधिपूर्वक यज्ञ क्रिया में नियुक्त किये जो ब्राह्मण उस मांस को नहीं खाता है वह मरकर इक्कीस जन्म तक पशु योनि को प्राप्त करता है। इस तरह अनुज्ञा की फिर भी इस मांस का त्याग करना ही श्रेष्ठकर है, क्योंकि उस शास्त्र में भी इस प्रकार से कहा है कि—आपत्ति में और श्राद्ध में भी जो

ब्राह्मण मांस को नहीं खाता है वह उत्तम गोत्र वाला पुत्र सहित और गोत्रीय मनुष्य सहित सूर्य लोक में पूजित बनता है। इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर शास्त्रों में मांस भक्षण का निषेध किया है, इसीलिए उस अवस्तु मांस को धीरे पुरुष दूर से ही सर्वथा त्याग करे।

मांस खाने वाले का अवश्य इस लोक में अनादर करते हैं, जन्मातर में कठोरता, दरिद्रता, उत्तम जाति कुल की अप्राप्ति, अति नीच पाप कार्यों को करके, आजीविका प्राप्त करके, शरीर पर आसक्ति, भय से हमेशा पीड़ित, अति दीर्घ रोगी, और सर्वथा अनिष्ट जीवन होता है। मांस बेचने वाले को धन के लोभ से, भक्षक उपयोग करने से और जीव को वध बन्धन करने से ये तीनों मांस के कारण हिंसकत्व हैं। जो कभी भी मांस को नहीं खाता है, वह अपने अपयशवाद को नाश करता है और जो उसे खाता है उसे नीच स्थानों को दुःखद संयोग का सेवन करता है। इस तरह मांस अत्यन्त कठोर दुःखों वाली नरक का एक कारण है, अपवित्र, अनुचित और सर्वथा त्याग करने योग्य है, इस लिये वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। जो व्यवहार में दुष्ट है और लोक में तथा शास्त्र में भी जो दूषित है वह मांस निश्चय अभक्ष्य ही है, उसे चक्षु से भी नहीं देखना चाहिये। हाथ में मांस को पकड़ा हो चंडाल आदि भी किसी समय मार्ग में सामने आते सज्जन को देखकर लज्जा प्राप्त करता है। यदि अनेक दोष के समूह मांस को मन से भी खाने की इच्छा नहीं करता है, उसने, गाय, सोना, गोमेव यज्ञ और पृथ्वी के लाखों का दान दिया है, अर्थात् उसके समान पुण्य को प्राप्त करता है। मैं मानता हूँ कि मांसाहारी जैसे दूसरे के मांस को खाता है, वैसे अपना ही मांस यदि खाता है तो निश्चय अन्य को पीड़ा नहीं होने से उस प्रकार का दोष भी नहीं लगता है। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। अन्यथा तीन जौ जितने मांस के लिये अभय कुमार को अट्ठारह करोड़ सोना मोहर मिली, ऐसा सुना जाता है। उसकी कथा इस प्रकार है :—

अभय कुमार की कथा

राजगृह नगर में अभय कुमार आदि मुख्य मंत्रियों के साथ राज सभा में बैठा था, श्रेणिक राजा के सामने विविध बातें चलते समय एक प्रधान ने कहा कि—हे देव ! आपके नगर में अनाजादि के भाव तेज और दुर्लभ हैं, केवल एक मांस सस्ता और सर्वत्र सुलभ है। उसके वचन सामंत और मंत्रियों

सहित राजा ने सभ्यगु स्वीकार किया, केवल निर्मल बुद्धि वाले अभय कुमार ने कहा कि—हे तात ! इस तरह मोहवश क्यों होते हो ? इस जगत में निश्चय ही मांस सर्व से मंहगा है उस तरह धातु और वस्त्र आदि मंहगा नहीं है और सुलभ है। मंत्रियों ने कहा कि थोड़ा मूल्य देने पर भी बहुत मांस मिलता है, तो इस तरह मांस को अति मंहगा कैसे कह सकते हैं ? उसे प्रत्यक्ष ही देखो ! दूसरी वस्तु बहुत धन देने के बाद मिलती है। जब सबने ऐसा कहा तब अभय मौन करके रहा। फिर उसी वचन को सिद्ध करने के लिए उसने श्रेणिक राजा को कहा कि—हे तात ! केवल पाँच दिन के लिए राज्य मुझे दो ! राजा ने सभी लोगों को बुलाकर कहा कि—मेरा सिर दर्द करता है अतः अभय को राज्य पर स्थापना करता हूँ। इस तरह स्थापन कर राजा स्वयं अन्तपुर में रहा। अभय कुमार ने भी समस्त लोगों को दान मुक्त किया और अपने राज्य में अहिंसा पालन की उद्घोषणा करवाई। जब पाँचवाँ दिन आया तब रात में वेश परिवर्तन करके शोक से पीड़ित हो, इस तरह उन सामंत और मंत्रियों के घर में गया। सामंत आदि ने कहा कि—नाथ ! इस तरह पधारने का क्या कारण है ? अभय ने कहा कि—श्रेणिक राजा मस्तक की वेदना से अति पीड़ित है और वैद्यों ने उत्तम पुरुषों के कलेजे के मांस की औषधी को बतलाया है; इसलिए आप शीघ्र अपने कलेजे का तीन जो जितना मांस दो। उन्होंने भी सोचा कि यह अभय कुमार प्रकृति से क्षुद्र है इसलिए लांच देकर छुट जाए। ऐसा विचार कर अपने रक्षा के लिए रात को अठारह करोड़ सोना मोहर दी।

प्रभात काल होते और पाँच दिन पूर्ण होते अभय कुमार ने अपने पिता को राज्य वापिस स्थापन किया और वह अठारह करोड़ सोना मोहर का ढेर राज्य सभा में किया। इसे देखकर व्याकुल मन वाले श्रेणिक ने विचार किया कि—निश्चय ही अभय कुमार ने लोगों को लूटकर निर्धन कर दिया है, अन्यथा इतनी बड़ी धन की प्राप्ति कहाँ से होती ? फिर नगर वासी लोगों के आशय को जानने के लिए श्रेणिक राजा ने त्रिकोण मार्ग, चार रास्ते, आदि बड़े-बड़े स्थानों पर तलाश करने गुप्तचरों को आदेश दिया। वहाँ “प्रगट तेज वाले, प्रगट प्रभावी मनोहर अमृत की मूर्ति समान अभय कुमार याष्यन्त्र दिवाकर चिरकाल तक राज्य लक्ष्मी को भोगो।” इस प्रकार नगर में सारे घरों में मनुष्यों के मुख से अभय कुमार का यश वाद सुनकर गुप्तचरों ने राजा को यथा स्थित सारा वृत्तान्त सुनाया। तब विस्मित मन वाले राजा ने अभय कुमार से पूछा कि—हे पुत्र ! इतनी महान् धन सम्पत्ति कहाँ से प्राप्त की है ?

तब उसने भी विस्मित हृदय वाले श्रेणिक को 'तीन जौ के दानों के प्रमाण माँस की याचना' आदि सारा वृत्तान्त यथा स्थित सुनाया। उसके बाद राजा ने और शेष सभी लोगों ने निर्विवाद रूप में माँस को अत्यन्त महंगा और अति दुर्लभ रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार सम्यग् रूप सुनकर हे मुनिवर ! आराधना के मन वाला तूने पूर्व में माँस सेवन किया था उसे याद नहीं करेगा। इस तरह प्रसंगानुसार माँस आदि के स्वरूप कथन से सम्बद्ध मद्य द्वार को कहकर अब विषय द्वार को कहते हैं।

दूसरा विषय प्रमाद का स्वरूप :- इसके पहले ही मद्य के जो दोष कहे हैं वही दोष विषय सेवन में भी प्रायः विशेषतया होते हैं। क्योंकि इस विषय में आसक्त मनुष्य विशेषतया शिथिल होता है। इस कारण से विषय की (वि + सय = विषय) ऐसी निर्युक्ति (व्याख्या) की है। यह विषय निश्चय महा शल्य है, परलोक के कार्यों में महाशत्रु है, महाव्याधि है, और परम दरिद्रता है। जैसे हृदय में चुभा हुआ शल्य (कांटा) प्राणियों को सुखकारक नहीं होता है, वैसे हृदय में विचार मात्र भी विषय दुःखी ही करता है। जैसे कोई महाशत्रु विविध दुःख को देता है वैसे विषय भी दुःख को देता है अथवा शत्रु तो एक ही भव में और विषय तो परभव में भी दुःखों को देता है। जैसे महाव्याधि इस भव में पीड़ा देता है वैसे यह विषय भी यहाँ पीड़ा देता है, इसके अतिरिक्त वह अन्य भवों में भी अनन्तगुणा पीड़ा देता है। जैसे यहाँ महादरिद्रता सभी पराभवों का कारण है वैसे विषय भी अवश्य पराभवों का परम कारण है। जो विषय रूपी माँस में आसक्त हैं उन अनेक पुरुषों ने बहुत प्रकार से पराभव के स्थान प्राप्त किये हैं, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे। विषयासक्त मनुष्य जगत को तृण समान मानता है, विषय का संदेह हो वहाँ भी प्रवेश करता है, मरण के सामने छाती रखता है, अर्थात् डरता नहीं है, अप्रार्थनीय नीच को भी प्रार्थना करता है, भयंकर समुद्र को भी पार करता है तथा भयंकर वेताल को भी सिद्ध करता है। अधिक क्या कहें ? विषय के लिए मनुष्य यम के मुख में भी प्रवेश करता है, मरने के लिए भी तैयार होता है। विषयातुट जीव बड़े-बड़े हितकर कार्य को छोड़ कर एक मुहुर्त मात्र में वैसा पाप कार्य करता है कि जिससे जावज्जीव तक जगत में हांसी होती है। विषय रूपी ग्रह के आधीन पड़ा मूढ़ात्मा पिता को भी मारने का प्रयत्न करता है, बन्धु को भी शत्रु समान मानता है और स्वेच्छा से कार्यों को करता है। विषय अनर्थ का पंथ है, पापी विषय मान महत्व का नाशक है, लघुता का मार्ग है और अकाल में उपद्रवकारी है। विषय अपमान

का स्थान है, अपकीर्ति का अवश्य कारण है, दुःख का एक परम कारण है और इस भव परभव का घातक है।

विषयासक्त पुरुष का मन मार्ग भ्रष्ट होता है, बुद्धि नाश होती है, पराक्रम खत्म होता है, और गुरु का हितकर भी उपदेश को वह भूल जाता है। तीन लोक के भूषण रूप वह उत्तम जाति, वह कुल, और वह कीर्ति हो परन्तु यदि वह विषयासक्ति है तो वह बायें, दायें पैर से दूर फेंक देता है। श्री जैन मुख देखने में चतुर नेत्र वाला अर्थात् ज्ञान चक्षु वाला हो, परन्तु वह तब तक दर्शनीय पदार्थों को देख सकता है कि जब तक विषयासक्ति रूप नेत्र रोग नहीं होता है। मन मन्दिर में धर्म का अभिप्राय आदर रूपी प्रदीप तब तक प्रकाशमय रहता है जब तक विषयासक्ति रूप वायु की आँधी नहीं आती है। सर्वज्ञ की वाणी रूपी जहाज वहाँ तक संसार समुद्र से तरने में समर्थ है कि जहाँ तक विषयासक्ति रूपी प्रतिकूल पवन चलता नहीं है। निर्मल विवेक रत्न वहाँ तक चमकता है अथवा प्रकाश करता है कि जब तक विषयासक्ति रूपी धूल ने उसे मलिन नहीं किया। जीव रूपी शंख में रहा हुआ शिखर रूपी निर्मल जल तब तक शोभता है कि जब तक विषय का दुराग्रह रूपी अशुचि के संग से वह मलिन नहीं होता है। धर्म को करने में अनासक्त और विषय सेवन में आसक्त ऐसे अति कठोर जीव अपना अशरण रूप नहीं जानता है और अपने हित को नहीं करता है। विषय विद्वानों को जहर देता है, श्री जैनगम रूप अंकुर की सर्वथा अपमान करने वाला, शरीर के रुधिर को चूसने में मच्छर के समान और सैंकड़ों अनिष्टों को करने वाला होता है। अति चिरकाल तप किया हो, चारित्र्य का पालन किया हो और श्रुतज्ञान भी बहुत पढ़ा हो, फिर भी यदि विषय में बुद्धि है तो निश्चय वह सारा निष्फल है। अहो ! विषय रूपी प्रचंड-लुटेरा जीव को सम्यग् ज्ञानरूपी मणियों से अति मूल्यवान और स्फुरायमान चारित्र्य रत्न से सुशोभित भण्डार को लूटता है। उस विषयाभिलाषा को धिक्कार हो ! कि जिससे वह महत्व, वह तेज; वह विज्ञान और वह गुण सर्व निश्चय ही एक क्षण में विनाश होते हैं। हा ! धिक्कार ! पूर्व में कभी नहीं मिला श्री जैन वचन रूपी उत्तम रसायण का पान करके भी विषय रूपी महा विष से व्याकुल होकर उसका वमन किया है। सदाचरण में अप्राण और पाप के आश्रय में सशक्त पापियों, अपनी आत्मा को विषय के कारण दुःखी करता है।

जो विषयों की गृद्धि करता है वह पापी दृष्टि विष सर्प के पास खड़ा रहता है उससे मर जाता है। तलवार की तीक्ष्ण धार के ऊपर चलता है, तल-

वार के बने पिंजरे में क्रीड़ा करता है, भाले की अणी ऊपर शयन करता है, और अग्नि को वस्त्र में बन्धन करता है। तथा वह मूढ़ अपने मस्तक से पर्वत को तोड़ता है, भयंकर अग्नि ज्वालाओं से आलिंगन करता है और जीने के लिये जहर को खाता है। और वह भूखे सिंह, क्रोधित सर्प के पास जाता है तथा बहुत मक्खी युक्त मद्य पुड़े पर प्रहार करता है। अथवा जिसको विषयों में गद्धि है, उसके मुख में जहर है, कन्धे पर अति तीक्ष्ण तलवार हैं, सामने ही खाई है, गोद में ही काका नाग और पास में ही यम स्थिर है उसके हृदय में ही प्रलय की अग्नि जल रही है तथा मूल में कन्ध छुपा है। अथवा निश्चय उसने मृत्यु को अपने वस्त्र की गांठ से बंधन कर रखा है, और वह असक्त शरीर वाला काँपती दीवार और आंगन वाले मकान में सोया है। अर्थात् मौत की तैयारी वाला है। और जो विषयों में गृद्धि करता है, वह तत्त्व की शूली के ऊपर बैठता है, जलते लाख घर में प्रवेश करता है और भाले की अणी पर नाचता है। अथवा ये सारी बातें कही हैं, दृष्टि विष सर्प आदि तो इस भव में ही नाश करने वाले हैं और धिक्कार पात्र विषय तो अनन्ता भवों तक दारुण दुःख को देने वाला है। अथवा वह दृष्टि विष सर्प आदि सब तो मन्त्र, तन्त्र या देव आदि के प्रयोग से स्तम्भित—वश करने पर इस भव में भी भयजनक नहीं बनते हैं और विषय तो अनेक भवों तक दुःखदायी होता है। जड़ पुरुष काम की पीड़ा के दुःख को उपशान्त के लिए विषय को भोगता है, परन्तु घी से जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे उस विषय से पीड़ा अति गाढ़ बढ़ती है। जो विषय में गृद्ध है वह शूरवीर होते हुए भी अबला के मुख को देखता है और जो उस विषय से विगयी होता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। मोह महाग्रह के वश हुआ विषयाधीन जीव अरति से युक्त है और धर्म राग से मुक्त होकर मन, वचन, काया को अविषय में भी जोड़ता है और विषयों के सामने युद्ध भूमि में जुड़ी हुई दुर्जन इन्द्रिय रूपी हाथियों के समूह, शत्रु रूप शब्द आदि विषयों को देखकर मन, वचन, काया से विलास करता है अर्थात् जो इन्द्रिय विषय को जीतने के लिये है वही उसी में फँस जाता है।

विषयासक्ति का त्यागी और अपनी बुद्धि में उस प्रकार का निर्मल विवेक को धारण करने वाला भी पुरुष युवती वर्ग में सद्भाव, विश्वास, स्नेह और राग से परिचय करते अल्पकाल में ही तप, शील और व्रत का नाश करता है। क्योंकि—जैसे-जैसे परिचय करने में आता है, वैसे-वैसे क्षण-क्षण में उसका राग बढ़ता जाता है, और थोड़ा राग भी बढ़ जाता है फिर उसे रोकने में जीव को सन्तोष नहीं होना है अर्थात् उसे रोकने में समर्थ नहीं होता है, और इस

तरह असन्तोष—आसक्ति बढ़ जाने से निर्लज्ज बन जाता है, फिर अकार्य करने की इच्छा वाला बनता है और अंगीकार किये व्रत, नियम आदि सुकृत कार्यों से मुक्त बनकर वह पापी शीघ्र उस विषय सेवन को करता है। स्वयं चारों तरफ से डरता विषयासक्त पुरुष, चारों तरफ से डरती स्त्री के साथ जब गुप्त रीत से विषय क्रीड़ा को करता है, तब भी भयभीत युक्त यदि वह सुखी हो तो इस विश्व में दुःखी कौन है ?

विषयाधीन मनुष्य दुर्लभ चारित्र्य रत्न को किसी समय केवल एक बार ही खण्डित करके भी जिन्दगी तक सारे लोक में तिरस्कार का पात्र बनता है। केवल प्रारम्भ में कुछ अल्प सुख देने वाला है, परन्तु भविष्य में अनेक जन्मों का निमित्त होने से सत्पुरुषों को सेवन करने के समय भी विषय दुःखदायक होता है। हा ! धिक्कार है ! कि सड़ा हुआ, बीभत्स और दुर्गन्धपात्र स्त्री के गुप्त अंग में कृमि जीव के समान दुःख को भी सुख मानता जीव खुश रहता है। फिर उस विषय के लिए आरम्भ और महा परिग्रहमय बनकर जीव सैंकड़ों दुःखों का कारणभूत अनेक प्रकार के पाप का बन्धन भी करता है। इससे अनेकशः नरक की वेदनाओं को और तिर्य्यच गतियों के दुःखों को प्राप्त करता है। इस तरह विषय बुखार रोग वाले जीव को शीखण्ड—दही पदार्थ आदि का पान करने समान है। यदि विषयों से कुछ भी गुण होता तो निश्चय ही श्री जैनेश्वर, चक्रवर्ती और बलदेव इस तरह विषय सुख को सर्वथा छोड़कर धर्मरूपी उद्यान में क्रीड़ा नहीं करते। इसलिए हे देवानु प्रिय ! तू इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक विचार कर विषय के अल्पमात्र सुख को छोड़ दे और प्रशम रस का अपरिमित सुख का भोग कर। क्योंकि प्रशम रस का सुख क्लेश बिना का साध्य है, इसमें कोई लज्जा का कारण नहीं है, परिणाम से सुन्दर और इस विषय सुख से अनन्तानन्त गुण वाला है। इसलिए अत्यन्त कृतार्थ इस प्रशम रस में ही गाढ़ राग मन वाले, धीर और नित्य परमार्थ के साधक, उन साधुओं को ही धन्य है कि जिन्होंने संसार का हमेशा मृत्यु के संताप से भयंकर जानकर विष समान विषय सुख को अत्यन्त त्याग किया है। विषयों की आशा से बद्ध चित्त वाला जीव विषय सुख की प्राप्ति बिना भी कंडरीक के समान अवश्य घोर संसार में भटकता है। वह इस प्रकार है :—

कंडरीक की कथा

पुंडरीकिणी नगरी में प्रचंड भुजादंड से शत्रुओं का पराभव करने वाला फिर भी श्री जिनेश्वर के धर्म में एक हड़रागी पुंडरीक नामक राजा था। सद्गुरु के पास राज लक्ष्मी को बिजली के प्रकाश के समान नाशवंत, जीवन

को भी जोरदार वायु से टकराते दीपक ज्योति के समान अति चपल और विषय सुख को भी किपाक फल समान, अन्त सविशेष दुःखदायी जानकर प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षा लेने की इच्छा वाले उस महात्मा ने अति स्नेही कुंडरीक नामक अपने छोटे भाई को बुलाकर कहा कि—हे भाई ! तू यहाँ अब राज्य लक्ष्मी को भोग । संसार वास से विरागी मैं अब दीक्षा को स्वीकार करूँगा । कुंडरीक ने कहा कि—महाभाग ! दुर्गति का मूल होने से यदि तू राज्य छोड़कर दीक्षा लेने की इच्छा करता तो मुझे भी राज्य से क्या प्रयोजन है ? सर्वथा राग मुक्त मैं गुरु के चरण कमल में अभी ही श्री भगवती दीक्षा को स्वीकार करूँगा । फिर राजा ने अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा बहुत समझाया, फिर भी अत्यन्त चंचलता से उसने आचार्य महाराज के पास दीक्षा ली । गुरुकुल वास में रहा पुर नगर आदि में विचरते और अनुचित आहार के कारण शरीर में बीमारी हो गई, उस समय चिरकाल के बाद कुंडरीकिणी नगरी पधारे, उस समय कुंडरीक राजा ने वैद्य के औषधानुसार उनकी सेवा की । इससे वह स्वस्थ शरीर वाला हुआ फिर भी रस स्वाद के लालच से दूसरे स्थान पर विहार करने का अनुत्साही बन गया । राजा ने उसे इस तरह से उत्साहित किया कि—हे महाशय ! आप धन्य हो । कि जिस तप से कमजोर शरीर वाले होने पर भी वैरागी बने द्रव्य क्षेत्र आदि में निश्चय थोड़ा भी राग नहीं करते हैं । आप ही हमारे कुलरूपी आकाश में पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र हो कि जिससे उत्तम चारित्र्य के प्रभा के विस्तार से विश्व उज्ज्वल होता है, अर्थात् विश्व निर्मल कीर्ति को प्राप्त करता है । हे महाभाग ! आपने ही अप्रतिबद्ध विहार का पालन किया है कि जिससे आप मेरी विनती से भी यहाँ पर नहीं रुकते हो ।

इस प्रकार उत्साह कारक वचनों से राजा ने इस तरह उत्तम रीत से समझाया कि जिससे शीतल विहारी भी कुंडरीक ने अन्य स्थान पर विहार किया, परन्तु भूमि शयन, सुलभ भोजन आदि से संयम में मग्न मन वाला शीलरूपी महाभार को उठाने में थका हुआ, मर्यादा रहित विषयों में महान् राग वाला वह गुरुकुल वास में से निकलकर राज्य के उपभोग के लिए पुनः अपनी नगरी में आया । उसके बाद राजा के उद्यान में वृक्ष की शाखा पर चारित्र्य के उपकरणों को लगा कर निर्लज्ज वह हरी वनस्पति से युक्त भूमि ऊपर बैठा । और उसे इस तरह बैठा हुआ सुनकर राजा वहाँ आया और संयम में स्थिर करने के लिए उसे वन्दन करके इस तरह कहने लगा कि—आप एक ही धन्य हो, कृतपुण्य हो, और जीवन के फल को प्राप्त कर रहे हो

कि जो आप श्री जैन कथित दीक्षा को निरति चार रूप में पालन करते हो, और दुर्गति का हेतुभूत कठोर बंधन रूप राज्य बंधन में पड़ा मैं कुछ भी धर्म कार्य नहीं कर सकता हूँ। ऐसा कहने पर भी वृक्ष के सामने कठोर दृष्टि से देखते वह जब कुछ भी नहीं बोला तब वैराग्य को धारण करते राजा ने फिर कहा कि—हे मूढ़ ! पूर्व में भी दीक्षा को स्वीकार करते तुझे मैंने बहुत रोका था और उस समय राज्य देता था। अब अपनी प्रतिज्ञा को खतम करने वाला तृण से भी हल्के बने तुझे इस राज्य को देने पर क्या सुख होगा ? ऐसा कह कर राजा ने सारा राज्य उसको दे दिया और स्वयं लोच करके उसका सारा वेश ग्रहण किया। उसके बाद स्वयं दीक्षा को स्वीकार करके गुरु महाराज के पास गया और पुनः वहाँ विधपूर्वक दीक्षा को स्वीकार करके छद्म (दो उपवास) के पारणे में शरीर के प्रतिकूल आहार लेने से पेट में कठोर दर्द उत्पन्न हुआ और मरकर स्वार्थ सिद्ध में देव उत्पन्न हुआ। इधर कंडरीक अन्तःपुर में गया, मन्त्री, सामन्त दण्ड नायक आदि सारे लोगों ने 'यह दीक्षा छोड़ने वाला पापी है' इस तरह तिरस्कार किया, विषयों की अत्यन्त गृद्धि से प्रचुर रस वाले पानी और भोजन में आसक्त बना इससे विशूचिका रोग उत्पन्न हुआ, अधुरा आयुष्य तोड़कर उपक्रम से मरकर वह रौद्रध्यान के कारण सातवीं नरक में नारकी का जीव बना। इस तरह विषयासक्त जीव विषयों को प्राप्ति किए बिना भी दुर्गति को प्राप्त की। इसलिए हे सुन्दर ! यहाँ बतलाए गये दोषों से दूषित पापी विषयों को विशेष प्रकार से छोड़कर आराधना में एक स्थिर मन वाला तू निष्पाप निर्मल मन को धारण कर। इस तरह विषय द्वार को कहा, अब क्रमानुसार तीसरा कषाय रूप प्रमाद द्वार को अल्प मात्र कहता हूँ।

तीसरा कषाय प्रमाद का स्वरूप :—यद्यपि पूर्व में कषायों की बहुत व्याख्या और युक्तियों के समूह से कहा है, फिर भी वह अति दुर्जय होने से पुनः अल्प मात्र से कहते हैं। पिशाच के समान फिर से खेद कारक और अशुभ या असुख करने का एक व्यवसाय वाला यह दुष्ट कषाय जीव को विडम्बना कारक है। प्रथम प्रसन्नता को दिखाकर फिर अनिष्ट करके वह दुष्ट अध्यवसाय का जनक है, सिद्धि की सुख को रोकने वाला और परलोक में अनिष्ट की प्राप्ति कराने वाला है। कषाय सेवन करने से इस लोक में महा संकट में गिराता है अति विपुल भी सम्पत्ति को नाश करता है और कर्त्तव्य से वंचित करता है। आश्चर्य की बात है कि केवल एक कषाय करने से पुरुष धर्मश्रुत यश, को अथवा सभी गुण समूह को जलांजलि देकर नाश करता है। कषाय करने

से इस जन्म में सर्व लोग में निदा का पात्र बनता है और परलोक में जरा मरण से दुस्तर संसार बढ़ता है। फिर पुण्य, पाप को खेलने की चारगति संसार रूप अश्व को दौड़ने की भूमि में जीव रूप गेंद दंडे के समान कषाय रूपी प्रेरक की मार खाते भ्रमण करता है। दुष्ट कषाय निश्चय सर्व अवस्थाओं में भी जीवों का भ्रष्ट अनिष्ट करने वाला है, क्योंकि पूर्व मुनियों ने भी कहा है कि कषाय रूपी कटु वृक्ष का पुष्प और फल दोनों दुःखदायी हैं। पुष्प से कुपित हुआ पाप का ध्यान करता है और फल से पाप का आचरण करता है। श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है कि—निश्चय सर्व मनुष्यों का जो सुख और सर्व उत्तम देवों का भी जो सुख है, इससे भी अनन्तगुणा सुख कषाय जीतने वाले को होता है। इसीलिए लोक में पीड़ा कारक माना हुआ भी खल पुरुषों का आक्रोश, वध आदि को उत्तम तपस्वी मुनियों ने चंदन इस समान मानते हैं। धीर पुरुष, अक्ष जीवों को सुलभ आक्रोश, वध करना, मारना और धर्म भ्रष्ट करना उसके उत्तरोत्तर अभाव में ही लाभ मानते हैं। अर्थात् धीर पुरुष अज्ञानी आत्मा पर आक्रोश आदि करना लाभ नहीं मानते हैं। अहो ! जले हुए कषायों को बार-बार जीतने पर भी उसे विजय करने की इच्छा वाले मुनियों का पुनः उदय हो जाता है। क्योंकि सिद्धान्त में कहा है कि—

गुण का घातक ग्यारहवें गुण स्थान पर उपशम को प्राप्त करते कषाय जिन तुल्य यथा ख्यात चारित्र वाले को भी गिराता है तो पुनः शेष सारा चारित्र वाले में रहा कषाय उसका क्या नहीं करता है। कषाय से कलुषित जीव भयंकर चार गति रूप संसार समुद्र में जैसे खण्डित जहाज पानी से भर जाता है वैसे पाप जल से भर जाता है। और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, कंदर्प, दर्प और मत्सर ये जीव के महा शत्रु हैं। निश्चय ये जीव के सर्वघन को हरण करने वाला और अनर्थों का करने वाला है, इसलिए सम्यग् विवेक रूप प्रतिस्पर्धी सैन्य की रचना कर उसे आगे बढ़ने न दे इस प्रकार कर ! दुःख से हरण करने योग्य कषाय रूपी प्रचंड शत्रु सर्व जगत को पीड़ित करता है इसलिए वह घन्य है कि जो उस कषायों को सम्यग् हरण कर समता का आनिगन करते हैं। जो इस संसार में धीर पुरुष भी काम और अर्थ के राग से पीड़ित होता है उसमें मैं मानता हूँ कि—निश्चय दुष्ट कषायों का विलास कारण है। इसलिए किसी भी तरह तुम निश्चय करो कि जिससे कषायों का उदय न हो अथवा उदय होते वह कषाय सुरंग की उड़ती धूल के समान अन्तर में ही समा जाए। यदि अन्य लोग में कुशास्त्र रूप आंधी से प्रेरित

हुई कषाय रूपी अग्नि जलती हो तो भले जले। परन्तु जो श्री जैन वचन रूपी जल से सिंचन किया हो मनुष्य भी जले वह अयोग्य है। क्योंकि उत्कर कषाय रोग के प्रकोप से उदय हुआ गाढ़ पीड़ा वाले को भी श्री जिन वचन रूपी रसायण से प्रशम रूप आरोग्य प्रगट होता है। फैला हुआ अहंकारी और अति भयंकर कषाय रूपी सर्पों से घिरा हुआ शरीर वाला अल्प सत्त्व वाला जीवों का रक्षण भी श्री जिन वचन रूपी महामन्त्र से होता है। इसलिए जो दुर्जय महाशक्त एक कषाय को ही जीत लेता है तो तूने सर्व जीतने योग्य शत्रु समूह को जीत लिया है। अतः कषाय रूपी चोरों का नाश करके मोह रूपी महान वाघ को भगाकर ज्ञानादि मोक्ष मार्ग में चले हुए तू भयंकर भयाटवी का उल्लंघन कर। इस तरह कषाय द्वार को कहा है। अब क्रमानुसार दोष से मुक्त निद्रा द्वार को यथा स्थित कहता हूँ।

चौथा निद्रा प्रमाद का स्वरूप :—अदृश्य रूप वाला जगत में यह कोई निद्रारूपी राहु है, कि जो जीव रूपी चन्द्र और सूर्य नहीं दिखता इस तरह ग्रहण करता है। इस निद्रा का क्षय हो जाये। इससे जीता हुआ भी मनुष्य मरे हुए के समान और मद से मत समान, मूर्छित के समान, शीघ्र सत्त्वरहित बन जाता है। जैसे स्वभाव से ही कुशल, सकल इन्द्रियों के समूह वाला भी मनुष्य निश्चय जहर का पान करके इन्द्रियों की शक्ति से रहित बनता है, वैसे निद्रा के आधीन बना भी वैसा ही बनता है। और अच्छी तरह आँखें बन्द की हों, नाक से बार-बार घोर घुर-घुर आवाज करता हो, फटे होठ में दिखते खुले दाँत से विकराल मुख के पोलापन वाला हो, खिसक गये वस्त्र वाला हो, अग उपांग इधर-उधर घुमाता हो, लावण्य रहित और संज्ञा रहित सोये या मरे हुये के समान मानो या देखो तथा निद्राधीन पुरुष नींद में इधर-उधर शरीर चेष्टा करते सूक्ष्म और बादर अनेक जीवों का नाश करता है। निद्रा उद्यम में विघ्नरूप है, जहर का भयंकर बेचनी समान है, असभ्य प्रवृत्ति है और निद्रा महान् भय का प्रादुर्भाव है। निद्रा ज्ञान का अभाव है। सभी गुण समूह का परदा है और विवेक रूपी चन्द्र को ढांकने वाला गाढ़ महान बादल समूह समान है। निद्रा इस लोक परलोक के उद्यम को रोकने वाली है और निश्चित सर्व उपायों का परम कारण है। इस कारण से ही निद्रा त्याग द्वारा अगडदत्त जीता रहा और अन्य मनुष्य निद्रा प्रमाद से मर गये। उसका प्रबन्ध इस प्रकार है :—

अगडदत्त आदि की कथा

उज्जैन नगरी में जितशत्रु नामक राजा को मान्य अमोघ रथ नाम से रथिक था। उसे यशोमती नामक स्त्री थी और अगडदत्त नाम का पुत्र था, वह बालक ही था तब अमोघरथ मर गया था और उसकी आजीविका राजा ने दूसरे रथिक को दी। यशोमती उसे विलास करते और अपने पुत्र को कला-कौशल्य से सर्वथा रहित देखकर शोक से बार-बार रोने लगी। यह देख कर पुत्र ने माता को पूछा कि—हे माता ! तू हमेशा क्यों रोती है ? अति आग्रह होने पर उसने रोने का कारण बतलाया। इससे पुत्र ने कहा कि—माता ! क्या यहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति है जो कि मुझे कलायें सिखा सके ? उसने कहा कि—पुत्र ! यहाँ तो कोई नहीं है, परन्तु दृढ़ प्रहरी नाम का कौशाम्बी पुरी में तेरे पिता का मित्र है। इससे वह शीघ्र वहाँ उसके पास गया। उसने भी पुत्र के समान रखकर बाण शास्त्र आदि कलाओं में अति कुशल बनाया, और अपनी विद्या दिखाने के लिए राजा के पास ले गया। अगडदत्त ने बाण शस्त्र आदि का सारा कौशल्य बतलाया, इससे सब लोग प्रसन्न हुए परन्तु केवल एक राजा प्रसन्न नहीं हुआ, फिर भी उसने कहा कि—तुम्हें कौन सी आजीविका दूंगा ? उसे कहो। फिर अति नम्रता से मस्तक नमस्कर अगडदत्त ने कहा कि—यदि मुझे धन्यवाद नहीं दो तो अन्य दान से मुझे क्या प्रयोजन है ? उस समय नगर के लोगों ने राजा को निवेदन किया कि—हे देव ! इस समय नगर को गूढ़ प्रवृत्ति वाला कोई चोर लूट रहा है, इसलिए आप उसका निवारण करो। तब राजा ने नगर के कोतवाल को कहा कि—हे भद्र ! तुम सात दिन के अन्दर चोर को पकड़कर ले आओ। उसके बाद जब आँखें बन्द कर नगर का कोतवाल कुछ भी नहीं बोला तब 'अब समय है' ऐसा समझ कर अगडदत्त ने कहा कि—हे देव ! कृपा करो। यह आदेश मुझे दो। कि जिससे सात रात में चोर को कहीं पर से पकड़कर आपको सौंप दूँ। फिर राजा ने उसे आदेश दिया। वह राज दरबार से निकला और विविध वस्त्र धारण करता तथा साधु वेश धारक संन्यासी आदि की खोज करता था। चोर लोग प्रायः कर शून्य घर, सभा स्थान, आश्रम और देव कुलिका आदि स्थानों में रहते हैं, इसलिए गुप्तचर पुरुषों द्वारा मैं उन स्थानों को देखूँ। ऐसा विचार करके सर्व स्थानों को सम्यग् प्रकार से खोजकर उस नगरी से निकला और एक उद्यान में पहुँचा।

वहाँ मैले वस्त्रों को पहनकर एक आम्र वृक्ष के नीचे बैठकर चोर को

पकड़ने के उपाय का चिन्तन करता था। इतने में कहीं से आवाज करता हुआ एक परिव्राजक सन्यासी वहाँ आया और उस वृक्ष की शाखा तोड़कर उसका आसन बनाकर बैठा। पिंडली को बाँधकर बैठा हुआ ताड़ जैसी लम्बी जंघा वाला और क्रूर नेत्र वाले उसे देखकर अगडदत्त ने विचार किया कि—यह चोर है। इतने में उसे उस परिव्राजक ने कहा कि—हे वत्स ! तू कहीं से आया है ? और किस कारण से भ्रमण करता है ? उसने कहा कि—हे भगवन्त ! उज्जैन से आया हूँ और निर्धन वाला हूँ, इस कारण से भटक रहा हूँ मुझे आजीविका का कोई उपाय नहीं है। परिव्राजक ने कहा पुत्र ! यदि ऐसा ही है तो मैं तुझे धन दूँगा। अगडदत्त ने कहा—हे स्वामी ! आपने मेरे ऊपर महाकृपा की। इतने में सूर्य का अस्त हो गया और परिव्राजक को अकार्य करने की इच्छा के समान संध्या भी सर्वत्र फैल गई। वह संध्या पूर्ण होते ही अन्धकार का समूह फैल गया तब त्रिदण्ड में से तीक्ष्ण धार वाली तलवार खींचकर शस्त्रादि से तैयार हुआ, और शीघ्र अगडदत्त के साथ ही नगरी में गया तथा एक धनिक के घर में सेंध गिराया वहाँ से बहुत वस्तुयें भर कर पेटियाँ बाहर निकालीं और अगडदत्त को वहीं रखकर वह परिव्राजक देव भवन में सोये हुए मनुष्यों को उठाकर उनको धन का लालच देकर वहाँ लाया। उन पेटियों को उनके द्वारा उठवा कर उनके साथ नगर में से शीघ्र ही निकल गया और जीर्ण उद्यान में पहुँचा। वहाँ उसने उन पुरुषों को और अगडदत्त को स्नेहपूर्वक कहा कि—हे पुत्रों ! जब तक रात्री कुछ कम नहीं होती तब तक थोड़े समय यहीं सो जाओ। सभी ने स्वीकार किया और सभी गाढ़ निद्रा में सो गये। केवल मन में शंका वाला अगडदत्त कपट निद्रा एक क्षण कर, वहाँ से निकलकर वृक्षों के समूह में छुप गया। सभी पुरुषों को निद्राधीन जानकर परिव्राजक ने मार दिया और अगडदत्त को भी मारने के लिए उसके स्थान पर गया, परन्तु वहाँ नहीं मिलने से वह वन की घटा में उसे खोजने लगा, तब सामने आते उस पर अगडदत्त ने तलवार से प्रहार किया। फिर प्रहार की तीव्र वेदना से दुःखी शरीर वाले उसने कहा कि—हे पुत्र ! अब मेरा जीवन प्रायः कर पूर्ण हो गया है, इससे मेरी तलवार को तू स्वीकार कर और श्मशान के पीछे के भाग में जाओ। वहाँ चण्डी का मन्दिर की दीवार के पास खड़े होकर तू आवाज देना, जिससे उसके भौरे में से मेरी बहन निकलेगी। उसे यह तलवार दिखाना जिससे वह तेरी पत्नी बनेगी और तुझे घर की लक्ष्मी बतायेगी।

उसके कहने अनुसार अगडदत्त भी वहाँ भौरे तक पहुँचा और वहाँ पाताल कन्या के समान मनोहर शरीर वाली एक युवती को देखा। उसने पूछा कि—तू कहाँ से आया है ? तब अगडदत्त ने तलवार को बाहर निकालकर उसे बतलाया। इससे सउने अपने भाई का मरण जानकर और उसका शोक छुपाकर आदरपूर्वक नेत्रों वाली उसने कहा—हे सुभग ! तेरा स्वागत करती हूँ। फिर उसे आसन दिया और अगडदत्त शंकापूर्वक बैठा। उसके बाद उसने पूर्व में बनाई हुई बड़ी शिला रूप यन्त्र से युक्त दिव्य सिरहाना से शोभित पलंग सर्व आदरपूर्वक तैयार की और अगडदत्त से कहा कि—महाभाग ! इसमें क्षण वार आराम करो। वह उसमें बैठा, परन्तु उसने ऐसा विचार किया कि—निश्चय यहाँ रहना अच्छा नहीं है। शायद ! यह कपट न हो, इससे यहाँ जागृत रहूँ। फिर क्षण खड़ी रहकर यन्त्र से शिला को नीचे गिराने के लिए वह वहाँ से निकल गई और अगडदत्त भी पलंग छोड़कर अन्य स्थान पर छुप गया। उसने कील खींचकर सहसा उस शिला को गिराया और वह शिला गिरते ही पलंग सम्पूर्ण रूप में टूट गया। फिर परम हर्ष के अतीव प्रसन्न हृदय वाली उसने कहा कि—हा ! मेरे भाई का विनाश करने वाले पापी को ठीक मार दिया। तब हा ! हा ! दासी पत्नी ! मुझे मारने वाला कौन है ? ऐसा बोलते अगडदत्त ने दौड़कर उसे चोटी से पकड़ा। तब उसने पैरों में गिरकर कहा कि—रक्षा करो ! रक्षा करो ! अतः उसे छोड़कर राजा के चरणों में ले गया। उसके बाद उसने सारा वृत्तान्त कहा। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे बड़ी आजीविका देना निश्चय कर दिया और लोगों ने उसे बहुत पूज्य रूप स्वीकार किया, फिर उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल गई। वह कालक्रम से अपने नगर में गया, वहाँ के राजा ने सत्कार कर उसके पिता के स्थान पर स्थापित किया।

इस तरह जागृत और नींद वाले के गुण दोष का सम्प्रक् रूप जानकर इस भव और परभव के सुख की इच्छा करने वाला कौन निद्रा का सत्कार करे ? और राजसेवा आदि अनेक प्रकार के इस जन्म के कार्य और स्वाध्याय, ध्यान आदि परजन्म के कार्यों का भी निद्रा घात करता है। शब्द सोये हुए का मौका देखता है, उसमें सर्प दुःख लगता है, अग्नि का भोग बनता है और मित्र आदि 'बहुत सोने वाला' ऐसा कहकर हांसी करते हैं। अथवा दोष को करने वाले के ऊपर चन्दुषा आदि में रहे छिपकली आदि जीवों का मूत्रादि सोये हुए के मुँह में गिरता है या गाढ़ नींद में सोये प्रमादी को क्षुद्र देवता भी अपद्रव करता है। पुरुष की वह चतुराई उस बुद्धि का प्रकर्ष और निश्चय वह उत्तम विज्ञान आदि निद्रा से एक साथ में ही खत्म हो जाता है। और निद्रा अन्धकार के

समान सर्व भावों को अदृश्य—आवरण करने वाला इसके समान दूसरा अन्धकार नहीं है। इसलिए ध्यान में विघ्नकारी निद्रा का सम्यग् विजय करो, क्योंकि—श्री जैनेश्वर भगवान ने भी वत्स देश राजा की बहन जयंती श्राविका को कहा था कि 'धर्मी' व्यक्ति को जागृत और अधर्मी को निद्रा में रहना श्रेयकर है। सोये हुये का ज्ञान सो जाता है, प्रमादी का ज्ञान शंका वाला और भूल वाला बनता है और जागृत, अप्रमादी का ज्ञान स्थिर और दृढ़ बनता है। और अजगर के समान जो सोता है उसका अमृत तुल्य श्रुतज्ञान नाश होता है। अमृत तुल्य श्रुतज्ञान नाश होते वह बैल समान बन जाता है। इसलिए हे देवानु प्रिय ! निद्रा प्रमादरूप शत्रु सेना को जीतकर अखण्ड जागृत दशा में तू स्थिर अभ्यस्त सूत्र-अर्थ वाला बनो। इस तरह यहाँ चौथा निद्रा नामक अन्तर द्वार कहा है, अब पांचवाँ विकथा द्वार को भी विस्तारपूर्वक कहता हूँ।

पांचवाँ विकथा प्रमाद का स्वरूप :—विविधा, विरूप अथवा संयम जीवन में बाधक रूप से जो विरुद्ध कथा हो उसे भी विकथा कहते हैं। इस विषय की अपेक्षा से उसके स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा और राज कथा इस तरह चार प्रकार सिद्धान्त में कहा है। इसको अलग-अलग रूप में कहते हैं।

(१) स्त्री कथा :—अर्थात् स्त्रियों की अथवा स्त्रियों के साथ में कथा-बातें करना। उस कथा द्वारा जो संयम का विरोध हो अथवा बाधक करता है उस कथा को विकथा कहते हैं। यह स्त्री कथा जाति, कुल, रूप और वेश के भेद से चार प्रकार की होती है। उसमें भी क्षत्रियाणी, ब्राह्मणी, वैश्यी और क्षुद्री इन चार में से किसी भी जाति की स्त्री की प्रशंसा अथवा निन्दा करना उसे जाति कथा कहते हैं। उसका स्वरूप इस तरह है जैसे कि बाल विधवा, क्षत्रियाणी, ब्राह्मणी और वैश्य की स्त्री का जीना भी मरण के समान है तथा सर्व लोक को शंका पात्र होमे से उसके जीवन को धिक्कार हो। मैं मानता हूँ कि—जगत में केवल एक क्षुद्र की स्त्री को ही धन्य है कि जो नये-नये अन्य पुरुष को पति करने पर भी दोष नहीं मानते। उग्र आदि उत्तम या अन्य हल्की कुल में जन्मी हुई किसी भी स्त्री के जिस कुल के कारण प्रशंसा अथवा निन्दा करना उसे कुल कथा कहते हैं जैसे कि—चौलुक्य वंश में जन्मी हुई स्त्रियों का जो साहस होता है, ऐसा अन्य स्त्रियों में नहीं होता है। जो कि प्रेम रहित होने पर भी पति मरे तब उसके साथ अग्नि में प्रवेश करती हैं। आन्ध्र प्रदेश या अन्धी आदि किसी की भी रूप की प्रशंसा अथवा निन्दा करना उस कथा के जानकार पुरुषों ने रूप कथा कहा है। जैसे कि—विलासपूर्वक नाचते

नेत्रों युक्त मुख वाली और लावण्य रूपी जल का समुद्र सदृश आन्ध्र प्रदेश की स्त्रियाँ होती हैं, उसमें काम भी सर्व अंग के अन्दर फैला हुआ है अथवा शरीर उसका धूल से भरा हुआ है और गले में लाख के मणि भी बहुत नहीं हैं, शोभा रहित है, तथापि जाट देश की स्त्रियों का रूप अति सुन्दर है, उसके रूप आकर्षण से पथिक उठ-बैठ करते रहते हैं। उसके ही किस वेश की प्रशंसा या निन्दा आदि करना उसके ज्ञाताओं ने उसे नेपथ्य या वेष कथा कहा है जैसे कि विशिष्ट आकर्षक वेश से सजे अंगों वाली, विकसित नील कमल समान नेत्रों वाली और सौभाग्यरूपी जल की बावड़ी समान सुन्दर भी नारी के यौवन को धिक्कार हो ! धिक्कार हो !! कि जिसने लावण्य रूपी जल को युवा के नेत्र रूपी अंजलि से पीया नहीं है। अर्थात् युवानों को जो दर्शन नहीं देती उस वेष को धिक्कार है। इत्यादि वेष कथा है। स्त्री कथा समाप्त।

(२) भक्त कथा :—यह चार प्रकार की है—१. आवाप कथा, २. निवाप कथा, ३. आरम्भ कथा, और ४ निष्ठान कथा। इसमें आवाप कथा अर्थात् भोजन में अमुक इतने प्रमाण में साग-सब्जियाँ, नमकीन आदि नाना प्रकार के थे और इतने प्रमाण में शुद्ध घी आदि स्वादिष्ट वस्तु का प्रयोग किया था। निवाप कथा उसे कहते हैं जैसे कि—उस भोजन में इतने प्रकार के व्यंजन—साग, दाल आदि थे तथा इतने प्रकार की मिठाई आदि थीं। आरम्भ कथा अर्थात् उस भोजन में इतने प्रमाण में जलचर, स्थलचर और खेचर जीवों का प्रगट रूप में उपयोग हुआ था। और निष्ठान कथा उसे कहते हैं कि—उस भोजन में एक सौ, पाँच सौ, हजार अथवा अधिक क्या कहूँ ? लाख रुपया से अधिक ही खर्च किया होगा इत्यादि। यह भक्त कथा है।

(३) देश कथा :—इसमें भी चार भेद हैं (१) छन्द कथा, (२) विधि कथा, (३) विकल्प कथा, और (४) नेपथ्य कथा। इसमें मगध आदि देशों का वर्णन करना। छन्द अर्थात् भोग्य, अभोग्य का विवेक। जैसे कि लाट देश के लोग मामा की पुत्री का भी भोग करते हैं और गोल्ल आदि देश के लोगों को वह बहन मानने से निश्चय अभोग्य समझते हैं। अथवा औदिच्य की माता को शोक्य के समान भोग्य मानते हैं, वैसे दूसरे उसे माता तुल्य मानकर अगम्य मानते हैं, यह छन्द कथा है। प्रथम जिस देश में जो भोगने योग्य है या नहीं भोगने योग्य है, उस देश की विधि जानना और उसकी कथा करना वह देश विधि कथा कहते हैं अथवा विवाह, भोजन, बर्तन और रत्न, मोती, मणि आदि समूह की सम्भाल—रक्षा अथवा आभूषण या भूमि में मणि लगाना आदि रचना की जो विधि हो उसकी कथा करना वह विधि कथा जानना। जिसमें

विकल्प अर्थात् अनाज की निष्पत्ति तथा किल्ले, कुंआ, नीक, नदी का प्रवाह का वर्णन, चावल रोपण आदि करना तथा घर मन्दिर का विभाग, गाँव नगर आदि की स्थापना करना इत्यादि विकल्प करता उस कथा को विकल्प कथा कहते हैं। स्त्री पुरुषों के विविध वेष को नेपथ्य कहते हैं, वह स्वाभाविक और शोभा के लिए की जाती है, इस तरह दो प्रकार के भेद हैं उसकी प्रशंसा या निंदा करना वह नेपथ्य कथा है। इस तरह चार प्रकार की देश कथा जानना। अब राज कथा कहते हैं।

४. राज कथा :- यह भी चार प्रकार की कही है—(१) निर्याण कथा, (२) अतियान् कथा, (३) बल वाहन कथा तथा (४) कोठार कोष कथा। उसमें गाँव, नगर या आकर से राजा का जो निकला वह निर्याण है और उसी स्थान में ही जो प्रवेश करना उसे अतियान कहते हैं। इस निर्याण और अतियान के उद्देश्य लेकर राजा का जो वर्णन करना वही निर्याण कथा और अतियान कथा है। वह इस प्रकार महा शब्द वाली दुदुभि की गर्जना द्वारा, मन्त्री सामंत राजा आदि जिसके पास आ रहे थे, जिसके हाथी घोड़े, रथ और पैदल सेना के समूह से पृथ्वी तल ढक गया था, हाथी की पीठ पर सम्यग् बैठा था, चन्द्र समान निर्मल छत्र और चमर का आडम्बर वाले और देवों का स्वामी इन्द्र समान राजा महा ऋद्धि सिद्धि के साथ नगर में से निकलता है इत्यादि निर्याण कथा है। क्रीड़ा पर्वत जंगल आदि में यथेच्छ विविध क्रीड़ा करके जिसमें घोड़ों के खूर से खुदी हुई पृथ्वी की रज से सेना के सारे मनुष्य मलिन हो गये थे, भ्रकुटी के इसारे मात्र से स्व स्व स्थान पर विदा किए हुए और इससे जाते हुए सामंत जिसको नमस्कार किया है ऐसे राजा ने मंगलमय बाजे बजते पूर्वक नगर में प्रवेश करता है। इत्यादि अतियान कथा है। बल वाहन तो हाथी, घोड़े, खच्चर, ऊँट आदि का कहा जाता है उसका वर्णन स्वरूप कथा को बल वाहन कथा कहते हैं। जैसे कि—घोड़े, हाथी, रथ और योद्धाओं का समूह से दुर्जन अनेक शत्रुवर्ग को जिसने हराया है, वह इस प्रकार की सेना अन्य राजाओं के पास नहीं है। ऐसा मैं मानता हूँ। इत्यादि बल वाहन कथा है। कोठार अर्थात् अनाज भरने का स्थान और कोष अर्थात् भण्डार उसका वर्णन करना उस कथा में नाम कोठार कोष कथा कहते हैं। जैसे कि—निज वंश में पूर्व पुरुषों की परम्परा आया हुआ उनका भण्डार अपने भुजा के पराक्रम से पराभव होते शत्रु राजाओं के भण्डारों से हमेशा वृद्धि को प्राप्त करते अखूट रहता है। इत्यादि चार विकथा का वर्णन किया। अब इस विकथा को करने से दोष लगते हैं उन्हें कहते हैं।

स्त्री कथा के दोष :—स्त्री कथा करने से अपने को और पर को अत्यन्त मोह की उदीरणा होती है और उदीरित मोह वाला लज्जा-मर्यादा को दूर फेंककर मन में क्या-क्या अशुभ चिंतन नहीं करता ? वाणी द्वारा क्या-क्या अशुभ नहीं बोलता ? काया द्वारा क्या-क्या अशुभ कार्य नहीं करता ? और इस प्रकार यदि करे तो शासन का मखौल होता है। क्योंकि स्त्री कथा कहने वाले, सुनने वाले और देखकर चतुर लोग उसके वचन और आकृति से 'यह स्वयं ऐसा ही होगा' ऐसा मानते हैं। क्योंकि—पण्डितजनों से युक्त गाँव में किसी समय उसके वक्र वचनों को, किसी समय उसके कटाक्षों को और उसके भाव को भी लोग जानते हैं और इस तरह दूसरों को कहते हैं। अन्तर के भाव ऐसे हैं तो उस तुच्छ के ब्रह्मव्रत में भी निश्चय पतित होगा ऐसी कल्पना करते हैं। और व्रत के रक्षण से गिरा हुआ पुनः वह चिंतन करे कि 'ऐसे भी साधुता नहीं है तो अब वह अपना इच्छित अब्रह्म को करना अच्छा है'। ऐसा विचार करके वह भूढ़ात्मा प्रमाद-अब्रह्म को सेवन करता है परन्तु हे भाई ! इस दुषमा काल में दुःख पूर्वक जीता है और अब्रह्म के फल स्वरूप अठारह पाप स्थानों का विचार करता है। इस तरह स्त्री कथा के दोष जानना। अथवा अन्य ग्रन्थ में इस चार गाथा द्वारा क्रमशः चार विकथा के दोष कहते हैं। स्त्री कथा से स्वपर मोह का उदय प्रवचन का उपहास्य, सूत्र आदि जो प्राप्ति हुई थी उसकी हानि, परिचय दोष से ब्रह्मचर्य में अगुप्ति, मैथुन सेवन आदि दोष लगते हैं। भक्त कथा से भोजन किए बिना भी गृद्धि होते ही अंगार दोष, इन्द्रियों की निरंकुशता, और परिताप से उसे बुलाने का आदेश देना इत्यादि दोष होते हैं। देश कथा से—राग द्वेष की उत्पत्ति, स्व पर पक्ष से परस्पर युद्ध और यह देश बहुत गुणकारक है ऐसा सुनकर अन्य वहाँ जाएँ इत्यादि दोष लगते हैं। राज कथा से—यह कोई चोर गुप्तचर या घातक है, ऐसी कल्पना से राजपुरुष आदि को मारने की इच्छा, शंकाशील बने अथवा स्वयं चोरी आदि करने की इच्छा करे, अथवा भक्त कथा आदि को सुनकर स्वयं भोगी हुई या नहीं भोगी हुई उस वस्तु की अभिलाषा करे। तथा जो मनुष्य जिस कथा को कहे वह वैसा परिणाम से युक्त बनता है, इसलिए उसे कुछ विशेषतापूर्वक कहता है कथा कहकर प्रायः कर चंचल चित्त वाला बनता है और चंचल चित्त बना हुआ पुरुष प्रस्तुत वस्तु होने पर अथवा नहीं होने पर भी गुण दोष का अलाप करता है, इससे उसका सत्यवादी जीवन नहीं होता है। और अपने अनुकूल पदार्थ में प्रकर्ष का आरोप राग से होता है तथा प्रतिपक्ष में गुणों के अपकर्ष द्वेष से होता है इस तरह उसमें रागी

द्वेषी बनता है। अतः विकथा असत्यवादी, रागी और द्वेषी उत्पन्न का कारण है, इसलिए वह पाप का हेतु होने से साधुओं को सारी विकथाओं का त्याग करना योग्य है। विकथा महा प्रमाद है, उत्तम धर्म ध्यान में विघ्नकारक है, अज्ञान का बीज है, और स्वाध्याय में व्याघात करता है। और विकथा अनर्थ की माता है, परम असद्भाव का स्थान है, अशिस्त का मार्ग है और लघुता कराने वाला है। विकथा समिति का घातक है, संयम गुणों का हानि करने वाली, गुप्तियों का नाशक है और कुवासना का कारण है। इस कारण से हे आर्य ! तू विकथा का सर्वथा त्याग करके हमेशा मोक्ष का सफल अंगभूत स्वाध्याय के प्रति प्रयत्नशील बनो। और स्वाध्याय से जब अति श्रमिक होते हों तब तू मन में परम सन्तोष धारण करके उसी कथाओं के संयम गुण से अविरोद्ध संयम मार्ग सम्यग् पोषक कहे जैसा कि—

गुणकारी स्त्री कथा :—तीन जगत के तिलक समान पुत्र रत्न को जन्म देने वाली मरुदेवा माता अन्त में अंतकृत केवली बने और उसी समय मुक्ति के अधिकारी बने। सुलसा सती ने पाखंडियों के वचनरूपी पवन से उड़ती मिथ्यात्वरूपी रज के समूह से भी अपना सम्यक्त्व रत्न को अल्पमात्र मोक्ष मार्ग को मलिन नहीं किया। मैं मानता हूँ कि ऐसी धन्य और पवित्र स्त्री जगत में और कोई नहीं है क्योंकि जगत गुरु श्री वीर परमात्मा ने उसके गुणों का वर्णन किया है इस प्रकार उस एक को ही आगम में कहा है इत्यादि।

गुणकारी भक्त कथा :—राग द्वेष रहित गृहस्थ के वहाँ विद्यमान बयालीस (४२) दोष से रहित, संयम पोषक, रागादि रहित चारित्र्य जीवन को टिकाने वाला, वह भी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक संगत मात्र मौनपूर्वक प्राप्त करना, ऐसा ही भोजन हमेशा उत्तम साधुता के लिए करना योग्य है।

गुणकारी देश कथा :—जहाँ आनन्द को देने वाला श्री जिनेश्वर भगवन्त का मन्दिर हो, तथा तेरह गुण जहाँ व्यतिरेक युक्त हो जैसा कि १—कीचड़ बहुत न हो, २—त्रस जीवोत्पत्ति बहुत न हो, ३—स्थंडिल भूमि निरवद्य हो, ४—वसति निर्दोष हो, ५—गोरस सुलभ मिलता हो, ६—लोग भद्रिक परिणामी और बड़े परिवार वाले हों, ७—वैद्य भक्ति वाले हों, ८—औषधादि सुलभ मिलता हो, ९—श्रावक संपत्तिवान और बड़े परिवार वाला हो, १०—राजा भद्रिक हो, ११—अन्य धर्म वाले से उपद्रव नहीं होता हो, १२—स्वाध्याय भूमि निर्दोष होता हो और १३—आहार पानी आदि सुलभ मिलते हों। इसके अतिरिक्त जहाँ साधार्मिक लोग बहुत हों, जिस देश में राजादि के उपद्रव नहीं हों,

आर्य हो और राज्य की सीमा न हो, और जो संयम की वृद्धि में एक हेतुभूत हो उस देश में साधु महाराज को विचरणा योग्य है।

गुणकारी राज कथा :—प्रचंड भुजा दण्डरूपी मण्डप में जिसने चक्रवर्ती की सम्पूर्ण ऋद्धि को स्थापित की है अर्थात् जिसने अपने भुजाबल से छह खण्ड की ऋद्धि प्राप्त कर रक्षण करता है जिसका पाद पीठ नमस्कार करते मुकुट-बद्ध राजाओं के मस्तक मणि की किरणों से व्याप्त था परन्तु भरत महाराजा के अंगुली से रत्न जड़ित अंगूठी निकल जाने से संवेग वाला हुआ, और उसने अन्तःपुर के मध्य रहते हुए भी केवल ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार स्त्री, भक्त, देश और राजा की कथा भी धर्म रूपी गुण का कारण होने से वह विकथा नहीं है। इस तरह यदि विकथा रूपी ग्रह से आच्छादित धर्म तत्व वाले का धर्म का नाश होता है और धर्म के नाश से गुण का नाश होता है। इसलिए संयम गुण में उपयोग वाले को श्रेष्ठ धर्म कथा की प्रवृत्ति करना ही योग्य है। इस प्रकार पाँचवाँ विकथा नाम का प्रमाद कहा है और इसे कहने से मद्यादि लक्षण वाले पाँचों प्रकार के प्रमाद कहा गया है।

जुआ प्रमाद का स्वरूप :—शास्त्र के जानकार ज्ञानियों ने द्युत नामक प्रमाद को छठा प्रमाद रूप में कहा है और उसे इस लोक और परलोक का बाधक रूप भी कहा है। उसमें इस लोक के अन्दर जुआ नामक प्रमादरूपी दुर्जय शत्रु से हारे हुए मनुष्य के समान चतुरंग सैन्य सहित समग्र राज्य को भी क्षण में गँवा देता है। वैसे धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, सोना, चाँदी, मनुष्य, पशु और सारा घर का सामान संपत्ति भी गँवा देता है। अधिक क्या कहें ? शरीर के ऊपर रही लंगोट को भी जुये में हार कर मार्ग में गिरे पत्ते रूपी कपड़े से गुह्य भाग को ढांकता है ऐसा मूढ़ात्मा वह जुआरी सर्वस्व हारने पर भी निश्चय हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को भी जुआरियों को होड़ शर्त में देकर जुए को ही खेलता है। जुआरी रणभूमि में डरने वाला, धन के नाश बेकदरी वाला और शत्रु को जीतने वाला के एक लक्ष्य वाला राजपुत्र के समान विलास करता है। अथवा जुआरी भूख प्यास का अवगणना करके ठंडी गरमी डाँस मच्छर की भी अवगणना कर, अपने सुख, दुःख को भी नहीं गिनते, स्वजन आदि का राग नहीं करते, दूसरों के द्वारा होती हांसी को भी नहीं मानता, शरीर की भी रक्षा नहीं करते, वस्त्र रहित शरीर वाला, निद्रा को छोड़ते तथा चपल घोड़े के समान चंचल इन्द्रियों के वेग को दूसरी ओर खींचकर प्रस्तुत विषय में स्थिर एकाग्र धारण करने वाला ध्यान में लीन महर्षि के समान है, अर्थात् महर्षि के समान जुआरी होता है। जीर्ण फटे हुए

कपड़े वाला, खाज से शरीर में खरोंच वाला, रेखाओं का घर खड़ी लगे अंग वाला, चारों तरफ बिखरे हुए बाल वाला, कर्कश स्पर्श वाली चमड़ी वाला, कमर में बांधा हुआ चमड़े के पट्टे की रगड़ से हाथ में आंटी के समूह वाला और उजागर से लाल आँखों वाला जुआरी की किसके साथ तुलना कर सकते हैं।

इस तरह से जुआरी का प्रतिदिन जुआ बढ़ता जाता है उसमें छड़ राग वाला, क्षण-क्षण में अन्यान्य लोगों के साथ में कषायों को करने वाला, वह विचारा घर में कुछ भी नहीं मिलने पर जुए में स्त्री को भी हारता है फिर उसको छुड़ाने के लिये चोरी करने की इच्छा करता है, बाद में चोर के परिणाम वाला वह चोरी में ही प्रवृत्ति करता है और इस तरह प्रवृत्ति करते वह पापी तीसरा पाप स्थानक में कहे सारे दोषों को प्राप्त करता है। और इस प्रकार समस्त अनर्थों के समूह को निस्तार करने के लिए कुलदेवी, यक्ष, इन्द्र आदि के पास मानता है कि “वह शत्रु अधिक दुःख को प्राप्त करे। सारे जुआरी का नाश हो जाए। मेरे अनर्थ शान्त हो जाये। और मेरे पास बहुत धन हो जाये”। इस तरह चिन्तन करते अपूर्ण इच्छा वाला उस जुआरी द्वारा वद्य बन्धन, कैद, अंगों का छेदन तथा मृत्यु को भी प्राप्त करता है, और इस तरह जुए में आसक्त कुल, शील, कीर्ति, मैत्री, पराक्रम अपना कुलक्रम कुलाचार, शास्त्र धर्म, अर्थ और काम का नाश करता है। इस प्रकार इस लोक में गुणों से रहित लोगों में धिक्कार को प्राप्त करता जुआरी सद्गति का हेतुभूत सम्यग् गुणों को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है? कामुक मनुष्य तो काम क्रीड़ा से खुजली करने के समान सुख वासना जन्य अल्पमात्र भी कुछ सुख का अनुभव करता है। परन्तु कुत्ते के समान रस रहित पुरानी सूखी हड्डी के टुकड़ों को चबाने तुल्य जुआ खेलने से जुआरी निश्चय क्या सुख का अनुभव कर सकता है? जुए से घर की सम्पत्ति, शरीर की शोभा, शक्ति शिष्टता रूप सम्पत्ति और सुख सम्पत्ति अथवा इस लोक परलोक के गुणरूपी सम्पत्ति सारी शीघ्र नाश होती है। इस विषय में शास्त्र के अन्दर राज्य आदि को हारने वाले नल राजा, पांडव आदि राजाओं के अनेक प्रकार की कथानक सुनने में आती हैं।

और दूसरे (१) अज्ञान, (२) मिथ्या ज्ञान, (३) संशय, (४) राग, (५) द्वेष, (६) श्रुति—स्मृति भ्रंश, (७) धर्म में अनादर तथा अन्तिम (८) मन, वचन, काय योगों का दुष्प्रणिधान। इस तरह प्रस्तुत प्रमाद के आठ भेद भी कहे हैं।

(१) अज्ञान :—ज्ञानियों ने ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहा है और वह निश्चय ही सारे जीवों का भयंकर शत्रु है। कष्टों से भी यह अज्ञान परम कष्टकारी है कि जिससे पराधीन बना यह जीव समूह अपने भी हित अहित के अर्थ को अल्पमात्र भी जान नहीं सकता है। केवल यहाँ ज्ञानाभाव वह अल्पता की अपेक्षा से जानना, अर्थात् अल्पज्ञान को अज्ञान कहा है। परन्तु सर्वथा ही अभाव नहीं समझना। जैसे कि—यह कन्या छोटे पेट वाली है। यद्यपि ज्ञान की अल्पता होने पर भी शास्त्र के अन्दर मापतुष आदि को केवल ज्ञान हुआ ऐसा सुना जाता है, तो भी निश्चय अति ज्ञानत्व ही श्रेष्ठ है। क्योंकि—जैसे-जैसे अतिशय रूप रम के विस्तार से भरपुट नया-नया श्रुत का अवगाहन करता है वैसे-वैसे नया-नया संवेग रूप श्रद्धा से मुनि प्रसन्नता का अनुभव करता है। मापतुष मुनि आदि को उत्तम गुरु की परतन्त्रता से निश्चय ज्ञानीत्व ही योग्य है, फिर भी बहुत ज्ञान के अभाव से अज्ञान जानना। तथा प्रायःकर प्रमाद दोष से जीवों को अज्ञान होता है, इसलिए कारण में कार्य के उपचार से अज्ञान को ही प्रमाद कहा है।

(२) मिथ्या ज्ञान :—थोड़ा भी जो कुछ भव का अन्त कारण होता है वह सम्यग् ज्ञान माना गया है और दूसरा ज्ञान ऐसा नहीं है, उसे यहाँ मिथ्या ज्ञान कहा है। पूर्व में मिथ्यात्व पाप स्थानक के अन्दर वर्णन किया है, इस ग्रन्थ में है उस मिथ्या ज्ञान को जान लेना।

(३) संशय :—यह भी मिथ्या ज्ञान का ही अंश है। क्योंकि श्री जैनेश्वर के प्रति अविश्वास से होता है, वह देश गत और सर्वगत दो प्रकार से होता है। यह संशय श्री जैन कथित जीवादि पदार्थों में मन को अस्थिर करने से होता है और निर्मल भी सम्यक्त्व रूपी महारत्न को अति मलिन करता है। इस कारण जीवादि पदार्थ में संशय नहीं करना चाहिए।

(४)—(५) राग और द्वेष :—इस प्रमाद को भी पूर्व में राग द्वेष पाप स्थानक के द्वार में कहा गया है, इसलिए हे क्षपक मुनि ! तू उसका भी अवश्य त्याग कर। क्योंकि इसके बिना जीव सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है, या सम्यक्त्व प्राप्त करने पर वह संवेग को नहीं प्राप्त करता और विषय सुखों में राग करता है वह दोष राग-द्वेष का कारण है। बार-बार उपद्रव करने वाला समर्थ शत्रु ऐसा अहितकर नहीं करता उतना निरंकुश राग और द्वेष अहित करता है। राग-द्वेष इस जन्म में श्रम, अपयश और गुण विनाश करता है तथा परलोक में शरीर और मन में दुःख को उत्पन्न करता है। धिक्कार हो। अहो

कैसा अकार्य है कि राग, द्वेष से असाधारण अति कड़वा फल देता है, ऐसा जानते हुये भी जीव उसका सेवन करता है। यदि राग-द्वेष नहीं होता तो कौन दुःख प्राप्त करता ? अथवा सुखों से किसको आश्चर्य होता ? अथवा मोक्ष को कौन प्राप्त नहीं करता ? इसलिए बहुत गुणों का नाशक सम्यक्त्व और चारित्र्य गुणों का विनाशक पापी राग, द्वेष के वश नहीं होना चाहिए।

(६) श्रुति भ्रंश :—यह प्रमाद भी स्व-पर उभय को विकथा कलह आदि विघ्न करने के द्वारा होती है। श्री जैनेश्वर की वाणी के श्रवण में विघात करने वाला जानना। यह श्रुति भ्रंश कठोर उत्कट ज्ञाना वरणीय कर्म का बन्धन का एक कारण होने से शास्त्र के अन्दर ध्वजा समान परम जानियों ने उसे महापापी रूप में बतलाया है।

(७) धर्म में अनादर :—इस प्रमाद का ही अति भयंकर भेद है। क्योंकि धर्म में आदर भाव से समस्त जीवों को कल्याण की प्राप्ति होती है। बुद्धिमान ऐसा कौन होगा कि जो मुसीबत में चिन्तामणी को प्राप्त करके कल्याण का एक निधान रूप उस धर्म में अनादर करने वाला बनेगा ? अतः धर्म में सदा सर्वदा आदर सत्कार करे।

(८) मन, वचन, काया का वृष्प्रणिधन :—यह भी सारे अनर्थ दण्ड का मूल स्थान है। इसे सम्यग् रूप जानकर तीन सुप्रणिधान में ही लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह मद्य आदि अनेक प्रकार के प्रमाद को कहा है। वह सद्धर्म रूपी गुण का नाशक और कुगति में पतन करने वाला है। इस संसार रूपी जंगल में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रित जीवों की जो भी दुःखी अवस्था होती है, वह सर्व अति कटु विपाक वाला, जन्मान्तर में सेवन किया हुआ पापी प्रमाद का ही विलास जानना। अति बहुत श्रुत को जानकर भी और अति दीर्घ चारित्र्य पर्याय को पालकर भी पापी प्रमाद के आधीन बना भूढ़ात्मा सारा खो देता है। संयम गुणों की वह उत्तम सामग्री को और ऐसी ही महाचारित्र्य रूपी पदवी को प्राप्त कर अथवा मोक्ष मार्ग प्राप्त कर प्रमादी आत्मा सर्वथा हार जाती है। हा ! हा ! खेद की बात है कि ऐसे प्रमाद को धिक्कार हो ! देवता भी जो दीनता धारण करते हैं, पश्चाताप और पराधीनता आदि का अनुभव करता है, वह जन्मान्तर में प्रमाद करने का फल है। जीवों को जो अनेक प्रकार का तिर्यच योनि, तुच्छ मनुष्य जीवन और नरकमें उत्पन्न होता है वह भी निश्चय जन्मान्तर में प्रमाद करने का फल है। यह प्रमाद वह वस्तुतः जीवों का शत्रु है, वह तत्त्वतः भयंकर नरक है,

यथार्थ व्याधि और वास्तविक दरिद्रता है। यह प्रमाद तत्त्व से क्षय होता है यथार्थ दुःखों का समूह है और वास्तविक ऋण है। जो श्रुत केवली आहारक लब्धि वाले और सर्व मोह का उपशम करने वाले भी प्रमाद वश गिरता है तो दूसरों की तो बात ही क्या करना ? अल्प अन्तर वाली अंगुलियाँ की हथेली में रहे हुए जल के समान प्रमाद से पुरुष के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ नष्ट होते हैं। यदि इस जन्म में एक बार भी कोई जीव इस प्रमाद से आधीन हो तो दुःख से पराभव प्राप्त कर वह लाख-करोड़ों जन्म तक संसार में भटकता है। इस प्रमाद का निरोध नहीं करने से सकल कल्याण का निरोध होता है और प्रमाद का निरोध करने से समग्र कल्याण का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए हे देवानुप्रिय। क्षपक मुनि ! इस जन्म में पत्नी के निग्रह के समान प्रमाद का निरोध तुझे हितकर होगा। इसलिए तू उसमें ही प्रयत्न को कर। इस तरह अनुशासित द्वार में विस्तृत अर्थ सहित और भेद प्रभेद सहित प्रमाद निग्रह नाम का चौथा अन्तर द्वार कहा है। अब प्रमाद के निग्रह में निमित्त भूत सर्व प्रतिबन्ध त्याग नाम का पाँचवाँ अन्तर द्वार संक्षेप से कहते हैं।

पाँचवाँ सर्व संग वर्जन द्वार :—श्री जिन वचन के जानकार ने प्रतिबन्ध को आसक्ति रूप कहा है, वह प्रतिबन्ध-आसक्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रित चार प्रकार का कहा है। उसमें यहाँ सचित, अचित, और मिश्र द्रव्य तीन प्रकार का है। और उस प्रत्येक द्रव्य के, द्विपद, चतुष्पद और अपद इस तरह तीन-तीन भेद हैं। इस तरह विषय के भेद से उस भेद के ज्ञाता शास्त्रज्ञों ने संक्षेप से द्रव्य प्रतिबन्ध $३ \times ३ = ९$ प्रकार का कहा है। पहला भेद के अन्दर पुरुष, स्त्री, तोता आदि, दूसरे में घोड़ा, हाथी आदि, और तीसरे में पुष्प, फल आदि इस तरह ये सचित द्रव्य के भेद जानना। चौथे भेद में गाड़ी, रथ आदि, पाँचवें में पट्टा, पलंग, चौकी आदि और छठे में सुवर्ण आदि ये अचित द्रव्य के भेद जानना। सातवें भेद में आभूषण, वस्त्र, सहित पुरुष आदि, आठवें में अम्बाड़ी आभूषण आदि सहित हाथी, घोड़े आदि तथा नौवें भेद में पुष्प माला आदि मिश्रत द्रव्यगत पदार्थ जानना। और गाँव, नगर, घर, दुकान आदि में जो प्रतिबन्ध है वह क्षेत्र प्रतिबन्ध है तथा वसन्त, शरद, आदि ऋतु में या दिन, रात्री में जो आसक्ति वह काल प्रतिबन्ध जानना। एवं सुन्दर शब्द रूप आदि आसक्ति अथवा क्रोधमान आदि का जो हमेशा त्याग नहीं करना उसे भाव प्रतिबन्ध जानना। ये सर्व प्रकार से भी प्रतिबन्ध करता हो तो परिणाम से कठोर दीर्घकाल तक के दुःखों को देने वाला है, ऐसा श्री

जिनेश्वर से कथित शास्त्र में सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों ने देखा है। और जितने प्रमाण में यह प्रतिबन्ध हो उतने दुःख जीवों को होते हैं इसलिए इसको सर्वथा त्याग करना श्रेष्ठ है। इसका त्याग नहीं करने से अनर्थ की परम्परा का त्याग नहीं होता है और यदि उस प्रतिबन्ध को त्याग करता है वह अनर्थ की परम्परा का भी अत्यन्त त्याग होता है। हा ! प्रतिबन्ध भी कर सकता है यदि उसके विषयभूत वस्तुओं में कुछ भी श्रेष्ठता हो ! यदि उसमें श्रेष्ठता नहीं है तो उसे करने से क्या प्रयोजन है ? संसार में उत्पन्न होती वस्तुएं, जो क्षण-क्षण में नाशवन्त हैं, स्वभाव से ही असार हैं और स्वभाव ही तुच्छ है, तो उसमें कौन सी अच्छाई को कहना ? क्योंकि काया हाथी के कान समान चंचल है, रूप भी क्षण विनश्वर स्वरूप है, यौवन भी परिमित काल का है, लावण्य परिणाम से कुरूपता को देने वाला है। सौभाग्य भी निश्चय नाश होता है, इन्द्रियाँ भी विकलता को प्राप्त करती हैं। सरसों के दाने जितना सुख प्राप्त कर मेरु पर्वत जितना कठोर दुःखों के समूह से घिरा जाता है, बल चपलता को प्राप्त कर नष्ट हो जाता है यह जीवन भी जल कल्लोल समान क्षणिक है, प्रेम स्वप्न समान मिथ्या है, और लक्ष्मी छाया समान है। भोग इन्द्र धनुष्य समान चपल है, सारे संयोग अग्नि शिखा समान हैं और अन्य भी कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जो स्वभाव से शाश्वत हो।

इस तरह सारी संसार जन्य वस्तुओं में सुख के लिए प्रतिबन्ध करता है तो हे सुन्दर ! वह अन्त में दुःख रूप बनेगा। और तू निश्चय स्वजनों के साथ जन्मा नहीं है, और उसके साथ मरने वाला भी नहीं है, तो हे सुन्दर ! उनके साथ भी प्रतिबन्ध करने से क्या लाभ है ? यदि संसार समुद्र में जीव कर्मरूपी बड़ी-बड़ी तरंगों के वेग से इधर उधर भटकते संयोग-वियोग को प्राप्त करता है, तो कौन किसका स्वजन है ? बार-बार जन्म, मरण रूप इस संसार में चिर काल से भ्रमण करते कोई ऐसा जीव नहीं है कि जो परस्पर अनेक बार स्वजन नहीं हुए हो ? जिसे छोड़कर जाना है वह वस्तु आत्मीय कैसे बन सकती है ? ऐसा विचार कर जानी शरीर में प्रतिबन्ध का त्याग करते हैं। विविध उपचार-सेवा करने पर भी चिरकाल तक सम्भाल कर रखा शरीर भी यदि अन्त में नाश दिखता है तो शेष पदार्थों में क्या आशा रखे ? प्रतिबन्ध बुद्धि को नाश करने वाला, अत्यन्त कठोर बन्धन है और संसार के सर्व दोषों का समूह है, इसलिए हे धीर ! प्रतिबन्ध को छोड़ दो ! पुनः हे महाशय ! यदि तू सर्वथा इसे छोड़ने में शक्तिमान नहीं हो तो अति प्रशस्त वस्तु में प्रतिबन्ध को कर। क्योंकि तीर्थंकर में प्रतिबन्ध और सुविहित मुनिजन

में प्रतिबन्ध, यह वर्तमान काल में सराग संयम वाले मुनियों का निश्चय प्रणस्त है। अथवा शिव सुख साधक गुणों की साधना में हेतुभूत द्रव्यों में भी शिव साधक गुणों की साधना में, अनुकूल क्षेत्र में, शिव साधक गुणों की साधना के अवसर रूप काल में, और शिव साधक गुण रूप भाव में भी प्रतिबन्ध को करे। तत्त्व से तो प्रणस्त पदार्थों में प्रतिबन्ध करना, उसे भी केवल ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश को अत्यन्त रोकने वाला कहा है। इसी कारण जगत गुरु श्री वीर परमात्मा में प्रतिबन्ध से युक्त श्री गौतम स्वामी चिरकाल उत्तम चारित्र्य को पालन करने वाले भी केवल ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सके। इसलिए भी देवानुप्रिय ! इस संसार में यदि शुभ वस्तु में यह प्रतिबन्ध इस प्रकार का परिणाम वाला अर्थात् केवल ज्ञान रोकने वाला है तो इससे क्या हुआ ? जीव सुखों का अर्थी है और सुख प्रायः इस संसार में संयोग से होता है, इसलिए जीव सुख के लिए द्रव्यादि के साथ संयोग को चाहता है।

परन्तु द्रव्य अनित्य होने से उसका नाश हमेशा चलता है। क्षेत्र भी सदा प्रीतिकर नहीं होता है, काल भी बदलता रहता है और भाव भी नित्य एक स्वभाव नहीं है। किसी को भी उस द्रव्यादि के साथ जो कोई भी संयोग पूर्व में हुआ है, वह वर्तमान काल में है और भविष्य में होगा वे सभी अन्त में अवश्य वियोग वाला ही है। इस तरह द्रव्यादि के साथ का संयोग और अन्य में अवश्य वियोग वाला हो, तो द्रव्यादि में प्रतिबन्ध करने से कौन से गुण को प्राप्त करेगा ? दूसरी बात यह है कि जीवद्रव्य आदि द्रव्यों का परस्पर अन्यत्व है और अन्य के आधीन जो सुख है वह परवश होने से असुख रूप ही है। इसलिए हे चित्त ! यदि तू प्रथम से ही पराधीन सुख में प्रतिबन्ध को नहीं करे, तो उसके वियोग से होने वाला दुःख को भी तू नहीं प्राप्त करेगा। यहाँ मूढ़ात्मा संसार गत पदार्थ के समूह में जैसे-जैसे प्रतिबन्ध को करता है वैसे-वैसे गाढ़-अतिगाढ़ कर्मों का बन्धन करता है। इतना भी विचार नहीं करता कि जिस पदार्थ में प्रतिबन्ध करता है, वह पदार्थ निश्चय विनाशी, असार और विचित्र संसार का हेतुभूत है। इसलिए यदि तू आत्मा का हित चाहता है, तो भयंकर संसार से भय धारण कर। पूर्व में किए पापों से उद्भिन्न हो। और प्रतिबन्ध का त्याग कर। जैसे-जैसे आसक्ति का त्याग होता है, वैसे-वैसे कर्मों का नाश होता है और जैसे-जैसे वह कर्म कम होते हैं, वैसे-वैसे मोक्ष नजदीक आता जाता है। इसलिए हे मुनिवर्य ! आराधना में मन को लगाकर और सभी पाप के प्रतिबन्ध को सर्वथा त्याग कर नित्य आत्मारामी बन। इस तरह प्रतिबन्ध त्याग नामक पांचवाँ अन्तर द्वार कहा है। अब सम्यक्त्व सम्बन्ध से छठा अन्तर द्वार कहता हूँ।

छठा सम्यक्त्व द्वार :—अनन्ता भूतकाल में जो पूर्व में कदापि प्राप्त नहीं हुआ, जिसके प्रभाव से संसार महासमुद्र को छोटे से सरोवर के समान बिना प्रयास से तर सकती है जिसके प्रभाव से मुक्ति की सुख रूप सम्पत्ति हस्त कमल में आती है, जो महान कल्याण का निधान का प्रवेश द्वार है, और मिथ्यात्व रूपी प्रबल अग्नि से तपे हुए जीवों को जो अमृत के समान शान्त करने वाला है उस सम्यक्त्व को, हे क्षणिक मुनि ! तूने प्राप्त किया है। यह सम्यक्त्व प्राप्त करने से अब तू भयंकर संसार के भय से डरना नहीं, क्योंकि इसकी प्राप्ति से संसार को जलाजलि दी है। और यह जीव नरक में अति दीर्घकाल भी सम्यक्त्व सहित रहना वह भी श्रेष्ठ है, परन्तु इससे रहित जीव देवलोक में उत्पन्न होना वह भी अच्छा नहीं है। क्योंकि वह शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक में से यहाँ आकर जीव कई तीर्थंकर आदि लब्धि वाले हुए हैं, ऐसा आगम में सुना है। और सम्यक्त्व गुण से रहित देवलोक से भी च्यवन कर इस संसार में पृथ्वी कायादि में भी उत्पन्न होना और वहाँ दीर्घकाल रहने का आगम में सुना जाता है। केवल अन्त मुहूर्त भी यदि यह सम्यक्त्व किसी तरह स्पर्शित होता है तो अनादि भी संसार समुद्र निश्चय गोष्पद जितना अल्प बन जाता है, ऐसा मैं मानता हूँ। निश्चय जिसको सम्यक्त्व रूपी महाधन है वह पुरुष निर्धनी भी धनवान है। यदि धनवान केवल इस जन्म में सुखी है तो सम्यग् दृष्टि प्रत्येक जन्म में भी सुखी है। अतिचार रूपी रज से रहित निर्मल सम्यक्त्व रत्न जिसके मन मन्दिर में प्रकाशित है वह जीव मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से पीड़ित कैसे हो सकता है ? जिसके मन में सर्व अतिशयों का निमित्त सम्यक्त्व रूप मन्त्र है, उस पुरुष को ठगने के लिए मोह पिशाच भी समर्थ नहीं है। जिसके मन रूपी आकाश तल में सम्यक्त्व रूपी सूर्य प्रकाश करता है, उसके मन में मिथ्यात्व रूपी ज्योति चक्र प्रगट भी नहीं होता है। पाखण्डी रूपी दृष्टि विष सर्प आकर डंख लगाता है, परन्तु जो सम्यक्त्व रूपी दिव्य मणि को धारण करता है उसे कुवासना रूप विष संक्रमण (चढ़ता) नहीं है।

इसलिए सर्व दुःखों का क्षय करने वाला सम्यक्त्व में प्रमाद को नहीं करना चाहिए, क्योंकि—वीर्य, तप, ज्ञान और चारित्र्य भी इस सम्यक्त्व में रहा है। जैसे नगर का द्वार, मुख की आँखें और वृक्ष का मूल है वैसे वीर्य, तप, ज्ञान और चारित्र्य का यह सम्यक्त्व द्वार आँखें और मूल जानना। ज्ञानादि आत्म-स्वभाव, प्रीति का विषयभूत माता, पितादि, स्वजन और श्री अरिहंतादि के अनुराग में रक्त अर्थात् शास्त्रोक्त भावाभ्यास, सतताभ्यास और विषयाभ्यास

अनुष्ठान वाला तू श्री जैन शासन में धर्मानुराग अर्थात् उसमें हमेशा सद्भाव, प्रेम, सद्गुण और धर्म के अनुराग से उन्मय होता है। सब गुणों में मुख्य इस सम्यक्त्व महारत्न को प्राप्त करने से इस जगत में कोई अपूर्व प्रभाव हो जाता है। क्योंकि कहा है कि—जिसको मेरूपर्वत के समान निश्चल और शंकादि दोषों से रहित यह सम्यक्त्व एक दिन का भी प्रगट हो जाये तो वह आत्मा नरक, तिर्यच में नहीं गिरता है। चारित्र्य से भ्रष्ट वह भ्रष्ट नहीं है, परन्तु जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है, सम्यक्त्व से नहीं गिरने वाला संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। अविरति वाला भी शुद्ध सम्यक्त्व होने से श्री तीर्थ-कर नाम कर्म का बन्धन करता है। जैसे कि हरिकुल के स्वामी श्रीकृष्ण महाराजा और श्रेणिक महाराजा विरति के अभाव में भी भविष्य काल में कल्याण-कर तीर्थकर होंगे। विशुद्ध सम्यक्त्व वाला जीव कल्याण की परम्परा को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व महारत्न इतना मूल्यवान है कि देव-दानव से युक्त तीनों लोक भी प्राप्त नहीं करता है। अरधट्ट यन्त्र समान इस संसार में कौन जन्म नहीं लेता, परन्तु तत्त्व से जगत में वही जन्म लेता है कि जिसने इस संसार में सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त किया है। अर्थात् उसका ही जन्म सफल है। हे सुन्दर मुनि ! चिन्तामणी और कल्पवृक्ष को भी जीतने वाला सम्यक्त्व को प्राप्त करके उसमें तुझ रक्षा का प्रयत्न छोड़ना योग्य नहीं है। इस दुस्तर भव समुद्र में जो समकित रूप नाव को नहीं प्राप्त करता है वह डूबता है, डूबा है और डूबेगा। और सम्यक्त्व रूपी नाव को प्राप्त कर भव्यात्मा दुस्तर भी संसार समुद्र को अल्पकाल में तर जाता है, तरता है और तरेगा। इसलिए हे धीर साधु ! जिसकी प्राप्ति के मनोहर भी दुर्लभ हैं उस सम्यक्त्व को प्राप्त कर आराधना में स्थिर तू मन वाला हो और प्रमाद को नहीं करना। अन्यथा प्रमाद में गिरे हुये तेरी यह प्रस्तुत आराधना निश्चय मार्ग से भ्रष्ट हुई नाव के समान 'तड़, तड़' आवाज करते टूट जायेगी। इस तरह सम्यक्त्व नाम का छठा अन्तर द्वार कहा है। अब श्री अरिहंत आदि छह की भक्ति का सातवाँ अन्तर द्वार कहते हैं।

सातवाँ श्री अरिहंतादि छह भक्ति द्वार :—श्री अरिहंत, सिद्ध, चंत्य, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये छह को मोक्ष नगर के मार्ग में सार्थवाह—(मददगार) रूप मानकर, हे क्षपक मुनि ! प्रस्तुत अर्थ—आराधना की निविघ्न सिद्धि के लिए उनको तेरे हर्ष के उत्कण्ठा से विकसित हृदय कमल में भक्ति-पूर्वक सम्यक् रूप धारण कर। केवल एक श्री जैन भक्ति भी दुर्गति को रोक कर दुर्लभ मुक्ति पर्यंत के सुखों को उत्तरोत्तर प्राप्त कराने में समर्थ है, फिर

भी परमेश्वर्य वाले श्री सिद्ध, परमात्मा, चैत्य, आचार्य, उपाध्याय, साधु की भक्ति संसार के कंद का निकंदन करने में समर्थ कैसे न हो ? सामान्य विद्या भी उनकी भक्ति से ही सिद्ध होती है और सफल बनती है तो निर्वाण—मोक्ष की विद्या क्या उनकी भक्ति करने से सिद्ध नहीं होगी । आराधना करने योग्य उनकी भक्ति जो मनुष्य नहीं करता वह उखर भूमि में बोये अनाज के समान संयम को निष्फल करता है । आराधक की भक्ति बिना जो आराधना की इच्छा करता है वह बीज बिना अनाज की और बादल बिना वर्षा की इच्छा करता है । विधिपूर्वक बोया हुआ भी अनाज जैसे वर्षा उगाने वाला होता है, वैसे तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य गुणों को आराधक परमात्मा की भक्ति से सफल करता है । श्री अरिहंतादि की एक-एक की भी भक्ति करने से सुख की परम्परा को अवश्य प्रगट करता है । इस विषय पर कनकरथ राजा का दृष्टान्त रूप है वह इस प्रकार है :—

श्री अरिहंत की भक्ति पर कनकरथ राजा की कथा

जिस नगर में उत्तम पति के द्वारा रक्षण की हुई सुन्दर लम्बी नेत्रों वाली और उत्तम पुत्र वाली स्त्रियाँ जैसे शोभती थीं वैसे राजा से सुरक्षित उत्तम गली बाजार युक्त मिथिला नगरी थी । उसमें कनकरथ नाम का राजा राज्य करता था । सूर्य के समान जिसके प्रताप के विस्तार से शत्रु के समूह का पराभव होता था, सूर्य के तेज से राखी विकासी कमल का खण्ड जैसे शोभा-रहित और संकुचित-दुर्बल बन जाए वैसे शोभारहित और दीन वे शत्रु बन गये थे । याचक अथवा स्नेही वर्ग को संतोष देने वाले और परम्परा के वंश का त्याग करने वाला नीति प्रधान राज्य के सुख को भोगते और रत्नों से प्रकाशमान सिंहासन पर बैठा था । उस समय पर एक संधिपालक ने पूर्ण रूप में मस्तक नमाकर विनती की कि—हे देव ! यह आश्चर्य है कि सूर्य अंधकार को जीतता है और सिंह के बच्चे की भी केसरा मृग नाश करता है, वैसे चिर-काल से भेजा हुआ आपका महान चतुरंग सेना को उत्तर दिशा का स्वामी महेन्द्र राजा भगा रहा है । उनकी प्रवृत्ति जानने के लिए नियुक्त किये गुप्तचरों ने आकर अभी ही मुझे युद्ध का वृत्तान्त यथा स्थित कहा है । और वही जो कलिंग देश राजा आपका प्रसाद प्राप्त था वह निर्लज्ज शत्रु के साथ मिल गया है, दाक्षिण्य रहित कुरू देश का राजा भी आप के सेनापति के प्रति द्वेष दोष से उसी समय वापन युद्ध में से आ गया है । दूसरे भी काल कुंजर, श्री शेखर, शंकर आदि सामंत राजा सेना को बिखरते देखकर युद्ध से पीछे हट गये हैं और

इस तरह मदोन्मत्त हाथियों की सँड से श्रेष्ठ रथों का समूह नष्ट हो रहे हैं, रथों के समूह को चूर होने से छोड़े जहाँ तहाँ भागते जन समूह को गिरा रहे हैं, जन समूह गिरने से मार्ग दुर्गम बन गया है, इससे व्याकुल शूरवीर सुभट इधर-उधर भाग रहे हैं, शूरवीर सुभटों का परस्पर लड़ने से सेना समूह वहाँ व्याकुल हो रही है और सेना के लोगों के पुकार शब्द से कायर लोगों का समूह वहाँ भाग रहा है, इस तरह मारे गये योद्धायुक्त तुम्हारी सेना को शत्रु ने यम के घर पहुँचा दिया है।

यह सुनकर ललाट पर भयंकर भ्रुकुटी चढ़ाकर राजा ने प्रस्थान करने वाली महा आवाज करने वाली भेरी को बजवाई। फिर उस भेरी का बादल के समूह के आवाज समान महान् व्यापक नाद से प्रस्थान का कारण जानकर शीघ्र चतुरंग सेना उपस्थित हुई। तब अति कुपित होकर कनकरथ राजा उस सेना के सहित शीघ्र प्रस्थान करके शत्रु महेन्द्र सिंह राजा की सीमा में पहुँच गया। फिर उसे आया जानकर अत्यन्त उत्साह को धारण करते महेन्द्र सिंह ने उसके साथ अति जोर से युद्ध करना प्रारम्भ किया। फिर चक्र और बाणों के समूह को फेंकते, तेज से उग्र सुभट उछल रहे थे, हाथ में पहला हुआ वीरत्व सूचक वीरवल्लभ में जुड़े हुये मणि की कान्ति से मानो कुपितयम नेत्रों से कटाक्ष फेंकता हो, इस तरह अवरोध करता अर्थात् शत्रु को रोकते मन और पवन समान वेग वाले घोड़े के समूह वाला महेन्द्र सिंह शत्रु कनक राजा की सेना के साथ युद्ध करने लगा। फिर जो रण भूमि में भागे हुए दण्ड रहित छल समूह मानो भोजन करने के बाद फेंका हुआ थाल न हो ऐसा दिखते थे और तलवार से शत्रुओं के गले काट देने वाले, युद्ध क्रिया से दुष्ट व्यंतरादि देवों को प्रसन्न करने वाले और अपने मालिक के कार्य में देह का भी त्याग करने वाले उत्तम बलवान योद्धा वहाँ कृतकृत्य होने से हर्षपूर्वक मानो नाच रहे थे। वहाँ रुधिर से भोगे मस्तकों से अलंकृत पृथ्वी मानो लाल कमलों से रची दिवार न हो? और जमीन दो विभाग के ऊपर गिरे हाथी मानो दूटे हुए अंजत पर्वत के शिखर न हों? इस तरह दिखते थे। इस प्रकार बहुत लोगों का नाश करने वाला युद्ध जब हुआ तब मिथिला के राजा ने दुर्जय अपने हाथी के ऊपर बैठकर रणभूमि में शत्रु के सन्मुख खड़ा रहा। इस अवसर पर मन्त्रियों ने कहा कि—हे देव ! युद्ध से रुक जाओ। शत्रु के मनो-रथ को सफल न करो। स्वशक्ति का विचार करो। यह उत्तर दिशा का राजा युद्ध में दृढ़ अभ्यासी है देव सहायता करते हैं महान् पक्ष वाला और महा सात्त्विक है, इस तरह अभी ही गुप्तचरों ने हमसे कहा है, इसलिए एक क्षण-

मान भी इस स्थान पर रहना योग्य नहीं है। हे देव ! अपनी शक्ति के अतिरिक्त कार्य आरम्भ करना जानियों ने मरण का मूल कारण कहा है, इस लिए सर्व प्रकार से भी अपने आत्मा का ही रक्षण करना चाहिये। हे देव ! अभी भी अखण्ड सेना शक्ति वाले आप यदि युद्ध से रुक जाओगे, तो शत्रु ने भाव को नहीं जानने से आप अपने नगर में निविघ्न पहुँच जाओगे। अन्यथा भाग्यवश हार जाने से और शत्रुओं ने भागते हुए भी रोक देने से, असहायक बिना आपको भागना मुश्किल हो जायेगा।

इस प्रकार मन्त्रियों के वचन रूपी गाढ़ प्रतिबन्ध से निर्भय भी कनक राजा युद्ध से वापिस लौटे, बड़े पुरुष स्पष्ट समय के जानकार होते हैं। फिर शत्रु को हारे हुए और भागते देखकर महेन्द्र सिंह राजा भी करुणा से उसको प्रहार किये बिना वापिस चला। मान भंग होने से और हृदय में बढ़ शोक प्रगट होने से अपने आपको मरा हुआ मानता कनकरथ ने वापिस लौटते सुंसुमार पुर में इन्द्र महाराज के समूह से सेवित चरण कमल वाले श्री मुनि सुव्रत स्वामी को पधारे हुए देखा। तब राज चिन्हों को छोड़कर उपशम भाव वाला वेश धारण करके गाढ़ भक्ति से तीन बार प्रदक्षिणा देकर गणघर मुनिवर और केवल ज्ञानियों से घिरे हुए जगतनाथ परमात्मा को वन्दन करके राजधर्म सुनने के लिए शुद्ध भूमि के ऊपर बैठा। क्षणभर प्रभु की वाणी को सुनकर और फिर युद्ध की परिस्थिति को याद करके विचार करने लगा कि मेरे जीवन को धिक्कार हो कि जिस पूर्व पुण्य के नाश होने से इस तरह शत्रु से हारा हुआ पराक्रम वाले और सत्त्व नष्ट होने से मेरी अपकीर्ति बहुत फैल गई है। इस तरह बार-बार चिन्तन करते निस्तेज मुख वाला प्रभु को नमस्कार करके समवसरण से निकलते राजा को करुणा वाले विद्युत्प्रभ नामक इन्द्र के सामानिक देव से कहा कि—हे भद्र ! इस अति दुर्घ के स्थान पर भी हृदय में तीक्ष्ण शल्य लगने के समान तू इस तरह संताप क्यों करता है ? और नेत्रों को हाथ से मसलकर नीलकमल समान शोभा रहित गीली हुई क्यों धारण करता है ? उसके बाद आदरपूर्वक नमस्कार करते मिथिला पति ने उत्तर दिया कि—आप इस विषय में स्वयंमेव यथा स्थित ज्ञान से जानते हैं। तो यहाँ इस विषय में मैं क्या कहूँ ? अनेक भूतकाल में हो गये और अत्यन्त भविष्य काल हो गये उसके कार्यों को भी निश्चय जानते हैं उनको यह जानना वह तो क्या है ? जब राजा ने ऐसा कहा तब अद्विज ज्ञान से तत्त्व को जानकर विद्युत्प्रभ देव ने इस तरह कहा कि—अहो ! तू शत्रु से पराभव होने से कठोर दुःख को हृदय में धारण करता है, परन्तु श्री जिनेश्वर की भक्ति को दुःख

दुःख मुक्ति का मूल कारण कहा है। हे राजन् ! तेरी प्रभु के चरण कमल की वन्दन क्रिया से मैं प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए अब मेरे प्रभाव से शीघ्र शत्रु के सामने जय को प्राप्त करेगा।

ऐसा देव का वचन सुनकर प्रसन्न मुख कमल वाले राजा सेना के साथ जल्दी शत्रु की ओर वापिस चला, फिर अनेक युद्धों में विजय करने वाला, अभिमान वाला महेन्द्र सिंह उसे आते सुनकर तैयार होकर सामने खड़ा हुआ और दोनों का युद्ध हुआ केवल विद्युत्प्रभ के प्रभाव से मिथिलापति ने प्रारम्भ में ही महेन्द्र सिंह को हरा दिया और उसने पहले हाथी, घोड़े आदि राज्य के विविध अंग को ग्रहण किया था उसे वापिस लिया और उसे आज्ञा पालन करवा कर राज्य का सार सम्भाल का कार्य उसे रख दिया। फिर विजय करने योग्य शत्रु को जीत कर कनकरथ अपने नगर में आया और जगत में शरद चन्द्र की किरण समान उज्ज्वल कीर्ति वाला प्रसिद्ध हुआ। एक दिन विशुद्ध लेश्या में वर्तन करते वह विचार करने लगा कि—अहो ! श्री जिनेश्वर भगवान की महिमा कैसी है कि जिसके वन्दन मात्र से ही मैंने मनोरथ को भी आगोचर-कल्पना में भी नहीं आए, ऐसा अत्यन्त वांछित प्रयोजन को लीला मात्र से अनायाम से प्राप्त किया है। इसलिए जगत में एक प्रभु इस जन्म और पर-जन्म में भावी कल्याण करने वाला सहज स्वभाव वाला परम परमात्मा और श्रेष्ठ कल्प वृक्ष समान उनकी सेवा करने योग्य है। ऐसा चिंतन करके राजा ने श्री मुनि मुव्रत प्रभु के चरण कमल में दीक्षा स्वीकार की। फिर उसे विविध पूर्वक पावन किया, इससे गुण गण का निधान समान गणधर नामगोत्र का बन्धन किया, अन्त में भरकर देदीप्यमान शरीर वाला महर्द्धिक देवता बना वहाँ से आयुष्य पूर्णकर उत्तम कुल में मनुष्यत्व और उत्तम भोगों को प्राप्त कर श्री तीर्थकर देव के पास दोक्षा लेकर गणधर बन कर संसार रूपी महावृक्ष को मूल से उखाड़ कर केवल ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त किया और उन्होंने जन्म, मरण से रहित परम निर्वाण पद को प्राप्त करेगा। इस तरह श्री अरिहन्त परमात्मा आदि की भक्ति इस तरह उत्तरोत्तर कल्याणकारी जानकर हे क्षपक मुनि ! तू सम्यक् रूप उस भक्ति का आचरण कर। श्री अरिहन्तादि छह की भक्ति यह सातवाँ द्वार मैंने कहा है, अब आठवाँ पञ्च नमस्कार नामक अन्तर द्वार कहते हैं।

आठवाँ पञ्च नमस्कार द्वार :—हे महामुनि क्षपक ! समाधि युक्त और कुविकल्प रहित तूने प्रारम्भ किया, विशुद्ध धर्म का अनुबन्ध (परम्परा) हो इस तरह अब बन्धु समान श्री जिनेश्वर तथा सर्वसिद्धा, आचार का पालन

करने वाले आचार्य, सूत्र का दान करने वाले उपाध्याय तथा शिवसाधक सर्व साधुओं को निश्चय सिद्धि के सुख साधक नमस्कार को करने में नित्य उद्यमी बन। क्योंकि यह नमस्कार संसार रूपी रण भूमि में गिरे हुए या फंसे हुए को शरणभूत, असंख्य दुःखों का क्षय का कारण रूप और मोक्षपद का हेतु है और कल्याण रूप कल्प वृक्ष का अवध्य बीज है, संसार रूप हिमाचल के शिखर ऊपर ठण्डी दूर करने वाला सूर्य है और पाप रूप सर्पों का नाश करने वाला गरुड़ है। दारिद्र्यता के कंद को मूल में से उखाड़ने वाला वराह की दाढ़ा है और प्रथम प्रगटता सम्यक्त्व रत्न के लिए रोहणाचल की भूमि है सद्गति के आयुष्य के बन्धन रूपी वृक्ष के पुष्पनी विघ्न रहित उत्पत्ति है और विशुद्ध-उत्तम धर्म की सिद्धि की प्राप्ति का निर्मल चिन्ह है। और यथा विधिपूर्वक सर्व प्रकार से आराधना कराने से इच्छित फल प्राप्त कराने वाला यह पन्च नमस्कार श्रेष्ठ मन्त्र समान है इसके प्रभाव से शत्रु भी मित्र बन जाता है, तालपुट जहर भी अमृत बन जाता है भयंकर अटवी भी निवास स्थान के समान चित्त को आनन्द देता है। चोर भी अपना रक्षक बनते हैं, ग्रह अनुग्रह कारक बनते हैं अपशुकन भी शुभशुकन के फल को देने वाला है। माता के समान डाकिणी भी अल्पमात्र भी पीड़ा नहीं करती है और भयंकर मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र के प्रयोग भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं होते हैं। पन्च नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से अग्नि कमल के समूह समान, सिंह सियार के सदृश और जंगली हाथी भी मृग के बच्चे समान दिखता है। इसी कारण से देव, विद्याधर आदि भी उठते, बैठते, टकराते या गिरते इस नमस्कार को परम भक्ति से स्मरण करते हैं। वृद्धि होते श्रद्धा रूपी तेल युक्त मिथ्यात्व रूपी अन्धकार का नाशक और यह नमस्कार रूप श्रेष्ठ दीपक धन्यात्माओं के मनोमन्दिर में प्रकाश करता है। जिसके मन रूपी वन की झाड़ियों में नमस्कार रूपी केसरी सिंह का बच्चा क्रीड़ा करता है उसको अहित रूपी हाथियों के समूह का मिलन नहीं होता है। बेड़ियों के कठोर बन्धन वाली कैद और वज्र के पिजरे में भी तब तक है कि इस नमस्कार रूपी श्रेष्ठ मन्त्र का जहाँ तक जाप नहीं किया। अहंकारी, दुष्ट, निर्दय और क्रूर दृष्टिवाला शत्रु भी तब तक शत्रु रहता है कि श्री नमस्कार मन्त्र का चिन्तन पूर्वक जहाँ तक उसका जाप नहीं करता है। इस मन्त्र का स्मरण करने वाले को मरण में, युद्ध भूमि में सुभट समूह का संगम होते और गाँव नगर आदि अन्य स्थान जाते सर्वत्र रक्षण और सम्मान होता है।

तथा देदीप्यमान मणि की कान्ति से व्याप्त विशाल फण वाला सर्पों

की फला के समूह में से निकलती किरणों के समूह से जहाँ भयंकर अन्धकार नाश होता है, ऐसे पाताल में भी इच्छा के साथ में मन को आनन्द देने वाला, पाँचों इन्द्रियों के विषय जिसके सिद्ध होते ऐसे दानव वहाँ आनन्द करते हैं, वह भी निश्चय नमस्कार मन्त्र के प्रभाव का एक अंश मात्र है। तथा विशिष्ट पदवी, विद्या विज्ञान, विनय तथा न्याय से शोभित और अस्खलित विस्तार से फैलता निर्मल यश से समग्र भवन तल व्याप्त होना, और अत्यन्त अनुरागी स्त्री, पुत्र आदि सारे मित्र तथा स्वजन वाला, आज्ञा को स्वीकार करने में उत्साही बुद्धिमान घर पर कार्य करने वाले नौकर वर्ग, अक्षीण लक्ष्मी के विस्तार का मालिक और भोगों को प्राप्त करने में श्रेष्ठ राजा, मन्त्री आदि विशिष्ट लोगों और प्रजा का अति मान्य हो, मनोवांछित फल की प्राप्ति से सुन्दर और दुःख की बात को चमत्कार करने वाला अर्थात् दुःख जैसा शब्द भी जहाँ नहीं है ऐसा जो मनुष्य जीवन मिलता है वह भी नमस्कार का फल का एक अल्प अंश मात्र है। और जो सुकुमार सर्व श्रेष्ठ अंग वाली सुन्दर चौसठ हजार स्त्रियों वाला महाप्रभावशाली शोभित बत्तीस हजार सामंत राजाओं वाला, श्रेष्ठ नगर समान छिथानवें करोड़ गाँव के समूह से अति विस्तार वाला, देव नगर के समान बहत्तर हजार श्रेष्ठ नगरों की संख्या वाला, खेट, कवंट, मंडब, द्रोण मुख आदि अनेक स्थलों वाला, शोभते, मनोहर, सुन्दर रथों के समूह से घेरे को देने वाले, शत्रु सैन्य को छेदन करने से अत्यन्त गर्विष्ठ पैदल सेना से व्याप्त मद झरते गंड स्थल वाले प्रचन्द हाथियों के समूह वाले, मन और पवन तुल्य वेग वाले, चपल खुर से भूमितल को उखाड़ने वाले घोड़ों का समूह संख्या द्वार सोलह हजार यक्षों की रक्षा से व्याप्त, नव निधान और चौदह रत्नों के प्रभाव से सिद्धि होते सर्व प्रयोजन वाला इसमें जो छह खण्ड भरत क्षेत्र का स्वामित्व मिलता है, वह भी निश्चय श्रद्धारूपी जल के सिंचन से सर्व प्रकार से वृद्धि होने वाला श्री पञ्च नमस्कार रूप वृक्ष का ही विशिष्ट फल का विलास है।

और जैसे दो सीप के संपुट में मोती उत्पन्न होते हैं वैसे उज्ज्वल देव दुष्य वस्त्र से आच्छादित सुन्दर देव शय्या में उत्पन्न हो और उसके बाद जीव को वहाँ मनोहर शरीर वाला, जावज्जीव सुन्दर, यौवन अवस्था वाला, जावज्जीव रोग, जरा, मेल और पसीने रहित निर्मल शरीर वाला, जीवन तक नस, चरबी, हड्डी, मांस, रुधिर आदि शरीर के दुर्गंध से मुक्त, जीवन तक ताजे पुष्प माला और देव दुष्य वस्त्र को धारण करते अच्छी तरह तपा हुआ जातिवंत सुवर्ण और मध्याह्न के सूर्य समान तेजस्वी शरीर की कान्ति वाला, पंच

वर्ण के रत्नों के आभूषण की किरणों से सर्व दिशाओं को चित्रित करते, सम्पूर्ण गंडस्थल पर लहराते कुण्डलों की कान्ति से देदीप्यमान, तथा मनोहर कंदोरे वाली देवांगनाओं के समूह से मनोहर तथा समग्र ग्रहों के समूह को एक साथ गिराने में, भूतल को घुमाने में, और सारे कुल पर्वतों के समूह को लीलामात्र से चूरण करने में, और मान सरोवर आदि बड़े-बड़े सरोवर, नदियों, द्रह और समुद्रों के जल को प्रबल पवन के समान एक काल में ही सम्पूर्ण शोषण करने में शक्तिमान, तीनों लोकों को पूर्ण रूप में भर देने के लिये अत्यधिक रूपों को शीघ्र बनाने वाले, तथा शीघ्र केवल परमाणु जैसा छोटा रूप बनाने में समर्थ, और एक हाथ की पाँच अंगुलियों से प्रत्येक के अग्र भाग में एक-एक को एक साथ पाँच मेरु पर्वत को उठाने में समर्थ, अधिक क्या कहें ? एक क्षण में ही उपस्थित वस्तु को भी नाश और नाश वस्तु को भी मौजूद दिखाने में और करने में भी समर्थ, तथा नमस्कार करते देव समूह के मस्तक मणि की किरणों की श्रेणि से स्पर्शित चरण वाले, भृकुटी के इशारे मात्र के आदेश करते ही प्रसन्न होकर संभ्रमपूर्वक खड़े होते आभियोगिक देवों के परिवार वाला, इच्छा के साथ में ही अनुकूल विषयों के समूह को सहसा प्राप्त करने वाले प्रीति रस से युक्त सतत् आनन्द करने की एक व्यसनी निर्मल अवधि ज्ञान से और अनिमेष दृष्टि से दृश्यों को देखने वाला तथा समयकाल में उदय को प्राप्त करते सकल शुभकर्म प्रकृतियों वाला इन्द्र महाराज भी देवलोक में जो ऋद्धि से युक्त मनोहर विमानों की श्रेणियों का चिरकाल अस्खलित विस्तार वाला स्वामित्व भोगता है वह भी सद्भावपूर्वक श्री पंच नमस्कार मन्त्र की सम्यक् आराधना का अल्प प्रभाव जानना ।

ऊर्ध्व, अधो और तिच्छालोक रूपी रंग मंडप में द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव के आश्रित आश्चर्यकारक जो कुछ भी विशिष्ट अतिशय किसी तरह किसी भी जीव में दिखता है अथवा सुना जाता है वह सब भी श्री नमस्कार मन्त्र स्मरण के महिमा से प्रगट होता है, ऐसा जानो । दुःख से पार उतारने वाले जल में, दुःख से पार कर सके ऐसी अटवी में, दुःख से पार उतरने वाला विकट पर्वत में अथवा भयंकर शमशान में अथवा अन्य भी दुःखद समय पर जीव को नमस्कार रक्षक और शरण है । वश करना, स्थान भ्रष्ट करना, तथा स्तम्भित करना, नगर का क्षोभ करवाना या घेराव करना इत्यादि में तथा विविध प्रयोग करना वह यह नमस्कार ही समर्थ है । अन्य मन्त्रों से प्रारम्भ किया हुआ जो कार्य, वह भी उसको ही सम्यग् प्राप्ति होती है । अथवा अपने स्मरणपूर्वक कार्य प्रारम्भ किये हुए की सिद्धि करने वाला, यह श्री पंच नमस्कार का स्मरण

का ही प्रभाव है। इसलिए सभी सिद्धियों का और मंगलों का इच्छित आत्मा को नमस्कार का सर्वत्र सदा सम्यग् चिन्तन करना चाहिए। सोते, उठते, छींकते, खड़े होते, चले, ठहराते, या गिरते, इत्यादि सर्व स्थानों पर निश्चय इस परम मन्त्र का प्रयत्नपूर्वक बार-बार स्मरण करना चाहिए। पुण्यानुबंधी पुण्य वाले जिसने इस नमस्कार को प्राप्त किया है उसने नरक और तिर्यच की गति को अवश्यमेव रोक दी है। निश्चय ही पुनः वह कभी भी अपयश और नीच गोल को नहीं प्राप्त करता और जन्मान्तर में भी यह नमस्कार प्राप्त होना उसे दुर्लभ नहीं है। और जो मनुष्य एक लाख नमस्कार मन्त्र को अखंड गिनकर श्री जैनेश्वर भगवान की तथा संघ की पूजा करता है वह श्री तीर्थंकर नामकर्म का बन्धन करता है। और नमस्कार के प्रभाव से अवश्य जन्मान्तर में भी जाति, कुल, रूप, आरोग्य और सम्पत्तियाँ इत्यादि श्रेष्ठ मिलती हैं। चित्त से चिन्तन किया हुआ, वचन से प्रार्थना की हो और काया से प्रारम्भ किया हुआ, तब तक नहीं होता कि जब तक नमस्कार मन्त्र स्मरण नहीं किया। और इस नमस्कार मन्त्र से ही मनुष्य संसार में कदापि नौकर-चाकर, दुर्भागी, दुःखी, नीच कुल में जन्म और विकल इन्द्रिय वाला नहीं होता है। परमेष्ठि को भक्तिपूर्वक नमस्कार करने से इस लोक और परलोक में सुखकर होता है तथा इस लोक, परलोक के दुःखों को चूरण करने में समर्थ है। अधिक क्या कहें ? निश्चय जीवों को जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है कि जिसकी भक्ति और नमस्कार से प्राप्ति में समर्थ न हो।

यदि परम दुर्लभ परमपद मोक्ष सुख भी इस नमस्कार मन्त्र से प्राप्त करता है, तो उसके साथ अर्थात् अनाज के साथ घास के समान आनुसंगिक सिद्ध होते हैं, इसके बिना अन्य सुख की कौन-सी गिनती है ? जिसने मोक्ष नगर को प्राप्त किया है या प्राप्त करेंगे अथवा वर्तमान काल में प्राप्त करते हैं वह श्री पंच नमस्कार के गुप्त महा सामर्थ्य का योग समझना। दीर्घकाल तप किया हो, चारित्र्य का पालन किया हो और अति श्रुत का अभ्यास किया हो, फिर भी यदि नमस्कार मन्त्र में प्रीति नहीं है तो वह सब निष्फल जानना। चतुरंग सेना का नायक सेनापति जैसे सेना का दीपक रूप प्रकाशनमान है वैसे दर्शन, तप, ज्ञान और चारित्र्य का नायक यह भाव नमस्कार उन गुणों का दीपक समान है। इस जीव ने भूतकाल में भाव नमस्कार बिना निष्फल द्रव्य लिंग (वेश से चारित्र्य) को अनन्ती बार स्वीकार किया और छोड़ दिया। इस तरह जानकर हे सुन्दर मुनि ! आराधना में लगे मन वाला तू भी प्रयत्नपूर्वक शुभ भावना से इस नमस्कार मन्त्र को मन में धारण कर। हे देवानु प्रिय !

तुझे बार-बार इस विषय में प्रार्थना करता हूँ कि—संसार समुद्र को पार उतरने का पुल समान नमस्कार मंत्र धारण करने में शिथिल नहीं होना। क्योंकि जन्म, जरा और मरण से भयंकर संसार रूपी अरण्य में इस नमस्कार मन्त्र को मन्द पुण्य वाले प्राप्त नहीं करते हैं। राधा वेध का भी स्पष्ट भेदन हो सकता है, पर्वत को भी मूल से उखेड़ सकते हैं और आकाश तल में चल सकते, उड़ सकते हैं, परन्तु महामन्त्र नमस्कार को प्राप्त करना दुर्लभ है। बुद्धिशाली को अन्य सब विषयों में भी शरणभूत होने से इस नमस्कार मन्त्र का स्मरण करना चाहिए और अन्तिम समय में आराधना के काल में तो सविशेष स्मरण करना चाहिए। यह नमस्कार मन्त्र आराधना में विजय ध्वज को ग्रहण करने के लिए हाथ है, स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग है तथा दुर्गति के द्वार को बन्द करने के लिए अर्गला है। अन्य दिन में भी हमेशा इस नमस्कार मन्त्र को पढ़ना, गिनना, (जपना) और सुनना चाहिए तथा सम्यक् अनुप्रेक्षा करनी चाहिए तो फिर मृत्यु समय में पृच्छना ही क्या ?

जब घर जलता है, तब उसका मालिक अन्य सब छोड़कर आपत्ति का पार उतारने में समर्थ एक भी बड़ा कीमती रत्न को लेता है, अथवा जैसे युद्ध के भय में सुभट भृकुटी चढ़ाकर वैरी सुभट से रणभूमि में विजय प्राप्त करने में समर्थ एक अमोघ शस्त्र को ग्रहण करता है, वैसे जबरोगी में बारह प्रकार के सर्व श्रुतस्कंध (द्वादशांगी) का सम्यक् चिन्तन करने में एक चित्तवाले शक्ति वाला नहीं होता है तब उस द्वादशांगी को भी छोड़कर मृत्यु के समय में निश्चय ही वह श्री पंच नमस्कार का ही सम्यक् चिन्तन करते हैं, क्योंकि वह द्वादशांगी का रहस्यभूत है। सर्व द्वादशांगी परिणाम विशुद्ध का ही हेतुमात्र है, वह नमस्कार मन्त्र परिणाम विशुद्ध होने से नमस्कार मन्त्र द्वादशांगी का सारभूत कैसे नहीं हो सकता है ? अर्थात् द्वादशांगी का सारभूत नमस्कार है। इसलिए विशुद्ध शुभ लेश्या वाला आत्मा अपने को कृतार्थ मानता, उसमें ही स्थिर चित्त वाला बनकर उस नमस्कार मन्त्र को बार-बार सम्यक् स्मरण करता है। वैसे सुभट युद्ध में जय पताका की इच्छा करता है, वैसे अवश्य मृत्यु के समय मोह की जय पताका रूप कान को अमृत तुल्य नमस्कार को कौन बुद्धिमान स्वीकार न करे ? जैसे वायु के जल बादल को बिखेर देता है वैसे प्रकृष्ट भाव से परमेष्ठियों को एक बार भी नमस्कार करने से सारे दुःख के समूह को नाश करता है। संविज्ञ मन द्वारा, वचन द्वारा अस्खलित स्पष्ट मनोहर स्वरपूर्वक और काया से पद्मासन में बैठकर तथा हाथ की योग मुद्रा वाला आत्मा स्वयं सम्पूर्ण नमस्कारमंत्र को सम्यग् जाप करना चाहिए। यदि यह विधि उत्सर्ग विधि है फिर भी बल

कम होने से ऐसा करने में समर्थ न हो तो भी उनके नाम अनुसार 'अ-सि-आ-उ-सा' इन पाँच अक्षरों का सम्यग् रूप मौनपूर्वक भी जाप करना चाहिये । यदि ऐसा भी करने में किसी प्रकार का अशक्य हो तो 'ओम' इतना ही ध्यान करना चाहिये । इस 'ओम' द्वारा श्री अरिहंत, अशरीरी सिद्ध परमात्मा, आचार्य, उपाध्याय और सर्व मुनिवरों का समावेश हो जाता है । शब्द शास्त्र के जानकार वैयाकरणियों ने उनके नाम में प्रथम प्रथम अक्षरों की संधि करने से यह 'ओम' या ॐकार को बतलाया है ।

इसलिए ऐसे ध्यान से अवश्य श्री पंच परमेष्ठियों का ध्यान होता है अथवा जो निश्चल यह ध्यान को भी करने में समर्थ न हो तो उसके पास बैठे हुए कल्याण मित्र सार्धमि बन्धुओं के समूह से बुजवाता श्री पंच नमस्कार मन्त्र को सुने और हृदय में इस प्रकार से भावों का चिन्तन करे कि—यह नमस्कार मन्त्र धन की गठरी है, वह निश्चय किसी दुर्लभ व्यक्ति को प्राप्त होता है, वह यह इष्ट संयोग हुआ है, और यही परम तत्व है । अहो ! अवश्य अब मैं इस नमस्कार मन्त्र की प्राप्ति से संसार समुद्र के किनारे पहुँचा नहीं तो कहाँ मैं होता ? अथवा कैसा इस तरह नमस्कार मन्त्र का सम्यग् योग हुआ है ? मैं धन्य हूँ कि —अनादि, अनन्त संसार समुद्र में अचिर्य चिन्तामणी यह श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र को प्राप्त किया है । क्या आज मेरा सर्व अंगों में अमृतरूप बन गये हैं अथवा क्या किसी ने अकाल में भी मुझे सम्पूर्ण सुखमय बना दिया है । इस तरह परम समता रस की प्राप्ति पूर्वक सुना हुआ नमस्कार मन्त्र अमृत धारा के योग से जैसे जहर को नाश करता है, वैसे क्लिष्ट कर्मों का नाश करता है । जिसने मरण काल में इस नमस्कार मन्त्र का भावपूर्वक स्मरण करता है उसने सुख को आमंत्रण दिया है और दुःख को जलांजलि दी है । यह नमस्कार मन्त्र पिता, माता, निष्कारण बन्धु, मित्र और परमोपकारी है । यह नमस्कार सर्व श्रेयों का परम श्रेय, सर्व मंगलों का परम मंगल, सर्व पुण्यों का परम पुण्य और सर्व फलों का परम फल है तथा यह नमस्कार मन्त्र इस लोकरूपी घर में से परलोक के मार्ग में चलते हुए जीव रूप मुसाफिरों का परम हितकर प्राथिय तुल्य है । जैसे-जैसे उसके श्रवण का रस मन में बढ़ता है वैसे-वैसे जल भरे कच्चे मिट्टी के घड़े के समान क्रमशः कर्म की गाढ़ क्षीण होती है । ज्ञानरूपी अश्व से युक्त श्री पंच नमस्कार रूप सारथि से प्रेरित तप-नियम और संयम का रथ में बैठने वाले मनुष्य को निर्वृत्ति मोक्ष नगर में पहुँचा देता है ।

जिसके प्रभाव से अग्नि भी शीतल हो जाती है और गंगा नदी उलटे मार्ग में बहने लगी है तो वह नमस्कार मन्त्र परमपद मोक्ष नगर में नहीं पहुँचायेगा ? अवश्यमेव पहुँचायेगा । इसलिए आराधनापूर्वक एकाग्र चित्त वाला और विशुद्ध लक्ष्म्या वाला तू संसार का उच्छेद करने वाला नमस्कार मन्त्र जाप नहीं छोड़ना । मरणकाल में इस नमस्कार को अवश्य साधना चाहिए, क्योंकि श्री जिनेश्वर देव ने इसे संसार का उच्छेद करने में समर्थ देखा है । निर्विवाद कर्म का क्षय तथा अवश्य मंगल का आगमन ये श्री पञ्च नमस्कार करने का सुन्दर तात्कालिक फल है । कालान्तर भाविफल है तो इस जन्म और अन्य जन्म का, इस तरह दो प्रकार का है, उसमें उभय जन्म में सुखकारी सम्यग् अर्थ-काम की प्राप्ति वह इस जन्म का फल है । उसमें भी उसके क्लेश बिना प्राप्ति और आरोग्य पूर्वक उन दोनों को निर्विघ्न भोगने से इस जन्म में सुखकारक है और शास्त्रोक्त विधि से उत्तम स्थान में व्यय करने से परभव में सुखकारक होता है । श्री पञ्च नमस्कार का अन्य जन्म सम्बन्धी भी फल कहा है । यदि उसी जन्म में ही किसी कारण से सिद्धि में गमन न हो, फिर भी एक बार भी नमस्कार मन्त्र को प्राप्त किया हुआ और निश्चय उसकी विराधना नहीं करने वाला, अतुल पुण्य से शोभित उत्तम देव तथा मनुष्य के अन्दर महान् उत्तम कुल में जन्म लेकर अन्त में सर्व कर्मों का क्षय करके सिद्धि को प्राप्त ही करते हैं । तथा इस संसार में नमस्कार का प्रथम अक्षर 'न' भी वास्तविक प्राप्ति क्षण क्षण में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के अनन्त पुद्गलों की निर्जरा होने से होता है तो फिर शेष अक्षरों में भी प्रत्येक अक्षर से अनन्त गुणी विशुद्धि होने से होता है । इस तरह जिसका एक-एक अक्षर भी अत्यन्त कर्म क्षय होने से होता है, वह नमस्कार वांछित फल को देने वाला कैसे नहीं होता है । और जो पूर्व कहा है कि इस जन्म में अर्थ और काम की प्राप्ति होती है । उसके मृतक के व्यतिकर से धन प्राप्त करने वाला श्रावक पुत्र का अर्थ विषय में दृष्टान्तभूत है । वह इस प्रकार :—

श्रावक पुत्र का दृष्टान्त

एक बड़े नगर के अन्दर यौवन से उन्मत्त वेश्या और जूए का व्यसनी तथा प्रमाद से अत्यन्त घिरा हुआ एक श्रावक पुत्र रहता था । बहुत काल तक अनेक प्रकार से समझाने पर भी उसने धर्म को स्वीकार नहीं किया और निरंकुश हाथी के समान वह स्वच्छन्द विलास करता था । फिर भी मरते समय पिता ने करुणा से बुलाकर उसे कहा कि—हे पुत्र ! यद्यपि तू अत्यन्त प्रमादी

है, फिर भी समस्त वस्तुओं के साधने में समर्थ इस श्री पञ्च नमस्कार मन्त्र को तू याद कर और हमेशा दुःखी अवस्था में इस श्रेष्ठ मन्त्र को स्मरण करना। इसके प्रभाव से भूत, वेताल, उपद्रव नहीं करते हैं और शेष क्षुद्र उपद्रवों का समूह भी अवश्य नाश होते हैं। इस तरह पिता के वचन आग्रह से उसने 'तहत्ति' कहकर स्वीकार किया, बाद में पिता मर गया और धन का समूह नष्ट हो गया, तब स्वच्छन्द भ्रमण करने का स्वभाव वाले उसने एक त्रिदन्डी के साथ में मित्रता की अथवा कुल मर्यादा छोड़ने वाले पुरुष के लिए यह क्या है? एक समय त्रिदन्डी ने विश्वासपूर्वक उसे कहा कि—हे भद्र! यदि तू काली चतुर्दशी की रात्री में अखण्ड श्रेष्ठ अंग वाले मृतक शरीर को लेकर आये तो उसे दिव्य मन्त्र शक्ति से साधना करके तेरी दरिद्रता को खतम कर दूँ। इस बात को श्रावक पुत्र ने स्वीकार किया और उसके कहे समयानुसार निर्जन शमशान प्रदेश में उसी तरह उसे मृतक लेकर दिया। फिर उस मुरदे के हाथ में तलवार देकर उसे मण्डलाकार बना कर उसके ऊपर बैठाया और उसके सामने ही श्रावक पुत्र को बैठाया। फिर उस त्रिदण्डी ने जोर से विद्या का जाप प्रारम्भ किया और विद्या के आवेश से मुरदा उठने लगा, इससे श्रावक पुत्र डरने लगा, अतः वह शीघ्र पञ्च नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने लगा, और इसके सामर्थ्य से मुरदा वापिस जमीन के ऊपर गिरा। पुनः त्रिदण्डी के दड़ा विद्या जाप से मुरदा उठा और श्रावक पुत्र के नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से नीचे गिरा, तब त्रिदन्डी ने कहा कि हे श्रावक पुत्र? तू कुछ भी मन्त्रादि को जानता है? उसने कहा कि—मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ फिर ध्यान के प्रकर्ष में चढ़ते त्रिदन्डी पुनः अपनी श्रेष्ठ विद्या का जाप करने लगा। तब पञ्च नमस्कार से रक्षित श्रावक पुत्र के वह मुरदा खतम करने में असमर्थ बना और उसने शीघ्र ही त्रिदन्डी के दो टुकड़े कर दिए। खडग के प्रहार के प्रभाव से त्रिदन्डी के मृतक को सुवर्ण वाला बना श्रावक पुत्र ने देखा और प्रसन्न हुआ, उसके अंग उपांग को काट कर अपने घर में लेकर रखा, और भण्डार भर दिया। इस तरह श्री पञ्च परमेष्ठि मन्त्र के प्रभाव से धनाढ्य बना। काम के विषय में वह मिथ्यादृष्टि पति की पत्नी श्राविका दृष्टान्त रूप है कि जिस नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से भी पुष्पमाला बन गई। वह इस तरह—

श्राविका की कथा

एक नगर के बाहर के विभाग में एक मिथ्या दृष्टि गृहपति रहता था और उसे धर्म में अत्यन्त रागी श्राविका पत्नी थी। उसके ऊपर दूसरी पत्नी

से विवाह करने की भावना थी, परन्तु 'एक पत्नी होने से दूसरी पत्नी नहीं मिलेगी इसलिए इस पत्नी को किस तरह खतम करना चाहिए' ऐसा सोचकर एक दिन काले सर्प को घड़े में बन्द कर घर में रख दिया फिर भोजन करके उसने उस श्राविक से कहा कि—भद्रे ! उस स्थान पर घड़े के अन्दर पुष्प की माला है वह मुझे लाकर दे । पति की आज्ञा से उसने घर में प्रवेश किया और उसमें अन्धकार होने से श्री पञ्च नमस्कार का स्मरण करते उसने पुष्पमाला के लिए उस घड़े में हाथ डाला, उसके पहले ही एक देवी ने सर्प का अपहरण किया और अति सुगन्धमय विकसित श्वेत पुष्पों की श्रेष्ठ माला उस स्थान पर रख दी । श्राविका उसे लेकर पति को अर्पण की, इससे घबड़ा कर वहाँ जाकर उसने घड़ा देखा, परन्तु सर्प को नहीं देखा तब 'यह महा प्रभावशाली है' ऐसा मानकर पैरों में गिरकर अपनी सारी बात कही और क्षमा याचना करने श्राविका को अपने घर के स्वामीत्व पद पर स्थापन किया । इस तरह इस लोक में नमस्कार मन्त्र अर्थ काम का साधक है, परलोक में भी यह नमस्कार मन्त्र हुन्डिका यक्ष के समान सुखदायक होता है । वह इस प्रकार :—

हुन्डिका यक्ष का प्रबन्ध

मथुरा नगरी में लोगों की हमेशा चोरी करने वाला हुन्डिका नाम का चोर था । उसे कोतवाल ने पकड़ा और गधे के ऊपर बैठाकर नगर में घुमाया, फिर उसे झूली पर चढ़ाया, और उससे उसका शरीर अति भेदन छेदन होने लगा । तृषा से पीड़ित शरीर वाला दुःख से अत्यन्त पीड़ित होते उसने जिनदत्त नामक उत्तम श्रावक को उस प्रदेश से जाते देखकर कहा कि—भो ! महायश ! तू दुःखियों के प्रति करुणा करने वाला उत्तम श्रावक है तो मैं अति प्यासा हूँ मुझे कहीं से भी जल्दी जल लाकर दे ! श्रावक ने कहा कि—जब तक मैं तेरे लिए जल को लाता हूँ तब तक इस नमस्कार मन्त्र का बार-बार चिंतन कर । हे भद्र ! यदि तू इसको भूल जायेगा तो मेरे से लाया हुआ पानी को तुझे नहीं दूँगा । ऐसा कहने से जल के लोलुपता से वह दृढ़तापूर्वक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने लगा । परन्तु जिनदत्त श्रावक घर से पानी लेकर जितने में आता है उतने में नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करते वह मर गया । और नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से वह यक्ष रूप में उत्पन्न हुआ ।

इधर जिनदत्त चोर के लिए भोजन पानी लाते देखकर राज पुरुषों ने उसे पकड़ लिया और राजा के सामने उपस्थित किया । राजा ने कहा कि चोर की सहायता देने वाला चोर के समान दोषित होता है इसलिए इसे भी झूली

पर चढ़ाओ। राजा की आज्ञा से कोतवाल जिनदत्त को वध स्थान पर ले गये, उस समय हुन्डिका यक्ष ने अवधि ज्ञान का उपयोग दिया, इससे शूली ऊपर अपने शरीर को भेदन किए और जिनदत्त श्रावक को वध के लिए लाए हुए देखकर बड़ा क्रोधित हुआ और उस नगर के ऊपर पर्वत को उठाकर बोला कि अरे ! देव समान इस श्रावक से क्षमा याचना कर विदा करो, अन्यथा इस पर्वत से तुम सब को चकनाचूर कर दूँगा।' इससे भयभीत हुए राजा ने जिनदत्त से क्षमा याचना कर छोड़ दिया। इस तरह हुन्डिक चोर के समान नमस्कार मन्त्र परलोक में सुख को देने वाला है। इसी तरह उभय लोक में इस नमस्कार को सुख का मूल जानकर आराधना के अभिलाषी हे क्षपक मुनिवर्य ! तू हमेशा इसका स्मरण कर ! क्योंकि पन्च परमेष्ठियों को भावपूर्वक नमस्कार करने से जीव को हजारों जन्म मरण से बचाव होता है और बोधि बीज लाभ की प्राप्ति का कारण होता है। संसार का क्षय करते धन्यात्मा के हृदय को बार-बार प्रसन्न करते यह पन्च परमेष्ठि नमस्कार दुर्ध्यान को रोकने वाला होता है। इस तरह पाँच का नमस्कार निश्चय महान् प्रयोजन वाला कहा है। इसलिए जब मृत्यु पास में आती है तब क्षण-क्षण में उसे बहुत बार स्मरण करना चाहिए। इन पाँचों का नमस्कार सर्व पापों का नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है। इस प्रकार यह पन्च नमस्कार नाम का आठवाँ अन्तर द्वार कहा है, अब सम्यग्ज्ञान का उपयोग नामक नौवाँ अन्तर द्वार कहते हैं।

नौवाँ सम्यग्ज्ञानोपयोग द्वार :—हे क्षपक मुनिराज ! तू प्रमाद को मूल में से उखाड़कर ज्ञान के उपयोग वाला बन ! क्योंकि—ज्ञान जीवलोक (सर्व जीवों) का सर्व विघ्नविना-रोगरहित चक्षु है, प्रकृष्ट दीपक है, सूर्य है और तीन भवन रूपी तमिस्रा गुफा में श्रेष्ठ प्रकाश करने वाला काकीणी रत्न है। यदि जीव लोक में जीवों का ज्ञान चक्षु न हो, तो मोक्षमार्ग सम्बन्धी सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती अथवा कुबोध रूपी तितली को नाश करने वाला ज्ञान दीपक बिना मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के समूह से घिरा हुआ विचारा यह जगत कैसा दुःखी होता है ? तथा अन्धकार-अज्ञान का नाशक सम्यग् ज्ञान रूपी सूर्य के प्रभाव से संसार रूपी सरोवर में विवेक रूपी सुन्दर कमल का विकास होता है। यदि यह सम्यग्ज्ञान रूपी काकीणी रत्न का प्रयोग न हो तो अज्ञान रूपी प्रबन्ध अन्धकार से भयंकर इस तीन भवन रूपी तमिस्रा गुफा में से श्री जिनेश्वर रूपी चक्रवर्ती के पीछे चलने वाला यह विचारा मूढ़ भव्यात्मा रूपी सैन्य अस्खलित रूप प्रस्थान करते किस तरह बाहर निकल

सकता है ! श्री जिन शासन से संस्कारित बुद्धिवाला और श्रुतज्ञान रूपी समृद्धि-शाली ज्ञानी इस जीवलोक में श्रुतज्ञान से देव और असुर से युक्त मनुष्यों से युक्त, गरुड सहित, नाग सहित, तथा गंधर्व व्यंतेर सहित उर्ध्व अधो और तिच्छा लोक तथा जीव कर्म बन्धन से युक्त, गति और अगति आदि सबको जानता है । जैसे धागा युक्त सुई कचरे में गिरी हुई भी नाश नहीं होती है वैसे सूत-अर्थात् श्रुतज्ञान सहित जीव भी संसार में परिभ्रमण नहीं करता है । जैसे कचरे के ढेर में पड़ी हुई धागे बिना की सुई खो जाती है वैसे संसार रूपी अटवी में ज्ञान रहित पुरुष भी खो जाता, अर्थात् संसार में भटकता है । जैसे निपुण वैद्य आगम से रोग की चिकित्सा करने का जानता है वैसे आगम से ज्ञानी चारित्र्य की शुद्धि को ज्ञान द्वारा करता है । जैसे आगम ज्ञान रहित वैद्य व्याधि की चिकित्सा को नहीं जानता है वैसे आगम रहित पुरुष चारित्र्य की शुद्धि को नहीं जानता है । इसलिए मोक्ष के अभिलाषी अप्रमत्त पुरुषों को पहले पूर्व पुरुषों ने कथित आगम में उप्रमत्त रूप में उद्यम करना चाहिए । बुद्धि हो अथवा न हो, फिर भी ज्ञान की इच्छा वाले को उद्यम करना चाहिए क्योंकि जानाभ्यास से वह बुद्धि कर्म के क्षयोपशम से साध्य हो जाती है । यदि एक दिन में एक पद को, अथवा पक्ष में आधा श्लोक को भी याद कर सकता है, फिर भी ज्ञान के अभ्यास वाला तू उद्यम को नहीं छोड़ना ।

आश्चर्य तो देख ! स्थिर और बलवान् पाषाण को भी अस्थिर जल की धारा खत्म करती है । शीतल और कोमल थोड़ा-थोड़ा भी हमेशा बहने वाला और पर्वत के संयोग को नहीं छोड़ने वाला जल पर्वत का भी भेदन कर देता है । बहुत भी अपरिमित—परावर्तन रहित और अशुद्ध, स्खलना और शंका वाले श्रुतज्ञान द्वारा मनुष्य जानकार ज्ञानी पुरुषों का हँसी का पात्र बनता है, और थोड़ा भी अस्खलित, शुद्ध एवं स्थिर परिचित स्वाध्याय से अर्थ का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य अलज्जित और अनाकुल बनता है । जो गंगा नदी के रेती का माप करना और जो दो हाथ चुल्लू से समुद्र के जल को उलीचन में समर्थ होते हैं, वे ज्ञान के गुणों से माप सकते हैं । पाप से निर्वृत्ति, कुशल धर्म में प्रवृत्ति और विनय की प्राप्ति, ये तीनों ज्ञान का मुख्य फल हैं । संयम योग की आराधना और श्री वर्धमान प्रभु की आज्ञा, ये दोनों ज्ञान के बल से जान सकते हैं, इसलिए ज्ञान को ही पढ़ना चाहिए । मोक्ष का सरल मार्ग जिसको प्रगट किया है, ज्ञान में उद्यमी है और ज्ञान योग से युक्त है, उन ज्ञानियों की निर्जरा का माप कौन कर सकता है ? अल्प ज्ञानी—अर्थात् अनीतार्थ को, दो, तीन, चार और पाँच उपवास से जो शुद्धि होती है, उससे अनेक गुणों की शुद्धि हमेशा खाने वाले ज्ञानी गीतार्थ की होती है । एक दिन में तपस्वी हो सकता

है इसमें कोई संशय नहीं है, परन्तु अति उद्यम वाला भी वह व्यक्ति एक दिन में श्रुतधर नहीं हो सकता है। अनेक करोड़ वर्ष तक नारक जीव जिस कर्म को खत्म करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्त से गुप्त ज्ञानी पुरुष एक श्वास मात्र में खत्म कर देते हैं। ज्ञान से तीन जगत में रहे चराचर सर्व भावों को जानने वाले हो सकते हैं, इसलिये बुद्धिमान को प्रयत्नपूर्वक ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान को पढ़े, ज्ञान को गुणे अर्थात् ज्ञान का चिन्तन करे, ज्ञान से कार्य करे, इस तरह ज्ञान में तन्मय रहने वाला ज्ञानी संसार समुद्र को पार होता है। यदि निश्चय जीव की परम विशुद्धि को जानने की अभिलाषा है तो मनुष्य को दुर्लभ, बोधि को प्राप्त करने के लिये निश्चय ही ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। श्रुत को सर्व बल से, सर्व प्रयत्न से भी पढ़ना चाहिए और तप तो बल के अनुसार यथाशक्ति करना चाहिए। क्योंकि—सूत्र विरुद्ध तप करने से भी वह गुण कारक नहीं होता है। जब मरण नजदीक आता है तब अत्यन्त समर्थ चित्त वाला भी बारह प्रकार के श्रुत स्कन्ध (द्वादशांगी) का सर्व अनु-चिन्तन नहीं कर सकता है, इसलिए जो श्री जैनेश्वर के सिद्धान्त रूप एक पद में भी संयोग (अभेद) को करता है, वह पुरुष उस अध्यात्म योग से अर्थात् आत्म रमणता से मोह जाल को छेदन करता है। जो कोई मोक्ष साधक व्यापार में लगा रहता है उसके कारण उसका ज्ञान बना रहता है, क्योंकि उसके कारण वह वीतरागता को प्राप्त करता है अर्थात् जितना ज्ञान का अभ्यास—उद्यम करता है उतना ही ज्ञान आत्मा का बनता है और उस एक पद से मुक्ति होती है।

जो श्रुतज्ञान के लिए अल्प आहार पानी लेता है उसको तपस्वी जानना, श्रुतज्ञान रहित जीव का तप करता है वह बुखार से पीड़ित भूख को सहन करता है। अर्थात् ज्ञानी अल्प भोजन करने वाला तपस्वी कहलाता है और उस अल्प भोजन में तृप्ति होती है, जब अज्ञानी का महातप भी भूखे रहे के समान कष्टकारी बनता है, ज्ञान के प्रभाव से त्याग करने योग्य का त्याग होता है और करने योग्य किया जाता है। ज्ञानी कर्त्तव्य को करना और अकार्य को छोड़ना जानता है। ज्ञान सहित चारित्र्य निश्चय सैंकड़ों गुणों को प्राप्त कराने वाला होता है। श्री जैनेश्वर भगवान की आज्ञा है कि ज्ञान से रहित चारित्र्य नहीं है। जो ज्ञान है वह मोक्ष साधना में मुख्य हेतु है, जो कारण है वह शासन का सार है और जो शासन का सार है वही परमार्थ है, ऐसा जानना। इस परमार्थ रूप तत्त्व को प्राप्त करने वाला जीव के बन्ध और मोक्ष को जानता है और बन्ध मोक्ष को जानकर अनेक भव संचित कर्मों का क्षय

करता है। अदर्शनीय अर्थात् मिथ्यात्व को ज्ञान नहीं होता है, अज्ञानी को चारित्र्य नहीं है और अगुणी को मोक्ष नहीं है, इस तरह अज्ञानी को मोक्ष नहीं है। सर्व विषय में बार-बार जानने योग्य उस बहुश्रुत का कल्याण हो कि श्री जैनेश्वर देव सिद्ध गति प्राप्त करने पर भी वे ज्ञान से जगत में प्रकाश करते हैं। इस जगत में मनुष्य चन्द्र के समान बहुश्रुत के मुख का जो दर्शन करता है, इससे अति श्रेष्ठ, अथवा आश्चर्यकारी या सुन्दरतर और क्या है? चन्द्र में से किरण निकलती है वैसे बहुश्रुत के मुख में से श्री जैन वचन निकलते हैं, इसे सुनकर मनुष्य संसार अटवी को पार हो जाते हैं।

जो सम्पूर्ण चौदह पूर्वी, अवधि ज्ञानी और केवल ज्ञानी है, उन लोकोत्तम पुरुषों का ही ज्ञान निश्चय ज्ञान है। अति मूढ़ अनेक लोगों में भी एक ही जो श्रुत—शीलयुक्त हो वह श्रेष्ठ है, इसलिये प्रवचन—(संघ) में श्रुतशील रहित का सन्मान नहीं करे। इस कारण से प्रमाद को छोड़कर अप्रमत्त रूप श्रुत में प्रयत्न करना योग्य है। क्योंकि इसके द्वारा स्व और पर को भी दुःख समुद्र में से पार उतरते हैं। ज्ञान उपयोग से रहित पुरुष अपने चित्त को वश करने के लिए शक्तिमान नहीं होता है। उन्मत्त हाथी को जैसे अंकुश वश करता है, वैसे उन्मत्त चित्त को वश करने में ज्ञान अंकुशभूत है। जैसे अच्छी तरह से प्रयोग की हुई विद्या पिशाच को पुरुषाधीन करता है, वैसे ज्ञान को अच्छी तरह उपयोग करे तो हृदय रूपी पिशाच को वश करता है। जैसे विधिपूर्वक मन्त्र का प्रयोग करने से काला नाग शान्त होता है वैसे अच्छी तरह उपयोगपूर्वक ज्ञान द्वारा हृदय रूपी काला नाग उपशान्त होता है। मदोन्मत्त जंगली हाथी को भी जैसे रस्सी से बाँध सकते हैं वैसे यहाँ पर ज्ञान रूपी रस्सी द्वारा मन हाथी को बाँध सकते हैं। जैसे बन्दर रस्सी के बन्धन बिना क्षण भर भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता, वैसे ज्ञान बिना मन एक क्षण भी मध्यस्थ—समभाव वाला स्थिर नहीं होता है। इसलिए उस अति चपल मन रूपी बन्दर को श्री जैन उपदेश द्वारा सूत्र से (श्रुतज्ञान से) बाँधकर शुभ-ध्यान में क्रीड़ा करानी चाहिए। इससे राधावेध करने वाले को आठ चक्रों में उपयोग लगाने के समान क्षपक मुनि को भी सदा ज्ञानोपयोग विशेषतया कहा है। विशुद्ध लेश्या वाले जिसके हृदय में ज्ञानरूपी प्रदीप प्रकाश करता है उसे श्री जैन कथित मोक्ष मार्ग में चारित्र्य धन लूटने का भय नहीं होता है। ज्ञान प्रकाश बिना जो मोक्ष मार्ग में चलने की इच्छा करता है, वह विचारा जन्मांध भयंकर अटवी में जाने की इच्छा करता है, उसके समान जानना। यदि खण्डित—भिन्न-भिन्न पद वाले श्लोकों ने भी यव नामक साधु को मरण

से बचाया, तो श्री जैन कथित सूत्र जीव का संसार समुद्र से रक्षक क्यों नहीं हो सकता है ? अर्थात् इससे अवश्यमेव संसार समुद्र से पार हो सकता है, उसकी कथा इस प्रकार है :—

यव साधु का प्रबन्ध

उज्जैन नगर में अनिल महाराजा का पुत्र जव नाम का पुत्र था, उसका गर्दभ नामक पुत्र परम स्नेह पात्र था वह युवराज था और सम्पूर्ण राज्य भार का चिन्तन करने वाला एवं सर्व कार्यों में विश्वासपात्र दीर्घपृष्ठ नाम का मंत्री था। और अत्यन्त रूप से शोभित नवयौवन से खिले हुये सुन्दर अंग वाली अडोलिका नाम की जवराज की पुत्री थी, जो गर्दभ युवराज की बहन थी। एक समय उसे देखकर युवराज काम से पीड़ित हुआ और उसकी प्राप्ति नहीं होने से प्रतिदिन दुर्बल होने लगा। एक दिन मन्त्री ने पूछा कि—तुम दुर्बल क्यों होते जा रहे हो ? अत्यन्त आग्रह पूर्वक पूछने पर उसने एकान्त में कारण बतलाया। तब मन्त्री ने कहा कि—हे कुमार ! कोई नहीं जान सके, इस प्रकार तू उसे भौरे में छुपाकर विषय मुख का भोग कर ! संताप क्या नहीं करता है ? ऐसा करने से लोग भी जानेंगे कि—निश्चय ही किसी ने इसका हरण किया है। मूढ़ कुमार ने वह स्वीकार किया और उसी तरह उसने किया। यह बात जानकर जवराज को गाढ़ निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न हुआ और पुत्र को राज्य पर स्थापन कर सद्गुरु के पास दीक्षा अंगीकार की। परन्तु बार-बार कहने पर भी वह जव राजर्षि पढ़ने में विशेष उद्यम नहीं करते थे और पुत्र के राग से बार-बार उज्जैनी में आते थे। एक समय उज्जैन की ओर आते उसने जौ के क्षेत्र की रक्षा में उद्यमी क्षेत्र के मालिक ने अति गुप्त रूप में इधर-उधर छुपते गधे को बड़े आवाज से स्पष्ट अर्थ वाला रटे हुए श्लोक को बोलते हुये इस प्रकार सुना :—

“आधावसि पधापसि, ममं चेव निरिक्खसि।

लक्खि तो ते मए भावो, जवं पत्थेसि गद्धा॥”

अर्थात्—सामने आता है, पीछे भागता है और मुझे जो देखता है, इस-लिए हे गधे ! मैं तेरे भाव को जानता हूँ कि—तू जौ (जव) को चाहता है। फिर कुतूहल से उस श्लोक को याद करके वह साधु आगे चलने लगा, वहाँ एक स्थान पर खेलते लड़कों ने गिल्ली फेंकी, वह एक खड्डे में कहीं गिर पड़ी, और प्रयत्नपूर्वक लड़के ने सर्वत्र खोज करने पर भी गिल्ली जब नहीं मिली तब वह खड्डे को देखकर एक लड़के को इस प्रकार कहा :—

“इओ गया तीओ गया, मग्गिज्जंती न दीसइं ।

अहमेयं वियाणांसि, बिले पड़िया अडोल्लिया ॥”

अर्थात्—इधर गई, उधर गई, खोज करने पर भी नहीं मिली, मैं इसे जानता हूँ कि—गिल्ली खड्डे में गिरी है । इस श्लोक को भी सुनकर मुनि ने कुतूहल से अच्छी तरह याद कर लिया, फिर वह मुनि उज्जैनी में पहुँचे और वहाँ कुम्हार के घर रहे । वहाँ पर भी वह कुम्हार इधर-उधर भागते भयभीत चूहे को इस तरह श्लोक को बोला :—

“सुकुमालया, भट्टलया, रत्ति हिडणसीलया ।

दीहपिदस्स बीहेहि, नत्थि ते ममओ भयं ॥”

अर्थात्—सुकुमार, भद्रक रात्री को घूमने के स्वभाव वाले, हे चूहे ! तू सर्प से चाहे डर । परन्तु मेरे से तुझे भय नहीं है । इस श्लोक को भी राजर्षि जब मुनि ने याद कर लिया और इन तीनों श्लोक का विचार करते वह धर्म-कृत्य में तत्पर रहने लगा । केवल कुछ पूर्व वैर को धारण करने वाला दीर्घपुष्ट मन्त्री ने उस स्थान पर गुप्त रूप में विविध प्रकार के शस्त्रों को छुपाकर राजा को कहा कि—साधु जीवन से थका हुआ आपका पिता राज्य लेने के लिये यहाँ आए हैं, यदि मेरे ऊपर विश्वास न हो तो उसके स्थान को देखो । उसके बाद विविध प्रकार के शस्त्र छुपाये हुये उन्हें दिखाये और राजा ने उन शस्त्रों को उसी तरह देखा । उसके बाद राज्य के अपहरण से डरा हुआ राजा लोका-पवाद से बचने के लिए रात्री के समय दीर्घपुष्ट मन्त्री के साथ काली कान्ति की श्रेणि से विकराल तलवार को लेकर कोई नहीं जाने इस तरह साधु को मारने के लिए कुम्हार के घर गया । उस समय मुनि ने किसी कारण वह प्रथम श्लोक कहा । इससे राजा ने विचार किया कि—निश्चय ही अतिशय युक्त इस मुनि ने मुझे जान लिया है । फिर मुनि ने दूसरा श्लोक कहा, तब पुनः उसे सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ कि—अहो ! बहन का वृत्तान्त भी इसने किस तरह जाना ? तब मुनि ने तीसरा श्लोक का उच्चारण किया, इस श्लोक को सुनने से मन्त्री के प्रति रोष बढ़ गया और राजा विचार करने लगा कि—राज्य के त्यागी मेरे पिता पुनः राज्य लेने की कैसे इच्छा करेंगे । केवल यह पापी मन्त्री मेरा नाश करने के लिये इस तरह प्रयत्न करता है । इससे इस दुष्ट को ही मार दूँ । ऐसा विचार कर उसके मस्तक को छेदन कर राजा ने साधु को अपना सारा वृत्तान्त निवेदन किया ।

यह सुनकर श्रुत पढ़ने में उद्यमशील बना और वह मुनि विचार करने लगा कि—मनुष्य को किसी प्रकार का भी अध्ययन करना चाहिए। तूने यदि असम्बन्ध वाले भिन्न-भिन्न श्लोक द्वारा भी जीव का रक्षण किया है। इस कारण से ही पूर्व में मुझे गुरुदेव पढ़ने के लिए समझाया था परन्तु मैंने अज्ञानता के कारण उस समय थोड़ा भी अध्ययन नहीं किया। यदि मूढ़ लोगों का कहा हुआ भी पढ़ा हुआ ज्ञान इस प्रकार फलदायक बनता है तो श्री जिनेश्वर भगवन्त कथित ज्ञान को पढ़ने से वह महाफलदायक कैसे नहीं बने? ऐसा समझकर वह गुरु के पास गया और दुर्विनय की क्षमा याचना कर प्रयत्नपूर्वक श्रुत ज्ञान पढ़ने लगा। इस प्रकार जब मुनि की प्राण और संयम की रक्षा हुई, तथा गर्दभ राजा ने पिता को नहीं मारने से कीर्ति और सद्गति को प्राप्त किया। इस तरह सामान्य श्रुत के भी प्रभाव को जानकर हे क्षपक मुनि! तू त्रिलोक के नाथ श्री जिनेश्वर परमात्मा के कथित श्रुत ज्ञान में सर्व प्रकार से आदर-मान कर! इस प्रकार सम्यग् ज्ञानोपयोग नाम का नौवाँ अन्तर द्वार कहा। अब पन्च महाव्रत रक्षण नामक दसवाँ द्वार कहते हैं।

दसवाँ पन्च महाव्रत रक्षण द्वार :—सम्यग् ज्ञान उपयोग का श्रेष्ठ फल व्रत रक्षा है और निर्वाण नगर की ओर ले जाने के लिए मार्ग में रथ तुल्य है उन व्रतों में प्रथम व्रत वध त्याग रूप अहिंसा, दूसरा व्रत मृषा विरमण, तीसरा व्रत अस्तैन्य, चौथा व्रत मैथुन से निवृत्ति रूप ब्रह्मचर्य पालन और पाँचवाँ व्रत अपरिग्रह है। इसे अनुक्रम से कहते हैं :—

१. अहिंसा व्रत :—जीव के भेदों को जानकर जावज्जीव मन, वचन, काया रूप योग से छह काय जीव के वध का सम्यग् रूप त्याग कर। उस जीव के भेद इस प्रकार हैं। पृथ्वी, पाणी, अग्नि, वायु इन चार के दो-दो भेद हैं, सूक्ष्म और बादर और वनस्पति साधारण तथा प्रत्येक इस तरह दो प्रकार की होती है। उसमें साधारण सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के जानना। इस तरह ग्यारह भेद हुए, उसके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से सब मिलकर स्थावर के बाईस भेद होते हैं दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले विकलेन्द्रिय और पन्चेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकार इस तरह कुल पाँच भेद के पर्याप्त, अपर्याप्त के भेद से त्रस जीव दस प्रकार के जानना। इत्यादि भेद वाले सर्व जीव में तत्त्व को जान, सर्वादर से उपयुक्त तू सदा अपने आत्मा के समान मानकर दया कर। वह इस प्रकार से निश्चय ही सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं, मरने की इच्छा नहीं करता है, इसलिए धीर पुरुष भयंकर हिंसा का हमेशा त्याग करते हैं। भूख प्यास आदि से अति पीड़ित भी तू स्वप्न में भी कभी भी जीवों का घात

करके प्रतिकार नहीं करना । रति, अरति, हर्ष, भय, उत्सुकता, दीनता आदि से युक्त भी तू भोग-परिभोग के लिए जीव वध का विस्तार मत करना । तीन जगत की ऋद्धि और प्राण—इन दो में से तू किसी की एक का वरदान माँग । ऐसा देवता कहे तो अपने प्राणों को छोड़कर तीन जगत की ऋद्धि का वरदान कौन याचना करे ? इस तरह जीव के जीवन की कीमत तीन जगत की ऋद्धि से अधिक है उसकी समानता नहीं हो सकती है इसलिए वह जीवन तीन जगत की प्राप्ति से भी दुर्लभ और सदा सर्व को प्रिय है । जैसे मधुमक्खी थोड़े-थोड़े संचय कर बहुत मद्य को एकत्रित करता है, वैसे अल्प-अल्प करते क्रमशः तीन जगत का सारभूत महान् संयम को प्राप्त करके हिंसा रूपी महान् घड़ों से अब उसका त्याग नहीं करना । जैसे अणु अथवा परमाणु से कोई छोटा नहीं है और आकाश से कोई बड़ा नहीं है, इस प्रकार जीव रक्षा के समान अन्य कोई श्रेष्ठव्रत नहीं है । तथा जैसे सर्व लोक में और पर्वतों में मेरू गिरि ऊँचा है वैसे सदाचारों में और व्रतों में अहिंसा को अति महान् समझना । जैसे आकाश का आधार लोक है और भूमि का आधार द्वीप-समुद्र रहता है वैसे अहिंसा का आधार तप, दान और शील जानना । क्योंकि जीवलोक में विषय सुख जीव वध के बिना नहीं है इसलिए विषय से विमुख जीव को ही जीव दया महाव्रत होता है । विषय संग के त्यागी प्रासुक आहार-पानी के भोगी, और मन, वचन, काया से गुप्त आत्मा में शुद्ध अहिंसा व्रत होता है । जैसे प्रयत्न करने पर भी मूल के बिना चक्र में आरा स्थिर नहीं रहता है, और आरा बिना जैसे मूल भी अपने कार्य को सिद्ध नहीं हो सकता वैसे अहिंसा बिना शेष गुण अपने स्थान का आधार भूत नहीं होता है और उस गुण से रहित अहिंसा भी स्व कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता है । सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्री भोजन का त्याग तथा दीक्षा आदि स्वीकार करना वे सब अहिंसा की रक्षण के लिए हैं ।

क्योंकि असत्य बोलने आदि से दूसरे को कठोर दुःख होता है इसलिए उन सबका त्याग करना वही अहिंसा गुण के श्रेष्ठ आधार भूत है । हिंसा का व्यसनी राक्षस के समान जीवों को उद्वेग करता है, एवं सगे सम्बन्धी जन भी हिंसक मनुष्य पर विश्वास नहीं करते हैं । हिंसा जीव और अजीव दो प्रकार की होती है । उसमें जीव की हिंसा एक सौ आठ प्रकार की है और अजीव की हिंसा ग्यारह प्रकार की है । जीव हिंसा तीन योग होती है वह चार कषाय द्वारा, करना, करवाना और अनुमोदना द्वारा तथा संकल्प समारम्भ और आरम्भ द्वारा परस्पर गुणा करने से $3 \times 4 \times 3 \times 3 = 108$ भेद होते हैं ।

उसमें संकल्प करना, उसे संरंभ, परिताप करना उसका समारम्भ और प्राण नाश करना वह आरम्भ है ऐसा सर्व विशुद्ध नयों का मत है। अजीव हिंसा के निक्षेप, निवृत्ति संयोजन और निसर्ग ये चार मूल भेद हैं उसके क्रमशः चार, दो, दो और तीन भेद से ग्यारह भेद होते हैं। उसमें १-अप्रमार्जना, २-दुष्प्रमार्जन, ३-सहसात्कार और ४-अनाभोग इस तरह निक्षेप के चार भेद होते हैं। काया से दुष्ट व्यापार करना और ऐसे हिंसक उपकरण बनाने इस तरह निवृत्ति के दो भेद हैं। उपकरणों की संयोजन और आहार, पानी की संयोजन इस तरह संयोजन के भी दो भेद होते हैं। और दुष्ट-उन्मार्ग में जाते मन, वचन और काया ये निसर्ग के तीन भेद हैं। जो हिंसा की अविरती रूप वध का परिणाम हिंसा है, इस कारण से प्रमत्त योग वही नित्य प्राण घातक हिंसा है। अधिक कषायी होने से जीव जीवों का घात करता है, अतः जो कषायों को जीतता है वह वास्तविक में जीववध का त्याग करता है। लेने में, रखने में, त्याग करने में, खड़े रहने में या बैठने में, चलने में और सोने आदि सर्वत्र अप्रमत्त और दयालु जीव में निश्चय अहिंसा होती है। इसलिए छह काय जीवों का अनारम्भी, सम्यग्ज्ञान में प्रीति परायण मन वाला और सर्वत्र उपयोग में तत्पर जीव में निश्चय सम्पूर्ण अहिंसा होती है। इसी कारण से ही आरम्भ में रक्त दोषित आदि पिण्ड को भोगने वाला घरवास का रागी, शाता, रस और ऋद्धि इन तीन गारव में आसक्ति वाला, स्वच्छन्दी, गाँव कुल आदि में ममत्व रखने वाला और अज्ञानी जीवों में गधे के मस्तक पर जैसे सींग नहीं होता वैसे उसमें अहिंसा नहीं होती है। अतः ज्ञानदान, दीक्षा, दुष्कर तप, त्याग, सद्गुरु की सेवा एवं योगाभ्यास इन सबका सार एक ही अहिंसा है। हिंसक को परलोक में अल्पायुष्य, अनारोग्य, दुर्भाग्य दुष्ट-खराब रूप वाला, दरिद्रता और अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का योग होता है। इसलिए इस लोक-परलोक में दुःख को नहीं चाहने वाले मुनि को सदा जीव दया में उपयोग रखना चाहिए जो कोई भी प्रशस्त, सुख, प्रभुता और जो स्वभाव से सुन्दर आरोग्य, सौभाग्य आदि प्राप्त करता है वह सब उस अहिंसा का फल है।

२. असत्य त्याग व्रत :—हे क्षपक मुनि ! चार प्रकार के असत्य वचन का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर। क्योंकि संयम वालों को भी भाषा दोष से कर्म का बन्धन होता है। सद्भूत पदार्थों का निषेध करना, जैसे कि—जीव नहीं है, वह प्रथम असत्य है, दूसरा असत्य असद्भूत कथन करना, जैसे कि—जीव पाँच भूत से बना है और कुछ भी नहीं है। तीसरा असत्य वचन जैसे जीव को एकांत

नित्य अथवा अनित्य मानना । चौथा असत्य अनेक प्रकार के सावद्य बोलना, जिससे हिंसादि दोषों का सेवन होता है तथा अप्रिय वचन या कर्कश, चुगली, निन्दा आदि के वचन वह यहाँ सावद्य वचन कहलाता है । अथवा हास्य से, क्रोध से, लोभ से अथवा भय से इस तरह चार प्रकार का असत्य वचन को तुझे बोलना नहीं चाहिए । जीवों का हितकर, प्रशस्त सत्य वचन बोलना चाहिए । जो मित, मधुर, अकर्कश, अनिष्टुर, छल रहित, निर्दोष, कार्यकर, सावद्य रहित और धर्मी-अधर्मी दोनों को सुखकर बोलना चाहिए तथा वैसा ही बोलना चाहिए । ऋषि सत्य बोलते हैं, जो ऋषियों के द्वारा सर्व विद्याओं को सिद्ध करते हैं, वह म्लेच्छ सत्यवादी को भी अवश्य सिद्ध कर सकता है । सत्यवादी पुरुष लोगों को माता के समान विश्वसनीय, गुरु के समान पूज्य और स्वजन के समान सर्व के प्रिय होता है । सत्य में तप, सत्य में संयम और उसमें ही सर्व गुण रहे हैं । जगत में संयमी पुरुष भी मृषावाद से तृण के समान तुच्छ बनता है । सत्यवादी पुरुष को अग्नि जलाती नहीं है, पानी में भी डुबाता नहीं है और सत्य के बल वाले सत्पुरुष को तीक्ष्ण पर्वत की नदी भी खींचकर नहीं ले जाती । सत्य से पुरुष को देवता भी नमस्कार करते हैं और सदा वश में रहते हैं, सत्य से ग्रह की दशा अथवा पागलपन भी खत्म हो जाता है और देवों द्वारा रक्षण होता है । लोगों के बीच निर्दोष सत्य बोलकर मनुष्य परम प्रीति को प्राप्त करता है और जगत् प्रसिद्ध यश को प्राप्त करता है । एक असत्य से भी पुरुष माता को भी द्वेष पात्र बनता है, तो फिर दूसरों को वह सर्प के समान अति द्वेष पात्र कैसे नहीं बनता ? वह अवश्य दूसरों का द्वेष पात्र बनता है । असत्यवादी को अविश्वास, अपकीर्ति, धिक्कार, कलह, वैर, भय, शोक, धन का नाश और वध बन्धन समीपवर्ती ही होता है । मृषावादी को दूसरे जन्म में प्रयत्नपूर्वक मृषावाद का त्याग करने पर भी इस जन्म के इन दोषों के कारण चोरी आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । मृषा वचन से इस लोक और परलोक के जो दोष होते हैं वही दोष कर्कश वचन आदि वचन बोलने के कारण भी लगता है, असत्य बोलने वाले को पूर्व कहे अनेक दोषों को प्राप्त करता है और उसका त्याग करने से उस दोष से विपरीत गुणों को प्राप्त करता है ।

३. अदत्तादान त्याग व्रत :—हे धीर पुरुष ! दूसरे के दिये बिना अल्प अथवा बहुत परधन लेने की या दाँत साफ करने का दन्त शोधन सली मांस भी लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिए । जैसे चारों तरफ से घिरा हुआ भी बन्दर पक्के फलों को खाने के लिये दौड़ता है, वैसे जीव विविध परधन को देखकर लेने की अभिलाषा करता है । उसे ले नहीं सकता है, लेने पर भी उसे भोग

नहीं सकता है और भोगने पर भी उसके मन की तृप्ति नहीं होती है, इस तरह लोभी जीव सारे जगत से भी तृप्त नहीं होता है। तथा जो जिसके धन की चोरी करता है, वह उसके जीवन का भी हरण करता है। क्योंकि धन के लिए वह प्राण का त्याग करता है, परन्तु धन को नहीं छोड़ता है। धन होने पर वह जीता रहता है और उससे स्त्री सहित स्वयं सुख को प्राप्त करता है, उसके उस धन का हरण करने से उसका सारा हरण किया है। इसलिए जीव दया रूपी परम धर्म को प्राप्त कर श्री जैनेश्वर और गणधरों के द्वारा निषेध किया हुआ लोक विरुद्ध और अधम अदत्त को नहीं ग्रहण करना चाहिए। दीर्घकाल चारित्र्य की आराधना करके भी केवल एक सली का भी अदत्त को ग्रहण करने वाला मनुष्य तृण समान हल्का और चोर के समान अविश्वसनीय बन जाता है। चोर वध बन्धन की पीड़ाएँ, यशकीर्ति का नाश, परभव का शोक और स्वयं सर्वस्व का नाश करने वाला मृत्यु को प्राप्त करता है। तथा हमेशा दिन और रात्री में शंका करते भयभीत होता, निद्रा को नहीं प्राप्त करता, वह हरिण के समान भय से कांपते सर्वत्र देखता है और भागता फिरता है। चूहे द्वारा अल्प आवाज को सुनकर चोर सहसा सर्व अंगों से काँपता है और उद्विग्न बना हुआ गिरते चारों तरफ दृष्टि करता है। परलोक में भी चोर अपना स्थान नरक का बनाता है—उसमें जाता है और वहाँ अति चिरकाल तक तीव्र वेदनाओं को भोगता है। तथा चोर तिर्यच गति में भी कठोर दुःखों को भोगता है। अधिक क्या कहें ? दुस्तर संसार सरोवर में बार-बार परिभ्रमण करता है। मनुष्य जन्म में भी उसका धन, माल आदि चोरी वाला अथवा चोरी बिना का भी नाश होता है, उसके धन की वृद्धि नहीं होती है और स्वयं धन से दूर रहता है। परधन हरण करने की बुद्धि वाला श्री भूति दुःख से भयंकर नरक में गिरा और वहाँ से अनन्त काल तक संसार अटवी में भ्रमण किया। ये सारे दोष परधन हरण के विरति वाले को नहीं होते और समग्र गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए ही हमेशा उपयोग वाले तू देवेन्द्र, राजा, गाथापति, गृहस्थ और सार्धमिक, इस तरह पंचविध—अवग्रह में उचित विधिपूर्वक अवग्रह (वसति) को साधु जीवन के लिए आवश्यक होने से तू ग्रहण कर।

४. ब्रह्मचर्य व्रत :—पाँच प्रकार के स्त्री के वैराग्य में नित्यमेव अप्रमत्त रहने वाला, और नौ प्रकार के ब्रह्म गुप्ति से विशुद्ध तू ब्रह्मचर्य का रक्षण कर। जीव यह ब्रह्म है, इसलिए परदेह की चिन्ता से रहित साधु भी जो जीव में (ब्रह्म में) ही प्रवृत्ति होती है, उसे ब्रह्मचर्य जानना। वसति शुद्धि, सराग कथा त्याग, आसन त्याग, अंगोपांगादि इन्द्रियों को रागपूर्वक देखने का त्याग,

दिवार, परदे के पास खड़े होकर स्त्री विकारी शब्दादि सुनना आदि का त्याग, पूर्व क्रीड़ा को स्मरण का त्याग, प्रणीत भोजन त्याग, अति मात्रा आहार का त्याग और विभूषा का त्याग, ये नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति (रक्षण की बाड़) हैं, विषय भोग जन्य दोष, स्त्री के माया-मृषादि दोष, भोग का अशुचित्व, वृद्ध की सेवा और संसर्ग जन्य दोष भी स्त्रियों के प्रति वैराग्य प्रगट होता है। जैसे कि मनुष्य को इस जन्म और पर-जन्म में जितने दुःख के कारणभूत दोष हैं, उन सब दोषों को मैथुन संज्ञा धारण करता है, अर्थात् उसमें में मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है। काम से पीड़ित मनुष्य शोक करता है, कंपता है, चिन्ता करता है और असम्बद्ध बोलता है। शून्य चित्त वाला वह दिन, रात सोता नहीं है और हमेशा अशुभ ध्यान करता है। कामरूपी पिशाच से घिरा हुआ स्वजनों में अथवा अन्य लोग में शयन, आसन, घर, गाँव, अरण्य तथा भोजन आदि में रति नहीं होती है। कामालुर मनुष्य को क्षण भर भी एक वर्ष जैसा लगता है, अंग शिथिल हो जाते हैं और इष्ट की प्राप्ति के लिए मन में उत्कन्ठा को धारण करता है। काम से उन्मादी बना हुआ, दीन मुख वाला वह कनपटी पर हाथ रखकर हृदय में बार-बार कुछ भी चिन्तन करते रहता है और उस चिन्तन से हृदय में जलता है और भाग्ययोग के विपरीत से जब इच्छित मनुष्य प्राप्ति नहीं होती है, तब निरर्थक वह अपने आपको पर्वत पानी या अग्नि द्वारा आपघात करता है। अरति और रति रूप दो चपल जीभ वाला, संकल्प रूप विकराल फणा वाला, विषय रूपी बील में रहने वाला, मद रूपी सुख वाला या मुँहवाला, काम विकार रूपी रोष वाला, विलास रूपी कंचुक और दर्परूपी दाढ़ी वाला, कामरूपी सर्प का डंक मानना और उसे दुस्सह दुःख रूपी उत्कट जहर से विवश होकर नाश होता है। अति भयंकर आशी विष सर्प के डंक लगाये से मनुष्य को सात ही वर्गों में विकार होता है, परन्तु कामरूपी सर्प का डंक लगने पर अति दुष्ट परिणाम वाला दस वर्गों की काम की अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम वर्ग में चिन्ता करता है, दूसरे वर्ग में देखने की इच्छा होती है, तीसरे वर्ग में निःश्वास लेता है, चौथे वर्ग में बुखार चढ़ता है, पाँचवें वर्ग में शरीर के अन्दर दाह उत्पन्न होता है, छठे वर्ग में भोजन की अरुचि होना, सातवें वर्ग में मूर्च्छित होना, आठवें वर्ग में उन्मादी होना, नौवें वर्ग में 'कुछ भी नहीं' इस तरह बेहोशी हो जाती है, और दसवें वर्ग में अवश्य प्राण मुक्त होता है, उसमें भी तीव्र मन्दादि संकल्प के आश्रित उस वर्गों के तीव्र मन्द होता है।

सूर्य का ताप दिन को जलाता है, जब काम का ताप रात दिन जलाता है। सूर्य के अग्नि की ताप तो आच्छादन छत्र आदि होते हैं किन्तु काम के

ताप का आच्छादन कुछ भी नहीं है। सूर्य का ताप जल सिंचन आदि से शान्त हो जाता है, जबकि कामाग्नि शान्त नहीं होती है। सूर्य का ताप चमड़ी को जलाता है जबकि कामाग्नि बाहर और अन्दर की धातुओं को भी जलाता है काम पिशाच के वश बना अपना हित अथवा अहित को जानता नहीं है जब काम से जलते मनुष्य हित करने वाले को भी शत्रु के समान देखता है। काम ग्रस्त मूढ़ पुरुष त्रिलोक के सारभूत भी श्रुतरत्न का त्याग करता है और तीन जगत से पूजित भी उस श्रुत की महिमा को निश्चय रूप में नहीं मानता है, श्री जिनेश्वर कथित और स्वयं जानने योग्य तीन लोक के पूज्य तप, ज्ञान, चारित्र्य, दर्शन रूपी श्रेष्ठ गुणों को भी वह तृण समान मानता है। संसारजन्य भय दुःख का भी नहीं विचार करते निमार्गी कामी पुरुष, श्री अरिहन्त सिद्ध, आचार्य, वाचक और साधुवर्ग की अवज्ञा करता है। विषय रूपी आमिष में शुद्ध मनुष्य इस जन्म में होने वाले अपयश, अनर्थ और दुःख को तथा परलोक में दुर्गति और अनन्त संसार को भी नहीं गिनता है, वह नरक की भयंकर वेदनाएँ और घोर संसार समुद्र के आवेग के आधीन हो जाता है, परन्तु काम सुख की तुच्छता को नहीं देख सकता है, उच्च कुल में जन्म हुए भी विषय वश गाता है, नाचता है और दो पैर को धोता है। तथा भोग से अंगों को मलिन करता है और दूसरी ओर मलमूल की शुद्धि करता है। काम के सैकड़ों बाणों से भेदित कामी जैसे राजपत्नी में आसक्त वणिक पुत्र दुर्गंध वाले गुदे धोने के घर-विष्टा की गटर में अनेक बार रहा, उसी तरह दुर्गंध में रहता है। काम से उन्मत पुरुष वेश्यागामी के समान अथवा निजपुत्री में आसक्त कुबेरदत्त सेठ के समान भोग्य-अभोग्य को नहीं जानता है। काम के आधीन हुआ कडार पिग नामक पुरुष ने इस जन्म में भी महान् दुःखों को प्राप्त किया और पाप से बद्ध हुआ वह मरकर नरक में गया। ये सर्व दोष ब्रह्मचारी वैरागी पुरुष को नहीं होता है। परन्तु इससे विपरीत विविध गुणों से होता है।

स्त्री अपने वश हुए पुरुष के इस जन्म, परजन्म के सर्व गुणों को नाश करके दोनों जन्म में दुःख देने वाले दोष प्रगट करवाती है टेढ़े मार्ग के समान स्वभाव से ही वक्र स्त्री हमेशा उसे अनुकूल होने पर भी पुरुष को सन्मार्ग से भ्रष्ट करके विविध प्रकार से संसार में परिभ्रमण करवाती है। मार्ग की धूल के समान, स्वभाव से ही मलिन स्त्री, निर्मल प्रकृति वाले पुरुष को भी समय मिलने पर सर्व प्रकार से मलिन करती है। वास के जंगल के समान स्वभाव से दुर्गम मायावाली, दुष्टा स्त्री सन्तान फल प्राप्त करने पर भी अपने वंश का

क्षय करती है। स्त्रियों में विश्वास, स्नेह, परिचय—आँखों में शरम, कृतज्ञता आदि गुण नहीं होते हैं क्योंकि—अन्य पुरुष में रागवाली वह अपने कुल कुटुम्ब को शीघ्र छोड़ देती है। स्त्रियाँ पुरुष को क्षण में बिना प्रयास से विश्वास दिलाती हैं, जबकि पुरुष तो अनेक प्रकार से भी स्त्री को विश्वास नहीं दिला सकता है। स्त्री का अति अल्प भी अविनय होने पर लाखों सत्कार्य उपकार का भी वह अपमान कर अपने पति, स्वजन, कुल और धन का भ्रंश नाश करती है। अथवा अपराध किए बिना भी अन्य पुरुष में आसक्त स्त्रियाँ, पति, पुत्र, ससुर और पिता को भी बध करती है। पर पुरुष आसक्त स्त्री सत्कार उपकार, गुण को उसका सुखपूर्वक लालन पालन के स्नेह और मधुर वचन कहे हों फिर भी उसे निष्फल करती है। जो पुरुष स्त्रियों में विश्वास करता है। वह चोर, अग्नि, शेर, जहर, समुद्र, मदोन्मत्त हाथी, काला सर्प और शत्रु में विश्वास करता है। अथवा जगत में श्रेष्ठ आदि तो पुरुष को इतने दोष कारण नहीं होता कि उतने महादोष कारण दुष्टा स्त्री होती है। कुलीन स्त्री को भी अपना पुरुष तब तक प्रिय होता है जब तक वह उस पुरुष को रोग, दरिद्रता अथवा बुढ़ापा नहीं आता। बुढ़ा, दरिद्र अथवा रोगी पति भी उसको पिली हुई ईख समान अथवा मुरझाई हुई सुगन्ध रहित माला के समान दुर्गन्ध तुल्य अनादर प्राप्त बनता है। स्त्री अनादर करती हुई भी कपट से पुरुषों को ठगती है, और पुरुष उद्यम करने पर भ्रंश निश्चय रूप में स्त्री को ठग नहीं सकता है। धूल से व्याप्त वायु के समान स्त्रियाँ पुरुष को अवश्य मलिन करती हैं और संध्याराग के समान केवल क्षणिक राग करती हैं। समुद्र में जितना पानी और तरंगें होती हैं तथा नदियों में जितनी रेत होती है उससे भी अधिक स्त्री के मन के अभिप्राय होते हैं आकाश, सर्व भूमि, समुद्र, मेरुपर्वत और वायु आदि दुर्जय पदार्थों को पुरुष जान सकता है, परन्तु स्त्रियों के भावों को किस तरह नहीं जान सकता है।

जैसे बिजली पानी का बुलबुला और आकाश में प्रगट हुआ ज्वाल रहित अग्नि प्रकाश चिरस्थिर नहीं रहता है वैसे स्त्रियों का चित्त एक पुरुष चिरकाल प्रसन्न नहीं रहता है। परमाणु भी किसी समय मनुष्य के हाथ में आ सकता है, परन्तु निश्चय में स्त्रियों का अति सूक्ष्म पकड़ने में वह शक्तिमान नहीं है। क्रोधायमान भयंकर काला सर्प, दुष्ट सिंह और मदोन्मत्त हाथी को भी पुरुष किसी तरह वश कर सकता है, परन्तु दुष्ट स्त्रियों के चित्त को वश नहीं कर सकता है। कई बार पानी में भी पत्थर तैरता, और अग्नि भस्म न जलाकर, उल्टा हिम के समान शीतल बन जाती है, परन्तु स्त्रियों को कर्ष

भी पुरुष के प्रति ऋजुता—सरलता नहीं होती है। सरलता के अभाव में उनमें विश्वास किस तरह हो सकता है ? और विश्वास बिना स्त्रियों में प्रीति कैसे हो सकती है ? पुरुष दो भुजाओं द्वारा तैर कर समुद्र को भी पार उतर जाते हैं, किन्तु माया रूपी जल से भरी हुई स्त्री समुद्र को पार करने को कोई शक्तिमान नहीं है। रत्न सहित परन्तु शेरनी युक्त गुफा के समान और शीतल जल वाली, परन्तु घड़ियाल वाली नदी के समान स्त्री मनुष्यों के मन को हरने वाली होने पर भी उद्वेग करने वाली है, अतः इसे धिक्कार है ! कुलिन स्त्री भी आँखों से देखा और सत्य भी कबूल नहीं करती है, अपने द्वारा कपट किया हो उसे भी गलत सिद्ध कर देती है। और पुरुष के प्रति घो के समान अपने पाप को छुपाकर रखती है।

मनुष्य का स्त्री के समान दूसरा शत्रु नहीं है, इसलिये स्त्री को न+अरि = नारी कहते हैं। और पुरुष को सदा प्रमत्त—प्रमादी बनाती है, इसलिए स्त्री को प्रमदा कहते हैं। पुरुष को सँकड़ों अनर्थों में जोड़ती है, इसलिए इसे विलया कहते हैं। तथा पुरुष को दुःख में जोड़ती है, इसलिए उसे युवति अथवा योषा कहते हैं। अबला इस कारण से कहते हैं कि उसके हृदय में धैर्य-बल नहीं होता है। इस तरह स्त्री के पर्याय वाचक नाम भी चिन्तन करने से अमुखकारक होता है। स्त्री क्लेश का घर है, असत्य का आश्रम है, अविनयों का कुल घर (बाप दादों का घर) है, असन्तोषी अथवा खेद का स्थान है और झगड़े का मूल है तथा धर्म का महान् विघ्न है, अधर्म का निश्चित प्रादुर्भाव है, प्राण का भी सन्देह रूप और मान-अपमान का हेतु है, स्त्रियाँ पराभवों का अंकुर है, अपकीर्ति का कारण है, धन का सर्वनाश है, अनर्थों का समागम है, दुर्गति का मार्ग है और स्वर्ग तथा मोक्ष मार्ग की दृढ़ अर्गला रूप रुकावट है, एवं दोषों का आवास है, सर्व गुणों का प्रवास या देश निकाल है। चन्द्र भी गरम हो, सूर्य भी शीतल हो और आकाश भी स्थान रहित बन जाए, परन्तु कुलिन स्त्री भी दोष रहित भद्रिक सरल नहीं बनती है। इत्यादि स्त्री सम्बन्धी अनेक दोषों का चिन्तन करने वाला विवेकी का मन प्रायः स्त्रियों से विरागी बनता है। जैसे इस लोक में दोषों को जानकर विवेकी सिंह आदि का त्याग करते हैं, वैसे दोषों को जानकर स्त्रियों से भी दूर रहें। अधिक क्या कहें ? स्त्री कृत दोषों को इस ग्रन्थ में ही पूर्व में अनुशास्ति नामक द्वार के अन्दर सूरिजी ने कहा है जो वस्तु शुद्ध सामग्री से बनी हो, उसका तो मूल कारण शुद्ध होने से शुद्ध होती है, परन्तु अशुचि से बने हुए शरीर की शुद्धि किस तरह हो सकती है ? क्योंकि शरीर का उत्पत्ति कारण शुक्र और रुधिर है, ये दोनों अपवित्र हैं, इसलिए

अशुचि से बना हुआ घड़े के समान शरीर भी अशुचि-अशुद्ध है। वह इस प्रकार से :—

गर्भावस्था का स्वरूप :—माता-पिता के संयोग से रुधिर और शुक्र के मिलन से जो मैला—अशुचि होता है, उसमें प्रारम्भ के अन्दर ही जीव की उत्पत्ति होती है। उसके बाद वह अशुचि सात दिन तक गर्भ का लपेटन रूप सूक्ष्म चमड़ी तैयार होती है, फिर सात दिन में सामान्य पेशी बनती है। उसके बाद एक महीने में घन रूप बनता है और वह दूसरे महीने में वजन में एक कर्प न्यून एक पल अर्थात् साठ रत्ति जितना बनता है, तीसरे महीने में मांस की घन पेशी बनती है। चौथे महीने में माता को दोहन्ना उत्पन्न करता है और उसके अंगों को पुष्ट करता है, पाँचवें महीने में मस्तक, हाथ, पैर के अस्पष्ट अंकुर प्रगट होते हैं, छठे महीने में रुधिर पित्त आदि धातु एकत्रित होते हैं, सातवें महीने में सात सौ छोटी नाड़ी और पाँच सौ पेशी बनती हैं। आठवें महीने में नौ नाड़ी और सर्व अंग में साढ़े तीन करोड़ रोम उत्पन्न करता, फिर जीव पूर्ण प्रायः शरीर वाला बनता है, नौवें अथवा दसवें महीने में माता को अपने पीड़ा करते करुण शब्द से रोते योनि रूपी छिद्र में से बाहर निकलता है, और अनुक्रम से बढ़ता है। उस शरीर में विशाल प्रमाण मूत्र और रुधिर तथा एक कुडव प्रमाण श्लेष्मा और पित्त हैं, आधा कुडव प्रमाण शुक्र और एक प्रस्थ प्रमाण मस्तक का रस होता है, आधा आढक चरणी एक प्रस्थ मल और बीभत्स मांस मज्जा से तथा हड्डी के अन्दर होने वाला रस से भरा हुआ, तीन सौ हड्डी तथा सब मिलाकर एक सौ साठ संधियाँ—हड्डियों के जोड़ होते हैं। मानव शरीर में नौ सौ स्नायु, सात सौ नाड़ी और पाँच सौ मांस की पेशियाँ होती हैं।

इस तरह शुक्र, रुधिर आदि अशुचि पुद्गलों के समूह से बना अथवा नौ मास तक अशुचि में रहा हुआ और योनि से निकलने के बाद भी माता के स्तन का दूध से पालन-पोषण हुआ और स्वभाव से ही अत्यन्त अशुचिमय इस देह में किस तरह पवित्रता हो सकती है ? इस प्रकार के इस शरीर में सम्यग् देखते या चिन्तन करते केले के स्तम्भ समान बाहर अथवा अन्दर से श्रेष्ठता अल्प-मात्र भी नहीं होती है। सर्पों में मणि, हाथियों में दाँत और चमरी गाय में उसके बाल बाल-समूह चामर सारभूत दिखते हैं, परन्तु मनुष्य-शरीर में कोई एक भी सार रूप नहीं है। गाय के गोबर, मूत्र में और दूध में तथा सिंह के चमड़े में पवित्रता दिखती है, किन्तु मनुष्य देह में कुछ भी पवित्रता नहीं दिखती। और

वातिक, पैत्तिक और श्लेष्म जन्य रोग तथा भूख प्यास आदि दुःख जैसे जलती तेज अग्नि के ऊपर रखा पानी जलाता है वैसे वह नित्य शरीर को जलाते हैं। इस तरह अशुचि देह वाले भी, यौवन के मद से व्यामूढ़ बना 'अज्ञ पुरुष' अपने शरीर के सदृश अशुचिमय से बने हुए भी स्त्री शरीर में राग के कारण केश कलाप को मोर की पिछ के समान, ललाट को भी अष्टमी के चन्द्र समान, नेत्रों को कमलनी के पंखड़ी के सदृश, होठों के पद्मराग मणि के साथ, गरदन को पाँच जन्य शंख के समान, स्तनों को सीने के कलश समान, भुजाओं को कमलिनी के नाल के समान, हथेली को नवपल्लव कोमल पत्तों के सदृश, नितम्बपट को सुवर्ण की शिला के साथ, जाँघ को केले स्तम्भ के साथ और पैरों को लाल कमल के साथ उपमा देता है। परन्तु अनार्य—मूर्ख उसे अपने शरीर के सदृश अशुचि से बना है, विष्टा, मांस और रुधिर से पूर्ण और केवल चमड़ी से ढका हुआ है, ऐसा विचार नहीं करता है। मात्र सुगन्धी विलेपन, तंबोल, पुष्प और निर्मल रेशमी वस्त्रों से शोभित क्षण भर के लिए बाहर से शोभित होते स्त्री का अपवित्र शरीर को भी सुन्दर है इस तरह मानकर काम से मूढ़ मन वाला मनुष्य जैसे मांसाहारी राग से कटु हड्डी आदि से युक्त दुर्गन्धमय मांस को भी खाता है, वैसे ही वह उस शरीर को भोगता है। तथा जैसे विष्टा से लिप्त बालक विष्टा में ही प्रेम करता है, वैसे स्वयं अपवित्र मूढ़ पुरुष स्त्री रूपी विष्टा में प्रेम करता है। दुर्गन्धी रस और दुर्गन्धी गन्ध वाली स्त्री के शरीर रूपी झोंपड़ी का भोग करने पर भी जो शौच का अभिमान करते हैं वे जगत में हाँसी के पात्र बनते हैं।

इस तरह शरीरगत इस अशुचि भावों का विचार करते अशुचि के प्रति घृणा करने वाला पुरुष स्त्री शरीर को भोगने की इच्छा किस तरह हो सकती है? इन अशुचि भावों को अपने शरीर में सम्यग् घृणा रूप देखते पुरुष अपने शरीर में भी राग मुक्त बनता है, तो फिर अन्य के शरीर में क्या पूछना? पर-शरीर में भी राग मुक्त बनता है। वृद्ध अथवा युवान भी वृद्धों के आचरणों से महान् बनता है और वृद्ध या युवान, युवान के समान उद्धत आचरण करने से हल्का बनता है। जैसे सरोवर में पत्थर गिरने से स्थिर कीचड़ को उछालता है, उसी तरह कामिनी के संग से प्रशान्त बना भी मोह को जाग्रत करता है। जैसे गन्दा मैला पानी भी कतक फल के योग से निर्मल बनता है, वैसे मोह से मलिन मन वाला भी जीव वैरागी की सेवा से निर्मल बनता है। जैसे युवान पुरुष भी वृद्ध की शिक्षा प्राप्त करने पर अकार्य में से तुरन्त लज्जा प्राप्त करता है, उससे रुकावट, शंका, गौरव का भय और धर्म की बुद्धि से वृद्ध के समान

आचरण वाला बनता है, वैसे वृद्ध पुरुष भी कामी तरुण की बातों से जल्दी ही अकार्य में विश्वासु, निःशंक और प्रकृति से मोहनीय कर्म उदय वाला तरुण कामी पुरुष के समान आचरण वाला बनता है। जैसे मिट्टी में छुपा हुआ गंध पानी के योग से प्रगट होता है, वैसे प्रशान्त मोह भी युवानों के सम्पर्क से मनुष्य में विकराल बनता है। युवान के साथ रहने वाला सज्जन संत पुरुष भी अल्पकाल में इन्द्रिय से चंचल, मन से चंचल, स्वेच्छाचारी बनकर स्त्री सम्बन्धी दोषों को प्राप्त करता है। पुरुष का विरह होते, एकान्त में, अन्धकार में और कुशील की सेवा अथवा परिचय में—इन तीनों कारण से अल्पकाल में अप्रशस्त भाव प्रगट होता है। मित्रता के दोष से ही चारुदत्त ने आपत्ति को प्राप्ति की तथा वृद्ध सेवा से पुनः उन्नति को प्राप्त किया था। वह कथा इस प्रकार है :—

चारुदत्त की कथा

चम्पा नगरी में भानु नामक महान् धनिक श्रावक रहता था। उसे सुभद्रा नाम से पत्नी और चारुदत्त नामक पुत्र था। चारुदत्त यौवन बना फिर भी साधु के समान निर्विकारी मन वाला वह विषय का नाम भी नहीं चाहता था। तो फिर उसे भोग की बात ही कैसे होती ? इसलिए माता, पिता ने उसके विचार बदलने के लिए उसे दुर्व्यसनिय मित्रों के साथ में जोड़ा, फिर उन मित्रों के साथ में रहता वह विषय की इच्छा वाला बना। इससे वसन्त सेना वेश्या के घर बारह वर्ष तक रहा और उसने उसमें सारा धन नाश किया। फिर वेश्या की माता ने उसे घर से निकाल दिया। वह घर गया, और वहाँ माता-पिता की मृत्यु हो गई, ऐसा सुनकर अति दुःखी हुआ, अतः व्यापार की इच्छा से पत्नी के आभूषण लेकर वह मामा के साथ उसीरवृत्त नामक नगर में गया। वहाँ से रुई खरीदकर तामलिप्ती नगर की ओर चला और बीच में ही दावानल लगने से रुई जल गई। फिर घबड़ाकर उस मामा को छोड़कर जल्दी घोड़े पर बैठकर पूर्व दिशा में भागा और वह त्रिगुंघु नगर में पहुँचा। वहाँ पर सुरेन्द्र दत्त नामक उसके पिता के मित्र ने उसे देखा और पुत्र के समान उसे बड़े प्रेम से बहुत समय तक अपने घर में रखा। फिर सुरेन्द्र दत्त के जहाज भरकर धन कमाने के लिए अन्य बन्दरगाह में जाकर चारुदत्त ने आठ करोड़ धन प्राप्त किया। वहाँ से वापिस आते उसके जहाज समुद्र में नष्ट हो गये और चारुदत्त को महा मुसीबत से एक लकड़ी का तख्ता मिला और उसके द्वारा उस समुद्र को पार कर मुसीबत से राजपुर नगर में पहुँचा। वहाँ उसे सूर्य समान तेजस्वी एक त्रिदण्डी साधु मिले। उस साधु ने उससे पूछा कि—तू कहाँ

से आया है ? चारुदत्त ने उसे सारी अपनी बात कही । त्रिदण्डी ने कहा कि—हे वत्स ! आओ ! पर्वत पर चलें और वहाँ से, चिरकाल से पूर्व में देखा हुआ विश्वासपात्र कोटिवेध नामक रस को लाकर तुझे धनाढ्य करूँ । चारुदत्त ने वह स्वीकार किया ।

वे दोनों पर्वत की गाढ़ झाड़ियों में गये, और वहाँ उन्होंने यम के मुख समान भयंकर रस के कुए को देखा । त्रिदण्डी ने चारुदत्त को कहा कि—भद्र ! तुम्हे को लेकर तुम इसमें प्रवेश करो और रस्सी का आधार लेकर शीघ्र फिर वापिस निकल आना । फिर रस्सी के आधार से चारुदत्त उस अति गहरे कुए में प्रवेश कर जब उसके मध्य भाग में खड़े होकर रस लेने लगा । तब किसी ने उसे रोका कि—हे भद्र ! रस को मत लो । मत लो । तब चारुदत्त ने कहा कि—तुम कौन हो ? मुझे क्यों रोकता है ? उसने कहा कि—मेरे जहाज समुद्र में नष्ट हो गये थे । धन के लोभ में वणिक यहाँ आया और मुझे रस के लिए त्रिदण्डी ने रस्सी से यहाँ उतारा था, मैंने रस से भरा तुम्बा उसे दिया, तब उस पापी ने इस तरह स्वकार्य सिद्धि के लिए उस रस तुम्बा को लेकर रस कुए की पूजा के लिए, बकरे के समान, मुझे कुए में फेंक दिया । रस में नष्ट हुआ आधे शरीर वाला हूँ, अब मेरे प्राण कण्ठ तक पहुँच गये हैं, और मरने की तैयारी है । यदि तू इस रस को देगा तो तेरा भी इसी तरह विनाश होगा । तू तुम्बा मुझे दे कि जिससे वह रस भरकर मैं तुझे दूँ । उसने ऐसा कहा, तब चारुदत्त ने उसे तुम्बा दिया, फिर रस भरकर वह तुम्बा उसने चारुदत्त को दिया, उस समय चारुदत्त ने उसमें से निकालने के लिए हाथ से रस्सी हिलाई । तब रस की इच्छा वाले त्रिदण्डी उसे खींचने लगा । परन्तु जब चारुदत्त किसी तरह बाहर नहीं निकला, तब चारुदत्त ने रस को कुए में फेंक दिया । इससे क्रोधायमान होकर त्रिदण्डी ने उसे रस्सी सहित छोड़ दिया । वह अन्दर गिरा 'अब जीने की आशा नहीं है ।' ऐसा सोचकर सागर अनशन करके श्री पंच परमेष्ठि का स्मरण करने लगा । उस समय उस वणिक ने कहा कि—कल रस पीकर गोह गई है यदि पुनः वह यहाँ आये तो तेरा निस्तारा हो जायेगा । ऐसा सुनकर कुछ जीने की आशा वाला वह जब पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करने में तत्पर था तब अन्य दिन गोह वहाँ आई और उस रस को पीकर निकल रही थी, उसी समय चारुदत्त ने जीने के लिए उसे पूँछ से ढढ़ पकड़ लिया, फिर उस गोह ने उसे बाहर निकाला । इससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ वह पुनः चलने लगा, और उसने महा मुश्किल से जंगल को पार किया ।

आगे प्रस्थान करते एक तुच्छ गाँव में उसको रुद्र नामक मामा का मित्र मिला। उसके साथ ही वह वहाँ से टंकण देश में पहुँचा। और वहाँ से दो बलवान बकरे लेकर दोनों सुवर्ण भूमि की ओर चले। दूर पहुँचने के बाद रुद्र ने चारुदत्त को कहा कि—हे भाई ! यहाँ से आगे जा नहीं सकते, अतः इन बकरों को मारकर रोम का विभाग अन्दर कर अर्थात् उसे उल्टा कर थैला बना दो और शस्त्र को लेकर उसमें बन्द हो जाओ जिससे माँस की आशा से भारंड पक्षी उसे उठाकर सुवर्ण भूमि में रखेंगे इस तरह हम वहाँ पहुँच जायेंगे और अत्यधिक सोने को प्राप्त करेंगे। ऐसा सुनकर उसे करुणा उत्पन्न हुई और चारुदत्त ने कहा—नहीं, नहीं ऐसा नहीं बोल। हे भद्र ! ऐसा पाप कौन करेगा ? जीव हिंसा से मिलने वाला धन मेरे कुल में भी प्राप्त नहीं हो। रुद्र ने कहा—मैं अपने बकरे को अवश्यमेव मारूँगा। इसमें तुझे क्या होता है ? इससे चारुदत्त उद्विग्न मन द्वारा मौन रहा। फिर अति निर्दय मन वाला रुद्र ने बकरे को मारने लगा, तब चारुदत्त ने बकरे के कान के पास बैठकर पाँच अणुव्रत का सारभूत श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र सुनाया और उसके श्रवण से शुभभाव द्वारा मरकर बकरे देवलोक में उत्पन्न हुए। फिर उस रुद्र शीघ्र उस चमड़े में चारुदत्त को बन्द कर स्वयं दूसरे बकरे के चमड़े में प्रवेश किया। उसके बाद माँस के लोभ से भारंड पक्षियों ने दोनों को उठाया, परन्तु जाते हुए पक्षियों के परस्पर युद्ध होने से चारुदत्त दो भारंड पक्षी के चोंच में से किसी तरह पानी के ऊपर गिरा और चमड़े को शस्त्र से चीरकर गर्भ से निकलता है वैसे वह बाहर निकला। इस तरह दुर्जन की संगति से उसे इस प्रकार संकट का सामना करना पड़ा। अब शिष्टजन के संगत से जिस प्रकार उसने लक्ष्मी को प्राप्त की, इसका प्रबन्ध आगे है।

फिर उस जल को पारकर वह नजदीक में रहे रत्नद्वीप में गया और उसे देखता हुआ पर्वत के शिखर पर चढ़ गया। वहाँ काउस्सग में रहे अमितगति नामक चारण मुनि को देखा, और हर्ष से रोमांचित शरीर वाला बनकर उसने वन्दना की। मुनि श्री ने काउस्सग को पारकर धर्म लाभ देकर कहा कि—हे चारुदत्त ! तू इस पर्वत पर किस तरह आया ? हे महाशय ! क्यों तुझे याद नहीं ? कि पूर्व में चम्पापुरी के वन में गया था। वहाँ तूने जिस शत्रु के बंधन से मुझे छुड़ाया था। वहीं मैं कई दिनों तक विद्याधर की राज्य लक्ष्मी को भोगकर दीक्षा स्वीकार कर यहाँ आतापना ले रहा हूँ। जब अमितगति मुनि इस तरह बोल रहे थे, उस समय कामदेव के समान रूप वाले दो विद्याधर कुमार आकाश में से वहाँ नीचे उतरे। उन्होंने साधु को वन्दन किया, और

चारुदत्त के चरणों में गिरकर दो हस्त कमल को ललाट पर लगाकर जमीन पर बैठा। उस समय मणिमय मुगट धारण करने वाले मस्तक को नमाकर एक देव आया, उसने प्रथम चारुदत्त को और फिर मुनि को वन्दन किया। इससे विस्मितपूर्वक विद्याधर देव ने पूछा कि—अहो ! तूने साधु को छोड़कर प्रथम गृहस्थ के चरणों में क्यों नमस्कार किया ? देव ने कहा कि—यह चारुदत्त मेरा धर्म गुरु है, क्योंकि जब मैं बकरा था तब मृत्यु के समय श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र को दिया था जिसके कारण अति दुर्लभ देव की लक्ष्मी प्राप्त करवाई है। इस चारुदत्त के द्वारा ही मैं मुनियों को तथा सर्वज्ञ परमात्मा को जानने वाला बना हूँ। फिर देव ने चारुदत्त को कहा कि—भो ! अब आप वरदान मांगो। तब चारुदत्त ने कहा—मैं स्मरण करूँ तब आ जाना। देव वह स्वीकार करके अपने स्थान पर गया। फिर विद्याधरों ने 'यह गुणवान है' ऐसा मानकर अनेक मणि और सुवर्ण के समूह से भरे हुए बड़े विमान में बैठकर चम्पापुरी लाकर अपने भवन में रखा और वहाँ चारुदत्त श्रेष्ठ ने उन्नति की।

इस तरह इस जगत में भी दुष्ट और शिष्ट की संगत से वैसा ही फल को देखकर निर्मल गुण से भरे हुए उत्तम बुद्धि वाले वृद्ध की सेवा करने में प्रयत्न करना चाहिए। और धीर पुरुष, वृद्ध प्रकृति वाले तरुण अथवा वृद्ध की नित्य सेवा करते और गुरुकुल वास को नहीं छोड़ने वाले ब्रह्मव्रत को प्राप्त करते हैं। बार-बार स्त्रियों के मुख और गुप्त अंगों को देखने वाला अल्प सत्त्व वाले पुरुष का हृदय कामरूपी पवन से चलित होता है। क्योंकि स्त्रियों की धीमी चाल, उसके साथ खड़ा रहना, विलास, हास्य, शृंगारिका—काम विकार चेष्टा तथा हाव भाव द्वारा, सौभाग्य, रूप, लावण्य और श्रेष्ठ आकृति की चेष्टा द्वारा, टेढ़ी-मेढ़ी दृष्टि द्वारा देखना, विशेष आदरपूर्वक हँसना, बोलना, रस-पूर्वक क्षण-क्षण बोलने के द्वारा, तथा आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के द्वारा, स्वभाव से ही स्निग्ध विकारी और स्वभाव से ही मनोहर स्त्री को एकान्त में मिलने से प्रायःकर पुरुष का मन क्षोभित होता है और फिर अनुक्रम से प्रीति बढ़ने से अनुराग वाला बनता है फिर विश्वास वाला निर्भय और स्नेह के विस्तार वाला लज्जायुक्त भी पुरुष वह क्या-क्या नहीं करता है ? अर्थात् सभी अकार्यों को करता है। जैसे कि माता, पिता, मित्र, गुरु, शिष्ट लोग तथा राजा आदि की लज्जा को अपनी गौरव को, राग और परिचय को भी मूल में से त्याग कर देता है। कीर्ति धन का नाश, कुल मर्यादा, प्राप्त हुआ धर्म गुणों को, और हाथ, पैर, कान, नाक आदि के नाश को भी वह नहीं गिनता है। इस तरह

संसर्ग से मूढ़ मन वाला, मैथुन क्रिया में आसक्त, मर्यादा रहित बना हुआ और भूत भविष्य को भी नहीं गिनता, वह पुरुष ऐसा कौन सा पाप है कि जिसे वह आचरण नहीं करता ? स्त्री के संसर्ग से पुरुष में स्थान प्राप्त होने से इन्द्रिय जन्य शब्दादि विषय, कषाय विविध संज्ञा और गारव आदि सब दोषों को स्वभाव से ही शीघ्र बढ़ते हैं यदि वय से वृद्ध और बहुत ज्ञानवान हो, तथा प्रमाणिक लोकमान्य मुनि एवं तपस्वी हो फिर भी स्त्रियों के संसर्ग से वह अल्पकाल में दोषों को प्राप्त करता है। तो फिर युवान अल्पज्ञान वाले अज्ञानी आदि स्वच्छन्दचारी और मूर्ख को स्त्री के संसर्ग से मूल में से ही विनाश अर्थात् व्रत से भ्रष्ट होता है उसमें क्या आश्चर्य है ? मनुष्य रहित निर्जन गहन जंगल में रहने वाला भी कुल बालक मुनि ने स्त्री के संसर्ग से महा विडम्बना प्राप्त की थी।

जो जहर के समान स्त्री के संसर्ग को सर्वथा त्याग करता है वह जिंदगी तक निश्चल ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है क्योंकि—देखने मात्र से भी वह स्त्री पुरुष को मूर्च्छित करती है। इसलिए समझदार पुरुष को समझना चाहिए कि पापी स्त्री के नेत्रों में निश्चय जहर भरा हुआ है। तीव्र जहर, सर्प और सिंह का संसर्ग एक बार ही मारता है जबकि स्त्री का संसर्ग पुरुष को अनन्ती बार मारता है। इस तरह व्रत रूपी वन के मूल में अग्नितुल्य स्त्री की सोबत को जो हमेशा त्याग करता है, वह सुखपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है और यश का विस्तार करता है। इसलिए हे क्षपक मुनि ! यदि मोह के दोष से किसी समय भी विषय की इच्छा हो तो भी पाँच प्रकार के स्त्री वैराग्य में उपयोग वाला बनना चाहिए। कीचड़ में उत्पन्न हुआ और जल में बढ़ने वाला कमल जैसे वह कीचड़ और जल से लिप्त नहीं होता है वैसे स्त्री रूपी कीचड़ से जन्मा हुआ और विषय रूपी जल से वृद्धि होने पर भी मुनि उसमें लिप्त नहीं होते हैं। अनेक दोष रूपी हिंसक प्राणियों के समूह वाली, मायारूपी मृग तृष्णा वाली और कुबुद्धि रूपी गाढ़ महान् जंगल वाली स्त्री रूपी अटवी में मुनि मुरझाता नहीं है। सर्व प्रकार की स्त्रियों में सदा अप्रमत्त और अपने स्वरूप में दृढ़ विश्वास रखने वाला मुनि चारित्र्य का मूल-भूत और सद्गति का कारण रूप ब्रह्मचर्य को प्राप्त करता है। जो स्त्री के रूप को चिरकाल टकटकी दृष्टि से नहीं देखता है और मध्याह्न के तीक्ष्ण तेज वाले सूर्य को देखने के समान उसी समय दृष्टि को वापिस खींच लेता है, वही ब्रह्मचर्य व्रत को पार उतार सकता है। दूसरे मेरे विषय में क्या बोल

रहे हैं ? मुझे कैसा देख रहे हैं ? और मैं कैसा वर्तन करता हूँ ? इस तरह जो नित्य आत्म अनुप्रेक्षा करता है वह दृढ़ ब्रह्मव्रत वाला है । धन्य पुरुष ही मन्द-हास्य पूर्वक के वचन रूपी तरंगों से व्याप्त और विषय रूपी अगाढ़ जल वाला यौवन रूप समुद्र को स्त्री रूपी घड़ियाल से फँसे बिना पार उतरते हैं ।

पाँचवाँ अपरिग्रह व्रत :—बाह्य और अभ्यन्तर सर्वे परिग्रह को तू मन, वचन, काया से करना, करवाना और अनुमोदना के द्वारा त्याग कर । इसमें १. मिथ्यात्व, २. पुरुष वेद, ३. स्त्री वेद, ४. नपुंसक वेद ५ से ११ हास्यादिषट्क और ११ से १४ चार कषाय इस तरह चौदह प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह जानना । क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, धातु सोना, चांदी, दास, दासी, पशु, पक्षी तथा शयन आसनादि नौ प्रकार का बाह्य परिग्रह जानना । छिलके सहित चावल-धान को जैसे शुद्ध नहीं हो सकता है, वैसे परिग्रह से युक्त जीव के कर्ममल शुद्ध नहीं हो सकता है । जब राग, द्वेष, गारव तथा संज्ञा का उदय होता है, तब लालची जीव परिग्रह को प्राप्त करने की बुद्धि रखता है फिर उसके कारण जीवों को मारता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है मैथुन का सेवन करता है और अपरिमित धन को एकत्रित करता है । धन के मोह से अत्यन्त मूढ़ बने जीव को संज्ञा, गारव, चुगली, कलह कठोरता तथा झगड़ा विवाद आदि कौन-कौन से दोष नहीं होते हैं ? परिग्रह से मनुष्यों को भय उत्पन्न होता है क्योंकि एलगच्छ नगर में जन्मे हुए दो सगे भाइयों ने धन के लिए परस्पर मारने की बुद्धि हुई थी । धन के लिए चोरों में भी परस्पर अतिभय उत्पन्न हुआ था, इससे मद्य और मांस में विष मिलाकर उनको परस्पर मार दिया था । परिग्रह महाभय है, क्योंकि उत्तम कुंचिक श्रावक ने धन चोरी करने वाले पुत्र होने पर भी आचार्य महाराज को कष्ट दिया वह इस प्रकार 'मुनि-पति राजर्षि कुंचिक सेठ के घर उसके भण्डार के पास चौमासा रहा, सेठ की जानकारी बिना ही उनके पुत्र गुप्त रूप में धन चोरी कर गया, परन्तु सेठ को आचार्य जी के प्रति शंका हुई और उनको कष्ट दिया, धन के लिए ठण्डी, गरमी, प्यास, भूख बरसाद, दुष्ट शय्या, और अनिष्ट भोजन इत्यादि कष्टों को जीव सहन करता है और अनेक भार को उठाता है । अच्छे कुल में जन्म लेने वाला भी धन का अर्थी गाता है, नृत्य करता है, दौड़ता है, कम्पायमान होता है, विलाप करता है, अशुचि को भी कुचलता है, और नीच कर्म को भी करता है । ऐसा करने पर भी उनको धन प्राप्ति में संदेह होता है, क्योंकि मन्द भाग्य वाले को चिरकाल तक भी धन प्राप्त नहीं कर सकता है । और यदि किसी तरह धन मिल जाए फिर भी उसे अनेक धन से तृप्ति नहीं होती है,

क्योंकि लोभ से लोभ बढ़ता है। जैसे इन्धन से अग्नि, और नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता वैसे जीव को तीनों लोक मिल जायें, फिर भी तृप्ति नहीं होती है। जैसे हाथ में मांस वाले निर्दोष पक्षी को दूसरे पक्षी उपद्रव करते हैं वैसे निरपराधी धनवान को भी अन्य मारते हैं, वध करते हैं, रोकते हैं और भेदन छेदन करते हैं। धन के लिए जीव माता, पिता, पुत्र और स्त्री में भी विश्वास नहीं करता है और उसकी रक्षा करते समग्र रात्री जाग्रत रहता है। अपना धन जब नाश होता है तब पुरुष अन्तर में जलता है, उन्मत्त के समान विलाप करता है, शोक करता है और पुनः धन प्राप्ति करने की उत्सुकता रखता है। स्वयं परिग्रह का ग्रहण, रक्षण, सार सम्भाल आदि करते व्याकुल मन वाला मर्यादा भ्रष्ट हुआ जीव शुभ ध्यान में किस तरह कर सकता है ?

और धन में आसक्त हृदय वाला जीव अनेक जन्मों तक दरिद्र होता है और कठोर हृदय वाला वह धन के लिए कर्म का बन्धन करता है। धन को छोड़ने वाला मुनि इन सब दोषों से मुक्त होता है और परम अभ्युदय रूप मुख्य गुण समूह को प्राप्त करता है। जैसे मन्त्र, विद्या और औषध बिना का पुरुष अनेक सर्पों वाले जंगल में अनर्थ को प्राप्त करता है वैसे धन को रखने वाला मुनि भी महान् अनर्थ को प्राप्त करता है। मन पसन्द अर्थ में राग होता है और मनपसन्द न हो तो द्वेष होता है ऐसे अर्थ का त्याग करने से रागद्वेष दोनों का त्याग होता है। परीग्रहों से बचने के लिए उपयोगी धन का सर्वथा छोड़ने वाला तत्त्व से ठण्डी, ताप, डांस, मच्छर आदि परीषहों को छाती देकर हिम्मत रखी है। अग्नि का हेतु जैसे लकड़ी है, वैसे कषायों का हेतु आसक्ति है इसलिए सदा अपरिग्रही साधु ही कषाय की संलेखना को कर सकते हैं वही सर्वत्र नम्र अथवा निश्चिन्त बनता है और उसका स्वरूप विश्वास पात्र बनता है, जो परिग्रह में आसक्त है वह सर्वत्र अभिमानी अथवा चिंतातुर और शंका पात्र बनता है इसलिए हे सुविहित मुनिवर्य ! तू भूत, भविष्य और वर्तमान में सर्व परिग्रह को करना, करवाना और अनुमोदना का सदा त्याग करे। इस तरह सर्वपरिग्रह का त्यागी प्रायः उपशान्त बना, प्रशान्त चित्तवाला साधु जीते हुए भी शुद्ध निर्वाण—मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। इन व्रतों से आचार्य भगवन्त आदि महान् प्रयोजन सिद्ध करते हैं और स्वरूप से वह बड़े से भी बड़ा है इसलिए इसे महाव्रत कहते हैं। इन व्रतों की रक्षा के लिए सदा रात्री भोजन का त्याग करना चाहिए और प्रत्येक व्रत की भावनाओं से अच्छी तरह चिन्तन करे।

प्रथम महाव्रत की भावना :—युग प्रमाण नीचे दृष्टि रखकर अखंड उपयोग पूर्वक कदम रखकर शीघ्रता रहित जयणापूर्वक चलने वाले को प्रथम व्रत की प्रथम भावना होती है। बीयालीस दोष रहित ऐसना की आराधना

वाले साधु को भी आहार, पानी को दृष्टि से देखने की जयणा करने से प्रथम व्रत की दूसरी भावना होती है। वस्त्र पत्रादि उपकरणों को लेना, रखने में प्रमर्जित करना और पड़िलेखना पूर्वक जयणा करने वाले को प्रथम व्रत की तीसरी भावना होती है। मन को अशुभ विषय से रोककर आगम विधिपूर्वक शुभ विषय में सम्यग् जोड़ने वाले को प्रथम व्रत की चौथी भावना होती है। और अकार्य में से वाणी के वेग को रोककर शुभ कार्य में भी आगम विधि अनुसार बुद्धिपूर्वक विचार कर वचन को उच्चारण करने वाला प्रथम व्रत की पाँचवीं भावना होती है। ऊपर कहे अनुचार से विपरीत प्रवृत्ति करने वाला पुनः जीवों की हिंसा करता है, अतः प्रथम व्रत की दृढ़ता के लिए पाँच भावनाओं में उद्यम करना चाहिए।

दूसरे व्रत की भावना :—हांसी के बिना बोलने वाले को दूसरे व्रत की पहली भावना है और विचार कर बोलने वाले को दूसरे व्रत की दूसरी भावना होती है। प्रायः क्रोध, लोभ और भय से असत्य बोलने का कारण हो सकता है, इसलिए क्रोध, लोभ और भय के त्यागपूर्वक ही बोलने में दूसरे व्रत की शेष तीन अर्थात् तीसरी, चौथी और पाँचवीं भावनार्यें होती हैं।

तीसरे महाव्रत की भावना :—मालिक अथवा मालिक ने जिसने सौपा हो उसे विधिपूर्वक अवग्रह—उपयोग करने आदि की भूमि की मर्यादा बतानी चाहिए, अन्यथा अप्रीतिरूपभाव अदत्तादान होता है। यह तीसरे व्रत की प्रथम भावना जानना द्रव्य क्षेत्र आदि चार प्रकार के अवग्रह की मर्यादा बताने के लिये गृहस्थ द्वारा उसकी आज्ञा प्राप्त करे वह तीसरे व्रत की दूसरी भावना है फिर मर्यादित किये अवग्रह को ही हमेशा विधिपूर्वक उपयोग करे अन्यथा अदत्तादान लगता है। इस तरह तीसरे व्रत की तीसरी भावना है। सर्व साधुओं के साधारण आहार और पानी में से भी जो शेष साधु को तथा गुरुदेव ने अनुमति दी हो वही उसका उपयोग करने वाले तीसरे व्रत की चौथी भावना होती है। गीतार्थ को मान्य उद्यत विहार आदि गुण वाले साधुओं को मांसादि प्रमाण वाला काल अवग्रह, जाते आते पाँच कोस आदि मर्यादा रूप क्षेत्र अवग्रह एवं उनकी वसति आदि प्रत्येक को उनकी अनुज्ञापूर्वक उपयोग करे, अन्यथा अदत्तादान दोष लगता है यह तीसरे व्रत की पाँचवीं भावना जानना।

चौथे महाव्रत की भावना :—ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाला मुनि अति स्निग्ध आहार को एवं ऋक्ष (रुखा सूखा) भी अति प्रमाण आहार का त्याग करे वह निश्चय चौथे व्रत की प्रथम भावना होती है। अपनी शोभा के लिए शृंगारिक वस्तुओं का योग तथा शरीर शाखून, दांत, केस का शृंगार नहीं

करना वह चौथे व्रत की दूसरी भावना जानना । स्त्री के अंगोपांग आदि को सारागवृत्ति से मन में स्मरण नहीं करना और रागपूर्वक देखना भी नहीं वह चौथे व्रत की तीसरी भावना जानना । पशु, नपुंसक और स्त्रियों से युक्त वसति को तथा स्त्री के आसन-शयन का त्याग करने वाले को चौथे व्रत की चौथी भावना होती है । केवल स्त्रियों के साथ अथवा स्त्री सम्बन्धी बातों को नहीं करने से और पूर्व में भोगे-भोगों का स्मरण नहीं करने से चौथे व्रत की पाँचवीं भावना जानना ।

पाँचवें महाव्रत की भावना :—मन के अरुचिकर अथवा रुचिकर शब्दादि पाँच प्रकार के इन्द्रियों के विषयों में प्रदेष और गृद्धि आसक्ति नहीं करने वाले को पाँचवें महाव्रत की पाँच भावना होती हैं ।

महाव्रत पालन का उपदेश :—इस प्रकार हे सुन्दर क्षपक मुनि ! आत्मा में व्रतों की परम दृढ़ता को चाहने वाला तू पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का चिन्तन करना । अन्यथा सख्त पवन से प्रेरित जंगल की कोमल लता के समान कोमल चंचल मन वाले और इससे इन व्रतों में अस्थिरात्मा हे क्षपक मुनि ! तू उसके फल को प्राप्त नहीं कर सकेगा ? इसलिए हे देवानु प्रिय ! पाँच महाव्रत में दृढ़ हो जाओ । क्योंकि यदि इन व्रतों में ठगा गया तो तू सर्व स्थानों में ठगा गया है ऐसा जान । जैसे तुम्बे की दृढ़ता बिना चक्र के आरे अपना कार्य नहीं कर सकते हैं, वैसे महाव्रतों में शिथिल आत्मा के सर्व धर्म गुण निष्फल होते हैं जैसे वृक्ष की शाखा, प्रशाखा, पुष्प और फलों का पोषक कारण उसका मूल होता है वैसे धर्म गुणों का भी मूल महाव्रतों की श्रेष्ठता बढ़ता है । जैसे भीतर से घूण नामक जीवों से खाया गया खंभा घर के भार को नहीं उठा सकता है, वैसे ही व्रतों में शिथिल आत्मा धर्म की धूरा के भार को उठाने में कैसे समर्थ हो सकता है ? और जैसे छिद्र वाली निर्बल नाव वस्तुओं को उठाने में समर्थ नहीं है वैसे व्रतों में शिथिल, अतिचार वाला मुनि धर्म गुणों के भार को उठा नहीं सकता है । कच्चा और छिद्र वाला घड़ा भी जैसे जल को धारण करने अथवा रक्षण करने में समर्थ नहीं है वैसे व्रतों में शिथिल अतिचार वाला मुनि धर्म गुणों को धारण करने में या रक्षण करने में समर्थ नहीं हो सकता है । इन व्रतों के अनादर से, अदृढ़ता से और अतिचार सहित जीवात्मा इस अपार संसार समुद्र में परिभ्रमण किया है, कर रहा है और परिभ्रमण करेगा ।

इसलिए हे सुन्दर मुनि ! तू सम्यग् संविज्ञ मन वाला होकर पूर्वाचार्य के इन वचनों का मन में चिन्तन कर । जिसने पाँच महाव्रत रूपी ऊँचे किल्ले

को तोड़ा है, वह चारित्र्य भ्रष्ट है और केवल वेषधारी है उसका अनन्त संसार परिभ्रमण जानना । महाव्रत और अणुव्रतों को छोड़कर जो अन्य तप का आचरण करता है, वह अज्ञानी मूढ़ात्मा डूबी हुई नाव वाला जानना । महान फलदायक ब्रह्मचर्य व्रत को छोड़कर जो सुख की अभिलाषा रखता है वह बुद्धि से कमजोर मूर्ख तपसी करोड़ सोना मोहर से काँच के पत्थर को खरीदता है । और चतुर्विध सकल श्री संध वाले मण्डप में मिलने पर, संसार रूपी भयंकर व्याधि से पीड़ित अन्यत्र रक्षण नहीं मिलने से इस महानुभाव वैद्य के शरण के समान हमारे शरण में आया है अतः अनुग्रह करने योग्य है । इस प्रकार समझकर हे सुन्दर मुनि ! परोपकार परायण श्रेष्ठ गुरु ने इन व्रतों को तेरे में स्थापन किए हैं । इसलिए कुविकल्पों से रहित बनकर तू इन व्रतों में सुदृढ़ बन जाओ । जैसे भीतर की शक्ति वाला मजबूर तू सभा घर के भार को उठाने में समर्थ बनता है वैसे व्रतों में अतिदृढ़ आत्मा उत्तम धर्म धुरा को उठाने में समर्थ बनते हैं । जैसे सर्व अंगों से समर्थ बैल भार को उठाने के लिए समर्थ होता है वैसे व्रतों में अतिदृढ़ आत्मा उत्तम धर्मधुरा को उठाने में समर्थ बनता है । जैसे अत्यन्त मजबूत अंग वालो छिद्र रहित नाव वस्तुओं को उठाने में समर्थ होता है वैसे ही व्रतों में भी सुदृढ़ और अतिचार रहित आत्मा धर्मगुण को उठा सकता है । जैसे पक्का हुआ और छिद्र बिना अखण्ड घड़ा पानी को धारण करने में अथवा रक्षण करने में समर्थ होता है वैसे ही व्रतों में सुदृढ़ और अतिचार रहित आत्मा धर्म गुणों को धारण करने में और रक्षण करने में समर्थ बन सकता है । इन व्रतों के सद्भाव से, पालन करने से, अति दृढ़ता से और अतिचार रहित से जीव इस अपार संसार समुद्र को तरे हैं, तर रहे हैं और तरेंगे । धन्यात्माओं को यह व्रत प्राप्त होता है, धन्य जीवों को ही इसमें अतिदृढ़ता आती है और धन्य पुरुषों को ही इसमें परम निरतिचार युक्त शुद्धि होती है इसलिए अति दुर्लभ पाँच महाव्रत रूपी रत्नों को प्राप्त कर तू फेंक मत देना और इससे आजीविका का आधार भी नहीं करना अन्यथा उज्जिका और भोगवती के समान तू भी इस संसार में कनिष्ठ स्थान को प्राप्त कर अपयश और दुःख को प्राप्त करेगा । इसलिए दृढ़ चित्त वाले तू पन्च महाव्रतों की धूरा को धारण करने में समर्थ बैल बनना, स्वयं इन व्रतों का पालन करना और दूसरों को भी उपदेश देना । इससे धन नाम के सेठ की पुत्रवधू रक्षिका और रोहिणी के समान उत्तम स्थान तथा कीर्ति को प्राप्त कर तू हमेशा सुखी होगा वह कथा इस प्रकार :—

धन सेठ की पुत्रवधुओं की कथा

राजगृह नगर में धन नाम का सेठ था, उसके धनपाल आदि चार पुत्र और उज्जिका, भोगवती, रक्षिका तथा रोहिणी नाम की चार पुत्रवधू थीं। सेठ जी की उम्र परिपक्व होने से चिंता हुई कि अब किस पुत्रवधू को घर का कार्य भार सौंपूँ। फिर परीक्षा के लिए भोजन मण्डप तैयार करवाया और सभी को निमन्त्रण किया, भोजन करवाने के बाद उनको स्वजनों के समक्ष 'इसे सम्भाल कर रखना और जब मांगू तब देना' ऐसा कहकर आदर पूर्वक प्रत्येक को पाँच-पाँच धान के दाने दिये। पहली बहू ने उसे फेंक दिया। दूसरी ने छिलका निकाल कर भक्षण किया, तीसरी ने बाँधकर आभूषण समान रक्षण कर रखा और चौथी ने विधिपूर्वक पीहर बोलने के लिए भेजा। बहुत समय जाने के बाद पूर्व के समान भोजन करवा कर सगे सम्बन्धियों के समक्ष उन दानों को मांगा। प्रथम और दूसरी उसका स्मरण होते ही विलखनी बन गईं। तीसरी ने वही दाने लाकर दिये और चौथी ने चाभी दी और कहा कि गाड़ी भेजकर मैगा लो क्योंकि आपके उस वचन का पालन इस तरह वृद्धि करने से होता है अन्यथा शक्ति होने पर विनाश होने से सम्यग् पालन नहीं माना जाता है। फिर धन सेठ ने उनके स्वजनों को कहा कि—आप मेरे कल्याण साधक हितस्वी हो, तो इस विषय में मुझे क्या करना योग्य है उसे आप कहो? उन्होंने कहा कि—आप अनुभवो हो आपको जो योग्य लगे उसे करो। इससे उन्होंने अनुक्रम से घर की सफाई का कार्य, घर के कोठार, भण्डार और घर सम्भाल कार्य सौंप दिया और इससे सेठ जी की प्रशंसा हुई।

इस दृष्टान्त का उपनय इस प्रकार जानना। सेठ के समान संयम जीवन में गुरु महाराज हैं, स्वजन समान श्रमण संघ है, पुत्र वधुओं के समान भव्य जीव और धान के दाने के समान महाव्रत हैं। जैसे वह धान के दाने फेंक देने वाली यथार्थ नाम वाली उज्जिता दासीत्व प्राप्त करने से बहुत दुःखों की खान बनी। वैसे ही जो कोई भव्यात्मा गुरु ने श्रीसंघ समक्ष दिए हुए महाव्रत को स्वीकार करके महामोह से त्याग कर देता है, वह इस संसार में ही मनुष्यों के द्वारा धिक्कार पात्र बनता है और परलोक में दुःखों से पीड़ित विविध हल्की योनियों में भ्रमण करता है। अथवा जैसे वह धान के खाने वाली यथार्थ नाम वाली भोगवती ने पीसना आदि घर के कार्य विशेष करने से दुःख को ही प्राप्त किया। उसी तरह महाव्रतों का पालन करते हुए भी आहारादि में आसक्त, मोक्ष साधना से भावना रहित व्रतों को आजीविका का हेतु मानकर उससे

आजीविका करता है। वह इस जन्म में साधु वेश होने के कारण इच्छानुसार आहार आदि प्राप्त करता है, परन्तु पण्डितजनों के विशेष पूज्य नहीं बनता है, परलोक में दुःखी ही होता है। अथवा जैसे धान के दाने रक्षण करने वाली यथार्थ नाम वाली रक्षिता नाम की पुत्र वधू स्वजनों को मान्य बनी और भोग सुख को प्राप्त किया। उसी तरह जीव पाँच महाव्रतों को सम्यक् स्वीकार करके अल्प भी प्रमाद नहीं करता और निरतिचार पालन करता है, वह आत्म-हित में एक प्रेम वाला इस जन्म में पण्डितों से भी पूज्य बनकर एकान्त से सुखी होते हैं और परलोक मोक्ष को प्राप्त करता है। और जैसे धान के दाने की खेती कराने वाली यथार्थ नाम वाली रोहिणी नाम की पुत्रवधू ने धान के दानों की वृद्धि करने के सर्व का स्वामीत्व प्राप्त किया, उसी तरह जो भव्यात्मा व्रतों को स्वीकार करके स्वयं सम्यक् पालन करे और दूसरे अनेक भव्य जीवों को सुखार्थ अथवा शुभहेतु संयम दे, संयम आराधकों की वृद्धि करे वह संघ में मुख्य, इस जन्म में (युग प्रधान) समान प्रशंसा का पात्र बनता है और श्री गण-धर प्रभु के समान स्व-पर का करते, कुतीर्थक आदि को भी आकर्षण करने से शासन की प्रभावना करते और विद्वान् पुरुषों से चरणों की पूजा करवाता क्रमशः सिद्धि पद भी प्राप्त करता है। इस तरह मैंने अनुशास्ति द्वार में पाँच महाव्रतों की रक्षा नाम का दसवाँ अन्तर द्वार विस्तार अर्थ सहित कहा है, अब क्रमशः परम पवित्रता प्रगट करने में उत्तम निमित्तभूत 'चार शरण का स्वीकार' नामक ग्यारहवाँ अन्तर द्वार कहता हूँ।

ग्यारहवें अन्तर द्वार में श्री अरिहंतों का स्वरूप और शरण :—अहो ! क्षपक मुनि ! व्रतों का रक्षण कार्य करने वाला भी, तू भी अरिहंत, सिद्ध, साधु और जैन धर्म, इन चारों का शरण गति स्वीकार कर। इसमें हे सुन्दर ! जिसके ज्ञानावरणीय कर्मों का सम्पूर्ण नाश हुआ है जो किसी तरह नहीं रुके ऐसे ज्ञान, दर्शन के विस्तार को प्राप्त किया है। भयंकर संसार अटवी के परिभ्रमण के कारणों का नाश करने से श्री अरिहंतपद को प्राप्त किया है। जन्म-मरण रहित सर्वोत्तम यथा ख्यात चारित्र्य वाले हैं, सर्वोत्तम १००८ लक्षणों से युक्त शरीर वाले हैं, सर्वोत्तम गुणों से शोभित हैं, सर्वोत्तम जैन नामकर्म आदि पुण्य के समूह वाले हैं, जगत के सर्व जीवों के हितस्वी हैं और जगत के सर्व जीवों के परमबन्धु—माता पिता तुल्य श्री अरिहंत भगवन्तों का तू शरण रूप स्वी-कार कर। तथा जिसके सर्व अंग सर्व प्रकार से निष्कलंक हैं, समस्त तीन लोक-रूपी आकाश को शोभायमान करने में चन्द्र समान है, पापरूपी कीचड़ को उन्होंने सर्वथा नाश किया है, दुःख से पीड़ित जगत के जीवों को पिता की गोद

समान है, महान् श्रेष्ठ महिमा वाले हैं, परम पद के साधक रूप हैं, परम पुरुष, परमात्मा और परमेश्वर हैं तथा परम मंगलभूत हैं, सद्भूत उन-उन भावों के यथार्थ उपदेशक हैं और तीन जगत के भूषण रूप श्री अरिहंत परमात्मा का हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । और जो भव्य जीव रूपी कमलों के विकाश के लिए चन्द्रमा समान हैं, तीन लोक को प्रकाश करने में सूर्य समान हैं, संसार में भटकते दुःखी जीव समूह का विश्राम स्थान हैं, श्रेष्ठ चौतीस अतिशयों से समृद्धशाली हैं, अनन्त बल वाले, अनन्त वीर्य वाले और सत्त्व से युक्त होते हैं, भयंकर संसार समुद्र में डूबते जीव समूह को पार उतारने में जहाज समान हैं और विष्णु, महेश्वर, ब्रह्मा तथा इन्द्र को भी दुर्जय कामरूपी महाशत्रु के अहंकार को उतारने वाले श्री अरिहंत भगवन्तों का, हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । जो तीनों लोक की लक्ष्मी के तिलक समान हैं, मिथ्यात्व रूप अन्धकार के विनाशक सूर्य हैं, तीनों लोक रूपी मोह मल्ल को जीतने में महामल्ल के समान हैं, महासत्त्व वाले हैं, तीन लोक से जिसके चरण कमल की पूजा होती है, समस्त तीन लोक में विस्तृत प्रताप वाले हैं, विस्तृत प्रताप से प्रचण्ड पाण्डुरियों का प्रभाव का नाश करने वाले हैं, विस्तृत कीतिरूपी कमलिनी के विस्तार से समस्त भवन रूपी सरोवर के व्यापक हैं, तीन लोक रूपी सरोवर में राजहंस तुल्य हैं, धर्म की धूरा को धारण करने में श्रेष्ठ वृषभ के समान हैं जिनकी सर्व अवस्थाएँ प्रशंसनीय हैं, अप्रतिहत—अजेय शासन वाले हैं, अतुल्य तेज वाले हैं जिनका विशिष्ट दर्शन सम्पूर्ण पुण्य समूह से युक्त है, जो श्रीमान् भगवान् तथा करुणा वाले हैं और प्रकृष्ट जय वाले सर्व श्री अरिहंतों का हे सुन्दर मुनि । तू शरण स्वीकार कर ।

श्री सिद्धों का स्वरूप और शरण स्वीकार :—इस मनुष्य जन्म में चारित्र्य को पालकर पाप के आश्रय को रोककर पण्डित मरण से मरकर संसार परिभ्रमण को दूर करके कृत कृत्यपने से जो सिद्ध है, निर्मल केवल ज्ञान से बुद्ध है, संसार के मिथ्यात्वादि कारणों से मुक्त है, सुखरूपी लक्ष्मी में सर्वथा तल्लीन है, जिन्होंने सकल दुःखों का अन्त किया है, सम्यग्ज्ञानादि गुणों से अनन्त भावों के ज्ञाता हैं, अनन्त-वीर्य लक्ष्मी वाले हैं, अनन्त सुख समूह से संक्रान्त—सुखी बने हैं, सर्व संग से रहित निर्मुक्त हैं और जो स्व-परकर्म बन्धन में निमित्त नहीं हुए हैं ऐसे श्री सिद्ध परमात्माओं का हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । और जिसके कर्मों का आवरण नष्ट हो गये हैं, समस्त जन्म, जरा और मरण से पार हो गये हैं, तीन लोक के मस्तक के मुकुट रूप हैं, जगत के सर्व जीवों के श्रेष्ठ शरण भूत हैं, जो क्षायिक गुणात्मक हैं, समस्त तीन

जगत के श्रेष्ठ पूजनीय हैं, शाश्वत सुख स्वरूप हैं, सर्वथा वर्ण, रस और रूप से रहित हुए और जो मंगल का घर, मंगल के कारणभूत एवं परम ज्ञानमय—ज्ञानात्मक शरीर वाले हैं, ऐसे श्री सिद्ध भगवन्तों का हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । और लोकान्त—लोक के अग्र भाग में सम्यग् स्थिर हुए हैं, दुःसाध्य सर्व प्रयोजनों को जिन्होंने सिद्ध किया है, सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा को प्राप्त की है, और इससे ही वे निष्ठितार्थ—कृतकृत्य भी हैं, जो शब्दादि के इन्द्रिय जन्य विषयभूत नहीं हैं, आकार रहित हैं, जिनको इन्द्रिय जन्य क्षायो-परामिक ज्ञान नहीं है और उत्कृत्य अतिशयों से समृद्धशाली है उन श्री सिद्धों का शरण स्वीकार कर एवं जो तीक्ष्ण धाराओं से अच्छेय, सर्व सैन्य से अभेद्य अजय, जल समूह भीगा नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, प्रलय काल का प्रबल वायु से भी जलायमान न हो सकता, वज्र से भी चूर नहीं हो सकता ऐसे सूक्ष्म निरंजन, अक्षय और अचिंत्य महिमा वाले हैं तथा अत्यन्त परम योगी ही उनका यथा स्थित स्वरूप जान सकते हैं ऐसे कृतकृत्य नित्य जन्म जरा मरण से रहित तथा श्रीमंत, भगवन्त, पुनः संसारी नहीं होने वाले, सर्व प्रकार से विजय को प्राप्त हुए परमेश्वर और शरण स्वीकारने योग्य श्री सिद्ध परमात्मा को हे सुन्दर मुनि ! निज कर्मों को छेदन करने की इच्छा वाले आराधना में सम्यक् स्थिर और विस्तार होते तीव्र संवेग रस का अनुभव करते तू शरणरूप स्वीकार कर ।

साधु का स्वरूप और शरणा स्वीकार :—हमेशा जिन्होंने जीव अजीव आदि परम तत्त्वों के समूह को सम्यग् रूप में जाना है, प्रकृति से ही निर्गुण संसार वासना के स्वरूप को जो जानते हैं संवेग से महान् गीतार्थ, शुद्ध क्रिया में परायण, धीर और सारणा, वारण नोदना, और प्रतिनोदना को करने वाले और जिन्होंने सद्गुरु की निश्चा में पूर्णरूप से साधुता को सम्यक् स्वीकार की है ऐसे निग्रन्थ श्रमणों का हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । तथा मोक्ष में एक बद्ध लक्ष्य वाले संसारिक सुख से वैरागी चित्त वाले, अति संवेग से संसारवास प्रति सर्व प्रकार से थके हुए और इससे ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के प्रति चित्त बन्धन से रहित तथा घरवास की सर्व आभक्ति रूप चित्त के बन्धन से भी सर्वथा रहित, सर्व जीवों के आत्म तुल्य मानने वाले, अत्यन्त प्रशमरस से भीगे हुए सर्व अंग वाले निग्रन्थ साधुओं का, हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । इच्छा-मिच्छा आदि, प्रति लेखना, प्रमाज्जना आदि, अथवा दशविध चक्र वाली समाचारी प्रति अत्यन्त रागी, दो, तीन, चार अथवा पाँच दिन या अर्द्ध मास उपवास आदि तप के विविध प्रकारों में यथा

शक्ति उद्यमी, उपमा से पद्यादि तुल्य, पाँच समिति के पालन में मुख्य रहने वाले, पाँच प्रकार के आचारों का धारण करने वाले, धीर और पाप को उप-शम करने वाले साधुओं का, हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । और गुणरूपी रत्नों के महा निधान रूप, समस्त पाप व्यापार से विरति वाले, स्नेह रूपी जंजीर को तोड़ने वाले हैं, संयम के भार को उठाने में श्रेष्ठ, वृषभ तुल्य, क्रोध के विजेता मान को जीतने वाले, माया को जीतने वाले, और लोभरूपी सुभट के विजयी, राग, द्वेष और मोह को जीतने वाले, जितेन्द्रिय, निद्रा का विजय करने वाले, मत्सर के विजेता, मद के विजेता, काम के विजेता और परीषह की सेना को जीतने वाले साधु भगवन्तों का, हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर ।

पास और चन्दन में समान वृत्ति वाले, सन्मान और अपमान में समान मन वाले, सुख दुःख में समचित्त वाले, शत्रु, मित्र में समचित्त वाले, तथा स्वाध्याय, अध्ययन में तत्पर, परोपकार करने में केवल एक व्यसन वाले, उत्तरोत्तर अति विशुद्ध भाव वाले, सम्यक् रूप में आश्रय द्वार को बन्द करने वाले मन से गुप्त, वचन से गुप्त, काया से गुप्त और प्रशस्त लेश्या वाले श्री श्रमण भगवन्तों का, हे सुन्दर मुनि ! तू शरण स्वीकार कर । नौ कोटि प्रकार से विशुद्ध, प्रमाणोपेत, विगईयों की विशेषता रहित आहार लेते हैं, वह भी राग, द्वेष बिना छः कारणों के कारण भ्रमण वृत्ति से पवित्र, निष्पाप, वह भी एक बार विरस और साधुजन के योग्य आहार का करने इच्छा वाले सूखा, लूखा और अप्रतिकर्मित—सुश्रुषारहित शरीर वाले, द्वादशांगी के जानकार साधुओं की शरण तू स्वीकार कर । तथा संवेगी, गीतार्थ, निश्चल वृद्धि प्राप्त करते चरण कमल गुण वाले, संसार के परिभ्रमण में कारण भूत प्रमाद स्थानों के त्याग करने के लिए उद्यमी, अनुत्तर विमानवासी देवों की तेजो लेश्या का भी उल्लंघन करने वाले, मन, वचन, काया के कलेशों का नाश करने वाले, मानवता, श्रुति, श्रद्धा और वीर्य इन चारों अंगों को सफल करने वाले, सकल परिग्रह के सर्वथा त्यागी बुद्धिमंत, गुणवान्, श्रीमंत, शीलवंत एवं भगवन्त श्री श्रमण मुनियों का, हे सुन्दर मुनि ! तू शुद्ध भाव से शरण रूप स्वीकार कर ।

जैन धर्म का स्वरूप और शरण स्वीकार :—सर्व अतिशयों का निधान रूप, अन्य मत के समस्त शासन में मुख्य, सुन्दर विचित्र रचना वाला, निरूपम सुख का कारण, अव्यवस्थित कष, छेद, ताप से रहित, शास्त्र श्रवण से, दुःख से पीड़ित जीवों को दुन्दुभिनाद सदृश आनन्द देने वाला, रागादि का नाश करने वाला पडह, स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग और भयंकर संसाररूपी कुएं में पड़ते,

जगत का उद्धार करने में समर्थ, रस्सी समान, सम्यग् जैन धर्म का, हे सुन्दर मुनि । तू शरणरूपी स्वीकार कर । और महामति वाले मुनियों ने जिसके चरणों में नमन किया है उन तीर्थनाथ श्री जिनेश्वरों ने मुनिवरों को जो ध्येय रूप उपदेश दिया है वह मोह का नाश करने वाला है, अति सूक्ष्म बुद्धि से समझ में आये इस प्रकार आदि-अन्त से रहित शाश्वत, सर्व जीवों का हित-कर है, जिसमें सद्भूत अथवा यथार्थ भावना विचारणा है, अमूल्य, अमित, अजित महा अर्थ वाला, महा महिमा वाला, महा प्रकरण युक्त, अथवा अति स्पष्ट सुन्दर विविध युक्तियों से युक्त, पुनः रूक्ता दोषों से रहित, शुभ आशय का कारण, अज्ञानी मनुष्यों के दुष्कर जानकार नय, भंग, प्रमाण और गम से गम्भीर, समस्त कलेशों का नाशक, चन्द्र समान उज्ज्वल गुण समूह से युक्त सम्यग् जिन धर्म का, हे सुन्दर मुनि ! तू शरणरूप स्वीकार कर । स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग में चलते आराधक सर्व संवेगी भव्य आत्माओं को प्रमेय पदार्थ प्रमाद से अबाधित है जो अनन्त श्रेष्ठ प्रमाणभूत है, द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का सर्व का व्यवस्थापक होने, जो सकल लोकव्यापी है जन्म, जरा और मरणरूपी वेताल का निरोध करने में जो परम सिद्ध मन्त्र है, शास्त्र कथित पदार्थों के विषय में हेय, उपादेय रूप जिसमें सम्यग् विवेक है वह जैन धर्म के आगम को, हे सुन्दर मुनि ! तू सम्यक् शरणरूप स्वीकार कर । सर्व नदियों की रेती कण और सर्व समुद्रों का मिलन रूप समुदाय से भी प्रत्येक सूत्र में अनन्त गुणा, शुद्ध सत्य अर्थ को धारण करता मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से अन्ध जीवों को व्याघातरहित प्रकाश करने में दीपक तुल्य, दीन दुःखी को आश्वासन देने में आशीर्वाद तुल्य, संसार समुद्र में डूबते जीवों को द्वीप के समान, और इच्छा से अधिक देने वाला होने से चिन्तामणी से भी अधिक, श्री जैन कथित धर्म को, हे क्षपक मुनि ! तू इसका शरणरूप स्वीकार कर ।

जगत के समग्र जीव समूह के पिता समान हितकारी, माता के समान वात्सल्यकारी, बन्धु के समान गुणकारक और मित्र के समान द्रोह नहीं करने वाला, विश्वसनीय, श्रवण करने योग्य, भावों का जिसमें विकाश है, अर्थात् सुनने योग्य सर्वश्रेष्ठ भाव हों, लोक में दुर्लभ भावों से भी अति दुर्लभ भाव, अमृत के समान अति श्रेष्ठ है, मोक्ष मार्ग का अनन्य उत्कृत्य उपदेशक और अप्राप्त भावों को प्राप्त कराने वाले तथा प्राप्त भावों का पालन करने वाले नाथ श्री जिनेन्द्र धर्म का, हे सुन्दर मुनि ! तू सम्यग् रूप शरण स्वीकार कर । जैसे वैरियों की बड़ी सेना से घिरा हुआ मनुष्य रक्षण चाहता है, अथवा जैसे समुद्र में डूबता हुआ नाव को स्वीकार करता है, वैसे हे सुन्दर मुनि !

यथार्थ बोध कराने वाला अंग प्रविष्ट, अनंग प्रविष्ट उभय प्रकार के श्रुत रूप धर्म का और विधि निषेध के अनुसार क्रियाओं से युक्त, चारित्र्य रूप धर्म का, तू शरण रूप में स्वीकार कर। आठ प्रकार के कर्म समूह को नाश करने वाला, दुर्गति का निवारण करने वाला, कायर मनुष्यों को चिन्तन अथवा सुनने का भी दुर्लभ, तथा अतिशयों से विचित्र द्रव्य भाव रूप सभी अति प्रशस्त महा प्रयोजन की लब्धि रूप, ऋद्धि में कारणभूत और असुरेन्द्र, सुरेन्द्र, किन्नर, व्यंतर तथा राजाओं के समूह का भी वन्दनीय गुण वाला श्री जैनेश्वरों के धर्म को हे सुन्दर मुनि ! तू शरण रूप स्वीकार कर। सद्भाव बिना भी केवल बाह्य क्रिया कलाप रूप में भी हमेशा करते जिस धर्म का फल ग्रंथेयक देव की समृद्धि की प्राप्ति है और भावपूर्वक उत्कृष्ट आराधना करते इसी जन्म अथवा जघन्य से आराधक को साठ आठ जन्म में मुक्ति का फल देका है। इस प्रकार लोकोत्तम गुण वाला, लोकोत्तम गुणधारी गणधर भगवन्तों से रचित, लोकोत्तम आत्माओं ने पालन किया हुआ और फल भी लोकोत्तम सर्वश्रेष्ठ देने वाला, श्री केवल भगवन्तों द्वारा कथित और सिद्धान्त रूप में गणधरों ने गूँथा हुआ भगवान् रम्य धर्म का, हे धीर मुनि ! तू सम्यक् शरण स्वीकार कर।

चार शरण द्वार का उपसंहार :—इस तरह हे क्षपक मुनि। चार शरण को स्वीकार करने वाला और कर्मरूपी महान् शत्रु से उत्पन्न हुआ भय को भी नहीं मानने वाला—निर्भय, तुम शीघ्रमेव इच्छित अर्थ को प्राप्त करो। इस प्रकार 'चार शरण का स्वीकार' नामक ग्यारहवाँ अन्तर द्वार कहा है अब दुष्कृत गहीं नामक बारहवाँ अन्तर द्वार कहता हूँ।

बारहवाँ दुष्कृत गहीं द्वार :—हे धीर मुनिराज। श्री अरिहंत आदि चार के शरण स्वीकार करने वाला तू अब भावी कटु विपाक को रोकने के लिये दुष्कृत्य की गहीं कर अर्थात् पूर्व में किए पापों की निन्दा कर। उसमें श्री अरिहंतों के विषय में अथवा उनके मन्दिर—चैत्यालय के विषय में, श्री सिद्ध भगवन्तों के विषय में, श्री आचार्यों के विषय में, श्री उपाध्यायों के विषय में, तथा श्री साधु, साध्वी के विषय में, इत्यादि अन्य भी वन्दन, पूजन, सत्कार या सम्मान करने के योग्य विशुद्ध सर्व धर्म स्थानों के विषय में तथा माता, पिता, बन्धु, मित्रों के विषय में अथवा उपकारियों के विषय में कदापि किसी भी प्रकार से, मन, वचन, काया से भी अनुचित किया हो और जो कोई उचित भी नहीं किया हो, उन सबकी त्रिविध-त्रिविध सम्यग् गहीं (स्वीकार) कर। आठ मद स्थानों में और अट्ठारह पाप स्थानकों में भी किसी तरह कभी भी प्रवृत्ति

की हो, उसकी भी निन्दा करता हूँ। क्रोध, मान, माया, अथवा लोभ द्वारा भी जो कोई बड़ा या छोटा भी पाप किया, करवाया हो या अनुमोदन किया हो, उसकी भी निन्दा करता हूँ। राग, द्वेष से अथवा मोह से—अज्ञानता से, विवेक रत्न से भ्रष्ट हुए तूने इस लोक या परलोक विरुद्ध जो भी कार्य किया हो उसकी गद्दी करता हूँ। इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में मिथ्या दृष्टि से वश होकर तूने श्री जैन मन्दिर, श्री जैन प्रतिमा और श्री संघ आदि के मन, वचन, काया से निश्चयपूर्वक जो कोई प्रदेश अवर्णवाद—निन्दा तथा नाश आदि किया हो, उन सर्व की भी त्रिविध-त्रिविध हे सुन्दर मुनि ! तू गद्दी कर। मोह रूपी महाग्रह से परवश हुआ और इससे अत्यन्त पाप बुद्धि वाला, तू लोभ से आक्रान्त मन द्वारा यदि किसी श्री जैन प्रतिमा का भंग किया हो, गलाया हो, तोड़ा-फोड़ा या क्रय-विक्रय आदि पाप स्व, पर द्वारा किया है, करवाया हो या अनुमोदन किया हो, उसकी सम्यक् गद्दी कर। क्योंकि यह तेरा आत्मा साक्षी गद्दी करने का समय है। तथा इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में मिथ्यात्व का विस्तार करने वाला, सूक्ष्म - बादर अथवा त्रस—स्थावर जीवों का एकान्त में विनाश करने वाला जैसे कि उखल, रहट, चक्की, मूसल, हल, कोश आदि शस्त्रों को रखे। तथा धर्म बुद्धि से अग्नि को जलाया, जैसे कि खेत में काँटे जलाना, जंगल जलाना, आदि पाप कार्यों को किए, वाव, कुँए, तालाब, आदि खोदवाए अथवा यज्ञ करवाया इत्यादि जो हिंसक कार्य किए हों, उन सबकी गद्दी कर। सम्यक्त्व को प्राप्त करके भी इस जन्म में जो कोई उसके विरुद्ध आचरण किया हो, उन सर्व की भी संवेगी तू सम्यक् गद्दी कर। इस जन्म में अथवा अन्य जन्म में साधु या श्रावक होने पर भी तूने श्री जैन मन्दिर, प्रतिमा जैनागम और संघ आदि के प्रति रागादि वश होकर 'यह अपना, यह पराया है' इत्यादि बुद्धि—कल्पनापूर्वक यदि थोड़ी भी उदासीनता की हो, अवज्ञा की हो अथवा व्याघात या प्रदेष्ट किया हो उन सर्व का भी, हे क्षपक मुनि ! तू त्रिविध-त्रिविध द्वारा मन, वचन, काया से करना, कराना, अनुमोदन द्वारा सम्यग् प्रतिक्रमण कर। श्रावक जीवन प्राप्त कर तूने अणुव्रत, गुणव्रत आदि में जो कोई भी अति-चार स्थान मन से किया हो उसका भी प्रतिघात—गद्दी कर।

तथा इस जन्म में अथवा पर-जन्म में यदि कोई अंगार कर्म, वन कर्म, शंकट कर्म, भाटक कर्म एवं यदि कोई स्फोटक कर्म या तो कोई दांत का व्यापार, रस का व्यापार, लाख का व्यापार, विष का व्यापार या केश व्यापार, अथवा जो कोई यन्त्र पिल्लण कर्म, निर्लाभन कर्म, जो दावाग्नि दान, सरोवर द्रव्य, तालाबादि का शोषण या किसी असती पोषण किया हो या करवाया हो तथा

अनुमोदन किया हो उन सर्व का भी त्रिविध-त्रिविध सम्यक् दुर्गच्छा—गर्हा कर। और यदि कोई भी पाप को प्रमाद से, अभिमान से, इरादा पूर्वक, सहसा अथवा उपयोग शून्यता से भी किया हो, उसकी भी त्रिविध-त्रिविध गर्हा कर। यदि दूसरे का पराभव करने से, अथवा दूसरे को संकट में देखकर सुख का अनुभव करने से, दूसरे की हांसी करने से, अथवा पर का विश्वासघात करने से, अथवा यदि पर दक्षिण्यता से या विषयों की तीव्र अभिनाषा से अथवा तो क्रीड़ा, मखौल, या कुतूहल में आसक्त चित्त होने से, अथवा आर्त-रौद्र ध्यान से, वह भी सप्रयोजन या निष्प्रयोजन, इस तरह जो कोई भी पाप उपार्जन किया हो उन सबकी भी गर्हा कर। तथा मोहमूढ़ बने यदि तूने धर्म समाचारी—सम्यग् आचार का या नियमों अथवा व्रतों का भंग किया हो उसकी भी प्रयत्न-पूर्वक शुद्ध भाव से निन्दा कर। तथा इस जन्म में अथवा अन्य जन्म में मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से अन्ध बनकर तूने सुदेव में यदि अदेव बुद्धि, अदेव में सुदेव बुद्धि, सुगुरु में अगुरु बुद्धि अथवा अगुरु में भी सुगुरु, तथा तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि, या अनत्त्व में तत्त्व की बुद्धि और धर्म में अधर्म की बुद्धि अथवा अधर्म में धर्म को बुद्धि की हो, करवाई हो तथा अनुमोदन किया हो, उसकी विशेषतया निन्दा कर। एवं मिथ्यात्व मोह से मूढ़ बनकर तूने सर्व प्राणियों के प्रति यदि मैत्री नहीं रखी हो, सविशेष गुण वालों के प्रति भी यदि प्रमोद न रखा हो, दुःखी पीड़ित जीवों के प्रति यदि कदापि करुणा नहीं की हो तथा पापासक्त अयोग्य जीव के प्रति यदि उपेक्षा न की हो और प्रशस्त शस्त्रों को भी सुनने की यदि इच्छा नहीं की, और श्री जिनेश्वर कथित चारित्र्य धर्म में यदि अनुगम नहीं किया तथा देव गुरु की वैयावच्च नहीं की, परन्तु उनकी यदि निन्दा की हो उन सर्व की भी, हे सुन्दर मुनिवर्य ! तू आत्मसाक्षी सम्पूर्ण रूप से निन्दा कर और गुरु के समक्ष गर्हा कर। भव्य जीवों के अमृत तुल्य अत्यन्त हितकर भी श्री जिनवचन को यदि सम्यग् रूप में नहीं सुना और सुनकर सत्य नहीं माना, तथा सुनने और श्रद्धा होने पर भी बल और वीर्य होने पर पराक्रम और पुरुषकार होने पर भी यदि सम्यक् स्वीकार नहीं किया, स्वीकार करके भी यदि सम्यक् पालन नहीं किया दूसरे उसे पालन में परायण जीवों के प्रति यदि प्रदेश धारण किया हो और प्रदेश से उसके साधन अथवा उनकी क्रिया को यदि भंग किया हो उन सबकी तू गर्हा कर ! क्योंकि हे सुन्दर मुनि ! यह तेरा गर्हा करने का अवसर है। तथा ज्ञान, दर्शन या चारित्र्य में अथवा तप या वीर्य में भी यदि कोई अतिचार सेवन किया हो तो उसकी निश्चय त्रिविध गर्हा कर।

ज्ञानाचार में :—अकाल समय में, विनय बिना, बहुमान बिना, यथा योग्य उपधान किए बिना सूत्र और अर्थ का अभ्यास करते, पढ़ते हुए को तू रुकावट वाला बना, तथा श्रुत आदि को अश्रुत कहा, अथवा सूत्र, अर्थ या तद्बुभय के विपरीत करने से भूत, भविष्य या वर्तमान में किसी भी प्रकार में यदि कोई अतिचार सेवन किया हो उन सब का त्रिविध-त्रिविध गर्हाकर ।

दर्शनाचार में :—जीवादि तत्त्व सम्बन्धी देश शंका या सर्व शंका, अथवा अन्य धर्म को स्वीकार करने की इच्छा रूप देश या सर्वरूप, दो प्रकार की कांक्षा, तथा दान, शील, तप भाव आदि धर्म के फल विषय में अविश्वास रूप विचिकित्सा को, अथवा पसीने आदि के मेल से मलिन शरीर वाले मुनियों के प्रति दुर्गन्ध को करते और अन्य धर्म की पूजा प्रभावना आदि देखकर अन्य धर्म में मोहित होना, तथा धर्मीजनों की प्रशंसा, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना नहीं करते, तूने भूत, वर्तमान या भविष्य काल सम्बन्धी जो अतिचार सेवन किया हो, उन सबका त्रिविध-त्रिविध से गर्हा कर ।

चारित्र्याचार में :—मुख्य जो पाँच समिति और तीन गुप्ति इनमें यदि अतिचार सेवन किया हो, उसमें प्रथम समिति में यदि अनुपयोग से चला हो, दूसरी समिति में अनुपयोग से, वचन उच्चारण किया हो, तीसरी समिति में अनुपयोग से आहार आदि को ग्रहण किया हो, चौथी समिति में अनुपयोग से पात्र आदि उपकरण लिया रखा हो, तथा पाँचवीं समिति में त्याग करने योग्य वस्तु को जयणादिना से त्याग किया हो, तथा पहली गुप्ति के विषय में मन को अनवस्थित-चंचलत्व धारण किया हो, दूसरी गुप्ति में बिना प्रयोजन अथवा प्रयोजन को भी उपयोग रहित वचन बोला, और तीसरी गुप्ति में काया से अकरणीय अथवा करणीय कार्य में उपयोग रहित प्रवृत्ति करना, इस प्रकार आठ प्रवचन माता रूप चारित्र्य में तीनों काल में यदि कोई भी अतिचार का सेवन किया हो, उन सबका भी त्रिविध-त्रिविध सम्यग् गर्हा कर ! तथा राग द्वेष और कषाय आदि वृद्धि द्वारा तूने यदि चारित्र्य रूप महारत्न को मलिन किया हो उसकी भी विशेषतया निन्दा कर । फिर :—

बारह प्रकार के तप में :—कदापि किसी तरह अतिचार सेवन किया हो उन सब अतिचार का भी, हे धीर मुनि ! सम्यग् गर्हा कर । तथा वीर्याचार में—बलवीर्य-पराक्रम होने पर भी ज्ञानादि गुणों में यदि पराक्रम नहीं किया, उन वीर्याचार के अतिचार की गर्हा कर । तथा यदि इस प्रकार के यति धर्म में अथवा मूल और उत्तर गुण के विषय में यदि अतिचार सेवन किया हो उसकी भी हे धीर

मुनि ! त्रिविध-त्रिविध गर्हा कर । मूल गुणों के अन्दर प्राणीवध आदि छोटे बड़े कोई भी अतिचार सेवन किया हो उन सब की भी सम्यग् गर्हा कर । और पिण्ड विशुद्ध आदि उत्तर गुणों में भी यदि छोटे बड़े अतिचार सेवन किए हों उसकी भी भाव पूर्वक गर्हाकर । मिथ्यात्व के ढके हुए शुद्धि बुद्धि वाला तूने धार्मिक लोगों की अवज्ञा रूप जो पाप आचरण किया हो उन सबकी गर्हा कर । और आहार, भय परिग्रह तथा मैथुन इन संज्ञाओं के वश चित्त वाले तूने यदि कोई भी पाप आचरण किया हो, उसकी भी इस समय तू निन्दा कर । इस तरह गुरु महाराज क्षपक मुनि को दुष्कृत की गर्हा करवा पुनः दुष्कृत गर्हा के लिए इसी तरह यथा योग्य क्षमापना भी करावे—हे क्षपक मुनि ! चार गति में भ्रमण करते तूने यदि किसी भी जीवों को दुःखी किया हो उसकी क्षमा याचना कर । क्योंकि यह तेरा क्षमा याचना का समय है ।

जैसे कि नारक जीवन में कर्म वश नरक में पड़े हुए अन्य जीवों को तूने भवधारणीय तथा उत्तर वैक्रिय रूप शरीर से बलात्कार पूर्वक यदि बहुत कठोर दुःसह महा वेदना दी हो उन सबकी तू क्षमा याचना कर । यह तेरा अब क्षमायाचना का समय है । तथा तिर्यच जीवन में भ्रमण करते एकेन्द्रिय योनि प्राप्त कर तूने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्य पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों को अन्योन्य मिलन रूप शस्त्र से यदि किसी की कभी भी विराधना की हो उसकी भी क्षमायाचना कर ! तथा एकेन्द्रिय योनि से ही द्वीन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय तक के जीवों की जो कोई विराधना की हो उसे भी क्षमा याचना कर । उसमें पृथ्वीकाय शरीर से निश्चय द्वीन्द्रिय जीवों को तेरी पत्थर, लोहे द्वारा अथवा पृथ्वी शरीर के किसी भी विभाग का अवयव रूप में गिरने से विराधना हुई हो, अप्काय जलकाय के शरीर से उन जीवों का उसमें डुबोने से या बर्फ, ओले, वर्षाधारा तथा जल सिंचन आदि के द्वारा पीड़ा करने से, तेज-अग्निकाय भी बिजली रूप गिरने से, जलती अग्नि रूप गिरने से, वन के दावानल लगने से और दीपक आदि से द्वीन्द्रिय आदि जीवों करने से, वायु काय में भी निश्चय उन जीवों का शोषण, हनन, उड़ाना अथवा भगाना आदि से विराधना हुई हो, वनस्पति रूप में उनके ऊपर वृक्ष की डाली रूप गिरी हो और तू उनके प्रकृति से विरुद्ध जहर रूप वनस्पति में उत्पन्न हुई हो तब उसके भक्षण से उनकी नाश विराधना हुई हो, तथा द्वीन्द्रिय आदि योनि प्राप्त कर तूने एकेन्द्रिय आदि अन्य जीवों की विराधना की हो, इस तरह जो-जो विराधना की हो उन सबकी भी अवश्यमेव त्रिविध क्षमा याचना कर ।

उस विराधना की भावना स्वरूप स्पष्ट है ही क्योंकि केंचुआ आदि मेंढक तक अर्थात् द्वीन्द्रिय लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव बड़े होने पर प्रथम शरीर रूप भी पृथ्वी को ग्रहण कर विराधना करता है, उसके बाद हमेशा कूदना, हिलना, चलना और बार-बार मर्दन करना उसका भक्षण आदि करने से वे जीव अन्य अपकाय में उत्पन्न हुए का नाश होता है, तथा खारा, कड़वा, तीखा आदि रस वाले तथा कर्कश स्पर्श वाले अपने द्वीन्द्रिय आदि शरीर से अवश्य तेज काय, वायु काय की विराधना होती है वनस्पति काय में भी अन्दर कीड़े रूप अथवा बाहर विविध रूप उत्पन्न होते द्वीन्द्रिय आदि जीवों द्वारा वनस्पति काय की भी विराधना होती है, इसलिए उनको क्षमा याचना करनी चाहिये। तथा द्वीन्द्रिय आदि अवस्था को प्राप्त कर तूने स्व-पर-उभय जाति के द्वीन्द्रिय आदि जीवों का यदि किसी का भी इस जन्म में या अन्य जन्मों में स्वयं अथवा दूसरे द्वारा विराधना की हो उनको भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर क्योंकि यह तेरा क्षमा याचना करने का समय है। पंचेन्द्रिय रूप में जलचर, स्थलचर और खेचर जाति प्राप्त कर तूने यदि किसी स्व, पर उभय जाति के जलचर, स्थलचर अथवा खेचर का ही परस्पर पीड़ा की हो और आहार के कारण से, भय से, आश्रय के लिए अथवा संतान की रक्षा आदि के लिए जिस मनुष्य की विराधना की हो उसकी भी तू त्रिविध क्षमा याचना कर। इस तरह तिर्यच योनि में तिर्यच और मनुष्यों की विराधना हुई हो उसकी क्षमा याचना कर अब मनुष्य जीवन में तूने तिर्यच, मनुष्य और देवों की वह विराधना की हो उसकी क्षमा याचना कर।

मनुष्य जीवन में सूक्ष्म या बादर यदि किसी जीवों की विराधना की हो उन सबकी भी क्षमा याचना कर, क्योंकि यह तेरा खिमत खामणा का समय है, हंसिया, हल से जमीन जोतने में कुँ बावड़ी तालाब को खोदने में और घर दुकान बनाने आदि में स्वयं अथवा दूसरों द्वारा, इस जन्म या अन्य जन्मों में पृथ्वीकाय जीवों की विराधना की हो, उसकी भी त्रिविध-त्रिविध गृही कर। यह तेरा खिमत खामणा का समय है। हाथ, पैर, मुख को धोने में अथवा मस्तक बिना शेष अर्द्ध स्नान, सम्पूर्ण स्नान तथा शौच करने में, पीने में, जल क्रीड़ा आदि करने में इस जन्म में अथवा अन्य जन्म में स्वयं या दूसरों द्वारा यदि पानी रूपी जीवों की विराधना की हो उसकी भी अवश्य त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर। क्योंकि अब तेरा क्षमा याचना का समय है। घी आदि का सिंचन करना, जलते हुए अग्नि को बुझाना, आहार पकाना, जलाना, डाम देना, दीपक प्रगट करना और अन्य भी अग्निकाय के विविध आरम्भ

सभारम्भ में इस जन्म में या अन्य जन्मों में स्वयं अथवा अन्य द्वारा यदि अग्निकाय जीवों की विराधना की हो उनका भी त्रिविध-त्रिविध खिमत-खामना कर। क्योंकि यह तेरा खिमत खामना का समय आया है। पंखा दुलाना, गोफन फँकना, निःश्वास-उच्छ्वास में, धौकनी में अथवा फँक आदि में और शंख आदि बाजे बजाने में इस जन्म या अन्य जन्मों में, स्वयं अथवा पर द्वारा यदि वायु काय जीवों की विराधना की हो उनकी भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर। क्योंकि यह तेरा खिमत खामना का समय आया है। वनस्पति को छीलने से, काटने से, मरोड़ने से, तोड़ने से, उखाड़ने से अथवा भक्षण करने आदि से, क्षेत्र, बाग आदि में इस जन्म या अन्य जन्मों में स्वयं अथवा पर द्वारा यदि वनस्पतिकाय जीवों की विविध प्रकार से विराधना की हो उसकी भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर क्योंकि अब तेरा क्षमा याचना का समय है।

संख्या से असंख्या केंचुआ, जोंक, शंख, सीप, कीड़े आदि द्वीन्द्रिय जीवों का यदि इस जन्म या अन्य जन्मों में स्वयं दूसरों के द्वारा किसी प्रकार मारा हो उनकी भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर। क्योंकि अब तेरा क्षमा याचना का अवसर है। खटमल, कीड़ा, कुंथुआ, चींटी, जूँ, घीमेल, दीमक आदि त्रीन्द्रिय जीवों का यदि इस जन्म या अन्य जन्मों में स्वयं अथवा दूसरों के द्वारा किसी तरह से मारा गया हो उसका भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर। क्योंकि यह तेरा क्षमा याचना का समय है। मधु-मक्खी, टिट्टी, तितली, डांस, मच्छर, मक्खी, भौरे और बिच्छु आदि यदि चतुरिन्द्रिय जीवों का इस जन्म या अन्य जन्मों में स्वयं अथवा अन्य द्वारा विराधना की हो, उनकी भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर। क्योंकि अब तेरा क्षमा याचना का समय है। सर्प, नेवला, गौघा, छिपकली और उसके अण्डे आदि चूहा, कौआ, सियार, कुत्ते या बिलाड़ आदि पञ्चिन्द्रिय जीवों का यदि हास्य या द्वेष से सप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन क्रीड़ा करते जानते या अजानते इस जन्म अथवा अन्य जन्मों में स्वयं या पर द्वारा नाश किया हो उसका भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर। क्योंकि यह तेरा खिमत खामना का समय है। मेंढक, मछली, कछुआ और घड़ियाल आदि जलचर जीवों को, सिंह, हिरण, रीछ, सुअर, खरगोश आदि स्थलचर जीवों को, तथा हंस, सारस, कबूतर, कौंच, पक्षी, तीतर, आदि खेचर जीवों को, इन विविध जीवों को संकल्प से अथवा आरम्भ से इस जन्म अथवा अन्य जन्मों में स्वयं या दूसरों के द्वारा जो-जो विराधना की हो अथवा परस्पर शरीर द्वारा टकराये हों, सामने आते मारे हों, कष्ट दिया हो, डराया

हो अथवा उनको मूल स्थान से अन्य स्थान पर रखा हो, अथवा थकवा दिया हो, दुःख दिया हो, और परस्पर एकत्रित किया हो, कुचले हों इस तरह विविध दुःखों में डाले हों, प्राणों से रहित किया हो उनका भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर । क्योंकि यह तेरा क्षमापना का अवसर है । और मनुष्य जीवन काल में यदि किसी समय राजा, मन्त्री आदि अवस्था को प्राप्त कर तूने मनुष्यों को पीड़ा दी हो उसकी क्षमा याचना कर । उसमें जिसका दुष्ट चित्त से चिन्तन किया हो, मन में दुष्ट भाव का विचार किया हो, दुष्ट वचन द्वारा—कटु वचन बोला हो या कहा हो और काया द्वारा दुष्ट नजर से देखा हो, न्याय को अन्याय और अन्याय को न्याय रूप सिद्ध करते उसे कलुषित भाव से दिव्य देकर अर्थात् फंदे में फंसाकर उसे जलाया हो, निर्दोष शुद्ध किया, और सत्य को असत्य दोष रोपण से उनको दण्ड दिलवाया, अथवा कैद करवाये, उनको बन्धन में डाला, बेड़ी पहनवाई, ताड़न करवाया, या मरवाये, और विविध प्रकार से शिक्षा करवाई, तथा उनको दण्ड दिलवाया, मस्तक मुंडन करवाया, अथवा घुटने, हाथ, पैर, नाक, होंठ, कान आदि अंगोपांगों का छेदन करवाया, और शस्त्रों को लेकर उसके शरीर को छीलकर अथवा काटकर चमड़ी उतारकर, खार से सर्व अंग जलाया, उनको यन्त्रों से पीलन किया, अग्नि से जलाया, खाई में फेंकवाया, अथवा उनको वृक्षादि के साथ लटकाया, और अण्डकोष गलवाये, आँखें उखाड़ दीं, दांत रहित किया और उनको तीक्ष्ण शूली पर चढ़ाया अथवा शिकार में युद्ध के मैदान में तिर्यंच मनुष्यों का छेदन-भेदन अथवा लूटे अंग रहित किए । भगाये, और शस्त्रधारी भी प्रहार करते या नहीं करते अथवा शस्त्र रहित और भागते भी उनको अति तीव्र राग या द्वेष से इस जन्म अथवा अन्य जन्मों में स्वयं अथवा पर द्वारा प्राण मुक्त किया हो उसे भी त्रिविध-त्रिविध क्षमा याचना कर । क्योंकि यह तेरा क्षमापना का समय है ।

तथा पुरुष जीवन में अथवा स्त्री जीवन में रागांध बनकर तूने पर द्वारा पर पुरुष आदि में यदि अनार्थ पाप का सेवन किया हो, उसकी भी निन्दा कर । और इस संसार रूपी विषम अटवी में परिभ्रमण करते अत्यन्त रागादि से गाढ़ भूढ़ बनकर तूने कदापि कहीं पर भी विधवादि अवस्था में व्यभिचार रूप में पाप सेवन किया उससे गर्भ धारण किया हो, उसको अति उष्ण वस्तुओं का भक्षण, अथवा कष्टकारी कसैला रस, या तीक्ष्ण खार का पानी पीने से पेट को मसलना अथवा किल डालना इत्यादि प्रयोग द्वारा दूसरे अथवा अपने गर्भ को गलाया हो ,टुकड़े-टुकड़े करके निकाला हो, गिराया हो अथवा नाश करना

आदि सर्व घोर पाप किए हों उनका हे क्षपक मुनि ! पुनः संवेग प्राप्त करते तू वांछित निर्विघ्न आराधना के लिए त्रिविध-त्रिविध सर्वथा गृहीत कर । और जब जवानी में सौत के प्रति अति द्वेष आदि के कारण उसके गर्भ को स्तम्भ न आदि करवाया हो, अथवा पति का घात करवाया, या वशीकरण कराया, कर्मण करना इत्यादि से उस सौत के पति का वियोग किया अथवा जीते पति को मरण तुल्य किया इत्यादि जो पाप किया हो, उसकी भी तू निन्दा कर । तथा व्यभिचारी जीवन में यदि उत्पन्न हुए जीते बालक को फेंक दिया, वेश्या जीवन में तूने पुत्र नहीं मिलने पर उस बालक का हरण किया, मनुष्य जीवन में ही राग द्वेष से परवश चित्त वाले मोह मूढ़ तूने दृढतापूर्वक मन्त्र, तन्त्र प्रयोग किए योजना बनाकर दूसरों को अत्यन्त पीड़ाकारी स्तम्भन मन्त्र से स्थिर किया हो, स्थान भ्रष्ट करवाना, विद्वेष करवाना, वशीकरण करना, इत्यादि किसी प्रकार जिन-जिन जीवों को इस जन्म या अन्य जन्मों में स्वयं अथवा पर द्वारा उस कार्य को किया हो उसका भी त्रिविध-त्रिविध खमत खामणा कर । क्योंकि यह तेरा क्षमापन का समय है । तथा भूत आदि हल्के जाति के देवों को भी मन्त्र, तन्त्रादि की शक्ति के प्रयोग से किसी तरह कभी भी कहीं पर भी बलात्कार से आकर्षण कर, आज्ञा देकर अपना इष्ट करवा कर पीड़ा दिलवाई अथवा किसी व्यक्ति में प्रवेश करवाया अथवा व्यक्ति में उतारकर यदि किसी भी देवों को स्तम्भन किया हो, ताड़न करके उस व्यक्ति में से छुड़ाया हो इत्यादि इस जन्म या अन्य जन्मों में, स्वयं या पर द्वारा इस तरह किया हो उसका भी त्रिविध-त्रिविध क्षमापना कर । क्योंकि यह तेरा खिमत खामना का समय है । इस तरह मनुष्य जीवन काल में तिर्यच मनुष्य और देवों की विराधना को क्षमा करके हे क्षपक मुनि ! देवत्व में विराधना की जीवों को सम्यक् क्षमा याचना कर । वह इस प्रकार :—

भवनपति वाण व्यंतर, और वैमानिक आदि देव जीवन प्राप्त कर तूने यदि नरक, तिर्यच और मनुष्यों या देवों को दुःखी किया, उनको राग द्वेष रहित मध्यस्थ मन वाला होकर हे क्षपक मुनि ! तू भावपूर्वक त्रिविध-त्रिविध क्षमापना कर । क्योंकि यह तेरा खिमत खामना का समय है । उसमें परमाधामी जीवन प्राप्त कर तूने नारकों को यदि अनेक प्रकार के दुःखों को दिया हो, उसे भी क्षमा याचना कर । और देव जीवन में राग-द्वेष और मोह से तूने उपभोग परिभोग आदि के कारण से पृथ्वीकाय आदि की तथा उसके आधार पर रहे द्वीन्द्रियादि जीवों की यदि विराधना की हो, उसे भी सम्यक् क्षमापना कर । क्योंकि यह तेरा खिमत खामणा का समय है । और देव जीवन में ही

वैर का बदला लेना आदि कारण से कषाय द्वारा क्लुषित हुआ यदि तूने मनुष्यों का भी अपहरण किया हो अथवा बन्धन, वध, छेदन, भेदन, धन हरण या मरण आदि द्वारा कठोर दुःख दिया हो उसका भी सम्यक् क्षमा याचना कर । क्योंकि यह तेरा क्षमापना का समय है । तथा देवत्व में ही महर्द्धिक जीवन से अन्य देवों को जबरदस्ती आज्ञा पालन करवाई हो, वाहन रूप उपयोग किया हो, ताड़ना या पराभव किया इत्यादि चित्त रूपी पर्वत को चूर्ण करने में एक वज्र तुल्य यदि महान् दुःख दिया हो, उसे भी सम्यक् क्षमापना कर । क्योंकि यह तेरा खिमत खामणा का समय है । इस तरह नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों के जीव को खामना करके अब तू पाँच महाव्रतों में लगे हुये भी प्रत्येक अतिचारों का त्याग करके जगत के सूक्ष्म या बादर सर्व जीवों का इस जन्म में या पर जन्मों में अल्प भी दुःख दिया था, उसकी भी निन्दा कर । जैसे कि :—

अज्ञान से अन्धा बना हुआ तूने प्राणियों को पीड़ा—हिंसा की हो और प्रद्वेष या हास्यादि से यदि असत्य वचन कहा हो, उसकी भी निन्दा कर । पराया, नहीं दी हुई वस्तु को यदि किसी प्रकार लोभादि के कारण ग्रहण करना, नाश करना इत्यादि बढ़ते हुए पाप रज को भी गृहीत द्वारा हे भद्र ! उसे रोक दो । मनुष्य, तिर्यंच और देव सम्बन्धी भी मन, वचन, काया द्वारा मैथुन सेवन से यदि किसी प्रकार का पाप बन्धन हुआ हो, उसकी भी त्रिविध-त्रिविध निन्दा कर । सचित्त, अचित्त आदि पदार्थों में परिग्रह—मूर्छा करते यदि तूने पाप बन्धन किया हो, उसका भी हे क्षपक मुनि ! त्रिविध-त्रिविध निन्दा कर । तथा रस गुद्धि से अथवा कारणवश या अज्ञानता से भी कभी कुछ भी जो रात्री में खाया हो, उन सर्व की भी अवश्य निन्दा कर । भूत, भविष्य या वर्तमान काल में जीवों के साथ में जिस प्रकार वैर किया हो, उन सर्व की भी निन्दा कर । तीनों काल में शुभाशुभ पदार्थों में यदि मन, वचन, काया को अकुशलता रूप प्रवृत्ति की हो, उसकी भी निन्दा कर । द्रव्य, क्षेत्र, काल अथवा भाव के अनुसार शक्य होने पर भी यदि करणीय नहीं किया और अकरणीय को किया, उसकी भी निन्दा कर, हे क्षपक मुनि ! लोक में मिथ्यामत प्रवृत्ति से, मिथ्यात्व के शास्त्रों के उपदेश देने से, मोक्ष मार्ग को छुपाने और उन्मार्ग की प्रेरणा देने से इस तरह तू अपना और पर को धर्म समूह के बन्धन करने में यदि निमित्त बना हो, तो उसका भी त्रिविध-त्रिविध गृहीत कर । अनादि अनन्त इस संसार चक्र में कर्म के वश होकर परिभ्रमण करते तूने प्रति जन्म में जो-जो पापारम्भ में तल्लीन रहकर विविध शरीर को और अत्यन्त रागी कुटुम्बों को भी ग्रहण

किया और छोड़ा उन सबको हे क्षपक मुनि ! त्याग कर । लोभ के वश होकर तूने धन को प्राप्त करके जो पाप स्थान में उपयोग किया उस सर्व का भी सम्यक् रूप में त्याग कर । भूत भविष्य वर्तमान काल में जो-जो पापारम्भ की प्रवृत्ति की उन सर्व का अवश्यमेव तू सम्यक् रूप त्याग कर । जिन-जिन श्री जैन वचनों को असत्य कहा, असत्य में श्रद्धा की अथवा असत्य वचन का अनुमोदन किया हो, उन सबकी भी गृहीत कर । यदि क्षेत्र, काल आदि के दोषों से श्री जैन वचन का सम्यग् आचरण नहीं कर सका हो, अवश्यमेव जो मिथ्या क्रिया में राग किया हो और सम्यक् क्रिया के मनोरथ भी नहीं किया हो, इसलिए हे सुन्दर मुनि ! तू बार-बार सविशेष सम्यक् प्रकार से निन्दा कर ।

हे क्षपक मुनिवर्य ! अधिक क्या कहें ? तू तृण और मणि में, तथा पत्थर और सुवर्ण दृष्टि वाला, शत्रु और मित्र में समान चित्त वाला होकर संवेग रूप महाधन वाला तू सचित्त अचित्त अथवा मिश्र किसी वस्तु के कारण जो पाप किया हो उसे भी त्रिविध-त्रिविध गृहीत कर । पर्वत, नगर, खान, गाँव, विश्रान्ति गृह, विमान तथा मकान अथवा खाली आकाश आदि में, उसके निमित्त ऊर्ध्व, अधो या तिष्ठालोक में, भूत, भविष्य या वर्तमान काल में एवं शीत, ऊष्ण और वर्षा काल में किसी प्रकार से भी, रात्री अथवा दिन में औदयिकादि भावों में रहते, अति राग द्वेष और मोह से सोते या जागते, इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में तीव्र, मध्यम, या जघन्य, सूक्ष्म या बादर, दीर्घ अथवा अल्पकाल स्थिति वाला, पापनुबन्धी यदि कोई भी पाप मन, वचन, या काया से वह किया, करवाया या अनुमोदन किया उसे श्री सर्वज्ञ भगवन्त के वचन 'यह पाप है, गृहीत करने योग्य है और त्याग करने योग्य है।' इस तरह सम्यग् रूप जानकर, दुःख का सम्पूर्ण क्षय करने के लिए श्री अरिहन्त, सिद्ध, गुरु, और संघ की साक्षी में उन सर्व का सर्व प्रकार से सम्यक् निन्दा कर । गृहीत कर ! और प्रतिक्रमण कर ! इस प्रकार आराधना में मन लगाने वाला और मन में बढ़ते संवेग वाले हे क्षपक मुनि ! तू समस्त पाप की शुद्धि के लिए मुख्य अंगभूत मिच्छामि दुक्कडम भाव पूर्वक बोल ! पुनः भी मिच्छामि दुक्कडम को ही बोल और तीसरी बार भी मिच्छामि दुक्कडम इस तरह बोल । और पुनः उस पापों को नहीं करने का निश्चय रूप स्वीकार कर । इस प्रकार दुष्कृत गृहीत नामक बारहवें अन्तर द्वार का वर्णन किया है । अब तेरहवाँ सुकृत की अनुमोदना द्वार कहता हूँ । वह इस प्रकार :—

तेरहवाँ सुकृत अनुमोदना द्वार :—हे क्षपक मुनिवर्य ! महारोग के समूह से बीकूल शरीर वाले रोगी के समान शास्त्रार्थ में कुशल वैद्य के कथनानुसार

क्रिया कलाप को अनुमोदन करता है वैसे भाव आरोग्यता के लिए तू समस्त श्री जिनेश्वरों का जो अनेक जन्मों तक शुभ क्रियाओं का आसेवन द्वारा भाव से चिन्तन रूप थे उसका सम्यक् अनुमोदन कर ! उसमें श्री तीर्थकर परमात्मा के जन्म से पूर्व तीसरे जन्म में तीर्थकर पद का कारण भूत उन्होंने वीरा स्थानक की थी, इससे देव जन्म से ही साथ में आया मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि ज्ञान रूप निर्मल तीनों ज्ञान सहित उनका गर्भ में आगमन होता है, निज कल्याणक दिन में सहसा निरंतर समूहबद्ध आते सारे चार निकाय देवों से आकाश द्वार पूर्ण भर जाता है, इससे तीनों लोक को एकता बताने वाले, जगत के सर्व जीवों के प्रति वात्सल्यता से तीर्थ प्रवर्तना करने में वे तत्परता रहते, सर्व गुणों का उत्कृष्टता वाले, सर्वोत्तम पुण्य के समूह वाले, सर्व अतिशयों के निधान रूप, राग, द्वेष मोह से रहित, लोकालोक के प्रकाशक, केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी से युक्त, देवों द्वारा श्रेष्ठ आठ प्रकार के प्रभाव वाले प्रतिहार्यों से सुशोभित देवों द्वारा रचित सुवर्ण कमल के ऊपर पैर स्थापन कर विहार करने वाले, अग्लानता से बदले की इच्छा बिना, भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने वाले, उपकार नहीं करने वाले अन्य जीवों, के प्रति अनुग्रह प्राप्त कराने के व्यसनी, उनकी एक साथ में उदय आती समस्त पुण्य प्रकृति वाले, तीनों लोक के समूह से चरण कमल की सेवा पाने वाले, निविघ्न को नाश करते स्फुरामान ज्ञान दर्शन गुणों को धारण करने वाले, यथाख्यात चारित्र्य रूप लक्ष्मी की समृद्धि को भोगने वाले, अबाधित प्रताप वाले, अनुत्तर विहार से विचरने वाले, जन्म, जरा, मरण रहित शाश्वत मुख का स्थान मोक्ष को प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्री जिनेश्वर भगवन्तों के गुणों का तू त्रिविध-त्रिविध सम्यक् अनुमोदन कर ।

इस तरह श्री सिद्ध परमात्मा के गुणों का अनुमोदन कर जैसे कि—मूल में से पुनः संसार वासी को नष्ट हुए, ज्ञानादि वरणीय आदि समस्त कर्म लेप को दूर करने वाले राहु ग्रह की कान्ति के समूह दूर होने से, सूर्य चन्द्र प्रकाशित होते वैसे ही कर्ममल दूर होने से प्रकाशित आत्मा के यथास्थित शोभायमान शाश्वतमय, वृद्धत्वाभावमय, अजन्ममय, अरूपीमय, निरोगीमय स्वामीरहित सम्पूर्ण स्वतन्त्र सिद्धपुरी में शाश्वत रहने वाले, स्वाधीन ऐकान्तिक, आत्यंतिक और अनन्त सुख समृद्धिमय, अज्ञान अन्धकार का नाश करने वाले, अनन्त केवल ज्ञानदर्शन स्वरूपमय, समकाल में सारे लोक अलोक में रहने वाले, सद्भूत पदार्थों को देखने वाले और इससे ही आत्यन्तिक अनन्त वीर्य से युक्त शब्दादि से अगम्य युक्त, अच्छेद्य युक्त, अमेद्य युक्त, हमेशाकृत कृत्यता वाले, इन्द्रिय-

रहित, और अनुपमता वाले, सर्व दुःखों से रहित, पापरहित, रागरहित, कलेश से रहित, एकत्व में रहने वाले, अक्रिययुक्त, अमुत्याता और अत्यन्त रथैर्ययुक्त तथा सर्व अपेक्षा से रहित, समस्त क्षायिक गुण वाले, नष्ट परतन्त्र वाले, और तीन लोक में चुड़ामणि से युक्त, इस तरह तीन लोक से बन्दनीय, सर्व सिद्ध परमात्माओं के गुणों का तू हमेशा त्रिविध-त्रिविध सम्यक् अनुमोदन कर ।

एवं सर्व आचार्यों का जो सुविहित पुरुषों ने सम्यक् आचरण किया हुआ, प्रभु के पाद प्रसाद से भगवन्त बने, पाँच प्रकार से आचार का दुःख रहित, किसी प्रकार के बदले की आशा बिना, समझदारी पूर्वक सम्यक् पालन करने वाले, सर्व भव्य जीवों को उन आचार्यों की सम्यक् उपदेश देने वाले और उन भवात्मों को नया आचार प्राप्त करवा कर उन्हीं आचार्यों का पालन करवाने वाले श्री आचार्य के सर्व गुणों का तू सम्यक् प्रकार से अनुमोदन कर ।

इसी प्रकार पंचविध आचार पालन करने में रक्त और प्रकृति से ही परोपकार करने में ही प्रेमी श्री उपाध्यायों को भी आचार्य श्री के जवाहिरात की पेटी समान है जो अंग उपांग और प्रकीर्णक आदि से युक्त श्री जिन प्रणित बारह अंग सूत्रों को स्वयं सूत्र अर्थ और तदुभय से पढ़ने वाले और दूसरों को भी पढ़ाने वाले श्री उपाध्याय महाराज के गुणों को हे क्षपक मुनि ! तू सदा सम्यक् रूप त्रिविध-त्रिविध अनुमोदन कर ।

इसी तरह कृतपुण्य चारित्र्य चुड़ामणि धीर, सुगृहित नाम धेय, विविध गुण रत्नों के समूह रूप और सुविहित साधु भी निष्कलंक, विस्तृतशील से शोभायमान, यावज्जीव निष्पाप आजीविका से जीने वाले, तथा जगत के जीवों के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाले अपने शरीर में ममत्व रहित रहने वाले, स्वजन और परजन में समान भाव को रखने वाले और प्रमाद के विस्तार को सम्यक् प्रकार से रोकने वाले, सम्पूर्ण प्रशम रस में निमग्न रहने वाले, स्वाध्याय और ध्यान में परम रसिकता वाले, पूर्ण आज्ञाधीनता रहने वाले, संयम गुणों में एक बद्ध लक्ष्य वाले, परमार्थ की गवेषणा करने वाले, संसारवास की निर्गुणता का विचारणा रखने वाले और इससे ही परम संवेग द्वारा उसके प्रति परम वैराग्य भावना प्रगट करने वाले तथा संसार रूप गहन अटवी से प्रतिपक्षभूत रक्षक क्रिया कलाप करने में कुशल इत्यादि साधु गुणों का तू त्रिविध-त्रिविध हमेशा सम्यक् प्रकार से अनुमोदन कर ।

तथा समस्त श्रावक भी प्रकृति से ही उत्तम धर्म प्रियतायुक्त हैं, श्री जन वचनरूपी धर्म के राग से निमग्न शरीर के अस्थि, मज्जा वाला, जीव, अजीव आदि समस्त पदार्थों के विषय को जानने में परम कुशलता प्राप्त करने

वाला देवादि द्वारा भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से अर्थात् जिन शासन से क्षोभ प्राप्त नहीं करते और सम्यक् दर्शन आदि मोक्ष साधक गुणों में अति दृढ़ता को तू सदा त्रिविध-त्रिविध सम्यक् प्रकार से अनुमोदन कर। अन्य भी जो आसन्न भावी, भद्रिक परिणामी अल्प संसारी, मोक्ष की इच्छा वाले, हृदय से कल्याणकारी वृत्ति वाले तथा लघुकर्मी देव, दानव, मनुष्य अथवा तिर्यंच इन सर्व जीवों को भी सन्मार्गानुगामिता, अर्थात् मार्गानुसारी जीवन का तू सम्यक् अनुमोदन कर। इस तरह हे भद्र ! ललाट पर दोनों हस्त अंजलि जोड़कर इस प्रकार श्री अरिहंत आदि के सुकृत्यों की प्रतिक्षण सम्यक् अनुमोदन करते तुझे उन गुणों को शिथिल नहीं करना किन्तु रक्षण करना। बहुत काल से भी एकत्रित किए कर्ममल को भी करना और इसी तरह कर्म का घात करते तू हे सुन्दर मुनि ! तेरी सम्यक् आराधना होगी। इस तरह से सुकृत्य अनुमोदन द्वार को कहा। अब भावना पटल—समूह नामक चौदहवाँ अन्तर द्वार को कहता हूँ।

चौदहवाँ भावना पटल द्वार :—जैसे प्रायः सर्व रसों का मुख्य नमक मिश्रण है, अथवा जैसे पारे के रस संयोग से लोहे का सुवर्ण बनता है, वैसे धर्म के अंग जो दानादि हैं वे भी भावना बिना वांछित फलदायक वाला नहीं होता है इसलिए हे क्षपक मुनि ! उस भावना में उद्यम कर। जैसे कि—दान बहुत दिया, ब्रह्मचर्य का भी चिरकाल पालन किया, और तप भी बहुत किया, परन्तु भावना बिना वह कोई भी सफल नहीं है भाव शून्य दान में अभिनव सेठ और भाव रहित शील तथा तप में कंडरिक का दृष्टान्त भूत है। बलदेव का पारणा कराने की भावना वाले हिरन ने कौन सा दान दिया था, तथापि भावना की श्रेष्ठता से उसने दान करने वाले के समान फल प्राप्त किया था। अथवा तो जीर्ण सेठ का दृष्टान्त रूप है कि केवल दान देने की भावना से भी, दान बिना भी महा पुण्य समूह को प्राप्त किया था। शील और तप के अभाव में भी स्वभाव से ही बढ़ते तीव्र संवेग से शील तप केवल परिणाम से परिणत हुआ था फिर भी मरुदेवा माता सिद्ध हुए तथा हे क्षपक मुनि ! शील तप के परिणाम वाले अल्पकाल तप शील वाले भगवन्त अवन्ति सुकार शुभ भावना रूप गुणों से महद्विक देव हुआ। और दान धर्म में अवश्य धन के अस्तित्व की अपेक्षा रखता है तथा यथोक्त शील और तप भी विशिष्ट संघयण की अपेक्षा वाला है। परन्तु यह भावना तो निश्चय अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता है, वह शुभ चित्त में ही प्रगट होता है। इसलिए उसमें ही प्रयत्न करना चाहिये।

यहाँ प्रश्न करते हैं कि—यह भावना भी अन्तर की धीरता के लिए बाह्य कारण की अपेक्षा रखता है। क्योंकि उद्विग्न मन वाला अल्प भी शुभ ध्यान को करने में समर्थ नहीं होता है। इसलिए ही कहा जाता है कि मन पसन्द भोजन, और मन पसन्द घर होने पर अविषादी—अखण्ड मन योग वाले मुनि मनोज्ञ ध्यान को कर सकते हैं। इसलिए अपेक्षित कारण सामग्री बिना भावना भी प्रगट नहीं होती है। इसका उत्तर देते हैं कि—यह तुम्हारा कथन केवल मन के निरोध करने में असमर्थ मुनि के उद्देश्य से सत्य है, परन्तु कषायों को जीतने वाला जो अति वीर्य और योग के सामर्थ्य से मन के वेग को रोकने वाला है जो अन्य से प्रगट की हुई और बढ़ती तीव्र वेदना से शरीर में व्याकुलित होते कषाय मुक्त स्कंदक के शिष्यों के समान शुभ ध्यान को अल्पमात्र भी खंडित नहीं करते उनको बाह्य निमित्त से कोई प्रयोजन नहीं है।

शुभ और अशुभ दोनों भाव स्वाधीन हैं, इसलिए शुभ करना श्रेष्ठ है। ऐसा पंडित कौन सा होगा कि स्वाधीन अमृत को छोड़कर जहर को स्वीकार करेगा। अतः हे देवानु प्रिय ! 'मुझे यह मोक्ष प्रिय है' ऐसा निश्चय करके मोक्ष में एक दृढ़ लक्ष्य वाला तू हमेशा भाव प्रधान बन। यह भावना संसार में भव की भयंकरता से दुःखी हुआ उत्तम भव्यों द्वारा भावित करने से इसको नियुक्ति (व्युत्पत्ति) सिद्ध नाम भी (भावना) शब्द बनता है। निश्चय जो एकान्त शुभ भाव है वही भावना है और जो भावना है, वही एकान्त शुभ भाव भी है। ये भाव बारह प्रकार के हैं अर्थात् वह भावना प्रकार की है, वह भाव और भावना भी संवेग रस की वृद्धि से शुभ बनता है। अतः उस भाव को प्रगट करने के लिए क्रमशः (१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना, (३) संसार भावना, (४) एकत्व भावना, (५) अन्यत्व भावना, (६) अशुचि भावना, (७) आश्रय भावना, (८) संवर भावना, (९) कर्म निर्जरा भावना, (१०) लोकत्व भावना, (११) बोधि दुर्लभ भावना और (१२) धर्म गुरु दुर्लभता भावना का चिन्तन करना चाहिए। इन बारह भावनाओं में सर्व प्रथम हमेशा संसार जन्य समस्त वस्तु समूह का अनित्य भावना का इस तरह चिन्तन कर वह इस प्रकार :—

१. अनित्य भावना :—अहो ! अर्थात् आश्चर्य है कि यौवन बिजली के समान अस्थिर है, सुख संपदाएँ भी संध्या के बादल के राग की शोभा समान हैं और जीवन पानी के बुलबुला समान अत्यन्त अनित्य ही है। परम प्रेम के पात्र माता, पिता, पुत्र और मित्रों के साथ जो संयोग है वह सब अवश्य ही अनित्य से युक्त क्षणिक है। और शरीर सौभाग्य, अखण्ड पंचेन्द्रिय प्राप्त होना,

रूप, बल, आरोग्य और लावण्य की शोभा, ये सारी भी अस्थिर हैं। भवन पति, वाण व्यंतर, ज्योतिषी, और बाहर कल्प आदि में उत्पन्न हुए सर्व देवों का भी शरीर रूप आदि समस्त अनित्य है। मकान, उपवन, शयन, आसन, वाहन और यान आदि के साथ के यह लोक-परलोक में भी जो संयोग है वह भी अवश्य ही अनित्य है। एक पदार्थ को अनुमान द्वारा भी अनित्यता को सर्वगत मानकर धन्य पुरुष नगति राजा के समान धर्म में उद्यम करता है। वह इस प्रकार :—

नगति राजा की कथा

गंधार देश का स्वामी नगति नामक राजा था, वह घोड़े, हाथी, रथ के ऊपर बैठे अनेक सामंत राजाओं के समूह से घिरे हुए अति ऋद्धि समूह शोभता था। स्वयं बसन्त ऋतु के समागम से शोभायमान उद्यान को देखने के लिए अपने नगर से निकला। वहाँ जाते हुए अर्ध बीच में विकसित बड़े पत्तों से शोभित, पुष्पों के रस बिन्दुओं से पीली हुई मंजरी के समूह से रमणीय, घूमते हुये भौरे भूँ-भूँ गुंजार के बहाने से मानो गीत गाता हो, इस तरह वायु से प्रेरणा पाकर शाखा रूपी भुजाओं द्वारा मानो नृत्य प्रारम्भ किया हो, मदोन्मत्त कोमल शब्द के बहाने से मानो काम की स्तुति करता हो, और गीच पत्तोरूप परिवार से व्याप्त एक खिले आम्र वृक्ष को देखा। फिर उसके रमणीयता गुण से प्रसन्न चित्त वाले उस राजा ने वहाँ से जाते कुतूहल से एक मंजरी तोड़ ली। इससे अपने स्वामी के मार्गानुसार चलने वाले सेवक लोगों में से किसी ने मंजरी, किसी ने पत्ते समूह, किसी ने गुच्छे तो किसी ने डाली का अग्र भाग को अन्य किसी ने कोमल पत्ते तो किसी ने कच्चे फल समूह को ग्रहण कहने से क्षण में उस वृक्ष को टुंठ जैसा बना दिया। फिर आगे चलते रहट यंत्र का चीत्कार रूप शब्दों से दिशाएँ बहरी हो गईं ऐसे फैलते सुगन्ध के समूह से आते भौरे की श्रेणियों से मनोहर विकसित ठण्डे प्रदेश वाले उस उद्यान में पहुँचा। थके हुए यात्री के समान थोड़े समय घूमकर फिर उस मार्ग से ही वापिस चला, राजा ने वहाँ उस वृक्ष को नहीं देखने से लोगों से पूछा कि—वह आम्र का वृक्ष कहाँ है? तब लोगों ने टुंठ समान रूप वाला उस आम्र वृक्ष को दिखाया तब विस्मित मन वाले राजा ने कहा कि—ऐसा वह कैसे बन गया? लोगों ने भी पूर्व की सारी बात कही।

इसे सुनकर परम संवेग को प्राप्त करते राजा भी अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने लगा कि—अहो! संसार के दुष्ट चेष्टा को धिक्कार है, क्योंकि जहाँ पर ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसको अनित्यता से सदा सर्व प्रकार से नाश

नहीं होता हो ? इस आम्न वृक्ष के अनुमान से ही बुद्धिमान को अनित्यता से व्याप्त स्वशरीरादि सर्व वस्तुओं के भी राग का स्थान क्यों होता है ? इस प्रकार विविध तथा चिन्तन कर महासत्त्वशाली वह राजा राज्य, अन्तःपुर और नगर को छोड़कर प्रत्येक बुद्ध चारित्र्य वाला साधु बना । यह कथा सुनकर, हे सुन्दर मुनि ! तू एकान्त में गीतार्थ साधु के साथ में सर्व पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन मनन कर । इस प्रकार जिस कारण से संसार जन्य समस्त वस्तुओं की अति अनित्यता है उस कारण से ही उन प्राणियों का अल्पमात्र भी शरण नहीं है । जैसे कि—

२. अशरण भावना :—सर्व जीव समूह का रक्षण करने में वत्सल, महान् और करुणा रस से श्रेष्ठ एक ही श्री जैन वचन हैं । इनको छोड़कर जन्म, जरा, मरण उद्वेग, शोक, संताप और व्याधियों से विषम और भयंकर इस संसार अटवी में प्राणियों का कोई शरण नहीं है । तथा केवल एक श्री जिनवचन में रहे आत्मा के बिना पुरुष अथवा देवों में किसी दिव्य शक्ति द्वारा बख्तर सहित मस्त हाथी, चपल घोड़े, रथ और योद्धा के समूह की रचनाओं द्वारा, बुद्धि द्वारा, नीति बल द्वारा, अथवा स्पष्ट पुरुषार्थ बल द्वारा भी पूर्व में मृत्यु को जीता नहीं है । माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र और अत्यन्त स्नेही स्वजन तथा धन के ढेरों ने भी रोग से पीड़ित पुरुष को अल्प भी शरणभूत नहीं होता है । एक ही श्री जिनवचन बिना अन्य मंगलों से मन्त्र पूर्वक स्नानादि से, मन्त्रित चूर्णों से, मन्त्रों से और वैद्यों की विविध औषधियों से रक्षण नहीं होता है । इस प्रकार विचार करते इस संसार में कोई भी वस्तु शरण रूप नहीं है । उसी कारण से ही दुःसह नेत्र पीड़ा से व्याकुलित शरीर वाला, प्रथम दिव्य यौवन को प्राप्त कर बुद्धिमान कौशाम्बी के धनिक पुत्र सर्व सम्बन्धों का त्याग करके संयम उद्योग को स्वीकार किया था । उसकी कथा इस प्रकार :—

सेठ पुत्र की कथा :—राजगृही नगरी के स्वामी श्रेणिक राजा घूमने निकले । वहाँ मंडिकुक्षि नामक उद्यान में वृक्ष नीचे बैठे हुए, रतिरहित कामदेव हो, ऐसे शोभायमान तथा शरद ऋतु के चन्द्र की कला समान कोमल शरीर वाले एक उत्तम मुनि को देखा । उसे देखकर रूप आदि गुणों की बहुत प्रशंसा करके तीन प्रदक्षिणा देकर आदर पूर्वक नमस्कार करके उनके नजदीक में बैठा और दोनों हाथ से अंजलि जोड़कर विस्मय पूर्वक राजा बोला कि—हे भगवन्त यौवनावस्था के अन्दर साधुधर्म में क्यों रहे हो ? साधु ने कहा कि—हे राजन् ! मेरा कोई भी शरण नहीं था इसलिए दुःखों को क्षय करने वाली इस दीक्षा को मैंने स्वीकार की है । फिर हास्य से उछलते दांत की उज्ज्वल कान्ति से प्रथम उदय होते सूर्य समान लाल कान्ति वाले होठ को उज्ज्वल करते

राजा ने कहा कि—हे भगवन्त ! अप्रतिम स्वरूप वाले और लक्षणों से प्रगट रूप अति विशाल वैभव वाले दिखते हुए भी आप अशरण कहते हो, वह मैं किस तरह सत्य मानूँ ? अथवा ऐसे संघम से क्या लाभ है ? मैं आपका शरण बनता हूँ, घरवास को स्वीकार करो और विषय सुख का उपभोग करो। क्योंकि फिर मनुष्य जन्म मिलना अति कठिन है। मुनि ने कहा कि—हे नरवर ! आप स्वयं भी शरण रहित हैं तो अन्य को शरण देने का सामर्थ्य किस तरह हो सकता है। तब संभ्रम बने राजा ने कहा कि—मैं बहुत हाथी घोड़े, रथ और लाखों सुभटकी सामग्री वाला हूँ तो मैं अन्य का शरणभूत कैसे नहीं हो सकता हूँ ? अतः हे भगवन्त ! असत्य मत बोलो अथवा आप मुझे भी 'तुम भी अशरण है' ऐसा क्यों कहते हो ? मुनि ने कहा कि भूमिनाथ ! तुम अशरणता का अर्थ को और मेरे अशरणता का कारण जानते ही नहीं हो, आप एकाग्रचित्त से उसे सुनो :—

मेरा पिता कौशाम्बी नगरी में धन से कुबेर के वैभव विस्तार की हँसी करने वाला, महान् ऋद्धि सिद्धि वाला, बहुत स्वजनवर्ग वाला और जगत में प्रसिद्ध था। उस समय मुझे प्रथमवय में ही अति दुःसह, अति कठोर नेत्र पीड़ा हुई और उससे शरीर में जलन होने लगी। अतः शरीर में मानो बड़ा तीक्ष्ण भाला भ्रमण करता हो अथवा वज्रमार के समान अति भयंकर नेत्र पीड़ा के भार से मैं परवश हो गया। अनेक मन्त्र, तन्त्र विद्या और चिकित्सा शास्त्रों के अर्थ के जानकार लोगों ने मेरी चिकित्सा की, परन्तु थोड़ा भी आराम नहीं मिला। पिता ने भी मेरी अल्पमात्र भी वेदना शान्त करने के लिए सर्वस्व देने के लिए स्वीकार किया। माता, भाई, बहन, स्त्री, मित्रादि सर्व स्वजन समूह भी भोजन पान विलेपन आभूषण आदि प्रवृत्ति छोड़कर अत्यन्त मन दुःख निकलते आंसुओं से मुख को घोटते रोते, कि कर्त्तव्यमूढ़ होकर मेरे पास में बैठे तथापि अल्पमात्र भी चक्षुवेदना कम नहीं हुई। 'अहो ! मेरा कोई शरण नहीं है' इस तरह बार-बार चिन्तन करते मैंने प्रतिज्ञा की कि—यदि इस वेदना से मुक्त हो जाऊँगा तो सर्व सम्बन्धों को छोड़कर साधु धर्म को स्वीकार करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करने से मुझे रात को नींद आ गई, वेदना शान्त हुई और मैं पुनः स्वस्थ शरीर वाला हो गया उसके बाद प्रभात काल में स्वजन वर्ग की आज्ञा लेकर श्री सर्वज्ञ परमात्मा कथित दीक्षा का मैंने शरण रूप स्वीकार किया है। इसलिए हे नरवर ! ऐसे दुःख के समूह से घिरे हुए जीव को श्री जिनेश्वर प्रभु के धर्म बिना अन्य से रक्षण अथवा शरण नहीं है। ऐसा सुनकर राजा 'ऐसा ही है' ऐसा स्वीकार के मुनि को नमस्कार करके

अपने स्थान पर गया और साधु भी वहाँ से विहार कर गये। इस प्रकार हे क्षपक मुनि ! संसार जन्य समस्त वस्तुओं में राग बुद्धि का त्याग कर एकाग्र चित्त वाले तू अशरण भावना का सम्यग् चिन्तन मनन कर। अब यदि प्रत्येक की वस्तु का चिन्तन करते प्राणियों का इस संसार में कोई भी शरणभूत नहीं है, तो उस कारण से ही 'संसार अति विषम है' ऐसा समझ उसे आगे कहते हैं :—

३. संसार भावना :—इस संसार में श्री जिनवचन से रहित, मोह के महा अन्धकार के समूह से पराभव प्राप्त करते और फैलती हुई विकार की वेदना से विवश होकर सर्व अंग वाले जीव एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, जल चर, स्थल चर, खेचर आदि विविध तिर्यच योनियों में, तथा समस्त देव और मनुष्यों की योनियों में तथा सात नरकों में अनेक बार भ्रमण किया है, वहाँ एक-एक जाति में अनेक बार विविध प्रकार के वध, बन्धन, घनहरण, अपमान, महारोग, शोक और सन्ताप को प्राप्त किया। ऊर्ध्व, तिच्छा और अधोलोक में भी कोई ऐसा एक आकाश प्रदेश नहीं होगा कि जहाँ जीव ने अनेक बार जन्म, जरा, मरण आदि प्राप्त नहीं किया हो। भोग सामग्री, शरीर के और वध बन्धनादि के कारण रूप अनेक बार समस्त रूपी द्रव्यों को भी पूर्व में प्राप्त किया है और संसार में भ्रमण करते जीव को अन्य सर्व जीव से स्वजन, मित्र, स्वामी, सेवक और शत्रु रूप में अनेक बार सम्बन्ध किए हैं। हा ! उद्वेग कारक संसार को धिक्कार है कि जहाँ अपनी माता भी मरकर पुत्री बनी और पिता भी मरकर पुनः पुत्र होता है। जिस संसार में सौभाग्य और रूप का गर्व करते युवान भी मरकर वहाँ अपने शरीर में ही कीड़े रूप में उत्पन्न होता है और जहाँ माता भी पशु आदि में जन्म लेकर अपने पूर्व पुत्र का मांस भी खाते हैं। अरे ! दुष्ट संसार में ऐसा भी अन्य महाकष्ट कौन-सा है ? स्वाभी भी सेवक और सेवक भी स्वामी, निजपुत्र भी पिता होता है और वहाँ पिता भी वैर भाव से मारा जाता है, उस संसार स्वरूप को धिक्कार हो। इस प्रकार विविध आश्रयों का भण्डार इस संसार के विषय में कितना कहूँ ? कि जहाँ जीव तापस सेठ के समान चिरकाल दुःखी होता है। वह इस प्रकार :—

तापस सेठ की कथा

कौशाम्बी नगरी में सद्धर्म से विमुख बुद्धि वाला अति महान् आरम्भ करने में तत्पर अति प्रसिद्ध तापस नामक सेठ रहता था। घर की भूर्त्ता से अति आसक्त वह मरकर अपने ही घर में सूअर रूप उत्पन्न हुआ और उसे वहाँ पूर्व

जन्म का स्मरण हुआ। किसी समय उसके पुत्र ने उसके ही पुण्य के लिए बड़े आडम्बर से वार्षिक मृत्यु तिथि के दिन मनाने का प्रारम्भ किया और स्वजन, ब्राह्मण, सन्यासी आदि को निमन्त्रण दिया, फिर उसके निमित्त भोजन बनाने वाली ने मांस पकवाया और उसे बिल्ली आदि ने नाश किया, अतः घर के मालिक से डरी हुई उसने दूसरा मांस नहीं मिलने से उसी सूअर को मारकर मांस पकाया। वहाँ से मरकर वह पुनः उसी घर में सर्प हुआ और भोजन बनाने वाली को देखकर मृत्यु के महाभय के कारण आर्त ध्यान करते उसे पूर्व जन्म का स्मरण हुआ। भोजन बनाने वाली उस स्त्री ने भी उसे देखकर कोलाहल मचाया, लोग एकत्रित हुए और उस सर्प को मार दिया। वह सर्प मरकर पुनः अपने पुत्र का ही पुत्र रूप में जन्म लिया और पूर्व जन्म का स्मरण करके इस तरह विचार करने लगा कि—मैं अपने पुत्र को पिता और पुत्रवधू को माता कैसे कहूँ ? यह संकल्प करके वह मौनपूर्वक रहने लगा। समय जाने के बाद उस कुमार ने यौवन अवस्था प्राप्त की। उस समय विशिष्ट ज्ञानी धर्मस्थ नाम के आचार्य उसी नगर के उद्यान में पधारे और ज्ञान के प्रकाश से देखा कि—यहाँ कौन प्रतिबोध होगा ? उसके बाद उन्होंने उस मौनव्रती को ही योग्य जाना, इससे दो साधुओं को उसके पूर्व जन्म के सम्बन्ध वाला श्लोक सिखाकर प्रतिबोध करने के लिए उसके पास भेजा, और उन्होंने वहाँ जाकर इस प्रकार से श्लोक उच्चारण किया :—

“तापस किमिणा मोणव्वएण पडिबज्ज जाणिउं धम्मं ।

मरिऊण सूयरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥”

अर्थात्—हे तापस ! इस मौनव्रत से क्या लाभ है ? तू मरकर सूअर, सर्प और पुत्र का पुत्र हुआ है, ऐसा जाकर धर्म को स्वीकार करो। फिर अपना पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनकर प्रतिबोध प्राप्त कर उसने उसी समय आचार्य श्री के पास जाकर श्री तीर्थंकर परमात्मा का धर्म स्वीकार किया। इस विषय पर अब अधिक क्या कहें ? यदि जीव धर्म को नहीं करेगा तो संसार में कठोर लाखों दुःखों को प्राप्त करता है और प्राप्त करेगा। इसलिए हे क्षपक मुनि ! महादुःख का हेतुभूत संसार के सद्भूत पदार्थों की भावना में इस तरह उद्यम कर कि जो प्रस्तुत आराधना को लीलामात्र से साधन कर सके। यह संसार वस्तुओं के अनित्यता से अलभ्य अशरण रूप है, इसी कारण से जीवों का एकत्व है। इसलिए प्रति समय बढ़ते संवेग वाले तू ममता को छोड़कर हृदय में तत्त्व को धारण करके एकत्व भावना का चिन्तन कर। वह इस प्रकार :—

४. एकत्व भावना :—आत्मा अकेला ही है, एक उसके मध्यस्थ भाव बिना शेष सर्व संयोग जन्य प्रायःकर दुःख का कारण रूप है। क्योंकि संसार में सुख या दुःख को अकेला ही भोगता है, दूसरा कोई उसका नहीं है और तू भी अन्य किसी का नहीं है। शोक करते स्वजनों के मध्य से वह अकेला ही जाता है। पिता, पुत्र, स्त्री या मित्र आदि कोई भी उसके पीछे नहीं जाता है। अकेला ही कर्म का बन्धन करता है और उसका फल भी अकेला ही भोगता है। अवश्यमेव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और जन्मान्तर में अकेला ही जाता है। कौन किसके साथ में जन्मा है ? और कौन किसके साथ में परभव में गया है ? कौन किसका क्या हित करते हैं ? और कौन किसका क्या बिगाड़ता है ? अर्थात् कोई किसी का साथ नहीं देता, स्वयं अकेला ही सुख दुःख भोगता है। अज्ञानी मानव परभव में गये अन्य मनुष्य का शोक करते हैं, परन्तु संसार में स्वयं अकेला दुःखों को भोगते अपना शोक नहीं करता है। विद्यमान भी सर्व बाह्य पदार्थों के समूह को छोड़कर शीघ्र परलोक से इस लोक में अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। नरक में अकेला दुःखों को सहन करता है, वहाँ नौकर और स्वजन नहीं होते हैं। स्वर्ग में सुख भी अकेला ही भोगता है, वहाँ उसके दूसरे स्वजन नहीं होते हैं। संसार रूपी कीचड़ में अकेला ही दुःखी होता है, उस समय उस विचारे के साथ सुख दुःख को भोगने वाला अन्य कोई इष्ट जन नजर भी नहीं आता है। इसलिए ही कठोर उपसर्गों को दुःखों में भी मुनि दूसरे की सहायता की इच्छा नहीं करते हैं, परन्तु श्री महावीर प्रभु के समान स्वयं सहन करते हैं। वह इस प्रकार :—

श्री महावीर प्रभु का प्रबन्ध

अपने जन्म द्वारा तीनों लोक में महा महोत्सव प्रगट करने वाले, एवं प्रसिद्धि कुंड गाँव नामक नगर के स्वामी सिद्धार्थ महाराज के पुत्र श्री महावीर प्रभु ने भक्ति के भार से नमते सामन्त और मन्त्रियों के मुकुट मणि से स्पशित पादपीठ वाले और आज्ञा पालन करने की इच्छा वाले, सेवक तथा मनुष्यों के समूह वाले राज्य को छोड़कर दीक्षा ली। उस समय जय-जय शब्द करते एक-त्रित हुये देवों ने उनकी विस्तार से पूजा भक्ति की और उन्होंने प्रेम से नम्र भाव रखने वाले स्वजन वर्ग को छोड़ दिया, फिर दीक्षा लेकर दीक्षा के प्रथम दिन ही कुमार गाँव के बाहर प्रदेश में काउस्सग ध्यान में रहे उस प्रभु को कोई पापी गवाले ने इस प्रकार कहा कि—हे देवार्थ ! मैं जब तक घर जाकर नहीं आता तब तक तुम मेरे इन बैलों को अच्छी तरह से देखते रहना। काउस्सग ध्यान में रहे जगत् गुरु को ऐसा कहकर वह चला गया। उस समय यथेच्छ

भ्रमण करते बैलों ने अटवी में प्रवेश किया, इधर क्षणमात्र में गवाला आया, तब वहाँ बैल नहीं मिलने से भगवान से पूछा—मेरे बैल कहाँ गये हैं ? उत्तर नहीं मिलने से दुःखी होता वह सर्व दिशाओं में खोजने लगा । वे बैल भी चिर-काल तक चरकर प्रभु के पास आए और गवाला भी रात भर भटक कर वहाँ आया, तब जुगाली करते अपने बैलों को प्रभु के पास देखा, इससे 'निश्चय ही देवार्थ ने हरण करने के लिए इन बैलों को छुपाकर रखा था अन्यथा मेरे बहुत पूछने पर भी क्यों नहीं बतलाया ? इस प्रकार कुविकल्पों से तीव्र क्रोध प्रगट हुआ और वह गवाला अति तिरस्कार करते प्रभु को मारने दौड़ा । उसी समय सौ धर्मन्द्र अवधि ज्ञान से प्रभु की ऐसी अवस्था देखकर तर्क वितर्क युक्त मन वाला शीघ्र स्वर्ग से नीचे आया और गवाले का तीव्र तिरस्कार करके प्रभु की तीन प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करके ललाट पर अंजलि करके भक्तिपूर्वक कहने लगा—

आज से बारह वर्ष तक आपको बहुत उपसर्ग होंगे, अतः मुझे आज्ञा दीजिए कि जिससे शेष कार्यों को छोड़कर आपके पास रहूँ । मैं मनुष्य तिर्यच और देवों के द्वारा उपसर्गों का निवारण करूँगा । जगत् प्रभु ने कहा कि—हे देवेन्द्र ! तू जो कहता है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होगा, न हुआ है और न ही होगा । संसार में भ्रमण करते जीवों को जो स्वयं ने पूर्व में स्वेच्छाचारपूर्वक दुष्ट कर्म बन्धन किया हो, उसकी निर्जरा स्वयं उसको भोगता है, अथवा दुष्कर तपस्या के बिना किसी की सहायता नहीं होती है । कर्म के आधीन पड़ा जीव अकेला ही सुख दुःख का अनुभव करता है, अन्य तो उसके कर्म के अनुसार ही उपकार या अपकार करने वाला निमित्त मात्र होता है । प्रभु के ऐसा कहने से इन्द्र नम गया । और त्रिभुवन नाथ प्रभु भी अकेले स्वेच्छापूर्वक दुस्सह परीषर्हों को सहने लगे । इस प्रकार यदि चरम जैन श्री वीर परमात्मा ने भी अकेले ही दुःख सुख को सहन किया तो हे क्षपक मुनि ! तू एकत्व भावना चिन्तन करने वाला क्यों नहीं हो ? इस प्रकार निश्चय स्वजनादि विविध बाह्य वस्तुओं का संयोग होने पर भी तत्त्व से जीवों का एकत्व है । इस कारण से उनका परस्पर अन्यत्व—अलग-अलग रूप हैं । जैसे कि—

५. अन्यत्व भावना :—स्वयं किये कर्मों का फल भिन्न-भिन्न भोगते जीवों का इस संसार में कौन किसका स्वजन है ? अथवा कौन किसका परजन भी है ? जीव स्वयं शरीर से भिन्न है, ये सारे वैभव से भी भिन्न है और प्रिया अथवा प्रिय पिता, पुत्र, मित्र और स्वजनादि वर्ग से भी अलग है, वैसे ही जीव से ये सच्चित्त, अचित्त वस्तुओं के विस्तार से भी अलग है । इसलिए

उसे अपना हित स्वयं को ही करना योग्य है। इसी लिए ही नरक जन्य तीक्ष्ण दुःखों से पीड़ित अंग वाले सुलस नामक बड़े भाई को शिवकुमार ने दीक्षा दी थी। वह इस प्रकार :—

सुलस और शिवकुमार की कथा

दशार्णपुर नामक नगर में परस्पर अति स्नेह से प्रतिबद्ध बड़ चित्त वाला सुलस और शिव दो भाई रहते थे, परन्तु प्रथम सुलस अति कठोर कर्म बन्धन करने वाला था, अतः उसे हेतु दृष्टान्त और युक्तियों से समझाया फिर भी वह श्री जैन धर्म में श्रद्धावान नहीं हुआ। दूसरा शिवकुमार अतीव लघु-कर्म होने से श्री जैनेश्वर भगवान के धर्म को प्राप्त कर साधु सेवा आदि शिष्टाचार में प्रवृत्ति करता था। और पाप में अति मन लगाने वाले बड़े भाई को हमेशा प्रेरणा देता कि—हे भाई ! तू अयोग्य कार्यों को क्यों करता है ? छिद्र वाली हथेली में रहे पानी के समान हमेशा आयुष्य खतम होते और क्षण-क्षण में नाश होते शरीर की सुन्दरता को तू क्यों नहीं देखता है ? अथवा शरद-ऋतु के बादल की शोभा, बिखरती लक्ष्मी को तथा नदी के तरंगों के समान नाश होते प्रियजन के संगम को भी क्यों नहीं देखता ? अथवा प्रतिदिन स्वयं मरते भाव समूह को और बड़े समुद्र के समान विविध आपदाओं में डूबते जीवों को क्या नहीं देखता ? कि जिससे यह नरक निवास का कारणभूत घोर पापों का आचरण कर रहा है। और तप, दान, दया आदि धर्म में अल्प भी उद्यम नहीं करता है ? तब सुलस ने कहा कि—भोले ! तुम धूर्त लोगों से ठगे गये हो कि जिसके कारण तुम दुःख का कारण भूत तप के द्वारा अपनी काया को शोष रहे हो। और अनेक दुःख से प्राप्त हुई धन को हमेशा तीर्थ आदि में देते हो और जीव दया में रसिक मन वाले तुम पैर भी पृथ्वी ऊपर नहीं रखते। ऐसी तेरी शिक्षा मुझे देने की अल्प भी जरूरत नहीं है। कौन प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर आत्मा में गिरे ? इस तरह हांसी युक्त भाई के वचन सुनकर दुःखी हुआ और शिवकुमार ने वैराग्य धारण करते सद्गुरु के पास दीक्षा ग्रहण की, और अति चिरकाल तक उग्र तप का आचरण कर काल धर्म प्राप्त कर कृत पुण्य वह अच्युत कल्प में देव रूप उत्पन्न हुआ।

सुलस भी विस्तारपूर्वक पाप करके अत्यन्त कर्मों का बन्धन कर मर कर तीसरी नरक में नारकी का जीव हुआ, और वहाँ कैद में डाला हो वैसे करुण विलाप करते परमाधामी देवों द्वारा हमेशा जलना, मारना, बांधना इत्यादि अनेक दुःखों को सहन करने लगा। फिर अवधि ज्ञान से उसको इस

प्रकार का दुःखी देखकर पूर्व स्नेह से वह शिवकुमार देव उसके पास आकर कहने लगा कि—हे भद्र ! क्या तू मुझे जानता है कि नहीं इससे वह संभ्रमपूर्वक बोला कि मनोहर रूप धारक तुझ देव को कौन नहीं जानता ? तब देव ने पूर्व जन्म के रूप को उसने यथा स्थित दिखाई, इससे वह उसे सम्यक् प्रकार से जाना और नेत्रों को कुछ खोलकर बोला—हे भाई ! तूने यह दिव्य देव ऋद्धि किस तरह से प्राप्त की है वह मुझे कहो । इससे देव ने कहा कि—हे भद्र ! मैंने विविध दुष्कर तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि संयम के योग से शरीर को इस तरह से कष्ट दिया था कि जिससे इस ऋद्धि को प्राप्त की है । और अनेक प्रकार से लालन पालन करने से शरीर को पुष्ट बनाने वाला, धन स्वजनादि के लिए सदा पाप को करते, शिक्षा देने पर भी धर्म क्रिया में प्रमादाधीन बने तूने किस तरह से पाप वर्तन किया, जिससे ऐसा संकट आ गया । तूने यह भी नहीं जाना कि यह शरीर जीव से भिन्न है और धन स्वजन भी नश्चय ही संकट में रक्षण नहीं कर सकते हैं । इसी कारण से ही हे भद्रक ! देह में दुःख अवश्य-मेव महाफल रूप है । इस प्रकार चिन्तन करते मुनिराज शीत, ताप, भूख आदि वेदनाएँ सम्यक् रूप से सहन करते हैं । सुलभ ने कहा कि—यदि ऐसा ही है तो हे भाई ! अब भी उस मेरे शरीर को तू पीड़ा कर जिससे मैं सुखी बनूँ । देव ने कहा—भाई ! जीव रहित उसे पीड़ा करने से क्या लाभ है ? उससे कोई भी लाभ नहीं है, अतः अब पूर्व में किये कर्मों को विशेषतया सहन कर । इस प्रकार दुःख का अशक्य प्रतिकार जानकर उसे समझाकर देव स्वर्ग में गया और सुलस चिरकाल नरक में रहा । इसलिए हे क्षपक मुनि । शरीर, धन और स्वजनों को भिन्न समझकर जीव दया में रक्त तू धर्म में ही उद्यमी बन ।

६. अशुचि भावना :—यदि तत्त्व से शरीर से जीव की भिन्नता है तो स्वरूप में सिद्ध अवस्था वाले जीव द्रव्य भाव से पवित्र है । अन्यथा शरीर से जीव यदि भिन्न न हो तो शरीर का हमेशा अशुचित्व होने से जीव को निश्चय से द्रव्यभाव से शुचित्व किसी तरह नहीं होता है । पुनः शरीर का अशुद्धत्व इस प्रकार है—प्रथम ही शुक्र शोषित से उत्पन्न होने से, फिर निरन्तर माता के अपवित्र रस के आस्वादन द्वारा, निष्पत्ति होने से, जरायु के पट में गाढ़ लपेटा हुआ होने से, योनि मार्ग से निकलने से, दुर्गन्धमय स्तन का दूध पीने से, अपने अत्यन्त दुर्गन्धता से, सैंकड़ों रोगों की व्याकुलता से, नित्यमेव विष्टा और मूत्र के संग्रह से और नौ द्वारों से हमेशा झरते अति उत्कट वीभत्स मलिनता से शरीर अपवित्र है । अशुचि से स्पृष्ट भरा हुआ घड़े के समान शरीर को समस्त तीर्थों के सुगन्धी जल द्वारा जीवन तक धोने पर भी, थोड़ी भी शुद्धि नहीं होती

है, ऐसे अशुचिमय भी इस शरीर की पवित्रता को कहते जो घूमता है वह शुचि-वादी ब्राह्मण के समान अनर्थ की परम्परा को प्राप्त करता है। वह इस प्रकार है :—

शौचवादी ब्राह्मण का प्रबन्ध

एक बड़े नगर में वेद पुराण आदि शास्त्र में कुशल बुद्धि वाला, एक ब्राह्मण शौचवाद से नगर के सर्व लोग को हँसाता था। दम वनस्पति और अक्षत से मिश्र पानी से भरे हुए ताँबे के पात्र को हाथ में लेकर 'यह सर्व अपवित्र है' ऐसा मानकर नगर के मार्गों में उस जल को छिड़कता था। उसने एक दिन विचार किया कि मुझे वसति वाले प्रदेश में रहना योग्य नहीं है, निश्चय ही अपवित्र मनुष्यों के संग से दूषित होता हूँ, यहाँ पर पवित्रता कहाँ है? इसलिए समुद्र में मनुष्यों के बिना किसी द्वीप में जाकर गन्ने आदि से प्राण पोषण करते वहाँ रहूँ। ऐसा संकल्प करके अन्य बन्दरगाह पर जाते जहाज द्वारा समुद्र का उल्लंघन कर ईख वाले द्वीप में गया और भूख लगते प्रतिदिन श्रेष्ठ गन्नों का यथेच्छ भोजन करता था। हमेशा इसका भक्षण करने से थक गया और दूसरे भोजन की खोज करते, उस समुद्र में जहाज डूबने से एक व्यापारी वहाँ आया था, वह केवल ईख का रस पीता था, अतः उसे गुड़ के पिंड की सी टट्टी होती थी। उसे जमीन के ऊपर पड़ी देखकर यह ईख के फल हैं, ऐसा मानकर उसे खाने लगा। कुछ समय जाने के बाद उस व्यापारी के साथ उसका दर्शन मिलन हुआ और साथ में ही रहने से परस्पर प्रेम हो गया। एक समय भोजन के समय ब्राह्मण ने पूछा कि—तुम क्या खाते हो? व्यापारी ने कहा कि—ईख। ब्राह्मण ने कहा कि—यहाँ ईख के फलों को तू क्यों नहीं खाता? व्यापारी ने कहा कि—ईख के फल नहीं होते हैं। ब्राह्मण ने कहा कि—मेरे साथ चल, जिससे वह तुझे दिखाऊँ। तब नीचे पड़ी सूखी हुई ईख की विष्टा को उस व्यापारी को दिखाई। इससे व्यापारी ने कहा कि—हा! हा! महायश! तू विमूढ़ हुआ है, यह तो मेरी विष्टा है। यह सुनकर परम संशय वाले ब्राह्मण ने कहा कि—हे भद्र! ऐसा कैसे हो सकता है? इससे व्यापारी ने उसके बिना दूसरों की भी विष्टा की कठोरता समान रूप आदि कारणों द्वारा प्रतीति करवाई। फिर परम शोक को करते ब्राह्मण अपने देश की ओर जाने वाले जहाज में बैठकर पुनः अपने स्थान पर पहुँचा। इस प्रकार वस्तु स्वरूप से अज्ञानी जीव शोचरूपी ग्रह से अत्यन्त ग्रसित बना हुआ इस जन्म में भी इस प्रकार के अनर्थों का भोगी बनता है और परलोक में भी

अशुचि के प्रति दुर्गन्धा के पाप विस्तार से अनेक बार नीच योनियों में जन्म आदि प्राप्त करता है। इसलिए हे क्षपक मुनि ! देह की अशुचित्व को सर्व प्रकार से भी जानकर आत्मा को परम पवित्र बनाने के लिए धर्म में ही विशेष उद्यम करो।

अन्य आचार्य महाराज प्रस्तुत अशुचित्व भावना के स्थान पर इसी तरह असुख भावना का उपदेश देते हैं, इसलिए उसे भी कहते हैं। श्री जैनेश्वर के धर्म को छोड़कर तीन जगत में भी अन्य सुखकारण—अथवा शुभ-कृत्य या स्थान मृत्यु लोक में या स्वर्ग में कहीं पर भी नहीं है। धर्म, अर्थ और काम के भेद से तीन प्रकार का कार्य जीव को प्रिय है, उसमें धर्म एक ही सुख का कार्य है जबकि अर्थ और काम पुनः असुखकारक हैं। जैसे कि धन, वैर भाव की राजधानी, परिश्रम, झगड़ा और शोकरूपी दुःखों की खान, पापारम्भ का स्थान और पाप की परम जन्मदात्री है। कुल और शील की मर्यादा को विडम्बना कारक स्वजनों के साथ भी विरोधकारक, कुमति का कारक और अनेक अनर्थों का मार्ग है काम-विषयेच्छाएँ भी इच्छा करने मात्र से भी लज्जाकारी, निन्दाकारी, नीरस और परिश्रम से साध्य हैं। प्रारम्भ में कुछ मधुर होते हुए भी अति वीभत्स वह कामभोग निश्चय ही अन्त में दुःखदायी, धर्म गुणों की हानि करने वाला, अनेक भयदायी, अल्पकाल रहने वाला क्रूर और संसार की वृद्धि करने वाला है। इस संसार में नरक सहित तिर्यच समूह में और मनुष्य सहित देवों में जीवों को उपद्रव—दुःख रहित अल्प भी स्थान नहीं है। अनेक प्रकार के दुःखों की व्याकुलता से, पराधीनता से और अत्यन्त मूढ़ता से तिर्यचों में भी सुख जीवन नहीं है, तो फिर नरक में वह सुख कहाँ से हो सकता है ? तथा गर्भ, जन्म, दरिद्रता, रोग, जरा, मरण और वियोग से पराभव होते मनुष्यों में भी अल्पमात्र सुखी जीवन नहीं है। मांस, चरबी, स्नायु, रुधिर, हड्डी, विष्टा, मूत्र, आंतरडे स्वभाव से कलुषित और नौ छिद्रों से अशुचि बहते मनुष्य के शरीर में भी क्या सुखत्व है ? और देवों में भी प्रिय का वियोग, सन्ताप, च्यवन, भय और गर्भ में उत्पत्ति की चिन्ता इत्यादि विविध दुःखों से प्रतिक्षण खेद करता है और ईर्ष्या, विवाद, मद, लोभादि जोरदार भाव शत्रुओं से भी नित्य पीड़ित है ? तो देव को भी किस प्रकार सुख जीवन है ? अर्थात् वह भी दुःखी ही है।

७. आश्रव भावना :—इस प्रकार दुःखरूप संसार में यह जीव सर्व अवस्थाओं में भी जो कुछ भी दुःख को प्राप्त करता है वह उसके बन्धन किए

पापों का पराक्रम है। अनेक द्वार वाला तालाब जैसे अति विशाल जल का संचय करता है, वैसे जीव, जीव हिंसादि से, कषाय से, निरंकुश इन्द्रियों से, मन, वचन और काया से, अविरति से और मिथ्यात्व की वासना से जिस पाप का संचय करता है, उन सब पाप को आश्रय कहते हैं। वह इस प्रकार से—जैसे सर्व ओर से बड़े द्वार बन्द नहीं करने से गन्दे पानी का समूह किसी प्रकार से भी रुकावट के बिना सरोवर में प्रवेश करता है, वैसे नित्य विरति नहीं होने से जीव हिंसा आदि बड़े द्वार से अनेक पाप का समूह इस जीव में भी प्रवेश करता है। उसके बाद उससे पूर्ण भरा हुआ जीव सरोवर में मच्छ आदि के समान अनेक दुःखों का भोक्ता बनता है, इसलिए हे क्षपक मुनि ! उस आश्रय का त्याग कर। आश्रय के वश बना जीव तीव्र संताप को प्राप्त करता है, इसलिए जीव हिंसादि की विरति द्वारा उस द्वार को बन्द कर।

८. संवर भावना :—सर्व जीवों को आत्म तुल्य मानने वाला जीव सर्व आश्रय द्वारों का संवर करने से सरोवर में पानी के समान पाप रूपी पानी से नहीं भरता है। जैसे बन्द किए द्वार वाले श्रेष्ठ तालाब में पानी प्रवेश नहीं करता है वैसे पाप समूह भी आश्रय द्वार को बन्द करने वाले जीव में प्रवेश नहीं है। उनको धन्य है, उनको नमस्कार हो। और उनके साथ में हमेशा सहवास हो ! कि जो पाप के आश्रय द्वार को दूर करके उससे दूर रहते हैं। इस प्रकार सर्व आश्रय द्वारों को अच्छी तरह रोककर हे क्षपक मुनि ! अब नौवीं निर्जरा भावना को भी सम्यग् चिन्तन कर। जैसे कि :—

९. निर्जरा भावना :—श्री जिनेश्वरों ने पर को अति दुष्ट आक्रमण करने वाले दुष्ट भाव में बन्धन किए पूर्व में स्वयं किए कर्मों की मुक्ति उसके भोगने का कथन किया है, तथा अनिकाचित्त समस्त कर्म प्रकृतियों की प्रायः कर अति शुभ अध्यवसाय से शीघ्र निर्जरा होती है। और पूर्वकृत निकाचित्त कर्मों की भी निर्जरा दो, तीन, चार, पाँच अथवा आर्धमास के उपवास आदि विविध तप से होती कथन किया है। रस, रुधिर, मांस, चर्बी आदि धातुएं एवं सर्व अशुभ कर्म तपकर भस्म हो जाए उसे तप कहते हैं। इस प्रकार निरुक्ति (व्याख्या) शास्त्रज्ञों ने कहा है। उसमें भोगने से कर्मों का निर्जरा नारक, तिर्यच आदि की होती है। शुभ भाव से निर्जरा भरत चक्रवर्ती आदि की होती है। और तप से निर्जरा शाम्ब आदि महात्माओं को होती है ऐसा जानना। वह इस तरह से निरन्तर विविध दुःखों से पीड़ित नारकी आदि के कर्मों की निर्जरा केवल देव से कही है। अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त करते श्रेष्ठ भावना वाले भरतादि को भी उस प्रकार की विशिष्ट कर्म निर्जरा सिद्धान्त में कहा

है। और कृष्ण के पूछने से श्री नेमिनाथ प्रभु ने बारह वर्ष के बाद द्वारिका का विनाश होगा ऐसा कहने से सम्यग् संवेग को प्राप्त कर श्री नेमि प्रभु के पास दीक्षा लेकर दुष्कर तपस्या में रक्त बने शाम्ब आदि कुमारों ने तप से भी कर्मों की निर्जरा की है। तथा दूसरा नया पानी का प्रवेश बन्द होने से जलाशय में रहा पुराने पानी जैसे ठन्डी गरमी और वायु के द्वारा सूख जाता है वैसे आश्रव बन्द करने वाला जीव में रहे पूर्व में बन्धन किए पाप भी तप, ज्ञान, ध्यान, अध्ययन आदि अति विशुद्ध क्रिया से निर्जरा को करता है। इस तरह हे सुन्दर मुनि ! तू निर्जरा भावना रूपी श्रेष्ठ नाव द्वारा दुस्तर कर्म रूपी जल में से अपने को शीघ्र पार उतार। फिर सर्व संग का सम्यग् त्यागी और निर्जरा का सेवन करने वाला होकर ऊपर कही नौ भावनाओं से युक्त विरागी बन, तू ऊर्ध्व, तिर्छा और अधोलोक की स्थिति को तथा उसमें रहे सचित्त अचित्त मिश्र सर्व पदार्थों के स्वरूप को भी उपयोग पूर्वक इस तरह विचार कर।

१०. लोक स्वरूप भावना :—इसमें ऊर्ध्व लोक में देव विमान, तिर्छालोक में असंख्याता, द्वीप समुद्र और अधोलोक में, नीचे सात पृथ्वी, इस प्रकार से संक्षेप में लोक स्वभाव स्वरूप है। लोक स्थिति को यथार्थ स्वरूप नहीं जानने वाले जीव स्वकार्य का साधक नहीं होते हैं और उसका सम्यग् ज्ञाता शिव तापस के समान स्वकार्य साधक बनता है उसकी कथा इस प्रकार :—

शिवराजर्षि की कथा

हस्तिनापुर नगर में शिव नामक राजा था। उसने राज्य लक्ष्मी को छोड़कर तापसी दीक्षा लेकर वनवास की चर्या को स्वीकार की। वह निमेष रहित नेत्रों को सूर्य सन्मुख रखकर अतीव तप करते थे, तथा अपने शास्त्रानुसार से शेष क्रिया कलाप को भी करते थे। इस प्रकार तपस्या करते उसे भद्रिक प्रवृत्ति से तथा कर्म के क्षयोपशम से विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ था। फिर उस ज्ञान से लोक को केवल सात द्वीप सागर प्रमाण जानकर, अपने विशिष्ट ज्ञान के विस्तार से वह शिवराजर्षि प्रसन्न हुआ। फिर हस्तिनापुर में तीन मार्ग वाले चौक में अथवा चौराहे में आकर वह लोगों को कहता था कि इस लोक में उत्कृष्ट सात द्वीप समुद्र हैं, उससे भी आगे लोक का अभाव है। जैसे किसी के हाथ में रहे कुवलय के फल को जानते हैं वैसे मैं निर्मल ज्ञान से जानता हूँ।

उस समय श्री महावीर परमात्मा भी उस नगर में पधारे थे और श्री गौतम स्वामी ने भी भिक्षा के लिए प्रवेश किया। फिर लोग मुख से सात द्वीप समुद्र की बात सुनकर आश्चर्य होते श्री गौतम प्रभु के वापिस आकर उचित समय पर प्रभु से पूछा कि—हे नाथ ! इस लोक में द्वीप समुद्र कितने हैं ? प्रभु ने कहा कि असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। इस प्रकार प्रभु से कथित और लोगों के मुख से सुनकर सहसा शिवऋषि जब शंका-काक्षा से चल-चित्त हुआ, तब उसका विभंग ज्ञान उसी समय नष्ट हो गया और अतीव भक्ति समूह से भरे हुए उसने सम्यग्ज्ञान के लिए श्री वीर परमात्मा के पास आकर नमस्कार किया। फिर दो हस्त कमल मस्तक लगाकर नजदीक की भूमि प्रदेश में बैठकर और प्रभु के मुख सन्मुख चक्षु को स्थिर करके उद्यमपूर्वक सेवा करने लगा। तब प्रभु ने देव, तिर्यच और मनुष्य से भरी हुई पर्वदा को और शिवऋषि को भी लोक का स्वरूप और धर्म का रहस्य विस्तारपूर्वक समझाया। इसे सुनकर सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ उसने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और तपस्या करते उस महात्मा ने आठ कर्मों की अति कठोर गाँठ को लीला मात्र में क्षय करके रोग रहित, जन्म रहित, मरण रहित और उप-द्रव रहित अक्षय सुख को प्राप्त किया। इसलिए हे क्षपक मुनि ! जगत के स्वरूप को जानकर वैरागी, तू प्रस्तुत समाधिरूप कार्य की सिद्धि के लिए मन को अल्पमात्र भी चंचल मत करना। हे क्षपक मुनि ! लोक स्वरूप को यथा स्थित जानने वाला प्रमाद का त्याग कर तू अब बोधि की अति दुर्लभता का विचार कर। जैसे कि :—

११. बोधि दुर्लभ भावना :—कर्म की परतन्त्रता के कारण संसाररूपी वन में इधर-उधर भ्रमण करते जीवों को तस योनि भी मिलना दुर्लभ है क्योंकि सूत्र सिद्धान्त में कहा कि जो कभी भी त्रणत्व का पर्याय जन्म प्राप्त नहीं किया ऐसे अनंत जीवात्मा हैं वे बार-बार स्थावरपने में ही उत्पन्न होते हैं और वहीं मर जाते हैं। उनमें से महा मुश्किल से त्रण जीव बनने के बाद भी पंचेन्द्रिय बनना अति दुर्लभ है और उसमें पंचेन्द्रिय के अन्दर भी जलचर, स्थलचर और खेचर योनियों के चक्र में चिरकाल भ्रमण करने से जैसे अगाध जल वाले स्वयंभू रमण समुद्र में आमने सामने किनारे पर डाला हुआ बैलगाड़ी का जुआ और कील का मिलना दुर्लभ है वैसे ही मनुष्य जीवन मिलना भी अति दुर्लभ है और उसमें बोधि ज्ञान की प्राप्ति अति दुर्लभ है। क्योंकि, मनुष्य जीवन में भी अकर्म भूमि और अन्तर द्वीपों में प्रायःकर मुनि विहार का अभाव होने से

बोधि प्राप्त कहाँ से हो सकती है ? कर्म भूमि में भी छह खंडों में से पाँच खंड तो सर्वथा अनार्य हैं क्योंकि मध्य खंड के बाहर धर्म की अयोग्यता है । और जो भरत में छठा खंड श्रेष्ठ है उसमें भी अयोध्या के मध्य से साढ़े पच्चीस देश के बिना शेष अत्यन्त अनार्य है, और जो साढ़े पच्चीस देश प्रमाण आर्य देश हैं वहीं भी साधुओं का विहार किसी काल में किसी प्रदेश में ही होता है । क्योंकि कहा है कि :—

(१) मगध देश में राजगृही, (२) अंग देश में चम्पा, (३) बंग देश में तामलिप्ती, (४) कलिंग में कंचनपुर, (५) काशी देश में वाराणसी, (६) कौशल देश में साकेतपुर, (७) कुरु देश में गजपुर-हस्तिनापुर, (८) कुशांत देश में शौरिपुर, (९) पंचाल देश में कपिलपुर, (१०) जंगला देश में अहिच्छता, (११) सोरठ देश में द्वारामती, (१२) वैदह में मिथिला, (१३) वच्छ देश में कौशाम्बी, (१४) शांडिल्य देश में नंदिपुर, (१५) मलय देश में भद्रिलपुर, (१६) वच्छ देश में वैराट, (१७) अच्छ देश में वरूणा, (१८) दर्शाण में मति-कावती, (१९) चेदी में शुक्तिमती, (२०) सिंधु सैपि में वीतमयपरण (२१) सूरसेन में मथुरा, (२२) भंगी देश में पावापुरी, (२३) वर्ता देश में मासपुरी, (२४) कुणाल में श्रावस्ती, (२५) लाट देश में कोटि वर्षिका और आधा कैकेय देश में श्वेतांबिका नगरी, ये सभी देश आर्य कहे हैं । इस देश में ही श्री जनेश्वर, चक्रवती, बलदेव और वासुदेवों के जन्म होते हैं । इसमें पूर्व दिशा में अंग और मगध देश तक दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में थूण देश तक और उत्तर में कुणाल देश तक आर्य क्षेत्र है । इस क्षेत्र में साधुओं को विहार करना कल्पता है परन्तु इससे बाहर जहाँ ज्ञानादि गुण की वृद्धि न हो वहाँ विचरणा अयोग्य है । और जहाँ ज्ञानादि गुण रत्नों के निधान और वचन रूपी किरणों से मिथ्यात्व रूप अन्धकार को नाश करने वाले मुनिवर्य विचरते नहीं हैं, वहाँ प्रचण्ड पाखंडियों के समूह के वचन रूप प्रचंड वचनों से प्रेरित बोधि, वायु से उड़ो हुई रूई की पूणी के समान स्थिर रहना अति दुर्लभ है । इस तरह हे देवानु प्रिय ! बोधि को अति दुर्लभता को जानकर और भयंकर संसार में चिरकाल तक भ्रमण करने के बाद उसे प्राप्त करके अब तुझे नित्य किसी भी उपाय से अति आदरपूर्वक ऐसा करना चाहिये कि जैसे भाग्यवश से मिली बोधिकी सफलता हो, क्योंकि प्राप्त हुई बोधि को सफल नहीं करते और भविष्य में पुनः इसकी इच्छा करते तू दूसरे बोधि के दातार को किस मूल्य से प्राप्त करेगा ? और मूढ़ पुरुष तो कभी देव के समान सुख को, कभी नरक के समान महादुःख को और कभी त्रिर्यंच आदि के भी दाग देना, खसी करना

इत्यादि विविध दुःख को अपनी आँखों से देखकर और किसी के दुःखों को परोप-देश से जानकर भी अमूल्य बोधि को स्वीकार नहीं करता है। जैसे बड़े नगर में मनुष्य गया हो और धन होते हुए भी मृदता के कारण वहाँ का लाभ नहीं लेता, वैसे ही नर जन्म को प्राप्त कर भी जीव मृदता से बोधि को प्राप्त नहीं करता। तथा सत्य की परीक्षा को नहीं जानने वाला चिन्तामणी को फेंक देने वाले मूढात्मा के समान मूढ़ मनुष्य मुश्किल से मिला उत्तम बोधि को भी शीघ्र छोड़ देता है, और अन्य व्यापारियों को रत्न दे देने के बाद व्यापारी के पुत्र के समान पुनः उन रत्नों को प्राप्त नहीं कर सका, उस तरह बोधिज्ञान से भ्रष्ट हुआ पुनः खोज करने पर भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता है। यह विषय कथा इस प्रकार :—

वणिक पुत्र की कथा

महान् धनाढ्य से पूर्ण भरे हुए एक बड़े नगर में कलाओं में कुशल, उत्तम प्रशान्त वेषधारी, शिवदत्त नाम का सेठ रहता था। उसके पास ज्वर, भूत, पिशाच, और शाकिनी आदि के उपद्रव को नाश करने वाले प्रगट प्रभाव से शोभित विविध रत्न थे। उन रत्नों को वह प्राण के समान अथवा महानिधान समान हमेशा रखता था, अपने पुत्र आदि को भी किसी तरह नहीं दिखाता था। एक समय उस नगर में एक उत्सव में जिसको जितना करोड़ धन था वह धनाढ्य उतनी चन्द्र समान उज्ज्वल ध्वजा (कोटि ध्वजा) अपने-अपने मकान के ऊपर चढ़ाने लगे। उसे देखकर उस सेठ के पुत्रों ने कहा कि—‘हे तात ! रत्नों को बेच दो ! धन नकद करो ! इन रत्नों का क्या काम है ? कोटि ध्वजाओं से अपना धन भी शोभायमान होता है’ इससे रूष्ट हुए सेठ ने कहा कि—अरे ! मेरे सामने फिर ऐसा कभी भी नहीं बोलना किसी तरह भी इन रत्नों को नहीं बेचूंगा। इस तरह पिता को निश्चल जानकर पुत्रों ने मोन धारण किया और विश्वरत मन वाले सेठ भी एक समय कार्यवश अन्य गाँव में गया। फिर एकान्त पिता की अनुपस्थिति जानकर अन्य प्रयोजनों का विचार किए बिना पुत्रों ने दूर देश आए व्यापारियों को वे रत्न बेच दिए। फिर उस बिक्री से प्राप्त हुए धन से अनेक करोड़ संख्या की शंख समान उज्ज्वल ध्वजापटों को घर के ऊपर चढ़ाया। फिर कुछ काल में सेठ आया और घर को देखकर सहसा विस्मय प्राप्त कर पुत्रों से पूछा कि—यह क्या है ? उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा, इससे अति गाढ़ क्रोध वाले सेठ ने अनेक कठोर शब्दों से बहुत समय तक उनका तिरस्कार किया और ‘उन रत्नों को लेकर

मेरे घर में आना' ऐसा कहकर जोर से गले से पकड़कर अपने घर में से निकाल दिया। फिर वे विचारे बहुत काल तक भ्रमण करने में भी दूर देशों में पहुँचे उन व्यापारियों के पास से अपने असली रत्नों को पुनः किस तरह प्राप्त करें ? अथवा किसी तरह देव आदि की सहायता से उनको वे रत्न मिल जाएँ, फिर भी नाश हुआ अत्यन्त दुर्लभ बोधि वह पुनः प्राप्त नहीं होता है।

और जब इस लोक, परलोक में सुख को प्राप्त करता है तब ही श्री जिन कथित धर्म को भाव से स्वीकार करता है। जैसे-जैसे दोष घटते हैं और जैसे-जैसे विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है, वैसे-वैसे जानना कि बोधि लाभ नजदीक है। दुर्गम संसार अटवी में चिरकाल से परिभ्रमण करते भूले हुए जीवों को डण्ट श्री जिन कथित सद्गति का मार्ग अति दुर्लभ है। मनुष्य जीवन मिलने पर भी मोह के उदय से कुमार्ग अनेक होने से और विषय सुख के लोभ से जीवों को मोक्ष मार्ग दुर्लभ है। इस कारण से महामूल्य वाले रत्नों के भंडार की प्राप्ति तुल्य बोधिलाभ प्राप्त कर तुच्छ सुखों के लिए तू उसे ही निष्फल गवाना नहीं। इस प्रकार दुर्लभ भी बोधिलाभ मुश्किल से मिलने पर भी इस संसार में धर्माचार्य की प्राप्ति भी दुर्लभ है, इस कारण से तू इसका भी विचार कर जैसे कि :--

१२. धर्माचार्य दुर्लभ भावना :—जैसे जगत में रत्न का अर्थी और उसके दातार भी थोड़े होते हैं, वैसे शुद्ध धर्म के अर्थी और उसके दाता भी बहुत ही अल्प होते हैं। और यथोक्त साधुता होने पर शास्त्र कथित, कष, छेद आदि से विशुद्ध शुद्ध धर्म को देने वाले हैं वे गुरु सद्गुरु में गिने जाते हैं। इसीलिये ही इन विशिष्ट दृष्टि वाले ज्ञानियों ने प्रमाण से सिद्ध अर्थ वाले को निश्चय से भाव साधु कहा है। इस प्रमाण से अनुमान प्रमाण की पद्धति से अपना कथन सिद्ध करते हैं कि 'शास्त्रोक्त गुण वाले वह साधु होते हैं दूसरे प्रतिज्ञा और गुण वाले नहीं होने से साधु नहीं होते हैं यह हेतु है'। सुवर्ण के समान यह दृष्टान्त है जैसे (१) विष घातक, (२) रसायण, (३) मंगल रूप, (४) विनीत, (५) प्रदक्षिणा वर्त, (६) भारी, (७) अदाह्य, और (८) अकुत्सित ये आठ गुण सुवर्ण में होते हैं वैसे भाव साधु भी (१) मोहरूपी विष का घात करने वाले होते हैं, (२) मोक्ष का उपदेश करने से रसायण है, (३) गुणों से वह मंगल स्वरूप है, (४) मन, वचन, काया के योग से विनीत होते हैं, (५) मार्गानुसारी होने से प्रदक्षिणावर्त होते हैं, (६) गम्भीर होने से गुरु रूप होते हैं, (७) क्रोध रूपी अग्नि से नहीं जलने वाले और, (८) शील वाले होने से सदा पवित्र होते हैं। इस तरह यहाँ सोने के गुण दृष्टान्त से साधु में भी जानने योग्य हैं, क्योंकि

प्रायः कर समान धर्म के अभाव में पदार्थ दृष्टान्त नहीं बनता है। जो कष, छेदन, ताप और ताड़न इन चार क्रियाओं से विशुद्ध परीक्षित होता है वह सुवर्ण ऊपर कहे वह विष धातक, रसायण आदि गुण युक्त होता है वैसे साधु में भी (१) विशुद्ध लेश्या वह कष है, (२) एक ही परमार्थ ध्येय का लक्ष्य वह छेद है, (३) अपकारी प्रति अनुकम्पा वह ताप है और (४) संकट में भी अति निश्चल चित्त वाले वह ताड़ना जानना। जो समग्र गुणों से युक्त हो वह सुवर्ण कहलाता है, वह मिलावट वाला कृत्रिम नहीं है। इस प्रकार साधु भी निर्गुणी केवल नाम से अथवा वेशमात्र से साधु नहीं है। और यदि कृत्रिम सोना सुवर्ण समान वर्ण वाला किया जाए फिर भी दूसरे गुणों से रहित होने से वह किसी तरह सुवर्ण नहीं बनता है। जैसे वर्ण के साथ में अन्य गुणों का समूह होने से जातिवन्त सोना-सोना है, वैसे इन शास्त्रों में जैसे साधु गुण कहे हैं उससे युक्त हो वही साधु है। आर वर्ण के साथ में अन्य गुण नहीं होने से जैसे कृत्रिम सोना-साना नहीं है वैसे साधु गुण से रहित जो भिक्षा के लिए फिरता है वह साधु नहीं है। साधु के निमित्त किया हुआ खाये, छहकाय जीवों का नाश करने वाला, जो घर मकान तैयार करे, करावे और प्रत्यक्ष जलचर जीवों को जो पीता हो उसे साधु कैसे कह सकते हैं ?

इसलिए कण आदि अन्य गुणों को अवश्यमेव यहाँ जानना चाहिए और इन परीक्षाओं द्वारा ही यहाँ साधु को परीक्षा करना चाहिए। इस शास्त्र में जो साधु गुण कहे हैं उन का अत्यन्त सुपारशुद्ध गुणों द्वारा मोक्ष साधक होता है, इस कारण से जो गुण वाला हो वही साधु है। इस प्रकार मोक्ष साधक गुणों का साधन करने से जिसे साधु कहा है, वहाँ धर्मोपदेश देने से गुरु भी हैं। इसलिए अब सब लोगों का सावशेष ज्ञान करवाने के लिए सम्पूर्ण साधु के गुण समूह रूपा रत्नां से शाश्वत शरीर वाल भी गुरु की परीक्षा किस तरह करनी उस कहते हैं। पुनः उस परीक्षा से यदि साधु परलोक के हित से पराङ्मुख हो, केवल इस लोक में ही लक्ष्य बुद्धि वाला आर सद्धर्म की वासना से राहत हो तो उसे परीक्षा करने का अधिकार नहीं है और जो लोक व्यवहार से देव तुल्य गिना जाता हो तथा अति दुःख से छोड़ने वाले माता, पिता को भी छोड़कर, किसी भी पुरुष को गुरु रूप स्वीकार करके श्रुत से विमुख अज्ञानो मातृ गडरिया प्रवाह के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला और धर्म का अर्थी होने पर भी स्व बुद्धि अनुसार कष्टकारी क्रियाओं में रुचि करने वाला, स्वेच्छाचारी उस सन्मार्ग में चलने की इच्छा वाला हो, अथवा दूसरे को चलाता हो, फिर भी इस प्रकार के साधु का भी विषय नहीं। परन्तु निश्चय रूप जिसने संसार की

निर्गुणता को यथार्थ चिन्तन किया हो, इससे जिसको संसार के प्रति वैराग्य हुआ हो और इससे सद्धर्म के उपदेशक गुरु महाराज की खोज करता हो, उस आत्मा का विषय है, उसे परीक्षा का अधिकार है। इसलिए भवभय से डरा हुआ और सद्धर्म में एक बद्ध लक्ष्य वाला भव्यात्मा ने दरिद्र जैसे धनवान को, और समुद्र में डूबते जैसे जहाज की खोज करता है, वैसे इस संसार में परम पद मोक्ष नगर के मार्ग में चलते प्राणियों को परम सार्थवाह समान और सम्यग् ज्ञानादि गुणों से महान् गुरु की बुद्धिपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए, जैसे जगत में हाथी, घोड़े आदि अच्छे लक्षणों से श्रेष्ठ गुण वाले माने जाते हैं, वैसे गुरु भी धर्म में उद्यमशील आदि लक्षणों से शुभ गुरु जानना। इस मनुष्य जन्म में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को साधने वाला होता है, वह सद्गुरु के उपदेश से कष्ट बिना प्राप्त करता है। इस जगत में उत्तम गुरु के योग से कृतार्थ बना हुआ योगी विशिष्ट ज्ञान से पदार्थों का जानकार बनता है। और शाप—बद्धता तथा अनुग्रह करने में चतुर बनता है। यदि तीन भवन रूपी प्रसाद में विस्तार होते अज्ञान रूपी अन्धकार के समूह को नाश करने के लिए समर्थ सम्यग् ज्ञान से चमकते रूपवान, पाप रूपी तितली को क्षय करने में कुशल और वांछित पदार्थ को जानने में तत्पर गुरु रूपी दीपक न हो तो यह बिचारा अन्धा, बहरा जगन कैसा होता—क्या करता ?

जैसे उत्तम वैद्य के वचन से व्याधि सम्पूर्ण नाश होती है, वैसे सद्गुरु के उपदेश से कर्म व्याधि भी नाश होती है, ऐसा जानना। कलिकाल से फँसे हुए जगत में, विविध वांछित फलों को देने में व्यसनी, अखण्ड गुण वाले गुरु महाराज साक्षात् कल्पवृक्ष के समान हैं। संसार समुद्र से तैरने में समर्थ और मोक्ष का कारणभूत सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र्य आदि गुणों से जो महान् है वह गुरु भगवन्त है। आर्य देश, उत्तम कुल, विशिष्ट जाति, सुन्दर रूप आदि गुणों से युक्त, सर्व पापों का त्यागी और उत्तम गुरु ने जिसको गुरु पद पर स्थापना किया है, उस प्रथम गुण युक्त महात्मा को गुरु कहा है। समस्त अनर्थों का भण्डार सुरापान और अशुचि मूलक मांस को यदि सदाकाल त्याग करे, उसका गुरुत्व स्पष्ट है। यदि शिष्य के समान गुरु को भी हल, खेत, गाय, भैंस, घर, स्त्री, पुत्र और विविध वस्तुओं का व्यवहार हो तो उसके गुरुत्व से क्या लाभ ? जो पापारम्भ गृहस्थ शिष्य हो वही यदि गुरु को भी हो तो अहो ! आश्चर्य की बात है कि लीला मात्र में अर्थात् कष्ट बिना संसार समुद्र को उसने पार किया है। यहाँ कटाक्ष वचन होने से वस्तुतः वह डूबा है, ऐसा समझना। यदि प्राणान्त में भी सर्व प्रकार से पर पीड़ा होने की चिन्तन नहीं करे वह जीव

माता के तुल्य और करुणा के एक रस वाले को गुरु कहा है। विषय रूपी मांस में आसक्त हो वह पुरुष अन्य जीवों को ठगने की इच्छा करता है और यदि इस विषय से विरक्त हो वही परमार्थ से गुरु है। नित्य, बाल, ग्याल आदि का यथायोग्य संविभाग देकर वह भी स्वयं किया, करवाया या अनुभोदन किया न हो, सकल दोष रहित, वह भी वैयावच्चादि कारण से ही और राग, द्वेष आदि दोषों से रहित अल्प-अल्प प्राप्त किया भोजन करता है उसे ही सत्य साधु कहते हैं। सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रित जो हमेशा राग का त्यागी है, अर्थात् द्रव्यादि की समता नहीं है, उसे ही सत्य गुरु कहा है। तप से सूखे शरीर वाले भी व्यास आदि महामुनि यदि ब्रह्मचर्य में पराजित हुये हैं, अतः उस घोर ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले ही भाव गुरु हैं। यदि नित्य अति उछलते स्व-पर उभय के कषाय रूपी अग्नि को प्रशम के उपदेश रूप जल से शान्त करने में समर्थ है और क्षमादि दस प्रकार के यति धर्म के निर्मल गुण रूप मणिओं को प्रगट कराने में रोहणाचल पर्वत की भूमि समान हो, उसे श्री जैनेश्वर भगवान् इष्ट गुरु कहा है।

यदि पाँच समिति वाले, तीन गुप्ति वाले, यम नियम में तत्पर महा-सात्विक और आगम रूप अमृत रस से तृप्त है, उसे भाव गुरु कहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषा के विशिष्ट वचन द्वारा शिष्य को पढ़ाने में कुशल जो प्रियभाषी है वह भाव गुरु है। जिस तरह राजा को उसी तरह रंक को भी प्रशम जन्य चित्त वृत्ति से सद्धर्म को कहे, वह भाव प्रधान गुरु है। सुख और दुःख में, तृण और मणि में, तथा कनक और कथिर में भी समान है, अपमान और सन्मान भी समान है तथा मित्र शत्रु में भी समान है, राग, द्वेष रहित धीर है वह गुरु होता है। शरीर और मन के अनेक दुःखों के ताप से दुःखी संसारी जीवों को चन्द्र के समान यदि शीतलकारी हो, उसका गुरुत्व है। जिसका हृदय संवेगमय हो, वचन सम्यक् संवेगमय हो और उसकी क्रिया भी संवेगमय हो, वह तत्त्वतः सद्गुरु है। यदि सावद्य, निरवद्य भाषा को जाने और सावद्य का त्याग करे, निरवद्य वचन भी कारण से ही बोले, उस गुरु का आश्रय करे। क्योंकि सावद्य, निरवद्य वचनों के भेद को जो नहीं जानता, उसे बोलना भी योग्य नहीं है, तो उपदेश देने के लिये तो कहना ही क्या? इसलिए जो हेतुवाद पक्ष में—युक्तिगम्य भावों में हेतु से और शास्त्र ग्राह्य, श्रद्धेय भावों में आगम से समझाने वाला वह तेरा गुरु है। इससे विपरीत उपदेश देने वाला श्री जैन वचन का विराधक है। क्योंकि अपनी मति कल्पना से असंगत भावों का पोषण करने वाला मूढ़ वह दूसरों के लिए 'मृषावादी सर्वज्ञ है।' वह मिथ्या

बुद्धि पैदा करता है। अविधि से पढ़ा हुआ, कुनयो के अल्पमात्र से अभिमान मूढ़ बना हुआ जैनमत को नहीं जानता वह उसे विपरीत कहकर स्व-पर उभय का भी निश्चय रूप दुर्गति में पहुँचाता है।

धर्मोपदेशक गुरु के गुण :—उपदेश देने वाले गुरु के गुण—(१) स्वशास्त्र पर शास्त्र के जानकार, (२) संवेगी, (३) दूसरों को संवेग प्रगट कराने वाले, (४) मध्यास्थ, (५) कृतकरण, (६) ग्राहणा कुशल, (७) जीवों के उपकार करने में रक्त, (८) दृढ़ प्रतिज्ञा वाला, (९) अनुवर्तक, और (१०) बुद्धिमान हो, वह श्री जैन कथित धर्म पर्वदा (सभा) में उपदेश देने के लिए अधिकारी है। उसमें :—

(१) **स्वशास्त्र पर शास्त्र के जानकार :—**परदर्शन के शास्त्रों से जैन धर्म की विशेषता को देखे, जाने, इससे वह श्री जैन धर्म में उत्साह को बढ़ावे, और श्री जैनमत का जानकार होने से समस्त नयों से सूत्रार्थ को समझाए एवं उत्सर्ग अपवाद के विभाग को भी यथास्थित बतलावे। (२) **संवेग :—**परमार्थ सत्य को कहने वाला होता है ऐसी प्रतीति असंवेगी में नहीं होती है, क्योंकि असंवेगी चरण-करण गुणों का त्याग करते अन्त में समस्त व्यवहार को भी छोड़ता है। सुस्थिर गुण वाले संवेग का वचन घी मद्य से सिंचन अग्नि के समान शोभता है। जब गुणहीन का वचन तेल रहित दीपक के समान नहीं शोभते हैं।

(३) **अन्य को संवेगजनक :—**सदाचारी आचार की प्ररूपणा (उपदेश) में निःशंकता से बोल सके, आचार भ्रष्ट चारित्र्य को शुद्ध उपदेश दे, ऐसा एकान्त नहीं है। लाखों जन्म में श्री जैन वचन को मिलने के बाद उसे भाव से छोड़ देने में जिसको दुःख न हो उसे दूसरे दुःखी होते दुःख नहीं होता है। जो यथाशक्य आराधना में उद्यम करता हो, वही दूसरे को संवेग प्रगट करवा सकता है, (४) **मध्यस्थ—**मध्यस्थ रहने वाला, (५) **कृत करण—**दृढ़ अभ्यासी और, (६) **ग्राहण कुशल—**समझाने में चतुर। इन तीनों सामने आये अर्थों का श्रोता का अनुग्रह करे, (७) **परोपकार में रक्त—**गलानि प्राप्त बिना 'बार-बार वाचना दे' इत्यादि द्वारा शिष्यों को सूत्र अर्थ अति स्थिर परिचित दृढ़ करा दे, (८) **दृढ़ प्रतिज्ञा वाला—**अल्प ज्ञान वालों के समक्ष अपवाद का आचरण नहीं करे, परन्तु दृढ़ प्रतिज्ञा वाला हो, (९) **अनुवर्तक—**अलग-अलग क्षयोपशम वाले शिष्यों को यथा योग्य उपदेशादि द्वारा सन्मार्ग में चढ़ाये और (१०) **मतिमान्—**अवश्यमेव समस्त उत्सर्ग अपवाद के विषयों को और विविध मत के उपदेश योग्य, परिणत, अपरिणत या अति-परिणत आदि शिष्यों को जाने। इस प्रकार उपदेश देने योग्यता वाले जानना।

और जो पृथ्वी के समान सर्व सहन करने वाला हो, मेरु के समान अचल धर्म में स्थिर और चन्द्र के समान सौम्य लेश्या वाला हो उस धर्म गुरु की ज्ञानियों ने प्रशंसा की है। देश काल का जानकार, विविध हेतुओं का तथा कारणों के भेद का जानकार और संग्रह तथा उपग्रह सहायता करने में जो कुशल हो उस धर्म गुरु की ज्ञानियों ने प्रशंसा की है। लौकिक, वैदिक और लोकोत्तर, अन्यान्य शास्त्रों में जो लब्धार्थ—स्वयं रहस्य का जानकार हो तथा गृहितार्थ अर्थात् दूसरों से पूछ कर अर्थ का निर्णय करने वाला हो, उस धर्म गुरु की ज्ञानी भी प्रशंसा करते हैं। अनेक भवों में परिभ्रमण करते जीव उस क्रियाओं में, कलाओं में और अन्य धर्माचरणों में उस विषय का जानकार हजारों धर्म गुरुओं को प्राप्त करते हैं परन्तु श्री जैन कथित निर्ग्रन्थ प्रवचन में जैन शासन से संसार से मुक्त होने के मार्ग को जानने वाले जो धर्म गुरु हैं वह यहाँ मिलना दुर्लभ है। जैसे एक दीपक से सैंकड़ों दीपक प्रगट होते हैं। और दीपक प्रति प्रदेश को प्रकाशमय बनाता है वैसे दीपक समान धर्म गुरु स्वयं को और घर को प्रकाशमय करते हैं। धर्म को सम्यक् जानकार, धर्म परायण, धर्म को करने वाला और जीवों को धर्म शास्त्र के अर्थ को बताने वाले को सुगुरु कहते हैं। चाणक्य नीति, पंचतन्त्र और कामंदक नामक नीति शास्त्र आदि राज्य नीतियों की व्याख्या करने गुरु निश्चय जीवों का हित करने वाले नहीं हैं। तथा वस्तुओं का भावी तेजी मंदी बताने वाले अर्थ काण्ड नामक ग्रन्थ आदि, ज्योतिष के ग्रन्थ तथा मनुष्य, घोड़े, हाथी आदि के वैद्यक शास्त्र, और धनुर्वेद, धातुवेद आदि पापकारी उपदेश करने वाले गुरु जीवों के घातक हैं तथा बावड़ी, कुएँ, तालाब आदि का उपदेश सद्गुरु नहीं देता है क्योंकि—असंख्यात् जीवों का विनाश करके अल्प की भक्ति नहीं होती है। इसीलिए ही जीवों की अनुकम्पा वाला हो वह सुगुरु निश्चय हल, गाड़ी, जहाज, संग्राम अथवा गोधन आदि के विषय में उपदेश भी कैसे दे सकता है ? अतः कष, छेद आदि से विशुद्ध धर्म गुरु रूपी सुवर्ण के दातार गुरु की ही यहाँ इस भावना में दुर्लभता कही है।

इसलिये हे भद्रक मुनि ! भयंकर संसार की दीवार तोड़ने के लिए हाथी की सेना समान समर्थ बारह भावनाओं को संवेग के उत्कर्षपूर्वक चित्त से चिन्तन कर। दृढ़ प्रतिज्ञा वाला साधु जैसे-जैसे वैराग्य से वासित होता है वैसे-वैसे सूर्य से अन्धकार का नाश हो उसी तरह कर्म अथवा दुःख क्षय होता है। प्रति समय पूर्ण सद्भावपूर्वक भावनाओं के चिन्तन से भव्यात्मा के चिर संचित कर्म अतितीव्र अग्नि के संगम से मोम पिघलता है वैसे पिघल जाते हैं।

नये कर्मों का बन्धन नहीं करता है और यथार्थ भावना में तत्पर जीव को फूट के उत्कट गन्ध जैसे मीठा छेदन भेदन हो जाता है वैसे पुराने कर्म छेदन हो जाते हैं। अखण्ड प्रचण्ड सूर्य के किरणों से ग्रासित बर्फ के समान शुभ भावनाओं से अशुभ कर्मों का समूह क्षय हो जाता है। इसलिए ध्यानरूपी योग की निद्रा से आधी बन्द नेत्र वाला संसार से डरा हुआ, तू है सुन्दर मुनि ! अनासक्त भाव से बारह भावनाओं का चिन्तन कर। इस तरह बारह प्रकार की भावनाओं के समूह नामक यह चौदहवाँ अन्तर द्वार कहा है अब पन्द्रहवाँ शील पालन नामक अन्तर द्वार कहता हूँ।

पन्द्रहवाँ शील पालन द्वार :—निश्चयनय से शील यही आत्मा का स्वभाव है। और व्यवहार नय से आश्रव के द्वार को रोककर चारित्र्य का पालन करना उसे शील कहते हैं। अथवा शील मन की समाधि है। पुरुष स्वभाव दो प्रकार का है प्रशस्त और अप्रशस्त। उसमें जो राग, द्वेष आदि से कलुषित है वह अप्रशस्त है और चित्त की सरलता, राग, द्वेष की मन्दता और धर्म के परिणाम वाला है वह प्रशस्त स्वभाव है। यहाँ प्रशस्त स्वभाव का वर्णन किया है। इस प्रकार अति प्रशस्त स्वभाव रूपी शील जिसका अखण्ड है, वह मूल गुणों की आधार शिला है, इससे दूसरे भी गुण समूह को धारण करता है। चारित्र्य दो शब्दों से बना है, चय + रिक्त = चारित्र्य चय अर्थात् कर्म का संचय और रिक्त अर्थात् अभाव है अर्थात् जहाँ कर्म संचय का अभाव हो उसे चारित्र्य कहते हैं। और वह चारित्र्य शास्त्रोक्त विधि निषेध के अनुसार अनुष्ठान है और वह आश्रव की विरति से होता है। क्योंकि चारित्र्य पालन रूप शील की ही वृद्धि के लिए आश्रव का निरोध करने में समर्थ यह उपदेश ज्ञानियों ने दिया है। जैसे कि—मिर्जरा का अर्थी सदा इन्द्रियों का दमन करके और कषाय रूप सर्व सैन्य को भी नष्ट करके आश्रव द्वार को रोकने के लिए प्रयत्न करता है। क्योंकि जैसे रोग से पीड़ित मनुष्य को अथ्य-अहित आहार छोड़ने से रोग का नाश होता है वैसे इन्द्रिय और कषायों को जीतने से आश्रव का नाश होता ही है। इसीलिए ही समस्त जीवों के प्रति मुनि स्वआत्म तुल्य वर्तन करते हैं। सद्गति की प्राप्ति के लिए इससे अन्य उपाय ही नहीं है। अतः ज्ञान से, ध्यान से, और तप के बल से, बलात्कार से भी सर्व आश्रव द्वार को रोककर निर्मल शील को धारण करना चाहिये। और मन समाधि रूप शील को भी मोक्ष साधक गुणों के मूल कारण रूप जानना। सूत्र में कहा है कि जिसको समाधि है उसे तप है और जिसे तप है उसे सद्गति सुलभ है। जो पुरुष असमाधि वाला है उसका तप भी दुर्लभ है। एवं जो कारण नाम से साधक

रूप, मन, वचन और काया इसे तीन योग कहा है वह भी समाधि वाले को गुणकारी होता है और असमाधि वालों को दोष कारक बनता है। अतः संसार वास से थके हुए वैरागी धन्य पुरुष दुःख का हेतु भूत स्त्री की आसक्ति रूप बन्धन को तोड़कर श्रमण बने हैं। धन्य पुरुष आत्महित सुनते हैं, अति धन्य सुन कर आचरण करते हैं और उससे अति धन्य सद्गति का मार्गभूत गुण के समूह रूप शील में प्रेम करते हैं।

जैसे दावानल तृण समूह को जलाता है वैसे सम्यग् ज्ञान रूपी वायु की प्रेरणा से और शील रूपी महाज्वालाओं वाला विकलिष्ट उग्र तप रूपी अग्नि संसार के मूल बीज को जलाता है। निर्मलशील को पालन करने वालों की आत्मा इस लोक और परलोक में भी 'यही परमात्मा है' इस प्रकार लोगों से गौरव को प्राप्त करता है। सत्य प्रतिज्ञा में तत्पर शील के बल वाला आत्मा उत्साह पूर्वक लीला मात्र से अत्यन्त महा भयंकर दुःखों को भी पार हो जाता है। शील रूपी अलंकार से शोभते आत्मा को उसी समय मर जाना अच्छा है परन्तु शील अलंकार से भ्रष्ट हुए का लम्बा जीवन भी श्रेष्ठ नहीं है। निर्मल-शील वाले शील के लिए बार-बार शत्रुओं के घरों में भिक्षा के लिए श्रमण करता अच्छा है किन्तु विशाल शील को मलिन करने वाला चक्रवर्ती जीवन भी अच्छा नहीं है। परन्तु बड़े पर्वत के ऊँचे शिखर से कहीं विषम खीन अन्दर अति कठोर पत्थर में गिरकर अपने शरीर के सौ टुकड़े करना श्रेष्ठ है और अति कुपित हुए बड़ी फूँकार वाला भयंकर और खून के समान लाल नेत्र वाला, जिसके सामने देख भी नहीं सकते, ऐसे सर्प के तीक्ष्ण दाढ़ों वाले मुख में हाथ डालना उत्तम है, तथा आकाश तक पहुँची हुई हो देखना भी असम्भव हो, अनेक ज्वालाओं के समूह से जलती प्रलय कारण प्रचण्ड अग्नि कुण्ड में अपना स्वाहा करना अच्छा है और मदोन्मत्त हाथियों के गण्ड स्थल चीरने में एक अभिमानी दुष्ट सिंह के अति तीक्ष्ण मजबूत दाढ़ों से कठिन मुख में प्रवेश करना अच्छा है परन्तु हे वत्स ! तुझे संसार के सुख के लिए अति दीर्घकाल तक परिपालन किया निर्मलशील रत्न का त्याग करना अच्छा नहीं है। शील अलंकार से शोभता निर्धन भी अवश्यमेव लोकपूज्य बनता है, किन्तु धनवान होने पर भी दुःशील स्वजनों में पूज्यनीय नहीं बनता है। निर्मलशील को पालन करने वालों का जीवन चिरकालिक हो परन्तु पापा सक्त जीवों के चिरकाल जीने से कोई भी फल नहीं है इसलिए धर्म गुणों की खान समान, हे भाई क्षपक मुनि ! आराधना में स्थिर मन वाले तू गरल के समान दुराचारी जीवन खतम कर मनीहर चन्द्र के किरण समान निर्मल-निष्कलंक और संसार की परम्परा

के अंकुर को नाश करने वाला, देव दानव के समूह के चित्त में चमत्कार करने वाला मोक्ष नगर की स्थापना करने में खूटे समान जीवों की पीड़ा के त्याग रूप दुर्गति मार्ग की अवज्ञा कारक, पाप प्रवृत्ति में अनादर करने वाला, और परमपद रूपी ललना के साथ लीला करने वाला निर्मलशील का परिपालन कर। इस तरह पन्द्रवाँ शील परिपालन द्वारा कहा है। अब इन्द्रिय दमन नामक सोलहवाँ अन्तर द्वार कुछ अल्प मात्र कहता हूँ। वह इस प्रकार :—

सोलहवाँ इन्द्रिय दमन द्वार :—जीव अर्थात् 'इन्द्र' और 'आ' लगाने से इन्द्रियाँ शब्द बना है। और जीव ज्ञानादि गुण रूपी लक्ष्मी का क्रीड़ा करने का महल सदृश है और इन्द्रिय निश्चय उस महल के झरोखे आदि अनेक द्वार समान है, परन्तु उस इन्द्रियों में अपने-अपने शब्दादि विषयों की विरति रूप दरवाजों के अभाव में प्रवेश करते अनेक कुविकल्पों की कल्पना रूप पापरज के समूह से चन्द्र किरण समान उज्ज्वल भी ज्ञानादि गुण लक्ष्मी अत्यन्त मलीन होता है। अथवा इन्द्रिय रूपी द्वार बन्द नहीं होने से जीव रूपी प्रसाद में प्रवेश करके दुष्ट विषय रूपी प्रचण्ड लूटेरे ज्ञानादि लक्ष्मी को लूट रहे हैं। इस प्रकार सम्यक् समझकर, हे धीर ! उस ज्ञानादि के संरक्षण के लिए प्रयत्न करने वाले तुम सर्व इन्द्रिय रूपी द्वार को अच्छी तरह बन्द कर रख। स्वशास्त्र-परशास्त्र के ज्ञान के अभ्यास से महान पण्डित पुरुष भी उसके वेग को नहीं रोकने बलवान इन्द्रिय के समूह से पराभव होते हैं। व्रतों को धारण करो अथवा तपस्या करो, गुरु का शरण स्वीकार करो, अथवा सूत्र अर्थ का स्मरण करो, किन्तु इन्द्रिय दमन से रहित जीव को वह सब छिलके कूटने के समान निष्फल हैं। मद से प्रचण्ड गण्ड स्थल वाले हाथियों की घटा को नाश करने में एक समर्थ जीव यदि इन्द्रिय का विजेता नहीं है तो वह प्रथम नम्बर का कायर ही है। वहाँ तक ही बड़प्पन है, वहाँ तक ही कीर्ति तीन भवन के भूषण रूप है और पुरुष की प्रतिष्ठा भी वहाँ तक है कि जब तक इन्द्रिय उसके वश में है। और यदि वही पुरुष उन इन्द्रियों के वश में है तो कुल में, यश में, धर्म में, संघ में, माता पितादि गुरुजनों में तथा मित्र वर्ग में वह अवश्य काजल फेरता है अर्थात् कलंकित करता है। दीनता, अनादर और सर्व लोगों का शंका पात्र वह बनता है। अरे ! वह क्या-क्या अनिष्ट है कि इन्द्रियों के वश पड़े उसे प्राप्त न हो ? अर्थात् विषयासक्त सर्व अनिष्टों को प्राप्त करता है। मस्तक से पर्वत को भी तोड़ सकते हैं, ज्वालाओं से विकराल अग्नि को भी पी सकते हैं और तलवार की धार पर

भी चल सकते हैं, परन्तु इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश करना वह दुष्कर है। अरे ! हमेशा विषय रूपी जंगल को प्राप्त करते—अर्थात् विषय में रमण करते निरंकुश के समान दुर्दान्त इन्द्रिय रूपी ऐरावत हाथी जीव के शील रूप वन को तोड़ते-फोड़ते परिभ्रमण करता है। जो तत्त्व का उपदेश देते हैं, तपस्या भी करते हैं और संजम गुणों को भी पालन करते हैं वे भी जैसे नपुंसक युद्ध में हारते हैं वैसे इन्द्रियों को जीतने में थक जाते हैं। शक्र जो हजार आँखों वाला हुआ, कृष्ण जो गोपियों का हास्य पात्र बने, पूज्य ब्रह्मा भी जो चतुर्मुख बने, काम भी जलकर भस्म हुआ, और महादेव भी जो अर्ध स्त्री शरीर धारी बने वे सारे दुर्जन इन्द्रिय रूपी महाराजा का पराक्रम है। जीव पाँच के वश होने से समग्र जीव लोक के वश होता है और पाँचों को जय करने से समस्त तीन लोक को जीतता है। यदि इस जन्म में इन्द्रिय दमन नहीं किया तो अन्य धर्मों से क्या है ? और यदि सम्यक् रूप उन इन्द्रिय का दमन किया तो फिर शेष अन्य धर्मों से क्या !

अहो ! इन्द्रिय का समूह अति बलवान है, क्योंकि अर्थी और शास्त्र प्रसिद्ध दमन करने के उपायों को जानते हुए भी पुरुष उसे कर नहीं सकते हैं। मैं मानता हूँ कि श्री जैनेश्वर और जैनमत में रहने वाले आराधकों को छोड़कर अन्य कोई तीन लोक में समर्थ बलवान इन्द्रियों की जीती नहीं है, जीतता नहीं है और जीतेगा भी नहीं। इस जगत में जो इन्द्रियों का विजयी है, वही शूरवीर है, वही पण्डित है, वही अवश्य गुणी है और वही कुल दीपक है। जगत में जिसका प्रयोजन—ध्येय इन्द्रिय दमन का है, उसके गुण, गुण हैं और यश यशरूप हैं, उसे सुख हथेली में रहा है, उसे समाधि है और वही मतिमान है। देवों की श्रेणी से पूजित चरण-कमल वाला इन्द्र जो स्वर्ग में आनन्द करता है, फणा के मणि की कान्ति से अन्धकार को नाश करने वाला फणीन्द्र नागराज भी जो पाताल में आनन्द करता है अथवा शत्रु समूह को नाश करने चक्रवर्ती के हाथ में चक्र झूलता है, वह सब जलती हुई इन्द्रियों को अंश मात्र दमन करने की लीला का फल है। उसको नमस्कार करो, उसकी प्रशंसा करो, उसकी सेवा करो और उसका सहायक बनो या शरण स्वीकार करो कि जिसने दुर्बल इन्द्रिय रूपी गजेन्द्र को अपने आधीन किया है। वही सद्गुरु और सुदेव है, इसलिए उसे ही नमस्कार करो। उसने जगत को शोभायमान किया है कि विषय रूपी पवन से प्रेरित होते हुए भी जिसका इन्द्रिय रूपी अग्नि नहीं जलती है। उसने जन्म को पुण्य से प्राप्त किया है और जीवन भी उसका सफल है कि जिसने इन दुष्ट इन्द्रियों के बलवान विकार को रोका है। इसलिए हे देवानु-

प्रिय ! तुझे हितकर कहता हूँ कि तू भी इस प्रकार का विशिष्ट वर्तन कर कि जिसे इन्द्रिय आत्मारोगी—निर्विकारी बने। इन्द्रिय जन्य सुख वह सुख की भ्रान्ति है, परन्तु सुख नहीं है, वह सुख भ्रान्ति भी अवश्य कर्मों की वृद्धि के लिए है। और उन कर्मों की वृद्धि भी एक दुःख का ही कारण है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से उत्तम शील और गुण रूपी दो पंख के बिना का जीव हो जाता है और वह कटे पंख वाले पक्षी के समान संसार रूपी भयंकर गुफा में गिरता है। जैसे मधु लगे तलवार धार को चाटते पुरुष सुख मानता है, वैसे भयंकर भी इन्द्रियों के विषय सुख का अनुभव करते जीव सुख मानता है। अच्छी तरह खोज करने पर भी जैसे केले के पेड़ में कहीं सार रूप काष्ट नहीं मिलता है, वैसे इन्द्रिय विषयों में अच्छी तरह खोज करने पर भी सुख नहीं मिलता है। जैसे तेज गरमी के ताप से घबराकर शीघ्र भागकर पुरुष तुच्छ वृक्ष के नीचे अल्प छाया का सुख मानता है, वैसे ही इन्द्रिय जन्य सुख भी जानना। अरे। चिरकाल तक पोषण करने पर भी इन्द्रिय समूह किस तरह आत्मीय हो सकती है ? क्योंकि विषयों के आसक्त होते वह शत्रु से भी अधिक दुष्ट बन जाती है। मोह से मूढ़ बना हुआ जो जीव इन्द्रियों के वश होता है उसकी आत्मा ही उसे अति दुःख देने वाली शत्रु है। श्रोत्रेन्द्रिय से भद्रा, चक्षु के राग से समर धीर राजा, घ्राणेन्द्रिय से राजपुत्र, रसना से सोदास पराभव को प्राप्त किया तथा स्पर्शनेन्द्रिय से शतवार नगरवासी पुरुष का नाश हुआ। इस तरह वे एक-एक इन्द्रिय से भी नाश होता है तो जो पाँचों में आसक्त है उसका क्या कहना ? इन पाँचों का भावार्थ संक्षेप से क्रमशः कहता हूँ। उसमें श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी यह दृष्टान्त जानना।

श्रोत्रेन्द्रिय की आसक्ति का दृष्टान्त

वसन्तपुर नगर में अत्यन्त सुन्दर स्वर वाला और अत्यन्त कुरूपी, अति प्रसिद्ध पुष्पशाल नाम का संगीतकार था। उसी नगर में एक सार्थवाह रहता था। वह परदेश गया था और भद्रा नाम की उसकी पत्नी घर व्यवहार को सार सम्भाल लेती थी, उसने एकदा किसी भी कारण से अपनी दासियों को बाजार में भेजा और वे बहुत लोगों के समक्ष किन्नर समान स्वर से गाते पुष्प शक्ति के गीत की ध्वनि सुनकर दीवार में चित्र हो वैसे स्थिर खड़ी रह गयीं। फिर लम्बे काल तक खड़ी रह कर अपने घर आई अतः क्रोधित होकर भद्रा ने कठोर वचन से उन्हें उपालम्भ दिया। तब उन्होंने कहा कि—स्वामिनी ! आप रोष मत करो। सुनो ! वहाँ हमने ऐसा गीत सुना कि जो पशु का भी

मन हरण करता है तो अन्य का क्या कहना ? भद्रा ने कहा कि—किस तरह ? दासियों ने सर्व निवेदन किया । तब भद्रा ने विचार किया कि—उस महाभाग का दर्शन किस तरह करूँ ?

फिर एक दिन देव मन्दिर की यात्रा प्रारम्भ हुई, इससे सभी लोग जाते हैं और दर्शन करके फिर वापस आते हैं । दासियों से युक्त भद्रा भी सूर्य उदय होते वहाँ गई, तब गाकर अति थका हुआ उस देव मन्दिर के नजदीक में सोये हुए पुष्पशाल को दासियों ने देखा और भद्रा को कहा कि यह वह पुष्पशाल है । फिर चपटी नाक वाला, बीभत्स होठ वाला, बड़े दांत वाला और छोटी छाती वाला उसे देखा, 'हूँ' ऐसे रूप वाले से गीत को भी देख लिया, इस तरह बोलती भद्रा ने अत्यंत उल्टा मुख से तिरस्कारपूर्वक थूका और उठे हुए पुष्पशाल को दूसरे नीच लोगों ने सब कही । इसे सुनकर क्रोधाग्नि से जलते सर्व अंग वाला वह पुष्पशाल हा धिक् ! निर्भागिणी उस वणिक की पत्नी भी क्या मुझे देखकर हंसती है ? इस तरह अतुल रोष के आर्धान अपना सर्व कार्य को भूल गया और उसका अपकार करने की इच्छा से भद्रा के घर पहुँचा, फिर सुन्दर स्वर से अत्यन्त आदरपूर्वक गये पति वाली स्त्री का वृत्तान्त इस तरह गाने लगा जैसे कि—सार्धवाह बार-बार तेरा वृत्तान्त को पूछता है, हमेशा पत्र भेजता है, तेरा नाम सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होता है तेरे दर्शन के लिए उत्सुक हुआ वह आ रहा है और घर में प्रवेश करता है इत्यादि उसने उसके सामने इस तरह गाया कि जिससे उसने सर्व सत्य माना और अपना पति आ रहा है, ऐसा समझकर एकदम खड़ी होकर होश भूल गई, अतः ख्याल नहीं रहने से आकाश तल से स्वयं नीचे गिर पड़ी । अति ऊँचे स्थान से गिर जाने से मार लगने से जीव निकल गया । श्री जैनेश्वर के स्नान महोत्सव के समय में जैसे इन्द्र काया के पाँच रूप करता है वैसे उसने पंचत्व प्राप्त किया अर्थात् मर गई । कुछ समय के बाद उसका पति आया और पत्नी का सारा वृत्तान्त सुनकर पुष्पशाल की अत्यन्त शत्रुता को जानकर उसे बुलाया और अति उत्तम भोजन द्वारा गले तक खिलाकर कहा कि हे भद्र ! गीत गाते महल ऊपर चढ़ । इससे अत्यन्त दृढ़ गीत के अहंकार से सर्व शक्तिपूर्वक गाता हुआ वह महल के ऊपर चढ़ा । फिर गाने के परिश्रम से बढ़ते वेग वाले उच्च श्वास से मस्तक की नस फट जाने से विचारा वह मर गया । इस तरह श्रोत्रेन्द्रिय का महादोष कहा है । अब चक्षु इन्द्रिय के दोष में दृष्टांत देते हैं । वह इस प्रकार :—

चक्षु इन्द्रिय का दृष्टान्त

पद्म खण्ड नगर में समर धीर नामक राजा राज्य लक्ष्मी को भोग रहा था। समस्त नीति का निधान वह राजा पर स्त्री, सदा माता समान, परधन तृण समान और परकार्य को अपने कार्य के सदृश गिनता था। शरण आये का रक्षण, दुःखी प्राणियों का उद्धार आदि धर्म कार्यों में प्रवृत्ति करते अपने जीवन का भी मूल्य नहीं समझा था। एक समय सुखासन में बैठे उसे द्वारपाल ने धीरे से आकर आदरपूर्वक नमस्कार करते विनती की कि—हे देव ! आपके पाद पंकज के दर्शनार्थ शिव नामक सार्थपति बाहर खड़ा है। 'वह यहाँ आये या जाये ?' राजा ने कहा कि आने दो। फिर नमस्कार करते हुए प्रवेश करके उचित आसन पर बैठा और इस प्रकार से कहने लगा कि—हे देव ! मेरी विशाल नेत्र वाली रूप से रंभा को भी लज्जायुक्त करती, सुन्दर यौवन प्राप्त करने वाली, पूनम के चन्द्र समान मुख वाली, उन्मादिनी नाम की पुत्री है। वह स्त्रियों में रत्नभूत है, और राजा होने से आप रत्नों के नाथ हो, इसलिए हे देव ! यदि योग्य लगे तो उसे स्वीकार करो। हे देव ! आपको दिखाये बिना कन्या रत्न को यदि दूसरे को दूँ तो मेरी स्वामी भक्ति किस तरह गिनी जाये ? अतः आपको निवेदन करता हूँ, यद्यपि माता, पिता तो अत्यन्त निर्गुणो भी अपने सन्तानों की प्रशंसा करते हैं, वह सत्य है, परन्तु उसकी सुन्दरता कोई अलग ही है। जन्म समय में भी इसने बिजली के प्रकाश के समान अपने शरीर से सूतिका घर को सारा प्रकाशित किया था और ग्रह भी इसके दर्शन करने के लिये हैं। वैसे स्पष्ट ऊँचे स्थान पर थे। इस कारण से हे देव ! आप से अन्य उसका पति न हो। इस तरह जानकर अत्यन्त विस्मित मन वाले राजा ने उसे देखने के लिए विश्वासी मनुष्यों को भेजा।

उनको साथ लेकर सार्थवाह घर आया, घर में उसे देखा और आश्चर्य-भूत उसके रूप से आकर्षित हुए। फिर मदोन्मत्त मूर्छित अथवा हृदय से शून्य बने हों, इस तरह एक क्षण व्यतीत करके एकान्त में बैठकर वे विचार करने लगे कि—अप्सरा को जीतने वाला कुछ आश्चर्यकारी इसका उत्तम रूप है, ऐसी अंग की शोभा है कि जिससे हम बड़ी उम्र वाले भी लोग इस तरह मुरझा गए हैं। हमारे जैसे बड़ी उम्र वाले भी यदि इसके दर्शन मात्र से भी ऐसी अवस्था हो गई है तो नवयौवन से मनोहर अंकुश बिना का सकल सम्पत्ति का स्वामी और विषय आसक्त राजा इसके वश से पराधीन कैसे नहीं बनेगा ? और राजा परवश होते राज्य अति तितर-बितर हो जायेगा और राज्य की

अव्यवस्था होने से राजा का राजत्व खत्म हो जाएगा। इस प्रकार हम लोग जानते हुये भी अपने हाथ से, राजा से इस कन्या का विवाह कर समस्त भावी में होने वाले दोषों का कारण हम लोग क्यों बनें ? इसलिए भी दोष बताकर राजा को इससे बचा लें। सबों ने यह बात स्वीकार की और राजा के पास गये। फिर पृथ्वी तल को स्पर्श करते मस्तक द्वारा सर्व आदरपूर्वक राजा को नमस्कार करके, मस्तक को नमाकर, हाथ जोड़कर वे कहने लगे कि—हे देव ! रूपादि सर्व गुणों से कन्या सुशोभित है, केवल वह पति का वध करने वाली एक बड़ी दुष्ट लक्षण वाली है। इसलिए राजा ने उसे छोड़ दी। फिर उसके पिता ने उस राजा के सेनापति को उस कन्या को दी और उससे विवाह किया। फिर उसके रूप से, यौवन से और सौभाग्य से आकर्षित हृदय वाला सेनापति अपनी पत्नी में ही अत्यन्त वश हुआ।

कुछ समय व्यतीत होते एक दिन राजा सुभट के समूह से घिरा हुआ हाथी पर बैठकर, सुन्दर चमर के समूह से ढुलाते और ऊपर श्वेत छत्र वाले उस सेनापति के साथ घूमने चला, उस समय उस सेनापति की पत्नी ने विचार किया कि—'मैं अपलक्षणी हूँ।' इस प्रकार मानकर राजा ने मुझे क्यों छोड़ दी ? अतः मैं वापिस आते उसका दर्शन करूँ। ऐसा विचार कर निर्मल अति मूल्यवान् रेशमी वस्त्रों को धारण करके राजा के दर्शन के लिए मकान पर चढ़कर खड़ी रही। राजा भी बाहर श्रेष्ठ घोड़े, हाथी और रथ से क्रीड़ा करके अपने महल में जाने की इच्छा से वापिस आया। और आते हुए राजा की विकाशी कमल पत्र के समान दीर्घ दृष्टि किसी तरह खड़ी हुई उसके ऊपर गिरी। इससे उसमें एक मन वाला बना राजा क्या यह रति है ? क्या रम्भा है ? अथवा क्या पाताल कन्या है ? या क्या तेजस्वी लक्ष्मी है ? इस प्रकार चिन्तन करते एक क्षण खड़ा रहकर जैसे दुष्ट अश्व की लगाम से काबू करता है वैसे चक्षु को लज्जा रूपी लगाम से अच्छी तरह घुमाकर महा मुश्किल से अपने महल में पहुँचा। और सभी मन्त्री सामंत तथा सुभट वर्ग को अपने-अपने स्थान पर भेजकर, अन्य सर्व प्रवृत्ति छोड़कर मुसीबत से शय्या पर बैठा। फिर उसके अंग और उपांग की सुन्दरता देखने से मन से व्याकुलित बने उस राजा का अंग काम से अतीव पीड़ित होने लगा। इससे कमल समान नेत्रवाली उसे ही सर्वत्र देखते तन्मय चित्त वाला राजा चित्र के समान स्थिर हो गया। और उसी समय पर सेनापति आया, तब राजा ने पूछा कि—उस समय तेरे घर ऊपर कौन देवी थी ? उसने कहा कि—देव ! यह वही थी कि जिस सार्थवाह की कन्या को आप ने छोड़ दी थी, अब वह मेरी पत्नी

होने से पराई है। अरे ! निर्दोष भी उस स्त्री को दोषित बताने वाले पापी वे अधिकारी मेरे पुरुषों ने मुझे क्या ठगा। इस प्रकार अति चिन्तातुर राजा लम्बा श्वास लेकर दुःसह कामाग्नि से कठोर सन्ताप हुआ। राजा के दुःख का रहस्य जानकर सेनापति ने समय देखकर कहा कि—हे स्वामी ! कृपा करो, उस मेरी पत्नी को आप स्वीकार करो। क्योंकि सेवकों का प्राण भी अवश्य स्वामी के आधीन होते हैं। तो फिर बाह्य पदार्थ धन, परिजन, मकान आदि के विस्तार को क्या कहना।

यह सुनकर राजा हृदय में विचार करने लगा कि—एक ओर कामाग्नि अत्यन्त दुःसह है दूसरी ओर कुल का कलंक भी अति महान है। यावच्चन्द्र काले अपयश की स्पर्शनारूप और नीति के अत्यन्त घात रूप पर स्त्री सेवन मेरे लिए मरणान्त में भी योग्य नहीं है। ऐसा निश्चय करके राजा ने सेनापति से कहा कि—हे भद्र। ऐसा अकार्य पुनः कभी भी मुझे नहीं कहना। नरक रूप नगर का एक द्वार और निर्मल गुण मन्दिर में मसि का काला कलंक पर दारा का भोग नीति का पालन करने वाले से कैसे हो सकता है ? तब सेनापति ने कहा कि—हे देव ! यदि परदारा होने से नहीं स्वीकार करते, तो आप के महल में यह नाचने वाली वेश्या रूप में दूँ। उसके बाद वेश्या मानकर भोग करने से आपको पर स्त्री का दोष भी नहीं लगेगा। इसलिए इस विषय में मुझे आज्ञा दीजिए। राजा ने कहा कि—चाहे कुछ भी हो मैं मरणान्त में भी ऐसा अकार्य नहीं करूँगा। अतः हे सेनापति ! अधिक बोलने को बन्द करो। फिर नमस्कार करके सेनापति अपने घर गया। राजा भी उसे देखने के अनुराग रूप अग्नि से शरीर अत्यन्त जलते राजकार्यों को छोड़कर हृदय में इस प्रकार कोई तीव्र आघात लगा कि जिससे आर्त्त ध्यान के वश मरकर तिर्यच में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार के दोष के कारण से चक्षुराग कहा है अब घ्राण के राग में होने के दोष संक्षेप से कहते हैं।

गन्ध प्रिय का प्रबन्ध

अति गन्ध प्रिय एक राज पुत्र था। वह जिस-जिस सुगन्धी पदार्थ को देखता था, उन सब को सूँघता था। किसी समय बहुत मित्रों के साथ वह नाव में बैठकर नदी के पानी में क्रीड़ा करता था। उसे इस तरह क्रीड़ा करते जानकर अपने पुत्र को राज्य देने की इच्छा से उसकी सौतिन माता ने उसे गन्ध प्रियता जानकर उसे मारने के लिए तीव्र महा जहर को अति कुशलता से पेटो में रखकर और उस पेटो को नदी में बहती छोड़ दी, फिर नदी में

क्रीड़ा करते उसने पेटी को आते देख लिया और उसे बाहर निकालकर जब खोली तब उसमें रखा हुआ एक डिब्बा देखा, उसे भी खोला उसमें एक गठरी थी और उसे भी छोड़कर उस जहर को सूँघते ही वह गन्ध प्रिय राजपुत्र उसी समय मर गया। इस प्रकार दुःख को देने वाला घ्राणेन्द्रिय का दृष्टान्त कहा है। अब रसनेन्द्रिय के दोष का उदाहरण अल्पमात्र कहते हैं। वह इस प्रकार :—

सोदास की कथा

भूमि प्रतिष्ठित नगर में अत्यन्त मांस प्रिय सोदास नाम का राजा था। उसने एक समय सारे नगर में अमारि अर्थात् अहिंसा की उद्घोषणा करवाई थी, परन्तु राजा के लिए यत्न पूर्वक मांस को बनाते रसोइया की किसी कारण अनुपस्थिति देखकर बिलाव ने उस मांस को हरण कर लिया, इससे भयभीत हुआ रसोइया ने कसाई आदि के घर में दूसरा मांस नहीं मिलने से किसी एक अज्ञात बालक को एकान्त में मारकर उसके मांस को बहुत अच्छी संस्कारित-स्वादिष्ट बनाकर भोजन के समय राजा को दिया। उसे खाकर प्रसन्न हुए राजा ने कहा कि—हे रसोइया ! कहो ! यह मांस कहाँ से मिला है ? उस रसोइये ने जैसा बना था वैसे कह दिया। और उसे सुनकर रसा सक्ति से पीड़ित राजा ने मनुष्य के मांस को प्राप्ति के लिए रसोइया को सहायक दिया। इससे राजपुरुषों से घिरा हुआ वह रसोइया हमेशा मनुष्य को मारकर उसका मांस राजा के लिए बनाता था। इस प्रकार बहुत दिनों व्यतीत होते न्यायधीश ने उस राजा को राक्षस समझकर रात्री में बहुत मदिरा पिलाकर जंगल में फेंकवा दिया। वहाँ वह हाथ में गदा पकड़कर उस मार्ग से जाते मनुष्य को मारकर खाता था और यम के समान निःशंक होकर घूमता फिरता था।

किसी समय रात में उस प्रदेश में से एक समुदाय वहाँ से निकला, परन्तु सोये हुए वह समूह को नहीं जान सका, केवल किसी कारण से अपने साथियों से अलग पड़े मुनियों को आवश्यक क्रिया करते देखा, इससे वह पापी उनको मारने के लिए पास में खड़ा रहा, परन्तु तप के प्रबल तेज से पराभव होते साधुओं के पास खड़ा रहना अशक्य बना और वह धर्म श्रवण कर उसका चिन्तन करते प्रतिबोध प्राप्त किया और वह साधु हो गया। यद्यपि उसने अन्त में प्रतिबोध प्राप्त किया, परन्तु उसने पहले रसना के दोष से राज्य भ्रष्टता आदि प्राप्त किया था। अब स्पर्शनेन्द्रिय के दोष में भी उदाहरण देते हैं। वह इस प्रकार :—

ब्राह्मण की कथा

शत द्वार में नगर में सोमदेव नाम का ब्राह्मण पुत्र रहता था। उसने यौवन वय प्राप्त करते रति सुन्दरी नामक वेश्या के रूप और स्पर्श में आसक्त होकर उसके साथ बहुत काल व्यतीत किया। पूर्व पुरुषों से मिला हुआ जो कुछ भी धन अपने घर में था उस सर्व का नाश किया, फिर धन के अभाव में वेश्या की माता ने घर से निकाल दिया, इससे चिन्तातुर होकर वह धन प्राप्ति के लिए अनेक उपायों का विचार करने लगा, परन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं मिलने से धनवान के घर में जीव की होड़-बाजी लगाकर रात्री में चोरी करने लगा और इस तरह मिले धन द्वारा दो गुंदक देव के समान उस वेश्या के साथ में यथेच्छ आनन्द करने लगा। धन लोभी वेश्या की माता भी प्रसन्न होने लगी।

परन्तु उसकी अति गुप्त चोर क्रिया के कारण अत्यन्त पीड़ित नगर के लोगों ने राजा को चोर के उपद्रव की बात कही। इससे राजा ने कोतवाल को कठोर शब्द से तिरस्कारपूर्वक कहा कि—यदि चोर को नहीं पकड़ोगे, तो तुमको ही दण्ड दिया जायेगा। इससे भयभीत होते कोतवाल तीन रास्ते पर, चार रास्ते पर, चौराहा, प्याऊ, सभा आदि विविध स्थानों में चोर की खोज करने लगा। परन्तु कहीं पर भी चोर की बात नहीं मिलने से वह वेश्याओं के घर देखने लगा और तलाश करते हुए वहाँ चन्दन रस से सुगन्धित शरीर वाला अति उज्ज्वल रेशमी वस्त्रों को धारण किए हुए और महा धनाढ्य के पुत्र के समान उस वेश्या के साथ सुख भोगते उस ब्राह्मण को देखा। इससे उसने विचार किया कि—प्रतिदिन आजीविका के अन्य घरों में भीख माँगते इसे इस प्रकार का श्रेष्ठ भोग कहाँ से हो सकता है? इसलिए अवश्यमेव यही दुष्ट चोर होना चाहिए। ऐसा जानकर कृतिम क्रोध से तीन रेखा की तरंगों से शोभते ललाट वाले कोतवाल ने कहा कि—विश्वासु समग्र नगर को लूटकर, यहाँ रहकर, हे यथेच्छ घुमक्कड़ अधम ! तू अब कहाँ जायेगा? अरे ! क्या हम तुझे जानते नहीं हैं? उन्होंने जब ऐसा कहा, तब अपने पाप कर्म के दोष से, भय से व्याकुल हुआ और 'मुझे इन्होंने जान लिया है' ऐसा मानकर उसे भागते हुये पकड़ा और राजा को सौंप दिया। फिर रति सुन्दरी के घर को अच्छी तरह तलाश कर देखा तो वहाँ विविध प्रकार के चोरी का माल देखा और लोगों ने उस माल को पहचाना। इससे कुपित हुए राजा ने वेश्या को अपने नगर में से निकाल दिया और ब्राह्मण पुत्र को कुंभीपाक में मारने

की आज्ञा दी। ऐसे दोष के समूह वाली स्पर्शनेन्द्रिय के वश हुए इस जन्म-पर-जन्म में असरल और कठोर दुःख को प्राप्त करता है।

इसलिए हे भद्र ! विषय रूपी उन्मार्ग से जाते इन्द्रिय रूप अश्वों को रोककर और वैराग्य रूपी लगाम से खींचकर सन्मार्ग में जोड़ दो। स्व-स्व विषय की ओर दौड़ते इन इन्द्रिय रूप मृग के समूह को सम्यग् ज्ञान और भावना रूप जाल से बंधन कर रखो। तथा हे धीर ! दुर्दात इन्द्रिय रूपी घोड़ों का बुद्धि बल से इस तरह दमन कर कि जिससे अन्तरंग शत्रुओं को उखाड़कर आराधना रूपी पताका को स्वीकार कर। इस तरह इन्द्रिय दमन नामक अंतर द्वार अल्पमात्र कहा है। अब मैं तप नाम का सत्रहवाँ अन्तर द्वार को कहता हूँ। वह इस प्रकार है :—

सत्रहवाँ तप द्वार :—हे क्षपक मुनि ! तू वीर्य को छुपाये बिना अभ्यंतर और बाह्य तप को कर। क्योंकि वीर्य को छुपाने वाला, माया, कषाय और वीर्यान्तराय का बन्धन करता है। सुखशीलता, प्रमाद और देहासक्त भाव से शक्ति के अनुसार तप नहीं करने वाला माया मोहनीय कर्म का बन्धन करता है। मूढमति जीव सुखशीलता से तीव्र अशातावेदनीय कर्म का बन्धन करता है। और प्रमाद के कारण चारित्र मोहनीय कर्म का बन्धन करता है। और देह के राग से परिग्रह दोष उत्पन्न होता है। इसलिए सुखशीलता आदि दोषों को त्याग कर नित्यमेव तप में उद्यम कर। यथाशक्ति तप नहीं करने वाले साधुओं को यह दोष लगता है और तप को करने वाले साधु को इस लोक और पर-लोक में गुणों की प्राप्ति होती है। संसार में कल्याण, ऋद्धि, सुख आदि जो कोई देव मनुष्यों को सुख और मोक्ष का जो श्रेष्ठतम सुख मिलता है वह सब तप के द्वारा मिलता है। तथा पाप रूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र का दण्ड है, रोग रूपी महान् कुमुद वन को नाश करने में सूर्य है, काम रूपी हाथों को नाश करने में भयंकर सिंह है। भव समुद्र को पार उतरने के लिए नौका है। कुगति के द्वार का ढक्कन, मनवांछित अर्थ समूह को देने वाला और जगत में यश का विस्तार करने वाला, श्रेष्ठ एक तप को ही कहा है। इस तप का तू महान् गुण जालकर, मन की इच्छाओं को रोककर, उत्साहपूर्वक, दिन प्रतिदिन तप द्वारा आत्मा को वासित कर। केवल शरीर को पीड़ा न हो और मांस, रुधिर की पुष्टि भी न हो तथा जिस तरह धर्म ध्यान की वृद्धि हो, उस तरह हे क्षपक मुनि ! तू तपस्या करो। यह तप नाम का अन्तर द्वार कहा है। अब संक्षेप में अट्ठारहवाँ निःशत्यता नामक अन्त द्वार को भी कहता हूँ।

अट्ठारहवाँ निःशल्यता द्वार :—हे क्षपक मुनि ! सर्व गुणों से शल्य रहित आत्मा में ही प्रगट होते हैं । गुण के विरोधी शल्य के तीन भेद हैं— (१) नियाण शल्य, (२) माया शल्य, और (३) मिथ्या दर्शन शल्य । इसमें नियाण—निदान, राग से, द्वेष से और मोह से इस तीन प्रकार का है । राग से नियाण, रूप सौभाग्य और भोग सुख की प्रार्थना रूप है । द्वेष से नियाण तो प्रत्येक जन्म में अवश्यमेव दूसरे को मारने रूप अथवा अनिष्ट करने का जानना और धर्म के लिए हीन कुन आदि की प्रार्थना करना वह नियाण मोह से होता है अथवा प्रशस्त, अप्रशस्त और भोग के लिए नियाण करना वह मिथ्या दर्शन है । ये तीनों प्रकार के नियाणों को तुझे छोड़ने योग्य है । इसमें संयम के लिए पराक्रम, सत्त्व, बल, वीर्य, संवयण, बुद्धि, श्रावकत्व, स्वजन, कुल आदि के लिए जो नियाणा होता है, वह प्रशस्त माना गया है । एवं नंदिषेण के समान, सौभाग्य, जाति, कुल, रूप आदि का और आचार्य, गणधर अथवा जैनत्व की प्रार्थना करना, वह अभिमान से होने के कारण अप्रशस्त निदान माना गया है । मर कर यदि दूसरे को वध करने की प्रार्थना करे, द्वारिका के विनाश करने की बुद्धि वाला द्वैपायन के समान क्रोध के कारण उसे अप्रशस्त जानना । देव या मनुष्य के भोग राजा, ऐश्वर्यशाली, सेठ या सार्थवाह, बलदेव तथा चक्रवर्ती पद माँगने वाले को भोगकृत नियाणा होता है । पुरुषत्व आदि निदान प्रशस्त होने पर भी यहाँ निषेध किया है, वह अनासक्त मुनियों के कारण जानना, अन्य के लिए नहीं है । दुःखक्षय, कमक्षय, समाधि मरण और बोधि लाभ इत्यादि प्रार्थना भी सरागी अवश्य कर सकता है । संयम के शिखर में आरूढ़ होने वाला, दुष्कर तप को करने वाला और तीन गुप्ति से गुप्त आत्मा भी परोषह से पराभव प्राप्त कर और अनुपम शिव सुख को अवगणना करके जो अति तुच्छ विषय सुख के लिए इस तरह नियाणा करता है, वह काँच मणि के लिए वैडुर्य मणि का नाश करता है । नियाणा (निदान) करने के कारण आरंभ में मधुर और अन्न में विरस सुख को भोग कर ब्रह्मदत्त के समान जीव बहुत दुःखमय नरक रूपी खड्ड में गिरता है । उसकी कथा इस प्रकार है :—

ब्रह्मदत्त का प्रबन्ध

साकेत नामक श्रेष्ठ नगर में चन्द्रावतंसक नाम का राजा राज्य करता था । उसे मुनिचन्द्र नाम का पुत्र था । उसने सागर चन्द्र आचार्य के पास दीक्षा स्वीकार की और सूत्र-अर्थ का अभ्यास करते दुष्कर तप कर्म करने लगा । दूर देश में जाने के लिए गुरु के साथ चला और एक गाँव में भिक्षार्थ गये वहाँ

किसी कारण से अलग हुआ, फिर अकेले चलने लगा और अटवी में मार्ग भूल गया, वहाँ भूख, प्यास और थकावट से अत्यन्त पीड़ित हुआ, उसकी ग्वालों के चार बालकों ने प्रयत्नपूर्वक सेवा की, इससे स्वस्थ हुए शरीर वाले उन्होंने बच्चों को धर्म समझाया। उन सबने प्रतिबोध प्राप्त किया और उस साधु के शिष्य हुये। वे चारों साधु धर्म का पालन करते थे, परन्तु उसमें दो दुर्गच्छा करके मरकर तप के प्रभाव से देवलोक में देवता हुए। समय पूर्ण होते वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके दशपुर नगर में संडिल नामक ब्राह्मण से और उसकी यति-मति नामक दासी की कुत्सी से पुत्र रूप में दोनों युगल रूप जन्म लिया और क्रमशः बुद्धि-बल, यौवन से सम्यग् अलंकृत हुए। किसी समय खेत के रक्षण के लिए अटवी में गये और वहाँ रात्री में बड़ वृक्ष के नीचे सोये। वहाँ उन दोनों को सर्प ने डंक लगाया। औषध के अभाव में मरकर कालिजय नामक जंगल में दोनों साथ में जन्म लेने वाले मृग हुए। स्नेह के कारण साथ ही चरते थे, अशरण रूप उन दोनों को शिकारी ने एक ही बाण के प्रहार से मारकर यम मन्दिर पहुँचा दिया। वहाँ से गंगा नदी के किनारे दोनों का युगल हंस रूप में जन्म हुआ। वहाँ भी मच्छीमार ने एक ही बन्धन से दोनों को बाँधा और निर्दय मन वाले उसने गरदन मरोड़कर मार दिया। वहाँ से वाराणसीपुरी में बहुत धन धान्य से समृद्धशाली, चण्डाल का अग्रसर भूत दिम्भ नामक चण्डाल के घर परस्पर बड़ स्नेह वाले चित्र और सम्भूति नाम से दो पुत्र उत्पन्न हुए।

एक समय इसी नगर के शंख नामक राजा के नमुचि नामक मन्त्री ने महा अपराध किया। क्रोधित हुए राजा ने लोकपवाद से बचने के लिए गुप्त रूप में मारने के लिए चण्डाल के अग्रसर उस भूतदिम्भ को आदेश दिया। उस नमुचि को वध के स्थान ले जाकर कहा कि—“यदि भौरे में रहकर यदि मेरे पुत्रों को अभ्यास करवाओगे तो तुझे मैं छोड़ देता हूँ”। जीने की इच्छा से उसने वह स्वीकार किया और फिर पुत्रों को पढ़ाने लगा। परन्तु मर्यादा छोड़कर उनकी माता चंडालणी के साथ व्यभिचार सेवन किया। उसे चंडाल के अग्रसर भूतदिम्भ ने ‘यह जार है’ ऐसा जानकर मार देने का विचार किया। परम हितस्वी के समान चित्र, संभूति ने उसे एकान्त में अपने पिता के मारने का अभिप्राय बतलाया। इससे रात्री में नमुचि भागकर हस्तिनापुर नगर में गया और वहाँ सनत कुमार चक्रवर्ती का मन्त्री हुआ।

इधर गीत नृत्यादि में कुशल बने उस चंडाल पुत्र चित्र, संभूति ने वाराणसी के लोगों को गीत, नृत्य से अत्यन्त परवश कर दिया। अन्य किसी दिन जब नगर में कामदेव का महोत्सव चल रहा था उस समय चौराहे आदि

स्थानों में स्त्रियाँ विविध मंडलीपूर्वक गीत गाने लगीं, और तरुण स्त्रियाँ नृत्य करने लगीं, तब वहाँ अपनी मंडली में रहे वह चित्र, संभूति भी अत्यन्त सुन्दर गीत गाने लगे। उनके गीत और नृत्य से आकर्षित सारे लोग और उसमें विशेषतया युवतियाँ चित्र, संभूति के गीत सुनकर उसके पीछे दौड़ीं। इससे ईर्ष्या के कारण ब्राह्मण आदि नगर के लोगों ने राजा को विनती की कि—हे देव ! निःशंकता से फिरते इन चंडाल पुत्रों ने नगर के सारे लोगों को जाति भ्रष्ट कर दिये हैं, इससे राजा ने उनका नगर प्रवेश बन्द करवा दिया। फिर अन्य दिन कौमुदी महोत्सव प्रारंभ हुआ। इन्द्रियों के चपलता से और कुतूहल से उन्होंने सुन्दर शृंगार करके राजा की आज्ञा का अपमान करके नगर में प्रवेश कर एक प्रदेश में रहकर वस्त्र से मुख ढाककर हर्षपूर्वक गाने लगे और गीत से आकर्षित हुए लोग उसके चारों तरफ खड़े हो गये। इससे अत्यन्त स्वर वाले यह कौन हैं ? इस तरह जानने के लिए मुख के ऊपर से वस्त्र दूर करते यह जानकारी हुई कि—यह तो वे चंडाल पुत्र हैं इससे क्रोधित होकर लोगों ने ‘मारो, मारो’ इस प्रकार बोलते अनेक प्रकार के चारों तरफ से लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि से मारने लगे। मार खाते वे महा मुश्किल से नगर के बाहर निकले और अत्यन्त संताप युक्त विचार करने लगे कि रूपादि समग्र गुण समूह होते हुए भी हमारे जीवन को धिक्कार है कि जिससे निंद्य जाति के कारण इस तरह हम तिरस्कार के पात्र बने हैं। अतः वैराग्य प्राप्त कर उन्होंने मरने का निश्चय कर स्वजन बन्धु आदि को कहे बिना दक्षिण दिशा की ओर चले। मार्ग में जाते उन्होंने एक ऊँचे पर्वत को देखा और मरने के लिए ऊपर चढ़ते उन्होंने एक शिखर के ऊपर घोर तप से सूखे हुए काया वाले परम धर्म ध्यान में प्रवृत्त कोयोत्सर्ग मुद्रा में रहे एक मुनि को हर्षपूर्वक देखा। उन्होंने भक्तिपूर्वक साधु के पास जाकर वन्दन किया और मुनि ने भी योग्यता जानकर ध्यानपूर्ण करके पूछा कि तुम कहाँ से आये हो ? उन्होंने भी उस साधु को पूर्व की सारी बात कह दी और पर्वत से गिरकर मरने का संकल्प भी कहा। तब मुनि ने कहा कि—महानुभाव ! ऐसा विचार सर्वथा अयोग्य है यदि वास्तविक वैराग्य जाग्रत हो, तो साधु धर्म स्वीकार करो। उन्होंने वह स्वीकार किया और अपने ज्ञान के बल योग्य जानकर मुनि श्री जी ने उनको दीक्षा दी।

कालक्रम से वे गीतार्थ बने, और दुष्कर तप करने में तत्पर वे विचरते किसी समय हस्तिनापुर पहुँचे। और एक उपवन में रहे फिर एक महीने के तप का पागण के दिन संभूति मुनि ने भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश किया।

वहाँ नमुचि ने उसे देखा और पूर्व परिचय ख्याल में फिर 'यह मेरा दुराचरण लोगों को कहेगा।' ऐसा मानकर अत्यन्त कुविकल्प के वश होकर उसने अपने पुरुषों को भेजकर लकड़ी, मुक्के आदि अनेक प्रकार से मारकर उस मुनि को नगर से बाहर निकाल दिया। इससे प्रचंड क्रोध उत्पन्न हुआ निरपराधी उस मुनि के मुख में से मनुष्यों को जलाने के लिए महा भयंकर तेजो लेश्या—आग निकलने लगी और काले बादल के समान धुआँ फैलने लगा, नगर में अंधकार छा गया। उस समय चक्रवर्ती और लोग उस मुनि को शान्त करने लगे। परन्तु जब वे शान्त नहीं हुए तब लोगों से वह बात सुनकर वहाँ शीघ्र ही चित्र मुनि आए और उसे मधुर वाणी से कहने लगा कि—भो-भो ! महायश ! श्री जैन वचन को जानकर भी तुम क्रोध क्यों कर रहे हो ? क्रोध से अनन्त भय का हेतु भूत संसार भ्रमण होगा, उसे तू नहीं जानता है ? अथवा अपकार करने वाले विचारे नमुचि का क्या दोष है। क्योंकि जीव के दुःख और सुख में उसके कर्मों का कारण है। इत्यादि प्रशम से अमृत समान उत्तम वचनों से शान्त बने कषाय वाले संभूति मुनि उपशान्त हुए और वे दोनों मुनि उद्यान में गये। वहाँ अनशन को स्वीकार करके दोनों एक प्रदेश में बैठे। फिर सनत् कुमार चक्रवर्ती ने अंतःपुर के साथ आकर भक्तिपूर्वक उनके चरण कमलों में नमस्कार किया, और उसकी मुख पट्टरानी ने भी नमस्कार किया परन्तु उसके केश का सुख स्पर्श का अनुभव करते संभूति मुनि ने कहा कि यदि इस तप का फल हो तो मैं जन्मान्तर में चक्रवर्ती बनूँ। उसे चित्र मुनि ने संसार विपाक को बताने वाले वचनों से अनेक बार समझाया, फिर भी उसने उसी तरह निदान का बन्धन किया। आयुष्य का क्षय होते मरकर दोनों सौ धर्म देवलोक में देदीप्यमान देव हुए। वहाँ से च्यवन कर चित्र पुरिमताल नगर में धनवान के पुत्र रूप उत्पन्न हुआ और संभूति कंपिलपुर में ब्रह्म राजा की चूलणी रानी से पुत्र रूप जन्म लिया। फिर शुभ दिन में उसका ब्रह्मदत्त नाम रखा, इस विषय में आगे कहा है क्रमशः वह चक्रवर्ती बना फिर भरत चक्री के समान जब समग्र भरत की साधना कर वह विषय सुख भोगने लगा, तब एक समय उसे जाति स्मरण ज्ञान हुआ, पूर्व जन्म के भाई को जानने के लिए दास आदि पाँच जन्मों का वर्णन वाला आधा श्लोक बनाया।

‘आस्व दासौमृगै हंसौ मातंगवमरौ तथा’

अर्थात् :—‘हम दोनों दास, मृग, हंस, चंडाल और देव थे’ फिर लोगों को दिखाने के लिए उसे राजद्वार पर लटकाकर यह उद्धोषणा करवाई कि यदि इसका उत्तरार्ध श्लोक जो पूरा करेगा उसे मैं आधा राज्य दूंगा। इधर

वह पूर्व में चित्र के जीव को जाति स्मरण होने से घर बार का त्यागकर सम्यग् दीक्षा को स्वीकार करके अप्रतिबद्ध विहार करते उस नगर में आये और श्रेष्ठ धर्म ध्यान से तल्लीन एक उद्यान में एक ओर रहे। उस समय वहाँ एक रहट चलाने वाले के मुख से वह आधा सुना और उपयोग वाले मुनि ने भी उसे समझकर उसकी उत्तरार्द्ध श्लोक इस प्रकार कहा :—

‘एषानौषष्टिका जाति रन्योन्याभ्यां वियुक्तया ।’

अर्थात्—‘यह हमारा छठा जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से अलग हुए हैं। मुनि के मुख से आधा श्लोक की उत्तरार्द्ध पंक्ति सुनकर रहट चलाने वाले ने राजा के पास जाकर उस श्लोक का उत्तरार्द्ध सुना कर श्लोक पूरा कर दिया। उसे सुनकर भाई के स्नेह वश राजा मूर्च्छित हो गया। इससे राजपुरुषों में ‘यह राजा का अनिष्ट कारक है’ ऐसा मानकर रहट वाले को मारने लगे। मार खाते उसने कहा कि मुझे मत मारो यह उत्तरार्द्ध मुनि ने रचा है। इतने में राजा ने चेतना में आकर सुना। अतः सर्व सम्पत्ति सहित वह साधु के पास गया और अतीव स्नेह राग से उनके चरणों में नमस्कार कर वहाँ बैठा। मुनि ने सद्धर्म का उपदेश दिया, उसकी अवगणना करके चक्रवर्ती ने साधु को कहा कि—हे भगवन्त ! कृपा करके राज्य स्वीकार करो, विषय सुख भोगों और दीक्षा छोड़ो ! पूर्व के समान हम साथ में ही समय व्यतीत करें। मुनि ने कहा कि—हे राजन् ! राज्य और भोग ये दुर्गति के मार्ग हैं, इसलिए जिनमत के रहस्य के जानकार तू इसे छोड़कर जल्दी दीक्षा स्वीकार कर जिससे साथ में ही तप का आचरण करें, राज्य आदि सभी सुखों से क्या लाभ है ? राजा ने कहा कि भगवन्त ! प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर परोक्षा के लिए बेकार क्यों दुःखी होते हैं ? जिससे मेरे वचन का इस तरह विरोध करते हो ? फिर चित्र मुनि निदान रूप दुश्चेष्टित के प्रभाव से राजा को समझाना दुष्कर है। ऐसा जानकर धर्म कहने से रुके। और काल क्रम से कर्ममल को नाश करके शाश्वत स्थान मोक्ष को प्राप्त किया। चक्री भी अनेक पापों से अन्त समय में रौद्र ध्यान में पड़े मरकर सातवीं नरक में उत्कृष्ट आयुष्य वाला नरक का जीव हुआ। इस प्रकार के दोषों को करने वाला निदान का, हे क्षपक मुनि ! तू त्याग कर। इस तरह निदान शल्य कहा है, अब माया शल्य तुझे कहता हूँ।

२. माया शल्य :—जो चारित्र्य विषय में अल्प भी अतिचार को लगाकर बड़प्पन, लज्जा आदि के कारण गुरु राज के समक्ष आलोचना नहीं करता है

अथवा केवल आग्रहपूर्वक पूछने पर आलोचना करे, वह भी सम्यग् आलोचना नहीं करता, परन्तु माया युक्त करता है। इस प्रकार के माया शल्य के त्याग किए बिना तप में रागी है और चिरकाल तप का कष्ट सहन करने पर भी आत्मा को उसका शुभ फल नहीं मिलता है। इसीलिए ही चिरकाल तक श्रेष्ठ दुष्कर तप करने वाले भी उस निदान के कारण पीठ और महापीठ दोनों तपस्वी को स्तीत्व प्राप्त हुआ। वह इस प्रकार :—

पीठ, महापीठ मुनियों की कथा

पूर्व काल में श्री ऋषभदेव भगवान का जीव निज कुल में दीपक के समान वैद्य का पुत्र था। वह राजा, मन्त्री, सेठ और सारथपति इन चारों के चार पुत्र मित्र हुए। एक समय शुभ धर्म ध्यान में निश्चल लीन परन्तु कोढ़ के कीड़ों से क्षीण हुए साधु को देखकर भक्ति प्रकट हुई और उस वैद्य पुत्र ने उस साधु की चिकित्सा की। इससे श्रेष्ठ पुण्यानुबन्धी समूह को प्राप्त किया और आयुष्य का अय होते प्राण का त्याग करके श्री सर्वज्ञ परमात्मा के धर्म के रंग से तन्मय धातु वाले वह वैद्य पुत्र चारों मित्रों के साथ अच्युत देवलोक में अति उत्तम ऋद्धि वाले देव हुए। फिर उन पाँचों ने स्वर्ग से च्यवन कर इसी जम्बू द्वीप के तिलक की उपमा वाला, कुबेर नगर के समान शोभित पूर्व विदेह का शिरोमणि श्री पुण्डरिकीणी नाम की नगरी में इन्द्र से पूजित चरण कमल वाले श्री वज्रसेन राजा की निर्मल गुणों को धारण करने वाली जग प्रसिद्ध धारणी रानी की कुक्षि से अनुपम रूप सहित पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, और अप्रतिम श्रेष्ठ गुण रूप लक्ष्मी के उत्कर्ष वाले वे उत्तम कुमार क्रमशः वृद्धि करते यौवन अवस्था प्राप्त की। उसमें से नगर की परिधि समान लम्बी, स्थिर और विशाल भुजाओं वाला प्रथम श्री वज्रनाभ चक्री, दूसरा बाहु कुमार, तीसरा सुबाहु कुमार, चौथा पीठ और पांचवाँ गुणों में लीन महापीठ नाम से प्रसिद्ध हुए। फिर पूर्व में बन्धन किए श्री तीर्थंकर नामकर्म वाले देवों द्वारा नमस्कार होते श्री वज्रसेन राजा ने अपना पद श्रेष्ठ चक्रवर्ती की लक्ष्मी से युक्त वज्रसेन की दी, और स्वयं राज्य का त्याग कर पाप का नाश करके आनन्द के आसु झरते देव, दानवों के समूह द्वारा स्तुति होते सैंकड़ों राजाओं के साथ उत्तम साधु बने। फिर मोह के महासैन्य को जीतकर केवल ज्ञान प्राप्त कर सूर्य के समान भव्य जीवों को प्रतिबोध करते पृथ्वी मंडल को शोभायमान करते, अज्ञान रूप अंधकार के समूह को नाश करते वे सर्वत्र विचरते थे।

गाँव नगरपुर आकर, कर्वट, मण्डव, आश्रम और शून्य घरों में विहार करते पुंडरिकीणी नगरी में पधारे वहाँ देवों ने आश्चर्यकारक श्रेष्ठ समवसरण की रचना की। उसमें वज्रसेन तीर्थनाथ विराजमान हुए और उसी समय अपने भाईयों को साथ आकर वज्र नाभ चक्री ने भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन स्तुति कर पृथ्वी के ऊपर बैठे। श्री जैनेश्वर भगवान ने संसार के महाभय को नाश करने में समर्थ धर्म उपदेश दिया, उसे सुनकर चार भाईयों के श्री वज्रनाभ चक्रवर्ती दीक्षा ली। उसमें समस्त सूत्र, अर्थ के समूह के ज्ञाता भव्य को मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले, स्वाध्याय और ध्यान में एकाग्र चित्त वाले, शत्रु, मित्र के प्रति समदृष्टि वाले वज्रनाभ आराधना में दिन व्यतीत कर रहे थे। वे बाहु और सुबाहु भी तपस्वी और ग्यारह अंगों को सम्यग् प्रकार से अभ्यास कर शुभमन से बाहु मुनि तपस्वी साधुओं की आहार आदि की भक्ति और सुबाहु मुनि साधुओं की शरीर सेवा करते थे। तथा दूसरे पीठ और महापीठ दोनों उत्कटुक आदि आसन करते स्वाध्याय ध्यान में प्रवृत्त रहते थे। बड़े भाई वज्रनाभ मुनि श्री जैन पद को प्राप्त कराने वाला वीस स्थानक तप की आराधना करते थे और बाहु मुनि की विनय वृत्ति तथा सुबाहु की भक्ति की हमेशा प्रशंसा करते थे। क्योंकि श्री जैन मत में निश्चल गुणवान के गुणों की प्रशंसा करने को कहा है। उसे सुनकर कुछ मानपूर्वक पीठ और महापीठ ने चिन्तन किया कि 'जो विनय वाला है उसकी प्रशंसा होती है, नित्य स्वाध्याय करने वाले हमारी प्रशंसा नहीं होती है। फिर आलोचना करते उन्होंने इस प्रकार के कुविकल्प को गुरु को सम्यक् नहीं कही। इससे चिरकाल जैन धर्म की आराधना करके भी स्त्रीत्व को प्राप्त करने वाला कर्म बन्धन किया। फिर आयुष्य पूर्ण होते उन पाँचों ने सबार्थ सिद्ध में देवत्व की ऋद्धि प्राप्त की, उसके बाद वज्रनाभ इस भरत में नाभि के पुत्र श्री ऋषभदेव भगवान हुए, बाहु भी च्यवन कर रूप आदि से युक्त ऋषभदेव का प्रथम पुत्र भारत नाम से चक्री हुआ और सुबाहु बाहुबली नामक अति बलिष्ठ दूसरा पुत्र हुआ। पीठ और महापीठ दोनों ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नाम से पुत्री हुई। इस प्रकार पूर्व में कर्म बन्धन करने से और आलोचना नहीं करने से माया शल्य का दोष अशुभकारी होता है। इस प्रकार हे क्षपक मुनि माया शल्य को छोड़कर उद्यमी तू दुर्गति में जाने का कारणभूत मिथ्यात्व शल्य का भी त्याग कर।

३. मिथ्यात्व शल्य :—यहाँ मिथ्यात्व को ही मिथ्या दर्शन शल्य कहा है, और वह निष्पुण्यक जीवों को मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय करवाता है, (१) बुद्धि के भेद से, (२) कुतीथियों के परिचय से अथवा उनकी प्रशंसा से

और (३) अभिनिवेश अर्थात् मिथ्या आग्रह से इस प्रकार तीन प्रकार से प्रगट होता है। इस शल्य को नहीं छोड़ने वाला, दानादि धर्मों में रक्त होने पर भी मलिन बुद्धि से सम्यक्त्व का नाश करके नन्द मणियार नामक सेठ के समान दुर्गति में जाता है। उसकी कथा इस प्रकार :—

नन्द मणियार की कथा

इसी जम्बू द्वीप के अन्दर भरतवर्ष में राजगृह नगर में अतुल बलवान श्री श्रेणिक नामक राजा राज्य करता था। उसकी भुजा रूपी परीध से रक्षित कुबेर समान धनवान लोगों को आनन्द देने वाला, राज का भी माननीय और मणियार (मनिहार) का व्यापार करने में मुख्य नन्द नामक सेठ रहता था। सुरासुर से स्तुति होते जगद् बन्धु श्री वीर परमात्मा एक समय नगर के बाहर उद्यान में पधारे। उसे सुनकर वह नन्द मणियार भक्ति की समूह वाला अनेक पुरुषों के परिवार से युक्त पैरों से चलकर शीघ्र वन्दन के लिए आया। फिर बड़े गौरव के साथ तीन प्रदक्षिणा देकर श्री वीर परमात्मा को वन्दन कर धर्म श्रवण के लिए पृथ्वी के ऊपर बैठा। तब तीन भवन के एक तिलक और धर्म के आवास भूत श्री वीर प्रभु ने जीव हिंसा की विरति वाला असत्य और चौर्य कर्म से सर्वथा मुक्त मैथुन त्याग की प्रधानता वाले एवं परिग्रह रूपी ग्रह को वश करने में समर्थ साधु और गृहस्थ के योग्य श्रेष्ठ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया। इसे सुनकर शुभ प्रतिबोध होने से नन्द मणियार सेठ ने बारह व्रत से सम्पूर्ण गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया। और फिर अपने को संसार से पार उतरने के समान मानता वह प्रभु को अतीव भक्ति से वन्दन करके बार-बार स्तुति करने लगा कि :—

भयंकर संसार में उत्पन्न हुआ महाभय को नाश करने वाले निर्मल भुजा बल वाले। क्रोध अथवा कलियुग की मलिनता का हरण करने के लिए पानी का प्रवाह तुल्य और महान बड़े गुण समूह के मन्दिर, हे देव ! आप श्री विजयी हो। पर दर्शन के गाढ़ अज्ञान अन्धकार का नाश करने वाले, हे सूर्य ! काम रूपी वृक्ष को जलाने वाले हे दावानल ! और अति चपल घोड़ों के समान इन्द्रियों को वश करने के लिए दामण—रस्सी समान, हे वीर परमात्मा ! आप श्री विजयी हो। मोह महाहस्ती को नाश करने वाले, हे सिंह ! लोभ रूपी कमल को कुम्हलाने वाले हे चन्द्र ! और संसार के पथ में चलने से थके हुए अनेक प्राणियों के ताप को हरण करने वाले हे देव ! आप विजय रहो। रोग, जरा और मरण रूपी शत्रु सेना के भय से मुक्त शरीर वाले। मन

इन्द्रियों के उत्कृष्ट को वश करने वाले, निर्दयता रूपी पराग को नाश करने में कठोरतर पवन के समान और माया रूपी सर्प को नाश करने में हे गरुड़ ! आपकी जय हो । हे करुणारस के सागर ! हे जहर को शान्त करने वाले अमृत ! हे पृथ्वी को जोतने में बड़े हल समान ! अथवा विष तुल्य जो रोग है तद्रूप पृथ्वी को जोतने के लिए तीक्ष्ण हल समान । और रम्भा समान मनो-हर स्त्रियों के भोगरस के सम्बन्ध से अबद्ध वैरागी । आप की जय हो ! हे प्राणीगण के सुन्दर हितस्वी बन्धु ! हे राग दशा को नाश करने वाले । हे करण सित्तरी और चरण सित्तरी के श्रेष्ठ प्ररूपणा रूप धनवाने दातार ! और नयो के समूह से व्याप्त सिद्धान्त वाले प्रभु ! आप विजयी हो । हे वन्दन करते सुर असुरों के मुकुट के किरणों से व्याप्त पीले चरण तल वाले और कंकोल वृक्ष के पत्तों के समान लाल हस्त कमल वाले हे महाभाग प्रभु ! आप विजयी हो । हे संसार समुद्र को पार उतरने वाले ! हे गौरव की खान ! हे पर्वत तुल्य धीर ! और फिर जन्म नहीं लेने वाले ! हे वीर ! आप को मैं संसार का अंत करने के लिए बार-बार वंदन करता हूँ ।

इस प्रकार संस्कृत, प्राकृत, उभय में सम शब्दों वाली 'जैसे संसार दावा की स्तुति' गाथाओं से श्री वीर भगवान की स्तुति कर जैन धर्म को स्वीकार कर, अति प्रसन्न चित्त वाले नन्द मणियार सेठ अपने घर गया, फिर जिस तरह स्वीकार किया था उसी तरह बारह व्रत रूप सुन्दर जैन धर्म को वह पालन करने लगा और वीर प्रभु भी अन्य स्थानों में विचरने लगे । फिर अन्यथा कभी सुविहित साधुओं के विरह से और अत्यन्त असंयमी मनुष्यों के बार-बार दर्शन से, प्रतिक्षण सम्यक्त्व अध्यवसाय स्थान घटने से और मिथ्यात्व के समूह हमेशा बढ़ने से, सम्यक्त्व से रहित हुआ उसने एक समय जेठ भास के अन्दर पौषधशाला में अट्ठम (तीन उपावास) के साथ पौषध किया । फिर अट्ठम की तपस्या से शरीर में शिथिलता आने से तृषा और भूख से पीड़ित नन्द सेठ को ऐसी चिन्ता प्रगट हुई कि वे धन्य हैं और कृतपुण्य हैं कि जो नगर के समीप में पवित्र जल से भरी बावड़ियाँ बनाते हैं । जो बावड़ियों में नगर के लोग हमेशा पानी को पीते हैं, ले जाते हैं और स्नान करते हैं । अतः प्रभात होते ही मैं भी राजा की आज्ञा प्राप्त कर बड़ी-बड़ी बावड़ियाँ तैयार करवाऊँगा । ऐसा विचार कर उसने सूर्य उदय होते पोषह को पार कर स्नान किया, विशुद्ध वस्त्रों को धारण कर, हाथ में भेंट वस्तुएँ लेकर वह राजा के पास गया । और राजा को विनयपूर्वक नमस्कार करके निवेदन करने लगा कि हे देव ! आप श्री जी की आज्ञा से नगर के बाहर समीप में ही बावड़ी बनाने

की इच्छा करता हूँ । अतः राजा ने उसे आज्ञा दी । फिर उसने शीघ्र वृक्षों की घटा से शोभित महान् विस्तारपूर्वक इष्ट प्रदेश में, मुसाफिरों को आरोग्य पद भोजनशाला से युक्त तथा सफेद कमल, चन्द्र विकासी कमल और कुवलय के समूह से शोभित, पूर्ण पानी के समूह वाली नन्दा नाम की बावड़ी तयार की । वहाँ स्नान करते, जल क्रीड़ा करते और जल को पीते लोग परस्पर ऐसा बोलते थे कि—उस नन्द मणियार को धन्य है कि जिसने निर्मल जल से भरी, मछली, कछुआ भ्रमण करते, पक्षियों के समूह से रमणीय इस बावड़ी को करवाई है । ऐसी लोगों की प्रशंसा सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त करते वह नन्द सेठ स्वयं अमृत से सिंचन समान अति आनन्द मानता था ।

समय जाते पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों के दोष से शत्रु के समान दुःख-कारक—(१) ज्वर, (२) श्वाँस, (३) खाँसी, (४) दाह, (५) नेत्र शूल, (६) पेट में दर्द, (७) मस्तक में दर्द, (८) कोढ़, (९) खसरा, (१०) बवासीर, (११) जलो-दर, (१२) कान में दर्द, (१३) नेत्र पीड़ा, (१४) अजीर्ण, (१५) अरूचि, और (१६) अति भगन्दर । इस तरह सोलह भयंकर व्याधियों ने एक साथ में उसके शरीर में स्थान किया और उस वेदना से पीड़ित उसने नगर में उद्घोषणा करवाई कि जो मेरे इन रोगों में से एक का भी नाश करेगा उसकी मैं दरिद्रता का नाश हो इतना धन देऊँगा । उसे सुनकर औषध से युक्त अनेक वैद्य आए और उन्होंने शीघ्र अनेक प्रकार से चिकित्सा की, परन्तु उसे थोड़ा भी अन्तर नहीं हुआ अर्थात् ज्वर जैसा था वैसा ही बना रहा । अतः लज्जा से युक्त निराश होकर जैसे आए थे वैसे वापिस चले गये । और रोग के विशेष वेदना से पीड़ित नन्द सेठ मरकर अपनी बावड़ी में गर्भज मेंढक रूप उत्पन्न हुआ । वहाँ उसने 'नन्द सेठ धन्य है कि जिसने यह बावड़ी करवाई है ।' ऐसा लोगों द्वारा बात सुनकर शीघ्र ही अपने पूर्व जन्म का स्मरण ज्ञान हुआ । इसके संवेग होते 'यह तिर्यग्गति मिथ्यात्व का फल है' ऐसा विचार करते वह पुनः पूर्व जन्म में पालन किए देश धिरति आदि जैन धर्म के अनुसार पालन करने लगा और उसने अभिग्रह स्वीकार किया कि—आज से सदा मैं लगातार दो-दो उपवास की तपस्या करूँगा और पारणा केवल अचित्त पुरानी सेवाल आदि को खाऊँगा, ऐसा निश्चय करके वह मेंढक महात्मा स्वरूप रहने लगा ।

एक समय वहाँ श्री महावीर प्रभु पधारे । इससे उस बावड़ी में स्नान करते लोग परस्पर ऐसा बोलने लगे थे कि—'शीघ्र चलो जिससे गुणशील चैत्य में विराजमान और देवों से चरण पूजित श्री वीर परमात्मा को वन्दन करें ।'

यह सुनकर भक्ति प्रगट हुई और अति समूह भाव वाला मेंढक श्री वीर प्रभु को वन्दन के लिए अपनी तेज चाल से शीघ्र गुणशील उद्यान की ओर जाने के लिए रवाना हुआ। इधर शणगारित हाथी के समूह ऊपर बैठे सुभटों से मजबूत गाढ़ घिराव वाले और अति चपल अश्व के समूह की कठोर खुर से भूमि तल को खोदते तथा सामन्त, मन्त्री, सार्थवाह, सेठ और सेनापतियों से घिरे हुए हाथी के ऊपर बैठे, मस्तक ऊपर उज्ज्वल छत्र धारण करते और अति मूल्यवान् अलंकारों से शोभित श्रेणिक महाराजा शीघ्र भक्तिपूर्वक श्री वीर परमात्मा को वन्दनार्थ चला। उस राजा के एक घोड़े के खुर के अग्रभाग से भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दनार्थ जाते वह मेंढक मार्ग में मर गया। उस प्रहार से पीड़ित उस मेंढक ने अनशन स्वीकार किया। प्रभु का सम्यग् स्मरण करते वह मरकर सौधर्म देवलोक में दर्दुरावतंसक नामक श्रेष्ठ विमान में दुर्दुरांक नामक देव उत्पन्न हुआ। वहाँ से ज्यवन कर अनुक्रम से वह महाविदेह में से मुक्ति को प्राप्त करेगा। अल्पकाल में सिद्धि प्राप्त करने वाला भी नन्द यदि इस तरह मिथ्यात्व शल्य के कारण हल्की तिर्यच गति को प्राप्त की थी, तो हे क्षपक मुनि ! तू उस शल्य का त्याग कर। और तीनों शल्यों का त्यागी तू फिर पाँच समिति और तीन गुप्ति द्वारा शिव सुख साधने वाला सम्यक्त्व आदि गुणों की साधना कर। प्यासा जीव पानी पीने से प्रसन्न होता है, वैसा उपदेश रूपी अमृत के पान से चित्त प्रसन्न होते क्षपक मुनि निर्वृति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार संसार सागर में नाव समान, सद्गति में जाने का सरल मार्ग रूप, चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार से रची हुई समाधि लाभ नामक मूल चौथे द्वार के अन्दर अट्ठारह अन्तर द्वार से रचा हुआ प्रथम अनुशास्ति द्वार का अन्तिम निःशल्यता नाम का अन्तर द्वार कहा है, और इसे कहने से यह अनुशास्ति द्वार समाप्त हुआ। अब इस तरह हित शिक्षा सुनाने पर भी जिसके अभाव में कर्मों का दूरीकरण न हो उसे प्रति पत्ति (धर्म स्वीकार) द्वार कहता हूँ।

दूसरा प्रति पत्ति नामक द्वार :—इस प्रकार अनेक विषयों की विस्तार पूर्वक हित शिक्षा सुनकर अति प्रसन्न हुए और संसार समुद्र से पार होने के समान मानता हर्ष की वृद्धि से विकसित रोमांचित्त वाला क्षपक मुनि, मस्तक पर दो हस्त कमल को जोड़कर हृदय में फैलता सुखानन्द रूपी वृक्ष के अंकुरों के समूह से युक्त हो इस तरह वह 'आपने मुझे सुन्दर हित शिक्षा दी है' गुरु-

देव को बार-बार कहता भक्ति के समूह से बाणी द्वारा कहे कि—हे भगवन्त ! तत्त्व से आपसे अधिक अन्य वैद्य जगत में नहीं है कि जिसे आप श्री इस तरह मूल में से कर्मरूपी महाव्याधि को नाश करते हो। आप ही एक इन्द्रियों के साथ की युद्ध की रंगभूमि में बलवान् अन्तर शत्रुओं से मारे जाते अशरण जीवों का शरण हैं। आप ही तीन लोक में फैलते मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के समूह को नाश करने में समर्थ ज्ञान के किरणों का समूह रूप सूर्य हैं। इससे आपने मुझे जो अत्यन्त दीर्घ संसार रूपी वृक्ष के मूल-अंकुर समान और अत्यन्त अनिष्टकारी अठारह पाप स्थानक के समूह को हमेशा त्याग करने योग्य बतलाया उन तीनों काल के पाप स्थानकों को मैं त्रिविध त्याग करता हूँ। उत्तम मुनियों का अकरणीय, मिथ्या पण्डितों, अज्ञानियों के आश्रय करने योग्य, निन्दनीय आठमद स्थान रूपी मोह को मुख्य सेना की मैं निन्दा करता हूँ। तथा दुःख के समूह में कारण भूत दुर्गतियों के भ्रमण में सहायक और अरति करने क्रोधादि कषायों को भी अब से त्रिविध-त्रिविध से त्याग करता हूँ। और प्रशम के लाभ को छोड़ने वाला और हर समय उन्माद को बढ़ाने वाला समस्त प्रमाद को मैं त्रिविध-त्रिविध त्याग करता हूँ। पाप की अत्यन्त मैत्री करने वाले, और प्रचण्ड दुर्गति के द्वार को खोलने वाले राग को भी बन्धन के समान मैं त्रिविध-त्रिविध त्याग करता हूँ।

इस प्रकार त्याग करने योग्य त्याग करके पुनः आपकी समक्ष उत्कृष्ट शिष्टाचारों में एक उत्तम सम्यक्त्वकों में शंका आदि दोषों में रहित स्वीकार करता हूँ। और हर्ष के उत्कर्ष से विकसित रोमांचित वाला मैं प्रतिक्षण श्री अरिहन्त आदि की भक्ति को प्रयत्नपूर्वक स्वीकार करता हूँ। जन्म मरणादि संसार की पुनः पुनः परम्परा रूप हाथियों के समूह को नाश करने में एक सिंह समान श्री पञ्च नमस्कार को मैं सर्व प्रयत्नपूर्वक स्मरण करता हूँ। सर्व पाप रूपी पर्वत को चूर्ण करने में बज्र समान और भव्य प्राणियों को आनन्द देने वाले सम्यग् ज्ञान के उपयोग को मैं स्वीकार करता हूँ, और आपकी साक्षी में संसार के भय को तोड़ने में दक्ष और पाप रूपी सर्व शत्रुओं को विनाश करने वाले पाँच महाव्रतों की रक्षा मैं करता हूँ। तथा तीन जगत को कलेश कारक राग रूपी प्रबल शत्रु के भय को नाश करने में समर्थ और मूढ़ पुरुषों को दुर्जय चार शरणों को मैं स्वीकार करता हूँ। पूर्व जन्म में बन्धन किए वर्तमान काल के और भविष्य के अति उत्कन्ठ भी दुष्कृत्य की बार-बार मैं निन्दा करता हूँ। तीनों लोक के जीवों ने जिसके दोनों चरण कमलों को नमस्कार किया है वे श्री वीतराग देव के वचनों के अनुसार मैंने जो-जो सुकृत किया हो, उसे मैं

आज अनुमोदन करता हूँ। बढ़ते शुभ भाव वाला मैं, अनेक प्रकार के गुणों को करने वाला और सुख रूप मत्सर को पकड़ने में श्रेष्ठ जाल तुल्य भावनाओं के समूह की दृढ़ता से स्मरण करता हूँ। हे भगवन्त ! सूक्ष्म भी अतिचार को छोड़कर मैं अब स्फटिक समान निर्मल शील को सविशेष अस्खलित स्वीकार करता हूँ। गन्ध हस्ति का समूह जैसे हाथी के झुन्ड को भगाते हैं वैसे सत्कार्यों रूपी वृक्षों के समूह को नाश करने में सतत् उद्यमशील इन्द्रियों के समूह को भी सम्यग् ज्ञान रूपी रस्सी से बंध करता हूँ। अभ्यन्तर और बाह्य भेद स्वरूप बारह प्रकार के तपकर्म को शास्त्रोक्त विधि पूर्वक करने के लिए मैं सम्यग् प्रयत्न करता हूँ। हे प्रभु ! आपने तीन प्रकार के बड़े शल्य को कहा है, उसे भी अब मैं अति विशेषतापूर्वक त्रिविध-द्विविध से त्याग करता हूँ। इस प्रकार त्याग करने योग्य त्याग कर और करने योग्य वस्तु को आचरण को स्वीकार करने वाला क्षपक मुनि उत्तरोत्तर आराधना के मार्ग श्रेणि के ऊपर चढ़ते हैं। फिर वह प्यासा बना क्षपक मुनि को बीच-बीच में स्वाद बिना का खट्टा, तीखा और कड़वे रहित पानी जैसे हितकर हो उसके अनुसार दे। फिर जब उस महात्मा को पानी पीने की इच्छा मिट जाए तब समय को जानकर निर्यामक गुरु उसे पानी का भी त्याग करवा दे।

अथवा संसार की असारता का निर्णय होने से धर्म में राग करने वाला कोई उत्तम श्रावक भी यदि आराधना को स्वीकार करे तो वह पूर्व में कही विधि से स्वजनादि को क्षमा याचना का कार्य करके संस्तारक दीक्षा स्वीकार कर इस अन्तिम आराधना में उद्यम करे। और उसके अभाव में संधारे को स्वीकार नहीं करे, तो भी पूर्व में स्वीकार किए बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को पुनः उच्चारण कर सुविशुद्धतर और सुविशुद्धतम करते, वह ज्ञान दर्शन अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के अतिचारों को सर्वथा त्याग करते, प्रति समय बढ़ते संवेग वाला दोनों हस्त कमल को मस्तक पर जोड़कर दुश्चरित्र की शुद्धि के लिए उपयोग पूर्वक इस प्रकार से बोले—भगवान श्री संघ का मैंने मोहवश मन, वचन, काया से यदि कुछ भी अनुचित किया हो उसे मैं त्रिविध खमाता हूँ। और असहायक का सहायक, मोक्ष मार्ग में चलने वाले आराधक का सार्थवाह, तथा ज्ञानादि गुणों के प्रकर्ष वाला भगवान श्री संघ भी मुझे क्षमा करें। श्री संघ यही मेरा गुरु है, अथवा मेरी माता है अथवा पिता है, श्री संघ परम मित्र है और मेरा निष्कारण बन्धु है। इसलिए भूत, भविष्य या वर्तमान काल में राग द्वेष से या मोह से भगवान श्री संघ की मैंने यदि अल्प भी आशातना की हो, करवाई हो, या अनुमोदन किया हो, उसकी सम्यक्

आलोचना करता हूँ और प्रायश्चित्त को स्वीकार करता हूँ। सुविहित साधुओं, सुविहित साध्वियों, संवेगी श्रावक, सुविहित श्राविकाओं का मैंने मन, वचन, काया से यदि कुछ भी अनुचित किसी प्रकार कभी भी सहसात्कार या अनाभोग से किया हो उसे मैं त्रिविध खमाता हूँ। करुणा से पूर्ण मन वाले उन सर्व को विनय करते और संवेग परायण मनवाले मुझे क्षमा करे। उनकी भी यदि कोई आशातना किसी तरह मैंने की हो, उसकी मैं सम्यग् आलोचना करता हूँ और मैं प्रायश्चित्त को स्वीकार करता हूँ। तथा श्री जैन मन्दिर मूर्ति, श्रमण आदि के प्रति मैं यदि कोई उपेक्षा, अपमान और द्वेष बुद्धि की हो उसे भी सम्यग् आलोचना करता हूँ। तथा देव द्रव्य, साधारण द्रव्य को यदि राग, द्वेष अथवा मोह से भोग किया हो या उसकी उपेक्षा की हो उसे सम्यक् आलोचना करता हूँ। मैंने श्री जैन वचन को स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिन्दु या पद आदि से कम अथवा अधिक पढ़ा हो और उसे उचित काल, विनयादि आचार रहित पढ़ा हो, तथा मन्द पुण्य वाले और राग, द्वेष, मोह में आसक्त चित्त वाले मैंने मनुष्य जीवन आदि अति दुर्लभ समग्र सामग्री के योग होते हुये भी परमार्थ से अमृत तुल्य भी श्री सर्वज्ञ कथित आगम वचन को यदि नहीं सुना हो, अथवा अविधि से सुना हो या विधिपूर्वक सुनने पर भी श्रद्धा नहीं की अथवा यदि किसी विपरीत रूप में श्रद्धा की हो अथवा उसका बहुमान नहीं किया हो, अथवा यदि विपरीत बात कही हो, तथा बल वीर्य-पुरुषकार आदि होने पर भी उसमें कथनानुसार मेरी योग्यता के अनुरूप मैंने आचरण नहीं किया अथवा विपरीत आचरण किया हो या मैंने उसमें यदि हांसी की हो और यदि किसी प्रकार प्रद्वेष किया हो, उन सबकी मैं आलोचना करता हूँ और प्रायश्चित्त को स्वीकार करता हूँ।

भयंकर संसार अटवी में परिभ्रमण करते मैंने विविध जन्मों में, जिसका जो भी अपराध किया हो, उन प्रत्येक को भी मैं खमाता हूँ। सर्व माता, पिताओं को, सर्व स्वजन वर्ग को और मित्रवर्ग को भी मैं खमाता हूँ, तथा शत्रु वर्ग को तो सविशेषतया मैं खमाता हूँ। फिर उपकारी वर्ग को और अनुपकारी वर्ग को भी मैं खमाता हूँ तथा दृष्ट प्रत्यक्ष वर्ग को मैं खमाता हूँ और अदृष्ट परोक्ष वर्ग को भी खमाता हूँ। सुनी हुई या नहीं सुनी हुई, जानी हुई या नहीं जानी हुई, कल्पित या सत्य की, अयथार्थ या यथार्थ तथा परिचित अथवा अपरिचित को और दीन, अनाथ आदि समग्र प्राणी वर्ग को भी मैं प्रयत्न से आदरपूर्वक खमाता हूँ, क्योंकि यह मेरा खामना का समय है। धर्मी वर्ग को और अधर्मी वर्ग के समूह को भी मैं सम्यक् खमाता हूँ तथा साधार्मिक वर्ग को और

असाधार्मिक वर्ग को भी खमाता हूँ। और क्षमा याचना में तत्पर बना म सन्मार्ग में रहे मार्गानुसारी वर्ग तथा उन्मार्ग में चलने वालों को भी खमाता हूँ, क्योंकि हमारा अब यह खामना का समय है। परमाधार्मिक जीवन को प्राप्त कर और नरक में नारकी जीव बनकर मैंने परस्पर नारकी जीवों को जो पीड़ा करी हो उसकी मैं खामना करता हूँ। तथा तिर्यंच योनि में एकेन्द्रिय योनि आदि में उत्पन्न होकर मैंने एकेन्द्रिय आदि जीवों का तथा जलचर, स्थलचर, खेचर को प्राप्त कर मैंने जलचर आदि को भी किसी प्रकार मन, वचन, काया से यदि कुछ अल्प भी अनिष्ट किया हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ। तथा मनुष्य के जन्मों में भी मैंने राग से, द्वेष से, मोह से, भय या हास्य से, शोक या क्रोध से, मान से, माया से या लोभ से भी इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में यदि मन से दुष्ट मनोभाव, वचन से तिरस्कार हांसी से और काया से तर्जना ताड़न बन्धन या मारना इस प्रकार अन्य जीवों को शरीर, मन की यदि अनेक पीड़ा दी हो, इसी तरह कष्ट किया हो, करवाया हो, या अनुमोदन किया हो उसे भी मैं त्रिविध निन्दा करता हूँ। एवं मन्त्र आदि के बल से देवों को किसी व्यक्ति या पात्र उतारा हो, सरकाया हो, स्तम्भित या किल्ली में बांधा हो, अथवा खेल तमाशा आदि करवाया हो, यदि किसी तरह भी अपराध किया हो, अथवा तिर्यंच योनि को प्राप्त कर मैंने किसी तिर्यंच मनुष्य और देवों को तथा मनुष्य योनि को प्राप्त कर मैंने यदि किसी तिर्यंच मनुष्य और देवों को और देव बनकर मैंने नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देवों को यदि किसी प्रकार भी शारीरिक, या मानसिक अनिष्ट किया हो उस समस्त को भी मैं त्रिविध, त्रिविध सम्यक् खमाता हूँ और मैं स्वयं भी उनको क्षमा करता हूँ। क्योंकि यह मेरा क्षमापना का समय है।

पाप बुद्धि से शिकार आदि पाप किया हो उसे खमाता हूँ इसके अति-रिक्त धर्म बुद्धि से भी यदि पापानुबन्धी पाप किया हो, तथा यदि बछड़े का विवाह किया हो, यज्ञ कर्म किया हो, अग्नि पूजा की हो, प्याऊ का दान, हल जोड़े हों, गाय और पृथ्वी का दान तथा यदि लोहे सुवर्ण या तिल की बनी गाय का दान, अथवा अन्य किसी धातु आदि और गाय का दान दिया हो, अथवा इस जन्म में यदि कुण्ड, कुएँ, रहट, बावड़ी और तालाब खुदवाया आदि की क्रिया की हो, गाय, पृथ्वी, वृक्षों का पूजन अथवा वन्दन किया हो या रूई आदि का दान दिया हो, इत्यादि धर्मबुद्धि से भी यदि किसी पाप को किया हो। यदि देव में अदेव बुद्धि और अदेव में देव बुद्धि की हो, अगुरु में भी गुरुबुद्धि और सुगुरु में अगुरु बुद्धि की, तथा यदि तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि और

अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि की अथवा किसी प्रकार भी कभी भी करवाई हो अथवा अनुमोदन किया हो उन सब को मिथ्यात्व के कारणों को यत्नपूर्वक समझकर मैं सम्यग् आलोचना करता हूँ, और उसके प्रायश्चित्त को स्वीकार करता हूँ। तथा मिथ्यात्व में मूढ़ बुद्धि वाले मैंने संसार में मिथ्या दर्शन को प्रारम्भ किया हो और मोक्ष मार्ग का अपलाप करके यदि मिथ्या मार्ग का उपदेश दिया हो एवं मैंने जीवों को दुराग्रह प्रगट कराने वाले और मिथ्यात्व मार्ग में प्रेरणा देने वाले कुशास्त्रों की रचना की अथवा मैंने उसका अभ्यास किया हो, उसकी भी मैं निन्दा करता हूँ। जन्म के समय ग्रहण करते और मरते समय छोड़ते पाप की आसक्ति में तत्पर जो जन्म जन्मान्तर के शरीर धारण किया, उन सबको भी आज मैं त्याग करता हूँ। जो जीव हिंसा कारक जाल, शस्त्र, हल, मूसल, उखल, चक्की, मशीन आदि जो सर्व प्रकार के अधिकरणों को इस जन्म में अथवा अन्य जन्म में किया, करवाया या अनुमोदन किया हो उन सब की भी मेरी ममता में से त्रिविध-त्रिविध मैं त्याग करता हूँ। और भूढ़ात्मा मैंने लोभवश कष्ट से धन को प्राप्त कर और मोह से रखकर यदि पाप स्थानों में उपयोग किया हो उसे निश्चय अनर्थभूत समस्त धन की आज मैं भावपूर्वक अपनी ममता से त्रिविध-त्रिविध त्याग करता हूँ। और किसी के भी साथ में मुझे यदि कुछ भी वैर की परम्परा थी और है उसे भी प्रशम भाव में रहे में आप सम्पूर्ण रूप में खमाता हूँ। सुन्दर घर कुटुम्ब आदि में मेरा यदि राग था अथवा और आज भी है उसे भी मैं छोड़ता हूँ।

अधिक क्या कहूँ ? इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में स्त्री, पुरुष या नपुंसक जीवन में रहा हुआ और विषयाभिलाष के वश होकर मैंने गर्भ को गिराया हो, तथा परदारा सेवन आदि जो अनार्य भयंकर पाप को किया हो, तथा क्रोध से अपना घात या पर का घात आदि किया हो, मान से यदि पर का खण्डन—अपमानादि किया हो, माया से परवंचनादि रूप भी जो किया हो, और लोभ के आसक्ति से महा आरम्भ—परिग्रह आदि किया हो, तथा आहट्ट दोहट्ट वश पीड़ा से जो विविध अनुचित्त वर्तन किया। और रागपूर्वक मांस भक्षण आदि अभक्ष्य भक्ष्यादि किया, मद्य, शराब अथवा लावक नामक पक्षी रस आदि जो कुछ अपेय का पान किया हो, द्वेष से जो कुछ परगुण को सहन नहीं किया, निन्दा अवर्णवाद आदि किया, और मोह महाग्रह से ग्रसित हुआ, और इससे हेय, उपादेय के विवेक से शून्य चित्त वाले मैंने प्रमाद से अनेक प्रकार का अनेक भेद से जो कुछ भी पापानुबन्धी पाप को किया और अमुक-अमुक इस पाप को किया और अमुक इन पाप को अब कहूँगा। ऐसे विकल्पों

से जो किया, उसे भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल सम्बन्धी सर्व पापों की त्रिविध-त्रिविध गहरी द्वारा विशुद्ध बना संविज्ञ मन वाला मैं आलोचना, निन्दा और गहरी से विशुद्धि को प्राप्त करता हूँ। इस प्रकार गुणों की खान क्षपक श्रावक यथा स्मरण दुराचरणों के समूह की गहरी करके उसके राग को तोड़ने के लिए आत्मा को समझावे जैसे कि—

देवलोक में इस मनुष्य जन्म की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ रमणीयता से अनन्ततम गुणा अधिक रति प्रगट कराने वाला श्रृंगारिक शब्दादि विषयों को भोगकर पुनः तुच्छ, गन्दा और उससे अनन्त गुणा हल्का इस जन्म के इस विषयों को, हे जीव ! तुझे इच्छनीय नहीं है। तथा नरक में यहाँ की अपेक्षा से स्वभाव से ही असंख्य गुणा कठोर अनन्ततम गुणा केवल दुःखों को ही दीर्घ-काल तक निरन्तर सहन करके वर्तमान में, आराधना में लीन मन वाले हे जीव ! तू यहाँ विविध प्रकार की शारीरिक पीड़ा होती, फिर भी अल्प भी क्रोध मत करना। तू निर्मल बुद्धि से विचार कर यदि दुःखों को समता से सहन करते, बिना स्वजनों से तेरा उसे थोड़ा भी आधार नहीं है, क्योंकि—हे भद्र ! तू सदा अकेला ही तीन जगत में भी दूसरा कोई तेरा नहीं है, तू भी इस जगत में अन्य किसी का भी सहायक नहीं है, अखण्ड ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के परिणाम से युक्त और धर्म को सम्यग् अनुकरण करता एक प्रशस्त आत्मा ही अवश्य तेरा सहायक है। और जीवों को यह सारे दुःखों का समुदाय निश्चय संयोग के कारण हैं। इसलिए जावज्जीव भी सर्व संयोगों को त्याग करते, तू सर्व प्रकार के आहार को तथा उस प्रकार की समस्त उपधि समूह को, और क्षेत्र सम्बन्धी भी सर्व क्षेत्र के राग को शीघ्र त्याग कर। और जीव का इष्ट, कान्त प्रिय, मनपसन्द, मुश्किल से त्याग हो, ऐसा जो यह पापी शरीर है उसे भी तू तृण समान मान। इस प्रकार परिणाम को शुद्ध करते सम्यग् बढ़ते विशेष सवेग वाला शल्यों का सम्यक् त्यागी सम्यक् आराधना की इच्छा वाला और सम्यक् स्थिर मन वाला सुभट जैसे युद्ध की इच्छा करे, वैसे क्षपक मनोरथ से अति दुर्लभ पण्डित मरण को मन में चाहता है और पदासन बनाकर अथवा जैसे समाधि रहे, वैसे शरीर से आसन लगाकर, संथारे में बैठकर, डांस, मच्छर आदि को भी नहीं गिनते। धीरे अपने मस्तक पर हस्त कमल को जोड़कर भक्ति के समूह से सम्पूर्ण मन वाला बार-बार इस प्रकार बोले :—

यह 'मैं' तीन जगत से पूज्यनीय, परमार्थ से बन्धु वर्ग और देवाधिदेव श्री अरिहंतों को सम्यक् नमस्कार करता हूँ। तथा यह 'मैं' परम उत्कृष्ट सुख

से समृद्ध अगम्य वचनातीत रूप के धारक और शिव पदरूपी सरोवर में राज-हंस समान सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। यह 'मैं' प्रथम रस के भण्डार, परम तत्त्व-मोक्ष के जानकार और स्व सिद्धान्त-पर सिद्धान्त में कुशल आचार्यों को नमस्कार करता हूँ। यह 'मैं' शुभध्यान के ध्याता भव्यजन वत्सल और श्रुत-दान में सदा तत्पर श्री उपाध्यायों को नमस्कार करता हूँ। और यह 'मैं' मोक्ष मार्ग में सहायक, संयम रूपी लक्ष्मी के आधार रूप और मोक्ष में एक बद्ध लक्ष्य वाले साधुओं को नमस्कार करता हूँ। यह 'मैं' संसार में परिभ्रमण करने से थके हुए प्राणी वर्ग का विश्राम का स्थान सर्वज्ञ प्रणीत प्रवचन को भी नमस्कार करता हूँ। तथा यह 'मैं' सर्व तीर्थंकरों ने भी जिसको नमस्कार किया है, उस शुभ कर्म के उदय से स्व-पर विघ्न के समूह को चूर्ण करने वाला श्री संघ को नमस्कार करता हूँ। उस भूमि प्रदेशों को मैं वन्दन करता हूँ, जहाँ कल्याण के निधानभूत श्री जैनेश्वरों ने जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाणपद प्राप्त किया है। शीलरूप सुगन्ध के अतिशय से श्रेष्ठ अगुरु को भी जीतने वाले उत्तम कल्याण के कुल भवन समान और संसार से भयभीत प्राणियों के शरणभूत गुरु देवों के चरणों को मैं वन्दन करता हूँ। इस प्रकार वन्दनीय को वन्दन कर प्रथम सेवकजन वत्सल संवेगी, ज्ञान के भण्डार और समयोचित्त सर्व क्रियाओं से युक्त स्थविर भगवन्तों के चरणों में सुन्दर धर्म को सम्यक् स्वीकार करते मैंने सर्व त्याग करने योग्य त्याग किया है और स्वीकार करने योग्य स्वीकार किया है। फिर भी विशेष संवेग प्राप्त करते मैं अब वही त्याग स्वीकार कर अति विशेष रूप कहता हूँ।

उसमें सर्वप्रथम मैं सम्यक् रूप से मिथ्यात्व से पीछे हटकर और अति विशेष रूप में सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ, फिर अट्ठाग्ह पाप स्थानक से पीछे हटकर कषायों का अवरोध करता हूँ, आठ मद स्थानों का त्यागी, प्रमाद स्थानों का त्यागी, द्रव्यादि चार भावों के राग से मुक्त, यथासम्भव सूक्ष्म अति-चारों की भी प्रति समय विशुद्ध करते, अणुव्रतों को फिर से स्वीकार कर सर्व जीवों के साथ सम्पूर्ण क्षमापना करते, अनशन को पूर्व कथनानुसार वर्स आहार का त्याग करते, नित्य ज्ञान के उपयोगपूर्वक प्रत्येक कार्य की प्रवृत्ति करते पाँच अणुव्रतों की रक्षा में तत्पर, सदाचार से शोभते, मुख्यतया इन्द्रियों का दमन करते, नित्य, अनित्यादि भावनाओं में रमण करते मैं उत्तम अर्थ की साधना करता हूँ। इस प्रकार कर्त्तव्यों को स्वीकार करके बुद्धिमान श्रावक जीने की अथवा मरने की भी इच्छा को छोड़ने में तत्पर, इस लोक, परलोक के सुख की इच्छा से मुक्त, कामभोग की इच्छा का त्यागी, इस प्रकार संलेखना के पाँच

अतिचार से मुक्त, उपशम का भण्डार, पण्डित मरण के लिए मोह के सामने युद्ध भूमि में विजय ध्वजा प्राप्त कराने के लिए एक मुभट बना हुआ, उस-उस प्रकार के त्याग करने योग्य सर्व पदार्थों के समूह का त्यागी, और 'यह करने योग्य है' ऐसा मानकर स्वीकार करने योग्य कार्यों को स्वीकार करता हूँ, उस-उस काल में नया-नया उत्कृष्ट संवेग होता है, उस गुण द्वारा आत्मा को क्षण-क्षण में अपूर्व समान अनुभव करता हूँ, शत्रु मित्र में सम-चित्त वाला, तृण और मणि में, सुवर्ण और कंकर में भी समान बुद्धि वाला, मन में प्रतिक्षण बढ़ते समाधिरस की उत्कृष्ट अनुभव करते, अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा अति खराब भी शब्दादि विषयों को सुनकर, देखकर, खाकर, सूँघ कर, और स्पर्श कर के भी प्रत्येक वस्तु के स्वभाव के ज्ञान बल से अरति, रति को नहीं करने से शरद ऋतु की नदी के निर्मल जल के समान अति निर्मल चित्त वाले, महा-सत्त्वशाली गुरुदेव और परमात्मा को नमस्कार करके उचित आसन पर बैठा हुआ वही, उस समय में 'यह राधावेष्ट का समय है' ऐसा मन में विचार करते, सारे कर्म रूपी वृक्ष वन को जलाने में विशेष समर्थ दावानल के प्रादुर्भाव समान धर्म ध्यान को सम्यक् प्रकार से ध्यान करे, अथवा वहाँ उस समय श्री जिनेश्वर भगवान का ध्यान करे। जैसे कि :—

पूर्ण चन्द्र के समान मुखवाले, उपमा से अति क्रान्त अर्थात् अनुपमेय रूप लावण्य वाले, परमानन्द के कारण भूत, अतिशयों के समुदाय रूप चक्र अंकुरा वज्र ध्वज मच्छ आदि सम्पूर्ण निर्दोष लक्षणों से युक्त शरीर वाले, सर्वोत्तम गुणों से शोभते, सर्वोत्तम पुण्य के समूह रूप, शरद के चन्द्र किरणों के समान, उज्ज्वल तीन छल और अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान, सिंहासन पर बैठे, दुंदुभि की गाठ गर्जना के समान अर्थात् गर्जना युक्त गम्भीर आवाज वाले देव असुर सहित मनुष्य की पर्षदा में शुद्ध धर्म की प्ररूपणा (उपदेश देते) करते जगत के सर्व जीवों के प्रति वत्सल, अचिन्त्यतम शक्ति से महिमा वाले प्राणी मात्र के उपकार से पवित्र समस्त कल्याण के निश्चित कारण भूत, अन्य मतवाले को भी शिव, बुद्ध, ब्रह्मा, आदि नाम से ध्यान करने योग्य केवल ज्ञान से सर्व ज्ञेय भावों को एक साथ में यथार्थ रूप में जानते और देखते मुर्तिमान देह धारी धर्म और जगत के प्रकाशक प्रदीप के समान श्री जिनेश्वर प्रभु का ध्यान कर। अथवा उमी जिनेश्वर भगवान के कथन का तीन जगत में मान्य और दुःख से तपे हुए प्राणियों को अमृत की वर्षा समान श्रुत ज्ञान का ध्यान कर। यदि अशक्ति अथवा बिमारी के कारण वह इतना बोल न सके तो 'अ-सि-आ-उ-सा' इन पाँच अक्षरों का मन में ध्यान करे। पाँच परमेष्ठिअ।

में से एक-एक भी परमेष्ठि का ध्यान पाप नाशक है तो एक साथ में पाँचों परमेष्ठि समग्र पापों का उपशामक कैसे न हो ? अवश्यमेव समग्र पाप नाश होते हैं। ये पाँच परमेष्ठि मेरे मन में क्षण भर के लिए स्थान करो, स्थिर हो जाओ जिससे मैं अपना कार्य सिद्ध करूँ। इस प्रकार उस समय प्रार्थना करता हूँ। इन परमेष्ठियों को किया हुआ नमस्कार संसार समुद्र तरने के लिए नौका है, सद्गति के मार्ग में श्रेष्ठ रथ है, दुर्गति को रोकने वाला है, स्वर्ग में जाने का विमान है और मोक्ष महल की सीढ़ी है, परलोक की मुसाफिरी में पाथेय है, कल्याण सुख की लता का कन्द है दुःखनाशक है और सुखकारक हैं। अतः अवश्यमेव मेरे प्राण पञ्च परमेष्ठि के नमस्कार के साथ जाएँ, जिससे संसार में उत्पन्न होने वाले दुःखों की जलांजलि दूँ। इस प्रकार बुद्धिमान यदि हमेशा पञ्च नमस्कार के प्राणिधान में तत्पर रहता है तो अन्तिम समय में उसका कहना ही क्या ? अथवा पास में रहे दूसरों द्वारा बोलते इस नमस्कार मन्त्र को बहुमान पूर्वक एकाग्र मन से उसे धारण करे। और निर्यामक साधु सुनावे तो वह चन्दा विज्जापयन्ता, आराधना पयन्ता आदि संवेग जनक ग्रन्थों को हृदय में सम्यक् धारण करे। यदि वायु आदि से आराधक को बोलना बन्द हो जाए अथवा अत्यन्त पीड़ा हो जाने से बोलने में असक्य हो तो अंगुलि आदि से संज्ञा करे।

निर्यामण कराने में तत्पर वह साधु भी अनशन करने वाले के नजदीक से भी अति नजदीक आकर कान के सुखकारी शब्दों से जब तक अंगोपांग आदि में गरमी दिखे तब तक अपना परिश्रम न गिनता हुआ मन से एकाग्र बनकर अति गम्भीर आवाज करते संवेग भाव को प्रगट कराने वाले ग्रन्थों को अथवा अस्खलित पञ्च नमस्कार मन्त्र को लगातार सुनाता रहे। और भूखा जैसे इष्ट भोजन का, अति तृषातुर, स्वादिष्ट शीतल जल, और रोगी परम औषध का बहुमान करता है वैसे क्षपक उस श्रवण का बहुमान करता है। इस प्रकार शरीर बल क्षीण होने पर भी भाव बल का आलम्बन करके धीर पुरुष सिंह वह अखण्ड विधि से काल करे। परन्तु यदि निश्चल नजदीक में कल्याण होने वाला हो तभी निश्चल कोई महासात्त्विक पुरुष इस प्रकार कथनानुसार प्राण का त्याग करे। क्योंकि ऐसा पण्डितमरण अति दुर्लभ है। इस प्रकार पाप रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए मेघ समान सद्गति को प्राप्त करने में उत्तम सरल मार्ग समान, चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नामक आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा समाधि लाभ द्वार में दूसरा प्रतिपत्ति द्वार कहा है। अब यदि प्रतिपत्ति वाला भी किसी कारण किसी प्रकार से उस आराधना का क्षोभ हो तो उसे प्रशम करने के लिए अब सारणा द्वार कहते हैं।

तीसरा सारणा द्वार :—संधारे को स्वीकार करने पर भी, आराधना में उद्यमशील दृढ़ धीरज और दृढ़ संघयण वाला भी अति दुष्कर समाधि की अभिलाषा रखने वाला स्वभाव से ही संसार प्रति उद्वेग को धारण करने वाला और अत्यन्त उत्तरोत्तर बढ़ते शुभाशय वाला होने पर भी क्षपक महा मुनि को किसी कारण से अनेक जन्मों के कर्म बन्धन दोष से वात आदि धातु के क्षोभ से अथवा बैठना, पासा बदलना आदि परिश्रम से साथल, पेट, मस्तक, हाथ, कान, मुख, दांत, नेत्र, पीठ आदि किसी भी अंग में ध्यान के अन्दर विघ्नकारी वेदना प्रगट हो तो उसी समय गुणरूपी मणि से भरे हुए क्षपक मुनि वाहन के समान भागे अर्थात् दुर्ध्यानि करे और इस तरह परिणाम नष्ट हो जाने से वह भयंकर संसार समुद्र में चिरकाल भ्रमण करेगा, उस समय पर उसे भग्न परिणामी जानकर भी निर्यामक केवल नाम ही धारण कर यदि उसकी उपेक्षा करे, तो इससे दूसरा अधर्मी—पापी कौन है ? यदि मूढ़ इस तरह क्षपक की अपेक्षा करे, उस निर्यामक साधु के जो गुण पूर्व में इस ग्रन्थ में वर्णन किया है, उस गुणों से भ्रष्ट हुआ है। अतः औषध के जानकार, साधुओं को स्वयं अथवा वैद्य के अदेशानुसार उस क्षपक को आरोग्यजनक औषध करना चाहिए। वेदना का मूल कारक वात, पित्त या कफ जो भी हो उसे जानकर प्रासुक द्रव्यों से शीघ्र उपयोग पूर्वक वेदना की शान्ति करे। भूत्वाशय को सेक आदि से गरमी देकर अथवा विलेपन आदि शीत प्रयोग से तथा मसल कर, शरीर दबाकर आदि से क्षपक को स्वस्थ करे। ऐसा करने पर भी यदि अशुभ कर्म के उदय से उसकी वेदना शान्त न हो अथवा उसे तृषा आदि परीषहों का उदय हो तो वेदना से पराभव होते अथवा परीषह आदि से पीड़ित मुरझाया हुआ क्षपक यदि वह बोले, अथवा बकवास करे तो अति मुरझाते उसे निर्यामक आचार्य आगम के अनुसार इस तरह समझाये कि जैसे संवेग से पुनः सम्यक् चैतन्य वाला बने। उसे पूछना कि तू कौन है ? नाम क्या है ? कहाँ रहता है ? अब कौन-सा समय है ? तू क्या करता है ? कौन-सी अवस्था में चल रहा है ? अथवा मैं कौन हूँ ? ऐसा विचार कर ! इस प्रकार साधार्मिक वात्सल्य अति लाभदायक है, ऐसा मानता निर्यामक आचार्य स्वयं इस प्रकार क्षपक को स्मरण करवाना चेतनमय बनाना। इस तरह कुमति के अन्धकार को नाश करने में सूर्य के प्रकाश समान और सद्गति में जाने का निर्विघ्न सरल मार्ग समान चार मूल द्वार वाली यह संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा समाधि लाभ द्वार में यह तीसरा सारणा द्वार कहा है। अब इस तरह जागृत करने पर भी क्षपक जिसके बिना धैर्य को धारण कर नहीं सके उस धर्मोपदेश स्वरूप कवच द्वार को कहते हैं।

चौथा कवच नामक द्वार :—निर्यामणा कराने में एक निपुण और इंगित आकार में कुशल निर्यामक गुरु दुःसह परीषहों से पराभूत और इससे मर्यादा छोड़ने के मन वाला क्षपक की विपरीत चेष्टा को जानकर निजकार्यों को छोड़कर स्नेह भरी मधुर वाणी से शिक्षा दे कि—हे सुविहित ! धैर्य के बल वाला तू यदि रोग और परीषहों को जीत लेगा तो सम्पूर्ण प्रतिज्ञा वाला, मरण में आराधक—पंडित मरण वाला होता तथा जैसे हाथी महान स्तम्भ को भी उखाड़ देता है, वैसे तू अनशन की प्रतिज्ञा तोड़कर महाव्रत समान गुरु का अपमान कर अंकुश समान उनका सद्उपदेश को भी तिरस्कार करके, शरीर की सेवा करने वाले अपने साधुओं को भी पराङ्मुख रखकर और अत्यन्त भक्ति के भाव से तथा कुतूहल से बहुत लोगों के दर्शन करने आने वाला से विपरीत मुख करके, लज्जा रूपी उत्तम बन्धन को तोड़कर भ्रमण करते तू हे महाभाग ! विविध ऋद्धिरूपी पुण्य जिसमें प्रगट हुए हैं और उत्तम मुनि रूप पात्र के संग्रह से शोभित कान्ति-कीर्ति वाला शोलरूपी (चारित्र) सुन्दर छायादार वन को जल्दी ही नष्ट कर देगा । समिति रूप चारित्र घर की दीवार को तोड़ देगा । गुप्तिरूपी समस्त बाड़ को भी छेदन कर देगा और सद्गुण रूपी दुकानों की पंक्ति को भी चूर्ण कर देगा । तब हे भद्र ! अवश्यमेव (यह कुलवान नहीं है) ऐसा लोकापवाह रूपी धूल से तू मलिन होगा, और अज्ञानी लोग से चिरकाल तक निंदा का पात्र बनेगा । राजादि सन्मान आदि पूर्व में मिला था, परन्तु अब गुणों से भ्रष्ट होगा तो दुर्गति रूपी खड्गे में गिरने से विनाश होगा । इसलिए हे भद्र ! सम्यग् इच्छित कार्य की सिद्धि में विघ्न-भूत कांटे से छेदन होने के समान इस असमाधिजनक विकल्प से अभी भी रुक जा ! तथा क्षुल्लक कुमार मुनि के समान अब भी तू अक्का के गीत के अर्थ का सम्यग् बुद्धि से अनुसार कर अर्थात् अक्का ने रात्री के अन्तिम में कहा था 'समग्र रात्री में सुन्दर गाया है सुन्दर नृत्य किया है' अब अल्प काल के लिए प्रमाद मत कर । ऐसा सुनने से नाचने वाली क्षुल्लक मुनि राजपुत्र आदि सावधान हुए ।

इस प्रकार आज दिन तक तूने अपवाद बिना निर्दोष चारित्र रूप कोढ़ी की रक्षा की है और अब काकिणी के रक्षण में अल्प काल के लिए भी निर्बलता को धारण करता है । बड़े समुद्र को पार किया है अब तुझे एक छोटा सा सरोवर पार करना है । मेरू को उल्लंघन किया है अब एक परमाणु रहा है । इसलिए हे धीर ! अत्यन्त धैर्य को धारण कर । निर्बलता को छोड़ दो । चन्द्र समान उज्ज्वल अपने कुल का भी सम्यक् विचार कर । प्रमाद रूपी

शत्रु सेना के मल्ल के समान एक ही झपट में जीतकर इस प्रस्तुत विषय में ही यथा शक्ति पराक्रम प्रगट कर और अमूल्य इस धर्म गुणों की स्वाभाविक सुन्दरता को परभव में उसके साथ होना तथा पुनः दुर्नेभता का भी विचार कर । और हे क्षपक मुनि ! तूने जो चतुर्विध श्री संघ के मध्य में महा प्रतिज्ञा की है कि 'मैं आराधना करूँगा ।' उसे याद कर । ऐसा कौन कुल अभिमानी कुलिन सुभट होगा कि जो लोक में कुलीन का गर्व करके युद्ध में प्रवेश मात्र से ही शत्रु से डरकर भाग जाएँ ? ऐसा अभिमानी पूर्व में गर्व करके कौन साधु परीषद् रूपी शत्रुओं के आगमन मात्र से ही खिन्न हो जाये ? जैसे प्रथम अभिमान करने वाले मानी कुलीन को रण में मर जाना अच्छा है परन्तु जिन्दगी तक लोक में अपने को कलंकित करना अच्छा नहीं है, वैसे मानी और चारित्र्य में उद्यमशील साधु को भी मरणा अच्छा है, परन्तु निज प्रतिज्ञा के भंग से अन्य लोगों में कलंक का सहन करना वह अच्छा नहीं है । युद्ध में से भाग जाने वाले सुभट के समान कौन सा मनुष्य अपने एक जीव के लिए पुत्र पौत्रादि सर्व को कलंकित करे ? इसलिए श्री जैन वचन के रहस्य को जानकर भी केवल द्रव्य प्राणी से जीने की इच्छा वाला तू अपने को समुदाय और समस्त संघ को भी कलंकित मत करना । और यदि अज्ञानी जीव तीव्र वेदना से व्याकुल होने पर भी संसार वर्धक अशुभ पाप में धैर्य को धारण करते हैं, तो संसार के सर्व दुःखों के क्षय के लिए आराधना करते और विराधना जन्य भावी अति तीव्र दुःख विपाक को जानते साधु धीरता कैसे न रखता ? क्या तूने यह सुना कि तिर्यंच होने पर शरीर संधि स्थान टूटने की पीड़ा से व्याकुल शरीर वाले भी छोटे बैजों के बछड़े कंबल संबल के अनशन की सिद्धि प्राप्त की । और तुच्छ शरीर वाले, तुच्छ बल वाले, और प्रकृति से भी तुच्छ तिर्यंच होने पर भी वैतरणी बन्दर ने अनशन स्वीकार किया था क्षुद्र चींटियों के द्वारा तीव्र वेदना वाला भी प्रतिबोध हुए चण्ड कौशिक सर्प ने पन्द्रह दिन का अनशन स्वीकारा था तथा कौशल की पूर्व जन्म की माता शेरनी के भव में तिर्यंच जन्म में भी भूख की पीड़ा को नहीं गिनकर इस तरह जाति स्मरण प्राप्त कर उसने अनशन स्वीकार किया ।

इस प्रकार यदि स्थिर समाधि वाले इन पशुओं ने भी अनशन को स्वीकार किया, तो हे सुन्दर ! पुरुषों में सिंह तू उसे क्यों स्वीकार नहीं करता ? और रानी के द्वारा वैसे उपसर्ग होने पर भी सुदर्शन सेठ गृहस्थ भी मरने की तैयार हुआ, परन्तु स्वीकार किए व्रत से चलित नहीं हुआ । समग्र रात्री तक अति तीव्र वेदना उत्पन्न हुई, परन्तु उस पर ध्यान नहीं दिया और स्थिर सत्त्व वाले चन्द्रावतंसक राजा ने कार्योत्सर्ग के द्वारा सद्गति प्राप्त की । पशुओं के

बाड़े में पादपोषमन अनशन चाणाक्य ने स्वीकार किया था, सुबन्धु से जलाई हुई आग से जलते हुए भी उन्होंने समाधि मरण को प्राप्त किया। इस प्रकार यदि गृहस्थ भी स्वीकार किए कार्य में इस प्रकार अखण्ड समाधि वाले होते हैं, तो श्रमणों में सिंह समान हेक्षणक ! तू भी उस समाधि को सविशेष सिद्ध कर। बुद्धिमान सत्पुरुष बड़ी आपत्तियों में भी अक्षुब्ध मेरू के समान अचल और समुद्र के समान गम्भीर बनते हैं। निज ऊपर भार को उठाते स्वाश्रयी शरीर की रक्षा नहीं करता, बुद्धि से अथवा धीरज से अत्यन्त स्थिर सत्त्व वाले शास्त्र कथित विहारादि साधना करते उत्तम निर्यामक की सहायता वाला, धीर पुरुष अनेक शिकारी जीवों से भरा हुआ भयंकर पर्वत की खाई में फँसे अथवा शिकारी प्राणियों की हाढ़ में पकड़े गये भी पाप को छोड़कर अनशन की साधना करते हैं। निर्दयता से सियार द्वारा भक्षण करते और घोर वेदना को भोगते भी अवन्ति सुकुमार ने शुभध्यान से आराधना की थी। मुद्गिल्ल नामक पर्वत में शेरनी से भक्षण होते हुये भी निज प्रयोजन की सिद्धि करने की प्रीति वाले भगवान श्री सुकौशल मुनि ने मरण समाधि को प्राप्त किया। ब्राह्मण समुद्र से मस्तक पर अग्नि जलाने पर भी काउस्सग्ग में रहे भगवान गजसुकुमार ने समाधि मरण प्राप्त किया। इसी तरह साकेतपुर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर रहे भगवान कुरुदत्त पुत्र ने भी गायों का हरण होने से उसके मालिक ने चोर मान कर क्रोध से अग्नि जलाने पर भी मरण समाधि को प्राप्त की। राजर्षि उदायन ने भी भयंकर विष वेदना से पीड़ित होते हुये भी शरीर पीड़ा को नहीं गिनते हुये मरण समाधि को प्राप्त की। नाव में से गंगा नदी में फँकते श्री अभिका पुत्र आचार्य ने मन से दुःखी हुए बिना शुल्क ध्यान से अन्तकृत केवली होकर आराधना की मुख्य हेतु को प्राप्त किया। श्री धर्मघोष सूरि चंपा नगरी में मांस भक्षण करके भयंकर प्यास प्रगट हुई और गंगा के किनारे पानी था, फिर भी अनशन द्वारा समाधि मरण को प्राप्त किया। रोहिड़ा नगर में शुभ लेश्या वाले ज्ञानी स्कंद कुमार मुनि ने कौंच पक्षी से भक्षण होते हुये उस वेदना को सहन करके समाधि मरण प्राप्त किया।

हस्तिनापुर में कुरुदत्त ने दोहनी में शिम की फली के समान जलते हुए उसकी पीड़ा सहन करके समाधि मरण प्राप्त किया। कुणाल नगरी में पापी मन्त्री ने वसति जलाते ऋषभ सेन मुनि भी शिष्य परिवार सहित जलने पर भी आराधक बने थे। तथा पादापोषग मन वाले वज्र स्वामी के शिष्य बाल मुनि ने भी तपी हुई शिला ऊपर मोम के समान शरीर गलते आराधना प्राप्त की थी। मार्ग भूले हुए और प्यास से मुरझाते धन शर्मा बाल मुनि भी नदी का

जल अपने आधीन होते हुए भी उसे पिये बिना अखण्ड समाधि से स्वर्ग को गये। एक साथ में मच्छरों ने शरीर में से रुधिर पीने पर उन मच्छरों को रोके बिना सम्यक् सहन करते सुमन भद्र मुनि स्वर्ग गये। महर्षि मेतारज सोनो द्वारा मस्तक पर गीला चमड़ा कसकर बाँध दिया, आँखें बाहर निकल गईं फिर भी अपूर्व समाधि के द्वारा अन्तर्कृत केवली होकर मोक्ष गये। तीन जगत में अद्वितीय मल्ल—अनन्त बली भगवान श्री महावीर देव ने बारह वर्ष विविध उपसर्गों के समूह को सम्यग् सहन किया। भगवान सनत्कुमार ने खुजली, ज्वर, श्वास, शोष, भोजन की अरुचि, आँख में पीड़ा और पेट का दर्द ये सात वेदना सात सौ वर्ष तक सहन की। माता के वचन से पुनः चेतना—ज्ञान वैराग्य को प्राप्त करके शरीर की अति कोमलता होने से चिरकाल चारित्र्य को प्राप्त कर असमर्थ भी धीर भगवान अरुणिक मुनि भी अग्नि तुल्य तपी हुई शीला ऊपर पादपोष-गमन अनशन करके रहे और केवल एक ही मुहूर्त में सहसा शरीर को गलते हुये श्रेष्ठ समाधि में काल धर्म प्राप्त किया। हेमन्त ऋतु में रात्री में वस्त्र रहित शरीर वाले, तपस्वी सूखे शरीर वाले, नगर और पर्वत के बीच मार्ग में आस-पास काउस्सग में रहे श्री भद्रबाहु सूरि के चार शिष्यों का शरीर शीत लहर से चेष्टा रहित हो गया फिर भी समाधि से सद्गति को प्राप्त किया, उनको हे सुन्दर ! क्या तूने नहीं सुना ? उस काल में कुम्भकार कृत नगर में महासत्त्व वाले आराधना करते खंदक सूरि के भाग्यशाली पाँच सौ शिष्यों को दण्डकी राजा के पुरोहित पापी पालक ब्राह्मण ने कोल्हू में पीला था, फिर भी समाधि को प्राप्त किया था। क्या तूने नहीं सुना ? भद्रिक, महात्मा काल-वैशिक मुनि बवासीर के रोग से तीव्र वेदना भोगते हुए विचरते मुद्गल शैल नगर में गये, वहाँ उनकी बहन ने बवासीर की औषध देने पर भी उसे दुर्गति का कारण मानकर चिकित्सा को नहीं करते, चारों आहार का त्याग करके, एकान्त प्रदेश में काउस्सग में रहे और वहाँ तीव्र भूख से 'खि-खि' आवाज करती बच्चों के साथ सियारणी आकर उसका भक्षण करने पर भी आराधक बने।

तथा जितशत्रु राजा के पुत्र कुमार अवस्था में दीक्षित हुए थे। उनका नाम भद्र मुनि था। वह विहार करते शत्रु के राज्य में श्रावस्ती नगर में गये। वहाँ किसी राजपुरुषों ने जाना और पकड़कर मारकर चमड़ा छीलकर चाँट में नमक भर कर दर्भ घास लपेटकर छोड़ दिया। उस समय उनको अतीव महा वेदना हुई, फिर भी उसे सम्यग् सहन करते समाधिपूर्वक ही काल धर्म प्राप्त किया। एक साथ में अनेक अति तीक्ष्ण मुख वाली चींटियाँ भगवान चिलाती पुत्र को खाने लगीं, उनकी वेदना सहन करते समाधि मरण को स्वीकार किया।

प्रभु की भक्ति से सुनक्षत्र मुनि और सर्वानुभूति मुनि ने गोशाले को हित शिक्षा दी थी परन्तु उसे सुनकर क्रोधमान होकर गोशाले ने उसी समय प्रलय काल के अग्नि समान तेजो लेश्या से उन्हें जलाया फिर भी उन दोनों ने मुनि आराधना कर समाधि मरण प्राप्त किया। तथा हे सुन्दर ! क्या तूने उग्र तपस्वी, गुण के भंडार, क्षमा करने में समर्थ उस दण्ड राजा का नाम नहीं सुना ? कि मथुरापुरी के बाहर यमुनावंक उद्यान में जाते दुष्ट यमुना राजा ने उस महात्मा को आतापना लेते देखकर पापकर्म के उदय से क्रोध उत्पन्न हुआ तीक्ष्ण बाण की अणी द्वारा मस्तक ऊपर सहसा प्रहार किया और उनके नौकरों ने भी पत्थर मारकर उसके ऊपर ढेर कर दिया फिर भी आश्चर्य की बात है कि उस मुनि ने समाधि से उसे अच्छी तरह से सहन किया कि जिससे सर्व कर्म के समूह को खतम कर अन्तकृत केवली हुए। अथवा क्या कौशाम्बी निवासी यज्ञदत्त ब्राह्मण का पुत्र सोमदेव को तथा उसका भाई सोमदत्त का नाम नहीं सुना ? उन दोनों ने श्री सोमभूति मुनि के पास में सम्यक् दीक्षा लेकर संवेगी और गीतार्थ हुए। फिर विचरते हुए प्रतिबोध देने के लिए उज्जैन गये और माता, पिता के पास पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण भी अवश्यमेव शराब पीते थे। बुजुर्गों ने मुनियों को अन्य द्रव्यों से युक्त शराब दिया और साधुओं ने अज्ञानता से 'अचित्त पानी ही है' ऐसा मानकर साधुओं ने उसे विशेष प्रमाण में पीया और उनको शराब का असर हुआ और काफी पीड़ित हुए, फिर उसका विकार शान्त होते सत्य को जानकर विचार करने लगे कि—ध्विक्कार है कि महा प्रमाद के कारण ऐसा यह अकार्य किया। इस तरह वैराग्य को प्राप्त करते महा धीरता वाले उन्होंने चारों आहार का त्याग करके नदी के किनारे पर अति अव्यवस्थित लकड़ी के समूह ऊपर पादपोषगमन अनशन स्वीकार कर रहे, उस समय बिना मौसम वर्षा से नदी की बाढ़ में बहते उस काष्ठ के साथ समुद्र में पहुँचे वहाँ उनको जलचर जीवों से भक्षण तथा जल की लहर से उछलने आदि दुःख सहन करते अखण्ड अनशन का पालन कर स्थिर सत्त्व वाले सम्यक् समाधि प्राप्त कर वे स्वर्ग में गये। इसलिए यदि इस प्रकार असहायक और तीव्र वेदना वाले भी सर्वथा शरीर की रक्षा नहीं करते उन सर्व ने समाधि मरण प्राप्त किया है। तो सहायक साधुओं द्वारा सार संभाल लेते और संघ तेरे समीप में है फिर भी तू आराधना क्यों नहीं कर सकता ? अर्थात् अमृत तुल्य मधुर कान को सुख कारक श्री जैन वचन को सुनाने वाला तुझे संघ बीच में रहकर समाधि मरण को साधना निश्चय ही शक्य है। तथा नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव लोक में रहकर तूने जो सुख दुःख को प्राप्त किया है उसमें चित्त लगाकर इस तरह विचार कर।

नरक में काया के कारण से तू शीत, उष्ण आदि अनेक प्रकार की अति कठोर वेदनाएँ अनेक बार प्राप्त की हैं। यदि पानी के लोट समान लोहे के गोले को कोई उष्ण स्पर्श वाली नरक में फेंके तो निमेष मात्र में उस नरक का जमीन में पहुँचते पहले बीच में गल जाता है ऐसी तेज गरमी नरक में होती है। और उसी तरह उतना ही प्रमाण वाला जलते लोहे के गोले को यदि कोई शीत स्पर्श वाला नरक में फेंके तो वह भी वहाँ नरक भूमि के स्पर्श बिना बीच में ही निमेष मात्र में सड़कर बिखर जाता है ऐसी अतीव ठण्डी में तू दुःखी हुआ और नरक में परमाधामी देव ने तुझे शूली, कूट शाल्यमली वृक्ष, वंतरणी नदी, उष्ण रेती और असिवन से दुःखी हुआ तथा लोहे के जलते अंगार खिलाते तूने जो दुःखों को भोगा, सब्जियों के समान पकाया, पारा के समान गलाया, मांस के टुकड़े के समान टुकड़े-टुकड़े काटा, अथवा चूर्ण के समान चूर्ण किया, तथा गरमागरम तेल की कढ़ाई में तला, कुम्भी में पकाया, भाले से भेदन किया, करवत से चौरा, उसका विचार कर।

तियंच जन्म में :—भूख, प्यास, ताप, ठण्डी सहन की, शूली में चढ़ाया गया, अंकुश में रखा, नपुंसक बनाया गया, दमन करना इत्यादि तथा मार बंधन और मरण से उत्पन्न हुए वे कठोर दुःखों का तू विचार कर।

मनुष्य जन्म में भी प्रियजनों का विरह, अप्रिय का संगम, धन का नाश, स्त्री से पराभव, तथा दरिद्रता का उपद्रव इत्यादि होने से जो दुःख भोगा, और छेदन, मुण्डन, ताड़न, बुखार, रोग, वियोग, शोक, संताप आदि शारीरिक, मानसिक और एक साथ वे दोनों प्रकार के दुःखों को भोगा उसका विचार कर।

देव जन्म में :—व्यवन की चिन्ता और वियोग से पीड़ित, देवों के भवों में भी इन्द्रादि की आज्ञा का बलात्कार, पराभव, इर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक दुःखों का विचार कर। और सहसा व्यवन के चिन्हों को जानकर दुःखी होते, विरह के पीड़ा से चपल नेत्र वाला देव भी देव की सम्पत्ति को देखते चिन्ता करता है कि—सुगन्धी चन्दनादि से व्याप्त, नित्य प्रकाश वाले देव लोक में रहकर अब मैं दुर्गन्धमय तथा महा अन्धकार भरे गर्भाशय में किस तरह रहूँगा ? और दुर्गन्धी मल, रुधिर, रस-धातु आदि अशुचिमय गर्भ में रहकर संकोचमय प्रत्येक अंग वाला मैं कटिभाग के सांकड़ी योनि में से किस तरह निकलूँगा ? तथा नेत्रों के अमृत की वृष्टि तुल्य अप्सराओं के मुख चन्द्र को देखकर हा ! शीघ्र माया से गर्जना करती मनुष्य स्त्री के मुख को किस तरह देखूँगा ? एवं सुकुमार और सुगन्धी मनोहर देह वाली देवियों को भोगकर

अब अशुचिमय घड़ी समान स्त्री को किस तरह भोगूंगा ? पूर्व में दुर्गन्ध मनुष्य शरीर के गन्ध से दूर भागता था । अब उस अपवित्र मनुष्य के शरीर में जन्म लेकर कहाँ भोगूंगा ? हा ! दीनों का उद्धार नहीं किया, धर्मीजनों का वात्सल्य नहीं किया, और हृदय में श्री वीतराग देव को धारण नहीं किया, मैंने जन्म को गंवा दिया, मैंने मेरु पर्वत, नन्दीश्वर आदि में शाश्वत चैत्यों में श्री जिन कल्याणक के समय पर, पुण्य और कल्याण कारक महोत्सव नहीं किया, विषयों के विष से मूर्छित और मोह रूपी अन्धकार से अन्ध बन कर मैंने श्री वीत राग देवों का वचन अमृत नहीं पीया, हाय ! देव जन्म को निष्फल गंवा दिया । इस प्रकार च्यवन समय में देव के वैभव रूपी लक्ष्मी को याद करके हृदय चुराता हो, जलता हो, कम्पायमान होता हो, पीलता हो, अथवा चीरता हो, टकराता हो, या तड़-तड़ टूटता हो इस प्रकार देव एक मकान से दूसरे मकान में, एक वन से दूसरे वन में, एक शयन में से दूसरे शयन में लेटता है, परन्तु तपे शिला तल के ऊपर उछलते मच्छर के समान किसी तरह शान्ति नहीं । हा ! पुनः देवियों के साथ में उस भ्रमण को, उस क्रीड़ा को, उस हास्य को और उसके साथ निवास को अब मैं कब देखूंगा ? इस प्रकार बड़बड़ाते प्राणों को छोड़ता है । ऐसे च्यवन के समय भय से काँपते देवों की विषम दशा को जानते धीर पुरुष के हृदय में धर्म बिना अन्य क्या स्थिर होता है ?

इस प्रकार पराधीनता से चार गति रूप इस संसार रूपी जंगल में अनन्त दुःख को सहन करके हे क्षपक ! अब उस से अन्तर्वाँ भाग जितना इस अनशन के दुःख को स्वाधीनता से प्रसन्नतापूर्वक सम्यक् सहन कर ! और तुझे संसार में अनन्तीवार ऐसी तृषा प्रगट हुई थी कि उसको शान्त करने के लिए सारी नदी और समुद्र भी समर्थ नहीं हैं । संसार में अनन्त बार ऐसी भूख तुझे प्रगट हुई थी कि जिसे शान्त करने के लिए समग्र पुद्गल समूह भी शक्तिमान नहीं हैं । यदि तूने पराधीनता से उस समय ऐसी प्यास और भूख को सहन की थी अब तो 'धर्म है' ऐसा मानकर स्वाधीनता से तू इस पीड़ा को क्यों नहीं सहन करता है ? धर्म श्रवण रूप जल से, हित शिक्षा रूपी भोजन से और ध्यान रूपी औषध से सदा सहायक युक्त तुझे कठोर भी वेदन को सहन करना योग्य है । और श्री अरिहन्त, सिद्ध, और केवली के प्रत्यक्ष सर्व संघ के साक्षी पूर्वक नियम किया था, उसे भंग करते मरणा अच्छा है । यदि उस समय तूने श्री अरिहन्तादि को मान्य किया हो तो हे क्षपक मुनि ! उसके साक्षी से पञ्चक्खान किया था उसे तोड़ना योग्य नहीं है जैसे साक्षात् करके राजा का अपमान करने वाला मनुष्य महादोष का धारक बनता है वह

अपराधी माना जाता है वैसे श्री जिनेश्वरादि की आशातना करने वाला भी महादोष को धारण करने वाला बनता है। नियम किए बिना मरने वाला ऐसे दोषों को नहीं प्राप्त करता है। नियम करके उसी का ही भंग करने से अबोधि बीज रूप दोष को प्राप्त करता है। तीन लोक में सारभूत इस संलेखना के परिश्रम और दुष्कर साधुत्व को प्राप्त कर अल्प सुख के लिए नाश मत कर। धीर पुरुषों ने कथित और सत्पुरुषों ने आचरण किया इस संथारे को स्वीकार कर बाह्य पीड़ा से निरपेक्ष धन्य पुरुष संथारे में ही मरते हैं। पूर्व में संकलेश को प्राप्त करने पर भी उसे इस तरह समझाकर पुनः उत्साही बनाये, और उस दुःख को पर देह का दुःख माने। ऐसा मानकर और महाद्विक का उत्सर्ग मार्ग रूप (कवच) रक्षण होता है। आगाढ़ कारण से तो अपवाद रूप रक्षण भी करना योग्य है। इस प्रकार गुणमणि को प्रगट करने के लिए रोहणचल की भूमि समान और सद्गति में जाने का सरल मार्ग समान चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा मूल समाधि लाभ द्वार के अन्दर कवच (रक्षण) नामक चौथा अन्तर द्वार कहता हूँ। अब परोपकार में उद्यमशील निर्यामक गुरु की वाणी से अनशन के रक्षण को करते क्षपक जो आराधना करता है उसे समता द्वार के करने का कहा है।

पाँचवा समता द्वार :—अति मजबूत कवच वाला बख्तरधारी महा-सुभट के समान, निज प्रतिज्ञा रूपी हाथी ऊपर चढ़कर आराधना रूपी रण मैदान की सन्मुख आया हुआ, पास में प्रशंसा करते साधु रूपी मंगल पाठकों द्वारा प्रगट किया उत्साह वाला, वैराग्यजनक ग्रन्थों की वाचना रूप युद्ध के बाजों की ध्वनी से हर्षित हुआ, संवेग प्रशम-निर्वेद आदि दिव्य शस्त्रों के प्रभाव से आठ मद स्थान रूप निरंकुश सुभटों की श्रेणी को भगा दो दुष्ट आक्रमण करते दुर्जय हास्यादि छह निरंकुश हाथियों के समूह को बिखरते, सर्वत्र भ्रमण करते इन्द्रियों रूपी घोड़ों के समूह को रोकते, अति बलवान् भी दुःसह परीपह रूपी पैदल सैन्य को भी हराते और तीन जगत से भी दुर्जय महान् मोह राज को भी नाश करते और इस प्रकार शत्रु सैना को जोतने से प्राप्त कर निष्पाप जय रूपी यश पताका वाले और सर्वत्र राग रहित क्षपक सर्व विषय में समभाव को प्राप्त करता है। वह इस प्रकार :—

समता का स्वरूप :—समस्त द्रव्य के पयायों की रचनाओं में नित्य ममता रूपी दोषों का त्यागी, मोह और द्वेष के विशेषतया नमाने वाला क्षपक सर्वत्र समता को प्राप्त करता है। इष्ट पदार्थों का संयोग, वियोग में, अथवा अनिष्टों के संयोग वियोग में रति, अरति को उत्सुकता, हर्ष और दीनता को छोड़ता है। मित्र ज्ञातिजन, शिष्य साधर्मिकों से अथवा कुल में भी पूर्व में

उत्पन्न हुआ उस राग द्वेष का त्याग करे। और क्षपक देव और मनुष्य के भोगों की अभिलाषा नहीं करे, क्योंकि विषयाभिलाषा को विराधना का मार्ग कहा है। राग, द्वेष रहित आत्मा वह क्षपक, इष्ट और अनिष्ट शब्द, स्पर्श रस, रूप और गन्ध में तथा इस लोक परलोक में, या जीवन मरण में और मान या अपमान में सर्वत्र समभाव वाला बने। क्योंकि राग द्वेष क्षपक को समाधि मरण का विराधक है। इस प्रकार से समस्त पदार्थों में समता को प्राप्त कर विशुद्ध आत्मा क्षपक मैत्री, करुणा, प्रमोद और उपेक्षा को धारण करे। उसमें मैत्री समस्त जीव राशि में करुणा दुःखी जीवों पर, प्रमोद अधिक गुणवान जीवों में और उपेक्षा अविनीत जीवों में करे। दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, वीर्य और समाधि योग को त्रिविध से प्राप्त कर ऊपर के सर्व क्रम को सिद्ध करे। इस प्रकार कुनयरूपी हरिणों की जाल समान, सद्गति में जाने के लिए सरल मार्ग समान चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नामक आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा समाधि लाभ द्वार में समता नाम का पाँचवां अन्तर द्वार कहा है। अब समता में लीन भी क्षपक मुनि को अशुभ ध्यान को छोड़कर सम्यक् ध्यान में प्रयत्न करना चाहिए, अतः ध्यान द्वार को कहते हैं।

छठा ध्यान द्वार :—राग द्वेष से रहित जितेन्द्रिय, निर्भय, कषायों का विजेता और अरति-रति आदि मोह का नाशक संसार रूप वृक्ष के मूल को जलाने वाले, भव भ्रमण से डरा हुआ, क्षपक मुनि निपुण बुद्धि से दुःख का महा भण्डार सदृश आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान को शास्त्र द्वारा जानकर त्याग करे और क्लेश का नाश करने वाला चार प्रकार के धर्म ध्यान तथा चार प्रकार के शुल्क ध्यान को शुभ ध्यान जानकर ध्यान करना चाहिए। परीषहों से पीड़ित भी आर्त्त, रौद्र ध्यान का ध्यान नहीं करे, क्योंकि ये दुष्ट ध्यान सुन्दर एकाग्रता से विशुद्ध आत्मा का भी नाश करता है।

चार ध्यान का स्वरूप :—श्री जैनेश्वर भगवान ने १-अनिष्ट का संयोग, २-इष्ट का वियोग, ३-व्याधि जन्य पीड़ा, और ४-परलोक की लक्ष्मी के अभिलाषा से आर्त्त ध्यान (आर्त्त=दुःखी होने का ध्यान) चार प्रकार का कहा है। और तीव्र कषाय रूपी भयंकर १-हिंसानुबन्धि, २-मृष्टानुबन्धि, ३-चौर्यानुबन्धि, और ४-धनादि संरक्षण के परिणाम। इस तरह रौद्र ध्यान को भी चार प्रकार का कहा है। आर्त्त ध्यान विषयों के अनुराग वाला होता है, रौद्र ध्यान हिंसादि का अनुराग वाला होता है, धर्म ध्यान धर्म के अनुराग वाला और शुक्ल ध्यान राग रहित होता है। चार प्रकार के आर्त्त ध्यान और चार

प्रकार के रौद्र ध्यान में जो भेद हैं उन सबको अनशन में रहे क्षपक साधु अच्छी तरह जानता है। उसके बाद ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य रूपी चार भावनाओं से युक्त चित्त वाला क्षपक चारों प्रकार के श्रेष्ठ धर्म ध्यान का चिन्तन करे, प्रथम आज्ञा विचय, दूसरा अपाय विचय, तीसरा विपाक विचय और चौथा संस्थान विचय, इस प्रकार क्षपक मुनि चार प्रकार के धर्म ध्यान का चिन्तन करे। उसमें—१. आज्ञा विचय—सूक्ष्म बुद्धि से श्री जैनेश्वर की आज्ञा को निर्दोष, निष्पाप, अनुपमेष, अनादि अनन्त, महा अर्थ वाली, चिरस्थायी, शाश्वत, हितकर, अजेय, सत्य, विरोध रहित, तफलतापूर्वक मोह को हरने वाली, गम्भीर युक्तियों से महान्, कान को प्रिय, अबाधित, महा विषय वाली और अचिन्त्य महिमा वाली है, ऐसा चिन्तन करे। २. अपाय विचय में—इन्द्रिय, विषय, कषाय और आश्रवादि पच्चीस क्रियाओं में, पाँच अवत आदि में वर्तन, मोहमूढ़ जीव के भावि तरकादि जन्मों में विविध अपाय का चिन्तन करना। ३. विपाक विचय में—वह क्षपक मुनि मिथ्यात्वादि बन्ध हेतु वाली कर्मों की शुभाशुभ प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और उसके तीव्र, मन्द, अनुभाव-रस, इस प्रकार कर्म के चारों विपाकों का चिन्तन करे। ४. संस्थान विचय में—श्री जैनेश्वर कथित पंच अस्तिकाय स्वरूप, अनादि अनन्त लोक में अधोलोक आदि तीन भेद को तथा तिर्छालोक में असंख्य द्वीप समुद्र आदि का विचार करे। और ध्यान पूर्व होते नित्य अनित्यादि भावना से चिन्तन वाला बने, वह भावना सुविहित मुनियों को आगम के कथन से प्रसिद्ध है। वह इस ग्रन्थ में चौथे द्वार के अनुशास्ति द्वार में कहा है। क्षपक जब इस धर्म ध्यान को पूर्ण करे तब शुद्ध लेश्या वाला चार प्रकार के शुक्ल ध्यान का ध्यान करे। श्री जैनेश्वर प्रथम शुक्ल ध्यान 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' कहा है, दूसरे शुक्ल ध्यान को 'एकत्व वितर्क अविचार' कहा है, तीसरा शुक्ल ध्यान को 'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति' कहते हैं और चौथे शुक्ल ध्यान को 'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति' कहते हैं।

उसमें पृथक् अर्थात् विस्तार ऐसा अर्थ होता है इसलिए पृथक्त्व अर्थात् विस्तारपूर्वक ऐसा अर्थ होगा। वह विस्तारपूर्वक तर्क करे उसे वि + तर्क = वितर्क कहते हैं। यहाँ प्रश्न करते हैं कि विस्तारपूर्वक इसका क्या मतलब ? उत्तर देते हैं कि—परमाणु जीव (जीव-जड़) आदि किसी एक द्रव्य में, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अथवा रूपी, अरूपी आदि उसके विविध पर्यायों का विस्तार-पूर्वक उसे जो अनेक प्रकार के नय भेद द्वार विचार करना वह पृथक्त्व है, वितर्क अर्थात् श्रुत के लिए पूर्वमत श्रुत के अनुसार चिन्तन करना अर्थात् अन्योन्य पर्यायों में चिन्तन करना यानि अर्थ में से व्यंजन से और व्यंजन में से अर्थ में

संक्रमण करना वही चिन्तन कहलाता है। प्रश्न करते हैं कि अर्थ और व्यंजन का क्या भावार्थ है? उत्तर देते हैं कि—द्रव्य (वाच्य पदार्थ) उस अर्थ और अक्षरों का नाम वाचक, वह व्यंजन तथा मन, वचन आदि योग जानना, उसे योगों द्वारा अन्यान्य अवान्तर भेद—पर्यायों में जो प्रवेश करना उसे निश्चय से विचार कहा है, उस विचार से सहित के सविचार कहा है अर्थात् पदार्थ और उसके विविध पर्याय में, शब्द में अथवा अर्थ में मन आदि विविध योगों के द्वारा पूर्वगत श्रुत के अनुसार जो चिन्तन किया जाए वहाँ विचार 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' नामक प्रथम शुक्ल ध्यान जानना। एकत्व—वितर्क में एक ही पर्याय में अर्थात् उत्पाद, स्थिति, नाश आदि में किसी भी एक ही पर्याय में ध्यान होता है, अतः एकत्व और पूर्वगत श्रुत, उसके आधार पर जो ध्यान हो वितर्क युक्त है और अन्याय व्यंजन, अर्थ अथवा योग को धारण संक्रमण विचारण गमन नहीं करने के लिये अविचार कहा है। इस तरह पवन रहित दीपक के समान स्थिर दूसरे शुक्ल ध्यान को 'एकत्व वितर्क अविचार' कहा है। केवली को सूक्ष्म काययोग में योग निरोध करते समय तीसरा 'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति' ध्यान होता है और अक्रिया (व्युच्छिन्न क्रिया) अप्रतिपाती यह चौथा ध्यान है, उसे योग निरोध के बाद शैलेशी में होता है। क्षपक को कषाय के साथ युद्ध में यह ध्यान आयुद्ध रूप है। शस्त्र रहित सुभट के समान ध्यान रहित क्षपक युद्ध—कर्मों को नहीं जीत सकता है। इस प्रकार ध्यान करते क्षपक जब बोलने में अशक्य बनता है तब निर्यामकों को अपना अभिप्रायः बताने के लिये हुंकार, अंजलि, भृकुटी अथवा अंगुलि द्वारा या नेत्र का संकोच आदि करके अथवा मस्तक को हिलाकर आदि इशारे से अपनी इच्छा को बतलावे। तब निर्यामक क्षपक की आराधना में उपयोग को दे, सावधान बने। क्योंकि श्रुत के रहस्य के जानकार वह संज्ञा करने से उसके मनोभाव को जान सकता है। इस प्रकार समता को प्राप्त करते तथा प्रशस्त ध्यान को ध्याता और लेश्या से विशुद्ध को प्राप्त करते वह क्षपक मुनि गुण श्रेणि के ऊपर चढ़ता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र रूप मस्तक मणि तुल्य सद्गति में जाने के सरल मार्ग समान चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा समाधि लाभ द्वार में ध्यान नाम का छठा अन्तर द्वार कहा है। अब ध्यान का योग होने पर भी शुभाशुभ गति तो लेश्या की विशेषता से ही होता है, अतः लेश्या द्वार को कहते हैं।

सातवाँ लेश्या द्वार :—कृष्ण, नील, कपोत, तेजस, पद्म और शुक्ल, ये छह प्रकार की लेश्या हैं। ये विविध रूप वाली कर्म दल के सानिध्य से स्फटिक

मणि समान स्वभाव से निर्मल भी जीव को मग्न कर देना है, जो जामुन खाने वाले छत्र पुरुषों के परिणाम की भिन्नता से समझ सकते हैं, वह हिंसादि भावों की विविधता के परिणाम वाला हो, उसे लेश्या कहते हैं। इस पर दो दृष्टान्त कहते हैं। वह इस प्रकार :—

छह लेश्या का दृष्टान्त

किसी एक जंगल में भूख से व्याकुल छह पुरुष घूम रहे थे। वहाँ मानो आकाश के आखिर विभाग को खोजने के लिए ऊँचा बढ़ा न हो इस प्रकार विशाल मूल वाला, अच्छी तरह पके हुए फलों के भार से नमी हुई टहनी वाला, फैली हुई बहुत छोटी डाली वाला, सर्व प्रकार से जामुन गुच्छों से ढका हुआ, प्रत्येक गुच्छे में सुन्दर दिखने वाले पके ताजे सुन्दर जम्बू वाला, तथा पवन के कारण नीचे गिरे हुए फल वाली भूमि वाला, कभी पूर्व में नहीं देखा हुआ साक्षात् कल्पवृक्ष के समान एक जामुन के वृक्ष को देखा। इसे देखकर परस्पर वे कहने लगे कि—अहो ! किसी भी तरह अति पुण्योदय से इस वृक्ष को हमने प्राप्त किया है। इसलिए पधारो ! थोड़े समय में इस महावृक्ष के ये अमृत समान फलों को खायेंगे। सभी ने खाने का स्वीकार किया। परन्तु फलों को किस प्रकार खाना चाहिये ? तब वहाँ एक बोला कि—ऊपर चढ़ने वाले को प्राण का सन्देह है, अतः वृक्ष को मूल में से काटकर नीचे गिरा देना चाहिए। दूसरे ने कहा कि—इस तरह बड़े वृक्ष को सम्पूर्ण रूप में काटने से हमें क्या लाभ होगा ? हमें फल खाने हैं तो सिर्फ इसकी एक बड़ी शाखा काटकर गिरा दो। तीसरे ने कहा कि—बड़ी शाखा तोड़ने से क्या लाभ ? सिर्फ उसकी एक छोटी टहनी को ही काट दो। चौथा बोला कि—सिर्फ उसके गुच्छे तोड़ लेने से अपना काम हो सकता है। पाँचवें ने कहा कि—अजी गुच्छे तोड़ने से क्या फायदा ? केवल पके हुए और खाने योग्य फलों को ही तोड़ लेना चाहिए। छठा बोला कि—फल तोड़ने की क्या आवश्यकता है ? जितने फलों की आवश्यकता है, उतने पके फल तो इस वृक्ष के नीचे गिरे हैं, उन्हीं से भूख मिटाकर प्राणों का निर्वाह हो जायेगा। इस दृष्टान्त का उपनय इस प्रकार कहा है कि—पेड़ को मूल से काटने वाला पुरुष कृष्ण लेश्या में रहता है। बड़ी शाखा काटने वाला पुरुष नील लेश्या वाला है। छोटी टहनी काटने वाला कपोत लेश्या वाला है। और गुच्छों को तोड़ने वाला तेजो लेश्या वाला है, जानना। वृक्ष के ऊपर रहे पके फलों को खाने वाले की इच्छा पद्म लेश्या वाला है और स्वयं नीचे गिरे पड़े फलों को ग्रहण करने का उपदेश देने वाला शुक्र लेश्या में रहा हुआ जानना चाहिए।

दूसरा दृष्टान्त

गाँव को लूटने वाले छह चोर थे। उनमें एक बोला कि—मनुष्य या पशु जो कोई देखो उन सबको मारो। दूसरे ने कहा—पशु को क्यों मारें ? केवल सर्व मनुष्यों को ही मारें। तीसरे ने कहा कि—स्त्री को छोड़कर केवल पुरुष को ही मारें। चौथे ने कहा—केवल शस्त्रधारी को ही मारना चाहिए। पाँचवें ने कहा—जो शस्त्रधारी हमारे ऊपर प्रहार करे उसे ही मारना चाहिए। छठा बोला कि—एक तो हम निर्दय बन कर उसका धन लूट रहे हैं और दूसरे मनुष्य को मार रहे हैं अहो ! यह कैसा महापाप है ? इससे ऐसा मत करो, केवल धन को ही लेना चाहिए। क्योंकि दूसरे जन्म में तुमको भी ऐसा होगा। इसका उपनय इस प्रकार है :—जो गाँव को मारने को कहता है वह कृष्ण लेश्या वाला है। दूसरा नील लेश्या वाला, तीसरा कपोत लेश्या वाला, चौथा तेजो लेश्या वाला, पाँचवाँ पद्म लेश्या वाला और छठा अन्तिम शुक्ल लेश्या में रहा है। इसलिए हे क्षपक मुनि ! अति विशुद्ध क्रिया वाला विशिष्ट संवेग प्राप्त करने वाला तू कृष्ण नील और कपोत अप्रशस्त लेश्या को छोड़ दो और अनुत्तर श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम संवेग को प्राप्त कर तू क्रमशः तेजो लेश्या, पद्म और शुक्ल इन तीन सुप्रशस्त लेश्याओं को प्राप्त कर। जीव को लेश्या की शुद्धि परिणाम की शुद्धि होती है और परिणाम की विशुद्धि मन्द कषाय वालों को होती है। कषायों की मन्दता बाह्य वस्तुओं के राग को छोड़ने वाले को होता है अतः शरीर आदि में राग बिना का जीव लेश्या शुद्धि को प्राप्त करता है। जैसे छिनके वाला धान की शुद्ध नहीं होती है वैसे सगगी जीव को लेश्या शुद्धि नहीं होती है। यदि जीव शुद्ध लेश्याओं के विशुद्ध स्थानों में रहकर काल करे तो वह विशिष्ट आराधना को प्राप्त करता है। इसलिए लेश्या शुद्धि के लिए अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि जीव जिस लेश्या में मग्न है उसी लेश्या में उत्पन्न होता है। और लेश्या रहित परिणाम को प्राप्त करते ज्ञान दर्शन से सम्पूर्ण आत्मा सर्व क्लेशों को नाश करके अक्षय सुख समृद्धि वाली सिद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार आगम समुद्र की बाढ़ समान और सद्गति में जाने का सरल मार्ग समान चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा समाधि द्वार में लेश्या नाम का सातवाँ अन्तर द्वार कहा है। लेश्या विशुद्ध ऊपर चढ़कर क्षपक साधु जो आराधना को प्राप्त करते हैं उसे अब फल द्वार में कहते हैं।

आठवाँ फल प्राप्ति द्वार :—आराधना तीन प्रकार की होती है—उत्कृष्टय, मध्यम और जघन्य। इसकी स्पष्ट तारतम्य लेश्या द्वारा कहा है।

शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट अनासक्ति में परिणामी को अर्थात् सर्वथा अनासक्त बनकर जो मरता है उसे अवश्यमेव उत्कृष्ट आराधना होती है। बाद के शेष रहे शुक्ल ध्यान के जो अध्यवसाय और पद्म लेश्या के जो परिणाम प्राप्त करते हैं उसे श्रीवीर राग परमात्मा ने मध्यम आराधना कहा है। फिर जो तेजो लेश्या के अध्यवसाय, उस परिणाम को प्राप्त कर जो मरता है उसे भी यहाँ जघन्य आराधना जानना। वह तेजो लेश्या वाला आराधक समकित आदि से युक्त ही होता है वह आराधक होता है ऐसा जानना, केवल लेश्या से आराधक नहीं होता है क्योंकि तेजो लेश्या तो अभव्य देवों की भी होती है। इस प्रकार कई उत्कृष्ट आराधना से समग्र कर्म के प्रदेशों को खतम करके सर्वथा कर्मरज रहित बने सिद्धि को प्राप्त करते हैं और कुछ शेष रहे कर्म के अंशों वाला मध्यम आराधना की साधना कर सुविशुद्ध शुक्ल लेश्या वाला भव सप्तम (अनुत्तर) देव होता है। अप्सराओं वाला कल्पोपपन्न (बारहवें देव लोक वाले) देव का जो सुख का अनुभव करता है उससे अनन्त गुणा सुख भव सप्तम देवों को होता है। चारित्र्य तप ज्ञान दर्शन गुण वाला कोई मध्यम आराधक विमानिक इन्द्र और कई सामानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। श्रुत भक्ति से युक्त उग्र तप वाले, नियम और योग की सम्यक् शुद्धि वाले धीर आराधक लोकान्तिक देव होते हैं। आगामी आने वाले जन्म में स्पष्ट रूप में अवश्यमेव मुक्ति पाने वाला होता है, वह आराधक देवों की जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रिय जन्य सुख होता है उन सबको प्राप्त करता है। और तेजो लेश्या वाला जो जघन्य आराधना को करता है वह भी जघन्य से सौधर्म देव की ऋद्धि को तो प्राप्त करता ही है। फिर अनुत्तर भोगों को भोगकर वहाँ से च्यवन कर वह उत्तम मनुष्य जीवन को प्राप्त करके अतुल ऋद्धि को छोड़कर श्री जैन कथित धर्म का आचरण करता है। और जाति स्मरण वाला, बुद्धि वाला, श्रद्धा, संवेग और वीर्य उत्साह को प्राप्त करते वह परीषद् की सेना को जीतकर और उपवर्ग रूपी शत्रुओं को हराकर शुक्ल ध्यान को प्राप्त करते, शुक्ल ध्यान से संसार का क्षय करके कर्मरूपी आवरण को सर्वथा तोड़कर सर्व दुःखों का नाश करके सिद्धि को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जघन्य से भी आराधना करने वाला जीव सर्व कलेशों को नाश करके सात आठ जन्म में तो अवश्य परमपद को प्राप्त करता है। और सर्वज्ञ सर्वदर्शी जन्म जरा आदि दोष रहित निरूपम सुख वाला वह भगवन्त सदा वहाँ रहता है। नारक और तिर्यचों को दुःख, मनुष्यों को किंचित दुःख, देवों को किंचित सुख और मोक्ष में एकान्त से सुख होता है।

सिद्धों के सुख का स्वरूप :—रागादि दोषों के अभाव में और जन्म जरा मृत्यु आदि का असम्भव होने से, पीड़ा का अभाव होने से सिद्धों का अवश्यमेव शाश्वत सुख ही होता है। क्योंकि राग, द्वेष, मोह एवं दोषों का पक्ष आदि संसार का चिन्ह है अथवा अति संकलेश जीवन संसार का कारण है। इन रागादि से पराभव प्राप्त करने वाला और इससे जन्म, मरणरूपी जल वाले संसार समुद्र में बार-बार भ्रमण करते संसारी आत्मा को किंचित भी सुख कहाँ से मिल सकता है? रागादि के अभाव में जीव को सुख होता है उसे केवली भगवन्त ही जानते हैं। क्योंकि सन्निपात रोग से पीड़ित जीव उनकी निरोगता के सुख को निश्चय से नहीं जान सकता है। जैसे बीज जल जाने पर पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है। उसी तरह कर्म बीज रागादि जल जाने के बाद संसार अंकुर जन्म की उत्पत्ति नहीं होती है। जन्म के अभाव में जरा नहीं है, मरण नहीं है, भय नहीं है और संसार की अन्य गति में जाने का भी भय नहीं होता है तो उन सर्व के अभाव में मोक्ष परम सुख कैसे नहीं हो सकता है? सकल इन्द्रियों के विषय सुख भोगने के बाद उत्सुकता की निवृत्ति से अनुभव करते संसार सुखों के समान अव्याबाध से ही मोक्ष सुख की श्रद्धा करना चाहिए। विशेष में ये सारे इन्द्रिय जन्य विषय सुख भोगने के बाद में उसकी उत्सुकता की निवृत्ति होती है उसकी इच्छा पुनः होने से वह केवल अल्प कालिक है और सिद्धों की पुनः वह अभिलाषा नहीं होने से वह निवृत्ति सर्वकाल की, ऐकान्तिक और आत्यन्तिकी है इसलिए उनको परम सुख है। इस प्रकार अनुभव से, युक्ति से, हेतु से, तथा श्री जिनेश्वर परमात्मा के आगम से भी सिद्ध सिद्धों का अनन्त शाश्वत सुख श्रद्धा करने योग्य है। इस आराधना विधि को आगम के अनुसार सम्यक् आराधना कर भूतकाल में सर्व कलेशों का नाश करने वाले अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं। इस आराधना विधि को आगम के अनुसार सम्यक् आराधना कर वर्तमान काल में भी विवक्षित काल में निश्चय संख्याता सिद्ध हुए हैं। और इस आराधना विधि को आगम के अनुसार सम्यक् आराधना कर भविष्य काल में निश्चल अनन्त जीव सिद्ध होंगे। इस तरह आगम में तीनों काल में इस आराधना विधि की विराधना कर संसार को बढ़ाने वाले भी अनेक जीव को कहा है। इस प्रकार इस बात को जानकर इस आराधना में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इस संसार समुद्र में जीव को निश्चय रूप दूसरा कोई भी दुःख का प्रतिकार करने वाला नहीं है।

भव्यात्माओं को 'एकान्त श्रद्धा' आदि भावों से महान् आगम परतंत्रता को ही निश्चय इस आराधना का मूल भी जानना क्योंकि छद्मस्थों को मोक्ष

मार्ग में आगम को छोड़कर दूसरा कोई भी प्रमाण नहीं है, अतः उसमें ही प्रयत्न करना चाहिए। इस कारण से सुख की अभिलाषा वाले को निश्चय सर्व अनुष्ठान को नित्यमेव अप्रमत्त रूप में आगम के अनुसार ही करना चाहिए। पूर्व में इस ग्रन्थ में मरण विभक्ति द्वार में जो सूचन किया है कि— आराधना फल नामक द्वार में मरण के फल को स्पष्ट करेंगे, इसलिए अब वह अधिगत द्वार प्राप्त होने से यहाँ पर मैं अनुक्रम से मरण के फल को भी अल्प मात्र कहता हूँ। उसमें वेहाणस और गृद्ध पृष्ठ मरण सहित दस प्रकार का मरण सामान्य और दुर्गतिदायक कहा है। एवं पूर्व में कहे विधान अनुसार क्रम वाला शेष पण्डित, मिश्र, छद्मस्थ, केवली, भक्त परिज्ञा इंगित और पादपोगमन ये सात मरण सामान्य से तो सद्गतिदायक हैं। केवल अन्तिम तीन का सविशेष फल कहा है। और शेष चार का फल तो उसके प्रवेश के समान ही जानना अथवा उस-उस संथारे के अनुसार जानना। उसमें भी भक्त परिज्ञा का फल तो उसमें वर्णन के समय कहा है इसलिए इंगिनी मरण का फल कहता हूँ।

पूर्व के कथनानुसार विधि से इंगिनी अनशन को सम्यक् आराधना कर सर्व कलेशों का नाश करने वाले कई आत्मा सिद्ध हुए हैं और कई वैमानिक में देव हुए हैं। इस इंगिनी मरण का फल भी आगम कथित विधान अनुसार कहा है। अब पादपोषगमन नामक मरण का फल कहते हैं। सम्यक्तया पादपोषगमन में स्थिर रहा सम्यक् धर्मध्यान और शुल्क ध्यान का ध्यान करते कोई आत्मा शरीर छोड़कर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है और कोई क्रमशः कर्म का क्षय करते सिद्ध का सुख भी प्राप्त करता है। उस सिद्धि की प्राप्ति का क्रम और उसका स्वरूप सामान्य से कहता हूँ।

युद्ध में अग्रसर रहे सुभट समान स्वराज्य को प्राप्त करता है वैसे धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान का ध्यान करते, शुभ लेश्या वाला अपूर्व करणादि के क्रम से यथोत्तर चारित्र्य शुद्धि से क्षपक श्रेणि में चढ़ते आराधक ज्ञानावरणीय आदि सहित मोह सुभट को खतम कर केवल ज्ञाना राज्य को प्राप्त करता है फिर वहाँ कुछ कम पूर्व करोड़ वर्ष तक अथवा अन्तर्मुहूर्त उस तरह रहते हैं उसमें यदि वेदनीय कर्म बहुत और आयुष्य कर्म कम हो तो उस महात्मा की आयुष्य अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाए तब शेष कर्मों की स्थिति को आयुष्य के समान करने के लिए समुद्घात को करते हैं। जैसे गोला वस्त्र को चौड़ा करने से क्षण में सुख जाता है। उसी तरह शीघ्र नहीं सुखने से वेदनीय आदि कर्म अनुक्रम से बहुत काल में खतम करता है, परन्तु वह समुद्घात करने वाले को अवश्यमेव क्षण में भी क्षीण होता है। अतः समस्त घाती कर्म के आवरण को क्षण से

बढ़ते वीर्योल्लास वाले उन कर्मों को शीघ्र खत्म करने के लिए उस समय समुद्रघात के आरम्भ में करते हैं, उसमें चार समय में क्रमशः दण्ड आकार, कपाट, मंथान और सारे जग (चौदह राजलोक) में व्याप्त—पूरण करते हैं। फिर क्रमशः उसी तरह चार समय में वापिस सिकोड़ते हैं। इस तरह वेदनीय नाम और गौत्र कर्म को आयुष्य कर्म के समान स्थिति वाला करके फिर शैलेशी करने के लिए योग निरोध करते हैं। उसमें प्रथम बादर कार्य योग से बादर मनोयोग को और बादर वचन योग का निरोध करते हैं फिर काया योग को सूक्ष्म काय योग से स्थिर करते हैं, फिर सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्म मन और वचन योग को रोककर केवल सूक्ष्म काय योग में केवली सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति नामक तीसरा शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हैं उसके बाद यह तीसरी सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति ध्यान द्वारा सूक्ष्म काय योग को भी रोकते हैं, तब सर्व योगों का निरोध होने से वह शैलेशी और निश्चल आत्म प्रवेश वाला होने से सर्वथा कर्म बन्धन रहित—अबन्धक होता है, फिर शेष रहे कर्मों के अंशों को क्षय करने के लिए पाँच अक्षरों के उच्चारण काल में वह चौथा “व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती” शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हैं। उस पाँच ह्रस्व अ-इ-उ-ऋ-ॠ-लृ-स्वरों के उच्चारण करते जितने समय में अन्तिम ध्यान के बल से द्विचरिम समय में उदीरणा नहीं हुए सर्व प्रकृतियों को खत्म करते हैं। फिर अन्तिम समय में वे तीर्थंकर जैन हों तो बारह को और शेष सामान्य केवली ग्यारह को खपाते हैं, फिर ऋजुमति से अनन्तर समय में ही अन्य क्षेत्र तथा अन्य काय को स्पर्श किए बिना ही जगत के चौदहवें राजलोक के शिखर पर पहुँच जाते हैं।

वह इस प्रकार जघन्य मनोयोग वाला संज्ञी पर्याप्त को यह पर्याप्त होता है, तब प्रथम समय में जितने मनोद्रव्य और उसका जितना व्यापार हो, उससे असंख्य गुणाहीन मनोद्रव्यों को प्रति समय में निरोध करता है, असंख्याता समय में वह सर्व मन का निरोध करता है। इस तरह सर्व जघन्य वचन योग वाले पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव को पर्याप्त होने के पहले समय में जघन्य वचन योग के जो पर्याप्त अंश होता है उससे असंख्य गुणाहीन अंशों का प्रति समय में निरोध करता है, असंख्याता समय में सम्पूर्ण वचन योग का निरोध करता है और फिर प्रथम समय में उत्पन्न हुए सूक्ष्म निगोद के जीव को जो सर्व जघन्य काय योग होता है, उससे असंख्यात् गुणा काय योग का प्रत्येक समय में निरोध करते हैं। अबगाहन के तीसरे भाग को छोड़ते, असंख्यात् समय में सम्पूर्ण काय योग का निरोध करते हैं, तब सम्पूर्ण योग का निरोध करने वाले वह शैलेशी-

करण को प्राप्त करते हैं। शैलेशी की व्याख्या इस प्रकार की है कि—शैलेश अर्थात् पर्वत का राजा मेरु पर्वत उसके समान जो स्थिरता हो उसे शैलेशी होता है। अथवा पूर्व में अशैलेश अर्थात् कम्पन वाला होता है, उसे स्थिरता द्वारा शैलेश—मेरु तुल्य होता है। अथवा स्थिरता से वह ऋषि शैल समान है, अतः शैल + ऋषि = शैलेशी होता है और उसी शैलेशी के लेश्या का लोप करने से अलेशी बनता है। अथवा शील अर्थात् समाधि उसे निश्चल से सर्व संवर कहलाता है। शील + इश = शीलेश और शीलैनी की जो अवस्था वह शब्द शास्त्र के नियम से शैलेशी होता है। शीघ्रता अथवा विलम्ब बिना जितने काल में पाँच ह्रस्व स्वर बोले जाएँ उतने काल मात्र में वह शैलेशी अवस्था रहती है। काय योग निरोध के प्रारम्भ से सर्व योग निरोध रूप शैलेशी करे तब तक वह तीसरा सूक्ष्म क्रिया—अनिवृत्ति ध्यान को तथा शैलेशी के काल में चौथा व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती ध्यान को प्राप्त करते हैं। उसमें यदि पूर्व अपूर्वकरण गुण-स्थानक में उस शैलेशीकरण से असंख्यात् गुणा गुण श्रेणि द्वारा जो कर्म दलिक की रचना निषेध किया था, उसे क्रमशः समय-समय पर खत्म करते शैलेशी काल में सर्व दलिक को खत्म कर, पुनः उसमें शैलेशी के द्विचरम समय में कुछ प्रकृतियों को सम्पूर्ण खत्म कर और चरम समय में कुछ सम्पूर्ण खपाते हैं। वह विभाग रूप में कहा है।

मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय, जाति, व्रस, बादर, पर्याप्ता और सौभाग्य, आदेय तथा यशनाम ये आठ नामकर्म, अन्यवर, वेदनीय मनुष्यायु और उच्च गौत्र, तथा सम्भव—तीर्थकर हों तो जैन नामकर्म अतिरिक्त नरानुपूर्वी ये तेरह अन्य ग्रन्थों के आधार पर मतान्तर से नरानुपूर्वी के बिना बारह, और अन्त समय में बहत्तर मतान्तर से तिहत्तर को द्विचरम समय में केवली भगवन्त सत्ता में से क्षय करते हैं। यहाँ पर जो औदारिकादि तीन शरीर को सर्व विप्पजहणाओं से त्याग करे ऐसा कहा है उन सर्व प्रकार के त्याग से छोड़े ऐसा जानना। पूर्व में जो संघातन के पारशाटन द्वारा दलिक बिखेरता था, वह नहीं, परन्तु सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, अनन्त मुख और सिद्धत्व, इसके बिना उसका भव्यत्व और सारे औदयिक भावों को एक साथ नाश करता है। और ऋजु-गति को प्राप्त करते वह आत्मा अन्य समय में आत्मा की अचिन्त्य शक्ति होने से बीच में अन्य आकाश प्रदेशों को भी स्पर्श किए बिना ही एक ही समय में वह सिद्ध होता है। अर्थात् वह सात राज ऊँचे सिद्ध क्षेत्र में पहुँचता है। फिर साकार ज्ञान के उपयोग वाला उस बन्धन से मुक्त होने से तथा स्वभाव से ही जैसे रेडी का फल बन्धन मुक्त होते ऊँचा उछलता है, वैसे ऊँचा जाता है, फिर

वहाँ चौदह राजलोक के ऊपर धर्मास्तिकाय के अभाव में कर्म मुक्त उसकी आगे ऊर्ध्व गति नहीं होती है और अधर्मास्तिकाय द्वारा उसकी वही सादि अनन्त काल तक स्थिरता होती है। औदारिक, तेजस, कामेण इन तीनों शरीर को यहाँ छोड़कर वहाँ जाकर स्वभाव में रहते सिद्ध होता है और धनीभूत जीव प्रदेश जितनी रोककर उतना चरम देह से तीसरे भाग में न्यून अवगाहना को प्राप्त करता है। 'इषत् प्रागभार' नाम की सिद्धशिला से एक योजन ऊँचे लोकान्त हैं उसमें उसके नीचे उत्कृष्ट से एक कोश का छठा विभाग सिद्धों की अवगाहना के द्वारा व्याप्त होते हैं। तीन लोक के मस्तक में रहे वे सिद्धात्मा द्रव्य पर्यायों से युक्त जगत को तीन काल सहित सम्पूर्ण जानते हैं और देखते हैं।

जैसे सूर्य एक साथ समविषय पदार्थों को प्रकाशमय करता है वैसे निर्वाण हुए जीव लोक को और अलोक को भी प्रकाश करते हैं। उनकी सर्व पीड़ा बाधाएँ नाश होती हैं, उस कारण से सभी जगत को जानते हैं तथा उनको उत्सुकता नहीं होने से वे परम सुखी रूप में अति प्रसिद्ध हैं। अति महान् श्रेष्ठ ऋद्धि को प्राप्त होते हुए भी मनुष्यों को इस लोक में वह सुख नहीं है कि जो उन सिद्धों को पीड़ा रहित और उपमा रहित सुख होता है। स्वर्ग में देवेन्द्र और मनुष्यों में चक्रवर्ती को जो इन्द्रिय जन्य सुख का अनुभव करते हैं उससे अनन्त गुणा और पीड़ा रहित सुख उन सिद्धों को होता है। सभी नरेन्द्र और देवेन्द्रों को तीन काल में जो श्रेष्ठ सुख है उसका मूल्य एक सिद्ध के एक समय में भी सुख जितना नहीं है। क्योंकि उन्हें विषयों से प्रयोजन नहीं है, क्षुधा आदि पीड़ाएँ नहीं हैं और विषयों के भोगने का रागादि कारण भी नहीं है। इससे ही प्रयोजन समाप्त हुआ है, इससे सिद्धों को बोलना, चलना, चिन्तन करना आदि चेष्टाओं का भी सद्भाव नहीं है। उन्हें उपमा रहित, माप रहित अक्षय, निर्मल, उपद्रव बिना का, जरा रहित, रोग रहित, भय रहित, ध्रुव-स्थिर, ऐकान्तिक, आत्यंतिक और अव्याबाध केवल सुख ही है। इस तरह केवली के योग्य पादपोगमन नाम का अन्तिम मरण का फल आगम की युक्ति अनुसार संक्षेप से कहा है। इस आराधना के फल को सुनकर बढ़ते संवेग के उत्साह वाले सर्व भव्यात्मा उस पादपोगमन मरण प्राप्त कर मुक्ति सुख को प्राप्त करो। इस प्रकार इन्द्रिय रूपी पक्षी को पिंजरे तुल्य सद्गति में जाने का सरल मार्ग समान, चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौ अन्तर द्वार वाला चौथा मूल समाधि लाभ द्वार में फल प्राप्ति नाम का आठवाँ अन्तर द्वार कहा है। प्रथम से यहाँ तक जीव के निमित्त धर्म की

योग्यता आदि से लेकर फल प्राप्ति तक द्वार कहा है। अब जीव रहित क्षपक मुनि के मृतक शरीर के विषय में जो कुछ कर्त्तव्य के विस्तार करणीय है उसे श्री जैनागम कथनानुसार न्याय से साधुओं के अनुग्रह के लिए विजहना नामक द्वार से कहा जाता है। यहाँ विजहना, परिट्ठवणा, परित्याग, फैंक देना आदि शब्द एक समान अर्थ वाले हैं।

नौवाँ विजहना द्वार :—पूर्व कहे अनुसार आराधना करते क्षपक मुनि जब मर जाये तब तक नियामिक साधुओं को उसके शरीर विषय में यह विजहना सम्यक् करना। अहो ! तूने महाभाग क्षपक को इस तरह चिरकाल औषधादि उपचारों से सारा संभाल ली, चिरकाल तक सेवा की, चिरकाल सहवास में रहा, साथ रहा, चिरकाल पढ़ाया, और बहुत समय तक समाधि द्वारा अनुग्रहित किया, ज्ञानादि गुणों द्वारा तू हमको भाई समान, पुत्र समान, मित्र समान, प्रिय और शुद्ध प्रेम का परम पात्र था परन्तु तुझे निर्दय मृत्यु ने आज क्यों छीन लिया ? हा ! हा ! हम लूटे गए। हम लूटे गये हैं। इस तरह रोने के शब्द बोलना आदि शोक नहीं करना, क्योंकि ऐसा करने से शीघ्र शरीर क्षीण होता है, सारा बल क्षीण होता है, स्मृति नाश होती है, बुद्धि विपरीत होती है, पागलपन प्रगट होता है और हृदय रोग भी हो सकता है। इन्द्रियों की शक्ति कम होती है, किसी तरह क्षुद्र देवी ठगती है और शास्त्र श्रवण से प्रगट हुआ शुभ विवेक का भी नाश होता है, लघुता होती है और लोग में अत्यन्त विमूढत्व माना जाता है। अधिक क्या कहें ? शोक सर्व अनर्थों का समूह है। इसलिए उसे दूर छोड़कर नियामिक महामुनि अति अप्रमत्त चित्त से इस तरह संसार स्थिति का विचार करे कि—हे जीव ! तू शोक क्यों करता है ? क्या तू नहीं जानता कि जो यहाँ जन्म लेता है उसका मरण है, पुनः जन्म और पुनः मरण अवश्यभावी हैं ? यह मरण रुकता नहीं है, अन्यथा दुष्ट भस्म राशि ग्रह के उदय होने पर भी और इन्द्र की विनती होने पर भी अतुल बल-वीर्य वाले, तीन जगत के परमेश्वर श्री वीर परमात्मा ने सिद्धि गमन के समय थोड़ी भी राह भी नहीं देखी। और दीर्घ काल तक सुकृत्स्न का संचय करने वाले गुण श्रेणी के आधारभूत अतिचार रूप कीचड़ से रहित निरतिचार संयम के उद्यम में प्रयत्नशील और आराधना की साधना कर काल धर्म की प्राप्त करने वाले उस क्षपक मुनि को शोक करना अल्पमात्र भी योग्य नहीं है। इस विषय में अधिक क्या कहें ? इस प्रकार सम्यक् विचार कर धीर वह नियामिक उद्वेग रहित शीघ्र उसे करने योग्य समग्र विधि करे। केवल काल हुए का मृत शरीर वसति के अन्दर अथवा बाहर भी हो, यदि अन्दर हो तो नियामिक इस विधि से उसे परठना त्याग करे।

महा पारिष्ठापना की विधि :—साधु जब मास कल्प अथवा वर्षा कल्प (चौमासा) रहे, वहाँ गीतार्थ सर्व प्रथम महा स्थंडिल अर्थात् मृतक परठने की निरवद्य भूमि की खोज करे। फिर किस दिशा में परठना ? उसके लिए विधि कहते हैं—(१) नैऋत्य, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम, (४) अग्नेयी, (५) वायव्य, (६) पूर्व, (७) उत्तर और (८) ऐशान। इस क्रमानुसार प्रथम दिशा में परठने से अन्न पानी सुलभ होता है, दूसरे दिशा में दुर्लभ होता है, तीसरे में उपधि नहीं मिलती, चौथे में स्वाध्याय शुद्ध नहीं होता है, पाँचवें में कलह उत्पन्न होता है, छठे में उनका गच्छ भेद होता है, सातवें में बीमारी और आठवें में मृत्यु होती है। उसमें भी यदि प्रथम दिशा में व्याघात किसी प्रकार का विघ्न हो तो दूसरे नम्बर वाली दिशा आदि में क्रमशः वह गुणकारी होती है जैसे कि नैऋत्य प्रथम श्रेष्ठ कही है वहाँ यदि विघ्न हो तो दूसरी दक्षिण दिशा प्रथम दिशा के समान गुण करती है। दूसरी दिशा में भी यदि विघ्न आता हो तीसरी पश्चिम प्रथम दिशा के समान गुण करती है। इससे सर्व दिशाओं में मृतक को परठने की शुद्ध भूमि की खोज करना। जिस समय मुनि काल धर्म को प्राप्त करे उसी समय अंगूठे आदि अंगुलियों को बांध लेना और श्रुत के मर्म को जानने वाला धीर वृषभ समर्थ साधु अंग छेदन तथा जागृत रहना। और यदि कोई व्यंतर आदि देव उस शरीर में आश्रय करे और इससे मृतक उठे, तो धीर साधु शास्त्र विधि से उसे शान्त करना। और यदि डेढ़ भोग वाले नक्षत्र में काल धर्म प्राप्त करे तो दर्भ (घास) के दो पुतले और यदि समभोग वाले नक्षत्र में काल धर्म प्राप्त करे तो एक पुतला करना, यदि आधे भोग वाले में काल करे तो नहीं करना। उसमें तीन उत्तरा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये छह नक्षत्र पेंतालीस मुहूर्त्त के डेढ़ भोग वाले हैं। शभिषक्, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र आधे भोग वाले हैं और शेष नक्षत्र समभोग वाले हैं। गाँव जिस दिशा में हो उस दिशा में गाँव की ओर मृतक का मस्तक रहे इस तरह उसे ले जाना चाहिए, और पीछे नहीं देखते उसे स्थंडिल परठने की भूमि ओर ले जाना। इससे किसी समय में यक्षाविष्ट होकर यदि मृतक नाचे तो भी गाँव में नहीं जाना चाहिये।

सूत्र अर्थ और तदुभय का जानकार गीतार्थ एक साधु पानी और कृश-तृण लेकर पहले स्थंडिल भूमि जाए और वहाँ सर्वत्र उस तृणों को समान रूप से बिछा दे। यदि उस तृण के ऊपर मृतक का मस्तक, मध्य में कटिभाग और नीचे पैर का भाग में विषम-ऊँचा, नीचा हो, तो अनुक्रम से आचार्य, वृषभ साधु और सामान्य साधु का मरण अथवा बीमार होगी। जहाँ तृण न हो वहाँ चूर्ण-वास से अथवा केसर के पानी की अखण्ड धारा से स्थंडिल भूमि के ऊपर

मस्तक के भाग में 'क' और नीचे पैर के भाग में 'त' अक्षर लिखे। मृतक किसी समय उठकर यदि भागे तो उसे गाँव की तरफ जाने से रोके, मृतक का मस्तक गाँव की दिशा तरफ रखना चाहिये। और अपने को उपद्रव नहीं करे इसलिए साधुओं द्वारा मृतक की प्रदक्षिणा हो इस तरह वापिस नहीं आना। साधु की मृतक निशानी के लिए रजो हरण, चोल पट्टक, मुहपत्ति मृतक के पास में रखे। निशानी नहीं रखनेसे दोष उत्पन्न होता है जैसे कि क्षपक मुनि देव हुआ हो फिर ज्ञान से मृतक को देखे तब चिन्ह के अभाव में पूर्व में स्वयं को मिथ्यात्व मानकर वह मिथ्यात्व को प्राप्त करता है अथवा किसी लोगों ने इसका खून किया है ऐसा मानकर राजा गाँव के लोगों का वध बंधन करता है। इस तरह अन्य भी अनेक दोष श्री आवश्यक निर्युक्ति आदि अन्य ग्रन्थ में कहा है। वहाँ से जान ले। जो साधु जहाँ खड़े हों वहाँ से प्रदक्षिणा न हो इस तरह वापिस आए और गुरु महाराज के पास आकर परठने में अविधि हुई हो उसका काउस्सग करे, परन्तु वहाँ नहीं करे। काल करने वाला यदि आचार्यादि या रत्नादिक बड़े प्रसिद्ध साधु हो अथवा अन्य साधु के सगे सम्बन्धी या जाति वाले हों तो अवश्यमेव उपवास करना और अस्वाध्याय रखना, परन्तु स्व पर यदि अशिवादि हो तो उपवास नहीं करना। सूत्रार्थ में विशारद गीतार्थ स्थवीर दूसरे दिन प्रातःकाल क्षपक के शरीर को देखे और उसके द्वारा उसकी शुभा-शुभ गति जाने। यदि मृतक का मस्तक किसी मांसहारी पशु-पक्षी द्वारा वृक्ष या पर्वत के शिखर पर गया हो तो मुक्ति को प्राप्त करेगा। किसी ऊँची भूमि के ऊपर गया हो तो विमानवासी देव हुआ, समभूमि में पड़ा हो तो ज्योतिषी-बाण व्यंतर देव तथा खड्डे में गिरा हो तो भवन पति देव हुआ है ऐसा जानना। जितने दिन वह मृतक दूसरे से अस्पृशित और अखण्ड रहे उतने वर्षों तक उस राज्य में सुकाल कुशल और उपद्रव का अभाव होता है। अथवा मांसहारी श्वापद क्षपक के शरीर को जिस दिशा में ले जाए उस दिशा में सुविहित साधु के विहार योग्य सुकाल होता है। इस तरह श्री जैनचन्द्र सूरिश्वर ने रची हुई सद्गति जाने का सरल मार्ग समान चार मूल द्वार वाली संवेगरंगशाला नाम की आराधना के नौवाँ अन्तर द्वार वाला चौथा समाधि लाभ द्वार में विजहना नाम का नौवाँ अन्तर द्वार कहा है। यह कहने से समाधि लाभ नामक चौथा मूल द्वार पूर्ण किया है और यह पूर्ण होने से यहाँ यह आराधना शास्त्र—संवेगरंगशाला पूर्ण हुआ।

इस प्रकार महामुनि महसेन को श्री गौतम गणधर देव ने जिस प्रकार यहाँ कहा था उसी प्रकार सब यहाँ पर बतलाया है। अब पूर्व में गाथा ६४०

में जो कहा था कि—जिस तरह उसकी आराधना कर वह महसेन मुनि सिद्ध पद को प्राप्त करेगा उसका शेष अधिकार को अब श्री गौतम स्वामी के कथना-नुसार संक्षेप में कहता हूँ :—

महसेन मुनि की अन्तिम आराधना :—तीन लोक के तिलक समान और इन्द्र से वंदित श्री वीर परमात्मा के शिष्य श्री गौतम स्वामी ने इस तरह पूर्व में जिसका प्रस्तान किया था उसे साधु वर्ग और गृहस्थ सम्बन्धी आराधना विधि को विस्तारपूर्वक दृष्टान्त सहित परिपूर्ण महसेन मुनि को बतलाकर कहा है कि—भो ! भो ! महायश ! तुमने जो पूछा था उसे मैंने कहा है, तो अब तुम अप्रमत्त भाव में इस आराधना में उद्यम कर । क्योंकि—वे धन्य हैं, सत्पुरुष हैं जिन्होंने मनुष्य जन्म पुण्य से प्राप्त किया है कि निश्चलपूर्वक जिन्होंने इस आराधना को सम्पूर्ण स्वीकार किया है । वही शूरवीर है, वही धीर है कि जिसने श्री संध के मध्य में यह आराधना स्वीकार कर सूखपूर्वक चार स्कन्ध द्वार वाली आराधना में विजय ध्वजा को प्राप्त किया है, उन महानुभावों ने इस लोक में क्या नहीं प्राप्त किया ? अर्थात् उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया । और उद्यमशील होकर आदरपूर्वक जो आराधना करने वाले की सहायता करता है, उसे भी प्रत्येक जन्म में श्रेष्ठ आराधना को प्राप्त करता है । जो आराधक मुनि की भक्तिपूर्वक सेवा करता है और नमस्कार करता है वह भी सद्गति के मुखस्वरूप आराधना को फल को प्राप्त करता है । इस प्रकार श्री गौतम स्वामी के कहने से राजर्षि महसेन मुनि की हर्षानन्द से रोम-रोम गाढ़ उछलने लगे फिर श्री गणधर भगवन्त को तीन प्रदक्षिणा देकर पृथ्वी तल को मस्तक स्पर्श करते नमस्कार करके पुनरुक्ति दोष रहित अत्यन्त महाअर्थ वाली भाषा से इस तरह स्तुति करने लगा ।

श्री गौतम स्वामी की स्तुति :—हे मोहरूपी अन्धकार से व्याप्त इस तीन जगत रूपी मन्दिर को प्रकाशमय करने वाले प्रदीप ! आप विजयी रहो । हे मोक्षनगर की ओर प्रस्थान करते भव्य जीव के साथी ! आपकी जय हो । हे निर्मल केवल ज्ञानरूपी लोचन से समग्र पदार्थों के विस्तार से जानकार ज्ञाता । आपकी विजय हो । हे निरूपम अतिशायी रूप से सुरासुर सहित तीन लोक को जीतने वाले प्रभु ! आपकी जय हो । हे शुक्ल ध्यान रूप अग्नि से घन घाती कर्मों के गाढ़ वान को जाने वाले प्रभु आपकी जय हो । चन्द्र और महेश्वर के हास्य समान उज्ज्वल अति आश्चर्य कारक चारित्र्य वाले हे प्रभु ! आप विजयी रहो । हे निष्कारण वत्सल ! हे सज्जन लोक में सर्व से प्रथम पंक्ति को प्राप्त करते प्रभु ! आपकी विजयी हो । हे साधुजन को इच्छित पूर्ण

करने में अनन्य कल्पवृक्ष प्रभु ! आपकी जय हो । हे चन्द्रसम निर्मल यश के विस्तार वाले हे शरणागत के रक्षण में स्थिर लक्ष वाले ! और हे राग रूपी शत्रु के घातक हे गणधर श्री गौतम प्रभु ! आप विजयी हैं ! आप ही मेरे स्वामी पिता हो, आप ही मेरी गति और मति हो, मित्र और बन्धु भी आप ही हो आपसे अन्य मेरा हितस्वी कोई नहीं है । क्योंकि—इस आराधना विधि के उपदेशदाता आपने संसार रूपी कुँ में गिरते हुए मुझे हाथ का सहारा देकर बाहर निकाला है । आपके वचनामृत रूपी जल की धारा से सिंचन किया हुआ मैं हूँ । इस कारण से मैं धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ और मैंने इच्छित सारा प्राप्त किया है । हे परम गुरु ! प्राप्ति करने में अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी तीन जगत की लक्ष्मी मिल सकती है, परन्तु आपकी वाणी का श्रवण कभी नहीं मिलता है । हे भवन बन्धु । यदि आपकी अनुज्ञा मिले तो अब मैं संलेखना पूर्वक आराधना विधि को करना चाहता हूँ ।

फिर फ़ैलती मनोहर उज्ज्वल दाँत की कान्ति के समूह से दिशाओं को प्रकाश करते श्री गौतम स्वामी ने कहा कि—अति निर्मल बुद्धि के उत्कृष्ट से संसार के दुष्ट स्वरूप को जानने वाले, परलोक में एक स्थिर लक्ष्य वाले, सुख की अपेक्षा से अत्यन्त मुक्त और सद्गुरु की सेवा से विशेषतया तत्त्व को प्राप्त करने वाले हे महामुनि महसेन ! तुम्हारे जैसे को यह योग्य है इसलिए इस विषय में थोड़ा भी विलम्ब नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह शुभ अवसर बहुत विघ्न वाला होता है और पुनः पुनः धर्म सामग्री भी मिलना दुर्लभ है और कल्याण की साधना सर्व प्रकार के विघ्नवाली होती है, और ऐसा होने से जिसने सर्व प्रयत्न से धर्म कार्यों में उद्यम किया उसी ने ही लोक में जय पताका प्राप्त की है । उसी ने ही संसारमय को जलांजलि दी है और स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी को हस्त कमल में प्राप्त की है । अथवा तूने क्या नहीं साधन किया ? इसलिए साधुता का सुन्दर आराधक तू कृत पुण्य है कि तेरी चित्त प्रकृति सविशेष आराधना करने के लिए उत्साही हो रहा है । हे महाभाग ! यद्यपि तेरी सारी क्रिया अवश्यमेव आराधना रूप है फिर भी अब यह कही हुई उस विधि में रढ़ प्रयत्न कर ।

यह सुनकर परम हर्ष से प्रगट हुए रोमांच वाले राजर्षि महसेन मुनि गणधर के चरणों में नमस्कार कर, मस्तक को कर कमल को लगाकर—हे भगवन्त ! अब से आपने जो आज्ञा की उसके अनुसार करूँगा । इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वहाँ से निकला । फिर पूर्वोक्त दुष्कर तपस्या को सविशेष करने से दुर्बल शरीर वाले बने हुए भी वह पूर्व में विस्तार पूर्वक कही हुई विधि से सम्यक्त्व द्रव्य भाव संलेखना को करके त्याग करने योग्य भाव के पक्ष को

छोड़कर, सर्व उपादेय वस्तु के पक्ष में लीन बने स्वयं कुछ काल निःसंगता से एकाकी रूप विचरण किया। फिर मांस रुधिर आदि अपनी शरीर की धातुओं को अति घटाया, और शरीर की निर्बलता को देखकर विचार करने लगा कि आज दिन तक मैंने अपने धर्माचार्य कथित विस्तृत आराधना के अनुसार समस्त धर्म कार्यों में उद्यम किया है, भव्य जीवों को प्रयत्न पूर्वक मोक्ष मार्ग में जोड़ना, सूत्र, अर्थ के चिन्तन से आत्मा को भी सम्यक् वासित किया और अन्य प्रवृत्ति छोड़कर शक्ति को छुपाये बिना इतने काल, बाल, ग्याल आदि साधु के कार्यों में प्रवृत्ति (वैयावच्च) की। अब आँखों का तेज क्षीण हो गया है, वचन बोलने में भी असमर्थ और शरीर की अत्यन्त कमजोर होने से चलने में भी अशक्त हो गया हूँ अतः मुझे सूकृत्य की आराधना बिना का इस निष्फल जीवन से क्या लाभ ? क्योंकि मुख्यता धर्म की प्राप्ति हो उस शुभ जीवन का ज्ञानियों ने प्रशंसा की है। अतः धर्माचार्य को पूछकर और निर्यामणा की विधि के जानकार स्थविरों को धर्म सहायक बनाकर पूर्व में कहे अनुसार विधि-पूर्वक, जीव विराधना रहित प्रदेश में शिला तल को प्रमार्जन कर भक्त परिज्ञा-आहार त्याग द्वारा शरीर का त्याग करना चाहिए। ऐसा विचार कर वह महात्मा धीरे-धीरे चलते श्री गणधर भगवन्त के पास जाकर उनको नमस्कार करके कहने लगा कि—हे भगवन्त ! मैंने जब तक हाड़ चमड़ी शेष रही तब तक यथाशक्ति छट्ठ, अट्ठम आदि दुष्कर तप द्वारा आत्मा की संलेखना की। अब मैं पुण्य कार्यों में अल्प मात्र भी शक्तिमान नहीं है, इसलिए हे भगवन्त ! अब आप की आज्ञानुसार गीतार्थ स्थविरों की निश्चा में एकान्त प्रदेश में अनशन करने की इच्छा है, क्योंकि अब मेरी केवल इतनी अभिलाषा है।

भगवान श्री गौतम स्वामी ने निर्मल केवल ज्ञान रूपी नेत्र द्वारा उसकी अनशन की साधना को भावि में निर्विघ्न जानकर कहा कि—‘हे महायश ! ऐसा करो और शीघ्र निस्तार पारक संसार से पार होने वाले बनो।’ इस प्रकार महसेन मुनि को आज्ञा दी और स्थविरों को इस प्रकार कहा कि—हे महानुभावों ! यह अनशन करने में दृढ़ उद्यमशील हुए को असहायक को सहायता देने में तत्पर तुम सहायता करो। एकाग्र मन से समयोचित सर्व कार्यों को कर पास में रहकर आदर पूर्वक उसकी निर्यामण करो ! फिर हर्ष से पूर्ण प्रगट हुए महान् रोमांच वाले वे सभी अपनी भक्ति से अत्यन्त कृतार्थ मानते श्री इन्द्रभूति की आज्ञा को मस्तक पर चढ़ाकर सम्यक् स्वीकार कर प्रस्तुत कार्य के लिए महसेन राजर्षि के पास आए, फिर निर्यामक से घिरे हुए वह महसेन मुनि जैसे भद्र जाति अति स्थिर उत्तम दांत वाले बड़ा अन्य हाथियों

से घिरा हुआ हाथी शोभता है, वैसे नियामक पक्ष से भद्रिक जातिवन्त अति स्थिर और इन्द्रियों को वश करने वाले नियामकों से शोभित धीरे-धीरे श्री गौतम प्रभु के चरण कमलों को नमस्कार कर पूर्व में पड़िलेहन कां हुई बीज त्रस जीवों से रहित शिला ऊपर बैठे और वहाँ पूर्व में कही विधि पूर्वक शेष कर्तव्य को करके महा पराक्रमी उन्होंने चार प्रकार के सर्व आहार का त्याग किया। स्थविर भी उनके आगे संवेग जनक प्रशममय महा अर्थ वाले शास्त्रों को सुनाने लगे। फिर अत्यन्त स्वस्थ मन, वचन, काया के योग वाले धर्म ध्यान के ध्याता, सुख दुःख अथवा जीवन मरणादि में समचित्त वाले, राधावेष्ट के लिए सम्यक् तत्पर बने मनुष्य के समान अत्यन्त अप्रमत्त और आराधना करने में प्रयत्न पूर्वक स्थिर लक्ष्य वाले बने उस महसेन मुनि की अत्यन्त दृढ़ता को अद्विधि ज्ञान के जानकर, अत्यन्त प्रसन्न बने सौधर्म सभा में रहे इन्द्र ने अपने देवों को कहा कि—हे देवों ! अपनी स्थिरता से मेरु पर्वत को भी जीतने वाले समाधि में रहे और निश्चल चित्त वाले इस साधु को देखो देखो ! मैं मानता हूँ कि प्रलय काल में प्रगट हुआ पवन के अति आवेग से उछलते जल के समूह वाले समुद्र भी मर्यादा को छोड़ देता है परन्तु यह मुनि अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ता है। नित्य स्थिर रूप वाली नित्य की वस्तुओं को किसी निमित्त को प्राप्त कर अपनी विशिष्ट अवस्था को छोड़े किन्तु यह साधु स्थिरता को नहीं छोड़ता है। जिसने लीला मात्र में कंकर मानकर सर्वकुल पर्वत को हथेली में उठा सकते हैं, और निमेषमात्र के समय में समुद्र का भी शोषण कर सकते हैं, उस अतुल बल से शोभित देव भी मैं मानता हूँ कि निश्चल दीर्घकाल में भी इस साधु के मन को अल्प भी चलित करने में समर्थ नहीं हो सकता है। यह एक आश्चर्य है कि इस जगत में ऐसा भी कोई महापराक्रम वाला आत्मा जन्म लेता है कि जिसके प्रभाव से तिरस्कृत तीनों लोक में भी असारभूत माना जाता है।

इस प्रकार बोलते इन्द्र महाराज के वचन को सत्य नहीं मानते एक मिथ्यात्व देव रोष पूर्वक विचार करने लगा कि—बच्चे के समान विचार बिना सत्ताधीश भी जैसे तैसे बोलता है, अल्पमात्र भी वस्तु की वास्तविकता का विचार नहीं करते हैं। यदि ऐसा न हो तो महाबल से युक्त देव भी इस मुनि को क्षोभ कराने में समर्थ नहीं है ? फिर भी निःशंकता इन्द्र क्यों बोलता है ? अथवा इस विकल्प से क्या प्रयोजन ? स्वयमेव जाकर मैं उस मुनि को ध्यान से चलित करता हूँ और इन्द्र के वचन को मिथ्या करता हूँ। ऐसा सोचकर शीघ्र ही मन और पवन को जीते, इस तरह शीघ्र गति से वह वहाँ से निकल-

कर और निमेष मात्र में महसेन मुनि के पास पहुँचा। फिर प्रलयकाल के समान भयंकर बिजली के समूह वाला, देखते ही दुःख हो और अतसी के पुष्प कान्ति वाला, काले बादलों के समूह उसने सर्व दिशाओं में प्रगट किया। फिर उसी क्षण में मूसलाधारा समान स्थूल और गाढ़ता से अन्धकार समान भयंकर धाराओं से चारों तरफ वर्षा को करने लगा, फिर समग्र दिशाओं को प्रचण्ड जल समूह से भरा हुआ दिखाकर नियामक मुनि के शरीर में प्रवेश करके महसेन राजर्षि को वह कहने लगा कि—श्री मुनि ! क्या तू नहीं देखता कि यह चारों ओर फैलते पानी से आकाश के अन्तिम भाग तक पहुँचा हुआ शिखर वाले बड़े-बड़े पर्वत भी डूब रहे हैं और जल समूह मूल से उखाड़ते विस्तृत डाली आदि के समूह से पृथ्वी मण्डल को भी ढक देते ये वृक्ष के समूह भी नावों के समूह के समान तर रहे हैं, अथवा क्या तू सम्यक् देखता नहीं है कि आकाश में फैलते जल के समूह से ढके हुए तारा मण्डल भी स्पष्ट दिखते नहीं है ? इस प्रकार इस जल के महा प्रवाह के वेग से खिंच जाते तेरा और मेरा भी जब तक यहाँ मरण न हो, वहाँ तक यहाँ से चला जाना योग्य है। हे मुनि वृषभ ! मरने को इच्छा छोड़कर प्रयत्नपूर्वक निश्चल आत्मा का रक्षण करना चाहिए, क्योंकि ओध नियुक्ति सूत्र गाथा ३७वें में कहा है कि—मुनि सर्वत्र संयम की रक्षा करे, संयम से भी आत्मा की रक्षा करते मृत्यु से बचे, पुनः प्रायश्चित्त करे, परन्तु मरकर अविरति न बने। इस तरह यहाँ रहे तेरे मेरे जैसे मुनियों का विनाश होने के महान् पाप के कारण निश्चय थोड़े में भी मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि हे भद्र ! हम तेरे लिए यहाँ आकर रहे हैं, अन्यथा जीवन की इच्छा वाले कोई भी क्या इस पानी में रहे ?

इस प्रकार देव से अधिष्ठित उस साधु के वचन सुनकर अल्प भी चलित नहीं हुआ और स्थिर चित्त वाले महसेन राजर्षि निपुण बुद्धि से विचार करने लगे कि क्या यह वर्षा का समय है ? अथवा यह साधु महासात्त्विक होने पर भी दोन मन से ऐसा अत्यन्त अनुचित कैसे बोले ? मैं मानता हूँ कि कोई असुरादि मेरे भाव की परीक्षार्थ मुझे उपसर्ग करने के लिये ऐसा अत्यन्त अयोग्य किया है। और यदि यह स्वाभाविक सत्य ही होता तो जिसे तीन काल के सर्व ज्ञेय को जानते हैं वे श्री गौतम स्वामी मुझे और स्थविरों को इस विषय में आज्ञा ही नहीं देते ! इसलिए यद्यपि निश्चल यह देव आदि का कोई भी दुष्ट प्रयत्न हो सकता है, फिर भी हे हृदय ! प्रस्तुत कार्य में निश्चल हो जा ! यदि लोक में निधन आदि की प्राप्ति में विघ्न होते हैं तो लोकोत्तर मोक्ष के साधक अनशन में विघ्न कैसे नहीं आते हैं ? इस प्रकार पूर्व कवच द्वार में

कथनानुसार धीरता रूप कवच से दृढ़ रक्षण करके अक्षुब्ध मन वाला वह बुद्धिमान महसेन मुनि धर्म ध्यान में स्थिर हुआ। फिर उस मुनि की इस प्रकार स्थिरता देखकर देव ने क्षण में बादल को अदृश्य करके सामने भयंकर दावानल को उत्पन्न किया, उसके बाद दावानल की फैलती तेजस्वी ज्वालाओं के समूह से व्याप्त ऊँचे जाती धुएँ की रेखा से सूर्य की किरण का विस्तार ढक गया, महावायु से उछलते बड़ी-बड़ी ज्वालाओं से ताराओं का समूह जल रहा था। उछलते तड़-तड़ शब्दों से जहाँ अन्य शब्द सुनना बन्द हो गया और भयंकर भय से कम्पायमान होती देवी और व्यंतरियों ने वहाँ अनीब कोलाहल कर रही थी। इससे सारा जगत चारों तरफ से जल रहा है, इस तरह देखा। इस प्रकार का भी उस दावानल को देखकर जब महसेन मुनि ध्यान से अल्प भी चलित नहीं हुआ तब देव ने विविध साग, भक्ष्य भोजन और अनेक जाति के पेय (पानी) के साथ श्रेष्ठ भोजन को आगे रखकर मधुर वाणी से कहा कि—हे महाभाग श्रमण ! निरर्थक भूखे रहकर क्यों दुःखी होता है ? निश्चय नौब कोटि परिशुद्ध—सर्वथा निर्दोष इस आहार का भोजन कर। 'निर्दोष आहार लेने वाला साधु को हमेशा उपवास ही होता है।' इस सूत्र को क्या तुम भूल गये हो ? कि जिससे शरीर का शोषण करते हो ? कहा है कि—चित्त की समाधि करनी चाहिए, मिथ्या कष्टकारी क्रिया करने से क्या लाभ है ? क्योंकि तप से सूखे हुए कंडरिक मुनि अधोगति में गया और चित्त के शुद्ध परिणाम वाला उसका बड़ा भाई महात्मा पुंडरिक तप किए बिना भी देवलोक में उत्पन्न हुआ। यदि संयम से थका न हो और उसका पालन करना हो तो हे भद्र ! दुराग्रह को छोड़कर अति विशुद्ध इस आहार को ग्रहण करो।

इस प्रकार मुनि वेशधारी मुनि के शरीर में रहे देव ने अनेक प्रकार से कहने पर भी महसेन मुनि जब ध्यान से भी अल्पमात्र भी चलित नहीं हुआ तब पुनः उसे अपने मन को मोहित करने के लिए पवित्र वेशधारी और प्रबल श्रेष्ठ शृङ्गार से मनोहर शरीर वाली युवतियों का रूप धारण कर वहाँ आया, फिर विकारपूर्वक नेत्र के कटाक्ष करती, सर्व दिशाओं को दूषित करती सुन्दर मुख चन्द्र की उज्ज्वल कान्ति के प्रकाश प्रवाह से गंगा नदी को भी हंसी करती और हंसीपूर्वक भुजा रूपी लताओं को ऊँची करके बड़े-विशाल स्तनों को प्रगट करती, कोमल झनझनना आवाज करती, पैर में पहनी हुई पजेब से शोभती थी, कंदोरा विविध रंग वाली मणियों की किरणों से सर्व दिशाओं में इन्द्र धनुष्य की रचना करती, कल्पवृक्ष की माला के सुगन्ध आकर्षित भ्रमर के समूह वाली, नाड़े के बाँधने के बहाने से क्षण-क्षण पुष्ट नाभि प्रदेश को प्रगट

करना, निमित्त बिना ही गात्र भंग बताने से विकार को बतलाती, बहुत हाव-भाव आश्चर्य आदि सुन्दर विविध नखरे करने में कुशल और हे नाथ ! प्रसन्न हो ! हमारा रक्षण करो ! आप ही हमारी गति और मति हो । इस प्रकार दो हाथ से अंजलि करके बोलती वे देवांगनाएँ अनुकूल उपसर्ग करने लगी, फिर भी वह महासत्त्वशाली महसेन मुनि ध्यान से चलित नहीं हुए । इस प्रकार अपने प्रतिकूल और अनुकूल तथा महा उपसर्गों को भी निष्फल जानकर निराश होकर वह देव इस प्रकार चिन्तन करने लगा कि—धिक् ! धिक् ! महामहिमा वाले इन्द्र की सरय बात की अश्रद्धा करके पापी मैंने इस साधु की आशातना की । ऐसे गुण समूह रूपी रत्नों के भण्डार मुनि को पीड़ा करने से पाप का जो बंधन हुआ, अब मेरा किससे रक्षण होगा ? बुद्धि की विपरीतता से यह जीव स्वयं कोई ऐसा कार्य को करता है कि जिससे अन्दर के शल्य से पीड़ित हो, वैसे वह दुःखपूर्वक जीता है । इस प्रकार वह देव चिरकाल दुःखी होते श्रेष्ठ भक्ति से महसेन मुनि की स्तवना कर और आदरपूर्वक क्षमा याचना कर जैसे आया था वैसे वापस चला गया ।

मान अपमान में और सुख दुःख में समचित्त वाले उत्तरोत्तर सविशेष बढ़ते विशुद्ध पणिमाम वाले वह महसेन मुनि भी अत्यन्त समाधि पूर्वक काल करके सर्वार्थ सिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की आयुष्य वाला देदीप्यमान देव हुआ । फिर उसका काल धर्म हुआ जानकर, उस समय के उचित कर्तव्य को जानकर और संसार स्वरूप के ज्ञाता स्थविरों ने उसके शरीर को आगम विधि के अनुसार तस, बीज, प्राणी, और वनस्पति के अंकुर आदि से रहित पूर्व में शोधन की हुई शुद्ध भूमि में सम्यक् प्रकार से परठन क्रिया की । उसके बाद उस मुनि के पात्र आदि धर्मोपकरण को लेकर अत्वरित, अचपल मध्यगति से चलते श्री गौतम स्वामी के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणा देकर उनको वन्दन करके उनको उपकरणों को सौंप कर नमो सिर वाले इस प्रकार से कहने लगे कि—हे भगवन्त ! क्षमापूर्वक सहन करने वाले, दुर्जय काम के विजेता, सर्व संग से रहित, सावध—पाप के सम्पूर्ण त्यागी, स्वभाव से ही सरल, स्वभाव से ही उत्तम चारित्र के पालक, प्रकृति से ही विनीत और प्रकृति से ही महासात्त्विक वह आपका शिष्य महात्मा महसेन दुःसह परीषहों को सम्यक् सहकर पंच नमस्कार का स्मरण करते और आराधना के असाधारण आराधना कर स्वर्ग को प्राप्त किया है । फिर मालती के माला समान उज्ज्वल दांत की कान्ति से प्रकाश करते हो । इस तरह श्री गौतम स्वामी ने मधुर वाणी से स्थविरों को कहा कि—हे महानुभाव ! तुमने उसकी निर्यामण

सुन्दर रूप में करवाई है, श्री जिन वचन के जानकार मुनिवर्य को ऐसा ही करना योग्य है। क्योंकि-संयम की पालन करने वाले असहायक को सहायता करते हैं उस कारण से साधु नमने योग्य हैं, क्योंकि अन्तिम आराधना के समय में सहायता करना, इससे दूसरा कोई उत्तम उपकार निश्चय रूप समग्र जगत में भी नहीं है। वह महात्मा भी धन्य है कि जिसने आराधना रूपी उत्तम नाव द्वारा दुःख रूपी मगरमच्छ के समूह से व्याप्त भयंकर संसार समुद्र को समुद्र के समान पार उतरे हैं। फिर स्थविरो ने पूछा कि—हे भगवन्त ! वह महसेन मुनि यहाँ से कहाँ उत्पन्न हुए हैं ? और कर्मों का नाशकर वह कब निर्वाणपद प्राप्त करेंगे ? उसे कहो—

त्रिभुवन रूपी भवन में प्रसिद्ध यश वाले श्री वीर परमात्मा के प्रथम शिष्य श्री गौतम प्रभु ने कहा कि तुम सब एकाग्र मन से सुनो—आराधना में सम्यक् स्थिर चित्तवाला वह महसेन मुनिवर इन्द्र ने प्रशंसा से कुपित हुए देव ने विघ्न किया, फिर भी मेरूपर्वत के समान ध्यान से निमेष मात्र भी चलित हुए बिना काल करके सर्वार्थ सिद्ध विमान में देदीप्यमान शरीर वाला देव हुआ है। आयुष्य पूर्ण होते ही वहाँ से च्यवन कर इसी ही जम्बू द्वीप में जहाँ हमेशा तीर्थंकर चक्रवती और वासुदेव उत्पन्न होते हैं वहाँ पूर्व विदेह की विजय में इन्द्रपुत्री समान मनोहर अपराजिता नगरी में, वंदी समूह को जीतने से फैली हुई कीर्ति वाले कीर्तिधर राजा के मुख से चन्द्र के बिम्ब की तुलना करने वाली लाल होठ वाली विजय सेना नाम की रानी होगी। उसके गर्भ में चिरकाल से उत्पन्न हुआ तेजस्वी मुख में प्रवेश करते पूर्ण चन्द्र के स्वप्न से सूचित वह महात्मा पुत्र रूप में उत्पन्न होगा। और नौव मास अतिरिक्त साढ़े सात रात दिन होने के बाद उत्तम नक्षत्र, तिथि और योग में उसका जन्म होगा। अत्यंत पुण्य के उत्कृष्टता से आकर्षित मन वाले देव, उसके जन्म समय में पास आकर सर्व दिशाओं के विस्तार को अत्यन्त शान्त निर्मल रज वाला और पवन के मंद-मंद हवा करके चारों ओर लोगों को क्रीड़ा करते-करते नगर में कुंभ भर-भर कर श्रेष्ठ रत्नों की वर्षा करने लगे, फिर धवल मंगल को गाती एकत्रित किये हजारों वीरांगनाओं के द्वारा मनोहर और मणि के मनोहर अलंकार से शोभित सर्व नागरिक वाला तथा नागरिकों के द्वारा दिया हुआ अधिक धन के दान से प्रसन्न हुए याचक वाला, याचकों से गाये जाते प्रगट गुण के विस्तार वाले, गुण विस्तार के श्रवण से हर्ष उत्सुकता से सामंत समूह को प्रसन्न करते और ऋद्धि के महान समूह की वधवाई होगी। फिर उचित समय में माता-पिता ने रत्नों के समूह का वर्षा होने से यथार्थ

रूप उसका नाम (रत्नाकर) करेंगे। क्रमशः बचपन व्यतीत होते समग्र शास्त्र-अर्थ का जानकार होगा। कई समान उम्र वाले और पवित्र वेष वाले विद्वान् उत्तम मित्रों से घिरा हुआ होगा, प्रकृति से ही विषय के संग से पराङ्मुख, संसार के प्रति वैरागी, और मनोहर वन प्रदेश में लीला पूर्वक घूमते वह रत्नाकर एक समय नगर के नजदीक रहे पर्वत की झाड़ी में विशाल शिला ऊपर अणसण स्वीकार किया हुआ और पास में बैठे मुनिवर उनको सम्पूर्ण आदर पूर्वक हित शिक्षा दे रहे थे। इस प्रकार विविध तप से कृश शरीर वाले दम घोष नामक महामुनिराज को देखें।

उनको देखकर (कहाँ मैंने भी ऐसी अवस्था को स्वयं मेव अनुभव की है।) ऐसा चिन्तन करते उसे उसी समय जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न होगा। और उसके प्रभाव से पूर्व जन्म के अभ्यस्त सारी आराधना विधि का स्मरण वाला बुद्धि रूप नेत्रों से वह गृहवास को पारा रूप, विषयों को विष तुल्य, धन को भी नाशवाला और स्नेहीजन के सुख को दुःख समान देखते सर्व विरति को स्वीकार करने की इच्छा वाला फिर भी माता-पिता की आज्ञा से विवाह से विमुख भी कुछ वर्ष तक घर में रहेगा और धर्ममय जीवन व्यतीत करते वह विशाल किल्ले और द्वार से सुशोभित ऊँचे शिखरों की शोभा से हिमवत और शिखरी नामक पर्वतों के शिखरों को भी हँसते अथवा हँसते पवन से नाच करती ध्वजाओं की रणकार करती मणि की छोटी-जोटी घंटडियों से मनोहर चन्द्र कुमुद-क्षीर समुद्र का फेन और स्फटिक समान उज्ज्वल कान्तिवाले, गीत स्तुति करते एवं बोलते भव्य प्राणियों के कोलाहल से गूँजती दिशाओं वाला, हमेशा उत्सव चलने से नित्य विशिष्ट पूजा से पूजित, दिव्य वस्त्रों के चंद्रवों से शोभित, मध्य भाग वाला मणि जड़ित भूमि तल में मोतियों के श्रेष्ठ ढेर वाला, हमेशा जलते कुंदूस कपूर धूप आदि सुगन्धि धूप वाला, पुष्पों के विस्तार की सुगंध से भोंरों भूँ-भूँ की गूँज करने वाला तथा अति शान्त दीप्य और सुन्दर स्वरूप वाला श्री जिन बिम्ब से सुशोभित अनेक श्री जिन मंदिर को विधि पूर्वक बनायेगा।

तथा अति दुष्कर तप और चारित्र्य में एकाग्र मुनिवरों की सेवा करने में रक्त होगा। सार्धमिक वर्ग के वात्सल्य वाला, मुख्य रूप उपशम गुण वाला, लोक विरुद्ध कार्यों का त्यागी, यत्न पूर्वक इन्द्रियों के समूह को जीतने वाला होगा, सम्यक्त्व सहित अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत को पालन करने में उद्यमी होगा, शान्त वेश को धारण वाला और श्रावक की ग्यारह प्रतिमा आराधना द्वारा सर्वविरति का अभ्यास करने वाला होगा। इस प्रकार निष्पाप

जीवन से कुछ समय व्यतीत करके वह महात्मा राज्य लक्ष्मी, नगर धन, कंचन, रत्नों के समूह, माता पिता और गाढ़ स्नेह से बन्धे हुए बन्धु वर्ग को भी वस्त्र पर लगे तृण के समान छोड़कर उपशम और इन्द्रियों के दमन करने में मुख्य चौदह पूर्व रूपी महा श्रुतरत्नों का निधान धर्मयश नामक आचार्य के पास में देवों समूह द्वारा महोत्पर्वक कठोर कर्मों रूपी पर्वत को तोड़ने में वज्र समान दीक्षा की सम्यक् प्रकार से स्वीकार करेगा। फिर सूत्र अर्थ के विस्तार रूप महा उछलते तरंगों वाला और अतिशय रूपी रत्नों से व्याप्त आगम समुद्र में चिरकाल स्नान करते छट्ठ, अट्ठम आदि दुष्कर उग्र तप चारित्र और भावनाओं से प्रतिदिन आत्मा शरीर और कषाय की दोनों प्रकार की तीव्र संलेखना करते, कायर मनुष्य के चित्त को चमत्कार करे इस प्रकार के वीरासन आदि आसनों से प्रतिक्षण उत्कृष्ट संलीनता का अभ्यास करते तथा संसार से डरा हुआ भव्य जीवों को कलूषा से उपदेश देने रूप रस्सी द्वारा मिथ्यात्व रूपी अंध कुएं में से उद्धार करते सूर्य के समान महा तेज वाले, चन्द्र समान सौम्य, पृथ्वी सदृश सर्व सहन करते, सिंह समान किसी से पराभूत नहीं होने वाले, तलवार और पशु के शृंग के समान अकेला, वायु के समान अस्खलित, शंख के समान निरंजन राग से रहित पर्वत के समान स्थिर, भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त और क्षीर समुद्र के समान गम्भीर इस तरह लोकोत्तर गुणों के समूह से शोभित पृथ्वी ऊपर विचरते अन्त समय में संलेखना क्रिया को विशेष प्रकार से करेगा।

फिर आत्मा की संलेखना करता वह महाभाग चारों आहार का त्याग करके एक महीने का पाद पोष गमन अनशन में रहेगा वहाँ शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से शीघ्र सम्पूर्ण कर्मवन को जलाकर जरा-मरण से रहित, इष्ट वियोग, अनिष्ट योग और दरिद्रता से मुक्त, एकान्तिक, आत्यंतिक व्याबाधारहित और श्रेष्ठ सुख से मधुर तथा पुनः संसार में आने का अभाव वाला अचल रजरहित, रोग रहित, क्षय रहित शाश्वत, अशुभ-शुभ सर्व कर्मों को नाश करने से होने वाला भयमुक्त अनन्त, शत्रु रहित असाधारण निर्वाणपद को एक ही समय में प्राप्त करेगा। और भक्ति वश प्रगट हुए रोमांच द्वारा व्याप्त देह वाले एकाग्र मन वाले देव उसका निर्वाण महोत्सव को करेगा।

इस प्रकार हे स्थविरो ! महर्सेन महामुनि को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल वाली, उत्कृष्ट कल्याण परम्परा को सम्यक् प्रकार से सुनकर, सर्वथा प्रमाद रहित, माया, मद, काम और मान का नाश करने वाले, संसार वास

से विरामी मन वाला और दुष्ट विकल्पों से अथवा शंकाओं से मुक्त तुम जिनमत रूपी समुद्र में से प्रगट हुआ यह आराधना रूपी अमृत का पान करो कि जिससे हमेशा जरा, मरण रहित तुम परम शान्ति स्वरूप मुक्ति को प्राप्त करो। इस प्रकार निर्मल ज्ञान के प्रकाश से मोहरूपी अंधकार चकचूर करने वाले श्री गौतम स्वामी ने यथास्थित वस्तु के रहस्य को कहा, तब मस्तक पर दो हस्त कमलों को स्थिर स्थापित कर हर्ष पूर्वक विकसित ललाट वाले विनय पूर्वक नमस्कार कर स्थविर इस प्रकार से स्तुति करने लगे।

हे निष्कारण बत्सल ! हे तीव्र मिथ्यात्व के अन्धकार को दूर करने वाले दिवाकर-सूर्य ! आपकी जय हो। हे स्व-पर उभय के भय को खतम करने वाले ! हे तीन लोक का पराभव करने वाले काम का नाश करने वाले ! हे तीन जगत में फैली हुई बर्फ समान उज्ज्वल विस्तृत कीर्ति के समूह वाला ! हे सुरासुर सहित मनुष्यों ने सर्व आदर पूर्वक की हुई मनोहर स्तुति वाद वाले ! हे मोक्ष नगर की ओर प्रस्थान करते भव्य जीवा समूह के परम सार्थवाह ! और हे अति गहरे समुद्र की भ्रान्ति कराने वाले भरपूर करुणा रस के प्रवाह वाले भगवंत आप विजयी रहें। हे स्वामी ! विश्व में ऐसी कोई उपमा नहीं है कि जिसके साथ आपकी तुलना कर सकूँ ? केवल आप से ही आपकी तुलना कर सकता हूँ परन्तु दूसरा कोई नहीं है। कम गुण वालों की उपमा से उपमेय की सुन्दरता किस तरह हो सकती है ? 'तालाब से समुद्र' इस तरह की हुई तुलना शोभायमान नहीं होती है। हे प्रभु ! सौधर्माधिपति इन्द्र आदि भी आपके गुण प्रशंसा करने के लिये समर्थ नहीं हैं तो फिर तुच्छ बुद्धि वाला अन्य व्यक्ति आपकी स्तुति कर सकता है ? हम हे नाथ ! यद्यपि आप की उपमा और स्तुति के अगोचर है, फिर भी सद्गुरु हो, चक्षु दाता और अत्यंत श्रेष्ठ उपकारी हो, इससे भक्ति समूह से चंचल हम आपकी ही स्तुति करते हैं, क्योंकि निश्चय रूप में आप से अन्य कोई भी स्तुति पात्र नहीं है। इस कारण से आप ही इस विश्व में जय प्राप्त करते हो कि जिससे संसार समुद्र में डुबते भव्य जीवों को यह आराधना रूपी नाव का परिचय करवाया। इस तरह श्रमणों में सिंह तुल्य भगवान श्री गौतम स्वामी की स्तुति कर स्थविर प्रारम्भ किये धर्म कार्यों को करने में सम्यग् प्रकार से प्रवृत्त हुए। इस प्रकार यह संवेग रंग शाला नाम की आराधना-रचना समाप्त हुआ है अब उसका कुछ अल्प शेष कहता हूँ।

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

श्री ऋषभादि तीर्थंकरों में अन्तिम भगवान और तीन लोक में विस्तृत कीर्ति वाले चौबीस में जिन वरेन्द्र अथवा जिन्होंने तेजस्वी अंतरंग शत्रुओं को हराकर 'वीर' यर्थात् नाम प्राप्त किया है और तीन जगत रूपी मंडप में मोह को जीतने से अतुल मल्ल होने से महावीर बने हैं। उन्होंने संयम लक्ष्मी की क्रीड़ा के लिये सुन्दर महल तुल्य सुधर्मा नाम से शिष्य हुए और उनके गुणी जन रूप पक्षियों के श्रेष्ठ जम्बूफल समान जम्बू नाम से शिष्य हुये। उनसे जानादि गुणों की जन्म भूमि समान महाप्रभु प्रभव नामक शिष्य हुआ और उनके बाद भाग्यवंत शय्यभवं भगवान हुए। फिर उस महाप्रभु रूपी वंशवृक्ष के मूल में से साधुवंश उत्पन्न हुआ, परन्तु उस वंश वृक्ष से विपरीत हुआ जैसे कि बांस जड़ होता है, साधुवंश में जड़ता रहित चेतन दशा वाला, और बांस ऊपर जाते पतला होता जाता है, परन्तु साधु वंश तो विशाल शाखा, प्रशाखाओं से विस्तृत सर्व प्रकार से गुण वाला, बांस के फल आते तब वह नाश होता है परन्तु यह वंश शिष्य प्रशिष्यादि से वृद्धि करने वाला, बांस पत्ते अन्त में सड़ जाते हैं किन्तु यह वंश सड़ाण रहित, श्रेष्ठ पात्र मुनियों वाला, सर्व दिशाओं में हमेशा छायावाला, कषाय तृप्त जीवों का आश्रय दाता, बांस का वृक्ष दूसरे से नाश होता है परन्तु यह वंश दूसरों द्वारा पराभव नहीं होने वाला तथा कांटे रहित, बांस अमुक मर्यादा में बढ़ता है परन्तु यह वंश हमेशा बढ़ने के गुणवाला तथा राजाओं के शिरसाबंध-मस्तक में रहे हुए फिर भी पृथ्वी में प्रतिष्ठा प्राप्त करते और वक्रता रहित अत्यन्त सरल अपूर्व वंश प्रवाह बढ़ते उसमें अनुक्रम से परमपद को प्राप्त करने वाले महाप्रभु श्री वंज स्वामी आचार्य भगवन्त हुए हैं।

उनकी परम्परा में काल क्रम से निर्मल यश से उज्ज्वल और कामी लोगों के समान गोरचन का महा समूह सविशेष सेवा करने योग्य है, तथा सिद्धि की इच्छा वाले मुमुक्षु लोगों के सविशेष वंदनीय और अप्रतिम प्रशम-भाव रूप लक्ष्मी के विस्तार के लिए अखूट भंडार भूत श्री वर्धमान सूरेश्वर हुए हैं उनके व्यवहार और निश्चय समान, अथवा द्रव्यस्तव और भाव स्तव समान परस्पर प्रीतिवाले धर्म की परम उन्नति करने वाले दो शिष्य हुए उसमें प्रथम आचार्य श्री जिनेश्वर सूरेश्वर जी हुए कि सूर्य के उदय के समान उनके उदय से दुष्ट तेजोद्वेषी चकोर की मिथ्यात्व प्रभा-प्रतिष्ठा लुप्त हुई। जिन्हों के महादेव के हास्य और हंस समान उज्ज्वल गुणों के स्मरण करते

भव्य जीवों के आज भी शरीर के रोमांच को अनुभव होता है। पुनः निपुण श्रेष्ठ व्याकरण आदि अनेक शास्त्रों के रचने वाले, जग प्रसिद्ध बुद्धि सागर सूरि नामक दूसरे शिष्य हुए उनके चरण कमल रूपी गोद के संसर्ग से परम प्रभाव प्राप्त करने वाले श्री जिनचन्द्र सूरिश्चर जी उनके प्रथम शिष्य हुए और पूर्णिमा के चन्द्र के समान भव्यात्य रूपी कुमुद के वन को शीतलता करने वाले, जगत में महा कीर्ति को प्राप्त करने वाले श्री अभयदेव सूरिश्चर जी दूसरे शिष्य हुए। राजा जैसे शत्रु को नाश करता है वैसे उन्होंने कुबोध रूपी महा शत्रु को नाश करने वाला श्री श्रुतधर्म रूपी राजा के तौव अंगों की वृत्ति को करने द्वारा उसकी दृढ़ता की है। वे श्री अभयदेव सूरि की प्रार्थना वश होकर श्री जिनचन्द्र सूरि जी ने माली के समान मूल सूत्र रूपी बाग में से वचन रूप उत्तम पुष्पों को वाणी रूप एकत्रित करके अपनी बुद्धि रूपी गुण-धागे से गूँथकर विविध विषय रूपी सुगन्ध के समूह वाली यह आराधना नाम की माला रची हुई है। श्रमणो रूपी भ्रमरों के हृदय को हरण करने वाली रक्षमाला को विलासी मनुष्यों के समान भव्य प्राणी अपने सुख के लिए सर्व आदरपूर्वक उपयोग करे।

ग्रन्थ रचना में सहायक और प्रेरक :—उत्तम गुणी मुनिवरों के चरणों में नमस्कार करने से जिसका ललाट पवित्र है उस सुप्रसिद्ध सेठ गोवर्धन के प्रसिद्ध पुत्र सा० जज्जनाग के नामक पुत्र हुए हैं, इन्होंने अति प्रशस्त तीर्थ यात्रायें करने से प्रसिद्ध अप्रतिम गुणों द्वारा कुमुद स्रष्टा निर्मल महान् कीर्ति को प्राप्त की है, तथा श्री जिन विम्बों की प्रतिष्ठापन, आगम लिखवाना इत्यादि धर्म कार्यों से अन्य का आत्मोत्कर्ष करने वाला और इष्टार्थ रखने वालों के चित्त को चमत्कार कराने वाला जिनागम से संस्कार प्राप्त कर बुद्धिमान बने हैं। उस श्री सिद्धवीर नामक सेठ की सहायता से और अत्यन्त भावना-पूर्वक इस आराधना माला की रचना की है।

ग्रन्थकार का आशीर्वाद :—इस रचना द्वारा हमें जो किञ्चित् भी पुण्य उपार्जन किया हो, उससे भव्य जीव श्री जिनाज्ञा के पालन रूप श्रेष्ठ आराधना को प्राप्त करे।

ग्रन्थ रचना का स्थान और समयादि :—‘आराधना’ ऐसा प्रगट स्पष्ट अर्थ वाली यह रचना छत्तावली नगरी में गेठ जेज्जय के पुत्र सेठ पासनाग की वसति में विक्रम राजा के समय से ग्यारह सौ के ऊपर पच्चीस वर्ष अर्थात् ११२५ विक्रम सम्वत् में यह ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त किया, एवं विनय

तथा नीति से श्रेष्ठ समस्त गुणों के भंडार श्री जिनदत्त गणी नामक शिष्य ने इसे प्रथम पुस्तक रूप में लिखी है। भावि में भ्रमण को मिटाने के लिए इस ग्रन्थ में सर्व गाथा (श्लोक) का मिलाकर कुल दस हजार तिरेप्पन होते हैं।

इस प्रकार श्री जिन चन्द्र सूरीश्वर ने रचना की है, उनके शिष्य रत्न श्री प्रसन्न चन्द्र सूरी जी के प्रार्थना से श्री गुणचन्द्र गणी ने इस महा ग्रन्थ को संस्कारित किया है और श्री जिन वल्लभगणी ने संशोधन करके श्री संवेगरंगशाला नाम की आराधना पूर्ण हुई। वि० स० १२०३ पाठांतर १२०७ वर्ष में जेठ शुद्ध १४ गुस्वार दिन दण्ड नायक श्री वोसरि ने प्राप्त किये ताम्ब पत्र पर श्रीवट वादर नगर के अन्दर संवेगरंगशाला पुस्तक लिखी गई है इति ऐसा अर्थ का संभव होता है। तत्त्व तो केवल ज्ञानी भगवन्त जाने।

इस ग्रन्थ का उल्लेख श्री देवाचार्य रचित कथा रत्न कोष की प्रशस्ति में इस प्रकार से जानकारी मिलती है—आचार्य श्री जिन चन्द्र सूरीश्वर जी वयरी वज्र शाखा में हुए हैं। वे आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर जी शिष्य थे और ग्रन्थ रचना वि० स० ११३६ में की थी। कहा है कि चान्द्र कुल में गुण समूह से वृद्धि प्राप्त करते श्री वर्धमान सूरीश्वर के प्रथम शिष्य श्री जिनेश्वर सूरी जी और दूसरे शिष्य श्री बुद्धिसागर सूरी जी हुए हैं। आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरी के शिष्य चन्द्र सूर्य की जोड़ी समान श्री जिन चन्द्र सूरी जी और नवांगी टोकाकार श्री अभयदेव सूरी जी हुए, उन्होंने अपनी शीत और ऊष्ण किरणों से जगत में प्रसिद्ध थे। उन श्री जिन चन्द्र सूरीश्वर जी ने यह संवेगरंगशाला नाम की आराधना रचना की है और श्री प्रसन्न चन्द्र सूरीश्वर के सेवक अनु सुमति वाचक के शिष्य लेश श्री देवभद्र सूरि ने कथा रत्न कोष रचना की है और यह संवेगरंगशाला नामक आराधना शास्त्र का भी संस्कारित करके उन्होंने भव्य जीवों के योग्य बनाया है।

इसके अतिरिक्त जेसलमेर तीर्थ के भण्डार की ताड़पत्र ऊपर लिखा हुआ संवेगरंगशाला के अन्तिम विभाग में लिखने की प्रशस्ति इस प्रकार है—जन्म दिन से पैर के भार से दबाये मस्तक वाला मेरु पर्वत के द्वारा भेंट स्वरूप मिली हुई सुवर्ण की कान्ति के समूह से जिनका शरीर शोभ रहा है वे श्री महावीर परमात्मा विजयी हैं। सज्जन रूपी राजहंस की क्रीड़ा की परम्परा वाले और विलासी लोग रूपी पत्र तथा कमल वाले सरोवर समान श्री अण-हिल्ल पट्टन (पाटन) नगर में रहने वाला तथा जिसने भिल्लमाल नामक महा-गोत्र का समुद्धार या वृद्धि की है उस गुण सम्पदा से युक्त मनोहर आकृति वाला, चन्द्र समान सुन्दर यश वाला, जगत में मान्य और धीर श्री जीववान

(जीवन) नामक ठाकुर (राज या राजपुत्र) हुआ, उसने स्वभाव से ही ऐरावणह के समान भद्रिक सदा वीतराग का सत्कार, भक्ति करने वाला आचार से दानेश्वरी वर्धमान ठाकुर नाम का पुत्र था। उसे नदीनाथ समुद्र को जिसका आगमन प्रिय है वह गंगा समान पति को जिसका आगम प्रिय है उसे अत्यन्त मनोहर आचार वाली यशोदेवी नामक उत्तम पत्नी थी। उन दोनों को चन्द्र समान प्रिय और सदा विश्व में हर्ष वृद्धि का कारण तथा अभ्युदय के लिए गौरव को प्राप्त करने वाला पण्डितों में मुख्य, प्रशंसा पात्र पार्श्व ठाकुर नामक पुत्र हुआ। उस कुमार ने पल्ली में बनाया हुआ भक्ति के अव्यक्त शब्द से गूँजता सुवर्णमय कलश वाला श्री महावीर प्रभु का चौमुख मन्दिर हिमवत पर्वत की प्रकाश वाली औषधियों से युक्त ऊँचे शिखर के समान शोभता है। उस मन्दिर के अन्दर सुन्दर चरण, जंघा, कटिभाग, गरदन और मुख के आभूषण से अनेक प्रकार की विलास करने वाली पुतलियों के समूह को अपने मुकुट समान धारण करता है। उस पार्श्व ठाकुर की महादेव को प्रिय गोरी के समान प्रिय प्रशस्त आचार की भूमि सदा स्वजन वत्सला उत्तम धंधिका नाम की पत्नी थी। उन दोनों के तुच्छ जीभ रूपी लता वाले मनुष्य के मान को विस्तार करने में चतुर लोकपाल समान पाँच पुत्र हुये जो श्री जैन पूजा, मुनिदान और नीति के पालन से प्रगट हुई शरदचन्द्र तथा मोगर के पुष्पों के समान उज्ज्वल और निर्मल कीर्ति आज भी विस्तृत है।

उस पाँच में प्रथम नन्नुक महत्तम ठाकुर, दूसरा बुद्धिमान लक्ष्मण ठाकुर और तीसरा इन्द्र के समान सत्यवादी पुण्यशाली आनन्द महत्तम ठाकुर था। उसको वाणी रस से मिसरी सदा विस्तार वाली है, चित्तवृत्ति अमृत की तुलना करने वाली है और उसका सुन्दर आचरण शिष्टजनों के नेत्रों को उत्तम कर्पूर के अंजन के समान हमेशा शीतल करता है। अर्थात् सर्व अंग सुन्दर थे। इसके अतिरिक्त चौथा पुत्र धनपाल ठाकुर और पाँचवाँ पुत्र नागदेव ठाकुर था और उसके ऊपर शील से शोभने वाली श्रीदेवी नाम से एक पुत्री ने जन्म लिया था। इन पाँचों पुत्रों में आनन्द महत्तम को क्रमशः दो पत्नियाँ हुईं, जैसे पृथ्वी धान्य और पर्वत रूप सम्पत्ति को धारण करती है, वैसे प्रशस्त शियल की सम्पत्ति को धारण करने वाली विजयमती थी। दूसरी—भिल्लमाल कुलरूपी आकाश चन्द्र समान शोभित सौहिक नामक श्रावक था उसे ज्योत्सना समान सम्यक् नीति की भूमिका लखुका (लखी) नामक पत्नी थी। उनको सौम्य कान्ति वाला छड्डक नाम से बड़ा पुत्र और मति तथा बुद्धि सदा राजीनी और सीलुका दो पुत्रियाँ थीं। उसमें विनय वाली वह राजीनी को विधिपूर्वक मन्त्री

आनन्द महत्तम से विवाह किया। उसकी पतिव्रता को देखकर लोग सीतादि महासतियों को याद करते हैं। इस मन्त्री आनन्द महत्तम को विजयमती से पृथ्वी में प्रसिद्ध और राजमान्य शरणित्र ठाकुर नामक पुत्र हुआ। वह रोहणाचल की खान के मणि समान तेजस्वी और अपने गोत्रों का अलंकार स्वरूप और हांसी रहित था। उसे धाउका नामक बहन थी। वह शान्त होने के साथ सतीव्रत में प्रेम रखने वाली और सर्व को सुन्दर उत्तर देने वाली तथा चतुर थी। राजीनी ने भी श्रेष्ठ निष्कलंक और स्वजन प्रिय पुत्र को जन्म दिया, उसका नाम 'पूर्ण प्रसाद' रखा। वह अपने भाई शरणित्र को अति प्रिय था, तथा वह स्वयं पूज्यों के प्रति नम्र था और इससे राम, लक्ष्मण के समान बढ़ती मैत्रीभाव-हितचिन्ता वाले थे। राजीनी को कोमल भाषी और हंसनी जैसे सदा जलाशय में रागी समान वह देव स्थान में प्रेम रखने वाली पूर्ण देवी नामक पुत्री को भी जन्म दिया।

फिर किसी एक दिन उस आनन्द महत्तम ने गुरु महाराज के पास में मुमुक्षुओं को मोक्ष प्राप्त कराने वाला उत्तम श्रुत और चारित्र्य रूप धर्म को सम्यक् रूप में सुना। उसमें भी श्री जैनेश्वर ने ज्ञान रहित क्रिया करने से जीवन की सफलता नहीं मानी है, इसलिए सर्व दोनों में वह ज्ञान दान को प्रथम कहा है और भी कहा है कि जो उत्तम पुस्तक शास्त्रादि की रक्षा करता है अथवा दूसरों को लिखाकर ज्ञान दान करता है, वह अवश्यमेव मोह अंधकार का नाश करके केवल ज्ञान द्वारा जगत को सम्यग् जानकर जन्म-मरणादि संसार से मुक्त हो जाता है। जो यहाँ पर जैन वाणी—आगम साहित्य को लिखाता है वह मनुष्य दुर्गति, अन्धा, निर्बुद्धि, गूंगा और जड़ या धून्य मन वाला नहीं होता है। इसे सुनकर महत्तम आनन्द ने अपनी पत्नी राजीनी के पुण्य के लिए मनोहर यह संवेगरंगशाला को ताड़पत्र के ऊपर लिखवाई है। जहाँ तक सिद्धि रूपी राजमहल, अरिहंत रूपी राजा, अनुपम ज्ञान लक्ष्मी रूपी उनकी पत्नी, सिद्धान्त के वचन रूपी न्याय, श्री-शोभा अथवा संपत्ति तथा उसके त्याग रूप साधु धर्म और उसके साधन रूप प्राप्त करने वाले गृहस्थ धर्म दुःख को प्राप्त करने वाला निर्गुणी—पापी के लिए धम्मा, वंशा आदि सात कैवल्याना (नरक) और गुणीजन के लिए स्वर्ग तथा मोक्ष धाम, अतिरिक्त नियोग—नौकर और साम्राज्य ये भाव इस जगत के हैं, वहाँ तक यह ग्रन्थ प्रभाव वाला बने।

अनुवादक प्रशस्ति

इस प्रकार श्री संवेगरंगशाला नामक आराधना विधि का श्री श्रमण भगवान् वर्धमान (महावीर) स्वामी की शासन परम्परा के ७३वें पट्ट पर संवेगी शाखा में तपागच्छाधिपति परम पूज्य प्रातः स्मरणीय न्यायाभ्यासे निधि पंजाब देशोद्धारक आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजयानन्द सूरी (श्रीमत्सूरीजी) जी महाराज हो गये। उनके पट्टधर युगदृष्टा भारत दिवाकर आचार्य देव श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज हुये, उनके अनुपम पट्टधर मरुधरोद्धारक विजय ललित सूरीश्वर जी महाराज के पट्टधर महातपस्वी ज्योतिष्मार्तण्ड आचार्य देव श्रीमद् विजय पूर्णानन्द सूरीश्वर जी के पट्टालंकार कौशाम्बी कंषिला इलाहाबाद आदि तीर्थोद्धारक, शासन दीपक, महातपस्वी उत्तर प्रदेशोद्धारक आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रकाशचन्द्र सूरीश्वर जी महाराज के शिष्य पन्यास पद्म विजय ने हिन्दी अनुवाद विक्रम संवत् २०३६ प्रथम आश्विन शुद्धि ३ दिनांक २०-६-८२ सोमवार उत्तर प्रदेश में मेरठ सदर के अन्दर श्री सुमतिनाथ भगवान् के मंदिर नजदीक उपाश्रय में पूर्ण किया।

॥ इति श्री संवेगरंगशाला समाप्त ॥

ॐ श्रोतु वाचकयो शुभ भूयात् ॐ



